5-3

ब्रह्मसूत्र

भाष्यार्थप्रदीपिका सहित

(प्रथमाध्याय)



OM

BRAHMASUTRA.

WITH

The Bhashyartha Pradipika Commentary.

OF

Mandaleshwar Swami Shri Govindanandji Maharaj, the disciple of Swami Shrimat Paramahansa Parivrajakacharya Shri Chidghananandagiriji of Kasi.

FIRST CHAPTER.

PUBLISHED.
BY
SWAMI POORNANANDJI, KASHI.
FIRST EDITION.

1931

PRINTED BY—
PANDIT VYENKATESH SASTRI DRAVID B. A.
Sangaved Vidyalaya Press, Ramghat Benares City.

Price ~~Rs~~ 4/

Published at Tehri Nim, Govind math. Benares City.



3 to 32 forms only, Printed at the lahari Press, Benares



ब्रह्मसूत्र ।

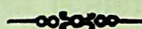
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य *श्रीचिद्घनानन्दगिरिपूज्य-
पादशिष्य मण्डलेश्वर स्वामी गोविन्दानन्दगिरिजी
महाराज विरचित भाष्यार्थप्रदीपिका सहित ।

(प्रथमाध्याय)



प्रकाशक—

श्रीस्वामी पूर्णानन्दजी, काशी ।



पं० व्यङ्कटेश शास्त्री द्राविड़ बी० ए० द्वारा—
साङ्गवेद विद्यालय प्रेस, रामघाट, काशी में मुद्रित ।



प्रथम आवृत्ति ५००० ।

शाके १८५३ सम्वत् १९८८ सन् १९३१

मूल्य रु०१॥)

---

* इन महाराजके बनाये हुये १ श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थप्रदीपिका, २ तत्त्वानुसन्धान,
३ आत्मपुराणादिग्रन्थ हिन्दी भाषामें प्रसिद्ध हैं ।

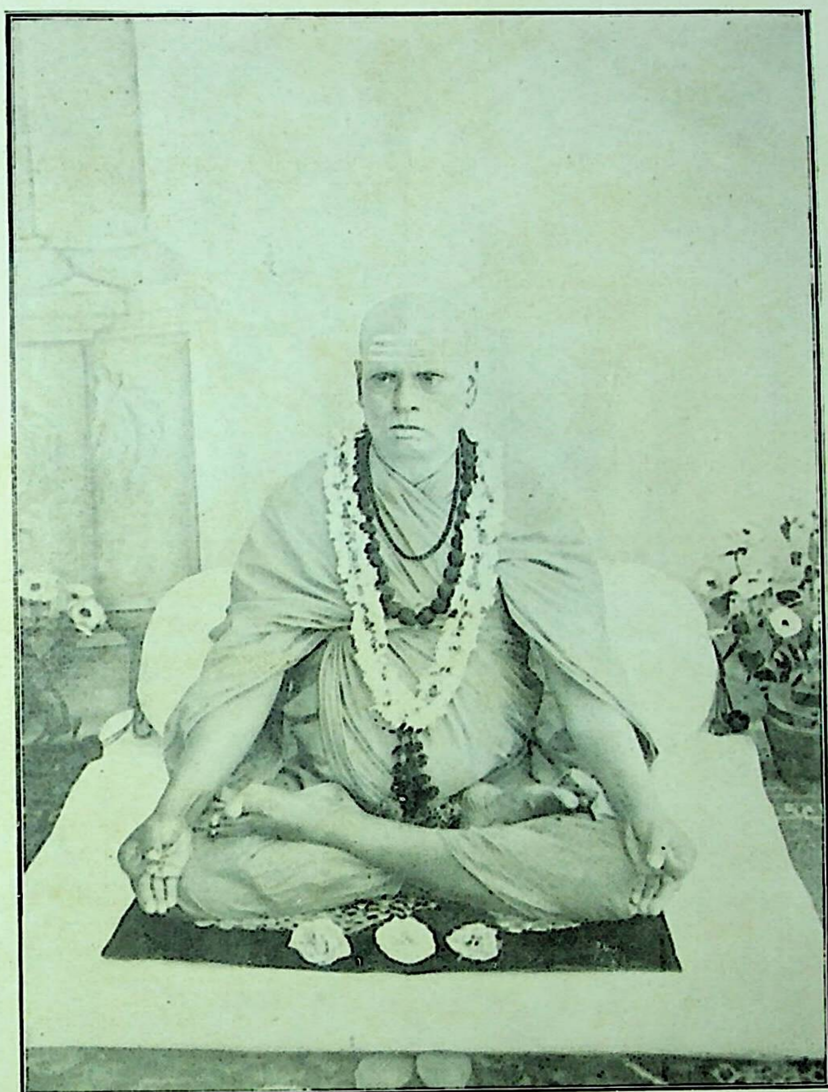
भूमिका।

यह वार्ता विवेकियोंको विदित ही है कि—सपूर्ण प्राणिवर्ग स्वभावसे ही सुखकी प्राप्ति और दुःखके परिहारको चाहते हैं। वस्तुतः "क्या दुःखका साधन है और क्या सुखका साधन है" इस अर्थको निर्णय करता हुवा वेद भगवान् निखिल प्राणियोंका अनुग्राहक है। ऋग् यजुः साम अथर्वणात्मक वेदमें कुछ भाग कर्मका प्रतिपादक है। और कुछ भाग उपासना व ज्ञानका प्रतिपादक हैं। तहां कर्मप्रतिपादक भागके अर्थको निर्णय करनेके लिये महर्षि जैमिनिने द्वादश अध्यायात्मक 'पूर्वमीमांसा' रची है। और उपासना व ज्ञान प्रतिपादक भागके अर्थनिर्णयके लिये महर्षि भगवान् वेदव्यासजीने 'उत्तरमीमांसा' रची है। इसमें चार अध्याय हैं। इसीका नाम वेदान्तदर्शन (शास्त्र) है। इसीका नाम ब्रह्मसूत्र है। यद्यपि इन सूत्रोंके अर्थको अतिगहन होनेसे श्रीशङ्कर भगवान्ने इन सूत्रोंके उपर भाष्यकी रचना करी है। तथा श्रीवल्लभ सम्प्रदायके आचार्य और श्रीरामानुजाचार्य और श्रीनिम्बार्क व श्रीमाध्वसम्प्रदायोंके आचार्योंने भी इन ब्रह्म-सूत्रोंके उपर भाष्योंकी रचना करी हैं। और श्रीशाङ्कर भाष्यके उपर भी भामती, कल्पतरु, परिमल आदिक अनेक बड़ी २ टीका विद्यमान हैं। तथापि भाष्य, भामती, आदि टीकावोंको संस्कृत भाषामें होनेसे संस्कृत भाषामें जिनका विशेष परिचय नहीं है तिन पुरुषोंको परम पुरुषार्थके साधक इन ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिपादित तत्त्वज्ञानसे वञ्चित रहना पड़ता है। इसलिये सर्व साधारण मुमुक्षुवोंके हितके लिये अनेक महात्मा व मुमुक्षुवोंकी प्रार्थनासे श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्री १००८ मण्डलेश्वर श्रीस्वामी गोविन्दानन्दगिरिजी महाराजने वेदान्तदर्शनशांकरभाष्यकी हिन्दी टीका करना आरम्भ किया था। करीब एक अध्यायकी टीका तैयार होनेपर दुर्भाग्यसे महाराजका कैवल्यधाम हो गया। इस ग्रन्थको मुमुक्षुवोंके लिये परम उपयोगी समझ कर हमने पूर्णकर व छपवाकर काशीस्थ श्रीसंन्यासी संस्कृत पाठशालाको समर्पण कर दिया है। इस पुस्तकको छपानेके लिये धी पेटलाद टरकी रेड डायवर्क्सवाले श्रीराजरत्न सेठ-रमणलाल केशवलाल दातारने अपने ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय राजरत्न सेठ परीख-नारायणभाई केशवलालके नामसे बड़ी उदारतासे ४०००) रु० दिये हैं। ऐसे दानवीर पुरुष भारत माताकी गोदमें बहुत थोड़े हैं। इन सेठजीको यह पाठशाला हार्दिक धन्यवाद देती है।

मिलनेका पता—

मन्त्री, संन्यासी संस्कृत पाठशाला,
ठे०—सिद्धबाबा अपारनाथका मठ।
मु०—दुण्ढिराजगणेश, बनारस सीटी।

आपका
मण्डलेश्वर स्वामी जयेन्द्रपुरी।
टेड़ीनीम गोविन्दमठ, काशी।

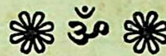


श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ पूज्य पाद
श्री १००८ श्री मण्डलेश्वर स्वामी गोविन्दानन्द
गिरिजी माहाराज, काशी ।



श्रीराजरत्न सेठ परीख. नारणभाई केशवलालजी.

जन्म सं० १९२५. मरण सं० १९६६.



ब्रह्मसूत्र भाष्यार्थप्रदीपिकामें स्थित विषयोंकी संक्षिप्त अनुक्रमणिका ।

॥ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ॥

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।





ब्रह्मसूत्र ।

भाष्यार्थप्रदीपिकासहित ।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीशङ्करमहं देवं व्यासं च हरिरूपिणम् ।
भाष्यकारगणेशादीन् प्रणमामि च शारदाम् ॥ १ ॥
सूत्रभाष्यार्थकमहं समर्थो नास्मि सद्गुरोः ।
व्याख्यानं कर्तुमनघं कृपापाङ्गैश्च शक्तिमान् ॥ २ ॥
नूनं सर्वेऽपि वेदान्ताः पौर्वापर्येण वीक्षिताः ।
समन्विताः परेऽद्वैते द्वैतमात्रनिषेधतः ॥ ३ ॥
यद्बोधविलासेन नाट्यजालचराचरम् ।
सत्यानन्दस्वयंज्योतिस्तदहं ब्रह्म केवलम् ॥ ४ ॥

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । अर्थ—स्वाध्याय नाम वेदका है । वेद अध्ययन करनेको योग्य है इति । यह नित्यविधि है । क्योंकि **'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** इति । जैसे इस विधिवाक्यमें दर्शपौर्णमासका विशेषण अमावास्या व पूर्णमासीरूप कालविशेषका ग्रहण किया है । तैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्यमें कालविशेषका ग्रहण किया नहीं । इस नित्य अध्ययन विधि करके विहित वेदादिका अध्ययन किया है जिसने, ऐसा जो अधिकारी तिस अधिकारीके वास्ते **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'** इत्यादि विधिवाक्य श्रवणका विधान करते हैं । अर्थात् मोक्षसाधन ब्रह्मदर्शनकी कामनावान् पुरुषको वेदान्तवाक्यों करके अद्वितीय आत्माका विचाररूप श्रवण करनेको योग्य है ।

और इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरमें किये हुये निष्काम यागादिक पुण्यकर्म, तथा निष्काम उपासना करके जिस पुरुषका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल तथा स्थिर हुवा है; तिस अधिकारी पुरुषको 'श्रोतव्यः' इस श्रवणविधिका विषय क्या है ? तथा प्रयोजन क्या है ? तथा अधिकारी कौन है ? तथा सम्बन्ध

क्या है ? इस प्रकारकी जिज्ञासा होती है। ऐसे जिज्ञासुवोंके वास्ते श्रीव्यास भगवान्‌ने विचाररूप श्रवणात्मक शारीरकशास्त्रके आरम्भका प्रयोजक अनुबन्ध-चतुष्टयका युक्तियोंसे निर्णयके लिये **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इस सूत्रको रचा है। इस सूत्रका अर्थनिरूपण आगे करेंगे।

शंका। जो सिद्धान्तीने कहा कि—अधिकारी, विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध, इन चार अनुबन्धोंके निर्णयके लिये व्यास भगवान् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रको रचा है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि 'श्रोतव्यः' इस श्रवणविधिके सन्निहित अर्थवाद वेदवाक्यों करके ही अधिकारी आदिक अनुबन्धचतुष्टय जाननेको शक्य हैं। इसलिये 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र निरर्थक है। अब इसी अर्थको पूर्वपक्षी प्रतिपादन करके दिखाता है:—**'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' 'यो वै भूमा तदमृतम्' 'अतोऽन्यदार्तम्'** इत्यादि श्रुतिः।

अर्थ—जैसे इस लोकमें कृषि आदिक कर्म करके सम्पादित व्रीहि आदिक भोग्य पदार्थ नाशको प्राप्त होते हैं। तैसे ही स्वर्गब्रह्मलोकादिकोंमें पुण्यकर्म करके रचित भोग्य पदार्थ भी कालान्तरमें नाशको प्राप्त होते हैं। और 'विपश्चित्' कहिये विद्वान् स्वयंज्योति आत्मा न उत्पन्न होता है न मृत्युको प्राप्त होता है। और जो सर्वत्र परिपूर्ण आनन्द स्वरूप भूमा है सो नित्य मोक्ष स्वरूप है। इस आत्मासे भिन्न सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है इति। इत्यादिक विवेकके प्रतिपादक वेदवाक्योंके अर्थके विचारसे पुरुषको विवेक प्राप्त होता है।

और—**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ॥ आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥** इत्यादि श्रुतिः। अर्थ—शुभ तथा अशुभ कर्म करके रचित स्वर्गादिक सर्व लोक अनित्य नाशवान् हैं इस प्रकारका निश्चय करके जिज्ञासु पुरुष वैराग्यको प्राप्त होवे। 'कृतेन' कहिये कर्म करके 'अकृत' कहिये मोक्ष नहीं होता है॥ और अपने आत्माके ही सुखनिमित्त स्त्रीपुत्रादिक सर्व पदार्थ प्रिय होते हैं; दूसरेके सुखनिमित्त नहीं इति। इत्यादिक वैराग्यकी प्रतिपादक श्रुतियोंके अर्थका विचार करनेसे अधिकारी पुरुषको अनात्मपदार्थमात्रमें वैराग्यकी प्राप्ती होती है।

और—**शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्।** इत्यादि श्रुतिः। अर्थ—निषिद्ध शब्दादिक विषयोंसे मनको रोकनेवाले पुरुषका नाम **शान्त** है। तथा निषिद्ध शब्दादिक विषयोंसे बाह्य चक्षुरादिक इन्द्रियोंको रोकनेवाले पुरुषका नाम **दान्त** है। तथा उपरतिवाले पुरुषका नाम **उपरत** है। उपरति नाम उपरामताका है। अथवा संन्यासका है। और शीत उष्ण सुख दुःख आदिक द्वन्द्वोंको सहन करनेवाले पुरुषका नाम **तितिक्षु** है। और स्थिर चित्तवाले पुरुषका नाम **समाहित** है। और गुरुके वाक्योंमें तथा वेदान्तवाक्योंमें श्रद्धारूपी धनवाले

पुरुषका नाम **श्रद्धावित्त** है। अर्थात् शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, समाहित, श्रद्धावित्त होकर अपने अन्तःकरणमें अपने आत्माका साक्षात्कार करे इति। इत्यादि श्रुतिके अर्थोंका विचार करके शमादि षट् सम्पत्तिको पुरुष प्राप्त होता है॥ और स्वयं-प्रकाश आनन्दस्वरूप मोक्षनिष्ठ नित्यत्वके प्रतिपादक **'न स पुनरावर्तते'** इत्यादिक वाक्योंको श्रवण करके पुरुषको मोक्षकी इच्छारूप **मुमुक्षुता** प्राप्त होती है।

इतने कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—**'श्रोतव्यः'** इस श्रवणविधिके सन्निहित अर्थवाद वेदवाक्योंसे "विवेकादि साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुष अधिकारी है" ऐसा ज्ञान हो सकता है। **इति अधिकारीसिद्धिः॥**

तथा 'श्रोतव्यः' इस पदमें श्रुधातु है। और तव्य प्रत्यय है। तव्य प्रत्ययका अर्थ नियोग है। कृति करके साध्य जो इष्टका साधन वस्तु तिस वस्तुविषयक ज्ञानका नाम नियोग है। और श्रुधातुरूप प्रकृतिका अर्थ जो विचार सो नियोगका विषय है। और विचारका विषय वेदान्तशास्त्र है। क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इस वाक्यसे अद्वितीय आत्माका अपरोक्ष दर्शनको उद्देश करके 'श्रोतव्यः' इस पद करके वेदान्तके विचारका विधान है। तात्पर्य्य यह है कि—प्रमाज्ञानका जो करण तिसका नाम प्रमाण है; विचार किसी प्रमाणके अन्तर्गत है नहीं; इसलिये विचार अप्रमाणरूप होनेसे आत्मविषयक अपरोक्ष प्रमाज्ञानका साक्षात् कारण नहीं हो सकता है। किन्तु प्रमाणद्वारा विचार आत्म-विषयक अपरोक्ष प्रमाज्ञानके प्रति कारण होता है। इस प्रसङ्गमें अद्वितीय आत्मामें वेदान्तशास्त्र ही प्रमाण है। क्योंकि—**'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** इस श्रुतिमें पुरुषका विशेषणवाचक जो 'औपनिषद' पद है तिस पद श्रुति करके अद्वि-तीय आत्मामें वेदान्तशास्त्रको ही प्रमाणरूपता करके बोधन किया है। और वेदान्त-शास्त्रका विषय जीव ब्रह्मका अभेद है। क्योंकि **'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि'** इत्यादि जो महावाक्य हैं सो प्रत्यक् तथा ब्रह्मके अभेदको ही बोधन करते हैं। **इति विषयसिद्धिः॥**

इसी प्रकार 'श्रोतव्यः' इस विचारविधिका फल भी दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष है। क्योंकि **'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'**। अर्थ—आत्माको जाननेवाला ब्रह्मनिष्ठ पुरुष शोक कहिये शोकसे आदि लेकर संसारदुःखको तर जाता है। तथा ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म स्वरूप ही होता है। **इति प्रयोजनसिद्धिः॥**

तथा अधिकारीका और विचारका कर्तृकर्तव्यभाव सम्बन्ध है। अधिकारी कर्ता है। और विचार कर्तव्य है। करनेवालेका नाम कर्ता है। और जो वस्तु करनेको योग्य है तिसका नाम कर्तव्य है। फलका और अधिकारीका प्राप्यप्रापकभाव सम्बन्ध है। फल प्राप्य है। और अधिकारी प्रापक है। जो

वस्तु प्राप्त होनेको योग्य है तिसको प्राप्य कहते हैं। और जिसको प्राप्त हो तिसको प्रापक कहते हैं। इत्यादिक अनेक प्रकारका सम्बन्ध जान लेना। इति सम्बन्धसिद्धिः ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे 'श्रोतव्यः' इस श्रवणविधिके समीप अर्थवाद* वाक्योंद्वारा अनुबन्धचतुष्टयको अधिकारी पुरुष निर्णय कर सकता है। तिन अनुबन्धोंके निर्णयके लिये 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र व्यर्थ है इति।

समाधान। अधिकारी आदिक अनुबन्धोंको प्रतिपादन करनेवाली जो श्रुति हैं तिन श्रुतियोंका "अपने २ अर्थमें ही तात्पर्य है, कर्माङ्ग देवतास्तुत्यादिरूप भिन्न अर्थमें तात्पर्य नहीं है" इस अर्थको निर्णय करनेवाला जो 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' यह सूत्र है; तिसको अङ्गीकार न करनेसे वक्ष्यमाण संशयादिकी निवृत्ति न होगी। अब संशयको दिखाते हैं—१ क्या विवेकादि विशेषणवाला अधिकारी है? अथवा उससे भिन्न कोई अधिकारी है? २ क्या वेदान्तशास्त्र पूर्वमीमांसा-शास्त्र करके गतार्थ है? अथवा अगतार्थ है? ३ क्या ब्रह्म अन्तःकरणउपहित कूटस्थरूप प्रत्यग् आत्मासे अभिन्न है? अथवा भिन्न है? ४ मुक्ति स्वर्गादिकोंकी तरह लोकान्तर है? अथवा आत्मस्वरूप ही है? ५ संसार सत्य है? वा मिथ्या है? इत्यादि। इस कारणसे पूर्वोक्त 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः' इत्यादि आगमवाक्य करके सामान्यसे सिद्ध अधिकारी आदिक अनुबन्धोंको विशेषरूप करके निर्णयके लिये 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। इस अर्थको प्रकाशात्मश्रीचरणने भी कहा है—'अधिकार्यादीनामा-गमिकत्वेऽपि न्यायेन निर्णयार्थमिदं सूत्रम्' इति। इस वाक्यका अर्थ पूर्वोक्त ही है।

और अधिकार्यादिक श्रुतियोंके स्वार्थका निर्णयके लिये 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' इस सूत्रका उत्थान होनेसे इस सूत्रका अधिकार्यादिक श्रुतियोंके साथ उत्थाप्यउत्थापकभाव सम्बन्ध है। सूत्र उत्थाप्य है और श्रुति उत्थापक हैं। जिसका उत्थान हो तिसका नाम उत्थाप्य है। और जो उत्थानको करनेवाला है सो उत्थापक कहा जाता है। इसी प्रकार सर्व सूत्रोंको श्रुत्यर्थके निर्णायक होनेसे श्रुतियोंके साथ पूर्वोक्त सम्बन्ध है इत्यादि।

अब इस अधिकरणसूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—जिन सूत्रोंमें पांच वार्तें पाई जावें तिन सूत्रोंका नाम अधिकरणसूत्र है। यह वार्ता शास्त्रमें

---

*यद्यपि यहां पर ऐसी शंका हो सकती है कि—'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' इत्यादिक जो श्रुति हैं सो यथार्थ अर्थकी प्रतिपादक होनेसे अर्थवाद नहीं हो सकती हैं; तो पूर्वपक्षीने क्यों इन श्रुतियोंको अर्थवादरूप कथन किया है? तथापि पूर्वमीमांसाशास्त्रमें वेदान्तश्रुतियोंको जीव ब्रह्म व देवतादिक कर्मके अङ्गोंकी स्तुत्यर्थ स्वीकार किया है। इसलिये पूर्वोक्त श्रुतियोंको अर्थवाद करके पूर्वपक्षीने कथन किया है।

लिखी है—**विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरं। फलं तत्र च वक्तव्यं प्राज्ञोऽधिकरणं विदुः॥** अर्थ—१ विषय, २ विशय (संशय), ३ पूर्वपक्ष, ४ सिद्धान्तपक्ष, ५ पूर्वपक्षका व सिद्धान्तपक्षका फल। इन पांचोंका वर्णन जिस सूत्रमें हो तिसको अधिकरणसूत्र कहते हैं इति।

'श्रोतव्यः' 'सोऽन्वेष्टव्यः' 'सो विजिज्ञासितव्यः' इत्यादि विधिवाक्यों करके विहित जो विचारात्मक वेदान्तमीमांसाशास्त्र है; सो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रका **विषय** है।

और "यह वेदान्तमीमांसाशास्त्र आरम्भ करनेको योग्य है या नहीं" ऐसा यहां **संशय** होता है।

अथ **पूर्वपक्ष**। यह शास्त्र आरम्भ करनेको योग्य नहीं है, क्योंकि **'नाहं ब्रह्मेति'** 'मैं ब्रह्म स्वरूप नहीं हूं किन्तु ब्रह्मसे भिन्न हूं' इस भेदग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण करके; तथा—**'ब्रह्मात्मानौ, परस्परं भिन्नौ, विरुद्धधर्मवत्त्वात् जलाग्निवत्'**। अर्थ–'ब्रह्मात्मनौ' यह पक्ष है। 'परस्परभिन्नत्व' यह साध्य है। 'विरुद्धधर्मवत्त्व' यह हेतु है। 'जलाग्निवत्' यह दृष्टान्त है। जैसे जलाग्निरूप दृष्टान्तमें शीतत्व तथा उष्णत्व रूप विरुद्धधर्मवत्त्व हेतु रहता है। तथा परस्पर भेदरूप साध्य रहता है। तैसे ब्रह्म तथा आत्मारूप पक्षमें अकर्तृत्व अभोक्तृत्वादि तथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूप विरुद्धधर्मवत्त्व हेतु रहता है। इसलिये परस्पर भेदरूप साध्य भी अवश्य रहेगा इति। इस अनुमान प्रमाण करके; और 'द्वा सुपर्णा' 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके' इत्यादि आगम प्रमाण करके; ब्रह्म व आत्माका भेद तथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक जो बन्ध है सो सत्य है। और जैसे व्यावहारिक सत्य घटादिकोंकी निवृत्ति ज्ञानसे होती नहीं; किन्तु मुशलप्रहारादिकों करके होती है। तैसे ही सत्य बन्धकी भी ज्ञानसे निवृत्तिका असम्भव है। अर्थात् वेदान्तशास्त्रका जो जीव ब्रह्मका अभेदरूप विषय, तथा बन्धकी निवृत्तिरूप प्रयोजन तिसका अभाव होनेसे शास्त्रका आरम्भ निष्फल है इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष***। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'**। अर्थ—हे मैत्रेयि! आत्मा अपरोक्ष करनेको योग्य है; तिस अपरोक्ष ज्ञानके लिये विचार कर्तव्य है इति। यह जो श्रवणविधिका अर्थ है; इस अर्थके समान अर्थकी सिद्धिके लिये **'कर्तव्या'** इस पदका अध्याहार करना। और भगवान् भाष्यकारने भी अध्याहार किया है—**'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या'** इति भाष्यम्। यहां जिज्ञासा इस पदमें 'ज्ञा' धातुरूप प्रकृति है तथा सन् प्रत्यय

* यहां पूर्वपक्षमें सत्य बन्धकी ज्ञान करके निवृत्ति न होनेसे कर्म उपासनादिरूप उपायान्तर करके साध्य मोक्षफल होता है। और सिद्धान्तपक्षमें बन्धको मिथ्या होनेसे ज्ञानसे ही अनर्थकी निवृत्तिरूप मोक्ष फल होता है इति।

है। और प्रकृतिका अर्थ ज्ञानका, तथा प्रत्ययका अर्थ इच्छाका कृतिरूप कर्तव्यत्वमें अन्वयका असम्भव है। क्योंकि प्रयत्न करके जन्य जो घटादिक वस्तु हैं तिनका नाम कर्तव्य है। ज्ञान तथा इच्छा, प्रयत्नजन्य हैं नहीं। किन्तु ज्ञानजन्य इच्छा होती है। और इच्छाजन्य प्रयत्न होता है। अतः 'ज्ञान' शब्दसे अजहत् लक्षणा करके सफल ज्ञानका ग्रहण करना चाहिये। जिस पदसे वाच्य अर्थ सहित वाच्यके सम्बन्धीका ज्ञान हो तिस पदमें अजहत् लक्षणा होती है। प्रसङ्गमें वाच्यार्थज्ञान सहित वाच्यार्थका सम्बन्धी जो अनर्थकी निवृत्तिरूप फल; तिसका 'ज्ञा' इस पदसे बोध होता है। इसलिये ज्ञा पदमें अजहत् लक्षणा है। और शक्यका अशक्यके साथ जो सम्बन्ध है तिसको लक्षणा कहते हैं। जैसे शक्य ज्ञानका तथा अशक्य फल (अनर्थनिवृत्ति) का जन्यजनकभावरूप सम्बन्ध लक्षणा है। तहां अनर्थकी निवृत्ति जन्य है। ज्ञान जनक है। और ज्ञानमें जो सनर्थ इच्छाविषयत्व है; सो ज्ञानवृत्तिसफलत्वमें तात्पर्यका ग्राहक है।

तथा प्रत्यय सन् शब्दसे जहत् लक्षणा करके इच्छासाध्य विचारका ग्रहण करना। जिस पदसे सम्पूर्ण वाच्य अर्थको त्यागिके वाच्य अर्थके सम्बन्धीका ज्ञान हो तिस पदमें जहत् लक्षणा कहते हैं। जैसे सन् प्रत्ययका वाच्यार्थ इच्छाको त्यागिके वाच्यार्थ इच्छाका सम्बन्धी विचारका ज्ञान होता है। इसलिये सन् प्रत्ययमें जहत् लक्षणा है। यहां इच्छाका तथा विचारका जन्यजनकभावरूप सम्बन्ध लक्षणा है। तहां विचार जन्य है। इच्छा जनक है। इस प्रकार सन् प्रत्ययका अर्थ जो विचार तिसका कर्तव्यत्वमें अन्वय होनेसे "ब्रह्मज्ञानके लिये विचार करनेको योग्य है" यह सूत्रका अर्थ श्रुतिके अर्थके समान सिद्ध हुवा।

तहां ब्रह्मज्ञानमें स्वभावसिद्ध सफलत्व तो है नहीं; किन्तु प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि स्वरूप अनर्थका निवर्तकत्वरूप करके ही सफलत्व कहना होगा। और अनर्थको यदि सत्य मानोगे तो ज्ञानमात्रसे अनर्थकी निवृत्ति न हो सकेगी। और शास्त्रमें ज्ञानमात्रसे अनर्थकी निवृत्ति प्रतिपादन करी है। इसलिये अनर्थको **अध्यास** रूप मानना होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे व्यास भगवान्ने अनथरूप बन्धमें अध्यासरूपत्वको बोधन किया है। और बन्धमें जो अध्यस्तत्व है सो यही शास्त्रके विषय और प्रयोजनको सिद्ध करनेवाला है।

अब इस अर्थको अनुमान प्रमाण करके दिखाते हैं—**'शास्त्रम्, आरब्धव्यम्, विषयप्रयोजनवत्त्वात्, भोजनादिवत्'** इति। अर्थ—जैसे भोजनरूप दृष्टान्तमें विषयप्रयोजनवत्त्व हेतु है, और आरब्धव्यत्व साध्य है। तैसे शास्त्ररूप पक्षमें भी विषयप्रयोजनवत्त्वरूप हेतु है, अतः आरब्धव्यत्वरूप साध्य भी अवश्य अङ्गीकार करना होगा इति। इस अनुमान करके शास्त्रका आरम्भ सिद्ध हुवा इति।

शंका। जो हेतु पक्षमें नहीं रहता है वह हेतु स्वरूपासिद्ध कहा जाता है। और प्रयोजनवत्त्व हेतु शास्त्ररूप पक्षमें रहता नहीं; इसलिये यह हेतु स्वरूपासिद्धि दोषवाला होनेसे स्वरूपासिद्ध है।

समाधान । **'शास्त्रम्, प्रयोजनवत्, बन्धनिवर्तकज्ञानहेतुत्वात्, रज्जुरियमित्यादिवाक्यवत्' ।** अर्थ--जैसे 'रज्जुरियम्' इस दृष्टान्तवाक्यमें, सर्पादिक बन्धकी निवृत्तिका जनक जो 'यह रज्जु है' इस प्रकारका ज्ञान है तिस ज्ञानका कारणत्वरूप हेतु रहता है। तथा भयकम्पादिकोंकी निवृत्तिरूप प्रयोजनवत्त्व साध्य भी रहता है। तैसे ही कर्तृत्वादिक बन्धका निवर्तक जो 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इस प्रकारका ज्ञान है; तिस ज्ञानका कारणत्वरूप हेतु शास्त्ररूप पक्षमें है; इसलिये प्रयोजनवत्त्व साध्य भी रहेगा इति । **इस अनुमान करके प्रयोजनकी सिद्धि होनेसे पूर्व अनुमानमें जो स्वरूपासिद्धि दोष कहा था सो नहीं हो सकता है।**

शंका । बन्ध सत्य होनेसे जब बन्धका निवर्तक ज्ञान नहीं हो सकता है; तब बन्धनिवर्तक ज्ञानका कारणत्वरूप हेतुको पक्षमें नहीं रहनेसे यह हेतु भी स्वरूपासिद्धि दोषवाला ही होवेगा।

समाधान । 'बन्धो, ज्ञाननिवर्त्यः, अध्यस्तत्वात्, रज्जुसर्पवत्' । अर्थ—जैसे रज्जुसर्परूप दृष्टान्तमें अध्यस्तत्वरूप हेतु है, तथा रज्जुरूप अधिष्ठानका ज्ञान करके निवर्त्यत्व साध्य भी है। तैसे ही बन्धरूप पक्षमें अध्यस्तत्वरूप हेतु रहता है, इसलिये प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप अधिष्ठानके ज्ञान करके निवर्त्यत्वरूप साध्य भी अवश्य रहेगा इति । **इस अनुमान करके पूर्वोक्त स्वरूपासिद्धि दोषका वारण किया। इस प्रकार अधिष्ठान ब्रह्मज्ञान करके जीवगत अनर्थभ्रमकी निवृत्तिरूप फलको बोधन करते हुये श्रीव्यास भगवान् जीव तथा ब्रह्मका ऐक्यरूप विषयको भी अर्थसे सूचन करते हैं। क्योंकि अन्यके ज्ञानसे अन्यमें भ्रमकी निवृत्ति होती नहीं।**

अब इस अर्थको अनुमान करके दिखाते हैं—'जीवो, ब्रह्माभिन्नः, तज्ज्ञाननिवर्त्याध्यासाश्रयत्वात्, यो यज्ज्ञाननिवर्त्याध्यासाश्रयः स तदभिन्नः, यथा शुक्त्यभिन्न इदमंशः' इति । अर्थ—यहां जीव पक्ष है। ब्रह्माभिन्नत्व साध्य है। तज्ज्ञाननिवर्त्याध्यासाश्रयत्व हेतु है। 'यथा शुक्त्यभिन्न इदमंशः' यह दृष्टान्त है। जैसे शुक्तिके ज्ञान करके निवर्त्य जो रजतरूप अध्यास, तिसका आश्रयत्वरूप हेतु शुक्तिके 'इदं अंश' रूप दृष्टान्तमें रहता है; तथा शुक्तिका अभेदरूप साध्य रहता है। तैसे ब्रह्मज्ञान करके निवर्त्य जो अहंकारादिक अध्यास, तिसका आश्रयत्वरूप हेतु जीवरूप पक्षमें रहता है; अतः ब्रह्मका अभेदरूप साध्य भी रहेगा इति। **इस प्रकार विषय और प्रयोजनवाला होनेसे शास्त्र आरम्भ करनेको योग्य है इति।**

शंका । 'असन्दिग्धत्वादप्रयोजनत्वादजिज्ञास्यं ब्रह्म' अर्थात् जो वस्तु असन्दिग्ध व निष्प्रयोजन होती हैं सो वस्तु बुद्धिमान्को जिज्ञास्य नहीं होतीहै। क्योंकि यह नियम है—जहां २ धर्मादिकोंमें जिज्ञास्यत्व है तहां २ सन्देह व प्रयोजन है। और जहां २ सन्देह व प्रयोजन नहीं है तहां २ जिज्ञास्यत्व भी नहीं है जैसे मनसंयुक्त इन्द्रियसन्निकृष्ट और प्रचण्ड आलोकमें स्थित घट व काकदन्त। तैसे ही इस आत्मामें भी व्यापक सन्देह प्रयोजनके न होनेसे व्याप्य जिज्ञास्यत्वके अभावकी उपलब्धि स्पष्ट है।

अब इसी अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं—बृहत् होनेसे व देहादि परिणामका हेतु होनेसे आत्मा ही ब्रह्म कहा जाता है। सो यह आत्मा ब्रह्मासे लेकर कीड़ी पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियोंको देहेन्द्रियादिकोंसे विविक्तत्वेन सन्देह विपर्यय शून्य 'अहं' इस अपरोक्ष अनुभव करके सिद्ध ही है; अतः जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। क्योंकि किसीको भी 'अहमस्मि न वा' ऐसा सन्देह व 'अहं नास्मि' ऐसा विपर्यय है नहीं। और 'अहं कृशः स्थूलो गच्छामि' इत्यादिक देहधर्म कृशत्वादिकोंका अहंत्वके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे अहंकारको देहविषयक कहना भी युक्त नहीं है। क्योंकि यदि अहंकार देहविषयक होवे तो "जो मैं बाल्यावस्थामें मातापिताका अनुभव करता था सोई मैं इस वृद्ध अवस्थामें पौत्रादिका अनुभव करता हूं" इत्यादि प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये। परिमाणके भेदसे द्रव्यका भेद होता है। अतः बाल व स्थविर देहका अभेद बने नहीं। देहविषयक प्रत्यभिज्ञागन्ध भी है नहीं जिससे बालस्थविर देहोंके एकत्वका निश्चय होवे। अतः जिनकी व्यावृत्ति होनेपर भी जिसकी अनुवृत्ति होती है सो तिनसे भिन्न होता है जैसे पुष्पोंसे सूत्र। तैसे ही बालादि शरीरोंके परस्पर व्यावृत्त होनेपर भी 'अहं' पदार्थकी व्यावृत्ति होती नहीं। अतः 'अहं' पदार्थ बालादिक देहोंसे भिन्न है।

और यदि परिमाणके भेद होनेपर भी बालादिक देहोंका अभेद मानें तो भी अहंकार देहविषयक नहीं हो सकता है। क्योंकि स्वप्नमें दिव्य देवादिक देहको धारण करके दिव्य भोगोंको भोग करते हुये उठकर यह पुरुष अपनेको मनुष्य शरीर देखता हुवा 'नाहं देवो मनुष्य एव' इस प्रकार देव शरीरके बाधित हो जानेपर भी अहमालम्बनको अबाधित व देहसे भिन्न स्पष्ट अनुभव करता है।

और जाग्रत्में भी योगमहिमासे व्याघ्रादि शरीरको धारण करके विचरता हुवा जो योगी पुरुष है सो देहोंको भिन्न २ होने पर भी आत्माको अभिन्न प्रत्यक्ष अनुभव करता है। इस कारणसे अहंकार देहविषयक नहीं बन सकता है। अत एव इन्द्रिय भी 'अहं' के विषय नहीं हो सकते हैं। क्योंकि इन्द्रियोंके भिन्न २ होनेपर भी 'जो मैं देखता था सोई मैं स्पर्श करता हूं' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा होती है। और विषयोंसे तो आत्माका विवेक स्पष्ट ही है। बुद्धि व मन भी करण हैं। अतः कर्तृविषयक अहं शब्दके व प्रत्ययके विषय नहीं हो सकते हैं। और 'मेरे प्राण हैं" इत्यादि प्रतीतिसे प्राणसे भी आत्माका विवेक स्पष्ट ही है। अध्यास न होनेपर भी 'कृशोऽहम्' 'अन्धोऽहम्' इत्यादिक प्रयोगोंकी गौण मानकर उपपत्ति हो सकती है। अतः देहादिसे भिन्न स्फुटतर 'अहं' अनुभवगम्य आत्मामें सन्देहके न होनेसे जिज्ञास्यत्व नहीं बन सकता है।

और 'अप्रयोजनत्वाच्च' अर्थात् संसारनिवृत्तिरूप मोक्ष वेदान्तोंमें प्रयोजन विवक्षित है। और आत्माका याथात्म्याननुभव संसारका हेतु माना है। और आत्माके यथार्थानुभवसे इसकी निवृत्ति मानी है। पूर्वोक्त रीतिसे 'अहम्' यही आत्माका अनुभव है। तथा च अनादि इस आत्मज्ञानके साथ २ वर्तमान इस

अनादि प्रपञ्चकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि इनका विरोध ही नहीं है। और आत्मयाथात्म्यका अननुभव भी कैसे बन सकता है? क्योंकि 'अहम्' इस अनुभवसे अन्य कोई भी आत्मयाथात्म्य अनुभव है नहीं। और देहेन्द्रियादिकोंसे भिन्न करके सर्वको 'अहम्' इस प्रकारसे स्फुटतर अनुभवसिद्ध जो यह आत्मा है; इसको हजारों उपनिषदादि शास्त्र मिल करके भी अन्यथा नहीं कर सकते हैं। क्योंकि हजारों आगम भी मिलकर घटको पट नहीं कर सकते हैं। अतः अनुभवके विरोधसे अध्यास नहीं है; प्रपञ्च सत्य है। तथा च सन्देह प्रयोजनके न होनेसे इस मीमांसाशास्त्रका आरम्भ निष्फल है, अद्वैतके बोधक उपनिषद् गौण हैं ?

समाधान। इत्यादि सम्पूर्ण शंकावोंकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मसूत्रोंके व्याख्यान करनेकी कामनावाले जो भगवान् भाष्यकार हैं सो 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र करके अर्थसे सूचित विषय और प्रयोजनकी सिद्धिका हेतुरूप अध्यासका; खण्डन तथा समाधान करके प्रथम उपोद्घातसे* विषय व प्रयोजनका वर्णन करते हैं—

†युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरित्यतोऽस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः। तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम्॥ इति शंकाभाष्यम्॥

अर्थ—आत्मा और अनात्माके तादात्म्यका अध्यास नहीं बन सकता है। क्योंकि ये दोनों अहंप्रतीतिके विषय होनेसे व अहंप्रतीतिके विषय न होनेसे, और द्रष्टा व दृश्यरूप होनेसे, तमःप्रकाशकी तरह अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाले हैं। अत एव आत्मधर्मोंका अनात्मामें और अनात्मधर्मोंका आत्मामें अध्यासकी भी सुतराम् अनुपपत्ति हुई। अतः, अस्मत्प्रत्ययगोचर ज्ञानस्वरूप चिदात्मामें युष्मत्प्रत्ययगोचर विषयका और विषयके धर्मोंका अध्यास, और विषयमें आत्माका व आत्मधर्मोंका अध्यास अयुक्त है इति।

अब शंकाभाष्यके तात्पर्यका निरूपण करते हैं—तहां युष्मत्पदके अर्थ पराक् अहंकारादिक अनात्मपदार्थ हैं। तथा अस्मत्पदका अर्थ प्रत्यक् कूटस्थ रूप आत्मा है। इससे युष्मत् अस्मत् पद करके अनात्मा तथा आत्माका वस्तुसे विरोध कहा। और 'प्रतीयत इति प्रत्ययः' इस व्युत्पत्तिसे जो अहंका-

* 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते' इति। प्रसङ्गमें प्राप्त जो अर्थ तिसकी सिद्धिके लिये चिन्ताका नाम उपोद्घात है।

†सूत्रार्थका अस्पर्शी होनेसे यह अध्यासग्रन्थ भाष्य नहीं है? ऐसी शंका कोई करते हैं सो बने नहीं। क्योंकि सूत्रके आर्थिक अर्थका स्पर्शी होनेसे अध्यासग्रन्थ भाष्य ही है।

रादिक अनात्मा दृश्यरूप करके प्रतीत होता है तिसका नाम प्रत्यय है। तथा 'प्रतीतिरेव प्रत्ययः' इस व्युत्पत्तिसे स्वयंप्रकाश रूप करके जो आत्मा प्रतीत होता है; तिसका नाम प्रत्यय है। इससे प्रत्ययपद करके अनात्मा तथा आत्माका विरोध प्रतीतिसे कहा। और युष्मत् शब्दका अर्थ जो अहंकारादि सो प्रत्यग् आत्माका तिरस्कार करके 'कर्ताऽहं'इत्यादिक व्यवहारका गोचर होता है। तथा अस्मत् शब्दका अर्थ जो चिदात्मा सो अनात्मपदार्थ अहंकारादिकोंको प्रविलापन करके 'अहं ब्रह्म' इस व्यवहारका गोचर (विषय) होता है। अतः गोचरपद करके व्यवहारसे अनात्मा तथा आत्माका विरोध कहा। अर्थात् तमःप्रकाशकी तरह अत्यन्त विरुद्ध स्वभाववाले; तथा दीपघटकी तरह प्रकाश्य प्रकाशक स्वभाववाले; जो युष्मत्प्रत्ययगोचर विषय स्वरूप अहंकारादिक तथा अस्मत्प्रत्ययगोचर विषयी स्वरूप जो चिदात्मा; इन दोनोंका अत्यन्त अभेद अथवा तादात्म्यके असम्भव होनेसे तिन दोनोंके जाड्य चैतन्यादिक धर्मोंका भी **'सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः'** आत्मासे भिन्न जड़में चैतन्यादिक आत्मधर्मोंका तथा जड़से भिन्न आत्मामें जाड्य दुःखादिक अनात्म धर्मोंका सम्बन्ध बने नहीं। क्योंकि यह नियम है—'धर्मोंका संसर्गपूर्वक ही धर्मका संसर्ग होता है' जैसे स्फटिकमें लाल रंगवाले जपाकुसुमका सान्निध्यरूप सम्बन्ध होनेसे लाल रंगके सम्बन्धकी प्रतीति होती है। और प्रसंगमें **'असंगो न हि सज्जते'** अर्थ—जो सम्बन्धसामान्यका अभाववाला होता है, सो विशेष सम्बन्धका अभाववाला होता है इति। इस श्रुतिप्रमाणसे आत्मा सदा असङ्ग है। इस हेतुसे आत्मामें अन्तःकरणादिका तथा अन्तःकरणादिकोंके जाड्य दुःखादिक धर्मोंका सम्बन्ध कदापि बने नहीं।

शंका। आत्मा तथा अनात्माके तादात्म्यका तथा इनके धर्मोंका सम्बन्ध न होनेपर भी अध्यास क्यों न हो ?

समाधान। उक्त रीतिसे आत्मा तथा अनात्माके तादात्म्यका अभाव होनेसे तिनोंका अभेदग्राहक प्रमाज्ञान बने नहीं, अतः अध्यासका कारण जो प्रमाज्ञानजन्य संस्कार तिसका अभाव होनेसे अध्यासको मिथ्या मानना योग्य है। भाष्यमें 'मिथ्या' शब्द निषेधार्थक है।

शंका। किसमें किसके अध्यासका निषेध करते हो ?

समाधान। अस्मत्प्रत्ययगोचर जो बुद्धि आदिकोंका प्रकाशक विषयी चिदात्मा है तिस चिदात्मामें युष्मत्प्रत्ययगोचर जो साक्षिभास्य अहंकारादिक विषय हैं तिनोंके तथा तिनोंके जाड्य दुःखादिक धर्मोंके अध्यासका निषेध करते हैं।

शंका। यद्यपि आत्मामें अनात्माका तथा अनात्माके धर्मोंका अध्यास मत रहो; तथापि "अहं स्फुरामि, सुखी" इत्यादि अनुभवसे अहं शब्दके अर्थ जो अहंकारादिक हैं तिनमें स्फुरणरूप आत्माका तथा आत्माके आनन्दादिक धर्मोंका अध्यास अनुभवसिद्ध है ?

समाधान। अनात्मासे विरुद्ध चैतन्य स्वभाववाले आत्माका तथा चैतन्यादिक धर्मोंका विषयमें भी अध्यास बने नहीं। क्योंकि अध्यासकी सामग्री जो प्रमाज्ञानजन्य संस्कार, सादृश्य, और अज्ञानादिक सो यहां हैं नहीं। जैसे 'चन्द्रवन्मुखम्' यहां मुखमें वर्तुलाकारत्व स्वच्छत्वादिक गुणों करके चन्द्रमाका सादृश्य है; तथा 'गोसदृशो गवयः' यहां गवयमें अवयवों करके गौका सादृश्य है। तैसे आत्मा निर्गुण तथा निरवयव होनेसे जड़में आत्माका सादृश्य बने नहीं। तथा जैसे मध्यान्हकालके सूर्यमें अन्धकार बने नहीं; तैसे स्वयंप्रकाशरूप आत्मामें अज्ञान भी बने नहीं। और आत्मा व अनात्माके ऐक्यविषयक प्रमाज्ञानजन्य संस्कार भी बने नहीं।

शंका। जब तुम आत्माको निर्गुण मानते हो तब 'तद्धर्माणाम्' यह भाष्यवचन आत्माके धर्मोंको कहनेवाला असंगत होवेगा?

समाधान। बुद्धिवृत्तिमें अभिव्यक्त जो चैतन्य तिसका नाम ज्ञान है। तथा विषयके साथ अभेद करके अभिव्यक्त चैतन्यका नाम स्फुरण है। और शुभ कर्म जन्य वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यका नाम आनन्द है। इस प्रकार वृत्तिरूप उपाधिकृत भेदसे ज्ञानादिकोंमें आत्मधर्मत्वका व्यवहार होता है, न वस्तुतः। इस अर्थको वार्तिककारने कहा है—**आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः। अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते॥** अर्थ – आनन्द, विषयानुभव, नित्यत्वादिक जो धर्म हैं सो आत्मासे अपृथक् हुये भी पृथक्‌की तरह प्रतीत होते हैं इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे बन्धको सत्य होनेसे ज्ञान करके अनर्थकी निवृत्तिरूप फलका, तथा जीवब्रह्मका अभेद रूप व अज्ञात आत्मारूप विषयका, अभाव होनेसे शास्त्र आरम्भ करनेको योग्य नहीं है यह पूर्वपक्ष भाष्यका तात्पर्य है इति॥

अब सिद्धान्त कहते हैं—**तथाप्यन्योऽन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेनात्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः॥** अर्थ—यहां सिद्धान्तभाष्यमें 'तथापि' का सम्बन्ध होनेसे शंकाभाष्यमें 'यद्यपि' समझना। यहांपर यह क्रम है—प्रथम सत्य आत्माका व अनृत अनात्माका संस्कारके बलसे बुद्धिमें स्फुरणरूप मिथुनीकरण होता है। इसके अनन्तर अत्यन्त विविक्त जाड्यचैतन्यादिक धर्मोंके व जड़चेतनरूप धर्मियोंके विवेकका अग्रह होता है। तदनन्तर परस्पर धर्मियोंमें अन्योन्य स्वरूपताका व अन्योन्य धर्मोंका अध्यास होता है। तदनन्तर अध्यासरूप मिथ्याज्ञाननिमित्तक 'अहमिदम्' 'ममेदम्' 'मैं मनुष्य हूँ' 'मेरा शरीर है' इत्यादिक स्वाभाविक लोकव्यवहार होता है। यहां पूर्व २ कारण है, उत्तर २ कार्य है। अध्यासमें व्यवहारकी नियत पूर्ववृत्तितारूप कारणताको सूचन करनेके लिये भाष्यमें 'अध्यस्य व्यवहारः' यह ल्यप्‌का प्रयोग किया है। अविवेकमें अध्यासकारणताकी बोधक 'अविवेकेन' यह तृतीया

है। और मिथुनीकरणमें अविवेकनिरूपित नियतपूर्ववृत्तित्वका सूचक 'मिथुनीकृत्य' यह ल्यप्का प्रयोग है। मिथुनीकरणके हेतु संस्कारोंका जनक पूर्व २ अध्यास है। तथा च इस प्रकार यह संस्कार व अध्यासकी धारा अनादि है। व्यवहार व अध्यासादिक धारामें अनादित्व बोधनके लिये व्यवहारमें नैसर्गिकत्व विशेषण है इति।

इसका तात्पर्य यह है कि—पूर्वपक्षभाष्यमें 'युक्तम्' पद करके सूचित पूर्वपक्षमें दुर्बलत्वको सिद्धान्ती दिखाता है—क्या अध्यासकी साधक युक्तियोंका अभावरूप अयुक्तत्ववाला होनेसे अध्यास नहीं है? अथवा प्रतीतिके अभावसे अध्यास नहीं है? अथवा कारणके अभावसे अध्यास नहीं है? तहां प्रथम पक्ष तो हमारेको इष्ट ही है। क्योंकि असंग स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप आत्मामें अध्यासका अयुक्तत्व अलंकाररूप है। और कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक धर्मोंके अभाववाले आत्मामें "कर्ताहम्, भोक्ताहम्, मनुष्योऽहम्" इस प्रकार अध्यासको विषय करनेवाले प्रत्यक्ष अनुभवको विद्यमान हुये अध्यासकी प्रतीतिका अभावरूप द्वितीय पक्ष बने नहीं। यदि वादी कहे कि—आत्मामें कर्तृत्वादिकोंकी ग्राहक प्रतीति प्रमारूप है? सो बने नहीं। क्योंकि पुरुष करके अप्रणीत, तथा भ्रम, विप्रलिप्सादिक दोष रहित, तथा अद्वितीय ब्रह्ममें उपक्रम उपसंहारादिक षट् लिङ्गों करके निश्चित तात्पर्यवाले जो तत्त्वमस्यादिक वेदवाक्य हैं; तिन वेदवाक्योंसे जन्य कर्तृत्वादिकधर्मरहित प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मज्ञान करके "कर्ताहम्" इत्यादिक अनुभवका बाध अनुभव सिद्ध है। और यदि पूर्वपक्षी कहे कि—आगमजन्य ज्ञानका ज्येष्ठ प्रत्यक्ष ज्ञानके साथ विरोध होनेसे आगमजन्य ज्ञानका बाध होवेगा। यह वार्ता भी नहीं बन सकती है। क्योंकि 'अथायमशरीरः' 'यह आत्मा शरीरसे भिन्न है' इत्यादि श्रुति करके देहसे भिन्न आत्माकी सिद्धि होती है। अब "मनुष्योऽहम्" इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान करके "अथायमशरीरः" इस आगमजन्य ज्ञानका बाध होनेसे देहात्मवादकी प्राप्ति होगी। अतः शुक्तिमें "इदं रजतम्" इस भ्रमकी तरह भ्रमत्वशंका करके कलंकित 'मनुष्योऽहम्' इस सामानाधिकरण्यप्रत्यक्षमें आगमजन्य ज्ञानसे प्रबलता नहीं है; जिससे आगमजन्य ज्ञानका बाध हो। किञ्च प्रथम शुक्तिमें "इदं रजतम्" यह भ्रमज्ञान होता है। पीछे "इयं शुक्तिः" यह प्रमाज्ञान होता है। परन्तु जैसे पश्चात् भावि शुक्तिज्ञान करके ज्येष्ठ रजतज्ञानका बाध होता है। तैसे प्रश्चात् भावि कर्तृत्व भोक्तृत्वादि सर्व धर्म शून्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्मज्ञान करके ज्येष्ठ "कर्ताहम् भोक्ताहम् मनुष्योऽहम्" इस भ्रमज्ञानका ही बाध होगा। अतः "मनुष्योऽहम्" इत्यादिक प्रत्यक्ष ज्ञान अध्यास रूप ही है। क्योंकि भ्रमज्ञान तथा भ्रमज्ञानके विषयको अध्यास कहते हैं। जसे रज्जुमें सर्पज्ञान तथा सर्पज्ञानका विषय सर्प अध्यास रूप है। और अध्यासको कार्यरूप होनेसे इसका कारण अवश्य स्वीकार करनेको योग्य है। क्योंकि कारणसे विना कार्य हो सकता नहीं। और रत्नप्रभाकारने 'नैसर्गिक' पद करके अध्यासका कारण संस्कारको प्रतिपादन किया है। "अतः कारणके अभावसे अध्यास नहीं बन सकता है" यह तृतीय पक्ष भी खण्डित हो चुका।

शंका। ज्ञानसे बन्धकी निवृत्तिके लिये जो बन्धको अध्यास रूप वर्णन करना सो व्यर्थ है। क्योंकि जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिक श्रुतियोंके बलसे क्षणिक याग करके कालान्तरभावि स्वर्गादिक फलोंकी प्राप्ति होती है। तैसे 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः' इत्यादिक श्रुतिके बलसे सत्य बन्धकी भी ज्ञानसे निवृत्ति हो सकती है?

समाधान। ज्ञान मात्रसे निवर्त्य जो वस्तु सो सत्य नहीं होती है। जैसे रज्जुसर्पादि। और जो सत्य वस्तु है तिसकी ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती है जैसे आत्मा।

शंका। ज्ञानसे सत्य वस्तुकी निवृत्ति न मानोगे तो सेतुदर्शनसे सत्य पापका नाश जो शास्त्रमें वर्णन किया है सो असंगत होवेगा?

समाधान। सेतुके दर्शनसे जो पापका नाश शास्त्रमें कहा है सो केवल सेतुके ज्ञानसे नहीं कहा है; किन्तु श्रद्धा नियमादि रूप क्रियासापेक्ष ज्ञानसे कहा है। और 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यत अयनाय' अर्थ -- तिस परमात्माको ही साक्षात्कार करके अधिकारी पुरुष मृत्युरूप संसारको तर जाता है; मोक्षके लिये ज्ञानसे अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है इति। इत्यादि श्रुति करके बोधित जो बन्धमें केवल ज्ञाननिवर्त्यत्व तिसके निर्वाहार्थ बन्धमें अध्यस्तत्व अवश्य स्वीकर्तव्य है। और पूर्व जो कहा है कि— श्रुतिके बलसे क्षणिक यागमें कालान्तरभावि स्वर्गादिक फलोंके प्रति कारणत्व है। सो भी नहीं बन सकता है। क्योंकि जो कारण होता है सो अव्यवहित पूर्ववृत्ति होता है। क्षणिक होनेसे, स्वर्गादिक फलसे अव्यवहित पूर्ववृत्तित्व रूप कारणत्व यागमें नहीं बन सकता है। किन्तु याग करके धर्मरूप अपूर्व उत्पन्न होता है। वह स्वर्गफलसे अव्यवहित पूर्ववृत्ति है। अतः स्वर्गके प्रति साक्षात् कारण अपूर्व है; और याग अपूर्व द्वारा कारण है इति॥

शंका। तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। इस सूत्रके व्याख्यानमें अध्यासका निरूपण किया है। पुनः यहांपर अध्यासका निरूपण करनेसे पुनरुक्ति दोष होगा?

समाधान। बुद्धिमान् अधिकारी पुरुषोंको इस ग्रन्थमें प्रवृत्तिके निमित्त जो विषयादि अनुबन्ध हैं तिनकी सिद्धिके लिये इस ग्रन्थके आदिमें वक्ष्यमाण अध्यासका ही वर्णन होनेसे पुनरुक्ति दोष होता नहीं। और यहां भगवान् भाष्यकारने 'लोकव्यवहारः' इस पद करके अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास दोनोंको बोधन किया है। तहां 'लोक' शब्दसे अर्थाध्यासको दिखाया है। और 'व्यवहार' शब्दसे ज्ञानाध्यासको दिखाया है। क्योंकि 'लोक्यत इति लोकः' 'मैं मनुष्य हूं' इत्यादि प्रतीतिका विषय जो मनुष्यशरीरादिरूप अर्थाध्यास, तिसका नाम लोक है। और शरीरादिविषयक जो ज्ञानरूप अध्यास तिसका नाम व्यवहार है।

अब द्विविध अध्यासका स्वरूपलक्षण कहते हैं—'परस्पर भिन्नत्वे सति अन्योऽन्यात्मकत्वम् अध्यासलक्षणम् ।' अर्थ—परस्पर भिन्नत्वविशिष्ट अन्योन्य स्वरूपत्व अध्यासका लक्षण है इति। परस्पर अभेदका नाम अन्योऽन्यात्मकत्व हैं। जैसे शुक्ति स्वरूप जो शुक्तिका इदं अंश, तथा प्रातिभासिक रजत, इन दोनोंमें परस्पर भिन्नत्व है; तथा 'इदं रजतम्' इस ज्ञानका विषय जो शुक्ति और रजतका परस्पर अभेदरूप अन्योन्यात्मकत्व सो भी है। इस रीतिसे शुक्ति रजतादिक अध्यासमें लक्षणसमन्वय हुवा। तैसे आत्मा तथा देह इन दोनोंमें परस्पर भिन्नत्व है; और 'मनुष्योऽहम्' इस प्रतीतिका विषय जो आत्मा तथा देहका परस्पर अभेदरूप अन्योन्यात्मकत्व सो भी रहता है। इस रीतिसे आत्मदेहादिक अध्यासोंमें लक्षणसमन्वय जानना। तहां 'अन्योऽन्यात्मकत्वम्' इतना ही अध्यासका लक्षण करते तो "नीलो घटः" इस ज्ञानका विषय जो 'नील' पदार्थ व 'घट' पदार्थ इन दोनोंका परस्पर अभेद होनेसे, नीलघटमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। अतः तिस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिये 'परस्परभिन्नत्वे सति' इस विशेषणका ग्रहण किया है। यद्यपि नील व घटका अभेद है, तथापि परस्परभिन्नत्वरूप विशेषणका अभाव होनेसे परस्परभिन्नत्वरूप विशेषणविशिष्ट अन्योऽन्यात्मकत्व रूप लक्षण रहता नहीं। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष रहित है। और "परस्परभिन्नत्व" इतना ही लक्षण करते तो 'घटो न पटः' इस ज्ञानके विषय जो घट तथा पट इन दोनोंमें परस्परभिन्नत्वरूप लक्षणको विद्यमान होनेसे अतिव्याप्ति दोषवाला लक्षण होवेगा। अतः तिस दोषको वारणके लिये लक्षणमें 'अन्योन्यात्मकत्व' इस विशेष्य भागको ग्रहण किया है। यद्यपि 'परस्परभिन्नत्व' इतना लक्षण घट पटमें रहता है; तथापि अन्योन्यात्मकत्वरूप विशेष्य भागका अभाव होनेसे परस्परभिन्नत्वविशिष्ट अन्योन्यात्मकत्वरूप लक्षण रहता नहीं। इसलिये यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष रहित है। यद्यपि अर्थाध्यासमें 'परस्परभिन्नत्वे सति 'अन्योऽन्यात्मकत्वम्' इस लक्षणका समन्वय ठीक होता है। तथापि 'इदं रजतम्' इस ज्ञानाध्यासमें लक्षणका समन्वय होता नहीं। क्योंकि यहां इदमाकार अन्तःकरणकी वृत्ति तथा रजताकार अविद्याकी वृत्तिका नाम ज्ञान है। तिन दोनों वृत्तियोंमें परस्परभिन्नत्व तो है; परन्तु परस्पर अन्योन्यात्मकत्व नहीं है। अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष वाला है ? ऐसी शंका कोई करते हैं सो भी बने नहीं; क्योंकि केवल वृत्तिका नाम ज्ञान नहीं है; तथा केवल चेतनका नाम भी ज्ञान नहीं है; किन्तु चेतन सहित वृत्तिका नाम ज्ञान है; अथवा वृत्तिसहित चेतनका नाम ज्ञान है। यदि केवल वृत्तिमात्रको ज्ञान मानोगे तो वृत्तिको जड़ होनेसे विषयका प्रकाश नहीं हो सकेगा। अतः सत्यमिथ्या वस्तुके तादात्म्यको विषय करनेवाला जो उभयवृत्ति-उपहित चैतन्य, तिसका नाम भ्रमज्ञान है। जैसे सत्य शुक्ति तथा मिथ्या रजत इन दोनोंके तादात्म्यको विषय करनेवाला जो इदमाकार तथा रजताकार उभयवृत्त्युपहित चैतन्यरूप "इदं रजतम्" यह ज्ञान है। सो एक है। क्योंकि दोनों वृत्तिरूप उपाधियोंकी एक देशमें स्थिति होनेसे वृत्तिउपहित चैतन्यका अभेद होता है। और

"इदं रजतम्" इस भ्रमज्ञानके वृत्तिअंशमें लक्षणका परस्परभिन्नत्वरूप विशेषण भाग रहता है। तथा चैतन्यअंशमें अन्योऽन्यात्मकत्वरूप विशेष्य भाग रहता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानाध्यासमें भी लक्षणका समन्वय जानना।

शंका। जिन धर्मियोंका परस्पर तादात्म्यरूप अध्यास होता है, तिन धर्मियोंके धर्मोंका भी परस्पर धर्मीमें अध्यास अवश्य ही होता है। जैसे 'अयो दहति' इस स्थानमें लोह तथा अग्निरूप धर्मियोंका परस्पर तादाम्यरूप अध्यासको होनेसे लोहका धर्म वर्तुलाकारत्व चन्द्राकारत्वादिकोंका अध्यास अग्निरूप धर्मीमें होता है। तथा अग्निके धर्म दाहादिका अध्यास लोहरूप धर्मीमें होता है। तैसे आत्मा तथा अनात्मा रूप धर्मियोंके चैतन्य जाड्य दुःखादिक धर्मोंका परस्पर धर्मियोंमें अध्यास सिद्ध ही है। पुनः धर्माध्यासकी सिद्धिके लिये जो भाष्यकारने 'धर्मांश्च' इस पदको ग्रहण किया है, सो व्यर्थ है ?

समाधान। जैसे 'कर्ताहम्, भोक्ताहम्, मनुष्योऽहम्' इत्यादि प्रतीतिःसे आत्मा तथा अहंकारादिक धर्मियोंका परस्पर तादात्म्याध्यास स्पष्ट सिद्ध है। तैसे आत्मा तथा चक्षु आदिक इन्द्रियरूप धर्मियोंका तादात्म्यका ग्राहक "चक्षुरहं श्रोत्रमहम्" इत्यादि अनुभवका अभाव होनेसे धर्मियोंका अध्यास स्पष्ट नहीं भी है; तो भी 'अन्धोऽहम्, बधिरोऽहम्' इस प्रत्यक्ष अनुभवसे आत्मारूप धर्मीमें इन्द्रियोंके अन्धत्वादिक धर्मोंका अध्यास स्पष्ट सिद्ध है। इस अर्थको बोधन करनेके लिये भाष्यकारोंने 'धर्मांश्च' इस पदको पृथक् ग्रहण किया है।

और 'मिथ्याऽज्ञाननिमित्तः' इस भाष्यमें अकारच्छेद पक्षमें यद्यपि अध्यासरूप प्रपंचके प्रति अज्ञान उपादान कारण है निमित्त कारण नहीं है; तथापि "मिथ्याऽज्ञाननिमित्त" इस भाष्यवचनमें निमित्त पद करके अध्यासके प्रति निमित्त कारण जो संस्कार, काल, अदृष्टादिक हैं तिन निमित्त कारणोंका परिणामी कारण होनेसे अज्ञानमें निमित्तत्व कहा है। और स्वयंप्रकाश असंग आत्मामें अज्ञान कदाचित् भी नहीं बन सकता है। अतः असम्भवित अज्ञानको जगत्का कारण कहना बने नहीं ? इस शंकाको दूर करनेके लिये मिथ्या पद कहा है। जैसे प्रचण्ड मार्तण्डमण्डलमें दिवान्ध उलूकोंको अनुभवसिद्ध अन्धकार है। तैसे स्वयंप्रकाश आत्मामें 'अहम् अज्ञः' इस अनुभव करके सिद्ध मिथ्या अज्ञान बन सकता है। अथवा नैयायिक ज्ञानके अभावको अज्ञान कहते हैं। इस मतके निरासार्थ मिथ्या पद कहा है। नैयायिकोंके मतमें ज्ञानाभावको अत्यन्ताभाव स्वरूप होनेसे ज्ञानाभाव नित्य है मिथ्या नहीं। और 'मिथ्याऽज्ञान' पद करके भाष्यकारने अज्ञानका 'मिथ्यात्वे सति साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वम्' यह लक्षण कहा है। अर्थ—जो वस्तु मिथ्या होवे तथा साक्षात् ज्ञान करके निवर्त्य होवे सो अज्ञान कहा जाता है इति। अज्ञानमें मिथ्यात्व है, तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान करके साक्षात्निवर्त्यत्व भी है। अतः, इस लक्षणका अज्ञानमें समन्वय हुवा। तहां 'साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वम्' इतना ही लक्षण करते तो प्राचीन नैयायिकोंके मतमें ज्ञान करके साक्षात्निवर्त्य जो इच्छाका प्रागभाव तिसमें लक्षणकी अति-

अब द्विविध अध्यासका स्वरूपलक्षण कहते हैं—'परस्पर भिन्नत्वे सति अन्योऽन्यात्मकत्वम् अध्यासलक्षणम् ।' अर्थ—परस्पर भिन्नत्वविशिष्ट अन्योन्य स्वरूपत्व अध्यासका लक्षण है इति। परस्पर अभेदका नाम अन्योऽन्यात्मकत्व हैं। जैसे शुक्ति स्वरूप जो शुक्तिका इदं अंश, तथा प्रातिभासिक रजत, इन दोनोंमें परस्पर भिन्नत्व है; तथा 'इदं रजतम्' इस ज्ञानका विषय जो शुक्ति और रजतका परस्पर अभेदरूप अन्योन्यात्मकत्व सो भी है। इस रीतिसे शुक्ति रजतादिक अध्यासमें लक्षणसमन्वय हुवा। तैसे आत्मा तथा देह इन दोनोंमें परस्पर भिन्नत्व है; और 'मनुष्योऽहम्' इस प्रतीतिका विषय जो आत्मा तथा देहका परस्पर अभेदरूप अन्योन्यात्मकत्व सो भी रहता है। इस रीतिसे आत्मदेहादिक अध्यासोंमें लक्षणसमन्वय जानना। तहां 'अन्योऽन्यात्मकत्वम्' इतना ही अध्यासका लक्षण करते तो "नीलो घटः" इस ज्ञानका विषय जो 'नील' पदार्थ व 'घट' पदार्थ इन दोनोंका परस्पर अभेद होनेसे, नीलघटमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। अतः तिस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिये 'परस्परभिन्नत्वे सति' इस विशेषणका ग्रहण किया है। यद्यपि नील व घटका अभेद है, तथापि परस्परभिन्नत्वरूप विशेषणका अभाव होनेसे परस्परभिन्नत्वरूप विशेषणविशिष्ट अन्योऽन्यात्मकत्व रूप लक्षण रहता नहीं। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष रहित है। और "परस्परभिन्नत्व" इतना ही लक्षण करते तो 'घटो न पटः' इस ज्ञानके विषय जो घट तथा पट इन दोनोंमें परस्परभिन्नत्वरूप लक्षणको विद्यमान होनेसे अतिव्याप्ति दोषवाला लक्षण होवेगा। अतः तिस दोषको वारणके लिये लक्षणमें 'अन्योन्यात्मकत्व' इस विशेष्य भागको ग्रहण किया है। यद्यपि 'परस्परभिन्नत्व' इतना लक्षण घट पटमें रहता है; तथापि अन्योन्यात्मकत्वरूप विशेष्य भागका अभाव होनेसे परस्परभिन्नत्वविशिष्ट अन्योन्यात्मकत्वरूप लक्षण रहता नहीं। इसलिये यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष रहित है। यद्यपि अर्थाध्यासमें 'परस्परभिन्नत्वे सति 'अन्योऽन्यात्मकत्वम्' इस लक्षणका समन्वय ठीक होता है। तथापि 'इदं रजतम्' इस ज्ञानाध्यासमें लक्षणका समन्वय होता नहीं। क्योंकि यहां इदमाकार अन्तःकरणकी वृत्ति तथा रजताकार अविद्याकी वृत्तिका नाम ज्ञान है। तिन दोनों वृत्तियोंमें परस्परभिन्नत्व तो है; परन्तु परस्पर अन्योन्यात्मकत्व नहीं है। अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष वाला है ? ऐसी शंका कोई करते हैं सो भी बने नहीं; क्योंकि केवल वृत्तिका नाम ज्ञान नहीं है; तथा केवल चेतनका नाम भी ज्ञान नहीं है; किन्तु चेतन सहित वृत्तिका नाम ज्ञान है; अथवा वृत्तिसहित चेतनका नाम ज्ञान है। यदि केवल वृत्तिमात्रको ज्ञान मानोगे तो वृत्तिको जड़ होनेसे विषयका प्रकाश नहीं हो सकेगा। अतः सत्यमिथ्या वस्तुके तादात्म्यको विषय करनेवाला जो उभयवृत्ति-उपहित चैतन्य, तिसका नाम भ्रमज्ञान है। जैसे सत्य शुक्ति तथा मिथ्या रजत इन दोनोंके तादात्म्यको विषय करनेवाला जो इदमाकार तथा रजताकार उभयवृत्त्युपहित चैतन्यरूप "इदं रजतम्" यह ज्ञान है। सो एक है। क्योंकि दोनों वृत्तिरूप उपाधियोंकी एक देशमें स्थिति होनेसे वृत्तिउपहित चैतन्यका अभेद होता है। और

"इदं रजतम्" इस भ्रमज्ञानके वृत्तिअंशमें लक्षणका परस्परभिन्नत्वरूप विशेषण भाग रहता है। तथा चैतन्यअंशमें अन्योऽन्यात्मकत्वरूप विशेष्य भाग रहता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानाध्यासमें भी लक्षणका समन्वय जानना।

शंका। जिन धर्मियोंका परस्पर तादात्म्यरूप अध्यास होता है, तिन धर्मियोंके धर्मोंका भी परस्पर धर्मीमें अध्यास अवश्य ही होता है। जैसे 'अयो दहति' इस स्थानमें लोह तथा अग्निरूप धर्मियोंका परस्पर तादात्म्यरूप अध्यासको होनेसे लोहका धर्म वर्तुलाकारत्व चन्द्राकारत्वादिकोंका अध्यास अग्निरूप धर्मीमें होता है। तथा अग्निके धर्म दाहादिका अध्यास लोहरूप धर्मीमें होता है। तैसे आत्मा तथा अनात्मा रूप धर्मियोंके चैतन्य जाड्य दुःखादिक धर्मोंका परस्पर धर्मियोंमें अध्यास सिद्ध ही है। पुनः धर्माध्यासकी सिद्धिके लिये जो भाष्यकारने 'धर्मांश्च' इस पदको ग्रहण किया है, सो व्यर्थ है ?

समाधान। जैसे 'कर्ताहम्, भोक्ताहम्, मनुष्योऽहम्' इत्यादि प्रतीति-से आत्मा तथा अहंकारादिक धर्मियोंका परस्पर तादात्म्याध्यास स्पष्ट सिद्ध है। तैसे आत्मा तथा चक्षु आदिक इन्द्रियरूप धर्मियोंका तादात्म्यका ग्राहक "चक्षुरहं श्रोत्रमहम्" इत्यादि अनुभवका अभाव होनेसे धर्मियोंका अध्यास स्पष्ट नहीं भी है; तो भी 'अन्धोऽहम्, बधिरोऽहम्' इस प्रत्यक्ष अनुभवसे आत्मारूप धर्मीमें इन्द्रि-योंके अन्धत्वादिक धर्मोंका अध्यास स्पष्ट सिद्ध है। इस अर्थको बोधन करनेके लिये भाष्यकारोंने 'धर्मांश्च' इस पदको पृथक् ग्रहण किया है।

और 'मिथ्याऽज्ञाननिमित्तः' इस भाष्यमें अकारच्छेद पक्षमें यद्यपि अध्यासरूप प्रपंचके प्रति अज्ञान उपादान कारण है निमित्त कारण नहीं है; तथापि "मिथ्याऽ-ज्ञाननिमित्त" इस भाष्यवचनमें निमित्त पद करके अध्यासके प्रति निमित्त कारण जो संस्कार, काल, अदृष्टादिक हैं तिन निमित्त कारणोंका परिणामी कारण होनेसे अज्ञानमें निमित्तत्व कहा है। और स्वयंप्रकाश असंग आत्मामें अज्ञान कदाचित् भी नहीं बन सकता है। अतः असम्भवित अज्ञानको जगत्का कारण कहना बने नहीं ? इस शंकाको दूर करनेके लिये मिथ्या पद कहा है। जैसे प्रचण्ड मार्तण्डमण्डलमें दिवान्ध उलूकोंको अनुभवसिद्ध अन्धकार है। तैसे स्वयंप्रकाश आत्मामें 'अहम् अज्ञः' इस अनुभव करके सिद्ध मिथ्या अज्ञान बन सकता है। अथवा नैयायिक ज्ञानके अभावको अज्ञान कहते हैं। इस मतके निरासार्थ मिथ्या पद कहा है। नैयायिकोंके मतमें ज्ञानाभावको अत्यन्ताभाव स्वरूप होनेसे ज्ञानाभाव नित्य है मिथ्या नहीं। और 'मिथ्याऽज्ञान' पद करके भाष्यकारने अज्ञानका **'मिथ्यात्वे सति साक्षाज्ज्ञा-ननिवर्त्यत्वम्'** यह लक्षण कहा है। अर्थ—जो वस्तु मिथ्या होवे तथा साक्षात् ज्ञान करके निवर्त्य होवे सो अज्ञान कहा जाता है इति। अज्ञानमें मिथ्यात्व है, तथा **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस ज्ञान करके साक्षात्निवर्त्यत्व भी है। अतः, इस लक्षणका अज्ञानमें समन्वय हुवा। तहां 'साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वम्' इतना ही लक्षण करते तो प्राचीन नैयायिकोंके मतमें ज्ञान करके साक्षात्निवर्त्य जो इच्छाका प्रागभाव तिसमें लक्षणकी अति-

व्याप्ति होगी। क्योंकि इच्छाके प्रागभावकी निवृत्ति प्रागभावका प्रतियोगी इच्छा स्वरूप है। और इच्छा ज्ञान करकेसाध्य हैं। अतः प्रागभावकी निवृत्ति भी ज्ञानसाध्य हुई। जिस वस्तुकी निवृत्ति जिस करके साध्य होवे सो वस्तु तिस करके निवर्त्य कहा जाता है। जैसे घटकी निवृत्ति दण्डप्रहारसाध्य है। अतः घट दण्डप्रहार करके निवर्त्य कहा जाता है। तैसे ज्ञान करके निवर्त्य इच्छाका प्रागभाव है। अतः इच्छाके प्रागभावमें अतिव्याप्तिके वारणके लिये "मिथ्यात्वे सति" यह विशेषण कहा है। प्रागभावमें मिथ्यात्व तार्किकोंको स्वीकृत है नहीं। अतः मिथ्यात्वविशिष्ट 'साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्व' रूप लक्षणका अभाव होनेसे अतिव्याप्ति होती नहीं। और 'मिथ्यात्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्' इतना लक्षण करते तो ज्ञान करके निवर्त्य जो मिथ्या बन्ध तिसमें लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। तिस अतिव्याप्तिका वारणके लिये 'साक्षात्' पद कहा। मिथ्याबन्धमें ज्ञाननिवर्त्यत्वके हुये भी साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्व नहीं है। किन्तु अज्ञानकी निवृत्ति द्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्व है; अतः लक्षण अतिव्याप्ति दोष रहित है।

शंका। भाष्यकारने आत्मा तथा अनात्माका परस्पर अध्यासरूप अन्योन्याध्यास कहा सो बने नहीं। क्योंकि जैसे आत्मामें अनात्माका अध्यास होनेसे अनात्मा कल्पित है। तैसे अनात्मामें आत्माका अध्यास मानोगे तो आत्मा भी कल्पित होगा?

समाधान। अध्यास दो प्रकारका होता है। एक तो स्वरूपाध्यास होता है। दूसरा संसर्गाध्यास होता है। जिस पदार्थका स्वरूप अनिर्वचनीय उत्पन्न होवे तिसको स्वरूपाध्यास कहते हैं। जैसे शुक्तिमें उत्पन्न अनिर्वचनीय रजत स्वरूपाध्यास है। और आत्मामें अनिर्वचनीय उत्पन्न अहंकारादिक अनात्माका स्वरूपाध्यास है।

और जिन पदार्थोंका व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक स्वरूप तो प्रथम सिद्ध हो; किन्तु तिन पदार्थोंका अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होवे; तो वह सम्बन्ध संसर्गाध्यास है। जैसे "लोहितः स्फटिकः" इस ज्ञानमें लोहितका तादात्म्य स्फटिकमें भासित होता है। और लोहितका तादात्म्य पुष्पमें है; स्फटिकमें नहीं। क्योंकि रक्त रूपवालेको लोहित कहते हैं, रक्त रूपवाला पुष्प है; स्फटिक नहीं। अतः स्फटिकमें लोहित पुष्पका जो अनिर्वचनीय तादात्म्यसम्बन्ध उत्पन्न होता है, सो संसर्गाध्यास है। यहां रक्त पुष्प जो सम्बन्धी सो व्यावहारिक है, तिसका तादात्म्यसम्बन्ध कल्पित है। तैसे आत्माका जड़में अध्यास नहीं है। क्योंकि आत्मा तो पारमार्थिक है। और जो पारमार्थिक होता है सो अध्यस्त होता नहीं। किन्तु जड़में आत्माके तादात्म्यसम्बन्धका अध्यास है। आत्माका तादात्म्य चेतनमें है अहंकारादिकमें नहीं, और अहंकारादिकमें प्रतीत होता है; अतः आत्माचेतनका तादात्म्यसम्बन्ध अहंकारादिमें अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है। अतः आत्मा कल्पित नहीं, किन्तु आत्माका सम्बन्ध कल्पित है इति।

अब पूर्वोक्त अध्यासको पुनः दृढ़ करनेके लिये भाष्यकार कथन करते हैं—

'अहमिदम्' 'ममेदमिति' अर्थ—भगवान् भाष्यकारने **'अहमिदम्'** इस वचन करके

मनुष्योऽहम् मैं मनुष्य हूँ इस प्रकार आत्मामें मनुष्य शरीरका तादात्म्याध्यासको बोधन किया है; तथा **ममेदम् शरीरम्** इस वचन करके शरीरमें आत्माका संसर्गाध्यासको बोधन किया है इति ॥ धर्माध्यासका व्यापक जो धर्मियोंका ऐक्याध्यास, तिसके खंडनको पूर्वपक्षी दिखाता है।

शंका। परस्पर विरुद्ध जाड्य चैतन्यादिक धर्मवाले अन्तःकरण तथा आत्मारूप धर्मियोंका ऐक्याध्यासका अभाव होनेसे आत्मारूप धर्मीमें जाड्य दुःखादिक धर्माध्यास नहीं बन सकता है। क्योंकि यह नियम है, व्यापकका अभावसे व्याप्यका अभाव होता है। **यत्र धर्माध्यासः, तत्र धर्म्यैक्याध्यासः,** इस रीतिसे धर्माध्यास व्याप्य है। और धर्मियोंका ऐक्याध्यास व्यापक है। जो सिद्धान्ती ऐसा कहे 'अहम्' इस ज्ञानमें अन्तःकरण तथा आत्माका अभेद प्रतीत होनेसे धर्मियोंका ऐक्याध्यास बन सकता है। सो बने नहीं; क्योंकि जाड्य चैतन्यादिक विरुद्धधर्मवत्त्वरूप करके आत्मा तथा अन्तःकरणका भेदज्ञानको विद्यमान हुये अध्यासका कारणभेदाग्रहका अभाव होनेसे अध्यास नहीं बन सकता। अथवा जहां जिनका धर्म्यध्यास होता है, तहां तिनका भेदाग्रह होता है—यह नियम है। प्रकृत में 'चेतनोऽहं न जड़' इत्यादि प्रतीतिबलात् जड़ देहादिकसे भिन्न चेतन आत्माको अनुभव सिद्ध होनेसे, व्यापकके अभावसे व्याप्यका अभाव होता है, इस न्यायसे अध्यास नहीं बन सकता। किंच अज्ञात है धर्मी तथा प्रतियोगी जिसका ऐसा जो भेद तिस भेदका अग्रह रूपेण भेदाग्रहको अध्यासके प्रति हेतु मानते हो, अथवा ज्ञात धर्मिप्रतियोगिक भेदका अग्रह रूपेण भेदाग्रहको अध्यासके प्रति हेतु मानते हो? तहां प्रथम पक्ष तो बने नहीं, क्योंकि सुषुप्तिमें अज्ञात धर्मिप्रतियोगिक भेदाग्रहको विद्यमान हुये भी अध्यास दीखनेमें आता नहीं। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि **सुखाद्युपलब्धिः करणजन्या, कार्यत्वात्, घटज्ञानवत्** जैसे घटज्ञान रूप दृष्टान्तमें कार्यत्व रूप हेतु है और चक्षुरादिक करणजन्यत्व साध्य भी है, तैसे सुखादिकोंके ज्ञान रूप पक्षमें कार्यत्व रूप हेतु है, अतः करणजन्यत्व रूप साध्य भी अवश्य मानना होगा। तहां सुखादिकोंके ज्ञानमें चक्षुरादिक बाह्य इन्द्रिय तो करण हो सकता नहीं, किंतु मनको ही करण कहना होगा। इस अनुमान करके, तथा **'तन्मनोऽसृजत'** तत् ब्रह्म मनको उत्पन्न करता भया इस श्रुति करके, ज्ञात प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्मरूप धर्मीसे ज्ञात मन रूप प्रतियोगिका भिन्नत्व रूप करके ज्ञान होनेसे ज्ञात धर्मिप्रतियोगिक भेदाग्रह बने नहीं। जो सिद्धान्ती ऐसा कहे "लोहितः स्फटिकः" इस स्थलमें जिस पुरुषको "स्फटिको न लोहितः" स्फटिक है अनुयोगी जिसका तथा जपाकुसुम है प्रतियोगी जिसका ऐसा भेदज्ञानको होनेसे जैसे स्फटिक रूप

धर्मीमें जपाकुसुमका ऐक्याध्यासका अभाव हुये भी लोहित्यरूपधर्माध्यास होता है; तैसे आत्मा रूप धर्मीमें अन्तःकरणका ऐक्याध्यासका अभाव हुये भी दुःखादिक धर्माध्यास बन सकता है। सो बने नहीं, क्योंकि धर्माध्यासका व्यापक केवल धर्मियोंका ऐक्याध्यास नहीं, किंतु दो धर्मियोंका ऐक्याध्यास, तथा एक धर्मीके साथ दूसरा धर्मीके प्रतिविंबका ऐक्याध्यास, इन दोनोंमें अन्यतर अध्यास धर्माध्यासका व्यापक है। **लोहितः स्फटिकः**, इस स्थलमें धर्मीका ऐक्याध्यास यद्यपि नहीं है तथापि स्फटिकमें जपाकुसुमकी छाया रूप जो प्रतिविंब तिसका स्फटिक रूप धर्मीके साथ ऐक्याध्यास रूप व्यापक विद्यमान है, अतः लोहित्य रूप धर्माध्यास हो सकता है। जो सिद्धान्ती ऐसा कहे—जैसे स्फटिकको स्वच्छ होनेसे जपाकुसुमका प्रतिविंबको स्फटिक ग्रहण करता है, तैसे आत्माको स्वच्छ होनेसे अन्तःकरणका प्रतिविंब-को आत्मा ग्रहण करेगा, अत आत्मामें दुःखादिक धर्माध्यासका व्यापक जो आत्मारूप धर्मीके साथ अन्तःकरणके प्रतिविंबका ऐक्याध्यास, सो बन सकता है। सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि स्फटिकको रूपवाला होनेसे स्फटिकमें प्रतिविंबग्राहित्व बन सकता है। आत्मा रूपरहित है, अत आत्मामें प्रतिविंब-ग्राहित्व नहीं बन सकता। अतः प्रतिविंबैक्याध्यासका अभाव होनेसे धर्मा-ध्यास बने नहीं। और जो सिद्धान्ती ऐसा कहे—शास्त्रमें रूप रहित आकाशमें शब्दका प्रतिध्वनि रूप प्रतिविंबग्राहित्व कहा है, तथा रूप रहित अन्तःकरणमें आत्माका प्रतिविंबग्राहित्व कहा है, सो असंगत होगा। यद्यपि यह वार्ता सत्य है तथापि प्रतिविंबग्राहित्वका व्यापक रूपवत्त्वको हम नहीं अंगीकार करते, किंतु सावयवत्वको अंगीकार करते हैं। **यत्र प्रतिविंबग्राहित्वम् तत्र सावयवत्वम्** ऐसा माननेसे कोई दोष होता नहीं, क्योंकि स्फटिकमें तथा आकाशमें तथा अन्तःकरणमें प्रतिविंबग्राहित्व है, तो इनमें सावयवत्व भी है। वेदान्त सिद्धान्त-में आकाशको सावयव स्वीकार किया है, और आत्मामें सावयवत्वका अभाव होनेसे प्रतिविंबग्राहित्वका अभाव है, और आत्मामें प्रतिविंबग्राहित्वका अभाव होनेसे प्रतिविंबैक्याध्यासका अभाव है, और प्रतिविंबैक्याध्यासका अभाव होने-से धर्माध्यासका अभाव सिद्ध हुआ। किंच 'अहम्' इस प्रतीतिसे आत्मा तथा अहंकारका ऐक्याध्यास नहीं बन सकता, क्योंकि यह नियम है 'यत्र धर्म्यैक्याध्यासः, तत्र द्वैरूप्यावभासः' जैसे इदं रजतम् इस स्थलमें इदं तथा रजत रूप धर्मीका ऐक्याध्यास है, और इदं स्वरूप अधिष्टान तथा आरोप्यांश रजत इन दोनोंके स्वरूपका अवभास है। तैसे 'अहम्' इस स्थलमें धर्मीका ऐक्याध्यासका व्यापक जो द्वैरूप्यावभास तिसका अभाव होनेसे 'अहम्' इस प्रतीति करके आत्मा तथा अहंकार रूप धर्मियोंका ऐक्याध्यास बने नहीं। जब धर्मियोंका ऐक्या-ध्यास सिद्ध नहीं हुआ, तब सुतरां धर्माध्यास नहीं हो सकता है इति।

समाधान। जो पूर्वपक्षीने कहाकि अनुमान तथा श्रुतिप्रमाण

करके अन्तःकरण तथा आत्माका भेदज्ञानको विद्यमान हुये, आत्मा तथा अन्तःकरण रूप धर्मियोंका जो ऐक्याध्यास तिसका कारण भेदाग्रहका अभाव होनेसे आत्मा तथा अन्तःकरणादिकोंका ऐक्याध्यास नहीं बन सकता, अतः जाड्य चैतन्यादिक धर्मोंका भी अध्यास नहीं हो सकता है। सो असंगत है, क्योंकि अनुमानादि प्रमाण करके जो आत्मा तथा अन्तः-करणका भेदज्ञान हुआ है सो परोक्ष है, अपरोक्ष नहीं। अत अपरोक्ष भेदग्रहका अभावरूप भेदाग्रह कारणको विद्यमान हुये धर्मियोंका ऐक्याध्यास बन सकता है, अतः धर्माध्यास भी बन सकता है। और वादीने जो पूर्व कहा कि अध्या-सका व्यापक जो अधिष्ठान तथा आरोप्यांश द्वयका ज्ञान, तिसका अभाव होनेसे धर्मियोंका अध्यास नहीं बन सकता। सो भी असंगत है, क्योंकि तपे हुये लोहपिंड-में "अयो वह्निः" ऐसा वह्नित्व प्रकारक अथवा वह्निप्रकारक लोहविशेष्यक ज्ञान-का अभाव हुये भी "अयो दहति" इस स्थलमें जैसे अयस्का अयस्त्वरूप करके भान होता है, और वह्निका दहनक्रियाका कर्तृत्व रूप करके भान होता है, तैसे 'अहं मनः' ऐसा मनस्त्वप्रकारक अथवा मनःप्रकारक आत्मविशेष्यक ज्ञानका अभाव हुये भी "अहमुपलभे, दुःखी" इस स्थानमें आत्माका उपलंभरूप ज्ञानका आश्रयत्वरूपकरके भान होता है, और अन्तःकरणका दुःखाश्रयत्वरूप करके भान होता है। अत आत्मा तथा अंतःकरण रूप **अधिष्ठान** तथा **आरोप्य** अंश द्वयका अवभासको विद्यमान होनेसे धर्मीका अध्यास बन सकता है।

शंका। आत्माका उपलंभाश्रयत्व रूप करके तथा अन्तःकरणका दुःखा-श्रयत्व रूप करके ज्ञान हुये भी आत्मा तथा अन्तःकरणका तादात्म्याध्यास सिद्ध होता नहीं।

समाधान। जैसे अयःपिंडमें दग्धृत्वका अभाव हुये भी दग्धृत्वका आश्रय वह्निके साथ तादात्म्याध्यास होनेसे 'अयो दहति' ऐसा व्यवहार होता है; तैसे आत्मामें सुख दुःखादिकोंका अभाव हुये भी सुख दुःखादिकोंका आश्रय जो अन्तःकरण तिसका आत्माके साथ तादात्म्याध्याससे ही 'अहं सुखी, अहं दुःखी' यह व्यवहार होता है।

यदि आत्मा तथा अन्तःकरणका तादात्म्याध्यास न मानोगे, तब 'अहं सुखी अहं दुःखी' यह अभेद रूप तादात्म्य व्यवहार नहीं होना चाहिये। किंच 'अहम्' यह अहंकाराध्यास है, इसमें आरोप्य अहंकारका **दृश्यत्व** रूप करके भान होता है। तथा अधिष्ठान जो अहंकाराकार वृत्ति उपहित चैतन्य रूप साक्षी, तिसका **स्वप्रकाशत्वरूप** करके भान होता है। अत इस अहंकारा-ध्यासमें भी अधिष्ठान तथा आरोप्यांश द्वयका भान होनेसे "अहम्" यह धर्मियोंका अध्यास बन सकता है। और जब धर्माध्यासका व्यापक धर्मियोंके अध्यासकी सिद्धि हुई, तब धर्माध्यासकी सिद्धि सुतरां हुई। और पूर्वोक्त रीति

से अध्यासकी संस्कारादिरूप सामग्री तथा अनुभवको विद्यमान होनेसे बन्ध अध्यस्त है। और बन्धको अध्यस्त होनेसे ब्रह्म तथा आत्माकी एकता रूप ग्रंथका **विषय** तथा **प्रयोजनादिकों**की सिद्धि होनेसे यह **शारीरक शास्त्र** आरम्भ करनेके योग्य है। **इति सिद्धान्तभाष्यतात्पर्यम्॥**

पूर्व "अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकताम्" इत्यादिक भाष्यवचन करके भाष्यकारने जो "परस्पर भिन्नत्वे सति अन्योऽन्यात्मकत्वम्" यह अध्यासका लक्षण बोधन किया है, सो लक्षण अप्रसिद्ध है। और अध्यासका लोक-प्रसिद्ध लक्षणका निर्णय हुये ही अप्रसिद्ध लक्षण भी अध्यासका लक्षण-विशेष सिद्ध हो सकता है। ऐसा समझ कर **पूर्वपक्षी पूछता है** 'कोय-मध्यासो नामेति'।

शंका—प्रसिद्ध यह अध्यास क्या है? अर्थात् लोक प्रसिद्ध अध्यासका क्या लक्षण है?

समाधान। स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः, अध्यासः अर्थात् स्मर्यते इति स्मृतिः, जिस वस्तुका स्मरण करें तिसका नाम स्मृति है। जैसे 'इदं रजतम्' इस भ्रम स्थलमें सत्य रजतका स्मरण होता है, इस लिये स्मृति शब्दका अर्थ सत्य रजत है। **तस्य रूपमिव रूपमस्येति स्मृतिरूपः।** अर्थ—सत्य रजतके रूपके सदृश है रूप जिसका तिसका नाम स्मृति रूप है इति। अर्थात् स्मर्यमाण सत्य रजतके सदृश शुक्तिरजत है। और शुक्तिरजतमें सत्यरजतका सादृश्य संस्कारजन्य ज्ञान-विषयत्वरूप है, क्योंकि जैसे संस्कारजन्य स्मृतिज्ञानविषयत्व सत्य रजतमें है, तैसे संस्कारजन्य भ्रमज्ञानविषयत्व शुक्तिरजतमें है। पुनः शुक्तिरजत कैसा है? **परत्र पूर्वदृष्टावभासः** परत्र कहिये दूसरेमें अर्थात् शुक्तिमें "पूर्वदृष्टावभास" कहिये सत्य रजतका जो पूर्व अनुभव रूप ज्ञान, संस्कार द्वारा तिस ज्ञान करके जन्य जो 'इदं रजतम्' यह भ्रमज्ञान, तिस ज्ञानका विषय है। इस प्रकार अर्थाध्यासमें भाष्यवचनका समन्वय जानना। और ज्ञानाध्यासमें वक्ष्यमाण रीतिसे समन्वय जानना। 'स्मृतिरूपः' शब्दका अर्थ स्मृति नहीं परन्तु स्मृति सदृश है, और 'परत्र पूर्वदृष्टावभासः' शब्दका अर्थ अन्यमें अन्यका पूर्व अनुभवजन्य ज्ञान रूप अवभास है। जैसे 'इदं रजतम्' यह ज्ञान स्मृतिके सदृश है तथा सत्यरजतका ज्ञानजन्य शुक्तिमें अनिर्वचनीय रजतका अवभास रूप ज्ञान है। सत्य रजतकी स्मृति, तथा 'इदं रजतम्' यह भ्रमज्ञान, इन दोनोंमें संस्कारजन्यज्ञानत्वरूप सादृश्य है, क्योंकि स्मृतिज्ञान तथा भ्रमज्ञान दोनों संस्कार जन्य होते हैं।

शंका। सिद्धान्तमें भ्रमज्ञान स्मृतिरूप नहीं किंतु अनुभवरूप है। अब भ्रमज्ञानको संस्कार करके जन्य माननेसे स्मृतिरूप कहना होगा, क्योंकि जो ज्ञान संस्कार करके जन्य होता है सो स्मृतिरूप होता है॥

समाधान। केवल 'संस्कारजन्यज्ञानत्वम्' यह स्मृतिका लक्षण नहीं है, किंतु "संस्कारमात्रजन्यज्ञानत्वम्" यह स्मृतिका लक्षण है। भ्रमज्ञानमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होती नहीं, क्योंकि भ्रमज्ञान संस्कारमात्रजन्य नहीं है, किन्तु संस्कार, दोष, संप्रयोग, इन तीनों करके जन्य है। यद्यपि संप्रयोग शब्दका अर्थ इन्द्रियसंबंध है, तथापि अहंकाराध्यासमें इन्द्रियसम्बन्धका अभाव होनेसे अधिष्ठानका सामान्य ज्ञानको **संप्रयोग** शब्द करके ग्रहण करना, क्योंकि सर्व अध्यासमें अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान कारण होता है। इतना कहने करके यह सिद्ध हुआ कि शुक्तिमें संस्कार, दोष, सम्प्रयोग, इन तीनों करके अनिर्वचनीय **प्रातिभासिक रजत** उत्पन्न होता है इति॥

वस्तुतः "परत्रावभासः" अथवा अवभास इतनाही अध्यासका लक्षण हे। अवसाद वाला व अवमान वाला जो भास उसका नाम अवभास है। प्रत्ययान्तर करके तिरस्कार-अवसाद है, और उच्छेदका नाम अवमान है। और **स्मृतिरूपः** तथा **पूर्वदृष्ट** यह दोनों पद 'परत्रावभासः' इस अध्यासके लक्षणका उपपादनके लिये हैं। और उपपादन भी पूर्वोक्त रीतिसे दोनों पदोंका अर्थ निरूपण द्वारा कर आये हैं। 'अवभास्यते इति अवभासः' जो रजतादिक प्रतीत होता है तिसका नाम अवभास है। तिस रजतादिकोंका अयोग्य जो शुक्ति आदिक अधिकरण है सो 'परत्र' पदका अर्थ है। तथा च अध्यासका यह लक्षण सिद्ध हुआ **एकावच्छेदेन स्वसम्बन्धवति स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम् अध्यासस्य लक्षणम्।** जैसे 'इदं रजतम्' इस स्थलमें इदंत्वावच्छेद करके शुक्तिमें रजतका कल्पित सम्बन्ध है। तथा वास्तवसे शुक्तिमें रजतका अत्यन्ताभाव है। अतः रजतका सम्बन्ध वाली तथा रजतका अत्यन्ताभाव वाली शुक्तिमें जो अनिर्वचनीय मिथ्या रजत है तिसमें 'इदं रजतम्' इस ज्ञानका विषयत्वरूप अवभास्यत्व है। इस प्रकार दृष्टान्तमें लक्षणसमन्वय जानना। तैसे सिद्धान्तमें 'सन्प्रपंचः' इस स्थलमें सत्त्व अवच्छेद करके ब्रह्ममें प्रपंचका कल्पित सम्बन्ध है, तथा वास्तवसे प्रपंचका नेति नेति इत्यादि श्रुतिसिद्ध अत्यन्ताभाव है, अतः प्रपंचका सम्बन्धवाला तथा प्रपंचका अत्यन्ताभाववाला ब्रह्ममें जो प्रपंच है तिसमें 'सन्प्रपंच' इस ज्ञानका विषयत्वरूप अवभास्यत्व है। इस प्रकार लक्षणसमन्वय जानना। यदि 'स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम्' इतनाही अध्यासका लक्षण करते तो जहां प्रथम घटका अत्यन्ताभाव है तिस भूतलमें पश्चात् घटको लाकर रख दिया। वहां 'घटवत् भूतलम्' ऐसा ज्ञान होता है। अतः घटके अभाव वाले भूतलमें जो घट है, तिस घटमें "घटवत् भूतलम्" इस ज्ञानका विषयत्व रूप अवभास्यत्वको रहनेसे घटमें लक्षणकी अतिव्याप्ति हुई। इस अतिव्याप्तिका वारण करनेके लिये लक्षणमें "स्वसम्बन्धवति" यह पद कहा है। इस पदको

कहनेसे घटमें अतिव्याप्ति होती नहीं। क्योंकि हमारेको स्वात्यन्ताभाव तथा स्वसम्बन्ध दोनों एक अधिकरणमें तथा एक कालमें विवक्षित हैं। प्रसंगमें जिस समय जिस भूतलमें घटाभाव है, तिस समय तिस भूतलमें घटसम्बन्धका अभाव होनेसे लक्षण घटता नहीं। यदि 'स्वसम्बन्धवति अवभास्यत्वम्' इतना मात्र ही लक्षण करते तो 'गंधवती पृथिवी' इस ज्ञानसे पृथ्वीत्वावच्छेद करके अवभास्य जो गंध तिसमें लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी।

इस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिये 'स्वात्यन्ताभाववति' इस पदको ग्रहण किया है। यद्यपि पृथ्वीत्वावच्छेद करके गंधमें अवभास्यत्व है, तथापि गंधके अत्यन्ताभाववाले जलादिकोंमें गंधको नहीं रहनेसे 'स्वात्यन्ताभाववति' में गंधनिष्ठ अवभास्यत्व नहीं है। अतः गंधमें अतिव्याप्ति होती नहीं। यदि 'स्वसम्बन्धवति स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम्' इतना मात्र ही अध्यासका लक्षण करते तो कपिसंयोगमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि शाखाअवच्छेद करके वृक्षमें कपिसंयोगका सम्बन्ध है, तथा मूलअवच्छेद करके वृक्षमें कपिसंयोगका अत्यन्ताभाव है, अतः स्वसम्बन्धवति स्वात्यन्ताभाववति वृक्षमें जो कपिसंयोग है तिसमें 'वृक्षः कपिसंयोगी' इस ज्ञानका विषयत्व रूप अवभास्यत्व है। इस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिये लक्षणमें 'एकावच्छेदेन' यह पद ग्रहण किया है। इस पदको ग्रहण करनेसे कपिसंयोगमें अतिव्याप्ति होती नहीं, क्योंकि जैसे इदंत्वावच्छेद करके शुक्तिमें रजतका सम्बन्ध है तथा रजतका अत्यन्ताभाव है, तैसे शाखावच्छेद करके वृक्षमें कपिसंयोगका सम्बन्ध तो है, परन्तु शाखावच्छेद करके वृक्षमें कपिसंयोगका अत्यन्ताभाव नहीं है किंतु मूलअवच्छेद करके है इति।

यहां पर यह वार्ता जाननेको योग्य है कि पूर्वोक्त लक्षणमें जो पदोंका फल वर्णन किया है सो नैयायिकादिकोंके मतसे किया है, वेदान्तके सिद्धान्तसे नहीं। क्योंकि वेदान्त सिद्धान्तमें तो ब्रह्मसे अतिरिक्त सम्पूर्ण वस्तु अध्यस्त रूप लक्ष्य ही हैं, इसमें लक्षण घटनेसे अतिव्याप्ति होती नहीं, किंतु अलक्ष्यमें लक्षण घटनेसे अतिव्याप्ति कही जाती है।

शंका। अध्यासमें वादियोंका विवाद है, अर्थात् कोई **अन्यथाख्याति** मानता है, कोई **आत्मख्याति,** कोई **अख्याति,** कोई **असत्‌ख्याति** मानता है। अतः सर्वमतसिद्ध पूर्वोक्त अध्यासका लक्षण नहीं बन सकता है।

समाधान। यद्यपि भ्रमस्थलमें नैयायिकादिक वादियोंका अधिष्ठान तथा आरोप्यके स्वरूपमें विवाद है। जैसे **नैयायिक** भ्रमज्ञानका विषय देशान्तरमें स्थित सत्य रजतको मानता है, और सत्य रजतका अधिष्ठान सत्य रजतका अवयवको मानता है। और **क्षणिक विज्ञानवादीके** मतमें भ्रमज्ञानका विषय क्षणिक विज्ञानका परिणाम आंतर रजत है वह सत्य है, तथा अधिष्ठान क्षणिक

विज्ञान है। और अख्यातिवादीके मतमें भ्रमज्ञानका विषय शुक्तिके इदं अंशमें सत्य रजतका तादात्म्य है, और अधिष्ठान सत्य रजत है, क्योंकि सत्य रजतका तादात्म्य सत्य रजतमें है शुक्तिके इदं अंशमें प्रतीत होता है, इस विषयको नजदीकमें ही दिखावेंगे। और शून्यवादीके मतमें भ्रमज्ञानका विषय असत् रजत है तथा असत् ही अधिष्ठान है। और सिद्धान्तमें भ्रमज्ञानका विषय अनिर्वचनीय रजत है, तथा अधिष्ठान शुक्तिअवच्छिन्न चैतन्य है। भ्रमज्ञानका विषयको आरोप्य कहते हैं, तथा भ्रमज्ञानको आरोप कहते हैं। तथापि परत्र परावभासत्वम् यह लक्षण सर्वमत सिद्ध है। अर्थाध्यासमें इस प्रकार लक्षणसमन्वय जानना—'परत्र' कहिये शुक्ति आदिकोंमें 'अवभास्यते इति अवभासः' जो रजतादिक प्रतीत होवे तिसका नाम अवभास है। 'परश्चासौ अवभासश्च परावभासः' पर जो रजतादिक सोई अवभास कहिये भ्रमज्ञानका विषय तिस रजतादिकोंका नाम परावभास है—अर्थात् शुक्ति रजतादिकोंमें 'परत्र परावभासत्वम्' यह लक्षण पूर्वोक्त रीतिसे घट गया। और ज्ञानाध्यासमें इस प्रकार लक्षणसमन्वय जानना—परत्र कहिये दूसरेमें 'अवभासनम् अवभासः' अवभासनको अवभास कहते हैं। अवभासन नाम ज्ञानका है, 'परस्य अवभासः परावभासः'—पर जो रजतादिक तिसके ज्ञानका नाम परावभास है, अर्थात् शुक्ति रजतादि विषयक ज्ञानमें 'परत्र परावभासत्वम्' यह लक्षण पूर्वोक्त रीतिसे घट गया।

अब अन्यथाख्यातिवादी तथा आत्मख्यातिवादीके मतसे लक्षण दिखाते हैं-अन्यत्रान्यधर्मावभासत्वम् अध्यासस्य लक्षणम्। तात्पर्य-अन्यत्र कहिये शुक्ति आदिकोंमें 'अन्य' कहिये सत्य रजतका जो अपना अवयव, तिसका धर्म कहिये देशान्तरस्थ सत्य रजत तिस सत्य रजतविषयक जो 'इदं रजतम्' यह अवभास रूप ज्ञान, तिस ज्ञानमें "अन्यत्रान्यधर्मावभासत्वम्" यह लक्षण पूर्वोक्त रीतिसे घट गया। अथवा शुक्तिमें सत्य रजनका रजनत्व रूप धर्मविषयकज्ञानत्व 'इद रजतम्' इस ज्ञानमें है। इस प्रकार नैयायिकोंके मतसे लक्षणसमन्वय जानना। और क्षणिकविज्ञानवादीके मतसे 'अन्यत्र' कहिये बाह्य शुक्ति आदिकोंमें 'अन्य' कहिये क्षणिक बुद्धि रूप जो विज्ञान, तिसका धर्म कहिये क्षणिक विज्ञानका परिणाम जो आन्तर रजत, तिस रजतविषयक अवभासत्व रूप ज्ञानत्वको 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञानमें रहनेसे लक्षणका समन्वय जानना। प्रसंगमें इतना जाननेके योग्य है कि वेदान्त सिद्धान्तमें अर्थाध्यास तथा ज्ञानाध्यास इस भेदसे अध्यास दो प्रकारका है, और नैयायिक तथा क्षणिकविज्ञानवादीके मतमें एक ज्ञानाध्यास है, अर्थाध्यास नहीं। क्योंकि नैयायिक भ्रमज्ञानका विषय देशान्तरस्थ सत्य रजतको अथवा सत्य रजतत्वको मानते हैं। और क्षणिकविज्ञानवादी विज्ञानका परिणाम आन्तर सत्य रजतको भ्रमज्ञानका विषय मानता है। अतः विषय मिथ्या नहीं किंतु 'इदं रजतम्' यह ज्ञान भ्रमरूप

मिथ्या है। इसमें इतना भेद है—नैयायिकोंके मतसे भ्रमस्थलमें पूर्व दृष्टके सदृश पदार्थसे इन्द्रियका सम्बन्ध होनेसे संस्कारका उद्बोध होके संस्कार गोचर रजतादि रूप धर्मका पुरोवर्तिमें भान होता है। इसको अन्यथाख्याति कहते हैं--अर्थात् अन्य रूपसे प्रतीतिको अन्यथाख्याति कहते हैं। जैसे पूर्व दृष्ट सत्य रजतके सदृश शुक्तिसे नेत्र इन्द्रियका सम्बंध होनेसे रजतका संस्कार उद्बुद्ध होता है, और उद्बुद्ध संस्कारका विषय जो रजत अथवा रजतत्वरूप धर्म तिसका शुक्तिमें भान होता है। यहां शक्तिमें शुक्तित्व धर्म है, रजत अथवा रजतत्व नहीं। और शुक्तिकी रजत अथवा रजतत्व रूप करके प्रतीति होनी है, अत अन्य रूपसे प्रतीत स्वरूप 'इदं रजतम्' यह ज्ञान है। तहां धर्मधर्मी अंशविषयक 'इदं रजतम्' यह ज्ञान यथार्थ है, और देशअंशविषयक अयथार्थ भ्रम रूप है। इसी प्रकार क्षणिक विज्ञानवादीके मतमें आन्तर रजत सत्य है तिसकी बाह्य देशमें प्रतीति भ्रम है। इस लिये रजतज्ञानमें रजत गोचरत्व अंश भ्रम नहीं, किंतु रजत निष्ठ बाह्य देशस्थत्वप्रतीति अंशमें भ्रमत्व है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे दोनों मतमें 'परत्र परावभासत्वम्' यह लक्षण संमत है॥ अब अख्यातिवादीके मतसे अध्यासका लक्षण दिखाते हैं। यत्र यस्याध्यासो लोकप्रसिद्धस्तयोरर्थयोस्तज्ज्ञानयोश्च भेदाग्रहं निबंधनत्वम् अध्यासस्य लक्षणम्। अर्थ—शुक्तिमें रजत अध्यास लोकप्रसिद्ध है, तहां शुक्ति और रजतका भेदाग्रह, तथा शुक्तिज्ञान और रजतज्ञानका जो भेदाग्रह, तिस भेदाग्रहका निबन्धनत्व "इदं रजतम्" इस भ्रमज्ञानमें रहता है। 'निबन्धन' नाम अधीनताका है अर्थात् भेदाग्रहके अधीन 'इदं रजतम्' यह ज्ञान होता है इति।

भाव यह है, अख्यातिवादीके मतमें 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थलमें दो ज्ञान होते हैं–तहां शुक्तिके इदं अंशका तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, और सत्य रजतका स्मृति रूप ज्ञान होता है। परन्तु दोषके बलसे पुरुषको ऐसा ज्ञान नहीं होता है कि मेरेको दो ज्ञान हुये हैं (अर्थात् इदं अंशका प्रत्यक्ष ज्ञान तथा रजतका स्मरण ज्ञान, दोनों भिन्न भिन्न हैं, तथा शुक्ति और रजत भिन्न भिन्न हैं ऐसा ज्ञान नहीं होता है)। और भेदज्ञानाभाव सहित दो ज्ञानोंसे पुरुषकी शुक्तिदेशमें प्रवृत्ति होती है। और प्रवृत्तिको निष्फल होनेसे दोनों ज्ञानको भ्रमरूप मानते हैं। अथवा तादात्म्य सम्बंध करके रजत विशिष्ट इदं पदार्थविषयक जो 'इदं रजतम्' यह विशिष्ट व्यवहार है, सो विशिष्ट व्यवहार 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें भ्रमत्वकी कल्पना कराता है। इस अन्यथा अनुपपत्ति करके भ्रमज्ञान माननेको योग्य है। अत अख्यातिवादी प्रभाकरके मतमें भी

१ यहां 'भेदाग्रहनिबन्धनत्वम्' इतना मात्रही लक्षण जानना। और यत्रसे आदि लेके चकार पर्यन्त भेदका उपपादनार्थ है।

'परत्र परावभासत्वम्' यह लक्षण संमत है। और **शून्यवादीका** यह मत है— जिस शुक्तिमें जिस रजतका अध्यास होता है तिस शुक्ति का ही विरुद्ध रजतादि स्वरूपत्व करके जो भासमानत्व है सोई अध्यास है। अर्थात् शून्यवादी-के मतमें प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय अत्यन्त असत् हैं, अत असत् अधिष्ठानमें असत् रजतादिकोंका अवभास रूप 'इदं रजतम्' यह ज्ञान है। इस मतमें भी 'परत्र परावभासत्वम्' यह लक्षण संमत है। परन्तु यह चारों मत खंडनीय हैं।

अब इन मतोंका खंडन संक्षेपसे दिखाते हैं। तहां **नैयायिक** ऐसा मानते हैं कि देशान्तरमें स्थित व्यवहित सत्य रजतके साथ दोष सहित नेत्रका सम्बन्ध होनेसे 'इदं रजतम्' यह ज्ञान उत्पन्न होता है, और शुक्तिनिष्ठ इदंताकी जो रजतांशमें प्रतीति है सोई भ्रम (अन्यथाख्याति) है। सो नैयायिकोंका मानना असंगत है, क्योंकि यदि दोषके बलसे व्यवहित रजतका प्रत्यक्ष ज्ञान होवे तो, जिस व्यवहित रजतका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसके समीपस्थित दूसरे वस्तुका भी प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिये, परन्तु होता तो नहीं। यदि ऐसा कहें शुक्तिनिष्ठ रजतका सादृश्य दर्शन करके उद्बुद्ध संस्कार सहकारी है, अतः रजतका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, दूसरे वस्तुका संस्कार अनुद्बुद्ध है अतः दूसरे वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता नहीं। यद्यपि यह कहना सत्य है क्योंकि दूसरे वस्तु विषयक संस्कारको विद्यमान हुये भी दूसरे वस्तुनिष्ठ दूसरे वस्तुका सादृश्य ज्ञानका अभाव प्रयुक्त संस्कारको अनुद्बुद्ध होनेसे दूसरे वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। तथापि रजतविषयक उद्बुद्ध संस्कारको विद्यमान होनेसे सकल संसारवृत्ति रजत मात्रका प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिये, क्योंकि जैसे दोष सहित नेत्रका व्यवहित एक रजतके साथ सम्बन्ध है तैसे सर्व व्यवहित रजत-के साथ दोषके बलसे नेत्रका सम्बन्ध बन सकता है। परन्तु सर्व रजतका प्रत्यक्ष ज्ञान होता नहीं। और पुरोवर्ति शुक्तिनिष्ठ परिमाणके सदृश परिमाण वाला रजत प्रतीत होता है न्यूनाधिक परिमाण वाला नहीं। यदि देशान्तरमें स्थित रजत प्रतीत होवे तो न्यून अधिक परिमाण वाला रजत प्रतीत होना चाहिये परन्तु होता नहीं। और जैसे व्यवहित रजतका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, तैसे व्यवहित रजतत्वका भी शुक्तिमें भान नहीं हो सकता। अत 'इदं रजतम्' इस सामानाधिकरण्य-प्रतीतिके बलसे, तथा 'नेदं रजतम्' इस बाधप्रतीतिके बलसे, नैयायिकोंको भी **अनिर्वचनीय मिथ्या** रजत अवश्य स्वीकार करना होगा इति।

इसी प्रकार **आत्मख्याति** मत असङ्गत है, क्योंकि क्षणिक विज्ञानवादी-के मतमें भी बुद्धिका परिणाम रजत आन्तर है बाह्य देशमें नहीं, अतः व्यवहित आन्तर रजतका प्रत्यक्ष ज्ञान बने नहीं। और सर्वको अनुभव सिद्ध है कि सुख दुःखादिक आन्तर हैं और रजतादिक वस्तु बाह्य हैं। यदि रजतादिकोंको आन्तर मानोगे तो अनुभवका विरोध होवेगा इति।

और अख्यातिवादीका मत भी असङ्गत है क्योंकि शुक्तिमें रजतभ्रमसे अनन्तर प्रवृत्त हुये पुरुषको जब रजतकी प्राप्ति नहीं होती है, तब पुरुषको 'नेदं रजतम्' यह बाधज्ञान होता है, और कहता है कि रजतशून्य शुक्तिमें मिथ्या रजतकी प्रतीति मेरेको होती भई। इस बाधसे मिथ्या रजतविषयक भ्रमज्ञानकी सिद्धि होती है। और अनुभव सिद्ध वस्तुको कोई दूर नहीं कर सकता। और अख्यातिवादीके मतमें तो रजतकी स्मृति तथा शुक्तिज्ञानका भेदाग्रहसे शुक्तिमें मेरी प्रवृत्ति होती भई ऐसा बाध होना चाहिये, परन्तु ऐसा बाध किसीको होता नहीं इति।

तैसे असत्ख्याति मत भी असंगत है, क्योंकि 'असत्ख्याति' इस वाक्यमें स्थित 'असत्' शब्दका क्या अर्थ है? यदि शून्यवादी कहे कि वन्ध्यापुत्र तथा शशशृङ्गके समान तुच्छ 'असत्' शब्दका अर्थ है। तो जैसे वन्ध्यापुत्र आदिकोंका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, तैसे शुक्ति रजतादिकोंका भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ चाहिये। यदि ऐसा कहे कि त्रैकालाबाध्य सत्से विलक्षण बाधयोग्य असत् शब्दका अर्थ है, तो अनिर्वचनीय वादकी सिद्धि होगी। क्योंकि त्रैकालाबाध्य सत्से विलक्षण बाधयोग्य अनिर्वचनीय पदार्थ है। अत अनिर्वचनीय ख्यातिसे अतिरिक्त असत्ख्यातिवाद असत् ही सिद्ध हुआ। और इस मतका खंडन विस्तारसे आगे तर्कपादमें करेंगे इति। और वस्तुतः शुक्ति रजतादिकोंमें मिथ्या रजतकी सिद्धिके लिये युक्तिकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि शुक्ति रजतादिकोंमें मिथ्यात्व अनुभवसिद्ध है।

अब लोक प्रसिद्ध अनुभवको दिखाते हैं। भ्रमज्ञानसे अनन्तर शुक्तिदेशमें प्रवृत्त पुरुषको जब रजतकी प्राप्ति नहीं होती है, तब 'नेदं रजतम्' यह बाधज्ञान होता है। तिस बाधज्ञानसे अनन्तर ऐसा लोकमें अनुभव होता है कि **'शुक्तिका हि रजतवदवभासते'** इति भाष्यम्। शुक्ति हि रजनकी न्यांई प्रतीत होती भई। इस वाक्यमें जो वत् शब्द है सो रजतमें मिथ्यात्वको बोधन करता है। तात्पर्य यह है, जैसे उपाधिशून्य इदं अंशमें रजतके संस्कार सहित अविद्या करके रजतका अध्यास होता है। तैसे सर्व उपाधिशून्य चैतन्य रूप आत्मामें पूर्व पूर्व अहंकारादि विषयक वासना वासित अनादि अविद्या करके उत्तर उत्तर अहंकारादिका अध्यास होता है।

शंका। जो भिन्न भिन्न वस्तु होते हैं उनका परस्पर भेदव्यवहार होता है, और जो एक अभिन्न वस्तु है उसमें भेदव्यवहार लोकमें प्रसिद्ध नहीं है। प्रसङ्गमें जब ब्रह्मसे अभिन्न सर्व जीव हैं तब ब्रह्मजीवका तथा जीवोंका परस्पर भेदव्यवहार नहीं हुआ चाहिये॥

समाधान। एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति; इति भाष्यम्। यद्यपि चन्द्रमा एक है तथापि जैसे अंगुली रूप उपाधि करके दो प्रतीत होता है। अथवा

सूर्य्य एक है परन्तु जलपूरित घट उपाधिसे विंब प्रतिबिंब भाव करके भेदव्यवहार होता है। तथा जलपूरित अनेक घट उपाधि करके अनेक प्रतिबिंबोंका परस्पर भेदव्यवहार होता है। तैसे अनादि अविद्यारूप उपाधि करके ब्रह्मजीवका तथा जीवोंका परस्पर भेदव्यवहार होता है। पूर्व वाक्यमें 'इति' शब्द **लक्षणभाष्यकी** समाप्तिको बोधन करता है इति।

अब अध्यासमें **सम्भावनाभाष्यको** दिखाते हैं। तहां **शंका**। इन्द्रियसंयुक्त शुक्ति आदिक विषयमें रजतादि रूप विषयान्तरका अध्यास लोकमें प्रसिद्ध रहो, परन्तु इन्द्रिय करके अग्राह्य तथा विषयसे भिन्न प्रत्यक् आत्मामें अहंकारादिकोंका तथा अहंकारादिकोंके धर्म सुखदुःखादिकोंका अध्यास नहीं बन सकता, क्योंकि यह व्याप्ति है कि **यत्रापरोक्षाध्यासाधिष्ठानत्वम् तत्र इन्द्रियसंयुक्तत्वं विषयत्वं च,** अर्थ—जिस शुक्तिमें अपरोक्ष रजतअध्यासका अधिष्ठानत्व है तिस शुक्तिमें नेत्र इन्द्रिय संयुक्तत्व है तथा विषयत्व है इति।

और प्रत्यक् आत्मामें इन्द्रियसंयुक्तत्व तथा विषयत्व रूप व्यापकका अभाव होनेसे अपरोक्ष अध्यासका अधिष्ठानत्व रूप व्याप्यका अभाव भी मानना पड़ेगा, अत आत्मामें अहंकारादिक अध्यास नहीं बन सकता है। और इदं प्रत्ययके अयोग्य आत्मामें तुम **'न चक्षुषा गृह्यते'** इत्यादिक श्रुति अनुसार अविषयत्वको भी कहते हो। यदि अध्यासके लोभ करके आत्मामें अपरोक्ष अध्यासाधिष्ठानत्वका व्यापक विषयत्वको मानोगे तो श्रुतिका विरोध तथा सिद्धान्तका विरोध होवेगा।

समाधान। न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, इति भाष्यम्। अर्थ—आत्मा नियम करके अविषय नहीं है, क्योंकि 'अहं' प्रतीतिका विषय है इति।

तात्पर्य यह है—अध्यासाधिष्ठानत्वका व्यापक हम इन्द्रियसंयुक्तत्व तथा विषयत्वको नहीं मानते हैं, किंतु अधिष्ठान तथा आरोप्यको जो एकज्ञानमें **भासमानत्व** है तिसको व्यापक मानते हैं। जैसे शुक्तिमें रजतअध्यासका अधिष्ठानत्व है, और अधिष्ठान शुक्ति, तथा आरोप्य रजत, दोनोंमें 'इदं रजतम्' इस ज्ञान करके भासमानत्व है। यद्यपि अधिष्ठानत्व शुक्तिमें है रजतमें नहीं, और भासमानत्व शुक्ति तथा रजत दोनोंमें है। तथापि अधिष्ठानत्वका व्यापक भासमानत्वको अधिक देशमें रहनेसे कोई दोष नहीं। तैसे 'अहम्' इस अहंकारके अध्यासस्थलमें अहंकार रूप अध्यासका **अधिष्ठानत्व** अहंकारउपहित चिदात्मामें है, और चिदात्मामें 'अहम्' इस प्रतीति करके **भासमानत्व** भी है। यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि प्रतीतिसे भिन्न जो वस्तु सो प्रतीति करके भासमान होता है। प्रसङ्गमें अहंकारको विषय करने वाली प्रतीति रूप ही चिदात्मा है,

तिसमें चिदात्मस्वरूप प्रतीति करके भासमानत्व नहीं बन सकता है। यह पूर्वपक्षीका कहना बने नहीं, क्योंकि जो चिदात्मासे भिन्न जड़ पदार्थ हैं तिनमें चिदात्मस्वरूप प्रतीति करके भासमानत्व रहता है, और चिदात्माको स्वप्रकाश रूप होनेसे अपने करके अपनेमें भासमानत्व रहता है। और बालकसे लेकर पंडित पर्यंत सर्वको अपने आत्मामें संशय नहीं होता है कि, मैं हूं अथवा नहीं हूं, किंतु सर्वको अपना आत्मा स्वप्रकाश रूप करके प्रत्यक्ष सिद्ध है। अत, अध्यासाधिष्ठानत्वका व्यापक भासमानत्वको आत्मामें रहनेसे प्रत्यक् आत्मामें अहंकारादिकोंका अध्यास बन सकता है। और जो पूर्ववादीने कहा था कि अपरोक्ष अध्यासाधिष्ठानत्वका व्यापक इन्द्रिय-संयुक्तत्व है (अर्थात् इन्द्रियग्राह्यत्व है) इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय-ग्राह्य पुरोवर्ति विषयमें विषयान्तरका अध्यास होता है। सो नियम नही, क्योंकि **अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति,** इति भाष्यम्। अर्थ— नैयायिक आकाशको अप्रत्यक्ष मानते हैं, क्योंकि जिस बाह्य द्रव्यमें उद्भूत रूप तथा उद्भूत स्पर्श होता है सो द्रव्य प्रत्यक्ष कहा जाता है। आकाशमें उद्भूत रूप तथा उद्भूत स्पर्श रहता नहीं अत अप्रत्यक्ष है, ऐसे अप्रत्यक्ष आकाशमें अविवेकीजन इन्द्रनीलमणिके कटाहका समानाकारत्वको, तथा मलिनत्वको (अर्थात् नीलत्व पीतत्वादिको) अध्यास करते हैं अर्थात् जानते हैं इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि जैसे इन्द्रिय करके अग्राह्य आकाशमें नीलरूपादिकोंका अध्यास होता है, तैसे इन्द्रिय करके अग्राह्य प्रत्यक् आत्मामें अहंकारादिक अनात्माका अध्यास बन सकता है इति। और सिद्धान्तमें तो आकाश प्रत्यक्ष है अप्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि यह नियम है कि अध्यस्तगत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक अधिष्ठानगत प्रत्यक्षत्व होता है। जैसे अध्यस्त रजत गत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक इदंतारूप करके शुक्तिका प्रत्यक्षत्व है, और स्वप्नपदार्थ गत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक साक्षीका स्वतः प्रत्यक्षत्व है। तैसे 'आकाशं नीलम्' इस भ्रमस्थलमें अध्यस्त नील गत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक अधिष्ठान आकाशका प्रत्यक्षत्व अवश्य मानना होगा। यद्यपि आकाश नीरूप है, तथापि दूरत्वादिक दोष सहित नेत्र इन्द्रियका रूपवत् आलोकद्रव्यके साथ सम्बंध होनेसे, आलोकाकार तथा आलोक व्यापि आकाशाकार अन्तःकरणकी वृत्ति होती है। अतः दोष सहित नेत्रइन्द्रिय जन्य अन्तःकरणकी वृत्ति विषयत्वरूप प्रत्यक्षत्व, अथवा वृत्ति अभिव्यक्त चैतन्य रूप साक्षीका विषयत्वरूप प्रत्यक्षत्व आकाशमें बन सकता है। तहां आकाशावच्छिन्न चेतननिष्ठ अविद्याका परिणाम अनिर्वचनीय नीलरूप उत्पन्न होता है, तथा आकाशाकार वृत्ति अवच्छिन्न चेतननिष्ठ अविद्याका परिणाम नीलाकार ज्ञान उत्पन्न होता है। वास्तवसे विचार करे तो आकाशको नीरूप होनेसे आकाशाकार नेत्र इन्द्रियजन्य वृत्ति तो बने नहीं, किंतु रूपवत् आलोकाकार चाक्षुष वृत्ति होती है, तिस चाक्षुष वृत्तिका

विषय होनेसे आकाश प्रत्यक्ष है यह कहना होगा। यद्यपि अन्याकार वृत्तिका विषय अन्य नहीं होता है यह नियम है। जैसे घटमें जो रूप है तिस रूपाकार वृत्तिका विषय घटगत परिमाण नहीं हो सकता है। तैसे रूपवत् आलोकद्रव्याकारवृत्तिका विषय आकाश नहीं हो सकता है। यदि होवे तो घटगत रूपाकार वृत्तिका विषय घटगत परिमाण भी हुआ चाहिये परन्तु होता तो नहीं। तथापि यह नियम अन्यत्र रहो, प्रसंगमें इस नियमका व्यभिचार है, क्योंकि अनुभव सिद्ध पदार्थको कोई दूर नहीं कर सकता। 'आकाशं नीलम्' यह अनुभव सर्वको होता है। इस अनुभव रूप फलके बलसे आकाशमें रूपवत् आलोकाकार चाक्षुष वृत्तिका विषयत्व रूप प्रत्यक्षत्व अवश्य माननेको योग्य है। और भाष्यकारने जो आकाशको अप्रत्यक्ष कथन किया है सो नैयायिकोंके मतसे कथन किया है।

शंका। ब्रह्मज्ञान करके नाश्य जो अविद्या है तिस अविद्याका वर्णन करना चाहिये, अध्यासका वर्णन भाष्यकारने क्यों किया ?

समाधान। पूर्वोक्त रीतिसे शंका समाधान करके सिद्ध जो उक्त लक्षण करके लक्षित अध्यास है तिस अध्यासको, अविद्याका कार्य होनेसे, तथा विद्या करके निवर्त्य होनेसे, पंडितजन अविद्या मानते हैं। और अध्यस्त प्रपंचका निषेध करके जो अधिष्ठान स्वरूप प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्मका निश्चय है तिसको विद्या कहते हैं।

शंका। यद्यपि यह वार्ता सत्य है, तथापि कारणाविद्याको त्यागकर कार्याविद्याको क्यों वर्णन किया ?

समाधान। कारण जो मूलाविद्या तिसको सुषुप्तिमें विद्यमान हुये भी दुःखादिक अनर्थका हेतुत्व नहीं देखनेमें आता है। अत अविद्या स्वरूपसे अनर्थका हेतु नहीं, किंतु कर्तृत्व भोक्तृत्वादि स्वरूप अध्यास रूप करके अनर्थका हेतु है। इस लिये कार्याध्यासका ही वर्णन किया है। और जिसमें जिसका अध्यास होता है तिस अध्यास कृत दोष अथवा गुणका लेश मात्र करके सो सम्बद्ध नहीं होता है। जैसे मरुभूमि स्वगत अध्यस्त जलके किसी गुण दोष करके लिप्त नहीं होती है, अन्यथा जल संयोगसे भूमि गीली होनी चाहिये। तैसे ही आत्मामें बुद्ध्यादिकोंका अध्यास होता है और बुद्ध्यादिकोंमें आत्माका अध्यास होता है। परन्तु बुद्ध्यादिकोंके जो राग द्वेष अशनाया पिपासादिक दोष हैं तिन दोषों करके आत्मा लेपायमान नहीं होता है। और आत्माके जो चैतन्य आनंदादिक गुण हैं तिन गुणों करके बुद्ध्यादिक लेपायमान नहीं होते हैं इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे अध्यासका लक्षण तथा सम्भावनाको कह करके अब अध्यासमें प्रमाणको दिखाते हैं-**तमेतमविद्याख्यमित्यादिभाष्यम्।**

अर्थ—वर्णन किया हुआ तथा साक्षिप्रत्यक्षसिद्ध, तथा अविद्या है नाम जिसका ऐसा

जो आत्मा अनात्माका परस्पर अध्यास तिस अध्यास रूप हेतु करके प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय विषयक जो लौकिक तथा कर्मशास्त्रीय तथा मोक्षशास्त्रीय इस भेद करके तीन प्रकारका व्यवहार सो प्रवृत्त होता है इति।

तहाँ विधि निषेधका बोधक जो ऋग्वेदादिक तिनोंका नाम कर्मशास्त्र है। और विधि निषेध शून्य जो प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म है तिसका बोधक जो वेदान्तवाक्य हैं तिनका नाम मोक्षशास्त्र है। इस पूर्वोक्त कथनसे तीन प्रकारके व्यवहारका हेतु जो अध्यास तिस अध्यासमें स्वानुभव साक्षी रूप प्रत्यक्ष प्रमाण करके सिद्धत्वको बोधन किया। अब तीन प्रकारका व्यवहारके प्रति अध्यासको जो हेतुत्व वर्णन किया है सो नहीं बन सकता है ऐसा पूर्वपक्षी दिखाता है।

शंका। कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति इति भाष्यम्। अर्थ—'अहम्' इस अध्यास वाला जो अहंकार विशिष्ट आत्मस्वरूप प्रमाता है तिसका नाम 'अविद्यावान्' है। सो प्रमाता है विषय नाम आश्रय जिन प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंका तिन प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंका नाम 'अविद्यावद्विषयाणि' है। अर्थात् तत्तत्प्रमेय विषयक व्यवहारका हेतु जो अध्यासरूप अनात्म विषयक प्रमा है इस प्रमाको प्रमाताके आश्रित होनेसे प्रत्यक्षादिक प्रमाण भी प्रमाताके आश्रित कहे जाते हैं। अतः प्रत्याक्षादिक प्रमाणमें तथा शास्त्रमें अविद्यावद्विषयत्व रह गया इति। इस प्रकार भाष्यकी योजना जाननी।

अर्थात् पूर्व जो त्रिविध व्यवहारका हेतु अध्यास कहा सो अध्यास यद्यपि साक्षी करके प्रत्यक्ष सिद्ध है, तथापि अध्यासमें जो व्यवहारका हेतुत्व कथन किया है तिसमें प्रमाणका अभाव होनेसे व्यवहारका हेतुत्व अध्यासमें कैसे बन सकता है, अर्थात् बने नहीं।

समाधान। तहां प्रथम अनुमान प्रमाणको कहते हैं—**देवदत्तकर्तृको व्यवहारः, तदीयदेहादिष्वहंममाध्यासमूलकः, तदन्वयव्यतिरेकानुसारित्वात्, यो यदन्वयव्यतिरेकानुसारी स तन्मूलकः, यथा मृन्मूलो घट इति,** जैसे दृष्टान्त घटमें मृत्तिकाके सत्त्व हुये घटका सत्त्व होता है इस अन्वयका, तथा मृत्तिकाके अभाव हुये घटका अभाव होता है इस व्यतिरेकका, अनुसारित्व रूप हेतु रहता है। अतः मृत्तिकामूलकत्व साध्य भी रहता है। तैसे देवदत्तकर्तृकव्यवहार रूप पक्षमें जाग्रत् तथा स्वप्नमें देवदत्तका देहादिकोंमें अहं ममाभिमानरूप अध्यासके सत्त्व हुये व्यवहारका सत्त्व होता है इस अन्वयका, तथा सुषुप्तिमें अध्यासके अभाव हुये व्यवहारका अभाव होता है इस व्यतिरेकका, अनुसारित्वरूप हेतु रहता है। अतः देवदत्तका देहादिकोंमें अहंममाभिमान रूप अध्यासमूलकत्व साध्य भी रहता है। इस अनुमान प्रमाण करके व्यवहारके प्रति अध्यासमें कारणत्व सिद्ध होता है। तथा व्यवहार जो है सो अध्याससे विना अनुपपद्यमान हुआ अध्यासमें कारणत्वकी कल्पना करता है। इस अर्थापत्ति प्रमाण करके भी अध्यासमें व्यवहारका हेतुत्व सिद्ध होता है इति।

शंका । मनुष्यत्वजाति वाले देहमें अहं इस अभिमान मात्रसे ही व्यवहार सिद्ध हो सकता है, इन्द्रियादिकोंमें ममाभिमानका क्यों ग्रहण किया है ?

समाधान । यदि इन्द्रियादिकोंमें ममाभिमानको ग्रहण नहीं करते तो इन्द्रियादिकोंमें ममाभिमान प्रयुक्त जो अहं द्रष्टा तथा अहं श्रोता इत्यादिक व्यवहार होता है सो नहीं होवेगा ; अतः भाष्यमें ममाभिमानको ग्रहण किया है।

शंका । इन्द्रियाध्यास करके ही व्यवहारकी सिद्धि हो जायगी, देहाध्यासका क्या प्रयोजन ?

समाधान । इन्द्रियोंका आश्रय जो देह है, उसके विना इन्द्रियोंका व्यापार रूप व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता, अतः देहाध्यास आवश्यक है।

शंका । आत्मसंयुक्त जो देह है सो इद्रियोंका आश्रय रहो, परन्तु देहको अध्यास रूप माननेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान । नहीं है अध्यस्त आत्मभाव (अर्थात् आत्मतादात्म्य) जिस देहमें तिस देह करके कोई पुरुष व्यापार नहीं कर सकता है, जैसे सुषुप्ति विषे स्थित देहमें आत्मतादात्म्यज्ञानका अभाव होनेसे तिस देह करके कोई व्यवहार नहीं होता है। और **'असंगो ह्ययं पुरुषः'** इत्यादिक श्रुतियों करके, देह तथा आत्माका संयोगादिक सम्बन्ध तो बन सकता नहीं, किन्तु आध्यासिक सम्बन्ध ही कहना होगा, क्योंकि आध्यासिक सम्बन्ध विना आत्मामें प्रमातृत्व नहीं बन सकता है।

शंका । देहादिकोंके साथ आत्माका आध्यासिक सम्बन्ध भी मत रहो, आत्मामें स्वतः चेतनत्वको होनेसे प्रमातृत्व बन सकता है। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि सुषुप्ति अवस्थामें स्थित आत्मा विषे स्वतः चेतनत्वको होनेसे प्रमातृत्व होना चाहिये, सो कहना बने नहीं, क्योंकि सुषुप्तिमें मन सहित इन्द्रिय रूप करणका, अविद्यामें लय हो जानेसे प्रमातृत्वका असम्भव है।

समाधान । प्रमाके आश्रयत्वका नाम प्रमातृत्व है, तहां नित्य चैतन्यरूप प्रमा यदि स्वीकार करोगे, तो नित्य चैतन्यरूप प्रमाका आश्रयत्व रूप प्रमातृत्व आत्मामें कहना होगा, सो नहीं बन सकता, क्योंकि नित्यचैतन्य रूप प्रमाको आत्मस्वरूप होनेसे आश्रयआश्रितभाव नहीं बन सकता। और प्रमाको नित्य, होनेसे चक्षुरादिक करण भी व्यर्थ होवेंगे। और यदि वृत्तिमात्रको प्रमा मानोगे, तो वृत्तिको जड़ होनेसे जगत्में आन्ध्यप्रसंग होगा। अतः बोध करके इद्ध कहिये प्रकाशित जो वृत्ति तिसका नाम प्रमा है, अथवा वृत्ति करके इद्ध, कहिये प्रतिबिंबित जो चैतन्य, तिसका नाम प्रमा है। ऐसा प्रमाका आश्रयत्व रूप प्रमातृत्व आत्मामें, वृत्तिमत् अन्तःकरणके साथ आत्माका तादात्म्य अध्याससे विना, नहीं बन सकता है। अत असंग आत्मामें प्रमातृत्वकी उपपत्तिके लिये अध्यास

अवश्य मानना चाहिये। और आत्मामें प्रमातृत्वसे विना, प्रमाणादिकोंकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे, अनुमान तथा अर्थापत्ति प्रमाण करके व्यवहारका हेतु अध्यासको सिद्ध हुये, अध्यास रूप अविद्यावद्विषयत्व, प्रत्यक्षादिक प्रमाणमें तथा शास्त्रमें सिद्ध हुआ इति।

शंका। सिद्धान्तीने जो पूर्व कहा कि, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय विषयक व्यवहारका कारण अध्यास है। सो नहीं बन सकता, क्योंकि विद्वान्को अध्यासका अभाव हुये भी, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय विषयक व्यवहार देखनेमें आता है।

समाधान। 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' अर्थ—विद्वान्को व्यवहारमें पशु आदिकोंके साथ तुल्य होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं इति। तहां सिद्धान्ती पूछता है कि **ब्रह्मैवाहमस्मीति** मैं ब्रह्मस्वरूप हूं, इस साक्षात्कारज्ञानका नाम विद्वत्त्व है, अथवा युक्ति करके आत्मा तथा अनात्माका भेद ज्ञानका नाम विद्वत्त्व है। तहां प्रथम पक्षमें तो **'ब्रह्मैवाहमस्मीति'** इस ज्ञानसे बाधित अध्यासकी अनुवृत्ति करके विद्वान्को व्यवहार होता है।

अतः ब्रह्मनिष्ठ विद्वान्का व्यवहारके प्रति अध्यास कारण होता है। इस अर्थको **'तत्तु समन्वयात्'** इस सूत्रके व्याख्यानमें विस्तारसे निरूपण करेंगे। और द्वितीय पक्षमें विद्वान् परोक्षज्ञान वाला है, और परोक्षज्ञान करके अपरोक्ष भ्रान्तिकी निवृत्ति होती नहीं, किन्तु अधिष्ठानका अपरोक्ष साक्षात्कार करके ही अपरोक्ष भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है। जैसे अध्यस्त रजतका अधिष्ठान शुक्तिका अपरोक्ष ज्ञान करके अपरोक्ष रजतभ्रान्तिकी निवृत्ति होती है। प्रसंगमें परोक्षज्ञान वाला विद्वान्को तो अध्यास विद्यमान है, अत उसको अध्यासमूलक ही व्यवहार होगा। इस पूर्वोक्त अर्थमें अनुमान प्रमाणको दिखाते हैं।

विद्वांसः, अध्यासवन्तः, व्यवहारवत्त्वात्, पश्वादिवत्। जैसे पशु रूप दृष्टान्तमें व्यवहारवत्त्व हेतु है, और अध्यासरूप साध्य भी है। तैसे विद्वान् रूप पक्षमें व्यवहारवत्त्व हेतु है, अत अध्यास रूप साध्य भी रहेगा। इस अनुमान करके अपरोक्षज्ञानी, तथा परोक्षज्ञानी, तथा पशुआदिक सबका अध्यासमूलक ही व्यवहार होता है, यह सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं; जैसे पशुको श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके साथ शब्दादिकोंका सम्बन्ध हुये जब प्रतिकूल* ज्ञान होता है, तब वह पशु

---

* ज्ञाने प्रतिकूलत्वञ्च अनिष्टसाधनगोचरत्वम्—अनिष्ट जो दुःख तिसका साधन जो दण्डादिक तिस दण्डादिविषयक ज्ञानत्वका नाम प्रतिकूलत्व है।

वहांसे हट जाता है। और जब अनुकूल† ज्ञान होता है, तब वह पशु आगे चला आता है। जैसे दंडको हस्तमें ग्रहण किये हुये पुरुषको अपने सन्मुख आते देख कर जब पशुको ऐसा ज्ञान होता है, कि यह पुरुष मेरेको मारनेके लिये आ रहा है, तब वह पशु वहांसे भाग जाता है। और जब हस्तमें हरे तृणको ग्रहण करे हुये पुरुषको अपने सन्मुख आते देखता है, तब वह पशु अपना हित समझ कर पुरुषके सन्मुख जाता है। तैसे विद्वान् भी क्रूरदृष्टि वाला, हस्तमें खड्गको ग्रहण करे हुये, बलवान्, तथा कठोर शब्दको कहता हुआ पुरुषको अपने सन्मुख आते देखकर, वहांसे निवृत्त हो जाता है। और शान्ति आदिक गुणवाला पुरुषको अपने सन्मुख आते हुये देखकर प्रवृत्त होता है। इस अनुभवके बलसे विद्वानोंका जो प्रमाण प्रमेयादि विषयक प्रत्यक्षादिक व्यवहार है सो प्रसिद्ध अध्यास पूर्वक पशुवोंका व्यवहारके समान होनेसे, अध्यास पूर्वक ही है इति।

शंका। लौकिक व्यवहारमें अध्यास करके जन्यत्वको हुये भी ज्योतिष्टोमादिक शास्त्रीय व्यवहारको देहसे अतिरिक्त आत्मज्ञान पूर्वक होनेसे अध्यासजन्यत्व बने नहीं।

समाधान। बुद्धि पूर्वक कर्मको करने वाला जो पुरुष है सो यद्यपि देहसे अतिरिक्त आत्माका परलोक स्वर्गादिकोंके साथ सम्बंधको जाननेसे ही शास्त्रीय व्यवहारमें अधिकारी होता है। तथापि शास्त्रीय व्यवहार देहसे अन्य आत्माका ज्ञानमात्रकी अपेक्षा करता है, अथवा आत्मतत्त्वज्ञानकी अपेक्षा करता है? तहां प्रथम पक्षमें तो देहसे अन्य आत्माका ज्ञानमात्र करके अध्यासका बाध नहीं होनेसे शास्त्रीय व्यवहार भी अध्यासकी अपेक्षा अवश्य करेगा। और द्वितीय पक्ष तो बन सकता नहीं, क्योंकि देहसे अतिरिक्त आत्माके ज्ञानसे ही स्वर्गादिक फलका साधन जोतिष्टोमादिक कर्मरूप शास्त्रीय व्यवहारमें पुरुषकी प्रवृत्ति हो सकती है। वेदान्त करके वेद्य, तथा अशनाया पिपासादिक धर्म रहित, तथा ब्रह्मक्षत्रादिक भेद रहित, तथा असंसारी, ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व है। इस प्रकारका जो ब्रह्मसे अभिन्नरूप करके आत्मतत्त्वका ज्ञान है, तिसका शास्त्रीय प्रवृत्तिमें अनुपयोग है। किंच उक्त आत्मज्ञानके हुये सर्व अभिमानका भंग होनेसे, कर्ममें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः शास्त्रीय व्यवहार उक्त विरोधि आत्मतत्त्वज्ञानकी अपेक्षा करता नहीं। अब शास्त्रीय व्यवहारमें अध्यासजन्यत्वको समाप्त करते हैं—**प्राक् तथाभूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रमविद्यावद्विषयत्वं**

† ज्ञाने अनुकूलत्वं च इष्टसाधनगोचरत्वम्, इष्ट जो सुख तिसका साधन जो तृणादिक तिस तृणादि विषयक ज्ञानत्वका नाम अनुकूलत्व है। यह अर्थ प्रसंगानुसारी जानना।

नातिवर्तते इति भाष्यम्। **अर्थ**—आत्मविज्ञानसे प्रथम (अर्थात् अज्ञानदशामें) प्रवर्तमान जो शास्त्र है, सो अविद्यावद्विषयत्वका उलंघन नहीं करता है इति।

और अविद्यावद्विषयत्वम् इस वाक्यका अर्थ प्रथम कर आये हैं, और अब इसी अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं। **ब्राह्मणो यजेत्, न ह वै स्नात्वा भिक्षेत्, अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत,** इत्यादिक वाक्य, ब्राह्मणादिक पद करके वर्णादिकोंका अभिमानी अधिकारीको बोधन करते हुये वर्णविशेष, आश्रमविशेष, वयविशेष, अवस्थाविशेषका अध्यासको बोधन करते हैं। पूर्वोक्त वेदवाक्योंका यह अर्थ है:-बृहस्पति आदिक यागमें ब्राह्मणको अधिकार होनेसे ब्राह्मण बृहस्पति याग करके यजन करे, और ब्रह्मचर्यके अन्तमें समावर्तनरूप स्नानको करके गार्हस्थ्य आश्रमको प्राप्त होकर भिक्षाअटन न करे, और अष्ट वर्षका ब्राह्मणके बालकका उपनयन करे, और उत्पन्नपुत्र तथा नील केशवाला पुरुष अग्निका आधान करे इति।

पूर्वोक्त रीतिसे अध्यासको प्रमाण करके सिद्ध हुये भी किसमें किसका अध्यास होता है इस प्रकारकी जिज्ञासाके हुये अध्यासका उदाहरणको दिखानेके वास्ते अध्यासके लक्षणको स्मरण कराते हैं। **अध्यासो नाम अतस्मिँस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम** इतिभाष्यम्। **अर्थात् तदभाववति तत्प्रकारकज्ञानत्वम् अध्यासस्य लक्षणम्।** जैसे स्वदेहसे भिन्न जो बाह्य पुत्रभार्यादिक हैं, तिनोंमें सुख दुःखादिकोंका निश्चय होनेसे यह पुरुष स्वदेह विशिष्ट अपने आत्मामें 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इस प्रकार सुख दुःखादिकोंका अध्यास करता है। प्रसंगमें सुख दुःखादिक पुत्रादिकोंमें हैं, स्वदेह विशिष्ट आत्मामें नहीं, अतः सुख दुःखादिकोंका अभाव वाला जो स्वदेहविशिष्ट आत्मा है तद्विशेष्यक सुख दुःखादि प्रकारक ज्ञानत्वको 'अहं सुखी, अहं दुखी' इस ज्ञानमें रहनेसे लक्षणसमन्वय जानना। तात्पर्य यह है, पुत्रादिकोंमें स्वदेहविशिष्ट आत्माका प्रत्यक्ष भेदज्ञानके होनेसे पुत्रादिकोंके सुख दुःखादिक धर्मोंका स्वदेहविशिष्ट आत्मामें अध्यास तो बने नहीं। तथा अन्यथाख्यातिका अनंगीकार होनेसे भी पुत्रादिकोंके सुख दुःखादिक धर्मोंका अपने आत्मामें अध्यास बने नहीं। किंतु पुत्रादिकोंके सुख दुःखादिक धर्मोंका ज्ञान होनेसे तत्तुल्य सुखादिक धर्मोंका स्वदेह विशिष्ट आत्मामें अध्यास होता है। इस प्रकार आगे भी जान लेना। अब देह तथा इन्द्रियोंके धर्मोंका, मनविशिष्ट आत्मामें अध्यासको दिखाते हैं। तहां स्थूलोऽहम्, कृषोऽहम्, गौरोऽहम्, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि, ऐसा व्यवहार होता है, अतः स्थूलत्व, कृषत्व, गौरत्व, स्थिति, गमन, उलंघन रूप देहधर्मोंका मनविशिष्ट आत्मामें अध्यास होता है।।तथा अहं मूक, अहं काण, अहं क्लीव, अहं बधिर, अहं अन्ध, ऐसा व्यवहार होता है, अतः मूकत्व, काणत्व, क्लीवत्व, बधिरत्व, अन्धत्वादिक इन्द्रियोंके धर्मोंका मनविशिष्ट आत्मामें अध्यास होता है।

वस्तुतः स्थूलत्वादिक धर्मवाले जो देह इन्द्रियादिक हैं, उन्होंको आत्मामें तादात्म्य करके कल्पित होनेसे स्थूलत्वादिक धर्म साक्षात् आत्मामें अध्यस्त हैं। तथा असत्, जड़ दुःखरूप जो अहंकारादिक तिस अहंकारादिकोंसे विलक्षण रूप करके(अर्थात् सत् चित् आनन्द रूप करके) प्रकाशमान साक्षीरूप आत्मा है, तिसका नाम प्रत्यक् है। तिस साक्षीरूप प्रत्यक् आत्माके साथ सुखदुःखादिक धर्मका धर्मी अन्तःकरणका तादात्म्याध्यास करके 'अहमिच्छामि' 'अहं संकल्पयामि' इत्यादि काम, संकल्प, संशय, निश्चय रूप अन्तःकरणके धर्मोंका अध्यास आत्मामें होता है इति।

पूर्वोक्त रीतिसे आत्मामें अनात्माका अध्यासको दिखा कर, अब अनात्मामें आत्माका अध्यासको दिखाते हैं। अध्यस्त जड़ प्रपंचसे विपर्यय रूप करके (अर्थात् अधिष्ठानत्व, चैतन्य रूप करके) स्थित जो प्रत्यक् आत्मा है तिस प्रत्यक् आत्माका अन्तःकरणादिकोंमें अध्यास होता है। तहां आत्माको सद्रूप होनेसे आत्मामें अध्यस्तत्व तो बन सकता नहीं, किन्तु आत्माका संसर्ग अध्यस्त है। तिसमें भी केवल आत्माका संसर्ग अज्ञानमें अध्यस्त है, अज्ञान उपहित आत्माका संसर्ग मनमें अध्यस्त है,और मन उपहित आत्माका संसर्ग देहादिकोंमें अध्यस्त है। इस पूर्वोक्त रीतिसे आत्मामें बुद्ध्यादिकोंका अध्यास होनेसे, आत्मामें कर्तृत्व भोक्तृत्वादिकोंकी प्रतीति होती है। और बुद्ध्यादिकोंमें आत्माका अध्यास होनेसे, बुद्ध्यादिकोंमें चैतन्यादिकोंकी प्रतीति होती है इति। अनादि अविद्यात्मक होनेसे कार्याध्यास अनादि है। और अध्याससे संस्कार होता है, और संस्कारसे अध्यास होता है, इस प्रकार **प्रवाह रूपसें अध्यास नैसर्गिक कहा जाता हैं।** और ब्रह्मज्ञानसे विना नाशका अभाव होनेसे अनन्त है। और मिथ्या माया करके प्रतीत होता है, इस लिये यह कार्याध्यास मिथ्या प्रत्यय रूप है। तथा आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिक धर्मका प्रवर्तक सर्व लोक प्रत्यक्ष सिद्ध यह अध्यास है।

इस प्रकार अध्यासको वर्णन करके अब अध्यास करके साध्य जो विषय तथा प्रयोजन तिसको दिखाते हैं:—**अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्व-विद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते** इति भाष्यम्॥ अर्थ-कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिक अनर्थका कारण मूल अविद्या सहित जो कार्याध्यास है, तिसकी निवृत्तिके लिये जो आत्मैकत्वविद्या (अर्थात् ब्रह्म तथा आत्माका अभेदरूप करके अप्रतिबद्ध साक्षात्कार रूप विद्या) तिस विद्याकी प्राप्तिके वास्ते संपूर्ण वेदान्तका आरम्भ है। आरम्भ नाम विचारका है, अतः विचारित वेदान्त करके ही पूर्वोक्त विद्याकी प्राप्ति होती है इति।

इस पूर्वोक्त भाष्यवचनसे यह सिद्ध हुआ कि **ब्रह्मात्मैकत्व वेदान्तका विषय है,** और **अनर्थकी निवृत्ति रूप मोक्ष प्रयोजन है।** अतः वेदान्तके विचारात्मक **शारीरक शास्त्रका** भी **पूर्वोक्त** ही विषय प्रयोजन जान लेना॥

शंका। छान्दोग्यादिक उपनिषत् रूप वेदान्तमें प्राणादिकोंकी उपासनाका वर्णन किया है। इस कारणसे संपूर्ण वेदान्तका, जीवब्रह्मका एकत्व रूप अर्थ नहीं बन सकता है।

समाधान। जिस प्रकार संपूर्ण वेदान्तका जीवब्रह्मका अभेद ही अर्थ है, तिस प्रकारको शारीरक मीमांसामें दिखावेंगे।

शंका। शारीरक मीमांसा इस शब्दका क्या अर्थ है।

समाधान। शरीरमेव शरीरकम् कुत्सितत्वात्, अर्थ—शरीरको ही कुत्सित होनेसे शरीरक कहते हैं, तन्निवासी जीवः शारीरकः, अर्थात् तिस निन्दित शरीरमें निवास करने वाला जो जीव है, तिसका नाम शारीरक है इति। और जीवका ब्रह्मत्व रूप करके जो विचार है, तिसका नाम शारीरक मीमांसा है। अत इस शास्त्रको शारीरक(जीव) का ब्रह्मत्व रूप करके विचारात्मक होनेसे, शारीरक मीमांसा* कहते हैं। और उपासनाको चित्तकी एकाग्रता द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानका साधन होनेसे उपासनावाक्योंका भी महा तात्पर्य, जीव ब्रह्मके अभेदमें ही है, इस हेतुसे पूर्वपक्षीने जो दोष दिया था सो दोष होता नहीं। और कारण अविद्या सहित प्रपंच में अध्यस्तत्वकी सिद्धि होनेसे, जीवब्रह्मका अभेदमें कोई बाधक सिद्ध होता नहीं ; अतः विषय तथा प्रयोजनको विद्यमान होनेसे, यह शास्त्र आरंभ करनेको योग्य है यह सिद्ध हुवा।

॥ इति प्रथमवर्णकम् ॥

यद्यपि अध्यासकी सिद्धि करके विषय, प्रयोजनकी सिद्धि होनेसे, शास्त्र आरम्भ करनेको योग्य है, तथापि विचारका विषय जो वेदान्त है सो पूर्व मीमांसा करके गतार्थ है ? अथवा अगतार्थ है ? इस प्रकारका संदेह करके शास्त्रका आरंभमें **सन्देह** होता है।

तहां समग्र वेदको विधिपर होनेसे, और विधिको, **अथातो धर्मजिज्ञासा** अर्थ—वेदाध्ययनसे अनन्तर धर्मको जाननेकी इच्छा करे इति। इत्यादिक पूर्वमीमांसा करके विचारित होनेसे, वेदान्त गतार्थ है; अर्थात् धर्मादिकोंसे अतिरिक्त, जीवब्रह्मकी एकता रूप विषय वेदका अर्थ नहीं है। अतः विषयका अभाव होनेसे शास्त्रका आरंभ निष्फल है। ऐसा **पूर्वपक्ष**के हुये।

अब **सिद्धान्त** कहते हैं। वेदान्तका विचार रूप तथा व्याख्यान करनेके योग्य ऐसा जो सूत्रका समूह स्वरूप शारीरक शास्त्र है तिस शारीरक शास्त्रका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह प्रथम सूत्र है। भाव यह है। यदि विधि ही वेदका अर्थ होवे तो ब्रह्ममें वेदान्त रूप प्रमाणका अभाव होनेसे सर्वज्ञ भगवान्

* पूजित विचारका वाचक मीमांसा शब्द है।

बादरायण ब्रह्मजिज्ञासाको नहीं कहते, परंतु ब्रह्मजिज्ञासाको तो कहा है। अतः ब्रह्ममें जिज्ञास्यत्वकी उक्ति करके वेदान्तसे अतिरिक्त शास्त्र करके ब्रह्म अनवगत है यह सिद्ध हुआ। और दूसरे शास्त्र करके अनवगत ब्रह्मका बोधक वेदान्तका विचाररूप यह शारीरक शास्त्र आरंभ करने को योग्य है इस प्रकार सूत्रकार दिखाते हैं। तथा भाष्यकार भी 'व्याचिख्यासितस्य' इस पद करके शास्त्रमें आरंभणीयत्वको बोधन करते हैं।

॥ इति द्वितीयवर्णकम् ॥

इस पूर्वोक्त रीतिसे वेदान्तका विचार कर्तव्य है इस अर्थमें सूत्रका आर्थिक अर्थ जो विषयप्रयोजनवत्त्व तथा अगतार्थत्व तिसको कह करके अब इस शारीरक शास्त्रका अधिकारी है या नहीं ऐसा सन्देहके हुये शास्त्रका आरम्भमें भी सन्देह होता है। इस सन्देहकी निवृत्तिके लिये 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' इस सूत्रके प्रत्येक पदोंका व्याख्यान करनेकी इच्छा वाले भगवान् भाष्यकार इस सूत्रमें स्थित आनन्तर्यार्थिक 'अथ' शब्द करके अधिकारीको सिद्ध करते हैं। तहां सूत्रम्:—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

इस सूत्रमें कर्तव्यपदका अध्याहार करना होगा। और कर्तव्य पदका अध्याहार करनेसे सूत्रका यह आकार सिद्ध हुआ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या' इति, अर्थ—अथ शब्दका अर्थ अनन्तर है, अतः शब्दका अर्थ हेतु है, ब्रह्म शब्दका अर्थ व्यापक सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म है, जिज्ञासा शब्दका अर्थ लक्षणावृत्ति करके ज्ञानकी इच्छाजन्य विचार है, कर्तव्य पदका अर्थ कार्य है। तथा च सूत्रका यह अर्थ सिद्ध हुआ-जिस कारणसे वेदवचन ही अग्निहोत्रादिक कर्मोंमें अनित्य स्वर्गादिक फलोंकी कारणताको दिखाता है तथा ब्रह्मविज्ञानसे परम पुरुषार्थ रूप मोक्षकी प्राप्तिको दिखाता है; तिस कारणसे विवेकादि साधन चतुष्टयकी प्राप्तिसे अनन्तर ब्रह्मज्ञानके लिये अधिकारी पुरुषको वेदान्त शास्त्रका विचार कर्तव्य है इति।

तात्पर्य यह है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें स्थित 'अथ' शब्दका अर्थ जब आनन्तर्य है तब ऐसी जिज्ञासा होती है कि किससे अनंतर ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है? तहां ऐसा ही कहना होगा कि विवेकादिक साधन चतुष्टयकी प्राप्तिसे अनन्तर अधिकारीको ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्य है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे अधिकारीकी सिद्धि हुई। अत इस शास्त्रके अधिकारी हैं या नहीं हैं—इस सन्देहका अभाव होनेसे, शास्त्रके आरम्भमें भी सन्देहका अभाव हुआ। अतः शास्त्रका आरम्भ करनेको योग्य है यह सिद्ध हुआ।

शंका। 'मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथेति' इस वचन करके अथ शब्दका, अर्थ मंगल, अनन्तर, आरम्भ, पृश्न, कात्स्न्र्य, इत्यादिक अनेक प्रतीत होते हैं इति।

जैसे 'अथ योगानुशासनम्' अर्थ—योगशास्त्रका आरम्भ करता हूं। इस सूत्रमें अथ शब्दका अर्थ आरंभ है। तैसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें जो अथ शब्द है तिसका अर्थ आरंभ क्यों न हो?

समाधान। नाधिकारार्थ इति भाष्यम्। अर्थ—अथ शब्दका अर्थ आरंभ नहीं है इति।

यहां यह अभिप्राय है—जिज्ञासा पद ज्ञानकी इच्छापर है अथवा विचारका लक्षक है? तहां प्रथम पक्षमें यदि अथ शब्दका अर्थ आरंभ स्वीकार करोगे तो ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका आरंभ करता हूं यह सूत्रका अर्थ सिद्ध होगा। सो असंगत है, क्योंकि इच्छाको अनारभ्य*होनेसे, अर्थात् इच्छा आरम्भ करनेको योग्य नहीं है। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि कर्तव्य पदका अध्याहारसे विना जिज्ञासा पदमें ज्ञानकी इच्छा जन्य विचारका लक्षकत्व बन सकता नहीं। यदि कर्तव्य पदका अध्याहार करोगे तो अध्याहृत कर्तव्य पद करके ही आरंभकी सिद्धि हो जायगी, 'अथ' शब्द व्यर्थ होगा। अत अधिकारीकी सिद्धिके लिये अथ शब्दका अर्थ आनन्तर्य ही युक्त है, आरंभ नहीं इति।

शंका। अथ शब्दका अर्थ 'मंगल' क्यों न हो?

समाधान। 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या' इस वाक्यका अर्थ जो विचारकर्तव्यता, तिसमें मंगलका कर्तृत्वादि रूप करके अन्वयका अभाव होनेसे अथ शब्दका अर्थ मंगल नहीं हो सकता। जैसे साधनचतुष्टयकी प्राप्तिसे अनन्तर विचार कर्तव्यता रूप वाक्यार्थमें अथ शब्दका अर्थ आनन्तर्यका अन्वय होता है, तैसे मंगलका वाक्यार्थमें किसी प्रकार अन्वय नहीं बन सकता है। अतः 'मंगल' अथ शब्दका अर्थ नहीं। यद्यपि **'शास्त्रादौ मंगलं कार्यम्'** इस वचनके अनुसार सूत्रकारने मंगलार्थक अथ शब्दका प्रयोग किया है ऐसा कह सकते हैं। तथापि अथ शब्दका अर्थ मंगल नहीं, किंतु अथ शब्दका श्रवण अथवा उच्चारण मंगलके कार्यको करता है। अथ शब्दका अर्थ तो आनन्तर्य ही है। जैसे शास्त्रमें लिखा है कि शंख वीणादिकोंका नादश्रवण मंगलका कार्यको करता है, अतः मांगलिक है। तैसे अथ शब्दका श्रवण भी मंगलका कार्यको करता है, अत

---

* यद्यपि ज्ञानादिजन्यत्वरूप आरभ्यत्व इच्छामें है, तथापि कृतिसाध्यत्वरूप आरभ्यत्व इच्छामें नहीं है। यद्यपि ईशकृतिसाध्यत्वरूप आरभ्यत्व जीवइच्छामें है, तथापि जीवकृतिसाध्यत्व जीवइच्छामें नहीं है। यद्यपि रजतादि खनिरूप देशप्राप्तिनिमित्त गमनानुकूलकृतिसाध्यत्व रजतादि इष्ट वस्तुविषयक ज्ञान जन्य रजतविषयक इच्छामें भासता है, तथापि उक्त स्थलमें इष्ट दर्शन करके इष्ट दर्शनानुकूलगमनानुकूलकृति अन्यथा सिद्ध है। इस लिये जीवकृतिसाध्यत्व इच्छामें नहीं बन सकता है।

अथ शब्द भी मांगलिक है। तहां स्मृतिः—**ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भीत्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ।** अर्थ—ओंकार शब्द तथा अथ शब्द यह दोनों सृष्टिके आदिकालमें ब्रह्माके कंठको भेदन करके निकसे हैं। अतः दोनों शब्द मांगलिक कहे जाते हैं इति।

शंका। प्रपञ्चो मिथ्येति प्रकृते सति, अथैतन्मतम्, प्रपञ्चः सत्य इति। एक पुरुषने कहा कि 'प्रपंच मिथ्या है' दूसरे पुरुषने कहा कि 'अथ प्रपंच सत्य है' इस पूर्वोक्त वाक्यमें विद्यमान अथ शब्दका अर्थ जैसे प्रसंगमें प्राप्त मिथ्यात्वरूप अर्थकी अपेक्षासे सत्यत्वरूप अर्थान्तर है, तैसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें स्थित अथ शब्दका अर्थ अर्थान्तर क्यों न हो।

समाधान। पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलत आनन्तर्याव्यतिरेकात्, इति भाष्यम्। अर्थ—पूर्वमें विद्यमान जो कारण तिस कारणकी अपेक्षासे फलमें जो अर्थान्तरत्व प्रतीत होता है सो आनन्तर्य स्वरूप है, पृथक् नहीं इति।

तात्पर्य यह है—सत्यत्व रूप अर्थसे भिन्न पूर्वमें स्थित जो मिथ्यात्व रूप अर्थ है, तिस मिथ्यात्व रूप अर्थकी अपेक्षासे सत्यत्व रूप अर्थ अर्थान्तर हो सकता है। परन्तु 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस स्थलमें ब्रह्मजिज्ञासासे पूर्व कोई अर्थविशेष प्रकृत है नहीं, जिस पूर्व अर्थकी अपेक्षासे ब्रह्मजिज्ञासामें अर्थान्तरत्वको 'अथ' शब्द बोधन करे। यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे 'जिज्ञासा' पद करके उक्त जो कर्तव्य विचार रूप फल है तिस फलका कारण रूप करके जो विवेकादिक साधन विद्यमान हैं, तिनकी अपेक्षा करके विचार रूप फलमें अथ शब्दका अर्थ अर्थान्तरत्व रहेगा। वादीका यह कहना यद्यपि सत्य है, तथापि जिन पदार्थोंका परस्पर कार्य कारण भाव होता है, तिन पदार्थोंके कार्यकारण भावका ज्ञानके लिये अथ शब्दका अर्थ आनन्तर्य अवश्य कहना होगा, क्योंकि लोकमें ऐसा अनुभव होता है **कारणान्तरं कार्यं भवति** अर्थ—कारणसे अनन्तर कार्य होता है इति।

यद्यपि लोकमें **'अश्वादनन्तरं गौः'** अर्थ—अश्वसे अनन्तर गौ है ऐसा भी व्यवहार होता है इति। तथापि कारणकी अपेक्षासे जो कार्यमें आनन्तर्य है सो देशकालके व्यवधान रहित होनेसे मुख्य है, और अश्वकी अपेक्षासे जो गौमें आनन्तर्य है, सो देशकालके व्यवधान सहित होनेसे गौण है, गौ तथा अश्वका कार्य कारण भाव है नहीं।

शंका। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें अथ शब्दका अर्थ सिद्धान्तीने जो आनन्तर्य कहा है सो यद्यपि समीचीन है। तथापि 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस स्थलमें अथ शब्दका अर्थ आनन्तर्य है, और धर्मजिज्ञासासे नियम करके पूर्व विद्यमान वेदाध्ययनकी धर्मजिज्ञासा अपेक्षा करती है। अर्थात् वेदाध्ययनसे अनन्तर धर्मकी जिज्ञासा करनेको योग्य है। यहां पर जैसे आनन्तर्यका अवधि

वेदाध्ययन है तैसे ब्रह्मजिज्ञासासे नियम* करके पूर्व विद्यमान असाधारण कारण रूप जो आनन्तर्यका अवधि सो अवश्य कहना चाहिये, जिससे अनन्तर अधिकारी पुरुष ब्रह्मकी जिज्ञासा करे। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि जैसे धर्म-जिज्ञासामें आनन्तर्यका अवधि वेदाध्ययन कारण है, तैसे ब्रह्मजिज्ञासामें भी आनन्तर्यका अवधि वेदाध्ययन कारण हो सकता है। सो कहना असंगत है, क्योंकि धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा उभयके प्रति वेदाध्ययन साधारण कारण है, असाधारण कारण नहीं है। और जैसे नैयायिक लोग कार्यत्वाव-च्छिन्न यावत् कार्यके प्रति १ ईश्वर, २ ईश्वरका ज्ञान, ३ ईश्वरकी इच्छा, ४ ईश्वरका प्रयत्न, ५ काल, ६ दिक्, ७ प्रागभाव, ८ प्रतिवन्धकाभाव, ६ अदृष्ट, (अदृष्ट नाम धर्म तथा अधर्मका है) इन नवोंको साधारण कारण मानते हैं तैसे वेदाध्ययनको साधारण कारण नहीं जानना। किंतु धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा दोनोंके प्रति वेदाध्ययनको कारण होनेसे भाष्यकारने **'स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्'** इस वचनमें स्थित समान पद करके वेदाध्य-यनको साधारण कारण कहा है ऐसा जानना। और यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि आनन्तर्यका अवधि स्वरूप जो कर्मका अवबोध है सो ब्रह्मजिज्ञासाका असाधारण कारण है। क्योंकि प्रथम जब पुरुषको कर्मका ज्ञान होगा तब कर्मका अनुष्ठान करेगा, और जब निष्काम कर्मका अनुष्ठान करेगा तब अन्तःकरणकी शुद्धि होगी, और जब अन्तःकरण शुद्ध होगा तब शुद्धान्तःकरणमें ब्रह्मजिज्ञासाकी उत्पत्ति होगी। इस रीतिसे पूर्वमीमांसा शास्त्र करके जो कर्मका ज्ञान है सो ब्रह्मजिज्ञासाका असाधारण कारण हो सकता है, अतः कर्मज्ञानसे अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनेको योग्य है यह अर्थ सिद्ध हुआ। और शारी० अ ३-४-२६ **'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'** इस सूत्रके व्याख्यानमें **'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** इत्यादिक श्रुति संयोगपृथक्त्वन्याय[1] करके अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानका साधन

---

* यत् किंचित् वस्तुका आनन्तर्य तो वक्तव्य है नहीं, क्योंकि ऐसा आनन्तर्य तो स्वतः प्राप्त है। अवश्य ही पुरुष कुछ करके कुछ करता है। ऐसे आनन्तर्यका दृष्टादृष्ट प्रयोजन भी कुछ नहीं है। अतः तिसका आनन्तर्य कहना चाहिये जिसके विना ब्रह्मजिज्ञासा न होवे, और जिसके होने पर अवश्य होवे।

१ एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति जैमिनिसूत्रम्। जोति-ष्टोमादिक कर्मोंका स्वर्ग तथा ब्रह्मविद्या रूप उभय फलके साथ सम्बन्धमें संयोग पृथक्त्व प्रयोजक है। संयोग नाम वाक्यका है, और वाक्यका जो भेद है तिसका नाम पृथक्त्व है, जैसे **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'** अर्थ— स्वर्गकी कामना वाला पुरुष ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ करके यजन करे इति। यह श्रुति यज्ञ

रूप करके यज्ञादिक कर्मोंको विधान करती है। तहां सूत्रका अर्थ—'अश्ववत्' इस दृष्टान्त करके योग्यताको दिखाया है, जैसे रथकी आकर्षण रूप क्रिया अपनी उत्पत्तिमें अश्वकी अपेक्षा करती है, और लांगलकी आकर्षण रूप क्रिया अपनी उत्पत्तिमें अश्वकी अपेक्षा करती नहीं। तैसे ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्तिमें ब्रह्मचर्यादिक आश्रम विहित संपूर्ण कर्मोंकी अपेक्षा करती है और मोक्षरूप फलमें नहीं इति। श्रुतिका अर्थ—मंत्रभाग तथा ब्राह्मणभाग करके प्रतिपाद्य जो प्रत्यक् अभिन्न सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है तिस ब्रह्मको वेदाध्ययन करके, तथा यज्ञ करके, तथा दान करके, तथा शरीरका अनाशक तप करके, ब्राह्मण लोग जाननेकी इच्छा करते हैं इति।

इस रीतिसे कर्मका अवबोध आनन्तर्यका अवधि बन सकता है। यह भी सिद्धान्तीका कहना असमीचीन है, क्योंकि अध्ययन किया है वेदान्तशास्त्र जिसने ऐसा जो पुरुष तिसको धर्मजिज्ञासासे प्रथम भी ब्रह्मकी जिज्ञासा हो सकती है। *इस वचनका यह आशय है—पूर्वमीमांसा शास्त्रमें जो हजारों युक्ति हैं सो ब्रह्मज्ञानका अथवा ब्रह्मविचारका असाधारण कारण नहीं हो सकती हैं, क्योंकि उन युक्तियोंको धर्मका निर्णय मात्रकी हेतुता है। और कर्मका निर्णय भी ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मविचारका असाधारण कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि कर्मका निर्णयको अनुष्ठान मात्रका हेतुत्व है। यद्यपि अनुष्ठान रूप कर्म अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानका अथवा ब्रह्मविचारका असाधारण कारण होनेसे आनन्तर्य-का अवधि हो सकता है (अर्थात् कर्मसे अनन्तर ब्रह्मविचार करनेको योग्य है) तथापि यह नियम है, जो ज्ञायमान विशेषण होता है सो प्रवृत्ति आदिक फलके प्रति असाधारण कारण होता है। जैसे किसी पुरुषने दूसरे पुरुषको कहा कि नील घटको ले आओ—इस स्थानमें यदि दूसरे पुरुषको नील रूप विशेषणका ज्ञान नहीं होवे तो उस पुरुषकी नीलघटका आनयन विषयक प्रवृत्तिरूप फल होता नहीं, और यदि नील विशेषण ज्ञात हो तो पुरुषको प्रवृत्तिरूप फल होता है। तैसे ब्रह्मविचारमें प्रवृत्तिरूप फलका असाधारण कारण ज्ञायमान कर्मको ही कहना होगा। सो बन सकता नहीं, क्योंकि जन्मान्तरीय अज्ञात कर्म भी फलका कारण है। और ज्ञायमान जो अधिकारीका विशेषण सो विचारमें प्रवृत्तिका असाधारण कारण कहना होगा, ऐसा कर्म नहीं। अतः कर्मविषयक विचार तथा कर्मका अवबोध तथा कर्म अनुष्ठान आनन्तर्यके अवधि नहीं हो सकते हैं। किंच जिस पुरुषने इस जन्ममें कर्मका अनुष्ठान नहीं किया है, परंच जन्मान्तरमें करे हुये

अपूर्वोत्पत्ति द्वारा ज्योतिष्टोम कर्मका स्वर्गके साथ सम्बन्ध बोधन करती है, और 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति ज्योतिष्टोम यज्ञका अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ब्रह्मज्ञानके साथ सम्बन्धको बोधन करती है। और इनोंका परस्पर जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, तहां कर्म अपूर्व द्वारा स्वर्गका जनक है स्वर्गजन्य है। तथा कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा ब्रह्मज्ञानका जनक है, ब्रह्मज्ञान जन्य है इति।

* धर्मजिज्ञासायः प्रागप्यधीत वेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः।

निष्काम कर्म करके शुद्धान्तःकरण वाला है, तथा सारासार विचार दृष्टिकरके उत्पन्न वैराग्य वाला है, तिस पुरुषको वैराग्यादिकोंका उत्पादक कर्मानुष्ठानका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि जन्मान्तरीय कर्मका अनुष्ठान करके ही वैराग्यादिक सिद्ध हैं। और ऐसा ही उत्तम पुरुषविशेषको अधिकार करके श्रुति कहती है। तहां श्रुति—**यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्** इति। अर्थ—यदि जन्मान्तरीय कर्मका अनुष्ठानजन्य वैराग्यवाला पुरुष हो तो ब्रह्मचर्य आश्रमसे अनन्तर ही संन्यासको ग्रहण कर वेदान्त विचारको करे इति।

इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि जिसके विना ब्रह्मजिज्ञासा नहीं हो सकती है, और जिसके होनेसे ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है, ऐसा कर्मका अवबोधादिक नहीं इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे धर्मजिज्ञासाका तथा ब्रह्मजिज्ञासाका परस्पर कार्यकारणभावका अभाव होनेसे ब्रह्मजिज्ञासामें धर्मजिज्ञासासे आनन्तर्यरूप अथ शब्दका अर्थ नहीं बन सकता है इति।

किंच सिद्धान्ती ऐसा कहे **'गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्'** इति जा० श्रुतिः। अर्थ—गृहस्थ आश्रमको करके अनन्तर वानप्रस्थ आश्रमको धारण करे अनन्तर संन्यासको धारण करे इति। **अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्,** इति स्मृति। अर्थ—विधिपूर्वक वेदका अध्ययन करके अनन्तर धर्मपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके तथा यथाशक्ति यज्ञों करके यजनके अनन्तर मनको मोक्षमें (अर्थात् मोक्षका साधन संन्यासमें) प्रवेश करे। अर्थात संन्यास ग्रहणकी इच्छा करे। इति **'अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः'** इति स्मृतिः। अर्थ—ब्राह्मणादिक वेदोंको नहीं अध्ययन करके, तथा पुत्रोंको नहीं उत्पन्न करके, तथा यज्ञों करके यजन नहीं करके मोक्षकी अर्थात् संन्यासकी इच्छा करता हुआ पुरुष अधोलोकको प्राप्त होता है इति।

जैसे इन श्रुति स्मृतियोंमें गार्हस्थ्य आदिकोंका क्रम विवक्षित है, और **'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः'** इस मन्त्रमें भी जैसे अथ शब्दका अर्थ क्रम विविक्षित है। तैसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें स्थित अथ शब्दका अर्थ आनन्तर्य उक्ति द्वारा क्रम क्यों न हो? यह भी सिद्धान्तीका कहना असंगत है, क्योंकि **'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः'** अर्थ—प्रथम पशुके हृदयका अग्रभागको छेदन करता है, अनन्तर जिह्वाके अग्रभागका छेदन करता है, अनन्तर वक्षस्थलके अग्रभागका छेदन करता है इति। इस स्थलमें जैसे अथ शब्दका अर्थ क्रम विवक्षित है तैसे अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्रमें स्थित अथ शब्दका अर्थ क्रम नहीं बन सकता है। तथा पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियोंमें भी गार्हस्थ्यादिकोंका क्रम विवक्षित नहीं है, क्योंकि **यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहस्थाद्वा वनाद्वा** इति। यह श्रुति पूर्वोक्त क्रमको खंडन करती है। अर्थात् पूर्वश्रुतिमें जो क्रम कहा है उससे विपरीत यह श्रुति

कहती है। यदि ब्रह्मचर्य आश्रममें ही पुरुषको वैराग्य उत्पन्न हो जावे तो ब्रह्मचर्य-से अनन्तर ही संन्यासको ग्रहण करे। यदि ग्रहस्थ आश्रममें वैराग्य उत्पन्न हो जावे तो गृहस्थ आश्रमसे अनन्तर ही संन्यास आश्रमको ग्रहण करे। और यदि वान-प्रस्थ आश्रममें वैराग्य उत्पन्न हो जावे तो उससे अनन्तर संन्यासको ग्रहण करे इति। और 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति। यह श्रुति भी जिस दिन पुरुषको वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन संन्यास आश्रमको ग्रहण करे, इस अर्थको बोधन करती हुई क्रमको खंडन करती है। और 'अनधीत्य द्विजो वेदान्' इस निन्दा वचनका यह अभिप्राय है—जो अशुद्धान्तःकरण पुरुष है और मोक्षकी इच्छा करता है, परं च आलस्यादि प्रयुक्त हुआ मोक्षके उपायमें प्रवृत होता नहीं प्रत्युत जो अपने गृहस्थ आश्रमके नित्य नैमित्तिकादिक कर्म हैं उनको भी नहीं करनेसे दिन दिनमें वृद्धिको प्राप्त हुआ जो पाप है तिस पाप करके विशिष्ट हुआ सो पुरुष अधोगतिको प्राप्त होता है इति। और 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' इस मन्त्रमें जो हृदयके अग्रभागका छेदनसे अनन्तर जिह्वाके अग्रभागका छेदन इत्यादिक कहा है, तिन छेदनोंको एककर्तृक होनेसे इस मंत्रमें अथ शब्द-का अर्थ क्रमही कहना होगा क्योंकि सर्व छेदनोंको एक कालमें एक कर्ता करके असंभव है। और धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासामें एककर्तृकत्वका अभाव होनेसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें अथ शब्दका अर्थ क्रम नहीं हो सकता है। यदि ऐसा नियम होता कि जिस पुरुषमें धर्मकी जिज्ञासा होती है तिस पुरुषमें ब्रह्मकी जिज्ञासा होती है, तो अथ शब्दका अर्थ क्रम होता क्योंकि एक पुरुषमें एककालमें धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासाका असंभव है। परन्तु लोकमें ऐसा देखनेमें आता नहीं। प्रायश उलटा भिन्न भिन्न कर्तृक देखने में आता है। किसी पुरुषमें धर्मजिज्ञासा है, ब्रह्मजिज्ञासा नहीं; और किसी पुरुषमें ब्रह्मजिज्ञासा है, धर्मजिज्ञासा नहीं। इस विषयको समीपमें ही प्रतिपादन कर आये हैं। अतः—अथ शब्दका अर्थ क्रम नहीं यह सिद्ध हुआ इति।

किंच सिद्धान्ती जो ऐसी शंका करे कि धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञा-सामें एककर्तृकत्व क्यों नहीं है। सो शंका बने नहीं, क्योंकि जिन पदार्थोंका परस्पर शेषशेषिभाव तथा अधिकृतअधिकारभाव होता है तिन पदार्थोंमें एककर्तृकत्व रहता है। जैसे प्रयाजअनुयाजादिक तथा दर्शपौर्णमासका शेषशेषिभाव है। तहां प्रयाजादिक याग शेष, और दर्शपौर्णमास याग शेषी है। शेषनाम अंगका है, शेषीनाम अंगीका है। और **दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत** अर्थ—दर्शपौर्णमास याग करके देवतादिकोंको पूजन करके पश्चात् सोमयाग करके यजन करे इति। तहां **दर्शपौर्णमासयाग** अधिकृत, सोमयाग अधिकार है। प्रथम दर्शपौर्णमास यागको करके उत्तर कालमें सोमयाग किया जाता है। अतः दोनोंका अधिकृतअधिकारभाव होनेसे दोनोंमें एककर्तृकत्व

है। और एक वचन करके गृहीत अनेक यागोंके अनुष्ठानका एक कालमें एक पुरुष करके असंभव होनेसे क्रमकी आकांक्षा होती है, अतः श्रुति क्रमको बोधन करती है। और धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासाका परस्पर शेषशेषिभाव तथा अधिकृतअधिकारभावका असंभव होनेसे इन दोनोंमें एककर्तृकत्व बन सकता नहीं, और एककर्तृकत्वका अभाव होनेसे धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासाका क्रम भी नहीं बन सकता इति।

किंच सिद्धान्ती यदि ऐसा कहे धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासामें शेषशेषित्व तथा अधिकृतअधिकारत्व मत रहो, किन्तु एक मोक्षरूप फलंका जनक होनेसे दोनोंमें एककर्तृकत्व रहेगा। और समुच्चयवादी कहते भी हैं **'ज्ञानकर्मभ्यां मुक्तिरिति'** अर्थ—ज्ञान तथा कर्म इन दोनों करके मुक्ति होती है इति। जब दोनों करके मुक्ति हुई तब ज्ञान कर्म दोनोंमें एककर्तृकत्व सिद्ध हो गया। और जब एककर्तृकत्व सिद्ध हुआ तब धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासा इन दोनोंका एक कालमें एक पुरुष करके अनुष्ठानका असम्भव होनेसे अथ शब्दका अर्थ क्रम ही कहना होगा इति।

यहभी सिद्धान्तीका कहना असमीचीन है, क्योंकि धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासाका भिन्न भिन्न फल है एक नहीं। अब इस अर्थको दिखाते हैं। धर्मजिज्ञासाका अनित्य स्वर्गादिक फल है, और ब्रह्मजिज्ञासाका नित्यमोक्ष फल है। यह फलका स्वरूपसे भेद कहा। अब हेतुसे भी फलका भेद कहते हैं। धर्मजिज्ञासाके घटकीभूत जो धर्म रूप कर्म है, अनुष्ठान सापेक्ष तिस कर्मका फल स्वर्गादिक है। और अनुष्ठान सहित कर्म निरपेक्ष ब्रह्मज्ञानका फल मोक्ष है। यद्यपि ब्रह्मज्ञान भी मोक्षरूप फलमें अपनी उत्पत्तिकी अपेक्षा करता है, क्योंकि उत्पन्न हुआ ज्ञान ही मोक्ष रूप फलका हेतु होता है, तथापि ब्रह्मज्ञान अपनी उत्पत्तिसे अतिरिक्त कर्मानुष्ठानकी अपेक्षा नहीं करता है। अतः फलका भेद होनेसे धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासामें एककर्तृकत्व नहीं बन सकता है इति।

किंच जिज्ञास्यका भेद होनेसे भी एककर्तृकत्व नहीं बन सकता है। क्योंकि पूर्वमीमांसामें जिज्ञास्य धर्म है, और उत्तरमीमांसामें जिज्ञास्य ब्रह्म है। और धर्मको पुरुषप्रयत्न करके साध्य होनेसे धर्मके ज्ञानकालमें धर्म नहीं रहता है, और ब्रह्मको पुरुषप्रयत्न करके असाध्य होनेसे तथा सर्वकालमें विद्यमान होनेसे ब्रह्मके ज्ञानकालमें ब्रह्म रहता है। इस प्रकार जिज्ञास्यका भेद होनेसे धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासामें एककर्तृकत्व बन नहीं सकता इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे कृतिसाध्यत्वरूप करके तथा कृतिअसाध्यत्वरूप करके जिज्ञास्य धर्म तथा ब्रह्मका स्वरूपसे भेद कहा। अब प्रमाणसे भी जिज्ञास्यका भेदको कहते हैं। **'चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च'** इति भाष्यम्। अर्थ—अज्ञात अर्थका बोधक जो वाक्य है तिसका नाम चोदना है। अर्थात् वैदिक शब्दका नाम चोदना है इति। तिस चोदनाकी

जो प्रवृत्ति कहिये बोधकत्व तिस बोधकत्वका 'भेदाच्च' कहिये वैलक्षण्य होनेसे भी जिज्ञास्यका भेद है इति। इस पूर्वोक्त संग्रहभाष्यका अर्थको 'या हि' इत्यादिक भाष्यवचनसे स्पष्ट करके प्रतिपादन करते हैं।

'याहि चोदना धर्मस्य लक्षणम्' इति भाष्यम्, **अर्थ**—जो लिङ्लोटादिक सहित वेदवाक्य रूप चोदना धर्मका लक्षण कहिये प्रमाण है इति। सो **'स्वर्गकामो यजेत्'** इत्यादिक वेदवाक्य रूप धर्मचोदना अपने विषयमें (अर्थात् याग है करण जिसका तथा स्वर्ग है फल जिसका ऐसा भावना रूप धर्ममें) पुरुषको प्रवृत्त करती हुई बोधन करती है कि स्वर्गकाम पुरुष यागको करे इति। **'अयमात्मा ब्रह्म'** इत्यादिक जो ब्रह्मचोदना है सो त्वंपदका लक्ष्य अर्थ कूटस्थ साक्षी स्वरूप पुरुषको शुद्ध ब्रह्मरूप करके बोध ही करती है—यह प्रत्यक् आत्मा ब्रह्मस्वरूप है इति। और विषयका अभाव होनेसे प्रवृत्त नहीं करती है। क्योंकि जैसे धर्मचोदनाका विषय धर्म है तथा यागादिक हैं, तैसे ब्रह्मचोदनाका विषय अनात्मा है नहीं, जिस विषयमें ब्रह्मचोदना पुरुषको प्रवृत्त करे।

किंच सिद्धान्ती ऐसा कहे कि अवबोध जो है सोई ब्रह्मचोदनाका विषय है उसमें पुरुषको प्रवृत्त करेगी। यह कहना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादिक ब्रह्मचोदना रूप प्रमाण करके जन्य जो 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूं' इस प्रकारका ज्ञानरूप अवबोध है तिस अवबोध रूप ज्ञानमें स्वयं ब्रह्मचोदना पुरुषको प्रवृत्त करती नहीं। जैसे इन्द्रिय तथा अर्थका सन्निकर्ष करके जन्य जो ज्ञान है तिस ज्ञानमें इन्द्रियादिक पुरुषको प्रवृत्त करता नहीं, तैसे प्रसंगमें जानना। और प्रमाणजन्य ज्ञानमें प्रवृत्तिका विधायक विधिका अभाव होनेसे भी पुरुषकी ज्ञानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि प्रवर्तक चोदना रूप प्रमाणका विषय धर्म है, और उदासीन चोदना रूप प्रमाणका विषय ब्रह्म है। इस प्रकार जिज्ञास्यका भेद होनेसे धर्मजिज्ञासा तथा ब्रह्मजिज्ञासाका क्रम "अथ" शब्दका अर्थ नहीं हो सकता। अतः "अथ" शब्दके संभावित मंगलादि रूप अर्थान्तरका असंभव हुये आनन्तर्य रूप अर्थ ही 'अथ' शब्दका कहना होगा। और जब अथ शब्दका अर्थ आनन्तर्य सिद्ध हुआ तब आनन्तर्यका अवधि भी अवश्य कहना चाहिये जिससे अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासाका उपदेश भगवान् सूत्रकार करते हैं इति।

समाधान। उच्यते-नित्यानित्यवस्तु विवेकः, इहामुत्रार्थभोगविरागः शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षत्वं च इति भाष्यम्। अर्थात्, सिद्धान्ती विवेकादिक साधनचतुष्टयको आनन्तर्यका अवधि रूप करके वर्णन करता है। तहां आत्मा नित्य है और आत्मासे भि देह इन्द्रिय विषयादिक संपूर्ण अनित्य हैं;

इस प्रकारका निश्चयका नाम विवेक है। सो विवेक पूर्व जन्ममें अथवा इस जन्ममें करे हुये सुकृत कर्मसे शुद्ध हुआ है अन्तःकरण जिसका ऐसा जो पुरुष है तिस पुरुषको अनुभव तथा युक्ति करके प्राप्त होता है। तहां युक्तिको दिखाते हैं। कोई पुरुष कहे कि संसारमें नित्य वस्तु है नहीं, यह कहना बन सकता नहीं, क्योंकि नित्य वस्तुका अभाव हुये, नित्य वस्तु है अधिष्ठान जिसका ऐसा जो प्रपंच है तिसका ही अभाव होवेगा। निराधार प्रपंचकी स्थिति बने नहीं। अतः मिथ्या प्रपंचका अधिष्ठानरूप नित्य वस्तु अवश्य मानना चाहिये। और यदि नित्य अधिष्ठानको न मानोगे तो शून्यवादकी आपत्ति होगी। और "जायस्व म्रियस्व" इत्यादिक श्रुति करके सिद्ध ब्रह्मलोकसे लेकर अधोलोक पर्यन्त भ्रमण करते हुये जीवोंको देखकर, तथा संसाररूप समुद्रके जो काम क्रोध लोभ मोहादिक रूप तरंग हैं तिन तरंगों करके निरन्तर मुह्यमान जीवोंको देखकर, तथा आध्यात्मिक आदिक तापत्रय करके संतप्त स्वात्माको, तथा परआत्माको देखकर, शुद्धान्तःकरण पुरुषको ऐसा निश्चय रूप विवेक प्राप्त होता है कि यह संसार अनित्य अशुचि दुःख रूप है, आत्मा नित्य शुचि सुख रूप है इति। और तिस नित्यानित्यवस्तुविवेक करके जन्य **'इहामुत्रार्थभोगविरागः'** ऐसा वैराग्यको शुद्धान्तःकरण पुरुष प्राप्त होता है। "अर्थ-अर्थ्यते प्राथ्यंत इति अर्थः फलम्' इस लोकमें तथा परलोकमें जो फलभोग है तिसमें अनादरात्मक उपेक्षा बुद्धिका नाम वैराग्य है। अथवा वर्तमान देहकी स्थितिका हेतु जो अनिषिद्ध अन्नादिक है उससे अधिक अर्थकी जो इच्छा उस इच्छाके विरुद्ध जो दृढ़ चित्तकी वृत्ति तिसका नाम वैराग्य है। और तिस वैराग्यसे शमदमादि-**साधनसंपत्**को पुरुष प्राप्त होता है। अर्थात् रागद्वेषादि कषाय रूप मदिराका मद करके उन्मत्त जो मन है सो मन यद्यपि विहित निषिद्ध विषयोंमें इन्द्रियोंको प्रवृत्त करता हुआ, और धर्म तथा अधर्म रूप फलको प्राप्त करने वाली जो नाना प्रकारकी प्रवृत्ति हैं तिन प्रवृत्तियोंको कराता हुवा, पुरुषको अत्यन्त घोर रूप तथा नाना प्रकारका दुःखज्वाला करके जटिल संसार रूप अग्निमें हवन करता है। तथापि विवेकका अभ्यास करके प्राप्त जो दृढ़ वैराग्य है तिस वैराग्य करके नष्ट हो गया है राग द्वेषादिक कषाय रूप मदिरा करके जन्य मद जिसका ऐसा जो मन है सो मन पुरुषके वशीभूत हो जाता है, अर्थात् वैराग्य है कारण जिसका ऐसा जो मनोजय तिसका नाम शम है। और इस शमको वशीकार नाम करके भी कहते हैं। और विजयभावको प्राप्त हुआ जो मन है सोई मन तत्त्वविषयक विचारमें योग्यताको प्राप्त होता है, इसी योग्यताको दम कहते हैं, जैसे दमन किया हुवा अर्थात् शिक्षित युवा वृषभ हल तथा गाड़ी आदिकोंके वहनमें योग्य होता है। तहां श्रुतिः— **तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं**

पश्येत् इति। अर्थ स्पष्ट है। अथवा निषिद्ध विषयोंसे मनको रोकनेका नाम शम है। बाह्य चक्षुरादिक इन्द्रियोंका जो निषिद्ध विषयोंसे निरोध है तिसका नाम दम है। और अन्तःकरणकी शुद्धि हुये जो विधिपूर्वक नित्यादिक कर्मोंका त्याग है तिसका नाम उपरति है। और जीवनके विच्छेदकसे अतिरिक्त जो शीतोष्णादिक द्वन्द्व हैं तिन द्वन्द्वोंका सहनका नाम तितिक्षा है। और गुरुवेदान्तादिक वाक्योंमें जो विश्वास है तिसका नाम श्रद्धा है, अर्थात् ईश्वर देवतादिकमें सर्वत्र आस्तिकताका नाम श्रद्धा है। और श्रवणादिकोंका विरोधि जो निद्रा आलस्यादिक तिनोंको दूर करके जो चित्तवृत्तिकी स्थिति है तिसका नाम समाधान है। इन छ साधनोंकी जो संपत्ति है तिसका नाम शमदमादि साधनसंपत्[1] है इति। और शम दमादि साधनसंपत्ति करके जन्य पुरुषको संसारबन्धनसे मोक्षकी इच्छारूप मुमुक्षुता प्राप्त होती है। और नित्य शुद्ध मुक्त सत्य स्वभाव ब्रह्मका ज्ञान मोक्षका कारण है ऐसा श्रवण करके अधिकारी पुरुषको धर्मजिज्ञासासे प्रथम अथवा पश्चात् भी ब्रह्मकी जिज्ञासा होती है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान्ने अन्वय व्यतिरेक करके दिखाया है। विवेकादिक साधनचतुष्टयको विद्यमान हुये ब्रह्मजिज्ञासा होती है, और विवेकादिकोंके अभाव हुये ब्रह्मजिज्ञासाका अभाव होता है। तहां अन्वय तो स्पष्ट ही है। और विवेकादिक साधन करके रहित तथा लीला करके ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त जो पुरुष है तिस पुरुषमें अज्ञानकी निवृत्ति रूप फलका जनक जो ब्रह्मसाक्षात्कार तिसका अभाव होनेसे व्यतिरेककी सिद्धि जाननी। और विवेकादिक साधनोंके विद्यमान हुये केवल ब्रह्मजिज्ञासा ही होती है ऐसा नहीं, किंतु ब्रह्म भी जाननेको योग्य है। अतः सूत्रकार व्यास भगवान् 'अथ' शब्द करके विवेकादिक साधनसम्पत्तिसे आनन्तर्यको ब्रह्मजिज्ञासामें उपदेश करते हैं। और वस्तुतः मुमुक्षासे आनन्तर्यको उपदेश करते हैं, विवेकादिकोंसे नहीं। क्योंकि पूर्व पूर्व विवेकादिक उत्तर उत्तर वैराग्यदिकोंके प्रति हेतु हैं। ब्रह्मजिज्ञासाके प्रति साक्षात् मुमुक्षा हेतु है, विवेकादिक नहीं। विवेकादिक तो परंपरा करके हेतु हैं इति।

अब क्रममें प्राप्त 'अतः' शब्दका व्याख्यानको करते हैं। **'अतः शब्दो हेत्वर्थः'** इति भाष्यम्। अर्थ—अतः शब्द हेतुका वाचक है इति।

---

१ बाह्य धनादिक कदाचित् विपत्तिके भी हेतु देखे गये हैं। शमादिक कभी भी दुःखके हेतु नहीं होते। बाह्य धनवत् चोर अग्नि राजादिक भय भी शमादिकमें नहीं है। भाई आदिक भी इस शमादिक सम्पत्तिका भागी नहीं बन सकता है। धनादिक सम्पत्ति जैसे साथ नहीं जाती है ऐसे भी शमादिक नहीं हैं। मरने पर भी साथ ही लोकान्तरमें जाते हैं। नित्य सुखको प्राप्त करने वाली है। इस लिये शमादिक मुख्य सम्पत् है।

शंका। 'अथ' शब्द करके विवेकादिरूप हेतुको कहनेसे पुनरुक्ति दोष होवेगा–**उक्तस्यार्थस्य पुनर्भाषणं पुनरुक्तिः।** अर्थ—कहे हुये अर्थका जो पुनः कहना तिसका नाम पुनरुक्ति है इति।

समाधान। 'अथ' शब्द करके आन्नतर्यकी उक्ति द्वारा ब्रह्मजिज्ञासाके प्रति पूर्व सिद्ध साधनचतुष्टय रूप आसाधारण कारण विवक्षित हैं, तिन विवेकादिकोंका अपवादको शंका होनेसे (अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासासे अव्यवहित पूर्ववृत्ति विवेकादिक नहीं बन सकते हैं ऐसा अपवादके हुये) तिस अपवादका खंडन करके, अथ शब्द करके उक्त जो विवेकादिक हेतु हैं, तिस हेतुका वाचक जो 'अतः' शब्द है सो ब्रह्मजिज्ञासाके प्रति विवेकादिकोंको हेतु रूप करके कथन नहीं करता है, किन्तु हेतुरूप करके व्यवस्थापन करता है, अतः पुनरुक्ति दोष होता नहीं।

शंका। जो सिद्धान्तीने कहा कि पूर्वोक्त साधनसम्पत्तिसे अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा होती है। यह कहना यद्यपि सत्य है, तथापि इसलोक तथा परलोकके विषयभोगमें वैराग्यका अभाव होनेसे साधनसम्पत्ति ही नहीं बन सकती है। क्योंकि जो अनुकूल वेदनीय रूप सुख है तिसका नाम फल है, और अनुरागका हेतुरूप विषयसुखमें पुरुषको वैराग्य हो सकता नहीं। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि दुःख सहित सांसारिक विषयसुखका दर्शन होनेसे विषयसुखमें पुरुषको वैराग्य हो सकता है। तो सुख सहित दुःखमें भी पुरुषको अनुराग होना चाहिये, परन्तु होता तो नहीं। अतः केवल सुखको ही उपादेय होनेसे दुःखपरिहारके लिये पुरुषको प्रयत्न कर्तव्य है। और लोकविषे देखनेमें आता है, जैसे धान्यार्थी पुरुष प्रथम पलाल सहित धान्यको आहरण करता है, पश्चात् पलाल भागको त्याग करके और धान्यको ग्रहण कर निवृत्त होता है। तैसे जब अधर्म दुःख रूप फल देनेको सन्मुख होता है, तब दुःख तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु प्रयत्न करके दुःखको निवृत्त कर सुखको पुरुष भोगता है। और जैसे जहां मृग बहुत रहते हैं तहां क्या कृषिक पुरुष ऐसा विचार करता है कि, यहां पर मृग बहुत हैं हम लोग यदि धान्यको बोवेंगे तो उत्पन्न धान्यको मृग भक्षण कर जावेंगे। ऐसा नहीं करता है। किन्तु मृगका भयको त्याग कर धान्यको बोता ही है, तथा मृगादिकोंको प्रयत्नसे निवृत्त करके धान्यको ग्रहण कर निवृत्त होता है। क्या भिक्षुकोंके भयसे कोई भोजन बनानेसे डरता है। तैसे दुःखके भयसे इस लोकका तथा परलोकका सुख त्याग करनेको योग्य नहीं है। किन्तु प्रयत्न करके दुःखको निवृत्त करके विषयसुख भोगनेको योग्य है। अत विषय सुखमें पुरुषको वैराग्य होता नहीं। यद्यपि स्रक्चन्दन वनितादिकों करके जन्य जो दृष्ट सुख है तिस दृष्ट सुखको उत्पत्ति तथा नाश रूप दुःख करके विशिष्ट होनेसे अत्यन्त भीरु पुरुष त्याग भी देवे। तथापि आमुष्मिक स्वर्गादिक विषयसुखको नित्य होनेसे कदाचित् भी त्याग नहीं कर सकता है। और पारलौकिक सुख नाश रहित है।

इस अर्थमें वेद भी प्रमाण है । तहां श्रुतिः, **अपाम सोमममृता अभूम, अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति,** अर्थ—इन्द्रादिक देवता परस्पर कहते भये कि हम लोग सोमको पान कर अमृत रूप (अर्थात् जरा मरण रहित देवभाव) को प्राप्त होते भये, और चातुर्मास्य यागको करने वाले जो पुरुष हैं तिन पुरुषोंको अक्षय्य कहिये नाश रहित सुकृत कहिये स्वर्गादिक लोक प्राप्त होता है इति ।

किंच सिद्धान्ती जो ऐसा कहे **'स्वर्गादि सुखं, अनित्यं, कार्यत्वात्, घटवदिति'** अर्थ—जैसे घट रूप दृष्टान्तमें कार्यत्व रूप हेतु है, और अनित्यत्व रूप साध्य है, तैसे स्वर्गादिक सुख रूप पक्षमें कार्यत्व रूप हेतु है, अतः— अनित्यत्व रूप साध्य भी मानना चाहिये इति । इस अनुमान करके स्वर्गादिक सुखको उत्पत्ति नाशादि रूप दुःखविशिष्ट होनेसे स्वर्गादिक सुखमें वैराग्य हो सकता है, सो कहना बने नहीं । क्योंकि— **नरशिरःकपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवत्,** अर्थ—शंख रूप दृष्टान्तमें प्राणि-का अंगत्व रूप हेतु है, और शुचित्व रूप साध्य है, इसी प्रकार मनुष्यका शिरःकपाल रूप पक्षमें प्राणिका अंगत्व रूप हेतु है, अतः शुचित्व रूप साध्य मानना चाहिये इति ।

जैसे यह अनुमान **'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्'** इस आगम करके बाधितविषयक है, अर्थात् 'बाधित' नाम नहीं है साध्य रूप विषय जिस अनुमानका तिस अनुमानका नाम बाधितविषयक है । तैसे 'स्वर्गादि सुखं अनित्यं कार्यत्वात्, घटवत्' इस अनुमानको भी 'अपाम सोम' इत्यादिक आगम करके बाधितविषयक होनेसे इस अनुमान करके स्वर्गादिक सुखमें अनित्यत्वकी सिद्धि होती नहीं । अतः स्वर्गादिक सुखको नित्य होनेसे, और नित्य सुखमें वैराग्यका अभाव होनेसे मुमुक्षा नहीं बन सकती है । इस पूर्वोक्त रीतिसे साधनसम्पत्तिका अभाव हुये ब्रह्मजिज्ञासाका अभाव सिद्ध हुआ इति ।

समाधान । ऐसी शंकाके प्राप्त हुये भगवान् सूत्रकार कहते हैं 'अत इति' । 'अतः' शब्दके अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं । **यस्माद्वेद एवेति,** अर्थ— जिस कारणसे वेदही स्वर्गादिकोंके कारण अग्निहोत्रादिक कर्मोंमें अनित्य फलकी जनकताको प्रतिपादन करता है, अत उक्त विवेकादिक साधनसम्पत्तिसे अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनेको योग्य है इति ।

तात्पर्य यह है—जो पूर्वपक्षीने कहा था कि कृषिक पुरुषादिकों करके जैसे मृगादिकोंको दूर कर धान्य ग्रहण करनेको योग्य है, तैसे पुरुषको प्रयत्नसे दुःख को निवृत्त करके विषयसुख भोगनेको योग्य है । यह कहना यद्यपि अंशतः सत्य है, तथापि यह कहना असंगत है—क्योंकि अनेक जन्मोंमें संपादन किये जो अनेक प्रकारके अधर्म रूप कारण तिन कारणों करके जन्य जो दुःख है सो दुःख विना भोगसे किसी प्रकार दूर करनेको अशक्य है । और कर्मजन्य जो सुख होता है सो साधनपारतन्त्र्य तथा क्षयित्वरूप दुःखविशिष्ट होता है । इस

नियमसे भी जैसे वह्निको छोड़ करके धूम कहीं भी नहीं रहता है, तैसे दुःखको छोड़ कर कर्मजन्य सुख भी नहीं रह सकता है। इस कारणसे भी दुःख अपरिहार्य है। और जैसे कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, जो पुरुष शिल्पादिक विद्यामें कुशल हो उसके सन्मुख, विष तथा मधु करके संयुक्त अन्नको भोजन करनेके लिये रख देवे, और उस पुरुषको कहे कि आप विष भागको त्याग कर मधु सहित अन्नको भोजन करो, परन्तु वह पुरुष कदाचित् भी विष भागको त्याग कर मधुसहित अन्नको भोजन नहीं कर सकता है। तैसे दुःख मिश्रित सुखमेंसे दुःखको निवृत्त करके सुखको कदाचित् भी कोई नहीं भोग सकता है। और **'यदल्प' तन्मर्त्य' 'यत्कृतकं तदनित्यम्'** इत्यादिक अनुमान सहित **'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते'** इत्यादिक श्रुति स्वर्गादिक सुखको नाशवान् वर्णन करती है। और "अपाम सोममममृता अभूम" इत्यादिक श्रुतियोंका मुख्य अर्थके असंभव हुये लक्षणावृत्ति करके अमृत शब्दका तथा अक्षय शब्दका अर्थ प्रलय पर्यन्त स्थायित्व अथवा चिर-काल स्थायित्व जानना। इस अर्थको पुराणमें भी कहा है **आभूतसंप्लवं स्थानम-मृतत्वं हि भाष्यते,** अर्थ—प्रलय पर्यन्त चिरस्थायी जो स्वर्गादिक स्थान हैं सो अमृत शब्द करके कहे जाते हैं इति। और **अतोऽन्यदार्तम्** अर्थ—इस अद्वितीय ब्रह्मसे भिन्न जो प्रपंच है सो मिथ्यारूप है इति। इत्यादिक श्रुतियों करके अनात्म मात्रमें अनित्यत्वका विवेक होनेसे वैराग्यकी प्राप्ति होती है। और जैसे "तद्यथेह" इत्यादिक वेदवचन कर्म-फलमें अनित्यत्वको बोधन करता है, तैसे **ब्रह्मविदाप्नोति परम्** अर्थ—ब्रह्म वित् पुरुष परब्रह्मको प्राप्त होता है इति। यह वेदवचन ब्रह्मज्ञानसे स्वयं ज्योति आनन्द स्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न जीवको बोधन करता है। इस हेतुसे मुमुक्षा भी बन सकती है। अतः मुमुक्षाके संभव हुये विवेकादिक साधनसंपत्तिसे अनन्तर ब्रह्मजिज्ञा-सा करनेको योग्य है—यह अर्थ सिद्ध हुआ इति।

अब 'ब्रह्मजिज्ञासा' पदमें सिद्धान्तीको अभिमत जो समास है तिस समास-का कथन पूर्वक ब्रह्मजिज्ञासा पदका अवयवोंके अर्थको दिखाते हैं। तहां **ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा** इति भाष्यम्। अर्थ—ब्रह्मकी जो जिज्ञासा कहिये जाननेकी इच्छा तिसका नाम ब्रह्मजिज्ञासा है। यह षष्ठी तत्पुरुषके अनुसार अर्थ कहा है इति।

शंका। "अथातो धर्मजिज्ञासा" इस जैमिनिसूत्रमें जैसे 'धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा' इस प्रकार चतुर्थी समास अङ्गीकार किया है तैसे 'ब्रह्मणे जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रकार चतुर्थी तत्पुरुष समास क्यों न हो?

समाधान। 'जिज्ञासा' इस पदमें ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु है, और इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय है। और धातुका अर्थ तथा प्रत्ययका अर्थ दोनोंके मध्यमें प्रत्ययका अर्थ मुख्य होता है, और धातुका अर्थ गौण होता है, अतः जिज्ञासा पदका मुख्य अर्थ इच्छा है। और इच्छाका प्रथम कर्मकारक अपेक्षित है, पश्चात् फल

अपेक्षित है। अर्थात् इच्छाका कर्म कहिये विषय कौन है, तथा फल कौन है, इस प्रकार कर्मज्ञानके वास्ते षष्ठी समास ही युक्त है। और जब प्रसंगमें ब्रह्मरूप कर्मको कह दिया तब फलको भी कह चुके, क्योंकि इच्छाका कर्म जो होता है सोई फल होता है। जैसे 'स्वर्गकी इच्छा' ऐसा कहनेसे इच्छाका कर्म जो स्वर्ग है सोई फल है। तैसे जिज्ञासारूप इच्छाका विषय रूप कर्म जो ब्रह्म है सोई फल है।

शंका। **'अयं पुरुषो ग्रामं गच्छति'** अर्थ—यह पुरुष ग्रामको जाता है। यहां गमन रूप क्रियाका कर्ता पुरुष है, ग्राम कर्म है, और ग्रामसे भिन्न ग्रामकी प्राप्ति रूप फल है इति। अतः जो सिद्धान्तीने एकही स्वर्गको तथा ब्रह्मको इच्छाका कर्म तथा फल रूप कथन किया है सो असंगत है।

समाधान। 'ग्रामं गच्छति' इत्यादिक क्रियान्तरमें कर्मका तथा फलका यद्यपि भेद है, तथापि इच्छाको फल विषयक होनेसे इच्छाका जो कर्म है सोई फल है भिन्न नहीं। और जो पूर्वपक्षीने कहा था कि 'धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा' इस प्रकार चतुर्थी समास क्यों न हो? सो कहना असंगत है, क्योंकि 'धर्माय जिज्ञासा' इसका अर्थ यही होगा कि 'धर्मके लिये जाननेकी इच्छा' यहां **'ज्ञा'** धातुको सकर्मक होनेसे धर्मसे अतिरिक्त कर्मकी अपेक्षा हुई (अर्थात् किसको जानना?) और यहां जाननेके योग्य तो धर्म ही है, धर्मसे अतिरिक्त दूसरा कोई जाननेको है नहीं, अत अर्थको असंगत होनेसे चतुर्थी समासको त्याग करके **'सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा'** अर्थ—तिस धर्मको जाननेकी इच्छाका नाम धर्मजिज्ञासा है इति। इस वचन करके षष्ठी समासको ही दिखाया है।

शंका। 'ब्रह्मजिज्ञासा' ऐसा कहा है तहां ब्रह्म शब्दके अनेक अर्थ हैं— जैसे 'ब्रह्महत्या' यहां 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ ब्राह्मणत्व जाति है, और कमलासन, वेद, स्वयम्भू, प्रजापति, यह सर्व भी ब्रह्म शब्दके अर्थ हैं, तैसे ब्रह्म शब्दका अर्थ परमात्मा भी है। यथा **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** अर्थ—ब्रह्मको जानने वाला ब्रह्मरूप ही होता है इति। इस प्रकार ब्रह्म शब्दके अनेक अर्थ होनेसे कौन ब्रह्मकी जिज्ञासा है?

समाधान। **ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणम्** इति भाष्यम्, जिस कारणसे ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके, और ब्रह्मजिज्ञासाका घटक ब्रह्म शब्दका अर्थको बोधन करनेके वास्ते, भगवान् सूत्रकारने 'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्र करके ब्रह्म शब्दका अर्थ परमात्मा ही वर्णन किया है, अतः परमात्माकी जिज्ञासा है, ब्राह्मणत्वादिकोंकी नहीं। इस सूत्रका अर्थ आगे वर्णन करेंगे। और 'ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा' यहां 'ब्रह्मणः' कर्ममें षष्ठी विभक्ति है, शेषमें नहीं। शेष नाम सम्बन्धसामान्यका है। अर्थात् सम्बन्धसामान्यमें, षष्ठी विभक्ति नहीं है। क्योंकि जिज्ञासा इस पदमें जो सन् प्रत्यय

है तद्वाच्य जो इच्छा तिस इच्छाका कर्म ज्ञान है, और ज्ञानका कर्म ब्रह्म है, और ज्ञेय विना ज्ञान नहीं होता है, और ज्ञान विना इच्छा नहीं होती है, अत इच्छाको विषय ज्ञान करके जन्य होनेसे जिज्ञासाका प्रथम अपेक्षित जो कर्म है, तिस कर्मको ही षष्ठी विभक्ति करके कहना होगा, शेष रूप सम्बन्धसामान्य नहीं। और यह अनुभव सिद्ध वार्ता है कि चन्द्रमादिकोंको देखकर 'किसका यह सम्बन्धी है' ऐसा व्यवहार नहीं होता है। और ज्ञान, इच्छा, ऐसा कहनेसे किस विषयक ज्ञान है, तथा किस विषयकी इच्छा है, ऐसा व्यवहार होता है। अतः जिज्ञासा रूप इच्छाका जिज्ञास्य ब्रह्मरूप कर्मकी अपेक्षा होनेसे षष्ठी विभक्ति, कर्म रूप विषयका ही बोधन करती है।

शंका। ब्रह्मविषयक प्रमाणादिक जिज्ञासाका कर्म क्यों न हो?

समाधान। ब्रह्मसे भिन्न जिज्ञास्यान्तरका अनिर्देश होनेसे ब्रह्म ही जिज्ञासाका कर्म है। और श्रुत जो ब्रह्मरूप कर्म है उसको त्याग कर अश्रुत प्रमाणादिकोंकी कल्पना करने वाला जो शेषवादी है सो 'पिण्डमुत्सृज्य करं लेढि' अर्थ—करमें स्थित मोदकको त्याग करके हस्तको चाटता है इति। इस न्यायको प्राप्त होगा।

शंका। संबन्धसामान्यमें षष्ठीका अङ्गीकार करनेसे भी ब्रह्ममें कर्मत्व सिद्ध हो सकता है, क्योंकि षष्ठी करके सम्बन्धसामान्यको प्रतीत हुये भी विशेष सम्बन्धकी आकांक्षा हुये (अर्थात् जिज्ञासाका ब्रह्ममें क्या संबन्ध है ऐसी आकांक्षाके हुये) ज्ञा धातुको सकर्मक होनेसे षष्ठी विभक्ति ब्रह्मनिष्ठ जिज्ञासाका कर्मत्व रूप संबन्धमें पर्यवसानको प्राप्त होती है।

समाधान। ऐसा माननेसे भी 'ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा' इस स्थलमें 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस सूत्र करके 'आ' कार प्रत्यय अन्तमें होनेसे, कृदन्त रूप जिज्ञासा पदका योग हुये विधान किया जो कर्मत्व है (अर्थात् शब्दका वाच्य जो कर्मत्व है) तिसका नाम प्रत्यक्ष कर्मत्व है ऐसा प्रथम अपेक्षित प्रत्यक्ष कर्मत्वको त्याग करके, और किसी सूत्र करके नहीं विधान किया हुआ ऐसा जो सम्बन्धसामान्य द्वारा आर्थिक परोक्षकर्मत्व है, तिस आर्थिक परोक्षकर्मत्वको कल्पना करने वाला जो तुम शेषवादी हो सो तुम्हारा यह प्रयास व्यर्थ है।

शंका। हमारा प्रयास व्यर्थ नहीं क्योंकि ब्रह्मके आश्रित प्रमाणादिकोंका विचार भी प्रतिज्ञात होता है। इसका यह तात्पर्य है—शेषमें षष्ठीको माननेसे ब्रह्मसंबन्धिनी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा,प्रतिज्ञाका विषय प्रतीत होती है। तहां ब्रह्मके आश्रित जो लक्षण, प्रमाण, युक्ति, ज्ञानसाधन, फलादिक हैं तिनोंका विचार भी प्रतिज्ञाका विषय होता है। क्योंकि प्रमाणादिकोंके विचारको ब्रह्मज्ञानका हेतु होने करके प्रमाणादिक ब्रह्मसम्बन्धी कहे जाते हैं। और कर्ममें षष्ठी माननेसे

केवल ब्रह्मका विचार ही प्रतिज्ञाका विषय होगा प्रमाणादिकोंका विचार नहीं। जब प्रमाणादिकोंका विचार प्रतिज्ञाका विषय नहीं हुआ तब प्रतिज्ञाका अविषय होनेसे आगे ग्रन्थमें जो प्रमाणादिकोंके विचारका निरूपण किया है सो असंगत होगा। अतः शेषमें षष्ठी अङ्गीकार करनी उचित है;

समाधान। यह भी पूर्वपक्षीका कहना असंगत है, क्योंकि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र स्वयं मुखसे प्रधान ब्रह्मका विचारकी प्रतिज्ञाको कथन करता हुआ ब्रह्मका उपकरण प्रमाणादिकोंके विचारकी भी आर्थिक प्रतिज्ञाको कथन करता है। इस अर्थको स्पष्ट करके भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं। ज्ञान करके प्राप्त होनेके योग्य अत्यन्त इष्ट होनेसे ब्रह्म प्रधान है, तिस प्रधान ब्रह्मको जिज्ञासाका कर्म रूप करके ग्रहण किये हुये, जिनोंकी जिज्ञासासे विना प्रधान ब्रह्म जिज्ञासित नहीं हो सके तिनोंकी जिज्ञासा अर्थसे ही सिद्ध है, पृथक् सूत्र करके कथन करनेको योग्य नहीं। जैसे 'राजाऽसौ गच्छति' राजा जाता है, यह वचन केवल राजाका गमनको बोधन करता नहीं, किंतु सपरिवार राजाके गमनको बोधन करता है। तैसे 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र केवल ब्रह्म-विचारको बोधन करता नहीं किंतु प्रमाणादिक परिवार सहित ब्रह्मके विचारको बोधन करता है। अतः कर्ममें षष्ठी माननेसे जो शेषवादीने दोष कहा था सो दोष प्राप्त होता नहीं। और 'तद्विजिज्ञासस्व' इस मूल श्रुतिके अनुसार भी कर्ममें षष्ठी माननी चाहिये। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**श्रुत्यनुगमाच्च** अर्थात् 'यतो वा इमानि भूतानि' इससे आदि लेके और 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' यहां पर्यन्त श्रुति, तथा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र, इन दोनोंके एक अर्थका लाभ होनेसे कर्ममें षष्ठी समीचीन है। और 'यतो वा' इत्यादिक श्रुति जो ब्रह्ममें जिज्ञासाका प्रत्यक्ष कर्मत्व को दिखाती है, सो प्रत्यक्षकर्मत्व कर्ममें षष्ठी माननेसे ही सूत्र करके अनुगत होता है, अतः 'ब्रह्मणः' यह कर्ममें षष्ठी है यह सिद्ध हुआ। और 'यतो वा' इस श्रुतिके अर्थको 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रके व्याख्यानमें दिखावेंगे।

अब जिज्ञासा पदका अवयवोंके अर्थको दिखाते हैं। **ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा** इति भाष्यम्। अर्थात् जाननेकी इच्छाका नाम जिज्ञासा है इति। तहां ज्ञा धातुरूप अवयवका अर्थ अवगतिपर्यन्त ज्ञान है, और सन्प्रत्ययरूप अवयवका अर्थ इच्छा है।

शंका। अज्ञात वस्तुमें इच्छाका अभाव होनेसे इच्छाका कारण विषयका ज्ञान कहना होगा। प्रकृतमें ब्रह्मज्ञानको तो इच्छाका कारण कह सकते नहीं, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो इच्छाजन्य विचारका फल है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मरूप विषयके ज्ञानका अभाव होनेसे यह ब्रह्मकी जिज्ञासा बनती नहीं।

समाधान । ब्रह्मज्ञान दो प्रकारका है—एक आपात ज्ञान है, दूसरा अवगतिपर्यन्त ज्ञान है। अर्थात् आवरणकी निवृत्ति रूप अभिव्यक्ति वाला जो चैतन्य है तिसका नाम अवगति है, और अवगति है अवधि जिसका ऐसा जो अखंड साक्षात्कार रूप वृत्तिज्ञान तिसका नाम अवगतिपर्यन्तज्ञान है। सोई इच्छाका कर्म तथा फल है। और जिज्ञासाका कारण ब्रह्मविषयक आपात ज्ञान है। आपात ज्ञानका स्वरूप आगे नजदीकमें ही दिखावेंगे। इस पूर्वोक्त रीतिसे फलज्ञान तथा मूलज्ञानका भेद होनेसे जिज्ञासाकी अनुपपत्ति हो सकती नहीं।

शंका । सिद्धान्तीने अवगतिपर्यन्त ज्ञान जिज्ञासाका कर्म रूप फल है ऐसा जो कहा है सो यद्यपि सत्य है, तथापि 'अवगति है अवधि जिसका ऐसा जो अखंडाकार वृत्ति रूप ज्ञान' ऐसा अर्थ करनेसे अवगति तथा ज्ञानका जो भेद प्रतीत होता है सो भेद असंगत है, क्योंकि ज्ञानका नाम ही अवगति है।

समाधान । अब ज्ञानका तथा अवगतिके भेदको दिखाते हैं। असंभावना तथा विपरीत भावना रूप प्रतिबंध रहित, तथा आवरणकी निवृत्ति रूप जो ब्रह्मकी अभिव्यक्ति रूप फल, तिस फल वाला ब्रह्मविषयक जो 'प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूप मैं हूं' इस प्रकारका अखंडाकार वृत्ति रूप ज्ञान है तिसका नाम अवगतिपर्यन्त ज्ञान है। और इसी ज्ञानको फलपर्यन्तावसायी ज्ञान कहते हैं। और सिद्धान्तमें कल्पित वस्तुकी निवृत्तिको अधिष्ठान स्वरूप होनेसे प्रसंगमें आवरणकी निवृत्ति ब्रह्मरूप है। इस लिये आवरणकी निवृत्ति रूप फलविशिष्ट ब्रह्मको फल रूप कहते हैं। तहां वृत्तिका नाम ज्ञान है, और फलका नाम अवगति है। अतः परस्पर भिन्न हैं एक नहीं। और वृत्तिज्ञान रूप प्रमाण करके अभिव्यक्त होनेके योग्य इष्ट रूप ब्रह्म है। और विशेष करके निवृत्त हो गया है निखिल दुःखका संबन्ध जिससे ऐसी जो परम आनन्द घन स्वरूप ब्रह्मावगति है सोई निःश्रेयस मोक्ष रूप पुरुषार्थ है। और इसी ब्रह्मावगतिसे समस्त संसार रूप अनर्थ तथा अनर्थका कारण अविद्याकी निवृत्ति होती है। **तस्माद्ब्रह्मजिज्ञासितव्यम्** इति भाष्यम्। **अर्थ**—जिस कारणसे ब्रह्मावगति अविद्यादिक अनर्थनिवृत्तिका कारण है, तिस कारणसे ब्रह्मजिज्ञासा करनेके योग्य है इति। यहां इच्छामें कर्तव्यत्वका अभाव होनेसे सन्प्रत्यय लक्षणावृत्ति करके विचारको बोधन करता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सूत्रमें स्थित अथ शब्द तथा अतः शब्द करके अधिकारीको सिद्ध होनेसे अधिकारी पुरुष करके ब्रह्मज्ञानके वास्ते विचार करनेको योग्य है।

। इति तृतीयवर्णकम् ।

अब चतुर्थ प्रकारसे अधिकरणकी रचनाको दिखाते हैं। तहां प्रथम संशयको प्रतिपादन करते हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रके प्रथम अधि-

करणकी रचनामें बंधको अध्यास रूप वर्णन किया है अत इस शास्त्रका विषय प्रयोजनादिकोंके सिद्ध हुये भी 'ब्रह्म प्रसिद्धं न वा' ब्रह्म किसी प्रमाण करके प्रसिद्ध है अथवा नहीं है इस प्रकारका संशय होनेसे इस शास्त्रका प्रत्यग-भिन्न ब्रह्मरूप विषयमें तथा परमानन्दकी प्राप्तिरूप प्रयोजनमें संशय होता है। और विषय प्रयोजनमें संशयके होनेसे यह ग्रन्थ आरम्भ करनेके योग्य है या नहीं ऐसा सन्देह है।

अथ पूर्वपक्षः। शास्त्र आरम्भ करनेके योग्य नहीं, क्योंकि ब्रह्मकी प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धि दोनों पक्षोंमें विषय प्रयोजनका अभाव है। अब इसी अर्थको पूर्वपक्षी प्रतिपादन करता है। वेदको अपौरुषेय होनेसे स्वतः सिद्ध वेदान्त रूप प्रमाणसे ब्रह्म प्रसिद्ध है अथवा अप्रसिद्ध है? तहां यदि सिद्धान्ती प्रथम पक्षको कहे कि ब्रह्म प्रसिद्ध है, अर्थात् वेदान्त प्रमाण करके जन्य निश्चय रूप ज्ञानका विषय है, तो ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं होगा। क्योंकि जैसे चक्षुरादिक प्रमाणजन्य ज्ञानका विषय प्रसिद्ध घटादिक जिज्ञास्य नहीं होते हैं। तैसे स्वतः प्रमाण रूप वेदान्तवाक्य करके जन्य ज्ञानका विषय होनेसे ब्रह्म भी जिज्ञास्य नहीं होगा। और वेदान्तवाक्योंसे यदि ब्रह्म अप्रसिद्ध है यह द्वितीय पक्षको अङ्गीकार करोगे तो वेदान्तवाक्य ब्रह्मको प्रतिपादन नहीं करता है यह सिद्ध हुआ। और प्रत्यक्षादिक प्रमाण तो ब्रह्ममें प्रवृत्त ही नहीं होते हैं। अतः सर्वथा अप्रसिद्ध ब्रह्मकी जिज्ञासा नहीं बन सकती है। और यह नियम है—जो अनुभूत तथा प्रिय वस्तु होती है उसकी इच्छा होती है, अननुभूत अप्रिय वस्तुकी इच्छा होती नहीं। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि जैसे अननुभूत प्रिय स्वर्गादिकों-की इच्छा होती है, तैसे अननुभूत प्रिय ब्रह्मकी जिज्ञासा हो सकती है। सो कहना असंगत है क्योंकि इस अर्थमें कोई प्रमाण नहीं। अब प्रमाणके अभाव-को वर्णन करते हैं—इष्यमाण ब्रह्म जिज्ञास्य है इसमें शब्दप्रमाण ही कहना होगा, जैसे आगे कहेंगे 'शास्त्रयोनित्वात्'—शास्त्र है योनि कहिये प्रमाण जिस ब्रह्ममें तिसका नाम शास्त्रयोनि है, और शास्त्रयोनिके धर्मका नाम शास्त्रयोनित्व है। तस्मात् शास्त्रयोनित्ववाला होनेसे ब्रह्म जगत्का कारण है इति। और यदि वेदान्तरूप शब्दप्रमाण ब्रह्मका बोध नहीं किया तो किस हेतुसे वेदान्तमें प्रामाण्य होगा? अर्थात् न होगा। और जब वेदान्त अप्रमाण हुआ तव वेदान्त करके ब्रह्मको अजिज्ञास्य होनेसे विषयप्रयोजना-दिकोंका अभाव हुये शास्त्र आरम्भ करनेको योग्य नहीं है। यह सिद्ध हुआ।

अथ सिद्धान्तः। **उच्यते-अस्ति तावद्ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्व-भावम् इति भाष्यम्।** अर्थ—तावत् शब्द वाक्यका अलंकारमें है, और अस्ति शब्दका अर्थ प्रसंगमें प्रसिद्ध है। इस कहनेसे यह अर्थ सिद्ध हुआ कि ब्रह्म प्रसिद्ध है इति।

शंका। किस प्रमाण करके ब्रह्मकी प्रसिद्धि है? यदि वेदान्ती कहे कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति करके ब्रह्मकी प्रसिद्धि है, सो कहना असंगत

शंका । ब्रह्मसे भिन्न शरीरादिकोंमें ब्रह्मका अन्योन्याभावको रहनेसे अन्योअन्याभावका प्रतियोगित्वरूप लक्षणकी ब्रह्ममें अतिव्याप्ति होगी, अतः यह लक्षण दुष्ट है।

समाधान । यह शंका भी वेदान्तके सिद्धान्तका अज्ञानसे होती है, क्योंकि वेदान्तका यह सिद्धान्त है- जो वस्तु जिस अधिष्ठानमें कल्पित होता है सो वस्तु तिस अधिष्ठान स्वरूप होता है, अधिष्ठानसे अतिरिक्त होता नहीं। जैसे रज्जुमें कल्पित जो सर्प है सो सर्प रज्जुरूप अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं किंतु रज्जुरूप अधिष्ठान स्वरूप ही है। तैसे यह संपूर्ण अहंकारादिक प्रंपच ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें कल्पित होनेसे, अधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप ही है ब्रह्मसे अतिरिक्त है नहीं। जब ब्रह्मसे भिन्न जगत् नहीं सिद्ध हुआ तब ब्रह्मका अन्योन्याभावको अप्रसिद्ध होनेसे, अन्योन्याभावका प्रतियोगित्वरूप लक्षणकी ब्रह्ममें अतिव्याप्ति होती नहीं। अतः यह लक्षण निर्दोष है। इस प्रकार त्रिविध परिच्छिन्नत्वका अभावरूप नित्यत्वको ब्रह्ममें रहनेसे ब्रह्म नित्य है। पुनः ब्रह्म कैसा है-अविद्यादिक दोष करके रहित होनेसे शुद्ध है, पुनः जाड्यादिक धर्म करके रहित होनेसे बुद्ध है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्ममें शुद्धत्वादिक धर्म प्रतीत होता है।

शंका । मोक्ष दशामें शुद्धत्वादिक धर्म ब्रह्ममें प्रतीत होंगे मोक्षसे प्रथम नहीं, क्योंकि मोक्षसे प्रथम देहादिकोंके साथ ब्रह्मका तादात्म्याध्यास होनेसे देहादिकोंके जो जन्ममरणदुःखादिक धर्म हैं तिन दुःखादिकोंकी ही ब्रह्ममें प्रतीति होगी शुद्धत्वादिकोंकी नहीं।

समाधान । ब्रह्म सदैव मुक्तरूप है, केवल अविद्यादिक उपाधिवशसे भ्रान्ति करके संसारदशामें दुःखादिकोंका सम्बन्धवाला प्रतीत होता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे सर्व उपाधि करके रहित निर्गुण प्रसिद्ध ब्रह्मका स्वरूपको वर्णन किया।

अब अविद्योपाधिवाला सगुण ब्रह्मका स्वरूपको वर्णन करते हैं। **'सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्'** इति भाष्यम् । **अर्थ—** सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, इत्यादिक गुणवाला तत्पदका वाच्य ब्रह्म प्रसिद्ध है इति। इस भाष्यवचन करके ब्रह्ममें जगत्का कारणत्वको दिखाया। इस प्रकार 'बृंहणाद्ब्रह्म' इस व्युत्पत्ति करके ब्रह्मपदजन्य जो ज्ञान है तिस ज्ञानको तत्त्वमस्यादिक महावाक्य रूप प्रमाण करके अजन्य होनेसे, तथा अज्ञानका अनिवर्तक होनेसे, ब्रह्मका आपात ज्ञान कहते हैं। और आपात ज्ञानको ही सामान्य ज्ञान भी कहते हैं। इस रीतिसे ब्रह्मजिज्ञासाका मूल जो आपात ज्ञान है तिस मूलज्ञानको विद्यमान हुये ब्रह्मकी जिज्ञासा बन सकती है।

अब और प्रकारसे ब्रह्मकी प्रसिद्धि द्वारा ब्रह्मकी जिज्ञासा बन सकती है

इस अर्थको दिखाते हैं। **'सर्वस्यात्मत्वाच्च'** इति भाष्यम्। अर्थ--संपूर्ण प्राणियोंका जो प्रसिद्ध आत्मा है तिस आत्माके साथ ब्रह्मका अभेद होनेसे ब्रह्म प्रसिद्ध है इति।

शंका। प्रथम आत्माकी प्रसिद्धि क्या है जिस आत्माकी प्रसिद्धि ही को ब्रह्मकी प्रसिद्धि कहते हो?

समाधान। संपूर्ण प्राणी जो 'न नाहमस्मीति' अर्थात्-मैं नहीं हूं ऐसा नहीं जानता है, किंतु 'अहमस्मि' मैं हूं ऐसा जानता है सोई सत् चित् रूप करके आत्माकी प्रसिद्धि है। यदि यह आत्माकी प्रसिद्धि न हो तो 'नाहमस्मीति' सर्व लोग 'मैं नहीं हूं' ऐसा जाने। परन्तु ऐसा तो नहीं जानता है किंतु मैं हूं ऐसा जानता है। अतः यही आत्माकी प्रसिद्धि है।

शंका। आत्माकी प्रसिद्धि होनेसे ब्रह्मकी सिद्धिमें क्या आया?

समाधान। **'आत्मा च ब्रह्म'** इति भाष्यम्। आत्मा ब्रह्म रूप है इति। तथा **'अयमात्मा ब्रह्म'** इस श्रुति करके आत्मासे अभिन्न ब्रह्मको होनेसे आत्माकी प्रसिद्धि ही ब्रह्मकी प्रसिद्धि है यह सिद्ध हुआ। अब पूर्वपक्षी ब्रह्म प्रसिद्ध है इस प्रथम पक्षमें जो दोष कहा है उस दोषको स्मरण कराता है।

शंका। जब आत्मरूप करके ब्रह्म प्रसिद्ध है तब आत्माको ज्ञात होनेसे ब्रह्म भी ज्ञात हुआ, और ब्रह्मको ज्ञात होनेसे ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं होगा, तथा ग्रंथके विषय प्रयोजनका भी अभाव होगा, क्योंकि **अज्ञातः सन् विषयः, ज्ञातः सन् प्रयोजनम्।** अर्थ—प्रथम अज्ञात हुआ ब्रह्म ग्रंथका विषय होता है। और पश्चात् विचार करके ज्ञात हुआ ब्रह्म ग्रन्थका प्रयोजन होता है इति। प्रसंगमें ब्रह्मको आत्मरूप करके सदा ज्ञात होनेसे विषयप्रयोजनरूपता बने नहीं, अतः विषय प्रयोजनके अभाव होनेसे ग्रंथ अविचार्य है यह प्राप्त हुआ।

समाधान। जैसे 'इदं रजतम्' पुरोवर्ति पदार्थ रजत है। यह जो प्रसिद्धि है, सो वस्तुतः शुक्तिकी ही प्रसिद्धि है। क्योंकि जैसे 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें इदं अंश शुक्ति स्वरूप है, तैसे 'चेतनोहमस्मि' 'मैं चेतन हूं' यह जो प्रसिद्धि है सो चैतन्यरूपत्व सामान्य करके वास्तवसे ब्रह्मकी ही प्रसिद्धि है, क्योंकि चैतन्य ब्रह्मस्वरूप है। 'परन्तु मैं चेतन हूं' ऐसी जो प्रतीति रूप प्रसिद्धि है सो ब्रह्मका आनन्द नित्य मुक्त शुद्धत्वादिक विशेष रूपको विषय नहीं करती है, क्योंकि वादियोंका परस्पर विवाद होता है। जैसे शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान होनेसे यह रजत है, अथवा रंग है, अथवा अन्य कुछ है, ऐसा विवाद नहीं होता है। तैसे 'चेतनोहमस्मि' मैं चेतन हूं यह प्रसिद्धि यदि ब्रह्मका विशेष अंश आनन्दादिकोंको विषय करती तो वादियोंका आत्मामें जो विवाद होता है सो नहीं होना चाहिये और विवाद होता है। अतः वादियोंकी विप्रतिपत्तिरूप विवादकी अन्यथा अनुपपत्ति करके (अर्थात् आनन्दादिक विशेष अंशमें अज्ञातत्वसे विना वादियों-

का विवाद अनुपपन्न हुआ आनन्दादिकोंमें अज्ञातत्वको कल्पना करता है, इस अन्यथा अनुपपत्ति करके) चैतन्यादिक सामान्य रूपसे ब्रह्मको प्रसिद्ध हुये भी विशेषरूप करके अज्ञात होनेसे ब्रह्म जिज्ञास्य है। तथा विषयादिकोंकी भी सिद्धि होनेसे ग्रंथ विचार्य है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं। **'तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः'** इति भाष्यम्। तत् शब्द करके आत्माका ग्रहण करना, आत्माका आनंदादिक विशेष अंशमें विप्रतिपत्ति होनेसे विशेष अंशमें संशय होता है, संशय जिज्ञासाका प्रयोजक है, अतः ब्रह्म जिज्ञास्य है। तात्पर्य यह है, विवादका अधिकरण धर्मी सिद्ध ही होता है यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है, धर्मीकी सिद्धिके विना विवाद ही नहीं होता है। अर्थात् सत् चैतन्यरूप करके प्रसिद्ध ब्रह्मरूप धर्मीमें आनन्दादिक विशेष अंशोंको अज्ञात होनेसे आनन्दादिक विशेष अंशोंमें विप्रतिपत्ति होती है। अतः सामान्य रूप करके प्रसिद्ध जो धर्मी है सो विशेष रूप करके वेदान्त शास्त्रसे प्रतिपादन करनेको शक्य है। इस कहनेसे ब्रह्म तथा वेदान्त शास्त्रका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध सिद्ध हुआ। और अज्ञात अर्थका ज्ञापक होनेसे वेदान्त शास्त्रमें प्रामाण्यकी भी सिद्धि हुई। और निर्विशेष आत्मामें जो सामान्यविशेष भाव वर्णन किया है, सो सत् चित् आनन्दादिक पदोंके वाच्यअर्थका भेदको ग्रहण करके किया है, अतः कल्पित है ऐसा जानना।

अब विप्रतिपतिको दिखाते हुये प्रथम स्थूल दृष्टिवाले पुरुषोंके मतको दिखाते हैं। **देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मा** इति भाष्यम्। चैतन्य करके विशिष्ट जो देह है सो देह ही आत्मा है ऐसा प्राकृत जन तथा लोकायतिक कहते हैं। तहां शास्त्रका संस्कार करके रहित है बुद्धि जिनोंकी तिनोंका नाम प्राकृत जन है। और पृथिवी, जल, तेज, वायु इन भूतचतुष्टय तत्त्वोंको मानने वाले जो वादी हैं तिनका नाम † **लोकायतिक** है। ये लोक देहसे अतिरिक्त चैतन्यको स्वतंत्र अथवा अस्वतंत्र नहीं मानते हैं, किंतु देहाकार परिणामको प्राप्त हुआ जो भूतचतुष्टय तिनोंके अन्तर्गत ही चैतन्य है। जैसे पान, सुपारी, कत्था, चूना, यह चार वस्तुके मिलनसे जो लालिमा उत्पन्न होती है सो पानादिक चार वस्तुके ही अन्तर्गत है अतिरिक्त नहीं है। तैसे प्रसंगमें जानना। इसी अर्थको बोधनके लिये उक्त भाष्यवचनमें 'मात्र' पदको ग्रहण किया है। और मृत शरीरमें आत्मत्वकी निवृत्ति वास्ते चैतन्य पदको ग्रहण किया है। और 'मनुष्योऽहम्' मैं मनुष्य हूं, इस सामानाधिकरण्यप्रतीतिसे देहमें आत्मत्वकी सिद्धि होती है। क्योंकि 'नीलो घटः' इस स्थलमें जैसे नील पदार्थका घट पदार्थके साथ अभेद है। तैसे 'मनुष्य' पदार्थ देहका, 'अहं' पदका अर्थ जो आत्मा है तिस आत्माके साथ अभेद होनेसे देहही आत्मा है। और **भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेक-**

† इनका नाम ही चार्वाक है।

स्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् । अर्थ—भिन्न भिन्न है प्रवृत्तिका निमित्त जिनोंका ऐसे जो शब्द हैं, तिन शब्दोंकी एक अर्थमें जो शक्ति अथवा लक्षणा रूप वृत्ति है, तिसका नाम सामानाधिकरण्य है इति । जैसे 'नीलो घटः' इस स्थलमें नीलशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त नीलत्वरूप नीलगुण है, और घटशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त घटत्व जाति है, और नीलशब्द तथा घटशब्दकी शक्ति रूप वृत्ति एककंबुग्रीवादिमान् व्यक्तिमें है । तैसे 'मनुष्योऽहम्' इस स्थलमें मनुष्यशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त मनुष्यत्व है, और अहंशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त आत्मत्व है, और मनुष्य-शब्द तथा अहंशब्दकी शक्तिरूप वृत्ति एकअर्थ देहमें है । अतः देह ही आत्माहै यह सिद्ध हुआ इति ।

जो नेत्रादिक इन्द्रियोंको आत्मा मानते हैं, वह कहते हैं, कि यह लोकायति-कोंका मत असंगत है, क्योंकि जाग्रत्में नेत्रादिक इन्द्रियोंको विद्यमान हुये रूपादिकोंका ज्ञान होता है, और निद्रा समयमें देहको विद्यमान हुये भी नेत्रा-दिक इन्द्रियोंके अभाव हुये रूपादिकोंके ज्ञानका अभाव होता है, इस अन्वय व्यतिरेक करके ज्ञानका आश्रय इन्द्रिय सिद्ध होते हैं देह नहीं । तथा वृहदारण्यक उपनिषद्में यह प्रसंग है कि, सर्व इन्द्रिय मन प्राणादिकोंका परस्पर श्रेष्ठत्वमें विवाद हुआ है । तहां सर्व अपनेको श्रेष्ठ कहने लगे, पश्चात् श्रेष्ठत्वका निर्णयके लिये सर्व प्रजापतिके पास गये, और प्रजापतिसे सब कहने लगे कि भगवन् हमारेमें कौन श्रेष्ठ है, आप इस अर्थको निर्णय कर देवें । पश्चात् प्रजापतिने सर्व वागादिकोंके प्रति कहा कि तुम लोग इस स्थूल शरीरमेंसे एक एक निकलते जाओ, जिसके निकसनेसे यह शरीर अमंगल रूप हो जाय सो तुमारेमें श्रेष्ठ है । पश्चात् एक एक इन्द्रिय तथा मनके निकसनेसे शरीर अमंगलरूप नहीं हुआ किंतु वागादिकोंसे रहित होकर भी प्राण सहित होनेसे मंगल रूप बना रहा । और जब प्राण इस शरीरसे निकसनेकी इच्छा किया उसी समयमें यह शरीर कंपायमान हो कर अमंगलरूप होने लगा । तब सर्व इन्द्रियादिक प्राणके शरण होकर प्राणको स्वामी रूप मानते भये । इस प्रसंगसे यह सिद्ध हुआ कि विवाद चेतनोंका होता है, जड़का नहीं । अतः नेत्रादिक इन्द्रियोंको चेतनरूप होनेसे इन्द्रिय ही आत्मा है । और इन्द्रियनिष्ठ आत्मत्वमें युक्तिको भी दिखाते हैं । **इन्द्रियाणि, आत्मानः, अहं प्रत्ययगोचरत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा घटादि** । जैसे घट रूप दृष्टान्त आत्मत्वरूप साध्य वाला नहीं है, तैसे अहंप्रत्ययगोचरत्व रूप हेतुवाला भी नहीं है । और इन्द्रिय रूप पक्ष अहं प्रत्ययका विषयत्व रूप हेतुवाला है, अत आत्मत्व रूप साध्यवाला मानना चाहिये । इस व्यतिरेकि अनुमान करके इन्द्रियोंमें आत्मत्वकी सिद्धि जाननी । और काणोऽहं, बधिरोऽहं, इस प्रत्यक्ष समानाधिकरण प्रत्यय करके काणपद आदिका अर्थ काणत्वादिकधर्मविशिष्ट

इन्द्रियोंका, अहं पदका अर्थ आत्माके साथ अभेद सिद्ध होनेसे इन्द्रिय ही आत्मा है यह सिद्ध हुआ इति ।

यह भी इन्द्रियआत्मवादीका कहना असंगत है, क्योंकि स्वप्नमें नेत्रादिक इन्द्रियोंका अभाव हुये भी केवल मनमें ज्ञान देखनेमें आता है, अतः नेत्रादिक इन्द्रियोंमें आत्मत्व नहीं बन सकता है। किंतु मन ही आत्मा है। और मन चेतन है, इसमें बृहदारण्यक उपनिषत् ही प्रमाण है। और मननिष्ठ आत्मत्वमें युक्ति पूर्वोक्त प्रकार जाननी। और स्वप्नावस्थामें अहं प्रत्ययको विद्यमान होनेसे अहं प्रत्ययका विषयरूप करके मनरूप आत्मा सिद्ध होता है इति ॥

अब क्षणिक **विज्ञानवादी** योगाचार कहता है कि मन आत्मा नहीं हो सकता हैं। तहां युक्ति—**'मनो नात्मा, ज्ञेयत्वाज्जड़त्वाच्च, घटादिवत्'** अर्थ--जैसे घटमें ज्ञेयत्व तथा जड़त्व रूप हेतु है, अत आत्मत्वाभाव साध्य है। तैसे मनमें ज्ञेयत्व तथा जड़त्व रूप हेतु है। अत आत्मत्वाभाव साध्य मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके मनमें आत्मत्वका अभाव सिद्ध हुआ। और मनसे भी अन्तर बुद्धिरूप विज्ञान है, इस अर्थको तैत्तिरीय उपनिषत् प्रतिपादन करती है। **'अन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमयः'** अर्थ—मनसे भिन्न अन्तर आत्मा विज्ञानमय है। इति। और मनको क्षणिक विज्ञानका परिणाम होनेसे मन विज्ञानसे पृथक् नहीं है, किन्तु विज्ञान स्वरूप ही है। और विज्ञानसे भिन्न मनका कोई आश्रय भी नहीं है, किन्तु विज्ञान ही मनका आश्रय है। और क्षणिक विज्ञानको स्वयं प्रकाश होनेसे चैतन्यरूपता है। अतः चैतन्यरूप क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है मन नहीं, यह सिद्ध हुआ इति।

और **शून्यवादी माध्यमिक** कहता है कि यह क्षणिकविज्ञानवादीका कहना समीचीन नहीं, क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें विज्ञानका अभाव होनेसे क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं हो सकता है, किन्तु शून्य ही आत्मा है। और अकस्मात् अहं प्रत्ययका उदय होनेसे अहं प्रत्यय असत्‌रूप आत्माको विषय करता है। और असत् आत्मामें तैत्तिरीय श्रुति प्रमाण है-**असदेवेदमग्र आसीत्, असतः सज्जायते,** इति। अर्थ—सृष्टिसे पूर्व सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् असत्‌रूप होता भया, और सृष्टि कालमें असत्‌से ही सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता भया इति। इत्यादिक श्रुतिवचन तथा पूर्वोक्त युक्तियोंसे शून्य ही आत्मा सिद्ध होता है क्षणिक विज्ञान नहीं इति।

अब तार्किक आदिकोंका मत दिखाते हैं— **अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेत्यपरे** इति भाष्यम्। अर्थ—देहसे आदि लेके शून्यपर्यन्त जो वादियोंने आत्मा वर्णन किये हैं तिनसे भिन्न कर्मादिकोंका कर्ता तथा कर्मादिकोंके फलका भोक्ता आत्मा है इति। ऐसा **नैयायिकादिक** मानते हैं।

तहां पूर्व पूर्व मतका खंडन तो उत्तर उत्तर मत करके कर चुके हैं, और शून्य मतका खंडन भगवान् भाष्यकार *'अस्ति' पद करके करते हैं। **अस्तित्वं च शून्यातिरिक्तत्वम्** शून्यसे भिन्न वस्तुमें अस्तित्व रहता है इति। अत आत्मा शून्यसे भिन्न है शून्य नहीं। और 'अहमस्मीति' मैं हूं इस अनुभवका विषय भी शून्यसे भिन्न कर्ता भोक्ता रूप आत्मा है इति।

अब **सांख्य** मतको दिखाते हैं। सांख्य मतवाले कहते हैं कि 'अहं करोमि' इत्यादिक ज्ञान अहंकारनिष्ठ कर्तृत्वादिकोंको विषय करता है—अर्थात् अहंकार कर्मका कर्ता है, आत्मा नहीं। आत्मा तो कर्तृत्वादिक धर्मका अभाव वाला होनेसे शुद्ध चैतन्य रूप है। पुष्करपलाशवत् निर्लेप है। परन्तु **सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो हि भोगः।** अर्थ—सुखका साक्षात्कार अथवा दुःखका साक्षात्कार अर्थात् जानना रूप भोगका चैतन्यमें अवसान होनेसे चैतन्यरूप आत्मा भोक्ता है इति

पूर्वोक्त रीतिसे 'त्वं' पदार्थ आत्मामें विवादको दिखाकर, अब 'तत्' पदार्थमें विवादको दिखाते हैं। तहां **योगमत** वाले कहते हैं कि जीवसे भिन्न सर्वज्ञ सर्व शक्तिवाला तत्पदका अर्थ ईश्वर है इति।

अब स्वमतको दिखाते हैं। अविद्या उपाधिवाला भोक्ता जीवात्माका-तत्पदका अर्थ जो ईश्वर है सोई-स्वरूप है। अतः जैसे व्यापक महाकाशसे घटाकाशादिक अभिन्न है, तैसे ईश्वरसे अभिन्न जीव है इति। इस पूर्वोक्त प्रकारसे युक्ति और युक्त्याभ्यास, एवं वाक्य और वाक्याभासको आश्रयण करके बहुत वादी लोग परस्पर विवाद करते हैं। तहां सिद्धान्तीने युक्ति तथा वाक्यको आश्रयण किया है, और सिद्धान्तीसे भिन्न सबोंने युक्त्याभास तथा वाक्याभ्यासको आश्रयण किया है। और 'देहादिः, अनात्मा, भौतिकत्वात् दृश्यत्वाच्च, घटादिवत्, इत्यादिक युक्तियोंसे देहादिक आत्मा नहीं है। अर्थ स्पष्ट है। तथा **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** इत्यादिक सूत्रोंसे वादियों करके उक्त युक्तियोंमें तथा श्रुतिवाक्योंमें आभासत्वको वर्णन करेंगे।

शंका। विप्रतिपत्ति रहो और तन्निमित्तक संशय भी रहो, परन्तु जिस प्राणीकी जिस मतमें श्रद्धा है तिस मतका आश्रयण करनेसे तिस प्राणीका स्वार्थ सिद्ध हो जावेगा, ब्रह्ममीमांसाका आरंभ निष्फल है।

समाधान। तत्राविचार्य्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात्प्रतिहन्येतानर्थं चेयात् इति भाष्यम्। अर्थ—तहां पूर्वोक्त मतोंका विचार करके किसी मतको प्राप्त हुआ जो पुरुष है सो पुरुष कल्याण रूपी स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाता है उलटा अनर्थको प्राप्त होता है इति। तात्पर्य यह है-ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है यह वास्तवसे वेदका सिद्धान्त है। यदि इस सिद्धान्तको त्याग करके अन्य मतोंका आश्रयण पुरुष

* अस्ति तावद्ब्रह्म इति भाष्यम्।

करेगा तो अन्य मतोंमें प्रविष्ट पुरुषको ब्रह्मज्ञानका अभाव होनेसे मोक्षका अभाव होगा, किंच अपने आत्माका जो यथार्थ स्वरूप है इससे अन्य प्रकारका आत्माके स्वरूपको जाननेसे पाप होता है, तिस पाप करके संसार रूप अन्ध कूपमें पतनको प्राप्त होता है। तहां श्रुतिः **'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' 'ये के चात्महनो जनाः'**। **अर्थ**—जो पुरुष अपने आत्माका यथार्थ स्वरूपको नहीं जाना सो पुरुष अपने आत्माको नष्ट कर दिया। ऐसे आत्माको हनन करने वाले जो प्राणी हैं वह अन्धतमरूप संसार दुःखको प्राप्त होते हैं इति।

किं च

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किन्न तेन कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

अर्थ—जो पुरुष कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक धर्मशून्य सत् चित् आनन्द स्वरूप विद्यमान आत्माको कर्ता भोक्ता दुखी संसारी ऐसा जानता है सो आत्माको हरण करने वाला पुरुष किस किस पापको नहीं किया, किन्तु सर्व पापको किया इति।

इत्यादिक वचनोंसे अनर्थको ही प्राप्त होता है। अतः ब्रह्ममीमांसाका आरम्भ सफल है, और सर्व मुमुक्षु जनोंको मोक्षरूप फलके लिये वेदान्तका विचार ही कर्तव्य है।

अब सूत्रके अर्थको समाप्त करते हैं—**तस्मादित्यादि** भाष्यम्। १ बंधमें अध्यस्तत्वकी सिद्धि करके, २ तथा पूर्वमीमांसा करके वेदान्तमीमांसामें अगतार्थत्वकी सिद्धि करके, ३ तथा अधिकारीकी सिद्धि करके, ४ तथा ब्रह्मकी आपात प्रसिद्धि करके, जिस विषय प्रयोजन संबंधादिक अनुबन्धकी सिद्धि हुई तिस अधिकारी आदिकोंकी सिद्धि होनेसे जिज्ञासा द्वारा वेदान्त विषयक जो पूजित विचार है, कैसा विचार है—वेदान्तसे भिन्न न्याय पूर्वमीमांसादिक शास्त्रमें स्थित जो वेदान्तका अविरोधि तर्क है सो तर्क है उपकरण (सहायक) जिस विचारका, तिस शारीरक मीमांसा रूप विचारको भगवान् सूत्रकार आरम्भ करते हैं।

शंका। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें विचारका वाचक पदका अभाव होनेसे विचारका आरम्भ नहीं बन सकता है।

समाधान। ब्रह्मजिज्ञासा पदसे ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका कथन द्वारा इच्छासाध्य विचारमें लक्षणा करके विचारनिष्ठ कर्तव्यताको सूत्रकार बोधन करते हैं, अतः विचारका आरम्भ बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रथम सूत्रका अर्थ चार प्रकार का कहा॥

शंका। यह सूत्र शारीरक शास्त्रसे बाहर रहकर शास्त्रका आरम्भको बोधन करता है, अथवा शास्त्रके अन्तर्गत होकर शास्त्रका आरम्भको बोधन करता है? यदि प्रथम पक्षको अङ्गीकार करोगे तो यह प्रथम सूत्र हेय होगा,

क्योंकि शास्त्रके साथ संबन्ध नहीं हुआ। यदि द्वितीय पक्षको अङ्गीकार करोगे तो आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि शास्त्रके अन्तर्गत हुआ जब शास्त्रका आरम्भक यह सूत्र हुआ, तब अपना आरम्भक भी आप ही हुआ, अतः स्वउत्पत्तिमें स्वकी अपेक्षा रूप आत्माश्रय दोषको होनेसे द्वितीय पक्ष असंगत है। और दूसरा आरम्भक कोई दीखता नहीं, अतः शास्त्रका आरम्भ नहीं बन सकता है।

समाधान। जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' स्वाध्याय जो वेद है सो अध्ययन करनेको योग्य है, यह अध्ययनविधि आप वेदके अन्तर्गत हुई अपने सहित वेदका अध्ययनको बोधन करती है। तैसे 'श्रोतव्यः' इस श्रवणविधि करके आरब्ध जो यह सूत्र है सो शास्त्रके अन्तर्गत हुआ अपने सहित शास्त्रका आरम्भको प्रतिपादन करता है। और जैसे अध्ययनविधि स्थलमें आत्माश्रय दोषका स्वीकार नहीं है, तैसे इस स्थलमें भी आत्माश्रय दोषका स्वीकार नहीं है। अतः निर्दोष है। इति प्रथमसूत्रव्याख्या समाप्ता ॥१॥

॥ इति जिज्ञासाधिकरणं समाप्तम् ॥

प्रथम सूत्रसे शास्त्रका आरम्भको प्रतिपादन करके शास्त्रका आरम्भ करनेकी इच्छा वाले भगवान् भाष्यकार पूर्व अधिकरण तथा उत्तर अधिकरण-की संगतिको कहने वास्ते पूर्व वृत्तान्तको कहते हैं। **ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्।** इति भाष्यम् अर्थ—मुमुक्षु पुरुष करके ब्रह्मज्ञानके वास्ते वेदान्त शास्त्रका विचार करनेको योग्य है इति। यह पूर्व कथन कर आये हैं। तहां प्रधान ब्रह्मका विचारको प्रतिज्ञाका विषय होनेसे, गौण ब्रह्मप्रमाण ब्रह्मयुक्ति इत्यादिक विशिष्ट विचार भी प्रतिज्ञाका विषय हो चुका। और 'ब्रह्मप्रमाणं, ब्रह्मयुक्ति:'— इत्यादिक स्थलमें विशेषण जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मरूप विशेषणके ज्ञानसे विना ब्रह्मविशिष्ट प्रमाणादिकोंका विचार नहीं बन सकता है। अतः ब्रह्म स्वरूपका ज्ञानके वास्ते प्रथम ब्रह्मका लक्षण कहना चाहिये। और जिस लक्षणसे ब्रह्मका ज्ञान हो सो लक्षण बन सकता नहीं, इस अर्थको पूर्वपक्षी दिखाता है।

शंका। किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्म इति भाष्यम्। अर्थ—किं शब्दका अर्थ आक्षेप है, क्या लक्षणवाला ब्रह्म है-अर्थात् ब्रह्मका लक्षण नहीं है इति। इस आक्षेपका यह अभिप्राय है कि जिस जिस वस्तुका अनुभव करते हैं सो सर्व वस्तु परिमित है, तथा अविशुद्ध है, अबुद्ध है, नाशवान् है। अतः—अनुभूत इन परिमिता-दिक वस्तु रूप जगत् करके इनसे विरुद्ध अर्थात् अपरिमित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य स्वभाव ब्रह्मका स्वरूप जाननेको अशक्य है। अर्थात् जैसे कोई पुरुष कृतकत्व रूप लक्षण करके कदाचित् भी नित्य वस्तुको लक्ष्य नहीं जान सकता है, तैसे परिमितादिक वस्तु रूप लक्षण करके ब्रह्मको लक्ष्य नहीं जान सकता है। और नित्यत्वादिक धर्मको अनुपलब्ध होनेसे नित्यत्वादिक धर्मरूप लक्षण करके भी ब्रह्मको लक्ष्य नहीं जान सकता है। और जो धर्म प्रसिद्ध होता है सोई लक्षण

होता है, और जो अत्यन्त अप्रसिद्ध धर्म है सो लक्षण होता नहीं। अतः लक्षण-का अभाव होनेसे ब्रह्म जिज्ञासितव्य नहीं है इति ।

समाधान। इस आक्षेपको भगवान् सूत्रकार खंडन करते हैं **'जन्माद्यस्य यतः'** इति। यद्यपि अनुभूयमान जगत् ब्रह्मका धर्मरूप करके अथवा तादात्म्य करके लक्षण नहीं हो सकता है। तथापि जगत्को कार्यरूप होनेसे जगत् अपने कारणको अवश्य बोधन करता है। क्योंकि कारणसे विना कार्य होता नहीं। इस नियमसे ब्रह्मका जो लक्षण सिद्ध हुआ तिस लक्षणको इस सूत्रके व्याख्यान-में निरूपण करेंगे, अतः ब्रह्म जिज्ञास्य है इति। और ब्रह्मलक्षणका आक्षेप करके 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रका उत्थान होनेसे प्रथम सूत्रके साथ इस सूत्रका आक्षेपसंगति रूप सम्बन्ध सिद्ध हुआ। और ब्रह्मके लक्षणको द्योतन करने वाले, तथा स्पष्ट हैं ब्रह्मके लिंग जिनोंमें, ऐसे वेदान्त वाक्योंका लक्ष्यब्रह्ममें समन्वयको यह सूत्र कथन करता है। अतः-इस सूत्रकी श्रुतिके साथ, शास्त्रके साथ, अध्यायके साथ, पादके साथ संगति जाननी।

अथ अधिकरण रचनाको दिखाते हैं—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।** इत्यादिक वाक्य इस सूत्रके **विषय** हैं। **अर्थ**—जिस सत् चैतन्य आनन्द रूप आत्मा-से आकाशादिक भूत उत्पन्न होते हैं। और जिस करके उत्पन्न हुये जीवनको प्राप्त होते हैं। और जिसमें म्रियमाण हुये प्रवेशको प्राप्त होते हैं। सो जिज्ञासा करनेको योग्य है, और सोई ब्रह्म है इति। अर्थात् आकाशादिक प्रपंच ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, और ब्रह्ममें ही प्रलय पर्यन्त स्थित होता है, और प्रलयमें ब्रह्म विषे ही लयभावको प्राप्त होता है इति। यहां 'यतो वा इमानि' इत्यादिक श्रुतिवाक्य ब्रह्मके लक्षणको कथन करता है या नहीं ऐसा **सन्देह** है।

अथ **पूर्वपक्ष।** यह वाक्य ब्रह्मके लक्षणको नहीं कहता है, क्योंकि यह श्रुति जो जगत्के जन्मादिकोंको कहती है, सो जन्मादिक जगत्का असाधारण धर्म है, ब्रह्मका नहीं। और जो सिद्धान्ती ऐसा कहे कि **यत्र जगदुपादानत्वे सति कर्तृत्वं तत्र ब्रह्मत्वम्** अर्थ—जहां जगत्का उपादानत्वविशिष्टकर्तृत्व रहता है तहां ब्रह्मत्व रहता है इति। जैसे ब्रह्ममें जगत्का उपादानत्व तथा कर्तृत्वरूप हेतु है, और ब्रह्मत्वरूप साध्य है। इस अनुमान करके 'जगदुपादानत्वे सति कर्तृत्वम्' यह ब्रह्मका लक्षण बन सकता है। सो कहना बने नहीं, क्योंकि जो कर्ता होता है सो उपादान होता है ऐसा लोकमें कोई दृष्टान्त देखनेमें आता नहीं। और जैसे मृत्तिकादिकरूपउपादानसे भिन्न कुलालादिकरूप कर्ता जो लोकमें प्रसिद्ध हैं तिनोंमें ब्रह्मत्व नहीं। तैसे उपादानसे भिन्न ब्रह्मको यदि कर्ता मानोगे तो ब्रह्म-में ब्रह्मत्व ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि त्रिविधपरिच्छेदशून्य जो वस्तु है सो

ब्रह्म है। जब उपादानसे भिन्न ब्रह्मको कर्ता मानोगे तब उपादानभिन्नत्वरूप वस्तुपरिच्छिन्नत्वको ब्रह्ममें विद्यमान होनेसे ब्रह्म त्रिविधपरिच्छेदशून्य नहीं होगा।

अथ **सिद्धान्त पक्ष**। यद्यपि अप्रतिष्ठित तथा पुरुषका तर्क मात्र जो अनुमान है, सो ब्रह्मरूप अतीन्द्रिय अर्थमें स्वतंत्र प्रमाणरूप नहीं हो सकता। तथापि श्रुतिका अनुग्राहकत्वरूप करके प्रमाणरूप ही है। अतः-अपौरुषेय होनेसे निर्दोष जो **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय** इत्यादिक श्रुति हैं, तिन श्रुतियों करके सिद्ध जो ब्रह्मनिष्ठ उभयकारणत्व (अर्थात् 'तदैक्षत' इस भाग करके ब्रह्मनिष्ठ ईक्षणका कर्तृत्वरूप निमित्तत्व को बोधन किया है, और उत्तर भाग करके उपादानकारणत्वको बोधन किया है) तिस उभयविध कारणत्वको घटेश्वरसंयोगादिक दृष्टान्त करके सिद्ध कर सकते हैं। तहां अनुमान प्रकारको दिखाते हैं। **प्रपञ्चः, अभिन्ननिमित्तोपादानकः, कार्यत्वात्, घटेश्वरसंयोगादिवत्** अर्थ--प्रपंच पक्ष है, तथा अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व साध्य है, कार्यत्व हेतु है, घटेश्वरसंयोगादि दृष्टान्त हैं इति। जैसे नैयायिकोंके मतसे दृष्टान्त जो घटका ईश्वरके साथ संयोग है, तिसमें कार्यत्वरूप हेतु है, और अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व साध्य है। क्योंकि एक ईश्वरमें घटसंयोगका समवायिकारणत्वरूप उपादानत्व है, तथा ईश्वरको कार्यत्वावच्छिन्न कार्य मात्रके प्रति साधारण कारण होनेसे निमित्तकारणत्वरूप कर्तृत्व भी है। तैसे प्रपंचरूप पक्षमें कार्यत्वरूप हेतु है, अतः-अभिन्ननिमित्तोपादानकत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये। एक है निमित्त तथा उपादान जिसका तिसका नाम अभिन्ननिमित्तोपादानक है। और अभिन्ननिमित्तोपादानकके धर्मका नाम अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व है। जब प्रपंचरूप पक्षमें अभिन्ननिमित्तकत्वरूप सकर्तृकत्व, तथा उपादानकारणकत्व सिद्ध हुआ, तब प्रपंचका उपादानत्व तथा कर्तृत्वको ब्रह्मका असाधारण धर्म होनेसे 'जगदुपादानत्वे सति कर्तृत्वम्' यह ब्रह्मका लक्षण निर्दोष है। और इस निर्दोष लक्षणको ही व्यास भगवान् सूत्रसे दिखाते हैं:--

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

यद्यपि यह सूत्र जैसे ब्रह्ममें जगत्की उत्पत्ति, तथा स्थिति, तथा लयका कारणत्वको बोधन करता है। एवं आगे 'प्रकृतिश्च' इस अधिकरण सूत्रसे भी सिद्ध किया है कि ब्रह्ममें जगत्का कर्तृत्व मात्ररूप कारणत्वको ही नहीं ग्रहण करना, किंतु कर्तृत्व उपादानत्व उभयरूप जगत्का कारणत्वको ग्रहण करना। तथापि यहां वक्ष्यमाण उभयविध कारणत्वको सिद्धवत् मान करके 'जगदुपादानत्वे सति कर्तृत्वं' यह लक्षण कहा है, अतः पुनरुक्ति दोष भी नहीं होता है।

शंका। सर्व धर्म शून्य निर्गुण जिज्ञास्य ब्रह्मका पूर्वोक्त कारणत्व लक्षण नहीं बन सकता है।

समाधान। रजतं शुक्तेर्लक्षणं, यद्रजतं सा शुक्तिरिति। अर्थ—जैसे भ्रमस्थलमें शुक्तिका लक्षण रजत है, और जो रजत है सोई शुक्ति है इति। ऐसा व्यवहार होता है। तैसे '**यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्मेति**' अर्थ–जो जगत्‌का कारण है सो ब्रह्म है इति। इस व्यवहारसे जो कल्पित अध्यासाधिष्ठानत्व रूप कारणत्व है सो ब्रह्मका लक्षण बन सकता है इति। अब सूत्रके अवयवोंका अर्थको वर्णन करते हैं।

'**जन्माद्यस्य यतः**' इति सूत्रम्। अर्थ—'जन्म' शब्दका अर्थ 'उत्पत्ति' है। और समासघटक 'आदि' शब्दका अर्थ 'प्रथम है। और समस्त 'जन्मादि' शब्दका अर्थ जन्मस्थितिभंग है। और 'इदम्' शब्दका अर्थ स्थूल, सूक्ष्म, प्रपंच है। षष्ठी विभक्तिका अर्थ सम्बन्ध है। यत् शब्दका अर्थ सत् चित् आनन्द रूप ब्रह्म है। पञ्चमी विभक्तिका अर्थ हेतु है। अब वाक्यके अर्थको दिखाते हैं। जिस सत् चित् आनन्द रूप आत्मासे इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, भंग होता है सो ब्रह्म है इति। तात्पर्य यह है 'जन्म आदिर्यस्येति जन्मादि' अर्थात् जन्म है आदिमें कहिये प्रथममें 'यस्य' कहिये जिस जन्मस्थितिभंगका, तिस जन्मस्थितिभंगका नाम 'जन्मादि' है। यह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है। और यह नियम है कि बहुव्रीहि समासमें जितने पदार्थ होते हैं सो सर्व वाक्यके अर्थ अन्यपदार्थके विशेषण होते हैं। जैसे 'चित्रा गावो यस्य असौ चित्रगुः' यह बहुव्रीहि समास है। यहां चित्र तथा गोपदका अर्थ चित्रगौ है, और 'चित्रगुः' इस शब्दका अर्थ जो अन्य पदार्थ देवदत्त है, तिस देवदत्तका चित्रगौ विशेषण है। तैसे 'जन्मादि' यहां नपुंसक एक वचन करके बोधित जो समाहार रूप 'जन्मस्थितिभंग' है तिसका विशेषण जन्म है। और समासका अर्थ जो जन्मस्थितिभंग है, तिसका एक देश रूप जो 'जन्म' है, तिस जन्मका गुणत्व रूप करके संविज्ञान है जिस 'जन्मादि' बहुव्रीहि समासमें, तिस समासका नाम तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि* है। और केवल '**जगज्जन्मकारणत्वं**' इतना मात्र ब्रह्मका लक्षण नहीं कह सकते, क्योंकि स्थिति प्रलयका कारणसे भिन्न रूप करके ज्ञात वस्तुमें ब्रह्मत्व जाननेको अशक्य है। अतः जन्म, स्थिति, भंग करके निरूपित जो तीन प्रकारका कारणत्व है, सो तीन प्रकारका कारणत्व मिलकर ही ब्रह्मका लक्षण है ऐसा जानना। और इस अर्थको आगे समीपमें ही तटस्थ लक्षणके निरूपणमें स्पष्ट करके दिखावेंगे।

शंका। संसारको अनादि होनेसे संसारके अन्तर्गत जन्मको भी अनादि मानना होगा। और जन्मको अनादि होनेसे जो जन्ममें भाष्यकारने उत्पत्तित्वरूप आदित्व वर्णन किया है सो असंगत होगा।

---

* अन्यपदार्थान्वयिनि वर्त्तिपदार्थान्वयो यत्र स तद्गुणसम्विज्ञानो बहुव्रीहिः।

समाधान । भाष्यकारने जो जन्ममें आदित्व वर्णन किया है सो श्रुति-निर्देशकी अपेक्षासे तथा वस्तुवृत्तान्तकी अपेक्षासे कहा है, अतः-असंगत कहना बने नहीं । तहां श्रुतिनिर्देशको दिखाते हैं । **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।** इत्यादिक श्रुतिवाक्यमें, जन्म, स्थिति, भंगका क्रम देखनेमें आता है । यदि जन्मादि अनादि होते तो इनका क्रम नहीं होता । और 'जायन्ते' इस पद करके श्रुति, जन्ममें उत्पत्तित्वरूप आदित्वको साक्षात् बोधन करती है । और वस्तु-वृत्तान्तसे भी जन्ममें आदित्व देखनेमें आता है, क्योंकि जन्म करके लब्ध सत्ता-वाले पदार्थोंकी स्थिति तथा प्रलयका सम्भव होता है ।

शंका । सूत्रमें जो 'अस्य' पद है सो 'इदं' शब्दका रूप है, और 'इदं' शब्दको चक्षुरादिक इन्द्रिय जन्य ज्ञानका विषय जो सन्निहित प्रत्यक्ष अर्थ मात्र है तिसका वाचक होनेसे 'अस्य' इस पद करके यावत् स्थूल सूक्ष्म प्रपंचका बोध हो सकता नहीं, किंतु सन्निहित प्रत्यक्ष अर्थ मात्रका ही बोध होगा । जब ऐसा हुआ तब प्रत्यक्ष अर्थ मात्रका ही जन्म स्थिति भंगको यह सूत्र बोधन करेगा, कार्यत्वावच्छिन्न यावत् कार्य मात्रका जन्म स्थिति भंगको नहीं बोधन करेगा । और जब बोधन नहीं किया तब 'जगदुपादानत्वे सति कर्तृत्वं' यह ब्रह्मका लक्षण असङ्गत होगा ।

समाधान । प्रसंगमें **प्रतीतिमात्रं संनिधिरिति ।** अर्थ—ज्ञान मात्रका नाम संनिधि है इति । इस अभिप्रायसे भाष्यकारने कहा है **प्रत्यक्षादिसंनिधा-पितस्य धर्मिण इदमा निर्देशः ।** अर्थ—प्रत्यक्षसे आदि लेके जो अनुमित्यादिक प्रतीतिमात्र हैं तिन प्रतीतिमात्र करके बोधित आकाशादिक कार्यमात्र रूप धर्मीका इदं शब्द करके कथन किया है इति । अतः पूर्वोक्त लक्षण समीचीन है ।

शंका । आकाशादिक प्रपंचको नित्य होनेसे आकाशादिकोंका जन्मके साथ सम्बन्ध बन सकता नहीं ।

समाधान । 'अस्य' यहां इदं शब्दसे उत्तर जो षष्ठी विभक्ति है तिसका अर्थ जन्मादिकोंका संबंध है, अर्थात् सम्बंधमें षष्ठी है । और आकाशादिक महाभूतोंका जन्मादिकोंके साथ सम्बन्धको आगे 'वियत्' अधिकरणमें स्पष्ट करके दिखावेंगे ।

शंका । जगत्के जन्मादिकोंके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध बन सकता नहीं, अतः जन्मादिक ब्रह्मका लक्षण हो सकता नहीं ।

समाधान । जन्मादिकोंका कारणत्व ब्रह्मका लक्षण है जन्मादिक नहीं, इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं । **'यतः' इति कारणनिर्देशः ।** अर्थ—सूत्रमें जो 'यत्' शब्द है सो सत्य, ज्ञान, अनन्त आनन्दरूप वस्तुको बोधन करता है, और 'यत्' शब्दसे

उत्तर पंचमी विभक्ति कारणत्वको कहती है इति। और **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते** इत्यादिक श्रुति करके आनन्द स्वरूप ब्रह्ममें ही जन्मादिकोंका कारणत्वको निर्णीत होनेसे ब्रह्मका जन्मादिकारणत्वरूप ही लक्षण सिद्ध होता है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्मका दो प्रकारका लक्षण सिद्ध हुआ—एक तो तटस्थ लक्षण, दूसरा स्वरूप लक्षण। तहां प्रथम तटस्थ लक्षणको दिखाते हैं **कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्** । अर्थ—जो लक्षण अपने लक्ष्यमें कदाचित् वर्तता हुआ अपने लक्ष्यको दूसरे अलक्ष्य पदार्थोंसे जुदा करके जनावे सो तटस्थलक्षण कहा जाता है इति। जैसे न्यायमतमें गंधवत्त्व पृथ्वीका तटस्थलक्षण है। क्योंकि जो द्रव्य उत्पन्न होता है सो प्रथमक्षणमें निर्गुण उत्पन्न होता है, पश्चात् द्वितीय क्षणमें गुण उत्पन्न होता है। इस रीतिसे प्रथम क्षणमें उत्पन्न घटादिक पृथ्वीमें गंध गुण रहता नहीं। एवं महाप्रलयमें सर्व भावकार्यका नाश न्यायमतमें मानते हैं। और जैसे रूपादिक नित्य तथा अनित्य इस भेदसे दो प्रकारके मानते हैं। तहां जलीयादिक परमाणुमें नित्य रूप है और द्व्यणुकादिकोंमें अनित्य रूप है। ऐसा गंधको मानते नहीं, किंतु अनित्य ही मानते हैं। अतः महाप्रलयमें परमाणुरूप पृथ्वीनिष्ठ गंध रहता नहीं। किंतु मध्यकालमें ही रहता है। इस रीतिसे गंध गुण कादाचित्क है। और अपना आश्रयरूप लक्ष्य पृथ्वीको अलक्ष्य दूसरे जलादिकोंसे जुदा करके जनाता है। अतः गंधवत्त्वको कादाचित्क होनेसे तथा व्यावर्तक होनेसे पृथिवीका गंधवत्त्व लक्षण तटस्थलक्षण है। इसी प्रकार तत्पदार्थ रूप ब्रह्मका भी **'जन्मस्थितिलयकारणत्वम्'** यह तटस्थलक्षण है। क्योंकि जन्म, स्थिति, लयका कारणत्व ब्रह्ममें सदा रहता नहीं, किंतु मायाकी अधिष्ठानता कालमें ही रहता है। अतः जन्मस्थितिलयकारणत्व कादाचित्क है। और सांख्य नैयायिकादिकोंको संमत जो जगत्के कारण प्रधान, परमाणु, आदिक तिनोंसे ब्रह्मरूप लक्ष्यको भिन्न करके जनाता है। इस रीतिसे कादाचित्क होनेसे तथा व्यावर्तक होनेसे जन्मस्थितिलयकारणत्व ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है।

तहां **'लयकारणत्वं'** इतना मात्रही ब्रह्मका लक्षण करते तो ब्रह्ममें केवल उपादानकारणत्व सिद्ध होता है। क्योंकि जो कार्य जिस कारणमें लयको प्राप्त होता है तिस कार्यके प्रति तिस कारणमें केवल उपादानकारणत्व ही देखनेमें आता है। जैसे घटके लयका कारण मृत्तिकामें घटका केवल उपादानकारणत्व ही है, निमित्तकारणत्व नहीं। तैसे जब ब्रह्मको केवल उपादान कारण ही मानोगे तब ब्रह्मसे भिन्न ही दंडादिवत् जगत्का निमित्त कारण मानना होगा। यदि ऐसा मानोगे तो अद्वैत सिद्धान्तका विरोध होगा। एवं **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इत्यादिक श्रुतिका भी विरोध होगा। इन दोषोंकी निवृत्तिके लिये स्थितिकारणत्वको कहा है। स्थितिकारणत्वशब्दका अर्थ पालनकर्तृत्व है।

और पालनकर्तृत्वरूप निमित्तकारणत्वको ब्रह्ममें रहनेसे पूर्वोक्त दोष होता नहीं, अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त निमित्त कारणकी अपेक्षाका अभाव होनेसे दोष नहीं है। और **'स्थितिलयकारणत्वं'** इतना मात्र ही यदि ब्रह्मका तटस्थ लक्षण करेंगे तो, जैसे घटकी उत्पत्तिमें, स्थिति तथा लयका कारण जो कुलाल तथा मृत्तिका है, तिससे भिन्न दंडादिक निमित्त कारण हैं। तैसे जगत्की स्थिति लयका कारण जो ब्रह्म है तिससे भिन्न ही कोई जगत्की उत्पत्तिमें निमित्त कारण कहना होगा। जब ऐसा मानोगे तब पुनः पूर्वोक्त श्रुतिविरोधादिक दोष होगा। इस दोषको दूर करनेके वास्ते लक्षणमें जन्मकारणत्व यह पद कहा है। इस पदको कहनेसे पूर्वोक्त दोष होता नहीं। क्योंकि ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्तिका निमित्त कारण है, ब्रह्मसे भिन्न निमित्तकारणकी अपेक्षा रही नहीं। किंच **'जन्मस्थितिकारणत्वं'** इतना ही ब्रह्मका तटस्थ लक्षण करते तो, जैसे कुलाल घटकी उत्पत्ति तथा घटका पालन रूप स्थितिका निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं, किंतु उपादान कारण कुलालसे भिन्न मृत्तिका है। तैसे ब्रह्म भी जगत्की उत्पत्ति तथा स्थितिका निमित्त कारण ही सिद्ध होगा, उपादानकारण नहीं किंतु ब्रह्मसे भिन्न ही कोई उपादान कारण मानना होगा। यदि ऐसा मानोगे तो वेदान्त सिद्धान्तका विरोध होगा। इस दोषकी निवृत्तिके लिये पूर्वोक्त ब्रह्मके तटस्थ लक्षणमें लयकारणत्वको कहा है। इस कहनेसे पूर्वोक्त दोष होता नहीं, क्योंकि ब्रह्ममें लयकारणत्वरूप उपादानकारणत्वको विद्यमान हुये ब्रह्मसे अतिरिक्त लयका कारणरूप उपादान कारणकी अपेक्षा रही नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तउपादानकारण सिद्ध हुआ, अर्थात् एक ही ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है, तथा निमित्त कारण है।

इस कहनेसे ब्रह्मका यह तटस्थ लक्षण सिद्ध हुआ **'जगदुपादानत्वे सति जगत्कर्तृत्वम्'** अर्थ—जगत्का उपादानत्वविशिष्ट जो कर्तृत्व है सो ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है इति। तहां **'जगदुपादानत्वम्'** इतना मात्र ही यदि ब्रह्मका तटस्थ लक्षण करें तो मायामें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि शुद्ध ब्रह्ममें तो जगत्की उपादानता है नहीं किन्तु मायाविशिष्ट ब्रह्ममें है। और विशिष्टवृत्ति जो धर्म होता है सो विशेषणमें भी रहता है। यहां मायाविशिष्ट ब्रह्ममें जगत्का उपादानत्व है, अतः विशेषण जो माया है तिस मायामें भी उपादानत्व रहेगा, और **'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'** यह श्रुति भी मायामें उपादानत्वको कहती है। तिस अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके वास्ते लक्षणमें 'कर्तृत्वं' यह पद कहा है। इस पदको कहनेसे मायामें अतिव्याप्ति होती नहीं, क्योंकि **कर्तृत्वं च स्वोपादानापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं।** अर्थ—कर्तामें कर्तृत्व क्या है? स्वपद करके

कार्यको ग्रहण करना। जैसे घटका उपादान कारण जो मृत्तिका है तिस मृत्तिकाका जो कुलालको अपरोक्ष ज्ञान (अर्थात् इस मृत्तिका से घट होगा ऐसा) तिस अपरोक्ष ज्ञान करके जन्य कुलालको इच्छा होती है कि 'मैं घटको करू' पश्चात् इच्छा करके जन्य कुलालमें घट करनेके लिये कृति होती है जिसको प्रयत्न भी कहते हैं। अर्थात् कुलालमें जो ज्ञानादिक तीन हैं तिन तीनोंका नाम कर्तृत्व है इति। और उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान, इच्छा, कृतिवालेका नाम कर्ता है। इस प्रकार कर्तृत्व चेतनमें ही बन सकता है, जड़ मायामें नहीं। अतः मायामें कर्तृत्वका अभाव होनेसे जगदुपादानत्वविशिष्टकर्तृत्वका भी अभाव सिद्ध हुआ। इस करके मायामें लक्षणकी अतिव्याप्ति होती नहीं। और 'जगत्कर्तृत्वं' इतना मात्र ही लक्षण करते तो नैयायिकोंके अभिमत ईश्वरमें लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि नैयायिक भी ईश्वरमें केवल जगत्का कर्तृत्वको मानते हैं। तिस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिये 'जगदुपादानत्वं' यह पद कथन किया है। तहां नैयायिकने जगत्का उपादानकारण परमाणुको माना है, तथा ईश्वरको कर्ता माना है, इस प्रकार उपादानका तथा कर्ताका भेद स्वीकार किया है। और हमारे सिद्धान्तमें जो उपादान है सोई कर्ता है, इस प्रकार उपादानका तथा कर्ताका अभेद माना है। अतः नैयायिक अभिमत ईश्वरमें जगदुपादानत्वका अभाव होनेसे 'जगदुपादानत्वे सति जगत्कर्तृत्वं' इस लक्षणकी अतिव्याप्ति होती नहीं।

और तटस्थलक्षणका ज्ञान हुये भी स्वरूपलक्षणका ज्ञानसे विना ब्रह्मका यथावत् ज्ञान नहीं हो सकना, अतः स्वरूपलक्षणको दिखाते हैं। **स्वरूपं सत् व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणं**। जो लक्षण अपने लक्ष्यका स्वरूपभूत हुआ अपने लक्ष्यको दूसरे अलक्ष्यसे जुदा करके जनावे सो लक्षण स्वरूपलक्षण कहा जाता है। जैसे पृथिवीका पृथिवीत्व स्वरूप लक्षण है, क्योंकि सिद्धान्तमें जाति तथा व्यक्ति दोनोंका तादात्म्य स्वीकार किया है। अतः पृथिवीत्व जातिका पृथिवीके साथ तादात्म्य होनेसे सो पृथिवीत्व जाति पृथिवी स्वरूप हुई तिस पृथिवीको दूसरे अलक्ष्य जलादिकोंसे भिन्न करके जनाती है, इस वास्ते सो पृथिवीत्व पृथिवीका स्वरूप लक्षण है। तैसे **सत्य, ज्ञान, आनन्द** यह तीनों ब्रह्मके स्वरूप लक्षण हैं। तहां सत्यादिक तीनों ब्रह्मके स्वरूपभूत हुये लक्ष्य ब्रह्मको अलक्ष्य असत् जड़ दुःखरूप जगत्से जुदा करके जनाते हैं। अतः सत्यादिक ब्रह्मके स्वरूप लक्षण हैं।

शंका। यदि सत्य ज्ञान आनन्दको ब्रह्मका स्वरूप मानोगे तो सत्यादिक ब्रह्मके लक्षण नहीं होंगे, तथा ब्रह्म सत्यादिक लक्षणोंका लक्ष्य नहीं होगा, क्योंकि अभिन्न पदार्थोंका परस्पर लक्ष्यलक्षणभाव होता नहीं, किन्तु विभिन्न पदार्थोंका परस्पर लक्ष्यलक्षणभाव होता है। जो कदाचित् अभिन्न पदार्थोंका भी

लक्ष्यलक्षणभाव होताहोवे तो पृथिवीसे अभिन्न जो पृथिवी है सो पृथिवी भी पृथिवीका लक्षण होना चाहिये। तथा ब्रह्म ब्रह्मका लक्षण होना चाहिये।

समाधान। यद्यपि सत्यादिक वास्तवसे ब्रह्मके स्वरूप ही हैं, तथापि सिद्धान्तमें जो सत्यादिकोंमें ब्रह्मका कल्पित भेद स्वीकार किया है तिस कल्पित भेदको अङ्गीकार करके ब्रह्मका तथा सत्यादिकोंका लक्ष्यलक्षणभाव बन सकता है। इस अर्थको वृद्धोंने भी कहा है—**आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेतिसन्ति धर्माः। ब्रह्मणोऽपृथक्त्वेपि पृथगिवावभासन्ते।** अर्थ—आनन्द तथा विषयानुभव कहिये ज्ञान तथा नित्यता (सत्यत्व) यह तीनों धर्म ब्रह्मके हैं, और तीनों धर्म वास्तवसे ब्रह्मसे अपृथक् हुये भी पृथक् हुये की न्यांई प्रतीत होते हैं।

शंका। जब सत्यादिक धर्म वास्तवसे ब्रह्मरूप ही हैं, तब ब्रह्मसे पृथक् होके किस कारणसे प्रतीत होते हैं?

समाधान। उपाधि करके तिन सत्यादिकोंकी ब्रह्मसे पृथक् प्रतीति हो सकती है। इस अर्थको दिखाते हैं—तहां बाधाभावविशिष्ट चैतन्य सत्यपदका वाच्य अर्थ है। और नेत्रादिजन्य वृत्तिअवछिन्न चैतन्य ज्ञानपदका वाच्य अर्थ है। पुण्यजन्य आनन्दाकार वृत्तिअवछिन्न चैतन्य आनन्दपदका वाच्य अर्थ है। अतः सत्यादिकोंका तथा ब्रह्मका वास्तवसे भेदका अभाव हुये भी उपाधि करके भेदको विद्यमान होनेसे ब्रह्मका तथा सत्यादिकोंका लक्ष्यलक्षणभाव बन सकता है इति।

तहां **'सत्यं ब्रह्म'** इतना ही लक्षण करते तो नैयायिकके मतसे सत्ताजातिमें अतिव्याप्ति होती। क्योंकि सत्ताजातिको नित्य मानते हैं। तिस अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये लक्षणमें ज्ञान पद कहा है। ज्ञानपदको कहनेसे सत्ताजातिमें अतिव्याप्ति होती नहीं, क्योंकि सत्ताको ज्ञान रूप मानते नहीं। और **'सत्यं ज्ञानं ब्रह्म'** इतना मात्रही लक्षण करते तो नैयायिकोंका अभिमत ईश्वरज्ञानमें लक्षणकी अतिव्याप्ति होती। तथा लक्ष्य ब्रह्मको गुणभावकी प्राप्ति होती, क्योंकि ईश्वरका ज्ञान सत्य है तथा ज्ञान स्वरूप है। तिस अतिव्याप्ति आदिक दोषोंको वारण करनेके लिये लक्षणमें आनन्दपद कहा है। आनन्द पदको कहनेसे पूर्वोक्त दोष होता नहीं, क्योंकि यद्यपि ईश्वरका ज्ञान, सत्य तथा ज्ञान रूप है, तथापि आनन्द रूप नहीं है। यदि **'आनन्दो ब्रह्म'** इतना ही ब्रह्मका स्वरूपलक्षण करते तो विषयजन्य आनन्दमें अतिव्याप्ति होती। तिस अतिव्याप्तिकी निवृत्ति वास्ते ज्ञान पद कहा है। ज्ञान पदको कहनेसे विषयजन्य सुखमें अतिव्याप्ति होती नहीं, क्योंकि विषयजन्य सुखमें ज्ञान रूपताका अभाव है! और **'ज्ञानं आनन्दो ब्रह्म'** इतना मात्र ही ब्रह्मका स्वरूप लक्षण करते तो ज्ञान तथा आनन्द रूप ब्रह्म कदाचित् अनित्य होगा ऐसी शंका

हो सकती है, तिस अनित्यत्व शंकाकी निवृत्तिके वास्ते सत्य पद कहा है। तिस सत्य पदको कहनेसे ब्रह्ममें अनित्यत्वकी शंका होती नहीं इति। और ब्रह्म को सत्य,[2] ज्ञान,[3] आनन्द[1] रूपतामें श्रुतिप्रमाणको भी दिखाते हैं–**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्म** इति श्रुतिः। अर्थ—ब्रह्म सत्य रूप है तथा ज्ञान रूप है तथा अनन्त रूप है। तथा ब्रह्म आनन्द रूप है इति।

और 'अनन्तम्' यहां अन्त शब्द परिच्छेदका वाचक है, अर्थात् नहीं है परिच्छेद जिसमें तिसका नाम अनन्त है। सो परिच्छेद देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद, वस्तुपरिच्छेद, इस भेदसे तीन प्रकारका होता है, और इनके लक्षण पूर्व निरूपण कर आये हैं इति।

अब कारणमें सर्वज्ञत्वादिक धर्मों की संभावनाके वास्ते जगत्के विशेषणोंको दिखाते हैं। **अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य** इति भाष्यम्। अर्थ–प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके सिद्ध यह जगत् कैसा है? 'नाम' कहिये शब्दस्वरूप करके, तथा 'रूप' कहिये नामका वाच्य अर्थ जो आकार तिस आकार स्वरूप करके,'व्याकृत' कहिये प्रकट है इति। भाव यह है— जैसे कुलाल प्रथम कुम्भ शब्दसे अभिन्नरूप करके प्रतीत जो पृथुबुध्नोदराकार स्वरूप कुम्भ है तिस कुम्भको बुद्धिमें लिखके (अर्थात् बुद्धिमें स्थित करके) पश्चात् 'कुम्भ' नाम स्वरूप करके तथा पृथुबुध्नोदराकार रूप स्वरूप करके कुम्भको बाहर प्रकट करता है। तैसे संपूर्ण जगत्का परमकारण भी अपनेको ईप्सित नाम तथा रूप स्वरूप करके जगत्को प्रकट किया ऐसा अनुमान करते हैं। तहां अनुमानका प्रकार यह है। **विवादाध्यासितं जगत् चेतनकर्तृकं, नामरूपाभ्यां व्याकृतत्वात्, घटादिवत्**। अर्थ–जैसे घटरूप दृष्टान्तमें नाम रूप करके व्याकृतत्व हेतु है और कुलालरूप चेतनकर्तृकत्व साध्य है, तैसे विवादका विषय जगत् रूप पक्षमें नामस्वरूप तथा रूपस्वरूप करके व्याकृतत्वरूप हेतु है, अतः चेतनकर्तृकत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके जगत्का कारण चेतन रूप ब्रह्मको सिद्ध होनेसे सांख्यमतसिद्ध प्रधान, तथा माध्यमिकमतसिद्ध शून्यका भी निषेध जानना।

शंका। पूर्व सिद्धान्तीने कहा कि 'कुलाल घटको करता है' सो बन सकता नहीं, क्योंकि जो पूर्व सिद्ध वस्तु होता है सो क्रियाका कर्म होता है, जैसे 'ग्रामं गच्छति'। यहां पूर्व सिद्ध जो ग्राम है सो गमनरूप क्रियाका कर्म है, तैसे प्रसंगमें 'करोति' रूप क्रियासे पूर्व यदि घट सिद्ध होता तो क्रियाका कर्म घट होता,

---

१ मोक्षरूप ब्रह्मप्राप्तिमें पुरुषार्थत्वद्योतनके लिये आनन्द पद है।

२ विषयसुखमें, अनित्यत्व होनेसे पुरुषार्थत्वकी व्यावृत्तिके लिये सत्य पद है।

३ अज्ञात सुख पुरुषार्थ होता नहीं, अतः स्वतः प्रकाश आनन्द स्वरूप ज्ञात हुआ पुरुषार्थ है, इस अर्थको बोधन करनेके लिये चिदर्थक ज्ञान पद है।

परन्तु 'करोति' रूप क्रियासे प्रथम घट तो सिद्ध है नहीं, अतः 'कुलालो घटं करोति' 'कुलाल घटको करता है' ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये।

समाधान। कुलालने जो संकल्प किया है कि 'इस प्रकारका घट बनाना है' सो संकल्प रूप घट कुलालकी बुद्धिमें 'करोति' रूप क्रियासे प्रथम ही सिद्ध है। और कुलालकी बुद्धिमें स्थित जो संकल्प रूप घट है सो घट 'करोति' रूप क्रियाका कर्म है। अतः कुलाल घटको करता है इस व्यवहारका अभाव नहीं होता। और ऐसा कहा भी है **'बुद्धिसिद्धं तु न तदसत्'** इति। अर्थ–बुद्धिमें सिद्ध जो अर्थ है सो असत् नहीं होता इति।

शंका। हिरण्यगर्भसे आदि लेके जो चेतन लोकपाल इन्द्रादिक जीव हैं, सो प्रथम नाम तथा रूपको बुद्धिमें लिख करके पश्चात् जगत्को उत्पन्न करेंगे, पूर्वोक्त सत् चैतन्य आनन्द स्वभाव ब्रह्मको स्वीकार करनेका कोई प्रयोजन है नहीं।

समाधान। **अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य** इति भाष्यम्। अर्थ—पुनः जगत् कैसा है ? अनेक कर्ता तथा अनेक भोक्ता करके सहित है इति। यहां कर्ता भोक्ता उभय पद ग्रहण करनेका यह तात्पर्य है। जैसे ऋत्विक् आदिक यागका कर्ता भी है परन्तु भोक्ता नहीं। तैसे पिता आदिक श्राद्ध आदिकोंमें भोक्ता है कर्ता नहीं। और जो पूर्वपक्षीने कहा कि हिरण्यगर्भादिक जीवसे ही जगत्की उत्पत्ति होजायगी ब्रह्म माननेका कोई प्रयोजन नहीं। सो कहना नहीं बन सकता, क्योंकि **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं। सर्व एव आत्मानो व्युच्चरन्ति।** अर्थ—जो परमात्मा प्रथम हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माको उत्पन्न किया है। और जैसे अग्निराशिसे अनेक विस्फुलिंग उत्पन्न होते हैं, तैसे परमात्मासे सम्पूर्ण जीवात्मा उत्पन्न होते हैं इति। यद्यपि 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादिक वचनों करके आत्माको नित्य सिद्ध होनेसे आत्माकी उत्पत्ति बन सकती नहीं। तथापि स्थूल सूक्ष्म उपाधि द्वारा जीवको कार्यरूप होनेसे जीवकी उत्पत्ति बन सकती है। अतः पूर्वोक्त श्रुति करके जीवोंको जगत्के अन्तर्गत होनेसे जगत्के कारण नहीं बन सकते हैं।

अब जगत्के कारणमें सर्वज्ञत्वकी सम्भावनाको दिखाते हैं। **प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य** इति भाष्यम्। अर्थ—पुनः जगत् कैसा है ? व्यवस्थित हैं देश, काल, निमित्त, जिनोंके ऐसे जो क्रियाके फल हैं तिन फलोंका आश्रय है इति। जैसे राजाकी सेवा रूप क्रियाका फल जो कि ग्रामादिक हैं, तिन ग्रामादिकोंका देश भूमण्डल है। तैसे यागादिक क्रियाका फलरूप जो स्वर्ग है तिस स्वर्गका देश सुमेरुका पृष्ठ है। और जैसे पुत्ररूप फलका काल, बाल्य अवस्थासे अनन्तर है। तैसे स्वर्गफलका काल भी देहपातसे अनन्तर है। जैसे ग्रामादिक फलके निमित्त राजाकी प्रसन्नतादिक हैं तैसे स्वर्गफलके निमित्त उत्तरायण मरणादिक हैं। इस कहनेसे कारणमें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि

हुई। तहां अनुमान प्रमाणको दिखाते हैं। **जगत् देशाद्यभिज्ञकर्तृकं, कर्मफलत्वात्, सेवाफलवत्।**

जैसे सेवाका फलरूप ग्रामादिक दृष्टान्तमें सेवाकर्मका फलत्वरूप हेतु है। और देशादिकोंका अभिज्ञ कहिये जाननेवाला जो राजादिक है तत्कर्तृकत्व साध्य भी है। तैसे जगत्रूप पक्षमें कर्मका फलत्वरूप हेतु है, अतः देशादिकोंको जाननेवाला जो सर्वज्ञ कारण है तत्कर्तृकत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये। अर्थात् जैसे राजा जिस पुरुषके उपर सेवा करके प्रसन्न होता है, तिस पुरुषको जिस देशमें उत्तम ग्रामादिकोंको देना चाहता है, तिस देशमें स्थित उत्तम ग्रामादिकोंको देता है। तैसे जगत्का देश, काल, निमित्तादिकोंको जाननेवाला अर्थात् अपरिमित ज्ञान तथा अपरिमित शक्तिवाला ही कारण हो सकता है। और परिमित ज्ञान तथा परिमित शक्तिवाले जो हिरण्यगर्भादिक जीव हैं, सो इस जगत्को जाननेको तथा करनेको समर्थ नहीं हो सकते हैं। पुनः जगत् कैसा है? **मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य** अर्थ—मन करके नहीं चिंतन करनेको योग्य है रचना जिसकी ऐसा जगत् है इति। तात्पर्य यह है कि जब एक जो शरीरकी रचना है तिस रचनाका स्वरूपको मनकरके कदाचित् भी चिंतन नहीं कर सकते हैं। तब जगत्की उत्पत्तिसे प्रथम ही जगत्की रचनाका स्वरूपको सर्वज्ञ सर्वशक्ति वालेसे विना कौंन जान सकता है तथा कौंन कर सकता है। इस पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट जगत्का जन्म, स्थिति, भंग जिस सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाले कारणसे होता है सो ब्रह्म है यह सिद्ध हुआ।

शंका। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें जन्मादि शब्द करके जन्मस्थितिभंगरूप तीन विकारोंका ही क्यों ग्रहण किया है, और वृद्धि, परिणाम, अपक्षय इन तीन विकारोंका ग्रहण क्यों नहीं किया?

समाधान। वृद्धि आदिक तीन विकारोंका जन्मादिक तीन विकारोंमें ही अन्तर्भाव होनेसे जन्मादिक तीन विकारोंका ही ग्रहण किया है वृद्धि आदिकोंका नहीं। तहां वृद्धि तथा परिणाम इन दोनोंका जन्ममें अन्तर्भाव है। क्योंकि अवयवोंका जो उपचय कहिये अधिक अवयव तिन अधिक अवयवों करके जो शरीरादिकोंकी उत्पत्ति है तिसका ही नाम वृद्धि है। जैसे दश तन्तुवाला जो पट है उस पटसे अन्य ही सहस्र तन्तुवाला महान् पट उत्पन्न होता है, अतः जन्मका नाम ही वृद्धि है। और परिणाम तीन प्रकारका होता है, १ धर्मरूप, २ लक्षणरूप, ३ अवस्थारूप। तहां स्वर्णरूप धर्मीकी कटक कुंडलादि रूप करके जो उत्पत्ति है सो धर्मरूप परिणाम है। और कटकादि निष्ठ जो प्रत्युत्पन्नत्व* है सो लक्षणरूप परिणाम है। और नवपुराणत्वादिकोंकी जो उत्पत्ति है सो अवस्था रूप परिणाम है। यह तीन प्रकारका परिणाम जन्मरूप ही है। और अवयवोंका

* कटकादिनिष्ठ वर्तमानत्व भूतत्वादिकका नाम प्रत्युत्पन्नत्व है।

जो ह्रास है तिसका नाम अपक्षय है अतः—अपक्षय नाशरूप है। इस प्रकार वृद्धि तथा परिणामका जन्ममें अन्तर्भाव, और अपक्षयका नाशमें अन्तर्भाव जानना इति।

शंका। देहो जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इति। यह यास्कमुनिका वाक्य ही, 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रका मूल हो सकता है, 'यतो वा' इत्यादिक श्रुतिको मूल नहीं मानना चाहिये।

समाधान। उत्पन्न आकाशादिक महाभूतोंके स्थितिकालमें जो देहादिक कार्य हैं तिन देहादिककार्योंमें 'जायते' इत्यादिक षट् विकारोंको प्रत्यक्षादिक प्रमाणसे देख करके 'जायते, अस्ति' इत्यादिक वाक्यको यास्कमुनिने रचा है। यदि यास्कमुनिके वाक्यमूलक जन्मादिकषट्का कारणत्वरूप लक्षण सूत्रका अर्थ स्वीकार करेंगे तो ऐसी शंका होगी कि सूत्रकारने इस सूत्र करके ब्रह्मका लक्षण नहीं किया, किंतु आकाशादिक महाभूतोंका लक्षणको ग्रहण किया है। सो शंका मत हो इसलिये सूत्रकारने 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिमूलक जो ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति तथा स्थिति तथा प्रलय तिनका ही 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र करके ग्रहण किया है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि यास्कमुनिका वाक्य जो है सो भी श्रुतिमूलक है अतः यास्कमुनिवाक्यमूलक इस सूत्रको माननेमें क्या दोष है। सो कहना बन सकता नहीं, क्योंकि श्रुतिमूलक जो मुनिवाक्य है तिस वाक्यमूलक इस सूत्रको माननेकी अपेक्षासे साक्षात् श्रुतिमूलक ही मानना उचित है। और ब्रह्मसे विना जगत्के जन्मादिक नहीं बन सकते हैं, क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न कारणान्तरका अभाव है। इस अर्थमें जो युक्ति है तिसको तर्कपादमें विस्तारसे निरूपण करेंगे।

अब संक्षेपसे युक्तिका निरूपण करते हैं—'नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य' इससे आदि लेके जो जगत्के चार विशेषण कह आये हैं तिन चार विशेषण वाले जगत् की उत्पत्ति आदिक सर्वज्ञत्वादिकविशेषणविशिष्ट ईश्वरसे विना अचेतन प्रधान, परमाणु, शून्य, संसारी जीवसे संभावना करनेको अशक्य है। तहां प्रधान, शून्य, संसारी, इन तीनोंका खंडन तो जगत् के विशेषणोंका व्याख्यानमें ही कर आये हैं। और अचेतन जो परमाणु हैं सो भी स्वतः प्रवृत्तिका अभाव होनेसे जगत्के कारण नहीं हो सकते। और जो नैयायिक अनुमान करके सिद्ध सर्वज्ञ ईश्वरको परमाणुवोंका प्रवर्तक मानते हैं सो असंगत है, क्योंकि अनुमान प्रमाण करके ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इस अर्थको समीपमें ही स्पष्ट करके दिखावेंगे। अतः परमाणुके प्रवर्तकका अभाव होनेसे परमाणुवोंमें जगत्का आरम्भकत्व नहीं बन सकता है।

और स्वभावसे भी जगत्की उत्पत्ति आदिक नहीं बन सकती है। क्योंकि

स्वयमेव स्वस्यहेतुरिति स्वभावः। अर्थ–आप ही अपना जो हेतु है तिसका नाम स्वभाव है, अथवा कारणकी अपेक्षाका जो अभाव है तिसका नाम स्वभाव है। इति। तहां प्रथम पक्ष तो बन सकता नहीं क्योंकि अपनी उत्पत्तिमें अपनी अपेक्षा होनेसे आत्माश्रय दोष होगा। और द्वितीय पक्ष भी बन सकता नहीं, क्योंकि असाधारण देश, काल, निमित्तको कार्यार्थी पुरुष ग्रहण करता है। यदि देश, काल, निमित्तादिरूप कारणकी अपेक्षा न मानोगे तो धान्यार्थी पुरुषकी भूमिविशेषमें तथा वर्षादि कालमें बीजादि निमित्तमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

और सर्वज्ञत्वादिक विशेषणवाले ईश्वरसे विना जगत्की उत्पत्ति आदिक नहीं बन सकती है, यह जो भाष्यकारने कहा है तिस करके यह सिद्ध हुआ कि, कर्तासे विना कार्य नहीं होता है। इस व्यतिरेकसे यह सिद्ध हुआ कि 'यत्कार्यं तत्सकर्तृकं' जो कार्य होता है सो कर्तावाला होता है। ऐसा व्याप्तिज्ञान होता है। यह व्याप्तिज्ञान जगत् रूप पक्षमें कर्ताको सिद्ध करता हुआ सर्वज्ञ ईश्वरको सिद्ध करता है। ईश्वरकी सिद्धिके लिये श्रुतिको माननेका कोई प्रयोजन है नहीं। इस प्रकारकी जो तार्किकोंकी भ्रान्ति है तिसको भाष्यकार दिखाते हैं—

एतदेवानुमानमित्यादिना इति। तहां ऐसा विभाग जानना-**जगत्, सकर्तृकं, कार्यत्वात्, घटवत्,** जैसे घटमें कार्यत्वरूप हेतु है और सकर्तृकत्व साध्य है; तैसे जगत्में कार्यत्वरूप हेतु है, अतः सकर्तृकत्व साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके जगत्का कर्ता कोई है यह सिद्ध हुआ। पश्चात् **स कर्ता सर्वज्ञः, जगत्कारणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा कुलालः।** अर्थ—जैसे कुलालमें सर्वज्ञत्व रूप साध्य नहीं है, और जगत्का कारणत्व रूप हेतु भी नहीं है। और कर्ता रूप पक्षमें जगत्का कारणत्वरूप हेतु है, अतः सर्वज्ञत्व रूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि जाननी। ऐसा नैयायिक लोक मानते हैं, सो नैयायिकोंका मानना समीचीन नहीं क्योंकि अङ्कुरादिकोंका कर्ता जीव तो नहीं बन सकता है; और जीवसे भिन्न दूसरा भी कोई कर्ता हो सकता नहीं, क्योंकि जीवसे भिन्न जितने पदार्थ हैं सो सब घटकी न्यांई अचेतन हैं। इस कहनेसे 'जगत् सकर्तृकं, कार्यत्वात्, घटवत्' यह अनुमान सकर्तृकत्वरूपसाध्यके अभाववाले अंकुरादिकोंमें कार्यत्वरूप हेतुके विद्यमान होनेसे व्यभिचारी सिद्ध हुआ। और व्यभिचारज्ञानको व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक होनेसे 'यत्कार्यं तत्सकर्तृकं' इस व्याप्तिज्ञानकी भी असिद्धि हुई।

और 'स कर्ता सर्वज्ञः, जगत्कारणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा कुलालः, यह जो सर्वज्ञत्वका साधक अनुमान नैयायिकोंने किया है सो बाधित है। क्योंकि नैयायिक शरीरी जीवसे भिन्न ईश्वरको अशरीरी मानते हैं। और तिस ईश्वरमें नित्यज्ञान मानते हैं। परन्तु यह नियम है **'यज्ज्ञानं तन्मनोजन्यं'** अर्थ—जो ज्ञान होता है सो मन करके जन्य होता है इति। इस लोकप्रसिद्ध व्याप्तिका

विरोध करके श्रुतिविना नित्यज्ञानके अभावकी सिद्धि होनेसे जगत्के कर्तामें सर्वज्ञत्वका अभावरूप वाध सिद्ध हुआ। पक्षमें जो साध्यका अभाव है तिसका नाम बाध है, और बाधवाला हेतुका नाम बाधित है। अतः—अनुमान करके ईश्वरकी सिद्धिका अभाव होनेसे नैयायिकोंको भी अतीन्द्रिय ईश्वरादिक पदार्थोंमें श्रुतिप्रमाण ही मानना पड़ेगा। और श्रुतिके अर्थकी संभावनाके लिये जो अनुमान है सो युक्तिमात्र है ऐसा मानना पड़ेगा। और अतीन्द्रिय पदार्थमें अनुमान स्वतन्त्र प्रमाण है ऐसा नहीं मान सकते हैं।

शंका। यह पूर्वोक्त सिद्धान्तीका कहना असंगत है, क्योंकि सूत्रकारने श्रुतिरूप शब्द प्रमाणको अनुमान प्रमाणमें अन्तर्भाव करके ही 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें अनुमान प्रमाणको बोधन किया है।

समाधान। यह वैशेषिकका कहना असमीचीन है, क्योंकि यदि श्रुति स्वतन्त्र प्रमाण न हो तो 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादिक सूत्रों करके श्रुतियोंके तात्पर्यका विचार सूत्रकार नहीं करते, परन्तु किया तो है। अत उत्तर सूत्रोंको श्रुतितात्पर्यका विचारार्थक होनेसे जन्मादिक सूत्रमें भी सूत्रकार श्रुतिका ही विचार किया है, अनुमानका नहीं।

शंका। यदि श्रुति ब्रह्मबोधनमें स्वतन्त्र प्रमाण होवे तो विचारकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

समाधान। जैसे नेत्र रूपमें स्वतः प्रमाण है, फिर भी व्यापाररूप सन्निकर्षकी अपेक्षा करता है। एवं श्रुति ब्रह्मात्मामें स्वतः प्रमाण होनेपर भी व्यापाररूप विचारकी अपेक्षा करती है। अर्थात् सूत्रोंको वेदान्त वाक्यरूप कुसुमग्रथनके वास्ते होनेसे जन्मादिकसूत्रों करके वेदान्तवाक्योंका ही विचार किया है। और मुमुक्षुपुरुषको वाक्य तथा वाक्यके अर्थका विचारसे जो तात्पर्यका निश्चय तिस निश्चय करके उत्पन्न हुई जो ब्रह्मावगतिरूप साक्षात्कार है सोई मुक्तिके वास्ते होता है। और अनुमान, प्रमाणसे मुक्तिका हेतु साक्षात्कार नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि

अर्थ—याज्ञवल्क्यने शाकल्य ब्राह्मणको पूछा है कि हे शाकल्य ! उपनिषत् करके प्रतिपाद्य जो पुरुष है उसको मैं पूछता हूँ; यहां श्रुतिमें पुरुषरूप परमात्माको उपनिषत्प्रतिपाद्य कहा है इति।

शंका। क्या अनुमान सर्वथा उपेक्षा करनेको योग्य है?

समाधान। जगत्के जन्मादिकोंका कारणको कहने वाले वेदान्त वाक्यों-के विद्यमान हुये तिन वेदान्त वाक्योंका जो अर्थ है तिस अर्थके ग्रहणकी दृढ़ता-के लिये वेदान्त वाक्यका अविरोधि जो अनुमान है सो प्रमाण रहो। ऐसा अनु-मान प्रमाणको हम निवारण नहीं करते हैं। जैसे विमतं जगत्, अभिन्ननि-

मित्तोपादानकं, कार्यत्वात्। एवं, विमतं जगत्, चेतनप्रकृतिकं, कार्यत्वात्, सुखादिवत्। अर्थ—जैसे सुखादि रूप दृष्टान्तमें कार्यत्व रूप हेतु है। और एक ही आत्मा सुखका समवायी कारण रूप उपादान कारण है, तथा अदृष्ट द्वारा निमित्त कारण है। अतः-अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व साध्य भी है। तैसे विवादका विषय जगत् रूप पक्षमें कार्यत्व रूप हेतु है, अतः-अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व साध्य भी मानना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय अनुमानका भी अर्थ जानना इति। इस रीतिसे अभिन्ननिमित्तउपादानरूप ब्रह्मका साधक इत्यादिक अनुमानको हम प्रमाण रूप स्वीकार करते हैं। किंतु श्रुतिविरोधि अनुमानको अप्रमाण रूप मानते हैं।

अब अप्रमाण रूप अनुमानको दिखाते हैं—आकाशो नित्यः, विभुत्वात्, आत्मवत्। अर्थ—जैसे आत्मारूप दृष्टान्तमें विभुत्व हेतु है और नित्यत्व साध्य है, तैसे आकाश रूप पक्षमें विभुत्व रूप हेतु है अतः नित्यत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके नैयायिक आकाशमें नित्यत्वकी सिद्धि करते हैं। परंतु यह अनुमान आत्मन आकाशः संभूतः, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, इत्यादिक श्रुतिके साथ विरोध होनेसे अप्रमाण रूप है। और 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति बृहदारण्यकश्रुतिः, तथा 'पण्डितो मेधावी गंधारानेव' इति छान्दोग्य श्रुतिः। अर्थ—आत्मा श्रवण करनेको योग्य है, तथा मनन करनेको योग्य है। अर्थात् 'मन्तव्य' इस श्रुतिका, अद्वितीय आत्मा तर्क करके ही संभावना करनेको योग्य है यह अर्थ है। अतः 'मन्तव्य' यह श्रुति तर्कको सहाय रूप करके स्वीकार करती है। और जैसे गंधार देशमें रहने वाला एक धनाढ्य पुरुष था उसको चोर हस्त पाद नेत्रादिकोंको बांधकर उठा ले गये, और दूर देशमें उस पुरुषको छोड़कर चले गये। पश्चात् अत्यन्त कष्टको प्राप्त हो रहा जो बद्धनेत्रादिक पुरुष है, उस पुरुषको देखकर कोई दयालु पुरुष उस पुरुषको बन्धनसे मुक्त कर दिया। और कहा कि तुम इस मार्गसे चले जाना, अवश्य अपने गंधार देशको प्राप्त होओगे। इस वाक्यके अर्थको ग्रहणमें समर्थ, तथा तर्कमें कुशल बुद्धिमान् जो वह पुरुष है सो अपने गंधार देशको प्राप्त होता है, इति। तैसे प्रसंगमें अविद्या कामादिक चोरोंने इस जीवको अपने सत् चित् आनन्दस्वरूप देशसे निवृत्त करके महान् दुःखरूप कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक संसार अरण्यमें प्राप्त कर दिया है। कदाचित् पूर्व पुण्यके प्रभावसे कोई दयालु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य प्राप्त होकर कहते हैं, तू कर्ता भोक्ता संसारी नहीं है, किंतु 'तत्त्वमसि' इस वाक्य करके उपदिष्ट ब्रह्मस्वरूप तू है। इस आचार्यवाक्यको श्रवणकर यदि स्वयं अधिकारी तर्कमें कुशल हो तो भागत्यागलक्षणा करके अपना स्वरूपको ब्रह्मसे अभिन्नरूप करके जान जाता है। यदि तर्कमें कुशल नहीं होगा तो अपना स्वरूपको ब्रह्मरूप करके नहीं जान सकेगा। इस प्रकार स्वयं श्रुति ही अपना सहायरूपसे तर्कको दिखाती है।

शंका। ब्रह्म मननाद्यनपेक्षं, वेदार्थत्वात्, धर्मवत्। अर्थ—जैसे दृष्टान्त रूप धर्ममें वेदार्थत्व रूप हेतु है, और तर्क रूप मननकी अपेक्षाका अभावरूप साध्य भी है। तैसे ब्रह्म

रूप पक्षमें वेदका अर्थत्व रूप हेतु है। अतः तर्क रूप मननकी अपेक्षाका अभाव रूप साध्य भी मानना चाहिये इति। और जैसे धर्म, श्रुति लिंग वाक्यादिकोंकी अपेक्षा करता है, तैसे ब्रह्म भी श्रुति लिंग वाक्यादिकोंकी ही अपेक्षा करेगा।

समाधान। जैसे जिज्ञास्य धर्ममें केवलश्रुतिलिंगादिक ही प्रमाणरूप हैं, तैसे जिज्ञास्य ब्रह्ममें नहीं। किंतु जिज्ञास्य ब्रह्ममें तो यथासंभव श्रुति आदिक तथा अनुभव आदिक भी प्रमाण रूप हैं। तहां अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष ब्रह्मसाक्षात्कार रूप अनुभवका अविद्याकी निवृत्तिद्वारा ब्रह्मस्वरूपका जो आविर्भावरूप फल है सोई 'तत्त्वमसि' इत्यादिक श्रुतिका फल है। अतः श्रुति प्रमाण रूप है। 'आदि' शब्द करके स्मृति इतिहास पुराणादिकोंका ग्रहण करना। और 'अनुभव' शब्द करके विद्वान्का अनुभव, तथा 'आदि' शब्द करके मनननिदिध्यासनादिका ग्रहण करना। इस अर्थमें भाष्यकार हेतुको दिखाते हैं-**अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।** अर्थ-मुक्तिके लिये तत्त्वमसि आदिक महावाक्यजन्य ब्रह्मज्ञानको अनुभवाव*सानत्वकी अपेक्षा होती है इति। तात्पर्य यह कि सो ब्रह्मज्ञान मोक्षका कारण होता है जो ब्रह्मज्ञान अज्ञानकी निवृत्तिद्वारा ब्रह्मस्वरूपका आविर्भावरूप फलवाला होता है। और पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञान प्रत्यक् आत्मासे अभिन्न ब्रह्म विषयक होनेसे पूर्वोक्त फलवाला भी बन सकता है। अतः ब्रह्मज्ञान अनुभव तथा मननादिकोंकी अपेक्षा करता है। और नित्यपरोक्ष तथा क्रिया करके साध्य जो धर्म है तिस धर्मका ज्ञान साक्षात्कार रूप अनुभवादिकों की अपेक्षा नहीं करता है। किंतु श्रुति करके, अनुष्ठानके लिये अपेक्षित धर्मका निर्णय मात्रकी अपेक्षा करता है। और लिंगादिक जो हैं सो श्रुतिके अन्तर्भूत हुये ही श्रुति द्वारा निर्णयके उपयोगी हैं। अतः लिंगादिकोंकी भी अपेक्षा करता है इति।

और पूर्वमीमांसक विधिका सहकारी श्रुति आदिक षट् प्रमाणको मानते हैं। तहां **जैमिनिसूत्रम्—श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादिति** अर्थ—१ श्रुति, २ लिंग, ३ वाक्य, ४ प्रकरण, ५ स्थान, ६ समाख्या, इन षट् प्रमाणोंके मध्यमें 'समवाये' कहिये दो दोका परस्पर समान विषयत्व करके विरोध हुये अर्थका व्यवधान होनेसे पर दुर्बल होता है इति। जैसे जहां एक मंत्रमें अर्थप्रकाशनसामर्थ्य रूप लिङ्ग है, तथा वह मंत्र वाक्यरूप है, तहां लिङ्ग करके व्यवस्था करनी, अथवा वाक्य करके व्यवस्था करनी, ऐसा संशय होता है। तहां पूर्वपक्षमें वाक्य करके व्यवस्था करनी। और सिद्धान्तमें लिङ्ग करके व्यवस्था करनी? क्योंकि श्रुति, लिंग, वाक्य, यहां 'लिंग' श्रुतिके अव्यवहित है, और 'वाक्य' श्रुतिके (लिंगकरके) व्यवहित है। अतः लिंगसे पर वाक्य दुर्बल है, लिङ्ग प्रबल है। इस प्रकार श्रुति आदिकोंकी परस्पर दुर्बलता तथा

* निरवच्छिन्नब्रह्माविर्भाव ही ब्रह्मज्ञानका अवसान अर्थात् अवधि है।

प्रवलताका विचार उदाहरण पूर्वक आगे दिखावेंगे। प्रसंगमें संक्षेपसे श्रुति आदिकोंके स्वरूपका वर्णन करते हैं।

तहां **निरपेक्षो*रवः श्रुतिः।** अर्थ—प्रमाणान्तरकी अपेक्षा रहित जो रव कहिये शब्द है तिसका नाम श्रुति है। अर्थात् श्रुति लक्ष्य है तथा निरपेक्षत्वविशिष्टरवत्व श्रुतिका लक्षण है इति। तहां 'रवत्व' इतना मात्र ही श्रुतिका लक्षण करते तो वाक्यादिकोंमें लक्षणकी अतिव्याप्ति होती, क्योंकि शब्दत्वस्वरूप रवत्व वाक्यमें विद्यमान है। तिस अतिव्याप्तिकी निवृत्तिके वास्ते 'निरपेक्षत्व' यह विशेषण कहा है। यद्यपि वाक्यमें रवत्व है तथापि निरपेक्षत्वका अभाव होनेसे निरपेक्षत्वविशिष्ट रवत्वका भी अभाव है। अतः लक्षण निर्दोष है। तहां श्रुति तीन प्रकारकी है १ विधात्री, २ अभिधात्री, ३ विनियोक्त्री। विधान करनेवाली जो श्रुति है तिसका नाम विधात्री है। जैसे **'स्वर्गकामो यजेत'** अर्थात् 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' स्वर्गकाम पुरुष याग करके स्वर्गकी सिद्धि करे। और शक्ति तथा लक्षणावृत्ति करके अभिधान करनेवाली जो श्रुति है तिसका नाम अभिधात्री है। जैसे **'व्रीहीन् प्रोक्षति'** अर्थात्—व्रीहिका मन्त्रों करके प्रोक्षण करे। यहां प्रोक्षण क्रिया करके जो अपूर्व उत्पन्न होता है तिस अपूर्व द्वारा इष्टसाधनव्रीहि प्रोक्षणरूप क्रियाका अङ्ग है। और विनियोगकी करनेवाली जो श्रुति है तिसका नाम विनियोक्त्री है। जैसे **'व्रीहीनवहन्ति'** इस स्थलमें तुसकी निवृत्ति रूप फलवत्त्व स्वरूप कर्मत्वको बोधन करती हुई निरपेक्ष द्वितीयाविभक्तिरूप श्रुति व्रीहिमें अवघात रूप क्रियाका शेषत्वको प्रतिपादन करती है। अतः मुशल करके अवहनन रूप क्रिया शेषी है और व्रीहि शेष हैं। और यह नियम है कि यागादिक क्रियामें जितने द्रव्य गुण पदार्थ होते हैं सो सर्व क्रियाके अङ्ग ही होते हैं इति।

अब लिङ्गका लक्षण कहते हैं—**शब्दसामर्थ्यं लिङ्गं।** अर्थ—अर्थ विशेषको प्रकाशन करनेका जो शब्दमें सामर्थ्य है तिसका नाम लिङ्ग है इति। तहां वृद्धवचन भी प्रमाण है **'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते'** अर्थ स्पष्ट है। जैसे **'बर्हिर्देवसदनं दामि'** अर्थ—बर्हि नाम कुशाका है, हे बर्हि! पुरोडाशका स्थानरूप तुम्हारेको मैं छेदन करता हूँ इति। इस मन्त्रका, छेदनरूप अर्थका प्रकाशन सामर्थरूप लिङ्गसे छेदनरूप क्रियामें विनियोग है। अर्थात् छेदन रूप क्रियाका अङ्ग रूप यह मन्त्र है। इसी प्रकार 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्रका भी निर्वापरूप क्रियाका प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्गसे निर्वाप रूप क्रियामें विनियोग है। और यह नियम है— **यस्य यत्प्रकाशनसामर्थ्यं तस्य तदङ्गत्वं।** अर्थ–जिस मन्त्रको जिस अर्थके प्रकाश करनेका सामर्थ्य है सो मन्त्र तिस अर्थका अङ्ग होता है इति। जैसे **'अग्नये जुष्टं निर्व-**

---

* यदि निरपेक्षत्व ही श्रुतिका लक्षण करें तो यत्किंचिन्निरपेक्षत्व वाक्यादिमें, सर्वनिरपेक्षत्व ब्रह्ममें, अतिव्याप्त होगा।

११

पामि' अर्थ, हे पुरोडाश ! सेवित जो तुम हो तुम्हारेको अग्निके लिये मैं समर्पण करता हूँ इति । यहां समर्पणरूपनिर्वापक्रियाका प्रकाशनसामर्थ्य इस मन्त्रमें है । अतः यह मन्त्र निर्वाप क्रियाका अङ्ग है अर्थात् निर्वाप क्रियामें इस मन्त्रका विनियोग है ।

अब वाक्यका लक्षण कहते हैं । **समभिव्याहारो वाक्यम्** । समभिव्याहारका नाम वाक्य है इति । 'समभिव्याहारश्च शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणं' शेष तथा शेषिके वाचक जो पद हैं तिन पदोंका जो एक साथमें ही उच्चारण तिसका नाम समभिव्याहार है । जैसे **'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न सः पापं श्लोकं शृणोति'** अर्थ—जिस यजमानकी 'पर्णमयी' कहिये पलासकी जुहू होती है, सो पुरुष दुष्कीर्तिको नहीं श्रवण करता है इति । इस वाक्यमें पर्णता तथा जुहूका साथ उच्चारण रूप समभिव्याहारसे ही पर्णतामें जुहूका अङ्गत्व है ।

शंका । पर्णसे भिन्न काष्ठान्तर करके भी जुहूका स्वरूप सिद्ध हो सकता है, पर्णताका ग्रहण इस मन्त्रमें व्यर्थ है ।

समाधान । यह पूर्वपक्षीका कहना असंगत है, क्योंकि प्रसंगमें जुहू शब्दकी जुहू करके साध्य अपूर्वमें लक्षणा है । अर्थात् 'पर्णमयी जुहूर्भवति' इस वाक्यसे ऐसा निश्चय होता है कि 'यदि पर्णता करके जुहूका स्वरूप सिद्ध करेंगे तो जुहू करके साध्य अपूर्व उत्पन्न होगा, काष्ठान्तर करके सिद्ध जुहूसे अपूर्व उत्पन्न नहीं होगा' अतः पर्णतामें वैयर्थ्य नहीं है ।

अब प्रकरणके लक्षणको दिखाते हैं । **उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्** । परस्पर आकाङ्क्षाका नाम प्रकरण है । तहां 'आकाङ्क्षात्वं' इतना मात्र ही लक्षण करते तो शाब्द बोधकी कारण रूप आकाङ्क्षामें आकाङ्क्षात्व रूप लक्षणको विद्यमान होनेसे अतिव्याप्ति होगी । तिस अतिव्याप्तिको दूर करनेके लिये लक्षणमें उभय पदको ग्रहण किया है । यद्यपि शाब्दबोधकी कारणरूप आकाङ्क्षामें आकाङ्क्षात्व तो है, तथापि उभयत्वका अभाव होनेसे उभयत्वविशिष्ट आकाङ्क्षात्वरूप लक्षणका भी अभाव सिद्ध हुआ, अतः—अतिव्याप्ति होती नहीं । और यदि 'उभयत्वं' इतना ही लक्षण करते तो घटपट उभयमें उभयत्व लक्षणको विद्यमान होनेसे घटपटमें लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी । तिस अतिव्याप्तिकी निवृत्तिके वास्ते लक्षणमें आकाङ्क्षा पदको ग्रहण किया है । यद्यपि घटपटमें उभयत्व है तथापि आकाङ्क्षात्वका अभाव होनेसे उभयत्वविशिष्ट आकाङ्क्षात्व रहता नहीं, अतः घटपटमें इस लक्षणकी अतिव्याप्तिका अभाव होनेसे यह प्रकरणका लक्षण निर्दोष है ।

अब लक्ष्यमें लक्षणका समन्वयको दिखाते हैं । दर्शपूर्णमास प्रकरणमें प्रयाजादिक यागोंका विधान किया है, तहां **'समिधो यजति'** इस वाक्यमें फलविशेषका अनिर्देश होनेसे इस वाक्यसे 'समिद्यागेन भावयेत्'—समित्

याग करके 'भावयेत्' कहिये 'कुर्यात्' सिद्ध करे। इस प्रकारके बोधसे अनन्तर 'किं भावयेत्'—किसको सिद्ध करे। इस प्रकार 'समिधो यजति' इस वाक्यको उपकार्यकी आकाङ्क्षा हुई। **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्'**—'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' अर्थात् स्वर्गकाम पुरुष दर्शपौर्णमास याग करके स्वर्गको सिद्ध करे। इस वाक्य करके जन्यबोधसे अनन्तर ऐसी आकाङ्क्षा होती है 'कथं भावयेत्' किस प्रकार करके सिद्ध करे। इस रीतिसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्' इस वाक्यको उपकारककी आकाङ्क्षा हुई। इस पूर्वोक्त रीतिसे उपकार्य उपकारकभाव करके 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्' तथा 'समिधो यजति' इन दोनों वाक्योंको परस्पर आकाङ्क्षा होनेसे लक्षणका समन्वय जानना। और यहां ऐसा भी जाननेको योग्य है कि, दर्शपूर्णमास याग अङ्गी है, और समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति, इनका नाम प्रयाज है, और यह सब अङ्ग हैं। और इत्यादि अङ्ग रूप यागोंका समुदायको ही दर्शपूर्णमास रूप अङ्गी याग कहते हैं।

अब स्थानका लक्षण कहते हैं—**देशसामान्यं स्थानम्**—देशसामान्यका नाम स्थान है। और स्थानको ही क्रम भी कहते हैं। जैसे दर्शपूर्णमासके आध्वर्यव कांडमें, आग्नेय याग, तथा उपांशु याग, तथा अग्निषोमीय याग इन तीन यागोंको क्रमसे विधान किया है, तहां मन्त्र भी क्रमसे तीन विधान किये हैं **'अग्नेरहं देवयज्ययान्नादो भूयासम्'। 'दब्धिरस्यदब्धो भूयासममुन्दभेयम्'। 'अग्निषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयासमिति'।** अर्थ—अग्नि संबन्धि देवयजन करके हम बहुत अन्नवाले होवें। हे घातक आयुध! तुम्हारे करके हम अदब्ध, कहिये नाश रहित होवें, तथा इस शत्रुको मैं दमन करूं। और अग्निषोम संबन्धि देवयजन करके हम इन्द्र होवें इति। यहां स्थानरूप क्रमके बलसे प्रथम आग्नेय यागका प्रथम 'अग्नेरहं' इत्यादिक मन्त्र अङ्ग है। और द्वितीय उपांशु यागका द्वितीय 'दब्धिरसी' त्यादिक मन्त्र अङ्ग है। एवं तृतीय अग्नीषोमीय यागका तृतीय 'अग्नीषोमयोरहं' इत्यादिक मन्त्र अङ्ग है। और देश सामान्यरूप क्रम दो प्रकारका होता है–एक तो पाठ सादेश्य, दूसरा अनुष्ठान सादेश्य। यथासंख्य पाठका नाम पाठ सादेश्य है, और यथासंख्य अनुष्ठानका नाम अनुष्ठान सादेश्य है। यह यथासंख्य पाठरूप क्रम तथा यथासंख्य अनुष्ठानरूप क्रम पूर्वोक्तउदाहरणमें ही घट जाता है।

अब समाख्याका निरूपण करते हैं। **यौगिकः शब्दः समाख्या**-यौगिक शब्दत्व समाख्याका लक्षण है। और समाख्या लक्ष्य है। अवयवशक्तिमात्र करके अर्थका बोधक जो शब्द है तिस शब्दका नाम यौगिक है। जैसे 'हौत्रं' 'औद्गात्रं' इस स्थलमें होता सम्बन्धि कर्मका नाम हौत्र है। और उद्गाता सम्बन्धि कर्मका नाम औद्गात्र है। और समाख्यासिद्ध जो हौत्रादिक कर्म है सो होत्रादिकों

करके अनुष्ठान करनेको योग्य है। जैसे होताको चमस पात्रमें भक्षणका विधान किया है अतः भक्षण रूप क्रियाका होता अङ्ग है इति।

और पूर्वपक्षीने जो पूर्व अनुमान किया था 'ब्रह्म, मननाद्यनपेक्षं, वेदार्थत्वात्, धर्मवत्'। सो अनुमान उपाधिवाला होनेसे दुष्ट है, इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं। **साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वं उपाधेर्लक्षणम्।** अर्थ—साध्यका व्यापक होवे तथा साधनका अव्यापक होवे तिसका नाम उपाधि है इति। प्रसंगमें अनुभवायोग्यत्वरूप उपाधि है। जैसे धर्मरूप दृष्टान्तमें मननादिकोंका अनपेक्षत्व साध्य है, और प्रत्यक्ष अनुभवका अयोग्यत्वरूप उपाधि भी है, इस रीतिसे मननाद्यनपेक्षत्वरूप साध्यका व्यापकत्व अनुभवायोग्यत्वरूप उपाधिमें रह गया। और ब्रह्म रूप पक्षमें वेदार्थत्व रूप हेतु है, अनुभवायोग्यत्व रूप उपाधि नहीं है। इस रीतिसे वेदार्थत्व रूप साधनका अव्यापकत्व अनुभवायोग्यत्वरूप उपाधिमें रह गया। अतः यह पूर्वोक्त अनुमान अनुभवायोग्यत्वरूप उपाधिवाला होनेसे सोपाधिक है। और यह नियम है कि व्यापकके अभावसे व्याप्यका अभाव सिद्ध होता है। प्रसंगमें व्याप्य साध्य है, और व्यापक उपाधि है। अत ब्रह्ममें अनुभवायोग्यत्वरूप व्यापकका अभाव करके मननाद्यनपेक्षत्वरूप व्याप्य साध्यका अभाव सिद्ध होगा। अर्थात् **'ब्रह्म मननाद्यपेक्षं, अनुभवयोग्यत्वात्, गंधारदेशीयपुरुषप्राप्यगंधारदेशवत्'**। जैसे गंधार देशरूप दृष्टांतमें अनुभवयोग्यत्वरूप हेतु है, और तर्क रूप मननादिकोंकी अपेक्षा रूप साध्य भी है। तैसे ब्रह्म रूप पक्षमें अनुभवयोग्यत्वरूप हेतु है, अतः मननादिकोंकी अपेक्षा रूप साध्य भी मानना चाहिये। और जैसे वेदका अर्थ धर्म है, तैसे वेदका अर्थ ब्रह्म है। इस प्रकार वेदार्थत्वरूप करके यदि पूर्वपक्षी ब्रह्मनिष्ठ धर्मके साथ तुल्यताको कहे तो जैसे धर्ममें, कृति करके साध्यत्व है, तथा विधि, निषेध, विकल्प, उत्सर्ग, अपवाद, यह सर्व अर्थवाले होते हैं। तैसे ब्रह्ममें भी कृति साध्यत्व होना चाहिये, तथा विधि आदिक सर्व अर्थवाले होने चाहिये, परन्तु होते नहीं। क्योंकि **पुरुषाधीनात्मलाभाच्च कर्तव्यस्य** इति भाष्यम्, अर्थ—जो वस्तु कर्तव्य कहिये कार्यरूप होता है तिस वस्तुकी उत्पत्ति पुरुषकी कृतिके अधीन होती है, अतः कृतिसाध्य यागादिक रूप धर्ममें ही विधि आदिक अर्थवाले होसकते हैं, ब्रह्ममें नहीं इति।

इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—करनेको योग्य तथा नहीं करनेको योग्य तथा अन्य प्रकार करनेको योग्य लौकिक तथा वैदिक कर्म होता है। जैसे लौकिक गमन रूप कर्म अश्व करके करे, अथवा न करे, अथवा पाद करके करे। तैसे **अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति**। अर्थ-अतिरात्र नामक यागमें षोडशिनामक पात्रविशेषको ग्रहण करे यह विधि है। और पूर्वोक्त यागमें षोडशि नामक पात्रको ग्रहण नहीं करे यह निषेध है। इस वचन करके षोडशी पात्रका ग्रहण रूप वैदिक कर्मको करे अथवा न करे इति। यहां ऐच्छिक विकल्प है। **उदिते जुहोति**

अनुदिते जुहोति। अर्थ—सूर्यके उदय समयमें हवन करे अथवा सूर्य उदयसे प्रथम ही हवन करे इति। यहां दोनों विधि हैं, और व्यवस्थित विकल्प है। तथा इसको अन्यथा करनेका उदाहरण भी जानना। और **'यजेत्'** यह विधि है। **'न सुरां पिबेत्'** यह निषेध है। और **'व्रीहिभिर्यवैर्वा यजेत्'** व्रीहि कहिये धान करके अथवा यव करके यजन करे। यहां सम्भावित विकल्प है। और अश्वमेध प्रकरण में लिखा है **'आहवनीये जुहोति'** आहवनीय नामक अग्निमें हवन करे, इसका नाम उत्सर्ग है। † उत्सर्ग नाम सामान्यका है। और **'अश्वस्य पदे पदे जुहोति'** अश्वके पद पदमें हवन करे, अर्थात् यज्ञभूमिमें अश्वको फिराते हैं, जहां जहां अश्व पादको रखे तहां तहां हवन करे। इसका नाम अपवाद है। इस प्रकार नरकी अस्थिके स्पर्शका निषेध है। और ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुषको मनुष्यकी अस्थिका धारण विधान किया है। यहां पर ऐसा जाननेके योग्य है— षोडशी पात्रका ग्रहण और अग्रहणका, तथा उदित अनुदित होमका विरोध होनेसे समुच्चय तो बन सकता नहीं। और तुल्यबल होनेसे बाध्य बाधक भाव भी नहीं बनसकता। अत अगति करके विकल्प माना है। और नरकी अस्थिका स्पर्शननिषेध तथा धारणको परस्पर विरुद्ध होनेसे तथा अतुल्यबल होनेसे समुच्चय व विकल्प तो बनता नहीं। किंतु सामान्य शास्त्र जो स्पर्शननिषेध है तिसका धारण विषयक विशेषशास्त्र करके बाध होता है। इस रीतिसे साध्य जो धर्म है तिस धर्ममें विधि निषेध विकल्पादिक अर्थवाले होते हैं। नित्य सिद्ध ब्रह्ममें नहीं। क्योंकि सिद्ध घटमें 'घटः पटो वा' घट है अथवा पट है, ऐसा घटत्वादि प्रकारका विकल्प नहीं होता है। और 'अस्ति नास्ति वा' है अथवा नहीं-ऐसा सत्ता स्वरूपका विकल्प भी नहीं होता है।

शंका। आत्मादिक सिद्धवस्तुमें भी, अस्ति नास्ति वा, कर्ता अकर्ता वा, भोक्ता अभोक्ता वा, ऐसा वादियोंका विकल्प देखनेमें आता है।

समाधान। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षा इति भाष्यम्। अर्थ—अस्तित्वादिक कोटिरूपप्रकारका जो स्मरण है तिसका नाम पुरुष बुद्धि है, तिस बुद्धिकी अपेक्षा वाला विकल्प होता है। तथा सवासन मन करके जन्य संशय विपर्ययरूप विकल्प होता है। अतः पुरुषबुद्धिके अधीन विकल्प अप्रमारूप है इति। और सिद्ध वस्तुका ज्ञान पुरुषबुद्धिके अधीन नहीं। किंतु प्रमाण तथा वस्तुके अधीन है। और वस्तुको एक रूप होनेसे सिद्ध वस्तुका ज्ञान प्रमारूप होता है। जैसे एक स्थाणुमें 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा अन्यो वा' ऐसा ज्ञान होता है। यहाँ सर्व अंशमें ज्ञान यथार्थ नहीं है। किंतु पुरुष अंशमें तथा अन्य अंशमें मिथ्याज्ञान है, और स्थाणु अंशमें यथार्थ ज्ञान है। क्योंकि संशयसे अनन्तर 'स्थाणु ही है' ऐसा वस्तुके अधीन निश्चय

† 'न हिंस्यात्' यह उत्सर्ग है। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत्' यह अपवाद है।

होता है-अर्थात् जो वस्तुके अधीन ज्ञान होता है सो यथार्थ ही होता है। और जो ज्ञान पुरुषके अधीन होता है वस्तु व प्रमाणके अधीन नहीं होता है, सो अयथार्थ होता है। तैसे ब्रह्मज्ञान भी सिद्ध ब्रह्मरूप वस्तुके अधीन होनेसे यथार्थ है। अतः साध्य अर्थमें सर्व विकल्प पुरुषाधीन होते हैं, सिद्धार्थमें नहीं, इत्यादि वैलक्षण्यसे धर्म सदृश ब्रह्म नहीं है। इसलिये मननादिकी अपेक्षा ब्रह्ममें है, धर्ममें नहीं।

शंका। ब्रह्म प्रत्यक्षादिगोचरं, धर्मविलक्षणत्वात्, घटवत्। जैसे घट रूप दृष्टान्तमें धर्मसे विलक्षणत्व रूप हेतु है, और प्रत्यक्षादिक ज्ञानका विषयत्व रूप साध्य भी है। तैसे ब्रह्म रूप पक्षमें धर्मसे विलक्षणत्व रूप हेतु है, अतः प्रत्यक्षादिक ज्ञानका विषयत्व रूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके यह सिद्ध हुआ कि 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें जगत्का कारणविषयक अनुमान प्रमाण ही विचार करनेको योग्य है। क्योंकि अनुमान सिद्धब्रह्मरूप वस्तुमें प्रमाण रूप है। अत इस सूत्र करके श्रुतिका विचार निष्फल है।

समाधान। यहां वादी पूछनेको योग्य है-कि 'यत्कार्यं तद्ब्रह्मजन्यं' जो कार्य होता है सो ब्रह्म करके जन्य होता है, यह विशेष अनुमान ब्रह्मका साधक है, अथवा 'यत्कार्यं तत्सकारणकं'-जो कार्य होता है सो कारण वाला होता है, यह सामान्य अनुमान ब्रह्मका साधक है? तहां प्रथम पक्ष तो बन सकता नहीं, क्योंकि जो चक्षु आदिक इन्द्रिय हैं सो बाह्य विषयको ग्रहण करने वाले हैं। और ब्रह्म रूपादिकों करके रहित होनेसे इन्द्रिय करके ग्राह्य नहीं हो सकता। तहां श्रुतिः-पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। अर्थ-परमात्मा इन्द्रियोंको बहिर्मुख रचता भया, इस हेतुसे इन्द्रिय बाह्य पदार्थों को देखते हैं, अन्तरहृदय देशमें विद्यमान आत्माको नहीं देखते हैं इति। और यदि ब्रह्म इन्द्रियका विषय होवे तो 'यह कार्य ब्रह्म करके जन्य है' ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण करके जन्य व्याप्तिका ज्ञान होवे, और यह प्रत्यक्षव्याप्तिज्ञान रूप अनुमान ब्रह्मका साधक होवे। परन्तु ब्रह्मको इन्द्रिय करके अग्राह्य होनेसे 'यत्कार्यं तद् ब्रह्मजन्यं' ऐसा प्रत्यक्ष व्याप्तिज्ञान नहीं बन सकता है, अतः ब्रह्मका साधक प्रथम अनुमान नहीं हो सकता। और 'यत्कार्यं तत्सकारणकं' यह दूसरा अनुमान भी ब्रह्मका साधक नहीं बन सकता। किंतु यह अनुमान सामान्यसे कारण मात्रका साधक है। और इस अनुमान करके ऐसा निश्चय कभी नहीं हो सकता कि 'कार्यमात्र ब्रह्मरूप कारण करके जन्य हैं' अथवा 'अन्य कारण करके जन्य हैं'। किंतु इस अनुमान करके सामान्यसे सिद्ध जो कारण मात्र है, तिस कारणमें ब्रह्मत्वका निश्चय तो श्रुति प्रमाण करके ही होता है। अतः प्राधान्य करके श्रुति ही 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें विचार करनेको योग्य है, अनुमान नहीं। अनुमान तो मृदादि दृष्टान्त करके जो ब्रह्ममें स्वकार्यात्मकत्वरूप श्रुतिका अर्थ है-अर्थात् जैसे घट शरावादिक संपूर्ण मृत्तिका स्वरूप है, तैसे आकाशा-

दिक प्रपंच रूप कार्य संपूर्ण ब्रह्मस्वरूप है, इस श्रुतिके अर्थकी संभावनाके वास्ते गौणरूप करके विचारणीय है।

शंका। वह वेदान्तवाक्य कौन हैं जिन वेदान्तवाक्योंके अनुसार यह सूत्र ब्रह्मका लक्षणको कहता है।

समाधान। जैसे प्रथम सूत्रमें ब्रह्मको जाननेकी कामनावाला विवेकादि-विशिष्ट अधिकारीके लिये ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा करके, द्वितीय सूत्रमें ब्रह्मका लक्षण कथन किया है। तैसे श्रुतिमें भी ब्रह्मसाक्षात्कारकी कामनावाला पुरुषके लिये जगत्कारणत्वरूप लक्षणका अनुवाद करके ब्रह्मका बोधन किया है। अतः श्रौत अर्थके क्रमोंका अनुसारित्वको सूत्रमें दिखाते हुये उपक्रम सहित वाक्यको दिखाते हैं। तहां श्रुतिः–भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। अर्थ—वरुण ऋषिका पुत्र जो भृगु है सो अपने पिताके पास प्राप्त होकर कहा कि हे भगवन्! आप हमारेको ब्रह्मका उपदेश करें इति। ऐसा उपक्रम कहिये आरम्भ करके वरुण भृगुके प्रति उपदेश करता भया—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति। इस श्रुति-का अर्थ पूर्व स्पष्ट करके निरूपण करके आये हैं। अर्थात् इस वाक्य करके जगत्के जन्मस्थितिभंगका कारण जो है सो ब्रह्म है, तिस ब्रह्मको तू जाननेकी इच्छा कर यह कहा। और जो ब्रह्म जगत्का कारण है सो सत्य ज्ञान आनन्द रूप है। इस अर्थको भी श्रुति कहती है। तहां श्रुतिः—आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। अर्थ—स्पष्ट है। यह पूर्वोक्त प्रसंग तैत्तिरीय उपनिषत्में लिखा है। और तटस्थ लक्षणके बोधक वाक्य 'यतो वा इमानि' इत्यादिक हैं, और स्वरूप लक्षणके बोधक वाक्य 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि' इत्यादिक हैं, इन लक्षणद्वयके बोधक वाक्योंका समन्वय जिज्ञास्य ब्रह्ममें भाष्यकार भगवान्ने जैसे दिखाया है। तैसे तत्तत् शाखामें स्थित लक्षणद्वयके बोधक वेदान्तवाक्योंका समन्वयको जिज्ञास्य नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव, सर्वज्ञ स्वरूप कारणब्रह्ममें जानना। तहां श्रुत्यन्तर-में लिखा है-यः सर्वज्ञः सर्ववित्, तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते। यह वाक्य तटस्थलक्षणका बोधक है। और विज्ञानमानन्दं ब्रह्म यह वाक्य स्वरूपलक्षणका बोधक है। श्रुतिका यह अर्थ है—जो परमात्मा सामान्य रूप करके सर्वको जानता है सो परमात्मा विशेष रूप करके सर्वको जानता है। ऐसा अर्थ करनेसे पुनरुक्ति आदिक दोष होता नहीं। और तिस परमात्मासे ही ब्रह्म कहिये कार्य ब्रह्म, नाम कहिये शब्द, रूप कहिये आकार, अन्न कहिये पृथिवी आदिक उत्पन्न होते भये। और ब्रह्म विज्ञानस्वरूप है तथा आनन्दस्वरूप है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे लक्षणद्वयके बोधक संपूर्ण वेदान्तवाक्य सत्य ज्ञान आनन्दरूप ब्रह्ममें समन्वित हुये, और तिस

ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति होती है, यह सिद्ध हुआ। और ब्रह्मका तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षणका निरूपण पूर्व विस्तारसे कर आये हैं। इति द्वितीयसूत्रम् व्याख्यातम् ॥ २ ॥

॥ इति जन्माद्यधिकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

अब तृतीय अधिकरणका निरूपण करते हैं। तहां 'जन्माद्यस्य यतः, इस द्वितीय अधिकरणके साथ 'शास्त्रयोनित्वात्' इस तृतीय अधिकरणकी संगतिको कथन करनेके लिये पूर्व वृत्तान्तको कथन करते हैं—**जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं इति भाष्यम्।** अर्थ—द्वितीय अधिकरण सूत्र करके सूत्रकारने चेतन ब्रह्ममें जगत्कारणत्वको दिखाकरके अर्थसे चेतन ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वको बोधन किया है। क्योंकि चेतन करके रचित जो सृष्टि है सो ज्ञान पूर्वक होती है इति। इस कहने करके यह अनुमान सिद्ध हुआ—**ब्रह्म सर्वज्ञं, सर्वकारणत्वात्, यो यत्कर्ता स तज्ज्ञः यथा कुलालः।** अर्थ—जैसे कुलाल घटका कर्ता है और घटको जाननेवाला भी है, तैसे ब्रह्म भी सर्वका कारण है, अतः सर्वको जाननेवाला सर्वज्ञ भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सिद्ध जो सर्वज्ञत्व है तिस सर्वज्ञत्वको वेदकर्तृत्वरूप हेतु करके दृढ़ करते हुये व्यास भगवान् कहते हैं:—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

यहां सर्वकारणत्व तथा वेदकर्तृत्वरूप दोनों हेतु एक सर्वज्ञत्वरूप अर्थके साधक हैं। अत इन दोनों अधिकरणोंकी परस्पर एक विषयत्वरूप **संगति** है। अथवा मिमांसकोंके मतमें वेदको नित्य होनेसे ब्रह्ममें सर्वजगत्का कारणत्व नहीं बन सकता इस आक्षेप संगति करके सूत्रकार वेद कर्तृत्वरूप शास्त्रयोनित्वको कहा है। अत इन दोनों अधिकरणोंका परस्पर आक्षेपसंगतिरूप संबन्ध जानना।

अब अधिकरण रचनाको दिखाते हैं। तहां **अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।** इत्यादि मन्त्र इस अधिकरणके **विषयवाक्य हैं,** अर्थ—यह जो ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वण वेद हैं सो इस महान्रूप परमात्मासे उत्पन्न हुये हैं इति। 'निःश्वसितं' इस पदका यह अभिप्राय है कि जैसे पुरुष श्वास प्रश्वासको चलानेके लिये प्रयत्न नहीं करता, स्वयं आप ही आप चलता रहता है; तैसे परमात्मा भी प्रयत्नसे विना ही (अर्थात् लीला मात्र करके ही अथवा स्वरूप सत्ता मात्र से ही) इन ऋग्वेदादिकोंको रचता है इति।

और 'यह विषयवाक्य वेदका कर्तृत्वरूप हेतु करके ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वको सिद्ध करता है या नहीं' ऐसा इस अधिकरणमें **संशय** है।

अथ पूर्वपक्ष। व्याकरणादिकोंकी न्याई यदि वेदको पौरुषेय मानोगे तो वेद भी मूल प्रमाणकी अपेक्षा करेगा, और मूल प्रमाणकी अपेक्षा होनेसे स्वतः प्रमाणत्वका अभावरूप अप्रमाणत्वकी प्राप्ति होगी, अतः, वेद नित्य है। इसलिये यह वाक्य वेदकर्तृत्वरूप हेतु करके ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वको नहीं सिद्ध करता। और पूर्वपक्षमें जगत्कारणमें सर्वज्ञत्वकी असिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि फल है इति।

अथ सिद्धान्त। वेदमें सर्व अर्थोंके प्रकाश करनेका सामर्थ्य देखनेमें आता है इस करके ऐसा अनुमान होता है—**वेदनिष्ठसर्वार्थप्रकाशनशक्तिः, स्वोपादानगतशक्तिपूर्विका, प्रकाशनशक्तित्वात्, प्रदीपशक्तिवत्।** अर्थ—जैसे दृष्टान्त रूप प्रदीपशक्तिमें प्रकाशनशक्तित्व रूप हेतु है, और प्रदीपके उपादान जो प्रदीपके अवयव हैं तिन अवयवगतशक्तिपूर्वकत्व साध्य भी है, तैसे वेदनिष्ठसर्वअर्थप्रकाशनशक्तिरूप पक्षमें प्रकाशनशक्तित्वरूप हेतु है, अतः वेदका उपादान कारण जो ब्रह्म है तिस ब्रह्ममें जो शक्ति है तिस शक्तिपूर्वकत्व साध्य भी मानना चाहिये इति।

इस अनुमान करके ब्रह्मको वेदका उपादान होनेसे स्वसंबद्ध संपूर्ण अर्थका प्रकाशन सामर्थ्यरूप सार्वज्ञ्य ब्रह्ममें सिद्ध हुआ।

और जो मीमांसक वर्णरूप शब्दको नित्य मानता है तिस मीमांसकको भी पद तथा वाक्य रूप शब्दको तो अनित्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि आनुपूर्वीविशेष वाले जो वर्णका समुदाय है तिसका नाम पद है। जैसे 'रामचन्द्राय' यह रकार आदिक वर्णका समुदायरूप पद है। और आनुपूर्वीविशेषवाले जो पदोंका समुदाय है तिसका नाम वाक्य है। जैसे 'दण्डेन शुक्लां गामानय' यह दण्डादिक पदोंका समुदायरूप वाक्य है। और पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी वर्णोंका धर्म तो नहीं बन सकती है क्योंकि मीमांसक वर्णोंको नित्य तथा विभु मानता है। अतः, वर्णोंको नित्य होनेसे काल करके पूर्वापरभाव नहीं बन सकता है। तथा विभु कहिये व्यापक होनेसे देश करके भी पूर्वापरभाव बन सकता नहीं। परिशेषसे आनुपूर्वीको पदरूप तथा वाक्यरूप व्यक्तिका धर्म कहना होगा। और लोकमें प्रसिद्ध भी है जो अनित्य तथा परिच्छिन्न पदार्थ हैं तिन पदार्थोंमें काल करके तथा देश करके पूर्वापरभाव रहता है। इस रीतिसे पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वीविशेषवाले जो पद हैं तथा वाक्य हैं सो सम्पूर्ण अनित्य ही हैं, नित्य कदाचित् भी नहीं हो सकते। अत नर्तकका अनुकरणकी न्याई वर्ण पद आदिकोंका अनुकरण किया जाता है। जैसे जैसे नर्तक पुरुष अपने गात्रको चलाता है तैसे तैसे शिक्ष्यमाण नर्तकी भी अपने गात्रको चलाती है, नर्तक शरीरमें जो चलनरूप क्रिया है साक्षात् तिस ही क्रियाको नहीं करती। क्योंकि नर्तक पुरुषके शरीरसे नर्तकीका शरीर भिन्न है। तैसे अध्यापक वर्ण पद आदिकोंकी यादृश आनुपूर्वीको उच्चारण करता है तादृश आनुपूर्वीको अध्ययन

करने वाला पुरुष उच्चारण करता है, अध्यापककी आनुपूर्वीको उच्चारण करता नहीं, क्योंकि आचार्यव्यक्तिसे शिष्यकी व्यक्ति भिन्न है। और अध्ययन करनेवाला पुरुष पूर्व क्रमको जान करके (अर्थात् गुरुने प्रथम जिस क्रमसे उच्चारण किया है तिस क्रमको जान करके) वेदका उच्चारण करता है। तैसे विचित्र गुणवाली माया है सहायक जिसका ऐसा अनावृत अनन्त स्वप्रकाश चिन्मात्र परमेश्वर भी पूर्व कल्पमें अपने करके किये हुये अर्थात् स्वविवर्तरूप जो वेदोंके क्रम हैं, तिन क्रमवाले वेदोंका समूहको तथा वेदोंके अर्थोंको एक समयमें ही जानता हुआ वेदको करता है। अतः—वेदमें पौरुषेयत्व नहीं बन सकता। किंतु जहां अर्थज्ञानपूर्वक वाक्यका ज्ञान वाक्यसृष्टिमें कारण होता है तहां वाक्यमें पौरुषेयत्व होता है। और प्रसंगमें ऐसा है नहीं किंतु वेदका कर्ता वेदको तथा वेदसंबद्ध संपूर्ण अर्थको व्यवधान रहित एक कालमें ही जानता है। अतः जगत् कर्ता सर्वज्ञ है। इस प्रकारका सिद्धान्तको दिखाते हैं। **शास्त्रयोनित्वात्। शास्त्रस्य योनिः शास्त्रयोनिः शास्त्रयोनेर्भावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्।** अर्थ—शास्त्रका जो योनि कहिये कारण तिसका नाम शास्त्रयोनि है, और शास्त्रके कारणका धर्मका नाम शास्त्रयोनित्व है। अर्थात् शास्त्रकारणत्व है। तिस शास्त्रका कारणत्ववाला होनेसे परमात्मा सर्वज्ञ है। भाव यह है, केवल जगत्का कारण होनेसे ही ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं, किंतु शास्त्रका कारण होनेसे भी ब्रह्म सर्वज्ञ है इति।

अब ब्रह्ममें जो शास्त्रका कारणत्व है तिस कारणत्वमें सर्वज्ञताका साधनत्वको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**महत ऋग्वेदादेः,** इत्यादिना, देवतिर्यक मनुष्य वर्ण आश्रम आदिकका विभागको करनेवाला ऋग्वेदादिक शास्त्र है।

शंका। न्याय मीमांसा आदिक दर्शनोंको शास्त्र कहते हैं वेदको नहीं, प्रसंगमें ऋगादिक वेदको भाष्यकारने शास्त्र क्यों कहा है?

समाधान। चार वर्णका तथा चार आश्रमका यथायोग्य गर्भाधानसे लेकर श्मशानान्त क्रियाका, तथा ब्रह्म मुहूर्तसे लेकर प्रदोष पर्यन्त कर्तव्यक्रियाका, तथा नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मका, प्रतिपादकपद्धति विषे तथा ब्रह्मतत्त्व विषे शिष्योंको शासनरूप शिक्षाको करता है अर्थात् हितका शासन करता है, अत ऋगादिक वेदोंका नाम शास्त्र है।

और महान् विषयवाला होनेसे ऋगादिक वेद महान् कहा जाता है। और केवल पूर्वोक्त महान् विषयवाला होनेसे ही महान् नहीं, किंतु **'अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य'** इति भाष्यम्। अर्थ—१ पुराण, २ न्याय, ३ मीमांसा, ४ धर्मशास्त्र, ५ शिक्षा, ६ कल्प, ७ व्याकरण, ८ निरुक्त, ९ छन्द, १० ज्योतिष्, यह दश विद्याके स्थान कहे जाते हैं, अर्थात् वेदोंके अर्थोंका जो ज्ञान है तिस ज्ञानके दश विद्यास्थान कारण हैं, इनों करके उपबृंहित कहिये उपकृत है अर्थात् उपकारको प्राप्त है, इस हेतुसे भी ऋगादिक वेद महान् है इति। और इस विशेषण करके भाष्यकार भगवान्ने ऋगादिक वेदोंमें समस्त

मनुआदिक महर्षियों करके परिगृहीतत्वको बोधन किया। तथा महर्षियों करके उपादेय होनेसे वेदमें अप्रमाण्य शंकाको भी दूर किया। और यदि ऋगादिक वेद अर्थका अबोधक होता अथवा अस्पष्ट बोधक होता तो अप्रमाणरूप होता। परन्तु ऐसा तो है नहीं, इस अर्थको दिखाते हैं—**प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः। इति भाष्यम्।** अर्थ—जैसे दीपक स्वसंबद्ध अर्थको प्रकाश करता है। तैसे ऋगादिक वेद भी स्वसंबद्ध अर्थ समूहको सर्वथा बोधन करता हुआ अर्थका अबोधक नहीं। तथा अस्पष्ट बोधक भी नहीं इति। और ऋगादिक वेदोंको सर्व अर्थके प्रकाश करनेका सामर्थ्य भी है, परन्तु अचेतन होनेसे सर्वज्ञके सदृश हैं। और परमेश्वरका सादृश्य वेदमें सर्व अर्थोंका प्रकाशन रूप है। ऐसे पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट ऋगादिक वेदोंका उपादान कारण तथा निमित्त कारण ब्रह्म है।

शंका। सर्वज्ञका जो सर्व अर्थ विषयक ज्ञानकी शक्तिरूप गुण है सो वेदमें रहो, परन्तु वेदका उपादान कारण जो ब्रह्म है तिस ब्रह्ममें सर्व अर्थोंके प्रकाश करनेकी शक्तिरूप गुण किस हेतुसे है?

समाधान। सर्वज्ञका गुण करके सहित ऐसे ऋग्वेदादिरूप शास्त्रकी अल्पज्ञसे उत्पत्ति नहीं बन सकती है, क्योंकि उपादान कारणमें सर्व अर्थकी प्रकाशनशक्तिसे विना उपादेय कार्यरूप वेदमें सर्व अर्थकी प्रकाशनशक्तिका अभाव होवेगा। इस करके यह सिद्ध हुआ कि 'या कार्यगता शक्तिः सा कारणगतशक्तिपूर्विका' इस अनुमान करके वेदके उपादान कारणमें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि हुई। और अनुमानका आकार तो पूर्व समीपमें ही कह आये हैं।

अब सर्वज्ञत्वका साधक दूसरे अनुमानको दिखाते हैं—**'वेदः, स्वविषयादधिकार्थज्ञानवज्जन्यः, प्रमाणवाक्यत्वात्, व्याकरणादिवत्।** अर्थ—जैसे व्याकरणादि रूप दृष्टान्तमें प्रमाणवाक्यत्वरूप हेतु है, और व्याकरणादिकोंके विषयसे अधिक अर्थविषयक ज्ञान वाले पाणिनि आदिकोंको करके जन्यत्व साध्य भी है। तैसे वेदरूप पक्षमें प्रमाणवाक्यत्वरूप हेतु है, अतः वेदके विषयसे अधिक अर्थविषयकज्ञानवज्-जन्यत्व साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके भी ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी सिद्धि जाननी इति।

और लोक प्रसिद्ध इसी अर्थको भाष्यकारने भी कहा है कि जो जो शास्त्र जिस जिस आप्त पुरुषसे उत्पन्न होता है सो सो पुरुषविशेष तिस तिस शास्त्रसे अधिकतर ज्ञानवाला होता है। जैसे ज्ञेयके एक देशरूप अर्थवाला जो व्याकरण है तिससे अधिक अर्थ विषयक ज्ञानवाला पाणिनि है। यदि अल्प है अर्थ जिसका ऐसा जो शास्त्र है सो भी अधिक अर्थका ज्ञानवालेसे उत्पन्न होता है, तो अनेक शाखाविशेष करके भिन्न भिन्न तथा सर्वज्ञानका कारण जो ऋगादिक वेद हैं, तिनकी उत्पत्ति पुरुषके निःश्वासकी न्याईं प्रयत्नसे विना ही लीला न्याय करके जिस अपरिच्छिन्न सद्रूप ब्रह्मसे हुई है तिस

अपरिच्छिन्न सद्रूप ब्रह्ममें निरतिशय सर्वज्ञत्व है, तथा सर्वशक्तिमत्त्व है, इसमें क्या कहना है। यहां पर इतना विशेष है, वेदका अध्ययन करनेवाला जो पुरुष है सो आचार्यकी अपेक्षा करता है, अर्थात् आचार्य जैसी आनुपूर्वीको उच्चारण करता है उसको श्रवण करके तिसके सदृश आनुपूर्वीको उच्चारण करता है। और परमेश्वर जो है सो पूर्व कल्पमें अपने करके रचित आनुपूर्वीको स्वयं आप ही स्मरण करके तिस प्रकार ही सृष्टिके आदिमें ब्रह्मादिकोंको आविर्भाव करता हुआ अनावृत ज्ञानवाला होनेसे वेद तथा वेदके अर्थोंको जानता हुआ वेदको रचता है इति प्रथमवर्णकम् ॥

* अबतक 'जन्मादि' और 'शास्त्रयोनित्व' सूत्र करके ब्रह्मका लक्षण कहा। अब **'शास्त्रयोनित्वात्'** इस सूत्र करके ब्रह्ममें प्रमाणको दिखाते हैं। तहां **'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्'** 'यह श्रुति ब्रह्ममें एक वेद करके वेद्यत्वको बोधन करती है या नहीं' इस **संशय** के हुये।

'विमतं जगत् सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' इस अनुमान करके भी लाघवसे एक कर्ता सर्वज्ञ ब्रह्मकी सिद्धि होती है। अतः **'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्'** यह श्रुति एक वेद करके ही वेद्यत्वको बोधन नहीं करती है इस प्रकारका **पूर्वपक्षको** प्राप्त हुये।

ब्रह्म वेदप्रमाणवाला होनेसे, अनुमानादिक प्रमाणान्तर करके वेद्य नहीं है। इस **सिद्धान्तको** दिखाते हैं। **शास्त्रयोनित्वात्** ॥ ३ ॥ अर्थ—शास्त्र है योनि कहिये प्रमाण जिस ब्रह्ममें तिस ब्रह्मका नाम शास्त्रयोनि है अर्थात् ब्रह्ममें केवल मुख्य शास्त्र ही प्रमाण है इति। पूर्वपक्षमें अनुमानमें विचार्यत्वकी सिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें वेदान्तशास्त्रमें विचार्यत्वकी सिद्धि फल है।

अब इस अर्थको भाष्यकार भगवान् स्पष्ट करके दिखाते हैं, **'अथवा'** इत्यादि भाष्यम्। 'अथवा' शब्द प्रथम पक्षमें जो 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्रका अर्थ कर आये हैं तिस अर्थसे अर्थान्तरका बोधक है। और इस ब्रह्मका यथावत् स्वरूपके ज्ञानमें पूर्वोक्त ऋग्वेदादिक शास्त्र प्रमाणरूप है। और शास्त्ररूप प्रमाणसे ही जगत्की उत्पत्ति आदिकोंका कारण ब्रह्म निश्चित होता है। तहां शास्त्र पूर्व सूत्रमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिक कह आये हैं।

शंका। जब पूर्व सूत्रमें ही शास्त्रको कथन कर आये तो फिर ब्रह्ममें 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र करके शास्त्र प्रमाणत्वको क्यों दिखाया है ?

समाधान। 'जन्माद्यस्य यतः' इस पूर्व सूत्रमें 'शास्त्र' पदका ग्रहण नहीं

* यहां लक्षणप्रमाणको ब्रह्मनिर्णायक होनेसे दोनों अधिकरणोंकी एक-फलकत्व संगति है।

होनेसे ऐसी शंका हो सकती है कि 'इस सूत्रमें जगत्का जन्मादि लिङ्गक अनुमान ही स्वतन्त्रता करके विचारणीय है, वेदान्त वाक्य नहीं' तिस शंकाकी निवृत्तिके लिये 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। इति तृतीयसूत्रम् व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

॥ इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् समाप्तम् ॥ ३ ॥

अब **'तत्तु समन्वयात्'** इस चतुर्थ अधिकरणकी रचनाको दिखाते हैं। तृतीय अधिकरण करके जो ब्रह्ममें शास्त्रप्रमाणकत्व कह आये हैं, सो इस अधिकरण करके प्रतिपादन करनेको योग्य है। तहां सिद्ध अर्थके ज्ञानसे फल होता है या नहीं इस रीतिसे फलका भाव तथा अभाव करके वेदान्त शास्त्र पूर्वोक्त ब्रह्ममें प्रमाण है या नहीं ऐसे **संशयके** हुये। अथवा रूपादिकों करके रहित सिद्ध ब्रह्मरूप अर्थको बोधन करनेवाले जो वेदान्त वाक्य हैं सो प्रत्यक्षादिक प्रमाणकी अपेक्षा करते हुये बोधन करते हैं या निरपेक्ष हुये बोधन करते हैं। इस रीतिसे सापेक्षत्व तथा निरपेक्षत्व करके संपूर्ण वेदान्त शास्त्र सिद्ध ब्रह्ममें प्रमाण है या नहीं ऐसे **संशयके** हुये। **आक्षेपसंगति** करके वादी पूर्वपक्षको दिखाता है।

अथ पूर्वपक्ष। **कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते।** इति भाष्यम्। अर्थात्–ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है, यह कथन नहीं बन सकता, क्योंकि जैमिनि ऋषिने प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके प्रथम सूत्रमें कहा है **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमित्युच्यते'**। अर्थ—वेदरूप शास्त्र क्रिया रूप अर्थवाला होनेसे प्रमाण है, और क्रियासे भिन्न सिद्ध अर्थ वाले वाक्योंमें आनर्थक्य है अर्थात् फलरहितत्व है, इस लिये अप्रमाण रूप हैं इति। इस सूत्र करके क्रियाबोधक वाक्योंमें प्रमाणरूपता तथा क्रियासे भिन्न अर्थके बोधक वाक्योंमें अप्रमाणरूपताको दिखाया है। जैसे **सोऽरोदीत्**—सो अग्नि रोदन करता भया। इष्ट वस्तुका वियोगजन्य, अथवा शस्त्रादिकोंका अभिघात जन्य, जो नेत्रसे जलका गिरना है तिसका नाम रोदन है। ऐसा रोदन इच्छाजन्य प्रयत्नसे नहीं होता, इसलिये सिद्ध रोदन रूप अर्थ विषयक वाक्य अनर्थक कहिये अप्रमाणरूप है। तैसे वेदान्तवाक्य भी क्रियासे भिन्न सिद्ध ब्रह्मरूप अर्थ विषयक होनेसे अप्रमाणरूप हैं।

अब इसी अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं-तहां **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** अर्थ—जिसलिये अधीत वेद अर्थात् अध्ययन किया हुआ वेद, धर्मजिज्ञासामें कारण है, इस लिये वेदाध्ययनसे अनन्तर धर्मजिज्ञासा करनेको योग्य है इति। इस प्रथम सूत्र करके जैमिनि ऋषिने अध्ययन करणक भावनाविशिष्ट विधि करके भाव्य वेदमें फलवत्क्रियारूपअर्थपरत्वको दिखाया है। और **'चोदना-**

लक्षणोऽर्थो धर्मः' इस द्वितीय सूत्र करके धर्मरूप कार्यमें चोदनाको प्रमाणरूप कहा है। 'क्रियायाः प्रवर्तकं वचनं चोदना' क्रियाका प्रवर्तक जो वचन है तिसका नाम चोदना है। अर्थात् आचार्यके मुखसे 'स्वर्गकामो यजेत्' इस वचनको श्रवण करके अधिकारी पुरुष यागादिकमें प्रवृत्त होता है। और कहता है कि 'आचार्यचोदितः करोमि' आचार्यके वचन रूप प्रेरणासे मैं यागादिक क्रियाको करता हूं। इस कहनेसे क्रियाका प्रवर्तक 'यजेत्' इत्यादिक वचनरूप चोदना है। इस द्वितीय सूत्र करके वेदनिष्ठ प्रामाण्यका व्यापक कार्यपरत्वको दिखाया है। अर्थात् जिस वेदमें प्रामाण्य है, तिस वेदमें कार्यपरत्व है। जैसे 'यजेत्' इत्यादिक वाक्यमें। और जिस वेदमें कार्यपरत्व नहीं है, तिस वेदमें प्रामाण्य भी नहीं है। जैसे सिद्ध अर्थका बोधक 'सोऽरोदीत्' इत्यादिक अर्थवाद वाक्यमें। तहां 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' इत्यादिक वाक्य 'धर्ममें प्रमाणरूप है या नहीं' ऐसे संशय के हुये। पूर्वपक्षी कहता है कि, आम्नायरूप वेदनिष्ठ प्रामाण्यको क्रियार्थत्वका व्याप्य होनेसे, 'वायुर्वैक्षेपिष्ठादेवता' इत्यादिक अर्थवाद वेदवाक्यमें क्रियार्थत्वरूप व्यापकका अभाव होनेसे, वेदनिष्ठ प्रामाण्यरूप व्याप्यका भी अभाव सिद्ध होगा। अतः—यागादिरूप धर्मादिकोंकी अप्रतीति होनेसे अक्रियार्थक अर्थवादोंमें निष्फलार्थत्वरूप आनर्थक्य है। और अध्ययन विधि करके संगृहीत वेदवाक्योंको निष्फल सिद्ध अर्थमें प्रमाण नहीं मान सकते हैं।

इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये।

अब "विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधिनां स्युः" इस सूत्रकरके जैमिनि ऋषिने जो शास्त्रका क्रियापरत्वरूप सिद्धान्तको प्रतिपादन किया है सो दिखाते हैं। वायव्यं श्वेतमालभेत् भूतिकामः, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता। अर्थ–विभूतिकी कामनावाला पुरुष वायु संबन्धि श्वेत पशुका आलम्भन करे। अत्यन्त शीघ्रगमन करनेवाली जो वायुदेवता है तिस देवतावाला कर्म शीघ्र ही कर्ताको फल देता है इति। यद्यपि अर्थवाद वाक्यसे क्रियाका तथा क्रिया संबद्ध कोई वस्तुका बोध होता नहीं, तथापि 'वायव्यं श्वेतमालभेत् भूतिकामः' इस विधिके संबन्धी 'वायुर्वै' इत्यादिक अर्थवाद वाक्योंका 'आलभेत्' इस विधिके साथ विधेयकर्मकी स्तुतिद्वारा एकवाक्यत्व होनेसे अर्थवाद प्रमाणरूप है। अर्थात् प्रसंगमें 'वायव्यं श्वेतमालभेत्' यह जो विधिवाक्य है इस विधिवाक्यको अपेक्षित जो (यह कर्म कैसा है कि जिस कर्मकी शीघ्रतमगामिनी वायु देवता है, अतः यह कर्म शीघ्र फलको देनेवाला है ऐसी) स्तुतिरूप अर्थ, तिस स्तुतिरूप अर्थद्वारा अर्थवाद वाक्य भी सफल अर्थवाले हैं अतः प्रमाणरूप हैं।

शंका। वेदान्त वाक्योंको भी अध्ययनविधि करके परिगृहीत होनेसे आनर्थक्य कहना समीचीन नहीं।

समाधान। पूर्वमीमांसक कहता है कि हम वेदान्तवाक्योंमें आनर्थक्य नहीं सिद्ध करते, किन्तु जैसे लोकमें सिद्ध जो घटादिक हैं तिनमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणवेद्यत्व होता है तथा निष्फलत्व होता है। तैसे वेदान्त शास्त्रको यदि सिद्ध ब्रह्मपरत्व मानोगे तो ब्रह्ममें भी प्रमाणान्तरकी अपेक्षा तथा निष्फलत्वकी प्राप्ति होनेसे वेदान्तमें अप्रामाण्यकी प्राप्ति होगी। इसलिये कार्यका शेष जो कर्ता तथा देवता तथा फल इनोंके प्रकाशनद्वारा वेदान्तवाक्योंको कार्यपरत्व ही कहना चाहिये। अर्थात् जीवके स्वरूपका बोधक जो वेद भाग है सो कर्ताका बोधक है। और ईश्वरके स्वरूपका बोधक जो वेद भाग है सो देवताका बोधक है। और शेष वेदभाग यागोंका तथा यागोंकी सामग्री आदिकोंका बोधक है। अतः वेदान्तको क्रियाविधिका शेष मानना चाहिये, ऐसा हम कहते है।

कर्मविशेषको नहीं आरम्भ करके तथा कर्मप्रकरणसे भिन्नदूसरे प्रकरणमें पठित जो वेदान्त शास्त्र है सो कर्मविधिका शेष नहीं वन सकता, क्योंकि वेदान्तनिष्ठ कर्मविधिशेषत्वमें कोई प्रमाण है नहीं। इस अरुचि करके पक्षान्तरको मीमांसक कहता है। अथवा जीवका ब्रह्ममें अभेद असत् है परन्तु असत् अभेदको आरोपण करके मोक्षकी कामनावाला जो पुरुष है सो 'अहं ब्रह्मास्मीति' 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकार उपासना करे, यह जो उपासनाविधि है तथा श्रवणादिक हैं-तिनोंके विधानके लिये वेदान्तवाक्य हैं। अर्थात् उपासना रूप क्रियाविधिका शेषत्व वेदान्त वाक्योंमें है ऐसा मानना चाहिये।

शंका। प्रसंगमें श्रुतिसिद्ध ब्रह्मको त्याग करके अश्रुत जो कार्य है तिस कार्यपरत्व वेदान्तवाक्योंमें कहना असंगत है।

समाधान। वेदान्तवाक्यों करके सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन नहीं वन सकता है, क्योंकि सिद्ध घटादि वस्तु प्रत्यक्षादिक प्रमाणका ही विषय है। और यदि प्रत्यक्षादिक प्रमाणके विषयको वेद प्रतिपादन करेगा तो 'प्रमाणान्तर करके अज्ञात वस्तुका ज्ञापकत्वरूप' प्रामाण्य वेदमें सिद्ध नहीं होगा, **अज्ञातज्ञापकत्वं हि वेदानां प्रामाण्यम्**। किन्तु जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण करके सिद्ध जो अग्निमें शीतनिवृत्तिका जनकत्व, तिसका बोधन करनेवाला 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यह वाक्य अनुवादक है, तैसे वेदमें भी अनुवादकत्व होगा। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि **सिद्धो न वेदार्थः, मानान्तरयोग्यत्वात्, घटवत्***। अर्थ-जैसे घट रूप दृष्टान्तमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणान्तरका विषयत्वरूप योग्यत्व हेतु है, और वेदके अर्थत्वका अभावरूप साध्य भी है। तैसे सिद्ध ब्रह्मरूप पक्षमें मानान्तरका योगत्वरूप हेतु है, अतः वेदार्थ-

---

* ब्रह्म मानान्तरयोग्यं, सिद्धत्वात्, घटवत्। अर्थ-जैसे घटमें सिद्धत्व हेतु है, मानान्तरयोग्यत्वरूप साध्य भी है, तैसे ही सिद्ध ब्रह्ममें मानन्तरयोग्यत्व अवश्य मानना होगा इत्यभिमानः।

त्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके वेदान्तवाक्योंमें सिद्ध ब्रह्मपरत्वका खण्डन किया।

और यदि वेदान्तवाक्य सिद्ध-ब्रह्म वस्तुको प्रतिपादन करेगा तो वेदान्त अप्रमाणरूप होगा इस अर्थमें अन्य अनुमान प्रमाणको दिखाते हैं। **'सिद्धो न वेदार्थः, निष्फलत्वात्, घटादिवत्'**। अर्थ–जैसे घटरूप दृष्टान्तमें निष्फलत्व हेतु है और वेदार्थत्वका अभावरूप साध्य भी है, तैसे सिद्ध ब्रह्म रूप पक्षमें निष्फलत्वरूप हेतु है, अतः वेदार्थत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। तात्पर्य यह है कि जो सिद्ध वस्तु है सो फल तथा फलवाला नहीं कहा जाता। किन्तु जिसका स्वरूप प्रथम असिद्ध हो और पश्चात् क्रिया करके जिसका स्वरूप सिद्ध हो तिसका नाम फल है। अर्थात् सुख, तथा दुःखके अभाव, का नाम फल है। सो फल प्रवृत्ति तथा निवृत्ति करके साध्य है। और सो प्रवृत्ति तथा निवृत्ति विधिनिषेधके अधीन है, और विधिनिषेधको कार्यविषयक होनेसे सिद्धअर्थमें असंभव है। अर्थात् 'स्वर्गकामो यजेत्' इति विधिः–स्वर्गकाम पुरुष याग करके इष्ट स्वर्गरूप सुखको सिद्ध करे। और यागरूप क्रियाका साध्य स्वर्गरूप सुखको बोधन करनेवाला जो विधिवाक्य है, सो सुखके साधन यागमें पुरुषको प्रवृत्त करता है, और तिस पुरुषको प्रवृत्ति यागद्वारा सुखकी साधन है इति।

और 'न सुरां पिबेत्' इति निषेधः। सुरापान करके जन्य जो दुःख है तिस दुःखाभावको सिद्ध करे। भाव यह है–सुरापानकी निवृत्तिजन्य दुःखाभावको बोधन करनेवाला जो निषेधवाक्य है, सो दुःखाभावका साधन सुरापानकी निवृत्तिको बोधन करता है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप कार्यका बोधक जो वेद है सो प्रमाण है; सिद्ध अर्थका बोधक वेदभाग प्रमाण नहीं।

शंका। सिद्ध अर्थका बोधक जो अर्थवादादिरूप वेद है तिसमें साफल्य किस प्रकार होगा?

समाधान। अर्थवादादिक वेदमें निषेध व विधिके विषयकी निन्दा वा स्तुति-द्वारा साफल्य है। इस अर्थको जैमिनि ऋषिकृत मीमांसादर्शनका प्रथम अध्यायके द्वितीय पादमें दशम सूत्रके द्वितीय व्याख्यामें शवर स्वामीने भाष्यमें लिखा है, **अथ "सोऽरोदीत्" कस्य विधेः शेषः? "तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयम्" इत्यस्य।** अर्थ—प्रश्न-कोइ समय जब इन्द्रादिक देवताओंने अग्नि देवताको यज्ञ भाग देना बंदकर दिया तब देवतावों करके निरुद्ध हुआ सो अग्नि रोदन करता भया, यह जो रोदनरूप सिद्ध अर्थका बोधक अर्थवाद है, सो किस विधिका शेष है? उत्तर-जिसलिये अग्नि रोदन करता भया इस लिये 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इस विधिका शेष है। बर्हि नाम यागविशेषका है, तिस यागमें रजतका दान नहीं देना, क्योंकि जो पुरुष तिस यागमें रजतका दान देता है उस पुरुषके गृहमें एक वर्षसे प्रथम ही रोदन प्राप्त होता है, और रोदन शब्दका अर्थ पूर्व समीपमें ही कर आये हैं इति।

शंका। बर्हियागमें रजत नहीं देना यह कहा सो क्यों नहीं देना ऐसी आकाङ्क्षा होती है, इस आकाङ्क्षाके हुये जो 'सोऽरोदीत्' यह अर्थवाद वाक्य है सो विधिका उपकारक किस प्रकार होता है?

समाधान। गुणवाद करके उपकारक होता है सो दिखाते हैं। रोदनसे उत्पन्न हुआ जो रजत है तिस रजतको देनेवाला पुरुषको रोदन प्राप्त होता है। और जो अरोदन है सो रजतनिषेधका गुण है।

शंका। अश्रुसे अजन्य रजतको अश्रुसे जन्य किस प्रकार कहा है?

समाधान। जलका वर्ण शुक्ल है और रजतका वर्ण भी शुक्ल है। अतः सारूप्यसे अश्रुजन्यत्व रजतमें कहा है। और रजतमें अश्रुजन्यत्वको होनेसे रजत निन्दित है, इस प्रकार रजतकी निन्दा द्वारा 'सोऽरोदीत्' इस फलसाकाङ्क्ष अर्थवाद वाक्यमें, अरोदनरूप फलवाला जो 'बर्हिषि रजतं न देयं' यह निषेध है तिस निषेधका शेषत्व है। अर्थात् वेदमें जितने सिद्ध अर्थके प्रतिपादक अर्थवाद हैं सो सम्पूर्ण अर्थवाद विधेय अर्थकी स्तुतिद्वारा तथा निषेध्य अर्थकी निन्दा द्वारा विधि निषेधके शेष हैं। इसी तरह सिद्ध अर्थके बोधक वेदान्त वाक्यों-में भी विधि आदिकोंका शेषत्व मानना चाहिये।

और यदि वेदान्ती ऐसा कहे कि जैसे मन्त्रका अर्थ पृथक् होता है, तैसे वेदान्तका अर्थ भी पृथक् मानना उचित है। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं। अर्थवाद वाक्योंका अर्थ दो प्रकारका है, स्तुति तथा निन्दा। यद्यपि अर्थवाद वाक्यमें अनेक पद हैं तथा अनेक पदोंके अर्थ भी अनेक प्रतीत होते हैं। तथापि अर्थवादवाक्यका मुख्य अर्थ एक स्तुति अथवा निन्दा है। अतः-अर्थवाद वाक्यका एक अर्थहोनेसे अर्थवादवाक्यको एक पद रूप ही समझना चाहिये। और एक पदरूप होनेसे अर्थवादवाक्यकी विधिवाक्यके साथ पदैकवाक्यता कही जाती है। इस रीतिसे अर्थवादवाक्यकी तरह वेदान्त वाक्यकी विधि-वाक्यके साथ पदैकवाक्यता नहीं बन सकती। क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादिक वाक्यका एक अर्थ स्तुति अथवा निन्दा नहीं है, किंतु त्वं पदका अर्थ कर्ता है, तथा तत् पदका अर्थ देवता है। यह वेदान्तीका कहना यद्यपि सत्य है। तथापि मन्त्रोंकी विधिवाक्योंके साथ जैसे वाक्यैकवाक्यता है, तैसे वेदान्त वाक्योंकी भी विधिवाक्योंके साथ वाक्यैकवाक्यता अवश्य माननी पड़ेगी।

इस अर्थको पूर्वमीमांसाके प्रथम अध्यायके द्वितीयपादमें ३१ सूत्रके भाष्यमें विचार किया है. **बर्हिर्देवसदनं दामि।** अर्थ—हे बर्हि! देवताका स्थानरूप तुम्हारे-को मैं छेदन करता हूँ इति। इस मन्त्र करके छेदनरूप क्रियाकी प्रतीति होनेसे, तथा ईश्वरके विराट् स्वरूपका वर्णनमें 'अग्निर्मूर्धा' यह पद है तहां अग्नि शब्दका गौण अर्थ द्युलोक है, अत इस मन्त्र करके क्रियाके साधन देवतादिकोंकी प्रतीति होनेसे, श्रुति लिङ्गादिकों करके मन्त्र जो हैं सो यागमें विनियुक्त हैं। तहां ऐसा

संशय होता है कि, मन्त्र जो हैं सो उच्चारण मात्र करके अदृष्टको उत्पन्न करते हुये यागमें उपकार करते हैं, अथवा दृष्ट जो अर्थका स्मरण है तिस अर्थका स्मरण करके यागमें उपकार करते हैं ? तहां पूर्वपक्षी कहता है कि प्रथम अध्ययनकालमें निश्चित जो मन्त्रका अर्थ है तिस अर्थका स्मरण चिन्तनादिकोंसे भी बन सकता है, परन्तु तिस स्मरण द्वारा मन्त्र यागमें उपकार नहीं कर सकते; किंतु उच्चारण करके अदृष्टको उत्पन्न करते हुये यागमें उपकार करते हैं, अतः-अदृष्टार्थक मन्त्र हैं इति। ऐसे पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्तको पूर्वमीमांसक दिखाता है। लोकमें तथा वेदमें वाक्योंके अर्थोंका अविशेष है। जैसे लोकमें वाक्योंका उच्चारण फलवाला देखनेमें आता है, तैसे वेदमें भी वाक्योंका उच्चारण फलवाला देखनेमें आता है। यदि मन्त्र करके यज्ञ तथा यज्ञके अङ्ग देवतादिकोंका ज्ञान नहीं हो तो यागका स्वरूप ही असिद्ध हो जायगा। अतः, दृष्ट स्वअर्थका प्रकाशन करके ही मन्त्र यागमें उपकार करते हैं। और यह नियम है, दृष्टके संभव हुये अदृष्टकी कल्पना नहीं करनी। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि फलवाले अनुष्ठानोंमें अपेक्षित जो क्रियाका तथा क्रियाके साधनोंका स्मरण, तिस स्मरणरूप द्वार करके मन्त्रोंमें कर्मका अङ्गत्व है।

शंका। मन्त्रसे भिन्न ब्राह्मण वाक्योंसे भी अनुष्ठानमें अपेक्षित क्रियादि रूप अर्थोंका स्मरण बन सकता है, पुनः मन्त्रोंका स्वीकार व्यर्थ है।

समाधान। **'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यः'** अर्थ-अनुष्ठानमें अपेक्षित अर्थोंका स्मरण मन्त्र करके ही करना, मन्त्रसे भिन्न उपायान्तर करके नहीं करना इति। यह नियम अदृष्टार्थक है। अर्थात् मन्त्र करके अर्थोंके स्मरणसे धर्मरूप अदृष्ट उत्पन्न होता है, और उपायान्तरसे अर्थोंके स्मरणसे अदृष्ट उत्पन्न होता नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे पदरूप अर्थवादकी स्तुतिरूप अर्थद्वारा विधिवाक्यके साथ पदैकवाक्यता है। और मन्त्रोंकी वाक्यार्थ ज्ञानद्वारा विधिवाक्यके साथ वाक्यैकवाक्यता है। और जैसे मन्त्रोंकी विधिवाक्योंके साथ वाक्यैकवाक्यता है, तैसे वेदान्तवाक्योंकी भी कर्ता देवता आदिकोंके प्रकाशनद्वारा (अर्थात् वाक्यार्थज्ञानद्वारा) विधिवाक्योंके साथ वाक्यैकवाक्यता अवश्य माननी पड़ेगी।

शंका। यदि वेदान्ती ऐसा कहे कि कर्मप्रकरणमें स्थित जो अर्थवादादिवाक्य हैं तिनका विधिवाक्यके साथ एकवाक्यत्व रहो, परन्तु भिन्न प्रकरणमें स्थित वेदान्तवाक्य सिद्ध ब्रह्मरूप अर्थमें प्रमाण क्यों न होवें।

समाधान। वेदवाक्योंमें विधि संबन्धसे विना किसी स्थलमें अर्थवत्त्व नहीं देखा है, अतः, विधिके सम्बन्धसे ही अर्थवत्त्व बन सकता है। तहां यह अनुमान प्रमाण भी जानना-**वेदान्ताः, विध्येकवाक्यत्वेनार्थवन्तः, सिद्धार्थवेदकत्वात्, मन्त्रार्थवादादिवत्।** अर्थ-जैसे मन्त्र अर्थवादादिरूप दृष्टान्तमें सिद्ध

अर्थका बोधकत्वरूप हेतु है, और विधिके साथ एकवाक्यत्वरूप करके अर्थवत्त्व साध्य भी है, तैसे वेदान्तरूप पक्षमें सिद्ध अर्थका बोधकत्वरूप हेतु है, अतः विधिके साथ एकवाक्यत्व करके अर्थवत्त्व साध्य भी मानना चाहिये इति।

शंका। दूसरे स्थलमें विधिसंस्पर्शसे विना सिद्ध अर्थको बोधन करनेवाला जो वाक्य है तिसमें अर्थवत्त्व नहीं देखनेमें आता है तो न सही, परन्तु सिद्ध अर्थका बोधक भिन्न प्रकरणस्थ जो वेदान्तवाक्य हैं तिनमें विधि सम्बन्धसे विना भी अर्थवत्ताकी कल्पना करनी चाहिये।

समाधान। वेदान्तवाक्योंमें विधिके सम्बन्ध विना अर्थवत्ता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि सिद्ध अर्थमें फलका अभाव है। इस अर्थको पूर्व अच्छी तरह निरूपण कर आये हैं।

शंका। जब वेदान्तवाक्योंको विधिशेषत्वरूप करके ही सफलत्व है तब कर्मविधिका शेषत्वरूप करके फलवत्त्व नहीं मानना चाहिये। किन्तु ब्रह्ममें ही विधि मान करके वेदान्तवाक्योंको विधिका शेष मानना उचित है।

समाधान। सिद्ध ब्रह्म स्वरूपमें विधि बन सकता नहीं, क्योंकि विधि जो होता है सो क्रियाविषयक होता है।

अब मीमांसकके मतको समाप्त करते हैं:—जिस लिये सिद्ध अर्थके बोधक अर्थवादवाक्यमें क्रियाविधिका शेषत्व है, इस लिये कर्ममें अपेक्षित जो कर्ता देवतादिक हैं तिनके स्वरूपके प्रकाशन द्वारा वेदान्त वाक्योंमें भी क्रिया-विधिका शेषत्व अङ्गीकार करना चाहिये। अथवा कर्म प्रकरणसे अतिरिक्त प्रकरणमें स्थित वेदान्तवाक्योंको क्रियाविधिका शेष माननेमें यदि संकोच हो तो मत मानो, तथापि वेदान्त वाक्योंमें प्राप्त जो उपासनारूप कर्म है तिस उपासनाविधिका शेषत्व अवश्य मानना होगा, क्योंकि हेय उपादेयसे भिन्न सिद्ध अर्थके प्रतिपादनमें कोई पुरुषार्थ है नहीं। अतः जो तृतीय अधिकरण करके ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाणकत्व वेदान्तीने सिद्ध किया था सो असंगत है। ऐसे पूर्वपक्षके प्राप्त हुये अब **सिद्धान्तपक्ष*** को दिखाते हैं:-

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें तीन पद हैं, तत्, तु, समन्वयात्, 'तु' शब्द पूर्वपक्षका व्यावर्तक है। और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिवाला तथा जगत्की उत्पत्ति आदिकोंका कारणरूप जो 'तत्' कहिये ब्रह्म है सो ब्रह्म वेदान्तशास्त्रसे ही निश्चित होता है। क्योंकि 'समन्वयात्' सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्रमें जितने वाक्य हैं तिन वाक्योंका जो तात्पर्य है तिस तात्पर्यका विषयत्व ब्रह्ममें है।

---

* तहां पूर्वपक्षमें मुमुक्षु पुरुषकी वेदान्तशास्त्रमें अप्रवृत्तिरूप फल है, और सिद्धान्तमें प्रवृत्तिरूप फल है।

तात्पर्यविषयत्वका नाम अन्वय है, और 'सं' पदका अर्थ अखण्डविषयकत्वरूप सम्यक्त्व है, तिस सम्यक्त्ववाला अन्वयका नाम समन्वय है।

इस सूत्रसे यह अनुमान सिद्ध हुआ—**अखण्डं ब्रह्म, वेदान्तजन्यप्रमाविषयः, वेदान्ततात्पर्यविषयत्वात्, यो यद्वाक्यतात्पर्यविषयः, स तद्वाक्यप्रमेयः, यथाकर्मवाक्यप्रमेयो धर्मः।** अर्थ–जो जिस वाक्यके तात्पर्यका विषय होता है सो तिस वाक्य करके जन्य प्रमाज्ञानका विषयरूप प्रमेय होता है। जैसे कर्मवाक्यके तात्पर्यका विषय धर्म, कर्मवाक्य करके जन्य प्रमाज्ञानका विषयरूप प्रमेय है। तैसे ब्रह्म भी वेदान्तवाक्यके तात्पर्यका विषय है। अतः ब्रह्म वेदान्तवाक्यजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रमाज्ञानका विषयरूप प्रमेय है। अर्थात् संपूर्ण वेदान्तवाक्यका साक्षात् परम्परा करके ब्रह्ममें ही तात्पर्य है। अतः संपूर्ण वेदान्तवाक्य ब्रह्मको प्रतिपादन करते हुये ब्रह्ममें ही समन्वयको प्राप्त होते हैं इति।

तहां पूर्व अनुमानमें जो अखण्ड ब्रह्मको पक्ष कहा है सो अखण्ड ब्रह्म 'तत्त्वमसि' इत्यादिक वेदान्तवाक्यका अर्थ है। तिस वाक्यार्थरूप ब्रह्ममें 'असंसृष्टत्वं अखण्डत्वं' संसर्गका अभावरूप अखण्डत्व रहता है। और 'तत्त्वमसि' इत्यादिक महावाक्यमें—**संसर्गानवगाहियथार्थबोधजनकत्वं अखण्डार्थकत्वम्।** अर्थ— वाक्यमें स्थित जो पद हैं, तिन पदों करके उपस्थापित जो पदार्थ हैं, तिन पदार्थोंका जो परस्पर संसर्ग कहिये संबन्ध है, तिस संबन्धको नहीं विषय करनेवाला जो प्रमाज्ञान है तिस प्रमाज्ञानका जनकत्वका नाम अखण्डार्थकत्व है इति। जैसे **'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'।** किसीने पूछा कि चन्द्रमा कौन है? दूसरा पुरुष कहता है कि रात्रिमें सबसे बड़ा प्रकाशवाला जो है सो चन्द्रमा है। इस वाक्यको श्रवण करके अन्य पुरुषको प्रकृष्टत्व प्रकाशत्वादिक धर्म रहित तथा प्रकृष्ट प्रकाशादिकोंका संवन्ध रहित शुद्धचन्द्रव्यक्तिका ही लक्षणावृत्तिसे बोध* होता है। और यहां ऐसा समझना चाहिये कि, जिस प्रकार अर्थवादवाक्योंके सर्व पदोंमें लक्षणाको स्वीकार किया है, और सर्व पदोंका लक्ष्य एक स्तुतिरूप अर्थ है अथवा निन्दारूप अर्थ है। तिस प्रकार 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इस लक्षणवाक्यके सर्व पदोंमें लक्षणाका लक्ष्य एक चन्द्र व्यक्ति मात्र है। तैसे तत्त्वमसि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, इत्यादिक वाक्योंके पदोंमें लक्षणावृत्तिको स्वीकार करके सर्व धर्म रहित तथा

---

* **शंका।** 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इस वाक्यमें प्रकृष्टत्वादिप्रकारक शाब्द बोध क्यों नहीं होता?

समाधान। 'कश्चन्द्र' इस प्रश्नवाक्यसे चन्द्रत्वादिको अजिज्ञास्य होनेसे, वक्तृतात्पर्याविषयहोनेसे, संसर्गाद्यविषयक ही बोध होता है। क्योंकि प्रश्नमें और उत्तरमें समानविषयकत्वकी सिद्धिके लिये, 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र' इस उत्तर वाक्यमें भी चन्द्रत्वाद्यविषयक अखण्ड चन्द्र विषयक ही तात्पर्य है।

संबन्ध रहित प्रत्यग् अभिन्न अखण्ड ब्रह्मका ही बोध होता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे पक्षकी असिद्धिरूप दोषका भी परिहार किया।

शंका। जो सिद्धान्तीने पूर्व कहा कि 'तत्त्वमसि' इत्यादिक वाक्यमें संसर्गको नहीं विषय करनेवाला यथार्थज्ञानका जनकत्वरूप अखण्डार्थकत्व है। सो कहना असंगत है, क्योंकि **'घटमानय'** इस वाक्यसे 'घटकर्मक आनयनानुकूलकृतिमान् त्वं भव' ऐसा शाब्दबोध होता है। घट, अम्, आङ्पूर्वक णी धातु, सिप् प्रत्ययरूप अख्यात, इस रीतिसे चार पद हैं। तहां घट शब्दका अर्थ कम्बुग्रीवादिमान् कलश है, अम् पदका अर्थ कर्मत्व है, आङ् पूर्वक णी धातुका अर्थ आनयनरूप क्रिया है, अख्यातका अर्थ कृति है। तहां कर्मत्वमें आधेयता संबन्ध करके घटका अन्वय होता है। अर्थात् घटनिष्ठ आधारता निरूपित आधेयता कर्मत्वमें रहती है, अत आधेयतासंबन्ध करके घटका अन्वय कर्मत्वमें कहा जाता है। और घटनिष्ठ कर्मत्वका निरूपक आनयनरूप क्रिया है, और आनयनरूप क्रिया करके निरूप्य कर्मत्व है, अतः कर्मत्वका आनयनरूप क्रियामें निरूपकता सम्बन्ध करके अन्वय होता है। और आनयनरूप क्रियाका अख्यातका अर्थ कृतिमें अनुकूलत्व सम्बन्ध करके अन्वय होता है। अर्थात् आनयनरूप क्रियाके अनुकूल पुरुषमें कृति होती है। और कृतिका त्वंपदार्थरूप कर्तामें समवाय सम्बन्ध करके अन्वय होता है। अर्थात् घटका कर्मत्वमें आधेयता सम्बन्ध है, और कर्मत्वका आनयनरूपक्रियामें निरूपकता सम्बन्ध है, और आनयनरूप क्रियाका कृतिमें अनुकूलत्व सम्बन्ध है, और कृतिका पुरुषमें समवाय सम्बन्ध है। सम्बन्ध विषयक ज्ञानको नैयायिक वाक्यार्थ ज्ञान कहते हैं। और पूर्वोक्त रीतिसे जब संसर्ग विषयक वाक्यार्थ ज्ञान हुआ तब 'तत्त्वमसि' इत्यादिक वाक्यार्थ ज्ञानको संसर्ग अविषयक नहीं कह सकते। अर्थात् यहां पर यह अनुमान फलित हुआ—तत्त्वमस्यादिवाक्यम्, संसर्गाद्यविषयकबोधाजनकं, वाक्यत्वात्, घटमानय, इत्यादिवाक्यवत्।

समाधान। ज्ञान दो प्रकारका होता है, एक तो सविकल्पक, दूसरा निर्विकल्पक होता है। तहां जो सविकल्पक ज्ञान होता है सो पदार्थोंका सम्बन्धविषयक होता है, और जो निर्विकल्पक ज्ञान होता है सो सम्बन्धअविषयक होता है। इस अर्थको श्री विद्यारण्य स्वामीने कहा है :—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥

अर्थ–जैसे घटमानय, नीलमुत्पलं, इस स्थलमें 'संसर्ग' तथा 'नीलत्वादिविशिष्ट' वाक्यका अर्थ होता है तैसे तत्त्वमस्यादिक वाक्योंका अर्थ संसर्ग तथा विशिष्ट नहीं बन सकता, किन्तु लक्षणावृत्ति करके त्रिविध भेदशून्य अखण्ड सत् चित् आनंदरूप परब्रह्म ही वाक्यका अर्थ विद्वानोंको संमत है इति।

शंका । 'नीलो घटः' इस स्थलमें अभेद संबन्ध करके नील पदार्थसे अभिन्न घट पदार्थका बोध जैसे होता है, तैसे 'तत्त्वमसि' इस स्थलमें भी अभेद सम्बन्ध करके ही प्रत्यग् आत्मासे अभिन्न ब्रह्मका बोध कहना होगा। और नैयायिकोंने अभेदको भी संबन्ध माना है। जब ऐसा हुआ तब 'तत्त्वमसि' इत्यादिक वाक्यजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानको संसर्ग अविषयक कहना अनुचित है। किन्तु त्वंपदका लक्ष्यार्थ प्रत्यग् आत्माका तथा तत्पदका लक्ष्यार्थ ब्रह्मका जो अभेद संबन्ध है तिस अभेद संबन्ध विषयक ही कहना उचित है।

समाधान। यद्यपि अभेद भी सम्बन्ध है, तथापि प्रकृतमें प्रत्यग् आत्माका जो ब्रह्मके साथ अभेद सम्बन्ध प्रतीत होता है सो अभेद, सम्बन्ध नहीं है, किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही है। क्योंकि जो सम्बन्ध होता है सो दो सम्बन्धियोंसे भिन्न हुआ दो सम्बन्धियोंके आश्रित होता है। जैसे घटपटका संयोग सम्बन्ध घटपटरूप दो सम्बन्धियोंसे भिन्न हुआ घटपट रूप दो सम्बन्धियोंमें रहता है। और प्रसंगमें वास्तवसे दो सम्बन्धी हैं नहीं क्योंकि त्वंपदका लक्ष्यार्थ कूटस्थरूप जो साक्षी है सोई तत्पदका लक्ष्यार्थरूप ब्रह्म है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'तत्त्वमसि' इत्यादिक वाक्योंमें 'संसर्गानवगाहि यथार्थज्ञानजनकत्व' रूप अखण्डार्थकत्व घट गया इति।

अब अखण्ड ब्रह्मरूप पक्षमें 'वेदान्ततात्पर्यविषयत्वात्' इस हेतुकी सिद्धिको उपक्रम उपसंहार आदिक लिङ्गों करके दिखाते हैं :—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति वृद्धवचनम्।

अर्थ—१ उपक्रम-उपसंहार, २ अभ्यास, ३ अपूर्वता, ४ फल, ५ अर्थवाद, ६ उपपत्ति, यह षट् लिङ्ग तात्पर्यके निर्णायक हैं इति।

तहां उपक्रम उपसंहारके स्वरूपको वर्णन करते हैं। प्रकरणनिरूप्यस्य वस्तुन आद्यन्तयोर्निरूपणमुपक्रमोपसंहारौ। अर्थ—प्रकरण करके निरूपण करनेको योग्य जो वस्तु है तिस वस्तुका प्रकरणके आदिमें तथा अन्तमें जो निरूपण है तिसका नाम उपक्रम उपसंहार है इति। जैसे छान्दोग्यके षष्ठ प्रपाठकमें लिखा है :—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। अर्थ—उद्दालक ऋषि श्वेतकेतु पुत्रके प्रति कहते हैं कि हे सोम्य! हे प्रियदर्शन! 'इदं सर्वं जगत्' कहिये यह संपूर्ण दृश्यमान जो जगत् है सो अग्रे कहिये सृष्टिसे पूर्वकालमें सत् कहिये अबाधित ब्रह्मरूप ही होता भया। और 'सदेव' यहां जो एवकार है सो जगत्में पृथक् सत्ताको निषेध करता है। और 'एकमेवाद्वितीयं इसमें तीन पद हैं, १ एकम्, २ एव, ३ अद्वितीयम्। तहां 'एक' पद, ब्रह्मके सजातीय दूसरे ब्रह्मका अभाव होनेसे, सजातीय भेदको निषेध करता है। और ब्रह्मसे भिन्न संपूर्ण जगत

की पृथक् सत्ताका अभाव होनेसे, अथवा यह नियम है कि जो कल्पित वस्तु होता है सो अधिष्ठानस्वरूप ही होता है अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं होता, अत 'एव' पद ब्रह्ममें विजातीय प्रपंचके भेदको निषेध करता है। और वृक्षादिकोंको सावयव होनेसे वृक्षगत शाखा पुष्पादिकोंका भेद वृक्षमें रहता है, और ब्रह्मको निरवयव होनेसे, अद्वितीय पद स्वगत भेदको निषेध करता है इति।

शंका। नाम तथा रूपात्मक द्वैत प्रपंच ही ब्रह्मका अवयव क्यों न हो?

समाधान। सृष्टिसे प्रथम नाम रूपात्मक प्रपंचका अभाव है, क्योंकि नाम रूपात्मक द्वैत प्रपंचकी जो उत्पत्ति है तिसीका नाम सृष्टि है। ऐसी सृष्टिसे पूर्व नामरूप जगत्का अभाव होनेसे ब्रह्मका अवयव बन सकता नहीं। इस प्रकार उपक्रम करके, और **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्,** अर्थ—यह संपूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप है इति। इस प्रकार प्रकरणके अन्तमें उपसंहार किया है। अर्थात् प्रकरणके आदिमें तथा अन्तमें एक अद्वितीय ब्रह्मका निरूपण किया है। इस लिये उपक्रम उपसंहार रूप लिङ्ग करके संपूर्ण प्रकरणका तात्पर्य एक अद्वितीय ब्रह्ममें ही है ऐसा निश्चय होता है।

अब अभ्यासके स्वरूपको दिखाते हैं। **प्रकरणनिरूप्यस्य वस्तुनः पुनः पुनर्निरूपणमभ्यासः।** अर्थ—प्रकरण करके निरूपण करनेको योग्य जो वस्तु है तिस वस्तुका वारंवार निरूपणका नाम अभ्यास है इति। इसको छान्दोग्यमें ही दिखाया है। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यका उपदेश उद्दालक ऋषिने श्वेतकेतु पुत्रके प्रति नववार किया है।

अब अपूर्वताके स्वरूपको दिखाते हैं। **प्रकरणनिरूप्यस्य वस्तुनः प्रमाणान्तराऽविषयता अपूर्वता।** अर्थ—प्रकरण करके निरूपण करनेको योग्य जो वस्तु है तिसमें जो प्रत्यक्षादिक प्रमाणकी अविषयता है तिसका नाम अपूर्वता है इति।

जैसे छान्दोग्यमें लिखा है:—**अत्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसे।** अर्थ—जैसे जलभावको प्राप्त भया जो लवण है तिसको नेत्र इन्द्रिय अथवा त्वग् इन्द्रिय करके नहीं जान सकते, किन्तु रसन इन्द्रिय करके जान सकते हैं। तैसे हे प्रियदर्शन! श्वेतकेतो! साधनसम्पत्ति करके रहित हुआ तू इस शरीररूप संघातमें स्थित प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मको प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके नहीं जानता है, किन्तु साधन सम्पत्तिवाला हुआ वेदवाक्यसे इस शरीररूप संघातमें ही प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मको अपरोक्ष करेगा इति।

और यह वृत्तान्त वृहदारण्यकमें लिखा है:-**'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'।** अर्थ—याज्ञवल्क्यने शाकल्यके प्रति पूछा है कि हे शाकल्य! उपनिषत् करके प्रतिपाद्य जो पुरुष है तिस पुरुषको मैं पूछता हूँ? और जो पुरुष वेदको नहीं जानता सो पुरुष तिस ब्रह्मको नहीं जान सकता इति। इन पूर्वोक्त वाक्यों करके ब्रह्ममें अपूर्वताका प्रतिपादन किया है।

अब फलके स्वरूपको दिखाते हैं। **प्रकरणनिरूप्यस्य वस्तुनो ज्ञानप्रयोजनं फलम्।** अर्थ–प्रकरण करके निरूपण करने को योग्य जो वस्तु है तिस वस्तुके ज्ञान करके जो अज्ञानकी निवृत्ति आदिक तिसका नाम फल है इति।

जैसे छान्दोग्यमें ही लिखा है:–**आचार्य्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।** अर्थ–श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य्यवाला पुरुष प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मको जानता है। तिस विद्वान्‌को, यावत्काल पर्यन्त देहका पात नहीं होता तावत् काल पर्यन्त विदेह कैवल्यकी प्राप्तिमें विलम्ब है, देह पातसे अनन्तर वह विद्वान् कैवल्य मोक्षरूप फलको अनुभव करता है इति।

यद्यपि जिस समय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके उपदेशजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार प्रत्यग्अभिन्नब्रह्मका अप्रतिबद्ध साक्षात्कार होता है तिस समयमें ही अज्ञानकी निवृत्ति, परमानन्दकी प्राप्ति,रूप मोक्षफलको अधिकारी पुरुष प्राप्त होता है–अर्थात् मोक्षरूप फलवाला हुआ वह पुरुष मुक्त कहा जाता है। तथापि ज्ञानसे उत्तर प्रारब्धवश यावत् देहकी स्थिति रहे तब तक विद्वान् जीवन्मुक्त कहा जाता है, प्रारब्धनाशजन्य देहपातसे अनन्तर कैवल्य मोक्षवाला हुआ विमुक्त कहा जाता है। अतः **'विमुक्तश्च विमुच्यते'** इस श्रुतिका अर्थ भी समीचीन होता है।

अब अर्थवादको दिखाते हैं। **स्तुतिनिन्दाफलकं वचनम्-अर्थवादः।** जैसे छान्दोग्यमें लिखा है:—**येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।** अर्थ—जिस एक ब्रह्मके उपदेश जन्य प्रत्यक्षसे, सम्पूर्ण अश्रुतपदार्थ श्रुत होजाते हैं, और मनन न किये हुये भी मनन किये हुये हो जाते हैं, और अननुभूत भी अनुभूत हो जाते हैं इति। अर्थात् जब उद्दालकऋषिका पुत्र गुरुकुलसे पढ़कर, अपने पिताके पास पण्डितमानी अनम्र होकर आया है, तब उद्दालकने श्वेतकेतुको स्तब्ध विद्यामद सहित देखकर पूछा है कि 'हे पुत्र ! तुमने अपने गुरुसे उस वस्तु को पूछा है ? जिस वस्तुके श्रवण करनेसे सम्पूर्ण अश्रुत पदार्थ श्रुत हो जाता है इत्यादि'। तथाच 'येनाश्रुतं' इत्यादि वचन प्रशंसारूप अर्थवाद है। और 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ०) इत्यादिक निन्दारूप अर्थवाद है।

अब उपपत्तिके स्वरूपको वर्णन करते हैं—**'प्रकरणनिरूप्यस्य वस्तुनो दृष्टान्तैर्निरूपणमुपपत्तिः'।** अर्थ—प्रकरण करके निरूपण करनेके योग्य जो वस्तु है तिसका दृष्टान्तों करके जो निरूपण है तिसका नाम उपपत्ति है इति। इस अर्थको छान्दोग्यमें दिखाया है:—**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** इत्यादि।

अर्थात् एक वस्तुके ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुका ज्ञान कैसे हो सकता है, अन्यके ज्ञानसे अन्यका ज्ञान नहीं हो सकता, घटत्वावच्छिन्नके ज्ञानसे पटत्वा-

वच्छिन्नका ज्ञान अयुक्त है। इस श्वेतकेतुके आक्षेपका 'यथा सोम्य' यह उत्तर-वाक्य है। हे प्रियदर्शन ! जैसे एक मृत्तिकाके पिण्डरूप कारणके ज्ञानसे सम्पूर्ण मृत्तिकाके कार्य घटशरावादिकोंका ज्ञान हो जाता है, जैसे एक सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णके सम्पूर्ण कार्यका ज्ञान हो जाता है, और एक लोहके ज्ञानसे लोहके सम्पूर्ण कार्यका लोहरूप करके ज्ञान हो जाता है, क्योंकि घटादिक विकार नाम मात्र हैं। अर्थात् घटादि विकार केवल वाणी मात्र करके कहे जाते हैं, वास्तवसे घटादिविकार कारण मृत्तिकादि मात्र हैं, मृत्तिकादिसे भिन्न नहीं। तैसे आकाशादि जगत् भी कारणब्रह्म स्वरूप ही है ब्रह्मसे भिन्न नहीं। यह उपपत्ति है इति।

इस प्रकार उद्दालकऋषिने जब युक्तिरूप उपपत्ति कही तब श्वेतकेतुने कहा कि हे भगवन् ! मैंने नहीं पूछा, और उस वस्तुको मेरे गुरु भी नहीं जानते, यदि जानते होते तो मुझ प्रिय शिष्यको अवश्य कहते। अब मैं आपकी शरणागत हूं, कृपा करके मेरेको उस वस्तुका उपदेश करें। जिस एक वस्तुके ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुका ज्ञान होता है। जब इस प्रकार नम्र होकर श्वेतकेतुने पूछा है, तब उद्दालकऋषि श्वेतकेतुके श्रद्धादिक गुणोंको देखकर उपदेश करते भये— 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि। इससे यह समझना चाहिये कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यमें जो शिष्यकी श्रद्धा है व नम्रत्वादिक गुण हैं सो ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें मुख्य कारण हैं। इस प्रकार प्रत्येक वेदान्तमें कहीं तात्पर्यके बोधक समस्त लिङ्ग हैं कहीं व्यस्त लिङ्ग हैं ऐसा देखनेमें आता है।

अब ऐतरेय उपक्रमवाक्यको दिखाते हैं—**'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'**। अर्थ—सृष्टिसे पूर्वकालमें यह सम्पूर्ण जगत् एक आत्मस्वरूप ही होता भया इति।

अब बृहदारण्यकके मधुकाण्डमें जो उपसंहारवाक्य लिखा है तिसको दिखाते हैं:-**तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः।** अर्थ-'तत्' कहिये माया करके बहुरूपको प्राप्त हुआ जो ब्रह्म है सो 'एतत्' कहिये अपरोक्ष है, 'अपूर्वं' कहिये कारण शून्य है, 'अनपरं' कहिये कार्य रहित है, 'अनन्तरं' कहिये मध्यमें दूसरे वस्तुके व्यवधान करके रहित है, अर्थात् एक रस है, 'अबाह्यम्' कहिये स्वभिन्न बाह्य अनात्म वस्तु करके रहित है अर्थात् अद्वितीय है।

अब ब्रह्ममें अपरोक्षत्वको दिखाते हैं :-अहङ्कारादिकोंका प्रकाशक यह साक्षीरूप आत्मा ब्रह्म स्वरूप है, तथा अहङ्कारादि सर्वको अनुभव करता है। अत आत्माको 'सर्वानुभूः' कहते हैं इति। अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा चिन्मात्र अपरोक्ष साक्षी स्वरूप है।

अब मुण्डक उपनिषद्में जो उपसंहारवाक्य लिखा है उसको दिखाते हैं:- **ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।** अर्थ—सन्मुख देशमें जो यह वर्तमान वस्तु-समूह है सो विनाशरहित ब्रह्मस्वरूप ही है। पृष्ठदेशमें स्थित, और दक्षिण देशमें स्थित, तथा उत्तर देशमें स्थित, वस्तुसमूह भी ब्रह्मरूप ही है। और अधोदेशमें तथा ऊर्ध्व देशमें स्थित जो

कुछ है सो भी ब्रह्म ही है। क्या बहुत कहना है, जैसे 'योऽयं चोरः स स्थाणुरेव' जो मेरेको चोर प्रतीत हुआ सो स्थाणु ही है। यहां जैसे चोरके स्वरूपका बाध करके चोरका स्थाणुके साथ अभेद होता है, तैसे बाधसामानाधिकरण्य करके दृश्यमान संपूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप ही है, और 'वरिष्ठ' कहिये ब्रह्म श्रेष्ठतम स्वरूप है इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे उपक्रमोपसंहारादिक षट् लिङ्गों करके अखण्ड ब्रह्मरूप पक्षमें संपूर्ण वेदान्तशास्त्रका तात्पर्यविषयस्वरूप हेतुकी सिद्धि होनेसे हेतुमें स्वरूपासिद्धि दोष भी नहीं है।

शंका। वेदान्तवाक्योंका तात्पर्यविषयत्व ब्रह्ममें रहो, परन्तु वेदान्तवाक्योंका अर्थ यागादिरूप कार्य ही क्यों न हो?

समाधान। वेदान्तशास्त्रके तात्पर्यको ब्रह्ममें निश्चित हुये कार्यरूप अर्थान्तरकी कल्पना करनी युक्त नहीं। क्योंकि श्रुतकी हानि अश्रुतकी कल्पनाका प्रसंगरूप दोष होगा। और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' जिस अर्थका बोधक शब्द होता है सोई शब्दका अर्थ होता है, इस न्यायका भी विरोध होगा।

और प्रथम पूर्वमीमांसकने कहा था कि कर्मके शेष जो कर्ता देवतादिक हैं तिनोंका प्रतिपादक वेदान्तशास्त्र है, अतः कर्मविधिका शेष है। यह भी कहना असंगत है, क्योंकि जो वेदान्तशास्त्र है सो उपाधिशून्य प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान द्वारा कर्म तथा कर्मके साधन तथा फलादिकोंका नाशक है। अतः जैसे अर्थवादवाक्य कर्मविधिका शेष होता है, तैसे वेदान्तवाक्य कर्मविधिका शेष नहीं हो सकता। इस अर्थमें बृहदारण्यक श्रुतिको दिखाते हैं:—

'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि।

अर्थ—जिस ब्रह्मविद्या अवस्थामें ब्रह्मवित् पुरुषको कर्ता कर्म क्रिया फलादिक सम्पूर्ण वस्तु यथार्थ आत्मविज्ञान करके प्रविलापित हुआ आत्मस्वरूप ही होताभया, तिस ब्रह्मविद्याअवस्थामें कौन कर्ता किस करण करके किस विषयको सूंघे अथवा देखे इति।

अर्थात् जब कर्ता करण आदिक संपूर्ण आत्मस्वरूप ही हो गया तब आत्मासे भिन्न कर्ता तथा घ्राणादिक करण तथा गन्धादिक विषयका अभाव होनेसे कोई कर्ता किसी करण करके किसी विषयको नहीं सूंघ सकता तथा नहीं देख सकता। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि वेदान्तशास्त्र कर्ता देवतादिकोंका प्रतिपादक नहीं, किंतु अपरोक्ष ज्ञान द्वारा कर्ता देवता कर्मादिकोंका नाशक है इति।

और जो मीमांसकने कहा था कि जैसे सिद्ध घटादिक प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके वेद्य होनेसे वेदके अर्थ नहीं हो सकते, तैसे सिद्ध ब्रह्म भी प्रत्यक्षादिक प्रमाणका विषय होनेसे वेदका अर्थ नहीं हो सकता। सो यह कहना भी असंगत है, क्योंकि ब्रह्मको सिद्ध स्वरूप हुये भी 'तत्त्वमसि' इस वाक्य करके प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मभावको वेदान्तशास्त्रसे विना अनवगम्यमान होनेसे

घटादिकोंकी तरह सिद्ध ब्रह्ममें प्रत्यक्षादिक प्रमाणका विषयत्व नहीं बन सकता, नेत्रादिकसे ब्रह्मको किसीने नहीं देखा।

और जो तुम धर्मको वेदका अर्थ मानते हो सो भी नहीं बन सकता। इस अर्थको अनुमान प्रमाण करके दिखाते है, 'धर्मो, न वेदार्थः, साध्यत्वेन मानान्तरवेद्यत्वात्, पाकवत्'। जैसे पाकरूप दृष्टान्तमें पाकको कृतिसाध्य होनेसे प्रत्यक्षादिरूप मानान्तरवेद्यत्व हेतु है, और वेदके अर्थत्वका अभावरूप साध्य है। तैसे धर्मरूपपक्षमें, यागादिरूप धर्मको कृति करके साध्य होनेसे प्रत्यक्षादि रूप मानान्तर करके वेद्यत्वरूप हेतु है, अतः वेदके अर्थत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये, इस अनुमान करके धर्ममें वेदार्थत्वके अभावकी सिद्धि होती है। और यदि मीमांसक ऐसा कहे कि वेदसे विना धर्मका निर्णय नहीं हो सकता, अतः धर्ममें मानान्तरवेद्यत्व नहीं है, तो हम भी ऐसा कह सकते हैं कि वेदसे विना ब्रह्मात्मभावका निर्णय न होनेसे ब्रह्ममें मानान्तर करके वेद्यत्व नहीं बन सकता।

और प्रथम पूर्वमीमांसकने जो दोष कहा था कि ब्रह्मको हेय तथा उपादेयसे भिन्न होने करके ब्रह्मका उपदेश अनर्थक है, अर्थात् निष्फल है, सो दोष भी होता नहीं। क्योंकि हेय तथा उपादेय भाव करके शून्य जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका, अपना आत्मारूप करके निश्चयसे ही, अविद्यादिक क्लेशोंकी निवृत्तिद्वारा 'दुःखकी निवृत्ति सुखकी प्राप्तिरूप' पुरुषार्थफलकी सिद्धि होती है, अतः ब्रह्मका उपदेश अनर्थक नहीं।

और प्रथम पूर्वमीमांसकने कहा था कि 'आत्मेत्येवोपासीत, आत्मानमेव लोकमुपासीत'। अर्थ स्पष्ट है। देवतादिकोंका प्रतिपादनद्वारा वेदान्तवाक्योंको इस उपासनाविधिका शेष मानना चाहिये। तहां मैं पूछता हूं कि देवतादिकोंका प्रतिपादक प्राण, पञ्चाग्नि, आदिक वाक्योंको उपासनाविधिका शेष मानना चाहिये, अथवा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंको उपासनाविधिका शेष मानना चाहिये? तहां प्रथम पक्ष तो हमारेको इष्ट है, क्योंकि देवतादिकोंके प्रतिपादक प्राण, पञ्चाग्नि, आदिक वाक्योंको वेदान्तवाक्यगत उपासनाविधिका शेष माननेमें कोई विरोध नहीं। तात्पर्य यह है कि उपासना भी अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा परंपरा करके मोक्षरूप फलवाली होती है। और दूसरा पक्ष तो नहीं बन सकता, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिक स्वार्थमें फलवाले वाक्योंमें उपासनापरत्वकी कल्पना नहीं बन सकती है। किं च वेदान्तवाक्यका अर्थ जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मके ज्ञानसे प्रथम उपासनाविधिका शेषत्व मानते हो, अथवा ज्ञानसे पश्चात् उपासनाविधिका शेषत्व मानते हो? तहां प्रथम पक्षमें अध्यस्त गुणवाले ब्रह्ममें उपासनाविधिका शेषत्व माननेमें कोई दोष नहीं। और द्वितीय पक्ष तो नहीं बन सकता, क्योंकि उपास्य उपासक भेदकी सिद्धिके अधीन उपासना

होती है, और 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिक वाक्य करके समस्त भेदशून्य निष्प्रपंच तथा वेदान्तवेद्य प्रत्यग् ब्रह्मका एकत्व ज्ञान करके क्रिया कारकादिक द्वैत विज्ञानका नाश होनेसे उपासना भी नहीं बन सकती। अत उपासनाविधिका शेषत्व ब्रह्ममें कहना असंभव है।

शंका। एकवार द्वैतविज्ञानका ज्ञान करके नाश हुये भी पुनः संस्कारके बलसे द्वैतविज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे ब्रह्ममें उपासनाविधिका शेषत्व मानना चाहिये।

समाधान। एकत्वविज्ञान करके नाशभावको प्राप्त हुआ जो द्वैत-विज्ञान है तिस द्वैतविज्ञानकी पुन उत्पत्ति होती नहीं, जिस द्वैतविज्ञान करके उपासनाविधिका शेषत्व ब्रह्ममें प्राप्त होवे।

शंका। यदि ज्ञानके अनन्तर द्वैतविज्ञानका सम्भव नहीं होवे तो ज्ञानी-को देहादिभास, व जीवन्मुक्ति, एवं सूत्रभाष्यादि रचना, उपदेश, भोजनादि व्यवहार नहीं होना चाहिये। यदि बाधितानुवृत्तिसे, देहादिभास व उपदेशादि व्यवहारका स्वीकार किया जाय तो तद्वत् उपासनादिविधिका भी स्वीकार अवश्य करना चाहिये।

समाधान। बाधितानुवृत्तिसे यद्यपि देहादिभास व उपदेशादि व्यवहार विद्वान्का होता है, तथापि विधिनिषेधरूप अङ्कुशका बल विद्वान्में चलता नहीं।

शंका। **'वेदान्तशास्त्रम्, स्वार्थे न मानं, विधिशून्यवाक्यत्वात्, 'सोऽरो-दीत्' इत्यादि वाक्यवत्'**। जैसे 'सोऽरोदीत्' इस वाक्यरूप दृष्टान्तमें विधिशून्य-वाक्यत्वरूप हेतु है, और स्वार्थ जो रोदन तिसमें प्रमाणत्वका अभावरूप साध्य भी है, अर्थात् रोदनमें 'सोऽरोदीत्' यह वाक्य प्रमाण नहीं है, रजत निन्दामें इसका तात्पर्य है। तैसे वेदान्तरूप पक्षमें विधिशून्यवाक्यत्वरूप हेतु है, अतः स्वार्थ कहिये अपना जो अर्थ ब्रह्म है तिसमें प्रमाणत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके यह सिद्ध हुआ कि जैसे 'सोऽरोदीत्' इस वाक्यमें 'बर्हिषि रजतं न देयं' इस विधिका शेषत्व है, तैसे वेदान्तमें भी 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादिक विधिका शेषत्व मानना चाहिये, क्योंकि अर्थ-वादादिकोंमें विधिका शेषत्वरूप करके ही प्रमाणता होती है। इस शंका-का यह तात्पर्य है कि **'वेदः, क्रियार्थकः, वेदप्रमाणत्वात्, कर्मकाण्डवत्'**। इस स्थलमें वेदनिष्ठप्रामाण्यका व्यापक क्रियार्थकत्व है, अर्थात् जिस वेदमें प्रामाण्य है तिस वेदमें क्रियार्थकत्व है, और जिस वेदमें क्रियार्थकत्व नहीं है तिस वेदमें प्रामाण्य भी नहीं है। जैसे कर्मकाण्डवेदमें प्रामाण्य है और क्रियार्थ-कत्व भी है, और वेदान्तमें वेदप्रामाण्यका व्यापक क्रियार्थकत्वका अभाव है, अतः व्याप्य प्रामाण्यका भी अभाव है। इसलिये अर्थवादवाक्यको जैसे क्रिया-

विधिका शेषत्वरूप करके प्रमाणत्व है, तैसे वेदान्तको भी उपासनाविधिका शेषत्वरूप करके ही प्रमाणत्व है ऐसा मानना चाहिये।

समाधान। यह मीमांसकोंका कहना असमीचीन है, क्योंकि 'वेदान्तशास्त्रम्, स्वार्थे न मानं, विधिशून्यवाक्यत्वात्, 'सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्यवत्'। इस अनुमान करके जो वेदान्तमें अप्रामाण्यको सिद्ध किया है सो नहीं बन सकता, क्योंकि यह अनुमान फलरहितत्वरूप उपाधिवाला होनेसे दुष्ट है। और उपाधिका लक्षण प्रथम कह आये हैं। अब उपाधिको घटाते हैं। 'सोऽरोदीत्' इस वाक्यरूप दृष्टान्तमें प्रमाणत्वका अभावरूप साध्य है, और फलरहितत्वरूप उपाधि भी है, इस रीतिसे साध्यव्यापकत्व उपाधिमें रह गया। और वेदान्तरूपपक्षमें, विधिशून्यवाक्यत्वरूप हेतु है, फलरहितत्वरूप उपाधि नहीं है, इसरीतिसे साधनका अव्यापकत्व उपाधिमें रह गया। और जब प्रमाणत्वाभावरूपसाध्यका व्यापक फलरहितत्वरूप उपाधि वेदान्तमें नहीं रहा, तब व्यापकका अभाव करके व्याप्य प्रमाणत्वाभावका भी अभाव रहेगा, अर्थात् प्रमाणत्वाभावरूप साध्यका अभावरूप प्रमाणत्व रहेगा। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि 'वेदान्तशास्त्रम्, स्वार्थे प्रमाणं, सफलत्वात् क्रियाविधिवत्'। जैसे क्रियाविधिरूप दृष्टान्तमें स्वर्गादिरूपफलसहितत्व हेतु है, और प्रमाणत्वरूप साध्य भी है, तैसे वेदान्तरूप पक्षमें ज्ञानद्वारा मोक्षफलसहितत्वरूप हेतु है, अतः प्रमाणत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके क्रियार्थकत्वमें प्रमाणत्वके व्यापकत्वका खण्डन हो चुका। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—

यद्यप्यन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टं तथापि आत्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वान्न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। अर्थ—यद्यपि वेदान्तसे भिन्न कर्मकाण्डमें अर्थवादवाक्योंको विधिके स्पर्शसे विना (अर्थात् विधिका शेषत्वसे विना) प्रमाणत्व देखनेमें नहीं आता, तथापि आत्मविज्ञानको मोक्षरूप फल पर्यन्तावसायी होनेसे आत्मविज्ञान विषयक (अर्थात् आत्मविज्ञानका करण) वेदान्तशास्त्रनिष्ठ जो स्वार्थब्रह्मात्मामें प्रामाण्य है सो खण्डन करनेको शक्य नहीं है इति।

शंका। वेद प्रामाण्यका व्यापक क्रियार्थकत्व मत रहो, व्याप्य तो होगा। अर्थात् 'यत्र क्रियार्थकत्वं तत्र प्रामाण्यम्'। अर्थ स्पष्ट है,। और व्याप्यके ज्ञानसे व्यापकका ज्ञान होता है, जैसे पर्वतमें धूमरूप व्याप्यके ज्ञानसे व्यापक वन्हिका ज्ञान होता है। तैसे वेदान्तमें भी क्रियार्थकत्वरूप व्याप्यके ज्ञान होनेसे ही व्यापक प्रामाण्यका ज्ञान होगा, और जब वेदान्तमें क्रियार्थकत्व न मानोगे, तब क्रियार्थकत्वके ज्ञानसे विना वेदान्तमें प्रामाण्यका ज्ञान दुर्घट हो जायगा।

अतः वेदान्तनिष्ठ प्रामाण्यके ज्ञानके लिये क्रियार्थकत्व अवश्य मानना चाहिये। और व्याप्यके ज्ञान विना व्यापकका ज्ञान होता है इसमें कोई दृष्टान्त भी नहीं है।

समाधान । वेदरूप शास्त्रनिष्ठ जो प्रामाण्य है सो अनुमान करके गम्य नहीं है, यदि शास्त्रनिष्ठ प्रामाण्य अनुमान करके गम्य होता तो शास्त्रप्रामाण्य क्वचित् देखे हुये दृष्टान्तकी अपेक्षा करता। जैसे पर्वतमें वन्हि अनुमान करके गम्य है इस लिये महानसादिक दृष्टान्तकी अपेक्षा करता है। और यद्यपि चक्षुइन्द्रियसे भिन्न त्वक् आदिक इन्द्रियों करके रूपका प्रकाशन नहीं देखा है, तथापि दृष्टान्तकी नहीं अपेक्षा करके जैसे स्वतः चक्षुइन्द्रिय रूपको प्रकाश करता है, तैसे वेदनिष्ठ स्वतः प्रामाण्यको होनेसे, वेदनिष्ठ प्रामाण्य व्याप्तिविशिष्टलिङ्गादिकोंकी अपेक्षा करता नहीं। और वादीने जो कहा कि व्याप्यके ज्ञानसे विना व्यापकका ज्ञान नहीं होता है इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है। सो कहना सर्वथा असंगत है, क्योंकि वन्हिका व्याप्य धूमके ज्ञानसे विना भी अयोगोलकादिकोंमें व्यापक वन्हिका ज्ञान होता है। और जिस वाक्यमें प्रामाण्यका संशय होता है तिस वाक्यमें, 'फलवाला तथा अज्ञात तथा अबाधित अर्थमें तात्पर्य इस वाक्यका है' ऐसे तात्पर्यके ज्ञानसे प्रामाण्यका निश्चय होता है, क्रियार्थकत्वके ज्ञानसे वाक्यमें प्रामाण्यका निश्चय नहीं होता। यदि वादीको दुराग्रह हो कि क्रियार्थकत्वके ज्ञानसे ही वाक्यमें प्रामाण्यका निश्चय होता है, तो किसी पुरुषने कहा कि 'कूपे पतेत्' इस वाक्यको श्रवण करके क्रियार्थक इस वाक्यमें प्रामाण्यका निश्चय होनेसे वादीको कूपमें पड़ जाना चाहिये, परन्तु पड़ता तो नहीं। अतः प्रामाण्यके अभाववाले 'कूपे पतेत्' इस वाक्यमें क्रियार्थकत्वको विद्यमान होनेसे क्रियार्थकत्वरूप हेतु वेदनिष्ठ प्रामाण्यका व्यभिचारी दुष्ट है। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि वेदनिष्ठ प्रामाण्यका साधक क्रियार्थकत्व नहीं है, किन्तु तात्पर्य है।

अब 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रके प्रथम वर्णकके अर्थको समाप्त करते हैं—**'तस्मात्सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्'** इति भाष्यम्। अर्थ—सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रका एक अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय होनेसे ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है यह सिद्ध हुआ इति। अर्थात् जैसे विधिवाक्य, फलवालाअज्ञातअर्थका बोधक प्रमाण है। तैसे वेदान्तवाक्य भी, फलवालाअज्ञातअर्थका बोधक प्रमाण है। अतः प्रसंगमें फलवाला तथा अज्ञात अर्थ ब्रह्ममें शास्त्रप्रामाणकत्व सिद्ध हुआ। इति प्रथमवर्णकं समाप्तम् ॥

अब सम्पूर्ण पदोंकी, लिङ् लोटादिक पदोंका जो क्रियारूप कार्य अर्थ है तिस कार्य करके विशिष्ट अर्थमें (अर्थात् कार्यान्वित अर्थमें) शक्तिकी इच्छा करने वाले, तथा सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रविधिका शेषत्वरूप करके प्रत्यग् ब्रह्मको बोधन करता है स्वतन्त्रतारूप करके नहीं, ऐसा कथन करनेवाले, जो वृत्तिकार

हैं तिनोंके मतका खण्डन करनेके लिये 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रके दूसरे वर्णकको (अर्थात् प्रथम जिस प्रकार सूत्रकी योजना दिखाई है उससे प्रकारान्तर करके सूत्रकी योजनाको) दिखाते हैं।

तहां प्रथम अधिकरणरचनाको वर्णन करते हैं। इस 'समन्वयात्' सूत्रका विषयवाक्य सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र है।

और सिद्ध अर्थमें पदोंकी शक्तिका भाव तथा अभावके संदेहप्रयुक्त 'सम्पूर्ण वेदान्त विधिका शेषत्वरूप करके ब्रह्मको बोधन करता है अथवा स्वतन्त्रतारूप करके ब्रह्मको बोधन करता है' ऐसे शंशयके हुये पूर्वपक्षको दिखाते हैं—'अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते' इति भाष्यम्। अर्थ—अत्र कहिये ब्रह्मको वेदान्त करके वेद्यत्वकी उक्तिमें, अपरे कहिये वृत्तिकार जो हैं सो 'प्रत्यवतिष्ठन्ते' कहिये पूर्वपक्षको करते हैं इति। और पूर्वपक्षमें उपासनासे मुक्ति रूप फल है, और सिद्धान्तमें तत्त्वज्ञानसे मुक्तिरूप फल है ऐसा जानना।

अथ पूर्वपक्षः—'यद्यपि' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—यद्यपि ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है, तथापि विधिका विषय जो उपासना तिस उपासनाका विषयत्वरूप करके ही वेदान्तशास्त्र ब्रह्मको बोधन करता है इति। अर्थात् 'आत्मेत्येवोपासीत, इस विधिका विषय उपासनाका कौन विषय है' ऐसी आकाङ्क्षा के हुये; विधिपर जो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिक वाक्य हैं सोई उपासनाका विषय ब्रह्मस्वरूपको बोधन करते हैं। इस अर्थको दृष्टान्तसे स्पष्ट करके दिखाते हैं, जैसे 'यूपे पशुं बध्नाति' 'आहवनीये जुहोति' 'इन्द्रं यजेत'। अर्थ—यूपमें पशुको बांधे, आहवनीय अग्निमें हवन करे, इन्द्रको यजन करे इति। इत्यादिक विधिमें 'यूपादिक कौन हैं' ऐसी आकाङ्क्षाके हुये 'यूपं तक्षति' 'यूपं अष्टाश्रीकरोति' यूपको 'तक्षति' कहिये छीलता है, तथा यूपको अष्ट पहलवाला करता है, इन वाक्योंसे तक्षण आदिकों करके संस्कृत जो खदिरकी लकडी (स्तम्भ) है तिसका नाम यूप है। और 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत'। अर्थ—वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्निको स्थापन करे इति। इस वाक्यसे आधान करके संस्कृत जो अग्नि है तिसका नाम आहवनीय है। और 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' वज्र है हस्तमें जिसके तिसका नाम पुरन्दर कहिये इन्द्र है। तात्पर्य यह है, जैसे 'यूपे पशुं बध्नाति' इत्यादिक विधिवाक्यपर जो 'यूपं तक्षति' इत्यादिक वाक्य हैं, सो अलौकिक यूप तथा आहवनीय तथा इन्द्रको विधिका शेषत्वरूप करके ही बोधन करते हैं। तैसे 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि विधिपर जो 'अयमात्मा ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्य हैं, सो भी अलौकिक ब्रह्म आत्माको विधिका शेषत्व रूप करके ही बोधन (समर्पण) करते हैं।

वेदान्तीकी शंका। पूर्वोक्त उपक्रम उपसंहारादिक षट् प्रकारके लिङ्गो करके संपूर्ण वेदान्तशास्त्रका ब्रह्ममें तात्पर्यके निश्चय हुये ब्रह्ममें उपासनाविधिका शेषत्व किस हेतुसे बन सकता है?

समाधान। 'प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनत्वाच्छास्त्रस्य' इति भाष्यम्। अर्थ—शास्त्रको प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप प्रयोजनवाला होनेसे ब्रह्ममें उपासनाविधिका शेषत्व है इति। तात्पर्य यह है कि वृद्धव्यवहार करके ही शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय होता है। और वृद्धव्यवहारमें श्रोता पुरुषकी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिको उद्देश करके ही आप्तपुरुषका प्रयोग देखनेमें आता है, अतः शास्त्रका भी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप ही प्रयोजन कहना होगा। और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति जो हैं सो लिङादिक पदोंका जो कार्यरूप अर्थ है तिसके ज्ञान करके जन्य हैं, इस लिये शास्त्रको कार्यपरत्व कहना होगा। और जब कार्यबोधक वेदान्तशास्त्र हुआ, तब ब्रह्ममें कार्यका शेषत्व अवश्य मानना पड़ेगा।

इस अर्थमें शास्त्रके तात्पर्यको जाननेवाले मीमांसासूत्रके उपर भाष्यके कर्ता शबर स्वामीकी संमतिको दिखाते हैं—दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्। अर्थ—वेदका, कर्मका अवबोधनरूप दृष्ट अर्थ है कहिये दृष्ट फल है अर्थात् वेदका अर्थ कार्य है इति। और चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्। अर्थ—क्रियाका प्रवर्तक जो वचन है तिसका नाम चोदना है इति। इस अर्थको पूर्व स्पष्ट कह आये हैं इति।

अब इसी अर्थमें जैमिनि ऋषिकी संमतिको दिखाते हैं—तस्य ज्ञानमुपदेशः। अर्थ—धर्मका ज्ञापक जो अपौरुषेय विधिवाक्य है तिसका नाम उपदेश है इति।

अब कार्यान्वित अर्थमें पदोंकी शक्ति है इस अर्थमें जैमिनिसूत्रको दिखाते हैं—तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः। अर्थ—तत् कहिये वेदमें, 'भूतानां' कहिये सिद्ध अर्थके बोधक पदोंका, कार्यवाचकलिङादिक पदोंके साथ उच्चारण अर्थात् समन्वय करनेको योग्य है इति। तात्पर्य यह है, 'घटमानय' इत्यादिक लौकिक वाक्यमें जैसे घटादिक पदोंकी शक्ति, आनयनादिरूप क्रियाविशिष्ट कम्बुग्रीवादिमत्कलशादिकोंमें है। तैसे 'यूपं तक्षति' इत्यादिक वैदिक वाक्योंमें यूपादिक पदोंकी शक्ति तक्षणादिक क्रियारूप कार्यविशिष्ट यूपादिकोंमें है। इस रीतिसे कार्यान्वित अर्थमें जो पदोंकी शक्ति है, तिस शक्ति करके विशिष्ट जो ज्ञातपद हैं, सो पदार्थकी स्मृतिद्वारा वाक्यके अर्थरूप कार्यको बोधन करते हैं, यह पूर्वमीमांसकोंका सिद्धान्त है।

और सिद्ध अर्थके बोधक वाक्यमें शास्त्रत्व नहीं है। इस अर्थमें भी जैमिनि ऋषिकी संमतिको दिखाते हैं—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'। अर्थ— वेदको क्रियारूप अर्थवाला होनेसे क्रियासे भिन्न सिद्ध अर्थके बोधक वाक्य निष्फल हैं इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि किसी विषयविशेषमें

(अर्थात् इष्टका उपाय यागादिकोंमें) पुरुषको प्रवृत्त करता हुआ, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत', तथा किसी विषयविशेषसे (अर्थात् अनिष्टके उपाय सुरापान हननादिकोंसे) पुरुषको निवृत्त करता हुआ, जैसे 'न सुरां पिबेत्' इत्यादिक शास्त्र अर्थवाला होता है । अतः विधिनिषेध वाक्य जो है सो शास्त्र है, और विधिनिषेधसे भिन्न जो अर्थवादादिक हैं सो विधिनिषेधके शेषत्वरूप करके उपयुक्त हैं । और वेदान्तशास्त्रमें भी, कर्मशास्त्रमें जो शास्त्रत्व है तिसके समान ही शास्त्रत्व है । अतः वेदान्त शास्त्रको भी प्रवर्तकत्वरूप करके, अथवा निवर्तकत्वरूप करके, अथवा शेषत्वरूप करके ही अर्थवत्ता कहनी होगी, अर्थात्, कार्य ही अर्थ वेदान्तका कहना होगा ।

शंका । जैसे 'रात्रिसत्रेण यजेत्' इस स्थलमें नियोज्यका अर्थात् अधिकारीका अभाव है तथा विधेयका अभाव है, तैसे वेदान्तवाक्योंमें नियोज्यका तथा विधेयका अभाव होनेसे वेदान्तवाक्यको विधिपरत्व नहीं कह सकते ।

समाधान । जैसे 'रात्रिसत्रेण यजेत्' इस स्थलमें 'प्रतिष्ठाकामः' इस पदका अध्याहार करके प्रतिष्ठाकी कामनावाला जो पुरुष है सो नियोज्य है । तथा प्रतिष्ठाका साधन रात्रिसत्र याग विधेय है । तैसे रात्रिसत्र न्याय करके वेदान्तमें भी नियोज्य तथा विधेयका लाभ बन सकता है । इस अर्थको भाष्यमें दिखाते हैं—'सति च विधिपरत्वे' इत्यादि । अर्थ—वेदान्तमें विधिपरत्वके निश्चित हुये, जैसे स्वर्गकामनावाले पुरुषके लिये स्वर्गफलका साधन अग्निहोत्रादिकोंका 'स्वर्गकामो यजेत' यह वाक्य विधान करता है । तैसे 'ब्रह्मभावकामो ब्रह्मवेदनं कुर्यात्' । अर्थ— यह वाक्य अमृतत्वरूप ब्रह्मभावकी कामनावाले पुरुषके लिये मोक्षफलका साधन ब्रह्मज्ञानको विधान करता है, अर्थात् अमृतत्वकी कामनावाला पुरुष ब्रह्मज्ञानको सिद्ध करे इति । इस रीतिसे वेदान्त शास्त्रमें भी नियोज्य तथा विधेयकी सिद्धि हुई ।

शंका । 'अथातो धर्मजिज्ञासा' तथा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इन सूत्रोंसे सूत्रकारोंने काण्डद्वयमें अर्थका भेद कहा है । अर्थात् कर्मकाण्डमें कृतिसाध्य यागादिरूप धर्म जिज्ञास्य अर्थ है, और ज्ञानकाण्डमें नित्य सिद्ध आनन्दरूप ब्रह्म जिज्ञास्य अर्थ है । और जब एक कार्यरूप ही अर्थ काण्डद्वयका मानोगे तब शास्त्रका भेद असंगत होगा । और जब काण्डद्वयमें जिज्ञास्य अर्थका भेद स्वीकार किया है, तब फलका भेद भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये । यदि फलका भेद न मानोगे तो मोक्षरूप फलको भी विधेय क्रिया करके जन्य हुये, मोक्षफलमें कर्मफलसे विलक्षणताका अभाव होनेसे, जिज्ञास्य अर्थके भेदकी असिद्धि होगी । अतः, अनुष्ठानकी अपेक्षावाले जो धर्मज्ञानके फल स्वर्गादिक हैं, तिनोंसे विलक्षण ब्रह्मज्ञानका मोक्षरूप फल मानना योग्य है । इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मज्ञानको असाध्यफलवाला होनेसे कर्मकी तरह ब्रह्मज्ञान विधेय नहीं है ।

समाधान । यह सिद्धान्तीका कहना असंगत है, ऐसा वृत्तिकार दिखाते हैं—**नार्हत्येवं भवितुम् कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात्** । इति भाष्यम् । अर्थ—कृतियोग्यभावरूप यागादि अर्थ है विषय जिसका, ऐसा जो नियोग है तिसका नाम कार्यविधि है, और कार्यविधिकी अपेक्षावाला जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मको वेदान्त करके प्रतिपाद्यमान होनेसे ब्रह्मज्ञान विधेय है इति ।

अब ब्रह्ममें विधिशेषत्वको दिखाते हैं ।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'आत्मेत्येवोपासीत' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' इति बृहदारण्यके, **'य आत्माऽपहतपाप्मा' 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'** इति छान्दोग्ये, **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** इति मुण्डके। अर्थ—अरे मैत्रेयि! आत्मा साक्षात्कार करनेको योग्य है, आत्माको ही उपासना करो, और आत्मस्वरूप ही लोककी उपासना करे अर्थात् आत्मासे भिन्न लोक हैं नहीं ,यह बृहदारण्यकमें; और जो आत्मा पाप रहित है सो अन्वेषण करनेको योग्य है, तथा जिज्ञासा करनेको योग्य है यह छान्दोग्यमें; ब्रह्मभाव कामना वाला जो पुरुष है सो पुरुष ब्रह्मज्ञानको सिद्ध करे यह मुण्डकमें विधिवाक्य हैं। और जो वाक्य, तव्य लिङ् लोट् आदिक प्रत्यय घटित हैं सो वाक्य विधिवाक्य कहे जाते हैं । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिक विधिवाक्यको विद्यमान होनेसे 'कौन आत्मा है, कौन ब्रह्म है' ऐसी आकाङ्क्षा होती है । और आत्माको कर्ता भोक्ता संसारी माननेवाले पुरुषके प्रति, आत्मा तथा ब्रह्मके स्वरूपका समर्पण करके-कहिये बोधन करके, आत्मा नित्य है, सर्वगत है, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, इस अर्थका प्रतिपादक संपूर्ण वेदान्त-शास्त्र उपयुक्त होता है ।

शंका । विधिका फल क्या है ?

समाधान । **'तदुपासनाच्च'** इत्यादि भाष्यम् । अर्थात्–'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस श्रुति करके उक्त जो स्वर्गकी तरह लोकमें अप्रसिद्ध मोक्षरूप फल है, सो प्रत्यग् ब्रह्मकी उपासनासे होगा । और कर्तव्य जो उपासना है तिस उपासना विधिका नहीं प्रवेश करके (अर्थात् ब्रह्ममें उपासनाविधिका शेषत्वको नहीं अङ्गीकार करके) विधि असंबद्ध तथा हानोपादान रहित सिद्ध ब्रह्म वस्तुके बोधक वेदान्तमें, प्रवृत्ति आदिक फलका अभाव होनेसे वैफल्य होगा। जैसे **सप्तद्वीपा वसुमती, राजासौ गच्छति** । अर्थ—सप्तद्वीप धनवाली पृथिवी है, और यह राजा जाता है, ये वाक्य प्रवृत्ति आदिक फलका अभाववाले होनेसे निष्फल हैं ।

शंका । जैसे किसी पुरुषको रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति हुई, दूसरा पुरुष कहता है कि 'नायं सर्पः रज्जुरियम्' इस वाक्यको भ्रान्तिजनित भीतिका निवर्तक होनेसे अर्थवत्त्व देखा है । तैसे प्रसंगमें जब ब्रह्मनिष्ठ आचार्य उपदेश करता है कि 'त्वं असंसारी प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मासि' अर्थात् तू संसार रहित है,

तथा ब्रह्मस्वरूप है, तब सिद्ध ब्रह्मका बोधक इस वाक्यमें भी संसारित्व-भ्रान्तिकी निवृत्ति करके अर्थवत्त्व होवेगा।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असंगत है. क्योंकि जैसे रज्जु-स्वरूपका श्रवण करके सर्पभ्रान्तिकी निवृत्ति होती है, तैसे ब्रह्मस्वरूपका श्रवण करके यदि संसारित्वभ्रान्तिकी निवृत्ति होती तो सिद्ध अर्थ के बोधक वेदान्तमें अर्थवत्त्व होता। परन्तु जिस पुरुषने ब्रह्मका श्रवण भी किया है तिस पुरुषमें भी प्रथमकी तरह संसारके सुख दुःखादिक धर्म देखनेमें आते हैं। अतः सिद्ध अर्थका बोधक वेदान्तवाक्यके श्रवणसे संसारित्व भ्रान्तिकी अनिवृत्ति होनेसे वेदान्तवाक्यमें अर्थवत्त्व नहीं बन सकता। और 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस बृहदारण्यक वाक्य करके, श्रवणसे उत्तरकालमें मनन तथा निदिध्यासनकी विधि देखनेमें आती है। इससे यह निश्चय होता है कि यदि ज्ञानसे ही मुक्ति होती तो श्रवणजन्य ज्ञानसे अनन्तर मनन निदि-ध्यासनकी विधि नहीं होती परन्तु है तो सही। अतः मननादि विधिसे सिद्ध होता है कि उपासनादिरूप कार्य करके साध्य मुक्ति है। और 'श्रोतव्यः' इत्यादि शब्दोंकी कार्यान्वित अर्थमें शक्ति होनेसे प्रवृत्ति आदिक फलवाले वाक्योंमें ही शास्त्रत्व है। और सिद्ध अर्थके बोधक वाक्योंमें फलका अभाव होनेसे, तथा मननादि विधिसे संपूर्ण वेदान्तशास्त्र कार्यपर है। अब पूर्वपक्षको समाप्त करते हैं—**तस्मात्प्रतिपत्तिविधिविषयतयैव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम्।** अर्थ—जिस लिये श्रवणसे अनन्तर मननादिक विधि देखनेमें आती हैं, अतः विधि विषय जो प्रतिपत्ति कहिये उपासना तिस प्रतिपत्तिका विषयस्वरूप करके ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण हैं यही अङ्गीकार करनेको योग्य है इति।

अथ सिद्धान्तपक्षः। एकदेशी वृत्तिकारके मतको खण्डन करनेके लिये सिद्धान्ती प्रथम अनुमान प्रमाणको दिखाता है। **वेदान्ताः, न विधिपराः, फलवदर्थबोधकत्वे सति नियोज्यविधुरत्वात्, 'नायं सर्प' इति वाक्यवत्'** अर्थ—जैसे 'नायं सर्पः' इस वाक्यरूप दृष्टान्तमें सर्पके भ्रमज्ञान करके जन्य जो भय कंपादिक, तिन भय कंपादिकोंकी निवृत्तिरूप फलवाला जो सर्पका निषेधरूप अर्थ, तिस अर्थका बोधकत्व है, तथा नियोज्य जो अधिकारी तिस करके रहितत्व है, अतः दृष्टान्तमें फलवदर्थबोधकत्वे सति नियोज्यविधुरत्व रूप हेतु रहता है। और विधिपरत्वका अभावरूप साध्य भी है। तैसे वेदान्त-रूप पक्षमें 'अविद्याकी निवृत्ति, स्वस्वरूपका आविर्भाव' रूप मोक्षफलवाला ब्रह्मरूप अर्थका बोधकत्व है, तथा नियोज्यविधुरत्व भी है, अतः पक्षमें फलवदर्थबोधकत्वे सति नियोज्य-विधुरत्व रूप हेतु रह गया इति। इसलिये विधिपरत्वका अभाव रूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके वेदान्तशास्त्रमें विधिपरत्वका अभाव सिद्ध हुआ।

अब हेतुमें जो विशेषण तथा विशेष्य भाग हैं तिनोंका फल कहते हैं। इस अनुमानमें 'नियोज्यविधुरत्वात्' इतना मात्र ही हेतु कहते तो 'सोऽरोदीत्'

इस वाक्यमें हेतु व्यभिचारी होगा । क्योंकि 'सोऽरोदीत्' इस वाक्यमें विधिपरत्वका अभावरूप साध्य नहीं है, और नियोज्यविधुरत्व रूप हेतु रह गया। इस व्यभिचाररूप दोषकी निवृत्तिके लिये 'फलवदर्थबोधकत्वे सति' यह विशेषण कहा है। जब यह विशेषण कहा तब व्यभिचार दोष होता नहीं। क्योंकि 'सोऽरोदीत्' इस वाक्यमें यद्यपि नियोज्यविधुरत्व रूप हेतु है, तथापि फलवदर्थबोधकत्वरूप विशेषण नहीं है, अतः विशेषणका अभावप्रयुक्त विशेषणविशिष्ट नियोज्यविधुरत्व रूप हेतुका भी अभाव होनेसे व्यभिचार दोष होता नहीं। और 'फलवदर्थबोधकत्वात्' इतना मात्र ही यदि हेतु कहते तो 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इस वाक्यमें हेतु व्यभिचारी होगा। क्योंकि इस वाक्यमें स्वर्गरूप फलवाला जो ज्योतिष्टोमयागरूप अर्थ है तिस अर्थका बोधकत्वरूप हेतु है, और विधिपरत्वाभाव साध्य नहीं है। इस व्यभिचाररूप दोषकी निवृत्तिके लिये हेतुमें 'नियोज्यविधुरत्वात्' यह विशेष्य भाग कहा है। इस विशेष्यभागको कहनेसे व्यभिचार दोष होता नहीं, क्योंकि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' इस वाक्यमें यद्यपि फलवदर्थबोधकत्वरूप विशेषण है, तथापि नियोज्यविधुरत्वरूप विशेष्यका अभाव होनेसे विशेष्यका अभावप्रयुक्त फलवदर्थबोधकत्वविशिष्ट नियोज्यविधुरत्व रूप हेतुका अभाव है, अतः व्यभिचार दोष नहीं होता।

शंका। नियोज्य नाम अधिकारीका है, और वेदान्तशास्त्रमें भी विवेकादिक साधन संपन्नको अधिकारी कहा है, अतः 'नियोज्यविधुरत्वात्' इतना हेतुको वेदान्तरूप पक्षमें नहीं रहनेसे हेतु विशेष्यकी असिद्धिरूप दोषवाला होगा।

समाधान। यद्यपि वेदान्तशास्त्रमें अधिकारी है तथापि नियोज्य नहीं है। क्योंकि 'नियोज्य' नाम केवल अधिकारीका नहीं है किन्तु नियोगरूप विधि करके प्रवृत्त जो अधिकारी है तिसका नाम नियोज्य है। और जब वेदान्तशास्त्रमें विधि ही स्वीकृत नहीं है तब विधि करके प्रवृत्तनियोज्य भी नहीं बन सकता। इसलिये 'नियोज्यविधुरत्वात्' यह जो हेतु कहा है सो समीचीन है।

अब वेदान्तमें विधिपरत्वका अभावको सिद्धान्तरूप करके दिखाते हैं-

'अत्राभिधीयते—न, कर्मब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्' इति भाष्यम्। अर्थ— प्रसंगमें सिद्धान्ती कहता है कि कर्मके तथा ब्रह्मविद्याके फलमें विलक्षणता होनेसे जैसे कर्म विधेय है तैसे ज्ञान विधेय नहीं हो सकता इति। और **'मोक्षो, न विधिजन्यः, कर्मफलविलक्षणत्वात्, आत्मवत्'**—जैसे आत्मारूप दृष्टान्तमें कर्मके फल स्वर्गादिकोंसे विलक्षणत्वरूप हेतु है, और विधिजन्यत्वका अभावरूप साध्य भी है। तैसे मोक्षरूपपक्षमें कर्मके फलसे विलक्षणत्वरूप हेतु है, अतः विधिजन्यत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये।

और इस अनुमानमें कर्मफलविलक्षणत्व रूप जो हेतु कहा है तिस-

हेतुका ज्ञानके लिये कर्म तथा कर्मके फलको दिखाते हैं। तहां शारीरक, वाचिक, मानस, इस भेद करके कर्म तीन प्रकारका होता है, और यह तीन प्रकारका कर्म श्रुति स्मृतिमें प्रसिद्ध है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' यह श्रुति शारीरक कर्मको बोधन करती है, क्योंकि हवनादिरूप कर्ममें शरीरको ही प्रधानता है। और 'ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः' यह श्रुति वाचिक कर्मको बोधन करती है, क्योंकि वेदका पाठादिरूप कर्ममें वाणीको ही प्रधानता है। और 'संध्यां मनसा ध्यायेत्' यह श्रुति मानस कर्मको बोधन करती है, क्योंकि संध्याके ध्यानरूप कर्ममें मनको ही प्रधानता है। और '**शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः**' यह स्मृति शरीर करके तथा वाणी करके तथा मन करके जिस क्रियाका आरम्भ मनुष्य करता है तिसका नाम कर्म है ऐसा बोधन करती है। इस रीतिसे श्रुति स्मृतिमें प्रसिद्ध जो विहित कर्म है तिसको धर्म कहते हैं। यह धर्मविषयक जिज्ञासा जैमिनि ऋषिने दिखाई है,-'**अथातो धर्मजिज्ञासा**'। अर्थ—वेदाध्यनसे अनन्तर, वेदको फलवालाअर्थपरत्व होनेसे, धर्मके निर्णयके लिये कर्मकाण्ड विचार करनेको योग्य है इति। और सूत्रमें जो धर्मपद है सो अधर्मका भी उपलक्षण है। अर्थात् हिंसा अभक्ष्यभक्षणादिक जो अधर्म है, तिसको निषेधवाक्य रूप प्रमाणवाला होनेसे, अधर्मकी भी जिज्ञासा करनेको योग्य है। क्योंकि अनिष्टका साधन अधर्मका ज्ञान होनेसे ही अधर्मको त्याग कर सकता है।

अब कर्मके फलको दिखाते हैं। विधिवाक्य तथा निषेधवाक्य हैं प्रमाण जिसमें, ऐसा जो इष्टका साधन तथा अनिष्टका साधनरूप; धर्म तथा अधर्मरूप कर्म है, तिसका प्रत्यक्षसिद्ध सुख तथा दुःखरूप फल है। वह सुख दुःखरूप फल कैसा है? विषयके अधीन होनेसेशोकसहित है, तथा शरीर, मन, वाणी करके उपभुज्यमान है, तथा विषयइन्द्रियके संयोग करके जन्य है, तथा ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त देहधारियोंमें प्रसिद्ध है। और मोक्षरूप फल कर्मफलसे विलक्षण है, अर्थात् मोक्षरूप फल अतीन्द्रिय है, शोक रहित है, शरीरादिकों करके अभोग्य है, विषय इन्द्रिय संयोगादिकों करके अजन्य है, अनात्मवित् पुरुषोंमें अप्रसिद्ध है। इस पूर्वोक्त रीतिसे कर्मफल तथा मोक्षरूप फलमें वैलक्षण्य है।

और कर्मफलको तारतम्यवाला होनेसे, तारतम्य करके रहित अर्थात् निरतिशय मोक्षरूप जो ब्रह्मविद्याका फल है तिससे कर्मफलमें भिन्नत्वको दिखाते हैं। '**मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते**' इति भाष्यम्। अर्थ—मनुष्यसे आरम्भ करके ब्रह्मा पर्यन्त देहधारियोंमें जो सुखका तारतम्य है सो श्रुतिमें श्रवण करनेमें आता है इति। तैत्तिरीय उपनिषद्में ऐसा विचार किया है कि 'ब्रह्मानन्द लौकिक आनन्दकी तरह विषय विषयीके सम्बन्ध करके जन्य है अथवा स्वाभाविक है'? तहां लौकिक आनन्दको बाह्य आध्यात्मिक साधनसम्पत्ति करके जन्य होनेसे, उत्तर उत्तरमें उत्कर्षरूप तारतम्यको दिखाकर, ब्रह्मानन्दको स्वाभाविक निरतिशय स्वरूप वर्णन किया है।

तहां प्रथम मानुषानन्दको दिखाते हैं, जो पुरुष युवा अवस्थावाला हो, और युवा अवस्थामें भी साधु युवा अवस्थावाला हो, और वेद तथा वेदोंके अङ्गोंका अध्ययन किया हो, और क्रमसे माता पिता आचार्य करके शिक्षित हो, और अतिशय वलवान् हो, तथा वित्त करके पूरित सम्पूर्ण पृथिवी जिसके वशमें हो, ऐसा जो चक्रवर्ती राजा है, सो मनुष्यलोकसम्बन्धी जो समष्टि-मानुषानन्द है तिस मानुषानन्दको अनुभव करता है। और कर्म तथा उपसनाके बलसे जो मनुष्य गन्धर्वभावको प्राप्त हुये हैं तिनका नाम मनुष्यगन्धर्व है। तिन मनुष्यगन्धर्वोंको मानुषानन्दसे शतगुण अधिक आनन्द प्राप्त होता है। और कल्पके आदिमें ही जो देवलोकमें उत्पन्न हुये तथा गायन करनेवाले जो गन्धर्व हैं तिनका नाम देवगन्धर्व है। तिन देवगन्धर्वोंको मनुष्यगन्धर्वके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द प्राप्त होता है। और चिरकाल स्थायि लोकोंको अनुभव करनेवाले जो अग्निष्वात्तादि पितर हैं, तिनको देवगन्धर्वके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द प्राप्त होता है। और देवलोकमें स्मार्त कर्म करके उत्पन्न जो देवता हैं, तिनका नाम आजानदेव है। तिनको पितरोंके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द प्राप्त होता है। और श्रौत कर्म करके देवभावको प्राप्त हुये जो प्राणी हैं, तिनका नाम कर्मदेव है। तिन कर्मदेवोंको स्मार्त कर्मजन्य देवतावोंसे शतगुणअधिक आनन्द प्राप्त होता है। और देवलोकमें जो जातिसे देवता हैं, अर्थात् कल्पके आदिमें देवभावको प्राप्त हुये हैं, तिनको कर्मदेवतावोंके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द प्राप्त होता है। और देवतावोंके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द इन्द्रको प्राप्त होता है। और इन्द्रके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द देवतावोंके गुरु बृहस्पतिको प्राप्त होता है। और बृहस्पतिके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द त्रैलोक्य शरीरी विराट् स्वरूप प्रजापतिको प्राप्त होता है। और प्रजापतिके आनन्दसे शतगुणअधिक आनन्द हिरण्यगर्भको प्राप्त होता है। इस पूर्वोक्त प्रकार मानुषानन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्द पर्यन्तमें तारतम्यको श्रुतिने वोधन किया है। और इस सम्पूर्ण आनन्दको विषयवासना रहित श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ प्राप्त होता है, क्योंकि सार्वभौमसे आदि लेके हिरण्यगर्भ पर्यन्त जो आनन्द हैं, सो स्वाभाविक निरतिशय ब्रह्मानन्दका एक लेश है ऐसा श्रुतिने बोधन किया है। तहां श्रुतिः—**एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।** अर्थ—इस ब्रह्मानन्दका ही एक लेशरूप मात्राको आश्रयण करके मनुष्यलोकसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त जीवनको प्राप्त होते हैं अर्थात् आनन्दित होते हैं इति। इस प्रकार जन्य सुखको तारतम्यवाला होनेसे जन्य सुखका कारण धर्ममें भी तारतम्यको मानना होगा। अर्थात् जन्य सुखरूप फल नाना प्रकारका है, अतः जन्य सुखका कारण धर्म भी नाना प्रकारका है। और मोक्षरूप फल निरतिशय आनन्द एकरूप है, तथा मोक्षका साधन तत्त्वज्ञान भी एकरूप है। इस प्रकार कर्मफल तथा ब्रह्मविद्याके फलमें वैलक्षण्य जानना।

किं च मोक्षका विवेकादि साधनसम्पन्न अधिकारी एक ही प्रकारका है, और कर्मका अधिकारी नाना प्रकारका है, इस अर्थको दिखाते हैं-**धर्मतारतम्यादधिकारीतारतम्यम्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ--धर्मके तारतम्यसे अधिकारीमें कामनारूप अर्थित्व तथा लौकिक धनपुत्रादिरूप सामर्थ्य करके किया हुआ तारतम्य प्रसिद्ध है इति। और केवल प्रसिद्धि करके ही अधिकारीमें तारतम्य है सो वार्ता नहीं, किन्तु श्रुति करके भी सिद्ध है, इस अर्थको दिखाते हैं-**'तथा च'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ--यागादिक कर्मके अनुष्ठान करनेवाले जो पुरुष हैं तिनका, उपासनारूप विद्याके, तथा उपास्य अर्थमें मनका स्थिरीभावरूप समाधिके, प्रकर्षसे अर्चिरादि मार्ग करके ब्रह्मलोकमें गमन होता है इति। तहां श्रुतिः—**'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति'** इत्यादि। अर्थ—परलोकगामियोंके मध्यमें जो गृहस्थ पञ्चाग्निविद्याको जानते हैं, और जो वानप्रस्थ तथा असुख्य संन्यासी अरण्यमें तपकी उपासना करते हैं अर्थात् स्वधर्मरूप तपमें तात्पर्यवाले होते हैं, ये सर्व देहपातसे अनन्तर अर्चिष् अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। और अर्चिष् अभिमानी देवताद्वारा दिनके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। और दिनके अभिमानी देवताद्वारा शुक्लपक्षके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। और शुक्लपक्षके अभिमानी देवताद्वारा उत्तरायण षट् मासाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। और षट्मासाभिमानी देवताद्वारा संवत्सरक अभिमानीदेवताको प्राप्त होते हैं। और संवत्सराभिमानी देवताद्वारा आदित्यको प्राप्त होते हैं। और आदित्यद्वारा चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। और चन्द्रमाद्वारा विद्युत्को प्राप्त होते हैं। और विद्युत लोकमें ब्रह्मलोकसे अमानव पुरुष आकर उपासकोंको ब्रह्मलोकमें प्राप्त करता है। इस मार्गका नाम देवयान मार्ग है। और उपासना तथा समाधिसे रहित केवल इष्ट, पूर्त, दत्त, इन कर्मोंको जो गृहस्थ करता है सो देहपातसे अनन्तर धूमका अभिमानी देवताको प्राप्त होता है। और धूमाभिमानी देवताद्वारा रात्रिके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है। और रात्रिके अभिमानी देवता द्वारा कृष्ण पक्षके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है। और कृष्ण पक्षके अभिमानी देवताद्वारा दक्षिणायन षट् मासके अभिमानी देवताको प्राप्त होता है। और षट्मासाभिमानी देवताद्वारा पितृलोकको प्राप्त होता है। और पितृलोकसे आकाशको प्राप्त होता है। और आकाशसे चन्द्र लोकको प्राप्त होता है इति।

'तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति श्रुतिः। अर्थ-भोगनेको योग्य यावत् काल पर्यन्त कर्मसमूह रहता है तावत् काल पर्यन्त तिस चन्द्रलोकमें स्थित होकर भोग्यको भोगता है, और कर्मक्षयसे अनन्तर जिस मार्गसे कर्मी पुरुष गया है उसी मार्गसे पुनः लौट आता है। इस मार्गको पितृमार्ग, धूमयान मार्ग कहते हैं इति।

अब इष्ट, पूर्त, दत्त कर्मके स्वरूपको वर्णन करते हैं :—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं, वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च, इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि, देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः, पूर्तमित्यभिधीयते ॥

शरणागतसंत्राणं, भूतानां चाप्यहिंसनम् ।
बहिर्वेदि च यद्दानं, दत्तमित्यभिधीयते ॥

अर्थ स्पष्ट है। इन पूर्वोक्त श्रुतियोंसे सुखके तथा दुःखके साधनोंका तारतम्यका निश्चय होता है।

इसी प्रकार मनुष्यसे आदि लेके स्थावरान्त देहधारियोंमें जो तारतम्य करके वर्तमान सुखलव प्रतीत होता है सो भी धर्म करके ही साध्य है। तथा मनुष्यलोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त तथा मनुष्यलोकसे लेकर स्थावर पर्यन्त देहधारी प्राणियोंमें दुःखतारतम्यका दर्शन होनेसे दुःखका हेतु अधर्मका और तत् साधनोंका तथा अधर्मका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंका तारतम्य निश्चित होता है। इस प्रकार अविद्या अस्मिता रागद्वेष अभिनिवेशरूप दोषवाले जो पुरुष हैं तिनोंमें, धर्म तथा अधर्मनिष्ठ तारतम्यप्रयुक्त, तथा शरीरमें जो अहंताममता रूप द्विविध अभिमान है तिस अभिमानप्रयुक्त, जो सुख दुःख हैं, तिन सुख दुःखोंमें जो तारतम्य है, सो श्रुति स्मृति न्याय प्रसिद्ध अनित्य संसाररूप है। तहां श्रुतिः—

'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति। यथावर्णितं संसाररूपमनुवदति। इति भाष्यम्। अर्थ—द्विविध अभिमानवाला जो शरीर है तिस शरीर करके सहित जीवको प्रिय अप्रिय कहिये सुखदुःखकी अपहति अर्थात् निवृत्ति नहीं बन सकती। यह श्रुति पूर्व वर्णन किया जो संसार है तिस संसारका अनुवाद करती है इति। और 'अनुवदति' इस पद करके भाष्यकार भगवान्ने 'इस श्रुतिका तात्पर्य संसारके ज्ञानमें नहीं है, किन्तु त्याग करानेके लिये अनर्थका हेतु अभिमानविशिष्ट शरीरादिक संसारको अनुवाद करके मोक्षमें तात्पर्य है' यह बोधन किया।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम् ।
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥

इत्यादिक स्मृतिः।

अर्थात्—पुण्यकर्म करनेवाले जो पुरुष हैं सो विशाल स्वर्गसुखको भोग करके पुण्यकर्मके नष्ट हुये मर्त्यलोकको प्राप्त होते हैं। और शरीर करके जन्य पापरूप कर्म करके स्थावरवृक्षादि योनिको प्राप्त होते हैं। और वाचिक पापकर्म करके पक्षिमृगादिक योनिको प्राप्त होते हैं। और मानस पापकर्म करके चाण्डालादिक शरीरको प्राप्त होते हैं इति।

और 'कर्मरूपसाधनानि, तारतम्यवद्भवितुमर्हन्ति, तारतम्यविशिष्टफलजनकत्वात्, तारतम्यविशिष्टज्वालाजनककाष्ठोपचयापचयवत्' इति न्यायः।

जैसे काष्ठका उपचय कहिये वृद्धि तथा अपचय कहिये ह्रासरूप दृष्टान्तमें तारतम्यविशिष्ट ज्वालारूपफलका जनकत्वरूप हेतु रहता है, और तारतम्यरूप साध्य भी रहता है। तैसे कर्मरूपसाधनपक्षमें तारतम्यविशिष्ट सुखादिरूप फलका जनकत्वरूप हेतु रहता है, अतः तारतम्यरूप साध्य भी मानना चाहिये। और **'मोक्षो, न कर्मफलं, कर्मफलविरुद्धातीन्द्रियत्वविशोकत्वशरीराद्यभोग्यत्वादिधर्मवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा स्वर्गादि'** । जैसे स्वर्गरूप दृष्टान्तमें कर्मफलत्वका अभावरूप जो साध्य है तिस साध्यका अभाव रहता है, तैसे कर्मफलसे विरुद्ध अतीन्द्रियत्व विशोकत्वादिक धर्मवत्त्वरूप हेतुका अभाव भी रहता है। और मोक्षरूप पक्षमें कर्मफलसे विरुद्ध अतीन्द्रियत्वादिक धर्मवत्त्वरूप हेतु रहता है, अतः कर्मफलत्वाभावरूप साध्यके अभावका अभाव, अर्थात् कर्मफलत्वका अभावरूप साध्य मानना चाहिये इति। इस व्यतिरेकि अनुमान करके अनुग्राह्य जो श्रुति है तिस श्रुतिको दिखाते हैं :—

अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः । अर्थ—वस्तुतः देहरहित विद्यमान आत्माको मिथ्या देहसम्बन्धि सुखदुःखादिक स्पर्श नहीं कर सकते, अतः-अशरीरत्वरूप मोक्षमें धर्मकार्यत्वको यह श्रुति निषेध करती है। और यदि धर्मका कार्य मोक्ष है ऐसा मानोगे तो प्रिय अप्रियके स्पर्शनका निषेध नहीं बनेगा इति।

यदि पूर्वपक्षी कहे कि धर्मको विचित्र फलदानकी सामर्थ्य होनेसे अशरीरत्वरूप मोक्ष भी धर्मका फल बन सकता है। सो कहना असंगत है, क्योंकि देहका असम्बन्धरूप अशरीरत्वको नित्य होनेसे धर्मकार्यत्व नहीं बन सकता। इस अर्थमें श्रुतिप्रमाण कहते हैं :-

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ (कठोपनिषत्)

अर्थ—तीन शरीरों करके रहित, और अनित्यसर्वदेहके विषे शरीरत्रयका साक्षीरूप करके स्थित, और 'महान्तं' कहिये आपेक्षिक महत्व करके शून्य, 'विभुं' कहिये सर्व व्यापक ऐसा प्रत्यक् चैतन्यरूप आत्माको 'मत्वा' कहिये 'मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार करके विवेकी पुरुष शोक नहीं करता अर्थात् शोकका कारण अज्ञानका अभाव होनेसे कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक बन्ध रहित होता है इति।

मुण्डकमें भी लिखा है—**दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।** अर्थ—आत्मा दिव्य कहिये दीप्तिमान् है, अथवा स्वयंप्रकाशरूप करके लोकसे विलक्षण होनेसे दिव्य कहिये अलौकिक है। और अमूर्त कहिये सर्व मूर्ति रहित है। पुरुष कहिये सर्वत्र पूर्ण है। देहकी अपेक्षा करके बाह्य जो घटादिक हैं और अन्तर जो इन्द्रियादिक हैं तिनके साथ अधिष्ठानरूप करके वर्तमान है। अज कहिये जन्म रहित है अर्थात् षट् विकारको जन्ममूलक होनेसे जन्मका अभाव प्रयुक्त षट् विकार रहित है। इस 'अज'पद करके आत्मामें स्थूलदेहसे भिन्नत्वको बोधन किया। अब सूक्ष्मदेह से भिन्न-

त्वको दिखाते हैं। जिस आत्मामें पंचवृत्त्यात्मक क्रियाशक्तिमान् वायुस्वरूप प्राण विद्यमान नहीं है तिस आत्माका नाम अप्राण है। और सङ्कल्पविकल्पात्मक मन करके रहित है। अर्थात् सर्व इन्द्रिय करके रहित है। तथा शुभ्र कहिये अविद्यादिक मल रहित है। और अपने कार्यकी अपेक्षा करके पर जो अक्षररूप अव्यक्त है तिस अव्यक्तसे 'पर' कहिये उत्कृष्ट है इति। और बृहदारण्यकमें यह प्रसंग है–जनकके प्रति याज्ञवल्क्यने कहा है कि हे जनक! जाग्रत् स्वप्नादिकोंमें कर्मका फल सुख दुःखादिकोंको अनुभव करता हुआ भी स्वयंज्योतिस्वरूप आत्मा कर्मके फल सुखदुःखादिकोंका संवन्ध करके रहित है। तहां श्रुतिः–'**असंगो ह्ययं पुरुषः**' अर्थात् यह आत्मा सर्व सम्बन्ध रहित है। अर्थात् भासमान शरीरादि सम्बन्धविषयक प्रतीति भ्रम है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अनुष्ठेय कर्मके अनित्य फलसे विलक्षण अशरीरत्वरूप मोक्ष नित्य है यह सिद्ध हुआ।

शंका। आत्मरूप मोक्षमें नित्यत्वके हुये भी आत्माको परिणामी होनेसे मोक्षमें धर्मका कार्यत्वको मानना चाहिये?

समाधान। नित्य वस्तु दो प्रकारका होता है–एक तो परिणामी नित्य होता है, दूसरा कूटस्थ नित्य होता है। तहां जिस वस्तुके विकारभावको प्राप्त हुये भी 'सो यह है' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञारूप बुद्धिका नाश नहीं हो सो वस्तु परिणामी नित्य कहा जाता है। तहां पृथिवी आदिक जगत्में नित्यत्वको कहनेवाले जो मीमांसकादिक हैं सो अन्यभावको प्राप्त हुये जो पृथिवी आदिक हैं तिनोंमें 'सेयं पृथिवी' 'सोई पृथिवी है' इत्यादिक प्रत्यभिज्ञा होनेसे पृथिवी आदिक नित्य परिणामी हैं ऐसा मानते हैं। और सांख्यके मतमें सत्त्व गुण, रजोगुण, तमोगुण, यह जो तीन गुण हैं सो नित्य परिणामी हैं, क्योंकि सुखदुःख मोहादिक प्रपंचरूप करके गुण ही परिणामभावको प्राप्त होते हैं। और विक्रियमाण पदार्थोंमें भी गुणविषयक प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः नित्य हैं। परञ्च परिणामीनिष्ठ जो नित्यत्व है सो प्रत्यभिज्ञा करके कल्पित है, अतः मिथ्या है। और निर्विकाररूप आत्माके नाशकका अभाव होनेसे आत्मा कूटस्थ नित्यरूप है। और आकाशकी तरह क्रियारहित व्यापक है। और सर्व विक्रिया करके रहित होनेसे आत्मा परिणाम रहित है। तथा निरवयव होनेसे भी परिणाम रहित है। और नित्यतृप्त होनेसे फलके लिये भी आत्मामें क्रिया नहीं हो सकती। तथा स्वयंप्रकाश होनेसे अपने प्रकाशके लिये भी क्रिया नहीं हो सकती। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि इस आत्मामें सुखदुःखादिक कार्यसहित धर्म तथा अधर्मका जो तीनकालमें सम्बन्धका अभाव है सो ही अशरीरत्वरूप मोक्ष है।

अब प्रत्यक् चैतन्यब्रह्मरूप आत्मामें जो धर्मादिकोंका अभाव वर्णन किया है तिसमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं, **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद**॥ अर्थ—धर्म तथा अधर्मसे,

तथा धर्माधर्मके फल सुखदुःखादिकोंसे, तथा कार्यकारणसे, तथा भूतादिक कालत्रयसे, 'अन्यत्र' कहिये पृथक्, रहित, जो वस्तु है तिस वस्तुको यदि आप जानते हैं तो तिस आत्मवस्तुको मेरे लिये कथन करें, इस प्रकार नचिकेताने धर्मराजसे पूछा है इति। और **'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः'** इत्यादि। अर्थ–इस जगत्के विधारक आत्मामें दिनरात्रि जरामृत्यु शोक सुकृत दुष्कृत आदिक नहीं हैं इति।

शंका। पूर्वोक्त श्रुति आदिक ब्रह्ममें कूटस्थत्व असंगित्वादिकोंको कथन करें, परन्तु मोक्ष नियोग(विधि)का फल क्यों न हो?

समाधान। 'अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता' इति भाष्यम्। अर्थ–कर्मफलसे कैवल्यमोक्षफलको विलक्षण होनेसे कैवल्यमोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही है इति। भाव यह है कि मोक्षको ब्रह्मसे अभिन्न होनेसे कूटस्थरूप मोक्ष सर्व धर्मों करके रहित है। अथवा प्रसंगमें जो जिज्ञास्य है सो ब्रह्मरूप है, अतः धर्मसे पृथक् जिज्ञास्यको होनेसे मोक्ष धर्मादिकों करके अस्पृष्ट है। और प्रसंगमें जो ब्रह्म जिज्ञास्य है सो नियोग करके असाध्य स्वतन्त्र है ऐसा वेदान्त उपदेश करता है, क्योंकि सर्व श्रुतियोंका तिस ब्रह्ममें समन्वयको प्रतिपादन किया है।

यदि पूर्वपक्षी कर्तव्यशेष ब्रह्मको माने तो सिद्धान्ती दोषको दिखाता है। तिस ब्रह्मको यदि कर्तव्यका शेषरूप करके श्रुति उपदेश करेगी तो कर्तव्य क्रिया करके साध्य मोक्षको मानना होगा। यदि ऐसा मानोगे तो मोक्ष अनित्य होगा। और यदि मोक्षको अनित्य मानोगे तो तारतम्य करके वर्तमान जो कर्मके फल हैं तिन फलोंके मध्यमें ही कोई मोक्षरूप फल होगा ऐसा मानना पड़ेगा सो सर्वमत विरुद्ध है। क्योंकि सम्पूर्ण मोक्षवादी जो पुरुष हैं सो सर्व मोक्षको नित्य ही मानते हैं। अतः कर्तव्यका शेषरूप करके ब्रह्मका उपदेश मानना युक्त नहीं। और दीपकसे तमकी निवृत्तिरूप दृष्ट फलकी तरह ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्तिरूप मोक्षको दृष्ट फल होनेसे नियोगरूप क्रिया करके साध्य नहीं हो सकता, इस अर्थको भगवान् भाष्यकार अनेक श्रुतियों करके दिखाते हैं। तहां श्रुतिः—

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। इति मुण्डकोपनिषत्। अर्थ—जो पुरुष निश्चय करके प्रसंगमें प्राप्त सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मको 'अहमेवब्रह्मास्मि' इस प्रकार प्रत्यग् रूप करके जानता है सो ब्रह्मवित्पुरुष ब्रह्मरूप ही होता है इति।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक०) अर्थ—'पर' कहिये अविद्यादिक कारण, 'अवर' कहिये आकाशादिक कार्य, इन दोनोंका अधिष्ठानरूप ब्रह्मका साक्षात्कार हुये, अथवा 'पर' कहिये सर्व देवताओंकी अपेक्षासे उत्कृष्ट जो हिरण्यगर्भ है सो हिरण्यगर्भ, 'अवर' कहिये निकृष्ट है जिस सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मसे तिस, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका साक्षात्कार हुये, इस ब्रह्मवित्पुरुष-की चित् तथा जड़अहंकारकी परस्पर तादात्म्यअध्यासरूप ग्रन्थि नाशको प्राप्त हो जाती है।

और ज्ञेय ब्रह्मविषयक सम्पूर्ण संशय नाशको प्राप्त हो जाते हैं तथा सञ्चित आगामिरूप सर्व कर्म भी नाशको प्राप्त हो जाते हैं इति ।

और 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' ॥ (तैत्तिरीय०) अर्थ—जिस अद्वय आनन्द स्वप्रकाश स्वरूप आत्मासे, 'वाचः' कहिये द्रव्यादिक सकल वस्तुओंके वाचक जो शब्द हैं सो निर्विकल्प वस्तुका प्रकाश करनेके लिये प्रयोक्तृ पुरुष करके प्रयुक्त हुये भी मनके सहित (अर्थात् शब्द-शक्तिसे जन्य साभास वृत्तिज्ञानके सहित) प्रकाशनमें असमर्थ होकर निवृत्त हो जाते हैं, तिस ब्रह्मस्वरूप आनन्दका साक्षात्कार वाला जो पुरुष है सो किसीसे भयको प्राप्त होता नहीं इति।

और 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' । (बृहदा०) अर्थ—हे जनक! अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे अभयरूप ब्रह्मको तू प्राप्त हुआ है इति ।

और 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहंब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्' । (बृहदा०) अर्थ–यथार्थ तत्त्वसाक्षात्कारसे प्रथम भी शरीरमें स्थित प्रमातादिकोंका प्रकाशक साक्षीरूप जो 'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ प्रत्यग् आत्मा है सो ब्रह्मस्वरूप ही है। और सो ब्रह्म अविद्यारूप उपाधिसे अधिकारीरूप करके व्यवस्थित है। और जब जन्मान्तरीय पुण्यकर्मके प्रभावसे परम दयालु आचार्य प्राप्त होकर उपदेश करता है कि 'हे शिष्य ! तू संसारी नहीं है किन्तु प्रमाता आदिकोंका साक्षी तथा अशनायादिक सकल धर्म करके रहित चिदानन्द एक रस ब्रह्मस्वरूप तू है' तब इस प्रकार आचार्य करके बोधित शिष्यको आत्माका अपरोक्ष ज्ञान होता है। और तिस अपरोक्ष ज्ञानसे सो प्रत्यग् ब्रह्म सर्वरूप होता है। अर्थात् अविद्या प्रयुक्त जो आत्मामें असर्वत्व है सो अपरोक्ष ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेसे निवृत्त हो जाता है। और असर्वत्वकी निवृत्ति होनेसे स्वाभाविक अपरिच्छिन्नत्वरूप सर्वत्वको प्राप्त होता है इति।

और 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईशावास्य) अर्थ—जिस कालमें ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणिसमूह, प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मके ज्ञानवाला पुरुषका आत्मस्वरूप ही होगया। तिस कालमें सर्वत्र एक आत्माके ज्ञानवाले पुरुषको क्या आत्माका आवरणरूप शोक है, और क्या विक्षेपरूप मोह है, अर्थात् मूलाविद्याकी निवृत्ति होनेसे अभेदज्ञानवाले पुरुषको शोक तथा मोह होता नहीं इति ।

अब पूर्वोक्त श्रुतियोंके तात्पर्यको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं- इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरमेव मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति । अर्थ—इत्यादिक श्रुति ब्रह्मविद्यासे अनन्तर मोक्षको दिखाती हुई ब्रह्मविद्या तथा ब्रह्मविद्याका फल मोक्षके मध्यमें कार्यान्तरको निषेध करती हैं। अर्थात् ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिसे अव्यवहित उत्तरकालमें मोक्ष होता है इति। और यदि मोक्ष विधिका फल अङ्गीकार करेंगे तो स्वर्गादिकोंकी तरह मोक्ष भी कालान्तर भावी होगा। यदि ऐसा

ही अङ्गीकार कर तो ब्रह्मविद्यासे अव्यवहित उत्तरकालमें मोक्षकी प्रतिपादक अनेक श्रुतियोंका बाध होगा। अतः विधिका फल मोक्ष नहीं मान सकते।

अब इसी अर्थमें बृहदारण्यक श्रुतिको दिखाते हैं— **तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहंमनुरभवं सूर्यश्च।** अर्थ—'तत्' ब्रह्म 'एतत्' कहिये प्रत्यग् आत्मा अर्थात् ब्रह्म जो है सोई प्रत्यग् आत्मरूप करके स्थित है। इस प्रकारका साक्षात्कार करते हुये तिस साक्षात्काररूप ज्ञानसे वामदेव ऋषि शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त होता भया। इस दर्शनरूप ज्ञानमें स्थित हुआ मुनीन्द्र वामदेव अपनेमें सर्वात्मत्वका प्रकाशक 'अहं मनुरभवम्' मैं मनुरूप होता भया, तथा 'सूर्यश्च' सूर्यरूप होता भया इत्यादिक मन्त्रोंको देखता भया इति। जैसे 'तिष्ठन् गायति' इस स्थलमें स्थिति तथा गायनके मध्यमें कोई कार्यान्तर प्रतीत नहीं होता, तैसे 'पश्यन् प्रतिपदे' यह मन्त्र भी ब्रह्मदर्शन तथा सर्वात्मभावके मध्यमें कार्यान्तरको वारण करता है। किंच ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है ऐसा श्रवण करनेमें आता है। और यदि ज्ञानको विधेय अर्थात् विधिप्रयुक्त अनुष्ठेय मानोगे तो ज्ञान भी कर्म रूप होगा। और कर्म अज्ञानका निवर्तक बन सकता नहीं। अतः वेदान्तशास्त्र ज्ञानका विधायक नहीं है, किन्तु सिद्ध ब्रह्मका बोधक है।

और इसी अर्थको दिखाते हैं—**'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि'** इति (प्रश्नोप०) अर्थ—भारद्वाज आदिक षट् ऋषि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पिप्पलाद गुरुके चरणारविन्दमें नमस्कार करके कहते भये, हे भगवन्! आप हमारे लोगोंके मुख्य* पिता हैं क्योंकि जो आपने अविद्यारूप महोदधिसे ब्रह्मविद्या रूप नौका देकरके पुनरावृत्तिसे रहित जो ब्रह्मरूप पर पार है तिसको प्राप्त कर दिया है इति।

और इसी अर्थमें छान्दोग्योपनिषत्को दिखाते हैं—**'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहम् भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु'। 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः'** इति। अर्थ— छान्दोग्यमें यह प्रसंग है कि नारद ऋषिने सनत्कुमारजीसे कहा कि, हे भगवन्! 'आत्मवित्पुरुष शोकको तर जाता है' ऐसा मैंने आपके सदृश महात्मावोंसे श्रवण किया है। सो मैं हे भगवन् अज्ञानी होनेसे शोक करता हूँ। ऐसा शोक करनेवाले मेरेको हे भगवन्! आप ज्ञानरूपी नौका देकरके शोकरूप सागरके पर पारको प्राप्त कर देवें। इस प्रकार नारद करके उक्त जो सनत्कुमार हैं सो, तप करके निवृत्त हो गया है रागादिक दोष जिसका ऐसा जो नारद है तिस नारदके प्रति, शोकका निदान अज्ञानका ज्ञान करके निवृत्ति रूप, पार कहिये परमार्थतत्त्वस्वरूप ब्रह्मको दिखाते हैं इति। इत्यादिक जो श्रुति हैं सो आत्मज्ञानका मोक्षप्रतिबन्धकी निवृत्ति मात्र फलको दिखाती हैं। और अविद्यादिक प्रतिबन्धकी ज्ञान करके निवृत्ति होनेसे ब्रह्मस्वरूपका आविर्भावरूप मोक्ष तो स्वतः सिद्ध है। अतः मोक्षका कारण कर्म नहीं हो सकता।

* लौकिक पिता परिच्छिन्न हाड़मासका देह देता है, ब्रह्मविद् गुरु अपरिच्छिन्न चिदानन्दरूप अविनाशी देहको देता है इस लिये मुख्य पिता है।

और इसी अर्थमें अक्षपाद गौतम मुनिकी संमतिको दिखाते हैं-**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः । इति न्यायसूत्रम् ।** अर्थ-प्रतिकूल रूप करके वेदनीय जो वस्तु है तिसका नाम 'दुःख' है अर्थात् बाधा, पीड़ा, ताप इत्यादिक । और देह इन्द्रिय बुद्धि आदिकोंके समुदायविशिष्टका जो प्रादुर्भाव है तिसका नाम 'जन्म' है । प्रसंगमें 'प्रवृत्ति' शब्द करके, शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति करके साध्य धर्म तथा अधर्मका ग्रहण करना । और रागद्वेष, ईर्ष्या, असूया, मान, लोभादिकोंका नाम 'दोष' है । 'अतस्मिन् तद् बुद्धि' का नाम मिथ्याज्ञान है । अर्थात् अनात्मशरीरादिकोंमें आत्मत्व प्रकारक ज्ञानका नाम मिथ्याज्ञान है । इस सूत्रमें उत्तर उत्तर कारण हैं, और पूर्व पूर्व कार्य हैं । और यह नियम है कि कारणकी निवृत्तिसे कार्यकी निवृत्ति होती है । अतः जब तत्त्वज्ञान करके मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति हुई तब मिथ्याज्ञानरूप कारणकी निवृत्ति होनेसे दोषरूप कार्यकी निवृत्ति होती है । और दोषरूप कारणकी निवृत्ति होनेसे प्रवृत्ति साध्य धर्म अधर्मरूप कार्यकी निवृत्ति होती है । और धर्माधर्मरूप कारणकी निवृत्ति होनेसे जन्मरूप कार्यकी निवृत्ति होती है । और जन्मरूप कारणकी निवृत्ति होनेसे दुःखरूप कार्यकी निवृत्ति होती है । और दुःखकी निवृत्ति होनेसे आत्यन्तिक निःश्रेयसरूप मोक्ष सिद्ध होता है इति । अर्थात् उपासनाका कार्य अथवा अपूर्वका कार्य मोक्ष नहीं है ।

प्रसङ्गमें 'तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है' इतना अंश जो गौतम मुनिको सम्मत है तिसको हम मानते हैं । गौतममुनि सम्मत तत्त्वज्ञानको नहीं । क्योंकि उन्होंके मतमें पृथिवी आदिक सर्व पदार्थोंसे भिन्न करके जो आत्माका ज्ञान है सोई तत्त्वज्ञान है । और यह तत्त्वज्ञान भेदज्ञानरूप है । और श्रुतिने भेदज्ञानमें अनर्थका हेतुत्व प्रतिपादन किया है । तहां श्रुतिः-**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।** अर्थ—जो पुरुष आत्मामें भेदको देखता है सो जन्ममरणरूप संसार दुःखको ही प्राप्त होता है इति । इसलिये भेदज्ञानरूप तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति द्वारा मुक्तिका हेतु नहीं । किन्तु ब्रह्मआत्माका एकत्वविज्ञान ही मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति द्वारा मुक्तिका हेतु है ।

शंका । ब्रह्मआत्माका जो एकत्वज्ञान है सो भी भेदज्ञानकी तरह मिथ्याज्ञानका निवर्तक प्रमाज्ञान नहीं है । क्योंकि जो प्रमाज्ञान होता है सो मिथ्याज्ञानका निवर्तक होता है । और ब्रह्मआत्माका जो अभेदज्ञान है सो संपत् अर्थात् उपासना रूप है । और जो संपद्रूप ज्ञान होता है सो भ्रान्तिरूप होता है । अतः ब्रह्म तथा आत्माका एकत्वज्ञान भी भ्रान्तिरूप ही होवेगा । अल्प आलम्बनको तिरस्कार करके उत्कृष्ट वस्तुका जो अभेदरूप करके ध्यान है तिस ध्यानका नाम 'संपत्' है । बृहदारण्यकमें लिखा है-"जैसे मनको अनन्त वृत्तिवाला होनेसे मन अनन्त कहा जाता है, तैसे विश्वेदेवोंको अनन्त होनेसे विश्वेदेव अनन्त कहे जाते हैं । और मनमें तथा विश्वेदेवोंमें अनन्तत्वरूप धर्मको तुल्य होनेसे मनको विश्वेदेवरूप करके उपासनासे अधिकारीको अनन्तफलकी प्राप्ति होती है" । यहां मनकी विश्वेदेवरूप करके जो उपासना है सो संपद्रूप है। क्योंकि अल्प

आलम्बन जो मन है तिस मनको तिरस्कार करके, मनसे उत्कृष्ट अर्थात् महत् जो विश्वेदेव हैं तिन विश्वेदेवोंकी अभेदरूप करके उपासनाको विधान किया है। अर्थात् जब मनको विश्वेदेवरूप करके ध्यान किया जाता है तब मनका स्वरूप अविद्यमानकी तरह होजाता है, और प्राधान्य करके विश्वेदेवोंका ही अनुचिन्तन होता है। और जैसे यह संपद्रूप है तैसे चेतनत्वरूप धर्मको जीव तथा ब्रह्ममें तुल्य होनेसे जीव ब्रह्मका अभेद ज्ञान भी संपद्रूप ही कहना होगा। और तिस संपद्रूप अभेदज्ञानसे अधिकारीको मोक्षफलकी प्राप्ति होती है।

समाधान। ब्रह्म तथा आत्माका अभेदज्ञानको यदि संपद्रूप मानोगे तो तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, इत्यादिक समानाधिकरण वाक्योंका उपक्रम उपसंहारादिक लिङ्गों करके ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुविषयक प्रमाज्ञानका हेतु जो पदनिष्ठ समन्वय कहिये निश्चित तात्पर्य है तिस तात्पर्यका बाध होगा। अर्थात् परमार्थसे जीव तथा ब्रह्म एक वस्तु है दो नहीं इसी अर्थमें पूर्वोक्त श्रुतियोंका तात्पर्य है। यदि अभेदज्ञानको संपद्रूप मानोगे तो जीव तथा ब्रह्मको दो कहना होगा, और यदि दो मानोगे तो अवश्य ही पूर्वोक्त श्रुतियोंके तात्पर्यका बाध होगा। किंच जीव ब्रह्मका अभेदज्ञानसे अज्ञानी पुरुषके अन्तःकरणकी रागद्वेषादिरूप ग्रन्थि, अथवा चित् तथा जड़ अहंकारादिकोंकी तादात्म्य रूप ग्रन्थि, नाशको प्राप्त हो जाती है। अर्थात् अज्ञानकी निवृत्तिरूप फल होता है। इस अर्थके प्रतिपादक 'भिद्यते हृदयग्रन्थि' इत्यादिक वाक्योंका भी बाध होवेगा। क्योंकि संपद् आदिक ज्ञानको अप्रमारूप होनेसे अज्ञानका निवर्तकत्व नहीं बन सकता। किंच 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिक ब्रह्मभावकी प्राप्तिके प्रतिपादक वाक्योंकी भी संपत्पक्षमें समीचीनरूप करके उपपत्ति नहीं बन सकती। क्योंकि **'पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वा अन्यस्यान्यात्मत्वायोगात्'** अर्थात् अन्यवस्तुका जो प्रथम स्वरूप है तिस स्वरूपके स्थित हुये अथवा नाश हुये अन्य वस्तुमें अन्य स्वरूपत्व नहीं होता। जैसे आत्म वस्तुसे भिन्न पदार्थोंको अब्रह्मस्वरूप होनेसे, अन्य कहिये ब्रह्मरूप करके स्थित आत्माका, अन्यात्मत्व कहिये अब्रह्मस्वरूपत्व नहीं बन सकता। किन्तु ब्रह्मस्वरूप करके विद्यमान प्रत्यग् आत्मामें ब्रह्मस्वरूपत्व ही बन सकता है। जैसे घटकी पटरूपकरके चिन्तारूप ध्यानसहस्रसे भी पटरूपता नहीं बन सकती। ऐसे ही ब्रह्मसे जीव यदि भिन्न हो तो सम्पद्रूप ध्यानसहस्रसे भी कदापि जीव ब्रह्म नहीं हो सकेगा। अतः प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मका अभेदज्ञान संपद्रूप नहीं इति। और मनरूप आलम्बनको अविद्यमानके समान करके मनकी संपाद्य प्रधान विश्वेदेवरूप करके जो उपासनाका विधान किया है सो उपासना संपद्रूप है। क्योंकि * मनकी पूर्वरूप करके स्थितिका अभाव होनेसे, तथा नाशका भी

---

* मनकी पूर्वरूप करके स्थितिकालमें अथवा विनाशकालमें भी मनमें विश्वेदेवरूपता बन सकती है। यह पाठ सरल है।

अभाव होनेसे, अन्य कहिये अविद्यमानके समान मनमें अन्यात्मत्व कहिये विश्वेदेवस्वरूपत्व बन सकता है। और ब्रह्मविद्याका ब्रह्मभावरूप फलका श्रवण होनेसे भी ब्रह्म आत्माका अभेदज्ञान संपत् कहिये उपासना रूप नहीं है।

और यदि पूर्वपक्षी कहे कि छान्दोग्यमें लिखा है—**'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'** इस स्थलमें जैसे मनमें तथा आदित्यमें ब्रह्मदृष्टि प्रतीकरूप अध्यास है। तैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अभेदज्ञानको भी अध्यासरूप मानना चाहिये। सो कहना नहीं बन सकता, क्योंकि यदि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानको भ्रमरूप अध्यास मानोगे तो जो पूर्व समाधानपक्षमें वस्तुत ऐक्यविषयक तात्पर्यका बाध और अभेदज्ञानको अज्ञानका अनिवर्तकत्व आदिक दोष कहे हैं सो संपूर्ण दोष होंगे।

शंका। पूर्व संपद्रूप उपासनाको भ्रान्तिरूप कह आये हैं। और अध्यास भी भ्रान्तिरूप है। जब दोनों भ्रान्तिरूप हुये, तब भाष्यकार भगवान्ने ब्रह्मआत्माके अभेदज्ञानमें संपद्रूपत्व तथा अध्यासरूपत्वका जो पथक् पृथक् खण्डन किया है सो असङ्गत होगा।

समाधान। यद्यपि संपत् तथा अध्यास दोनों भ्रान्तिरूप हैं, तथापि संपत् तथा अध्यासमें किञ्चित् विलक्षणता* है, अतः भाष्यकारने पृथक् पृथक् खण्डन किया है। अब तिस विलक्षणताको दिखाते हैं—**'अतस्मिन् तद्बुद्धिः' अध्यासः।** 'अतस्मिन्' कहिये सर्पसे भिन्न रज्जुमें, जो 'तद्बुद्धि' कहिये सर्पज्ञान है, सो सर्पज्ञान अध्यासरूप है। और **'संपाद्यमानस्य प्राधान्येनानुध्यानं संपत्।'** संपाद्यमान वस्तुका जो प्रधानरूप करके ध्यान है तिसका नाम संपत् है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि उपासना भी दो प्रकारकी है—एक संपद्रूप है। दूसरी अध्यासरूप है। जैसे 'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवाः' इस स्थलमें मनरूप आलम्बनको अविद्यमानके समान करके प्राधान्य करके विश्वेदेवोंका ध्यान विधान किया है। अतः यह संपद्रूप उपासना है। और 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इस स्थलमें मनरूप आलम्बनमें ब्रह्मदृष्टि करनी। यह उपासना अध्यास रूप है। क्योंकि अब्रह्मरूप मनमें ब्रह्मबुद्धि होती है। अर्थात् संपद्रूप उपासनामें संपाद्यका प्रधानरूप करके ध्यान किया जाता है आलम्बनका नहीं। और अध्यासरूप उपासनामें आलम्बनका प्रधानरूप करके ध्यान किया जाता है संपाद्यका नहीं। इतना ही संपत् तथा अध्यासरूप उपासनामें भेद है। अतः भाष्यकार भगवान्ने जो अभेदज्ञानमें संपद्रूपत्व तथा अध्यासरूपत्वको पृथक् पृथक् खण्डन किया है सो समीचीन है।

और यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि. **वायुर्वाव संवर्गः। प्राणो वाव संवर्गः।** इति छान्दोग्य०। संवर्गविद्यामें श्रवण किया है कि, "जब प्रलय आदिक कालमें,

* आरोप्य प्रधानासम्पद धिष्ठान:प्रधानोऽध्यासः।

अग्नि शान्तभावको प्राप्त होता है तब अग्नि वायुमें ही लयभावको प्राप्त होता है। और जब सूर्य अस्तभावको प्राप्त होता है तब सूर्य वायुमें ही लयभावको प्राप्त होता है। और जब चन्द्रमा अस्तभावको प्राप्त होता है तब चन्द्रमा वायु में ही लयभावको प्राप्त होता है। और जब जल शोषणभावको प्राप्त होता है तब जल वायुमें ही लयभावको प्राप्त होता है—अर्थात् प्रलयकालमें वायु ही सम्पूर्ण अग्नि आदिकोंको संहार करके अपनेमें स्थापन करता है। इस संहाररूप क्रियाके योगसे वायुका नाम **संवर्ग** है। और प्राण भी सुषुप्ति कालमें वागादिक सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संहार करता है। तथा प्रारब्ध कर्मके क्षय हुये वागादिक इन्द्रियोंको संहार करके अपनेमें स्थापन कर उत्क्रमण करता है। अतः प्राणको भी **संवर्ग** कहते हैं। और वायुकी तथा प्राणकी जो पुरुष संवर्गरूप करके उपासना करता है तिस उपासकको दश दिशामें प्राप्त जो जगत् है तिस जगत्का दर्शनरूप फल प्राप्त होता है।" इस विद्यामें जैसे वायु तथा प्राणमें संहाररूप क्रियाके योगसे संवर्गत्व है अर्थात् संवर्गरूप करके अभेदज्ञान होता है। तैसे जीव तथा ब्रह्ममें वृद्धिरूप क्रिया(महत्त्व)के योगसे जीव ब्रह्मका अभेदज्ञान होता है। अतः जीव ब्रह्मका अभेदज्ञान भी ध्यान मात्र है प्रमा नहीं। क्योंकि जीव और ब्रह्मका भेद वास्तव है। यह भी पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'उपक्रम उपसंहारादिक षट् लिङ्गों करके प्रत्यगभिन्न एक अद्वितीय ब्रह्ममें सम्पूर्ण वेदान्तश्रुतियोंका निश्चित तात्पर्यका बाध होगा' इत्यादिक अनेक दोष पूर्व समाधान पक्षमें कह आये हैं। अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रका एक अद्वितीय ब्रह्ममें जो तात्पर्य है तिसको बाध करके अभेदज्ञानको सम्पद्रूप मानना अनुचित है।

और यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि दर्शपौर्णमास प्रकरणमें लिखा है— **'पत्न्यवेक्षितमाज्यं भवति'** इस मन्त्र करके कथन किया हुआ जो उपांशुयागका अङ्गरूप आज्य, तिस आज्यका पत्नी करके अवेक्षण कहिये दर्शन रूप जो संस्कार है, तिस संस्कारकी तरह 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिक मन्त्र यागका अङ्गरूप कर्तामें ब्रह्म आत्माका अभेदज्ञान रूप संस्कारको विधान करते हैं। सो भी कहना असमीचन है, क्योंकि यदि अभेदज्ञानको संस्काररूप गुण कर्म, अथवा सम्पद् रूप व अध्यास रूप मानोगे तो निर्गुणत्व निष्क्रियत्वादिकोंकी प्रतिपादक अनेक श्रुतियोंका बाध होगा। और प्रथमपक्षमें जो दोष कह आये हैं सो सम्पूर्ण दोष होंगे। अर्थात् 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिक वाक्योंका ब्रह्मात्माके अभेदका प्रतिपादक पदसमन्वय पीड़ित होगा। और 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः' इत्यादिक, अभेदज्ञानसे अविद्याकी निवृत्तिरूप फलका श्रवण, बाधित होगा। और 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिक, ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मभावकी प्राप्तिके प्रतिपादक, वचनोंकी

उपपत्ति सम्पदादिपक्षमें समञ्जस नहीं होवेगी। इस कारणसे ब्रह्म आत्माका अभेदज्ञान सम्पदादिरूप विधेय नहीं है।

अब फलित अर्थको दिखाते हैं, 'अत' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—जिस लिये अभेदज्ञान विधेय नहीं है इस लिये अभेदज्ञानरूप ब्रह्मविद्या पुरुषव्यापारके अधीन नहीं है, किन्तु जैसे प्रत्यक्षादिक प्रमाणका विषय घटादिकोंका ज्ञान वस्तुके अधीन होता है, तैसे ब्रह्मविद्यारूप अभेदज्ञान भी प्रमाण तथा वस्तुके अधीन होता है इति। और उक्त रीतिसे सिद्ध ब्रह्ममें कार्यका अङ्गत्व, और ब्रह्मरूप मोक्षमें कृतिसाध्यत्व, तथा ब्रह्मज्ञानमें नियोगविषयत्व, किसी प्रकारसे भी कल्पना करनेको शक्य नहीं है। क्योंकि ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञान कृति करके असाध्य होता है।

शंका। ब्रह्म, कार्याङ्गं, कर्मकारकत्वात्, पत्न्यवेक्षणकर्मकारकाज्यवत्। अर्थ—जैसे आज्यरूप दृष्टान्तमें पत्नीका अवेक्षणरूप ज्ञानका कर्मकारकत्वरूप हेतु है, और उपांशु यागरूप कार्यका अङ्गत्व साध्य भी है। तैसे ब्रह्मरूप पक्षमें कारकत्वरूप हेतु है, अतः कार्यका अङ्गत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति।

समाधान। ज्ञानरूप क्रियाका कर्मत्व ब्रह्ममें है अथवा उपासनारूप क्रियाका कर्मत्व ब्रह्ममें है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता, क्योंकि—अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। अर्थ—ब्रह्म विदित रूप कार्यसे भिन्न है, और अविदितरूप कारणसे भी भिन्न है इति। यह श्रुति ब्रह्ममें वेदन रूप क्रियाका कर्मत्वको निषेध करती है। और 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' इस श्रुतिवाक्य करके भी आत्मा वेदनरूप क्रियाका अविषय सिद्ध होता है। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। अर्थ—जो ब्रह्म वाणी करके कथन नहीं किया जाता, और जिस ब्रह्म करके वाणी शब्द व्यवहारको करती है। इस प्रकार ब्रह्ममें वाणीका अविषयत्वको कह कर, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते—सोई जाननेको योग्य ब्रह्म है ऐसा तुम जानो, और जो उपाधि विशिष्टदेवतावोंकी लोग उपासना करते हैं सो ब्रह्म नहीं इति। यह मन्त्र ब्रह्ममें उपासना रूप क्रियाका कर्मत्वको निषेध करता है। अतः पूर्वोक्त अनुमानमें जो पूर्वपक्षीने कर्मकारकत्वरूप हेतु कहा था तिस हेतुका ब्रह्मरूप पक्षमें अभाव होनेसे यह हेतु स्वरूपासिद्धि दोष वाला है, और दोष विशिष्ट दुष्ट हेतु करके साध्यकी सिद्धि होती नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि कर्मकारकत्वरूप दुष्ट हेतु करके ब्रह्ममें कार्यका अङ्गत्वरूप साध्यकी भी सिद्धिका अभाव होनेसे ब्रह्मका कार्यमें प्रवेश नहीं बन सकता।

शंका। ब्रह्ममें शास्त्रजन्य ज्ञानका अविषयत्व यदि अङ्गीकार करोगे तो 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र करके जो ब्रह्ममें शास्त्रप्रमाणकत्वकी प्रतिज्ञा की है तिस प्रतिज्ञाकी हानि होगी। इस दोषकी निवृत्तिके लिये ब्रह्ममें शास्त्रजन्य

ज्ञानका विषयत्वरूप शास्त्रप्रमाणकत्व मानना होगा। जब ऐसा मानोगे तब ब्रह्ममें ज्ञानरूप क्रियाका विषयत्वरूप कर्मकारकत्वहेतुको विद्यमान होनेसे यह हेतु स्वरूपासिद्धि दोषवाला नहीं हुआ ?

समाधान। वेदान्तवाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति करके अविद्याकी निवृत्तिरूप फलवत्त्व जो ब्रह्ममें है सोई शास्त्रप्रमाणकत्व है। और यद्यपि अखण्डाकार वृत्तिविषय ब्रह्म है, तथापि ब्रह्मको स्वयंप्रकाश होनेसे वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यरूप स्फुरणका अविषय है। अतः ब्रह्म अप्रमेय तथा अविषय कहा जाता है। इस अर्थको दिखाते हैं-**न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति।** इति भाष्यम्। अर्थ—वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यके विषयत्वका नाम इदंत्व है, ऐसा इदंत्वरूप करके ब्रह्मको प्रतिपादन करनेकी इच्छा शास्त्र नहीं करता। किन्तु शास्त्रको अविद्याकल्पित भेदका निवर्तक होनेसे प्रत्यग् आत्मस्वरूप ब्रह्मको अनिदंत्वरूपकरके प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र अविद्याकल्पित वेद्यवेदितावेदनादिक भेदको दूर करता है इति। अतः चेतनविषयत्वरूप जो कर्मकारकत्व है तिस कर्मकारकत्वरूप हेतुका ब्रह्ममें अभाव होनेसे हेतु स्वरूपासिद्धि दोषवाला ही है। वृत्तिविषयत्व यदि हेतु है तो शुद्ध ज्ञेय ब्रह्ममें वृत्तिविषयत्वके न होनेसे कार्याङ्गत्व भी नहीं बन सकता। यदि कल्पित मिथ्या वृत्तिविषयत्व शुद्धमें भी मानो तो कार्याङ्गत्व भी ब्रह्ममें मिथ्या ही मानना होगा।

अब ब्रह्मनिष्ठ अविषयत्वमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं-**यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥** (केन०) अर्थ—जिस विद्वान्‌को "ब्रह्म 'अमतं' कहिये कर्तृकर्मादिरूप करके अनधिगत है" ऐसा निश्चय है। तिस विद्वान्‌को ब्रह्म 'मतं' कहिये सम्यक् विज्ञात है। और जिस अविद्वान्‌को "'मतं' कहिये त्रिपुटी अवगाहि ज्ञानका विषय ब्रह्म है" ऐसा निश्चय है। सो अविद्वान् त्रिविध भेद रहित ब्रह्मको नहीं जानता है। इन पूर्वोक्त दोनों पक्षोंमें हेतुको दिखाते हैं—जिस वास्ते 'विजानतां' कहिये विविध प्रमातृप्रमाणप्रमेयादिकोंका ज्ञानवाले जो पुरुष हैं तिनोंको 'अविज्ञातं' कहिये ब्रह्म अविदित है। और 'अविजानतां' कहिये विविध प्रमातृप्रमाणादिकोंका भेदज्ञान करके रहित जो पुरुष हैं तिनोंको विशेषरूप करके ब्रह्म विज्ञात है। अर्थात् 'त्रिविध परिच्छेद रहित ब्रह्मस्वरूप मैं हूँ' इस प्रकार प्रत्यग् रूप करके ब्रह्म निश्चित है इति।

और बृहदारण्यक उपनिषद्‌में यह प्रसङ्ग लिखा है कि, जब उषस्त ऋषिने याज्ञवल्क्यसे पूछा है कि "हे याज्ञवल्क्य! जो आत्मा साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मस्वरूप है, और जो आत्मा सर्वान्तर है, तिस अपरोक्ष ब्रह्मस्वरूप प्रत्यग् आत्माको हमारे प्रति कथन करें"? तब याज्ञवल्क्यने उषस्त ऋषिके प्रति कहा है कि "हे उषस्त! जिस करके अचेतन प्राणादिक प्राणनादिक क्रियाको करते हैं सो तुम्हारा सर्वान्तर आत्मा है"। इस प्रकार याज्ञवल्क्य करके उक्त उषस्त ऋषिने कहा कि "हे मुने! जैसे कोई पुरुषने प्रतिज्ञा करी कि 'हम तुम्हारेको प्रत्यक्ष अश्वको दिखाते हैं' ऐसी प्रतिज्ञा करके पश्चात् कहै कि 'जो धावन करनेवाला है

सो अश्व है' ऐसा व्यवहार करनेवाले पुरुषकी प्रतिज्ञाकी हानि होती है। तैसे आपने मेरे प्रश्नके अनुसार कहा था कि 'प्रत्यक्ष आत्माको मैं तुम्हारे प्रति दिखाता हूं' ऐसा कह कर पश्चात् आपने प्राणादिकोंका प्राणनादिरूप लिङ्ग करके आत्माका उपदेश किया। अतः आपकी प्रतिज्ञाकी हानि हुई। जिस प्रकार आपकी प्रतिज्ञाकी हानि न हो तिस प्रकार आप मेरेको उपदेश करें"। इस प्रकार उषस्त ऋषि करके उक्त याज्ञवल्क्य कहते हैं "हे उषस्त! जैसे कोई पुरुषने जब पूछा कि 'मेरी गौ कौन है' तब दूसरा पुरुष गौका शृङ्गको ग्रहण करके बतावे कि 'यह तुम्हारी गौ है' तैसे जो आत्मा साक्षात् ब्रह्मस्वरूप है तथा सर्व अनात्म पदार्थोंके अन्तर है तिस ब्रह्मस्वरूप प्रत्यग् आत्माको आप प्रत्यक्ष दिखावें" यदि ऐसा तुम्हारा प्रश्न है तो हमने तुम्हारे प्रश्नके अनुसार उत्तर नहीं दिया। और नहीं दे सकते हैं। क्योंकि ब्रह्मके शृङ्गादिक हैं नहीं जिनको पकड़ कर दिखाया जावे। इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं—**न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः**। अर्थ-'दृष्टेः' कहिये चाक्षुषवृत्तिका 'द्रष्टारं' कहिये प्रकाशक साक्षीको, इस अनित्य तथा दृश्यरूप चाक्षुषवृत्ति करके तू नहीं जान सकता। और 'विज्ञातेः' कहिये बुद्धिकी वृत्तिरूप निश्चयका, 'विज्ञातारं' कहिये साक्षीको, तू दृश्यबुद्धिवृत्ति करके नहीं जान सकता। अर्थात् प्रत्यग् आत्माको चाक्षुषवृत्ति आदिकोंका अविषय होनेसे चाक्षुषवृत्ति आदिकों करके देखनेको अशक्य है इति।

शंका। शास्त्रमें अखण्डाकार वृत्तिद्वारा अविद्यादिकोंका निवर्तकत्व होनेसे प्रामाण्यके हुये भी अविद्याकी निवृत्तिरूप मोक्षको आगन्तुक होनेसे मोक्ष अनित्य ही होगा?

समाधान। तत्त्वज्ञानसे जो अविद्याका ध्वंस है तिसको नैयायिक मतमें नित्य होनेसे अनित्य नहीं कह सकते। तथा वेदान्तमतमें कल्पित वस्तुकी निवृत्तिको अधिष्ठानस्वरूप होनेसे अविद्याका ध्वंस नित्य आत्मस्वरूप है। अतः मोक्षमें अनित्यत्व नहीं बन सकता। अर्थात् शास्त्रजन्य तत्त्वज्ञानसे अविद्याकल्पित संसारित्वादिकोंकी निवृत्ति करके नित्य मुक्त आत्मस्वरूपका आविर्भावरूप मोक्षमें अनित्यत्वादिक दोष नहीं बन सकता।

और उत्पत्ति, विकार, आप्ति, संस्कार, यह चार ही क्रियाके फल होते हैं, और मोक्ष इन चारोंसे रहित है। इस हेतुसे भी मोक्षमें अनित्यत्व नहीं हो सकता। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं-**यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्**। अर्थ-जिसके मतमें मोक्ष उत्पाद्य है तिसके मतमें मोक्ष अपनी उत्पत्तिमें मानस वाचिक कायिक कर्मकी अपेक्षा करता है इति। इसी प्रकार विकार्य पक्षमें भी जानना। जैसे 'क्षणिकं ज्ञानमात्मेति बौद्धाः' अर्थात् बौद्ध क्षणिक ज्ञानको आत्मा कहते हैं। और विशुद्ध विज्ञानका जो उत्पाद

है तिसका नाम निर्वर्त्य मोक्ष है। इसको उत्पाद्य मोक्ष भी कहते हैं। और अन्यके मतमें तो 'संसाररूप अवस्थाका त्याग करके जो कैवल्य अवस्थाकी प्राप्ति है' सोई आत्माका मोक्ष है। इस मोक्षका नाम विकार्य है। जैसे दुग्धकी पूर्व अवस्थाको दूर करके अवस्थान्तरकी प्राप्तिरूप विकार दधि है। इन दोनों पक्षोंमें **'मोक्षः, अनित्यः, कार्यत्वात्, दधिघटवत्'**। जैसे दृष्टान्त दधिरूप विकार्यमें तथा घटरूप उत्पाद्यमें कार्यत्वरूप हेतु है और अनित्यत्वरूप साध्य भी है, तैसे उत्पाद्य तथा विकार्य मोक्षरूप पक्षमें कार्यत्वरूप हेतु है, अतः, अनित्यत्वरूप साध्य अवश्य मानना होगा। इस अनुमान करके पूर्वोक्त दोनों मोक्षोंमें अनित्यत्वकी सिद्धि हुई।

शंका। 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यादिक श्रुतिसे ब्रह्मके विकृत तथा अविकृत देश विशेषका निश्चय होता है। अतः-अविकृत देश विशेषवाला ब्रह्मकी प्राप्तिरूप मोक्षको उपासनाविधिका कार्य मानना होगा। और जब ऐसा मानोगे तो जैसे ग्राममें प्राप्तिरूप क्रियाका कर्मत्व है तैसे मोक्षमें भी प्राप्य कर्मत्व होगा। और यदि मोक्षको प्राप्य मानोगे तो पूर्व जो कथन कर आये हो कि चतुर्विध कर्मफलसे विलक्षण मोक्षफल है सो असङ्गत होगा।

समाधान। ग्रामसे अन्य जो पुरुष है सो अपनेसे भिन्न ग्रामको क्रिया करके प्राप्त होता है, अतः ग्राम प्राप्य है। और ब्रह्मस्वरूप मोक्षको तो अपना प्रत्यग् आत्मस्वरूप होनेसे ब्रह्म क्रिया करके प्राप्य नहीं किन्तु अनाप्य है। अतः नित्य प्राप्त ब्रह्मस्वरूप मोक्षमें कर्मकी अपेक्षा नहीं। और ब्रह्म तो प्रत्यग् आत्म स्वरूप ही है, परञ्च 'तुष्यतु दुर्जन' इस न्याय करके यदि ब्रह्मको जीवसे भिन्न भी मान लेवें तो भी आकाशकी तरह ब्रह्मको सर्वगत होनेसे ब्रह्म सर्वको नित्य ही प्राप्त है, क्रिया करके ब्रह्म प्राप्य नहीं।

और मोक्ष **संस्कार्यरूप** भी नहीं, यदि मोक्ष संस्कार्यरूप होता तो व्यापारकी अपेक्षा करता। और संस्कार दो प्रकारका होता है-एक तो गुणाधान। दूसरा मलापनयन। जैसे व्रीहिमें प्रोक्षणरूप क्रिया करके गुणाधानरूप संस्कार होता है। और वस्त्रमें क्षालनरूप क्रिया करके मलकी निवृत्तिरूप संस्कार होता है। तैसे आधेय अतिशय करके रहित ब्रह्मस्वरूप मोक्षमें गुणाधानरूप संस्कार नहीं बन सकता। तथा मोक्षको नित्य शुद्ध ब्रह्मस्वरूप होनेसे दोषका अपनयनरूप भी संस्कार नहीं बन सकता। अतः मोक्ष संस्कार्य नहीं। और यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि जैसे मलिन जो दर्पण है तिसको भस्मादिकोंसे निघर्षणरूप क्रिया करके संस्क्रियमाण हुये दर्पणमें भास्वरत्व धर्मका आविर्भाव होता है। तैसे अविद्यारूप मल करके तिरोधानभावको प्राप्त जो ब्रह्मात्मस्वरूप मोक्ष है, सो

उपासनारूप क्रिया करके आत्माको संस्क्रियमाण हुये, अर्थात् उपासना करके अविद्यारूप मलकी निवृत्ति हुये आविर्भावको प्राप्त होता है। अतः, अविद्यामलका नाशरूप संस्कारवाला होनेसे ब्रह्मात्मस्वरूप मोक्ष भी संस्कार्य है। सो पूर्वपक्षीका कहना बन सकता नहीं, क्योंकि मलनाशका नाम संस्कार है, तहां आत्मामें अविद्यारूप मल सत्य है अथवा कल्पित है? यदि वादी कहे कि 'कल्पित है' तो जैसे कल्पित सर्पादिकोंका नाश अधिष्ठान ज्ञानसे होता है क्रियासे नहीं, तैसे कल्पित अविद्यामलका नाश भी तत्त्वज्ञानसे होगा उपासनारूप क्रियासे नहीं। और यदि वादी ऐसा कहे कि 'आत्मामें अविद्यामल सत्य है अतः सत्यमलकी निवृत्ति उपासनारूप क्रिया करके ही होगी तत्त्वज्ञान करके नहीं'। तो वादीको मैं पूछता हूं कि उपासनारूप क्रिया आत्मामें है अथवा आत्मासे भिन्न दूसरेमें है? तहां आत्मामें है यह प्रथम पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि आत्माको निष्क्रिय होनेसे क्रियाका आश्रयत्व नहीं बन सकता। इस अर्थको दिखाते हैं- यह नियम है कि जिसके आश्रित जो क्रिया होती है सो क्रिया अपने आश्रयमें संयोगादिक विकारोंको नहीं उत्पन्न करती हुई नहीं उत्पन्न होती है। किन्तु अपने आश्रयमें संयोगादि विकारोंको उत्पन्न करती हुई ही क्रिया उत्पन्न होती है। और आत्मामें यदि क्रिया मानोगे तो क्रियाका आश्रय आत्माको संयोगादिक विकारों करके विकारी होनेसे आत्मा अनित्य ही होगा। और **'अविकार्योऽयमुच्यते'** इत्यादि वाक्यका बाध होगा। और वाक्योंका जो बाध है सो अनिष्ट रूप है। अत आत्मामें क्रिया नहीं बन सकती। और आत्मासे भिन्न दूसरेमें क्रिया है यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि दर्पणको सावयव होनेसे क्रियाका आश्रय भस्मादिक द्रव्योंका संयोग दर्पणमें बन सकता है, इसलिये दर्पणमें मलका नाशरूप संस्कार भी बन सकता है। और आत्माको निरवयव होनेसे तथा **'असंगो न हि सज्जते'** इत्यादिक श्रुति प्रमाणसे आत्मामें क्रियाका आश्रय द्रव्यान्तरके संयोगका अभाव है। अतः, अन्यनिष्ठ क्रिया करके भी आत्मा संस्कार्य नहीं हो सकता। और जो वादीने पूर्व कहा था कि आत्मामें अविद्यारूप मल सत्य है और उपासनारूप क्रिया करके तिस अविद्यारूप मलका नाश होता है। सो वादीका कहना असंगत है। क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे व्यापक आत्मामें उपासनारूप क्रिया तो बन सकती नहीं। और अन्यनिष्ठ उपासनारूप क्रिया करके अन्य आत्मामें सत्य अविद्याका नाशरूप संस्कार भी नहीं हो सकता। अत आत्मामें सत्य अविद्यामलको माननेवाला जो वादी है उसके मतमें संसारदुःखका कारण अविद्यामलको सदा विद्यमान होनेसे मोक्षका अभावप्रसङ्ग होगा।

शंका। सिद्धान्तीने जो कहा कि अन्यनिष्ठ क्रिया करके अन्य आत्मा संस्कारवाला नहीं होता, सो असंगत है, क्योंकि देहके आश्रित स्नान, आचमन,

यज्ञोपवीतका धारणादिरूप क्रिया करके देहसे भिन्न देही आत्मा संस्क्रियमाण देखनेमें आता है।

समाधान। यद्यपि देहादिकोंसे अतिरिक्त ही आत्मा है, तथापि 'मनुष्योऽहं' इस मिथ्याज्ञानरूप अविद्या अध्यास करके देहसे अभिन्न भावको प्राप्त हुआ जो आत्मा है तिस देहतादात्म्यापन्न आत्माका ही संस्कार होता है। अर्थात् अन्यनिष्ठ क्रिया करके अन्य संस्क्रियमाण नहीं हुआ, किन्तु भ्रान्ति करके, क्रियाका आश्रय जो देह तिसके साथ तादात्म्यअध्यासवाला जो आत्मा है, सो आत्मा संस्कार्य है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि भ्रान्ति करके जिस देहतादात्म्यापन्न आत्मामें क्रिया है तिस आत्मामें ही भ्रान्ति करके संस्कार्यत्व है, दूसरे में नहीं। किंवा स्नान आचमनादिरूप क्रियाका देहमें समवायसम्बन्ध प्रत्यक्ष सिद्ध है, अतः 'नरोऽहम्' इस भ्रान्तिसे आत्मरूप करके परिगृहीत जो अनिश्चितब्रह्मस्वरूप देहतादात्म्यापन्न आत्मा है सो देहाश्रित क्रिया करके संस्कारवाला होता है ऐसा मानना ही युक्त है। और जैसे देहके आश्रित चिकित्सा निमित्त जो वातपित्तकफरूप धातुकी समता है तिस समता करके जिस देहाभिमानी आत्मामें 'अहमरोगः' यह बुद्धि उत्पन्न होती है तिस देहाभिमानी आत्मामें ही आरोग्य फल होता है। तैसे स्नान आचमन आदिकों करके 'अहं शुद्धः' अहं संस्कृतः' ऐसी बुद्धि जिसमें उत्पन्न होती है सोई संस्कारवाला होता है, ऐसा देहविशिष्ट आत्मा ही होगा।

शंका। देहसे अभिन्न आत्मामें संस्कार नहीं बन सकता, क्योंकि देहपातसे अनन्तर देहसे अभिन्न आत्माका अभाव होनेसे देहसे अभिन्न आत्मामें आमुष्मिक फल भोक्तृत्व नहीं बनेगा।

समाधान। 'कर्ताहं' इस प्रकारसे भासमान 'अहं' प्रतीतिका विषय देहाभिमानी जो अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप आत्मा, तथा मनके साथ तादात्म्य करके कामादिरूप प्रत्यय हैं जिसमें ऐसा जो प्रत्ययीरूप आत्मा, तिस आत्मा करके सम्पूर्ण क्रियाकी सिद्धि होती है। अर्थात् अन्तःकरणताद्रात्म्यापन्न आत्मा ही सम्पूर्ण कर्मका कर्ता है, तथा कर्मफलका भोक्ता है। अत आमुष्मिक फलका भोक्ता जो मनविशिष्ट आत्मा है तिस आत्मामें संस्कार युक्त है। और विशिष्ट आत्मामें भोक्तृत्वादिक है, शुद्ध प्रत्यक् साक्षीरूप आत्मामें नहीं। इस अर्थमें श्रुति प्रमाणको दिखाते हैं :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति (मुण्डक)॥ अर्थ—दो पक्षी सदा साथ ही रहते हैं और सखारूप हैं तथा चिन्मयत्वरूप करके समानरूप हैं, और जीव तथा कूटस्थरूप साक्षी एक बुद्धिरूप वृक्षको परिष्वक्त हैं अर्थात् बुद्धिरूप वृक्षमें स्थित हैं। और पक्षीरूप करके उक्त जो जीव तथा साक्षी, इन दोनोंके मध्यमें साक्षीसे भिन्न जो जीव है सो सुखदुःखरूप

कर्मफलको भोगता है, और जीवसे विलक्षण जो नित्यशुद्ध स्वभाव साक्षी है सो कर्मफलको नहीं भोगता हुआ केवल प्रकाश करता है इति।

इसी अर्थमें कठ श्रुतिको दिखाते हैं—इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ अर्थ—शरीररूप रथको आकर्षण करनेवाले बाह्य चक्षु आदिक इन्द्रियोंको शास्त्रवित् पुरुष अश्व कहते हैं, और तिन इन्द्रियरूप अश्वोंके चलने योग्य मार्गरूप करके रूपादिक विषयोंको कहते हैं, और देह इन्द्रिय मन करके सहित आत्माको सुखदुःखका भोक्ता कहते हैं इति।

इन पूर्वोक्त श्रुतियों करके सोपाधिक चैतन्यरूप आत्मामें मिथ्या संस्कार्यत्वको कह करके अब निरुपाधिक आत्मामें असंस्कार्यत्वको श्रुति करके दिखाते हैं।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ इति श्वेताश्वतर०। स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। इति ईशावास्यम्।

यद्यपि सम्पूर्ण भूतोंमें एक अद्वितीय स्वप्रकाशरूप आत्मा है, तथापि माया करके आवृत होनेसे 'गूढः' कहिये जीवोंको जाननेमें नहीं आता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि माया करके आवृत होनेसे ब्रह्मका भान नहीं होता सो वार्ता नहीं, किन्तु ब्रह्मका जीवोंके साथ सम्बन्ध न होनेसे, अथवा जीवोंको ब्रह्मसे भिन्न होनेसे जीवोंको ब्रह्मका भान नहीं होता। यह वादीका कहना असंगत है क्योंकि ब्रह्मको सर्वव्यापी होनेसे जीवके साथ असम्बन्ध नहीं बन सकता। तथा ब्रह्मको सर्व प्राणियोंका अन्तर प्रत्यग् आत्मस्वरूप होनेसे जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं हो सकता। अतः माया करके आच्छादित होनेसे ही ब्रह्मका प्रत्यक्ष जीवोंको नहीं होता। यदि वादी कहे कि ब्रह्मको सर्व प्राणियोंका अन्तरात्मा मानोगे तो ब्रह्ममें कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक धर्मोंकी प्राप्ति होगी, यह भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'कर्माध्यक्षः' कहिये कर्मका साक्षी है, कर्ता नहीं।

शंका। सर्व भूतोंमें ब्रह्म रहता है इस कहनेसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मसे आकाशादिक भूत पृथग् हैं। और जब आकाशादिक भूत ब्रह्मसे पृथक् हुये तब द्वैतापत्ति होगी।

समाधान। 'सर्वभूताधिवासः' अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंका अधिष्ठानरूप ब्रह्म है, और सम्पूर्ण आकाशादिक भूतोंका अधिष्ठानरूप होनेसे ब्रह्म साक्षी कहा जाता है, और अधिष्ठानरूप साक्षीमें साक्ष्यस्वरूप सम्पूर्ण भूत कल्पित हैं-और जो कल्पित होता है सो अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं होता, अतः द्वैतापत्ति नहीं।

अब साक्षीका लक्षण कहते हैं। बोद्धृत्वे सति अकर्तृत्वम् साक्षिणो लक्षणम्। अर्थ—बोद्धा कहिये जो जाननेवाला हो तथा अकर्ता हो तिसका नाम साक्षी है इति।

'अकर्तृत्वम्' इतना मात्र ही साक्षीका लक्षण करते तो अलक्ष्य घटादिकोंमें अकर्तृत्वको विद्यमान होनेसे यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष करके ग्रस्त होगा। तिस अतिव्याप्ति दोषकी निवृत्तिके लिये लक्षणमें 'बोद्धृत्वे सति' यह विशेषण कथन किया है। इस विशेषणको कहनेसे घटादिकोंमें लक्षण जाता नहीं, क्योंकि घटादिकोंमें यद्यपि अकर्तृत्व है तथापि बोद्धृत्वरूप विशेषणका अभाव होनेसे बोद्धृत्वरूप विशेषणविशिष्ट अकर्तृत्व नहीं है। अतः लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष होता नहीं। और 'बोद्धृत्वम्' इतना मात्र ही लक्षण करते तो अलक्ष्य जीवमें बोद्धृत्वको विद्यमान होनेसे यह लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्त होगा। तिस अतिव्याप्तिकी निवृत्तिके लिये लक्षणमें 'अकर्तृत्वम्' यह विशेष्यभाग कहा है। यद्यपि जीवमें बोद्धृत्वरूप विशेषण है तथापि अकर्तृत्वरूप विशेष्यभागका अभाव होनेसे बोद्धृत्वरूप विशेषणविशिष्ट अकर्तृत्वरूप लक्षणका अभाव है। अतः यह पूर्वोक्त साक्षीका लक्षण निर्दोष है। और ब्रह्म 'चेता' कहिये चैतन्यस्वरूप है। 'केवल' कहिये दृश्य रहित अद्वितीयरूप है। और 'निर्गुण' कहिये गुण रहित है। और चकारके ग्रहणसे दोषाभावको भी जानना, अर्थात् आत्मा अविद्यादिक दोष रहित है। और सो आत्मा 'पर्यगात्' कहिये सर्वको प्राप्त है। अर्थात् सर्वमें व्याप्त है। 'शुक्र' कहिये दीप्तिमान् है। और 'अकाय' कहिये लिङ्गदेह करके रहित है। 'अव्रण' कहिये क्षत करके रहित है। 'अस्नाविर' कहिये नाड़ी करके रहित है। इन दोनों पदों करके स्थूल देहका अभावको बोधन किया। और 'शुद्धं' कहिये आत्मा रागादिक मल रहित है, तथा पुण्यपाप करके असंस्पृष्ट है अर्थात् कारण शरीर रहित है इति। पूर्वोक्त दोनो मन्त्रोंने सर्व धर्मका अभावको तथा नित्य शुद्धत्वको ब्रह्ममें बोधन करते हुये ब्रह्मभावरूप मोक्ष संस्कार्य नहीं है इस अर्थको दिखाया है।

और उत्पत्ति, आप्ति, विकार, संस्कार, यह जो चारों क्रियाके फल हैं, इनोंसे भिन्न पञ्चम कोई क्रियाका फल है नहीं। यदि मोक्ष पञ्चम कोई क्रियाका फल होता तो जैसे स्वर्गरूप फलमें क्रियासाध्यत्वका द्वार अपूर्वको कथन किया है अर्थात् स्वर्गरूप फलमें अपूर्वद्वारा क्रियाका प्रवेश होता है। तैसे मोक्षफलमें भी क्रियासाध्यत्वके द्वारको शास्त्रकार दिखाते। परन्तु कहीं भी दिखाया तो नहीं। अतः जाना जाता है कि पूर्वोक्त चार ही क्रियाके फल हैं मोक्ष नहीं। और मोक्षमें जब क्रियासाध्यत्वके द्वारका अभाव हुआ तब मोक्षमें क्रियाका भी प्रवेश नहीं हो सकता। और यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि मोक्षको असाध्य मानोगे तो मोक्ष है प्रयोजन जिनोंका ऐसे जो शास्त्र हैं, तथा मोक्षके लिये जो अधिकारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति हैं सो व्यर्थ होवेंगी। यह वादीका कहना असंगत है, क्योंकि शास्त्रका अवान्तर प्रयोजन जो तत्त्वज्ञान है सो शास्त्र तथा अधिकारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति करके साध्य है, अतः शास्त्रादिक व्यर्थ नहीं। क्योंकि शास्त्रजन्य तत्त्वज्ञान करके अविद्या तथा अविद्या कल्पित संसारबन्धकी

निवृत्ति होती है। और तिस निवृत्तिउपलक्षित स्वस्वरूपका आविर्भावरूप जो परम प्रयोजन मोक्ष है सो होता है। अतः तिस मोक्षमें तिस तत्त्वज्ञानसे विना क्रियाके गन्ध मात्रका भी प्रवेश नहीं बन सकता।

शंका । जो सिद्धान्तीने कहा कि मोक्षमें एक ज्ञानसे विना क्रियाके गन्ध मात्रका भी प्रवेश नहीं बन सकता, सो असङ्गत है, क्योंकि जब मोक्षमें ज्ञानका प्रवेश हुआ तब ज्ञानको भी मानसी क्रिया होनेसे मोक्षमें क्रियाका प्रवेश हो चुका, और जब मानसी क्रियारूप ज्ञान करके मोक्ष साध्य हुआ तब क्रिया करके साध्य जो उत्पाद्य आदिक चार फल हैं तिनोंके मध्यमें ही कोई मोक्ष फल है ऐसा मानना होगा।

समाधान । यद्यपि ज्ञान मानस भी है तथापि विधि करके विधेय क्रिया रूप नहीं। अतः ज्ञान तथा क्रियामें महत् वैलक्षण्य है। अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं। जिस विषयमें वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा नहीं करके जिसको विधि विधान करता है तिस विषयमें तिसका नाम क्रिया है। जैसे जिस समयमें हवन करनेके लिये जिस देवताके निमित्त अध्वर्यु हविका ग्रहण करे तिस समयमें होता 'वषट्' शब्दका उच्चारण करता हुआ तिस देवताका मन करके ध्यान करे। यहां पर श्रुति देवतावस्तुका जो स्वरूप है तिसकी अपेक्षा नहीं करके देवताका ध्यानको विधान करती है, अतः देवताका ध्यान क्रियारूप है। इसी प्रकार 'सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्' यहां पर भी श्रुतिने जो देवताका ध्यानको विधान किया है सो क्रियारूप है। यह वार्ता ऐतरेयब्राह्मणमें लिखी है। और यद्यपि मन करके चिन्तनरूप ध्यान भी मानस है, तथापि ध्यान पुरुषके अधीन होनेसे पुरुष करके करनेको अथवा नहीं करनेको अथवा अन्यथा करनेको शक्य है। और ज्ञान जो है सो प्रमाणजन्य है, और प्रमाण जो होता है सो यथार्थ वस्तु विषयक होता है, अतः ज्ञान पुरुष करके करनेको अथवा नहीं करनेको अथवा अन्यथा करनेको अशक्य है। केवल वस्तुके आधीन ज्ञान होता है विधिके अधीन नहीं, तथा पुरुषके अधीन भी नहीं। और जो क्रिया होती है सो पुरुषचित्तके अधीन होती है। अतः ज्ञानको मानस हुये भी ज्ञान तथा क्रियामें महान् भेद है।

अब इस भेदको छान्दोग्यवाक्य करके भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं।

'पुरुषो वाव गौतमाग्निः' 'योषा वाव गौतमाग्निः*' । अर्थ— गौतमगोत्रमें उत्पन्न होनेसे उद्दालकका नाम गौतम है। जैवलि राजाने उद्दालकके प्रति उपदेश किया है कि 'हे गौतम!

---

* पुरुषचित्तके व्यापाराधीनक्रियामें वस्तुस्वरूपनिरपेक्षिता कहीं वस्तु स्वरूपसे अविरुद्ध होती है, जैसे "सन्ध्यादेवतादिध्यान क्रिया। यहां पर वस्तु-स्वरूपसे कोई विरोध नहीं है। और कहीं वस्तु स्वरूपसे विरुद्ध होती है, जैसे योषित् और पुरुषमें अग्निभावना। यहां पर वस्तुतः, योषित व पुरुष अग्निरूप नहीं हैं। इतने भेदके अभिप्रायसे मिथुनद्वयका उपन्यास किया है।

पुरुष अग्निरूप है तथा स्त्री अग्निरूप है इत्यादि' अर्थात् पुरुषको तथा स्त्रीको अग्नि रूप करके ध्यान करें इति। यहां पर पुरुष तथा स्त्रीका अग्निके साथ अभेद नहीं भी है, तो भी पुरुष तथा स्त्रीमें जो मानसी अग्निबुद्धि होती है सो केवल विधि करके जन्य होनेसे तथा पुरुषके अधीन होनेसे क्रियारूप ही है। और प्रसिद्ध अग्निमें जो अग्निबुद्धि है सो विधिके अधीन नहीं, तथा पुरुषके अधीन भी नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष अग्निरूप वस्तुके अधीन है, अतः सो ज्ञानरूप ही है क्रियारूप नहीं।

शंका। प्रत्यक्ष ज्ञानके प्रति विषयको कारण होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुके अधीन रहो, परन्तु शाब्दबोध तथा अनुमिति आदिक ज्ञानको विषय करके अजन्य होनेसे विधेय क्रियारूप ही मानना चाहिये।

समाधान। यद्यपि शाब्दज्ञान तथा अनुमिति आदिक ज्ञान विषय करके जन्य नहीं हैं, तथापि शब्द अनुमान आदिक प्रमाण करके जन्य होनेसे विधि करके अजन्य ही हैं। अतः विधेय क्रियारूप नहीं।

शंका। यद्यपि प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके जन्य लौकिक ज्ञान हैं तिन लौकिक ज्ञानोंको विधिकी अपेक्षा नहीं भी है, तथापि ब्रह्मात्मज्ञानको अलौकिक होनेसे विधिकी अपेक्षा अवश्य होगी। अर्थात् जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इस स्थलमें स्वर्गका कारण याग विधेय है। तैसे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' 'आत्मानं पश्येत्' 'ब्रह्म त्वं विद्धि' इत्यादिक स्थलोंमें विधि करके ब्रह्मज्ञान विधेय है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि जैसे 'यजेत' इस विधि करके विधेय यागरूप क्रिया है, तैसे 'द्रष्टव्यः' 'पश्येत्' इत्यादिक विधि करके विधेय ब्रह्मज्ञान भी क्रियारूप हैं।

समाधान। तत्रैवं सति यथाभूतब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। इति भाष्यम्। अर्थ—लोकमें यथार्थ ज्ञानको वस्तु तथा प्रमाणके अधीन होनेसे विधि करके अविधेय हुये अबाधित ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधिके अधीन नहीं, किन्तु वस्तु तथा प्रमाणके अधीन है। अतः क्रियारूप नहीं इति। और 'आत्मानं पश्येत्' 'ब्रह्म त्वं विद्धि' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिक स्थलोंमें यद्यपि लिङ्, लोट्, तव्य, स्वरूप विधि प्रत्ययोंका श्रवण होता भी है, तथापि जैसे पाषाणके उपर चलाया हुआ जो क्षुर (अस्तुरा) है तिस क्षुरकी धार पाषाणको काटनेमें समर्थ होती नहीं, प्रत्युत आप ही कुण्ठीभावको प्राप्त हो जाती है। तैसे श्रूयमाण लिङादि विधिप्रत्यय भी अनियोज्य विषयक होनेसे ज्ञानरूप विषयमें पुरुषको प्रवृत्त करनेमें समर्थ होते नहीं। इसका यह तात्पर्य है, जो विधि होता है सो हेय तथा उपादेय वस्तु विषयक होता है। और पुरुष जिस वस्तुको करनेको अथवा नहीं करनेको अथवा अन्यथा करनेको समर्थ होता है सो वस्तु हेय तथा

उपादेय कहा जाता है। जैसे त्याग करनेको योग्य कलञ्जभक्षणादिक हैं। तथा ग्रहण करनेको योग्य यागादिक हैं। और पूर्वोक्त क्रियामें जो पुरुष समर्थ है सोई पुरुष कर्ता, अधिकृत, नियोज्य कहा जाता है। प्रसङ्गमें विधिके नियोज्यका अभाव होनेसे ब्रह्मज्ञान अविधेय है।

शंका। विधि करके ब्रह्मज्ञान विधेय मत रहो, ज्ञेय ब्रह्म विधेय क्यों न हो?

समाधान। विधि करके विधेय जो हेय तथा उपादेय तिनसे भिन्न अहेय तथा अनुपादेय स्वरूप होनेसे ब्रह्म विधेय नहीं हो सकता।

शंका। जब ब्रह्म तथा ब्रह्मज्ञान अविधेय हुआ, तब प्रसिद्ध यागादिकोंको विधान करनेवाले विधियोंके सदृश 'आत्मानमुपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिक विधियोंका क्या प्रयोजन है?

समाधान। पूर्वोक्त जो विधिप्रत्यय हैं सो 'परम पुरुषार्थका साधन आत्मज्ञान है' इस प्रकार आत्मज्ञानकी स्तुति करते हैं। तिस स्तुति करके जो विषयोंमें आत्यन्तिक इष्ट हेतुत्वकी भ्रान्ति करके आत्माके श्रवणादिकोंकी प्रतिबन्धकप्रवृत्ति है, तिस प्रवृत्तिकी निवृत्तिरूप प्रयोजनवाले होते हैं। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं-**स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः।** अर्थ-जो बहिर्मुख पुरुष, "इष्ट मेरेको प्राप्त हो, अनिष्ट मेरेको मत प्राप्त हो" ऐसा निश्चय करके बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होता है, सो पुरुष तिन विषयोंमें आत्यन्तिक पुरुषार्थको नहीं प्राप्त होता। तिस आत्यन्तिक पुरुषार्थकी इच्छावाले पुरुषको स्वाभाविक देहादिक कार्यकारणसंघातकी प्रवृत्तिके विषय जो शब्दादिक हैं तिन शब्दादिक विषयोंसे निवृत्तकरके प्रत्यग् आत्माके अपरोक्षज्ञानके साधन श्रवणादिकोंमें 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' इत्यादिक विधिछायावचन प्रवृत्त करते हैं इति। अतः विधि करके ज्ञान विधेय नहीं यह सिद्ध हुआ। और आत्माका साक्षात्कारके लिये श्रवणादिकोंमें प्रवृत्त जो अधिकारी पुरुष है तिस अधिकारीके प्रति वक्ष्यमाण श्रुति अहेय अनुपादेय आत्मतत्त्वको उपदेश करती हैं। तहां श्रुतिः-

'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' 'केन कं विजानीयात्' 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि। अर्थ—जो यह जगत् है सो सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही है। अर्थात् बाधसामानाधिकरण्य करके आत्मासे भिन्न सम्पूर्ण जगत्का अभाव होनेसे यह श्रुति आत्माको अद्वितीयरूप करके बोधन करती है। अत आत्मामें हेयत्व तथा उपादेयत्व नहीं बन सकता। यद्यपि अविद्या दशामें आत्माको सद्वितीय होनेसे हेयत्वादिक आत्मामें बन सकता है। तथापि जिस विद्वान्को ब्रह्मविद्या अवस्थामें सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही होता भया तिस ब्रह्मविद्या अवस्थामें सो विद्वान् किस करण करके किस विषयको देखे। किस करण करके किस विषयको जाने। अर्थात् जब आत्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है, तब देखना तथा जानना बन सकता नहीं। और अरे मैत्रयि! इस विज्ञातारूप आत्माको किसी करण करके नहीं जान सकता। और यह आत्मा ब्रह्मस्वरूप है इति।

और यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि जब आत्मज्ञान विधेय नहीं हुआ, तब आत्मज्ञानको अकर्तव्य प्रधान स्वरूप होनेसे त्यागके लिये तथा ग्रहणके लिये नहीं होगा, तथा च ज्ञानी कर्तव्यहीन हो जायगा ? यह पूर्वपक्षीका कहना सत्य है, क्योंकि आत्मज्ञानको वेदान्तरूप प्रमाण तथा प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप वस्तुके अधीन होनेसे हम भी हेय तथा उपादेयसे भिन्न ही मानते हैं। और आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कारके हुये जो सर्व कर्तव्यताकी हानि होती है तथा कृतकृत्यता होती है, सो हमारेको भूषणरूप है, दूषणरूप नहीं। तहां श्रुतिः—**आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥** तथा स्मृतिः- **'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत'**। अर्थ— 'स्वयं परमानन्दस्वरूप परमात्मा मैं हूं' यदि इस प्रकार आत्माका साक्षात्कार जिस पुरुषको हुआ है सो पुरुष किस फलकी इच्छाको करता हुआ, तथा किस पुत्रादिक भोक्ताकी प्रसन्नताके लिये, शरीरके तापोंसे अपनेको तपायमान करे। अर्थात् भोक्तृ भोग्य आदिक द्वैत प्रपञ्चके अभाव होनेसे आत्मवित्पुरुष कृतकृत्य है। और हे अर्जुन! गुह्य आत्मतत्त्वको जान कर बुद्धिमान् पुरुष कृतकृत्य होता है इति।

अब वृत्तिकारके मतका निरासको समाप्त करते हैंः-**'तस्मान्न प्रतिपत्तिविधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्'**। इति भाष्यम्। अर्थ-ज्ञानादिको विधेय न होनेसे 'आत्मानमुपासीत' इत्यादि विधिका विषय जो उपासना तिस उपासनाका विषयत्वरूप करके ब्रह्मको शास्त्र बोधन नहीं करता इति। अर्थात् जब शास्त्र स्वतन्त्र ब्रह्मका बोधक है और ब्रह्म बोधमात्रसे 'अनर्थकी निवृत्ति, परमानन्द स्वरूप ब्रह्मका अविर्भाव' रूप मोक्ष व कृतकृत्यता अनुभव सिद्ध है, तब "विधि करके विधेय क्रियारूप उपासनासे अविद्याकी निवृत्तिरूप संस्कार सहित प्रत्यग् ब्रह्मका आविर्भावरूप मोक्ष होता है, तथा उपासनारूप क्रियाका शेषरूप करके ब्रह्मको सम्पूर्ण वेदान्त बोधन करता है" इस वृत्तिकारके मतका पूर्वोक्त रीतिसे खण्डन हो चुका इति।

अब प्रभाकरके मतानुयायियोंका मतको दिखाते हैं-**प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवलवस्तुवादी वेदभागो नास्तीति**। इति भाष्यम्। अर्थ-प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप कार्यके बोधक जो विधि हैं तिन विधियोंका शेषसे भिन्न सिद्ध वस्तुका बोधक वेद नहीं है। अर्थात् विधिका अर्थ जो क्रियारूप कार्य है तिस कार्यका शेषरूप करके ही ब्रह्मको सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र बोधन करता है। अतः विधिशेषत्वेन ब्रह्मबोधक वेदान्तमें शास्त्रत्व है। इस कहने करके सम्पूर्ण वेदान्तमें कार्यपरत्व सिद्ध हुआ इति। यह प्रभाकर मतावलम्बियोंका कहना असङ्गत है इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं- **'तन्न, औपनिषदस्य पुरुषस्यानन्यशेषत्वात्'**। अर्थ-सो पूर्वपक्षीका कहना समीचीन नहीं, क्योंकि अज्ञात अबाधित अद्वितीय असंगरूप तथा फलरूप, उपनिषद् करके वेद्य, जो प्रत्यग् अभिन्न आत्मा है सो आत्मा अन्यका शेष नहीं हो सकता, अतः सम्पूर्ण वेदको कार्यपरत्व असिद्ध है इति।

शंका। वृद्धव्यवहार स्थलमें, जैसे वक्ताके वाक्यको श्रवण करके पुरुषकी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती है। तिस प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप लिङ्गसे प्रवृत्ति निवृत्तिका कारण कार्यज्ञानको अनुमान करके (अर्थात् वक्ताके वाक्यनिष्ठ कार्यपरत्वको निश्चय करके) समीपमें स्थित बालकको पदोंकी कार्यान्वित अर्थमें शक्तिका ग्रह होता है। अतः सिद्धवस्तु वाक्यका अर्थ नहीं। तैसे वेदान्त वाक्योंकी भी सिद्ध ब्रह्मरूप अर्थमें शक्तिका अभाव होनेसे वेदान्तवाक्योंका अर्थ ब्रह्म नहीं, किन्तु कार्य ही वेदान्तवाक्योंका अर्थ है।

समाधान। यह नियम नहीं है कि लोकमें पदोंका शक्तिग्रह कार्यान्वित अर्थमें ही होता है, सिद्ध अर्थमें नहीं। क्योंकि 'नैष भुजङ्गो रज्जुरियम्' इस स्थलमें कार्यके बोधक लिङ् लोटादिक प्रत्ययोंके अभाव हुये भी जब किसी विज्ञपुरुषने रज्जुमें सर्प भ्रान्तिवाले पुरुषको कहा कि 'नैष भुजङ्गो रज्जुरियम्' तब इस वचनको श्रवण करते ही भयकम्पादिकी निवृत्तिका जनक रज्जुका बोध अनुभवसिद्ध है।

शंका। परपुरुषनिष्ठ भूतार्थविषयक बुद्धिका प्रवृत्त्यादि लिङ्गके न होनेसे उन्नयन नहीं हो सकता है, अतः कार्यान्वितमें ही शब्दकी वृत्ति माननी चाहिये।

समाधान। सर्वथा हिन्दी भाषासे अपरिचित एक द्रविड़ पुरुष बद्रिकाश्रमको जाते समय एक रात्रि राजमार्गके समीप देवदत्तके गृहमें निवासार्थ ठहरा। दैवयोगसे देवदत्तका पुत्र हुआ था, उत्सव हो रहा था। द्रविड़ने देवदत्तके पुत्रजन्मोत्सवको देखा। दूसरे दिन पुत्रवार्ताहारके साथ ग्रामान्तरमें स्थित देवदत्तके ही पास द्रविड़ जब आया तब वार्ताहारने 'दिष्ट्या वर्धसे पुत्रस्ते जातः' इस वचनको देवदत्तसे कहा। श्रवण करते ही रोमाञ्च प्रफुल्लितनेत्र प्रसन्नमुख देवदत्तको आनन्दवाला द्रविड़ने देखा; तदनन्तर अन्य कारणके न होनेसे हर्षजनक पुत्रजन्म विषयक ज्ञानका अनुमान करके पुत्रजन्म विषयक ज्ञानकी हेतुशक्तिको उक्त 'पुत्रस्ते जातः' इस वाक्यमें द्रविड़ निश्चय करता है। तथा च भूतार्थ विषयक बुद्धिके ज्ञापक हर्षादि लिङ्ग विद्यमान हैं। अतः सिद्ध अर्थमें शक्ति नहीं है यह कहना असङ्गत है। तहां द्रविड़ पुरुषको पुत्रादिक पदोंकी शक्तिका ग्रह नहीं भी था तो भी हर्षादिक लिङ्गोंको देखकर पुत्रादिक पदोंकी शक्तिका ग्रह सिद्ध अर्थ पुत्रजन्ममें होता है। अर्थात् 'पुत्रस्ते जातः' यह वाक्य जैसे सिद्ध अर्थका बोधक है, तैसे वेदान्त भी सिद्ध ब्रह्मरूप अर्थका बोधक है। और कार्यान्वित अर्थमें पदोंकी शक्तिकी अपेक्षासे अन्वित अर्थमें ही पदोंकी शक्ति माननी उचित है। और ब्रह्मस्वरूप ज्ञानको परम पुरुषार्थका हेतु होनेसे पुरुषकी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप कार्यको वेदान्त नहीं भी बोधन करता है, तो भी वेदान्तवाक्योंमें हितका शासन होनेसे शास्त्रत्व सिद्ध है।

और वेदान्तवाक्य सिद्ध अर्थका बोधक है इसमें अनुमान प्रमाणको दिखाने हैं:—**विवादाध्यासितानि वेदान्तवचनानि, सिद्धार्थविषयाणि, सिद्धार्थविषयकप्रमाजनकत्वात्, यद्यद्विषयकप्रमाजनकं तत्तद्विषयकम्, यथा रूपादिविषयं चक्षुरादि'**। जो चक्षुरादिक इन्द्रिय रूपादिक विषयक प्रमाज्ञानके जनक हैं। सो चक्षुरादिक रूपादिविषयक हैं। अर्थात् जैसे चक्षुरादिक इन्द्रियरूप दृष्टान्तमें सिद्ध अर्थ रूपादिक विषयक प्रमाज्ञानका जनकत्वरूप हेतु है। और रूपादिक सिद्ध अर्थ विषयकत्व साध्य भी है। तैसे विवादके विषय वेदान्तवाक्य रूप पक्षमें ब्रह्मरूप सिद्ध अर्थ विषयक प्रमाज्ञानका जनकत्वरूप हेतु है। अतः सिद्ध अर्थ विषयकत्व (सिद्ध अर्थका प्रतिपादकत्व) रूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके पूर्वपक्षीने जो कहा था कि प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप कार्यसे भिन्न सिद्ध अर्थको कहनेवाला कोई वेदभाग नहीं है सो खण्डित हो चुका।

अब पूर्वपक्षीसे सिद्धान्ती पूछता है:-१ क्या ब्रह्म नहीं है इसलिये समग्र वेदको कार्यपरत्व है, २ अथवा वेदान्तशास्त्रमें ब्रह्मका भान नहीं होनेसे, ३ अथवा ब्रह्मको कार्यका शेष होनेसे, ४ अथवा ब्रह्मको लोकसिद्ध होनेसे, ५ अथवा मानान्तरका विरोध होनेसे समग्र वेदको कार्यपरत्व है? तहां प्रथम तथा द्वितीय पक्ष तो नहीं बन सकता, क्योंकि जो ब्रह्म उपनिषद्रूप वेदान्त करके ही निश्चित होता है, तिस ब्रह्मका अभाव तथा वेदान्तविषे अभान नहीं कह सकते। और बृहदारण्यकमें लिखा है—**स एष नेति नेत्यात्मा**। अर्थ—'इति' शब्दका अर्थ इदं वस्तु है, 'इदं न इदं न' इस प्रकार सर्व दृश्य प्रपञ्चको निषेध करके जो आत्मा उपदिष्ट है सो यह अपरोक्ष है इति। इस मन्त्रमें आत्म शब्दके प्रयोगको विद्यमान होनेसे ब्रह्मस्वरूप आत्माका अभावको कोई वादी नहीं कह सकता। क्योंकि ब्रह्मको निराकरण करनेवाला जो पुरुष है तिसका आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है। अतः अपने आत्माका निषेध आप कोई नहीं कर सकता। और उपनिषद् करके ही अधिगत जो ब्रह्मपुरुष है सो असंसारी है, तथा उत्पाद्यादिक जो चार प्रकारके कर्मके फल हैं तिनोंसे विलक्षण है।

शंका। ब्रह्मको कर्मफलसे विलक्षण होने पर भी कर्मकर्ताकी तरह फलदाता ब्रह्मको कर्मका शेष अवश्य मानना चाहिये?

समाधान। कर्मका शेष शुद्ध निर्गुण ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि कर्मके प्रकरणमें निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन नहीं है। किन्तु स्वतन्त्र ज्ञानप्रकरण रूप उपनिषदोंमें स्थित अर्थात् प्रतीयमान ब्रह्म है। अतः ब्रह्म अन्यका शेष नहीं हो सकता। इस कहनेसे तृतीय पक्षका खण्डन जान लेना।

शंका। जो सिद्धान्तीने कहा था कि आत्मा एक उपनिषद् करके ही गम्य है सो असङ्गत है क्योंकि अहं प्रत्ययका विषय होनेसे आत्मा लोकसिद्ध है।

समाधान। आत्माको अहंकारादिकोंका साक्षीरूप होनेसे आत्मामें अहं-बुद्धिका विषयत्व नहीं बन सकता है। इस अर्थको पूर्व कह आये हैं। और सर्व उपाधि शून्य जिस प्रत्यग् आत्माको शास्त्रकार भी शास्त्रके विना नहीं जान सकते सो आत्मा अलौकिक है इसमें क्या कहना है। अर्थात् विधिकाण्डमें अथवा तर्कसमयमें शास्त्रकारोंने तथा किसीने भी अहं प्रत्ययका विषय जो कर्ता भोक्ता संसारी जीव है तिससे भिन्न करके जीवका साक्षी तथा सर्व भूतोंमें स्थित तथा तारतम्य करके रहित अद्वितीय निर्विकार तथा सर्वका आत्मस्वरूप जो प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म है तिसको नहीं जाना, किन्तु कर्ता भोक्ता संसारी जीवको ही आत्मस्वरूप करके जाना है। इतने करके चतुर्थ पक्षको खण्डन किया। अब पञ्चम पक्षको खण्डन करते हैं–**'अतः स न केनापि प्रत्याख्यातुं शक्यः।'** अर्थ–जिस कारणसे आत्मा प्रत्यक्षादिक सकल प्रमाणोंका अविषय है और सर्व उपाधि रहित केवल वेदान्त करके वेद्य है, अतः से आत्मा किसी प्रमाण करके निराकरण करनेको शक्य नहीं है इति। अर्थात् यदि आत्मा वेदान्त प्रमाणसे भिन्न किसी प्रमाण करके गम्य होता तो प्रमाणान्तरका विरोध होनेसे समग्र वेदको कार्यपरत्व होता। परन्तु आत्माको वेदान्त प्रमाणसे भिन्न प्रमाणान्तर करके अगम्य होनेसे तथा केवल वेदान्तप्रमाण करके ही गम्य होनेसे मानान्तरका विरोध नहीं। अतः समग्र वेदको कार्यपरत्व नहीं हो सकता।

शंका। 'साक्षी, कर्माङ्गं, चेतनत्वात्, कर्तृवदिति'। जैसे दृष्टान्तरूप कर्ता जीवमें चेतनत्वरूप हेतु है और कर्मका अङ्गत्वरूप साध्य है; तैसे साक्षीरूप पक्षमें चेतनत्वरूप हेतु है, अतः कर्मका अङ्गत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके निर्विकार सर्व उपाधि शून्य साक्षीरूप आत्माको कर्मका अङ्ग होनेसे आत्मा विधिका शेष बन सकता है। और जब आत्मा विधिका शेष हुआ तब समग्र वेदको कार्यपरत्व सिद्ध हो चुका।

समाधान। विधिशेषत्वं वा नेतुम्। इति भाष्यम्। अर्थात् साक्षी अज्ञात है अथवा ज्ञात है? यदि वादी कहे कि साक्षी अज्ञात है तो अज्ञात साक्षीका कर्ममें अनुपयोग होनेसे कर्मका शेष नहीं होगा। यदि कहो कि साक्षी ज्ञात है तो ज्ञात हुआ साक्षीको कर्मका नाशक होनेसे कर्मका शेषत्व नहीं बन सकता। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं:–**'आत्मत्वादेव'** इत्यादि। अर्थ–सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मस्वरूप होनेसे ब्रह्मरूप आत्मा हेय तथा उपादेयसे भिन्न है इति।

शंका। अनित्य होनेसे आत्मा हेय है।

समाधान। विनाश कालमें देहघटादिक पृथिवीमें लीन होते हैं, पृथिवी जलमें लीन होती है, जल तेजमें, तेज वायुमें, वायु आकाशमें, आकाश मायामें, माया पुरुषमें लीन होती है। एवं विनाशी यावत् विकार पुरुषपर्यन्त विनष्ट

होते हैं। और पुरुष तो विनाशके हेतुका अभाव होनेसे अविनाशी है। तथा विक्रियारूप कारणका अभाव होनेसे कूटस्थ नित्य है। अतः हेय नहीं। और निर्विकार होनेसे पुरुष नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। और जो क्रियासाध्य होता है सो उपादेय होता है, पुरुषको नित्य सिद्ध होनेसे पुरुष उपादेय नहीं।

शंका। पुरुषसे पर जो वस्तु है तिस पर वस्तुकी प्राप्तिके लिये पुरुष हेय होगा।

समाधान। तिस पुरुषसे पर कुछ भी वस्तु नहीं है, किन्तु सर्वका अवधिरूप सोई पुरुष है तथा परम गतिरूप है। इस पूर्वोक्त रीतिसे आत्माको अन्यका शेष नहीं होनेसे, तथा अबाध्य होनेसे, तथा अपूर्व होनेसे, तथा वेदान्तमें स्पष्ट भान होनेसे, एक वेदान्तशास्त्र करके ही गम्य होनेसे आत्मा हेय नहीं है यह सिद्ध हुआ। तहां वेदान्तगम्यत्वमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैंः—**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**। अर्थ—हे शाकल्य! कारणके सहित सूत्रात्माका अधिष्ठानरूप पूर्ण पुरुषको तुम्हारे प्रति मैं पूछता हूँ इति। इस श्रुतिमें जो पुरुषका औपनिषदत्वरूप विशेषण कहा है सो विशेषण, उपनिषद् विषे ही प्राधान्य करके पुरुषको प्रकाशमान हुये बन सकता है। और उक्त लिङ्गों करके तथा श्रुति करके वेदान्तवाक्योंमें सिद्ध ब्रह्मात्म वस्तुपरत्वका निश्चय होनेसे 'भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्ति' 'सिद्ध वस्तुका प्रतिपादक वेदभाग नहीं है' यह जो मीमांसकोंका वचन है सो साहस मात्र है।

और जो मीमांसक कहते हैं कि **'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्'**। 'कर्मका अवबोधनरूप वेदका अर्थ दृष्ट है' इस वचन करके भी वेदान्तवाक्योंमें ब्रह्मपरत्वका निरास नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं जैमिनि ऋषिने **'अनुपलब्धेऽर्थे तत्प्रमाणम्'** इस सूत्र करके धर्ममें फलवत्त्व और अज्ञातत्वरूप करके वेदार्थत्वको दिखाया है। अर्थात् जैसे धर्म स्वर्गादिक फलवाला है, तथा प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके अज्ञात है, अतः धर्म वेदका अर्थ है। तैसे ब्रह्म भी 'अज्ञानकी निवृत्ति, स्वस्वरूपका आविर्भाव' रूप मोक्ष फलवाला है तथा प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके अज्ञात है, अतः ब्रह्म भी वेदका अर्थ है। इस रीतिसे वृद्धवाक्योंके साथ विरोध भी नहीं होता। और पूर्वोक्त जो मीमांसकोंका वचन है सो धर्मजिज्ञासाका उपक्रम होनेसे, तथा धर्म व कर्मको एक होनेसे, विधि निषेधरूप कार्यकी विवक्षा करके कार्यपरत्वका अभिप्राय वाला है। अर्थात् धर्मविचारका प्रसङ्ग होनेसे 'फलवदर्थावबोधनम्' ऐसा न कह कर 'कर्मावबोधनम्' यह कहा। और वास्तवसे विचार करके देखिये तो कर्मकाण्डका तात्पर्य लिङर्थमें है। और लोकमें पुरुषका प्रवर्तकज्ञानका विषय जो यागादिक क्रिया है तद्गत जो इष्टसाधनत्व है सोई 'यजेत' इत्यादिक लिङ्का अर्थ है।।तथाच सिद्धान्तीके

अभिमत सिद्ध अर्थमें भी जब मीमांसकोंने कर्मकाण्डको प्रमाणरूप माना है, तब ज्ञानकाण्डको सिद्ध अर्थमें प्रमाणरूपता है इसमें क्या कहना है। तहाँ अनुमान प्रमाणको कहते हैं:—'वेदान्ताः, सिद्धार्थपराः, फलवद्भूतार्थबोधकत्वात्, दध्यादिशब्दवत्'। जैसे दध्यादिक शब्दरूप दृष्टान्तमें फलवाला सिद्ध अर्थ दधि आदिकोंका बोधकत्वरूप हेतु है, और सिद्ध अर्थपरत्व साध्य है; तैसे वेदान्तरूप पक्षमें फलवाला सिद्ध अर्थ ब्रह्मका बोधकत्वरूप हेतु है, अतः सिद्धअर्थपरत्व साध्य भी मानना चाहिये। इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं:-'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्येतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गः। अर्थ—"वेदको क्रियार्थक होनेसे अक्रियार्थक सिद्ध अर्थके बोधक जो वाक्य हैं तिन वाक्योंमें आनर्थक्य है।" इस अर्थको नियम करके अङ्गीकार करनेवाले जो मीमांसक हैं तिनोंके मतमें 'भूत' कहिये सिद्ध अर्थका जो उपदेश है सो अनर्थक हो जावेगा इति। इसीप्रकार अभिधेयस्वरूपअर्थशून्यत्वका नाम आनर्थक्य है। अथवा फलशून्यत्वका नाम आनर्थक्य है? ऐसा मीमांसकोंको कहना होगा। तहां प्रथम पक्ष तो बन सकता नहीं, क्योंकि इस न्याय करके अक्रियार्थक शब्दोंमें नियम करके अभिधेयराहित्यको अङ्गीकार करनेवाले मीमांसकोंको 'सोमेन यजेत' 'दध्ना जुहोति' यहां पर सिद्ध अर्थके बोधक सोम दधि शब्दोंमें अर्थशून्यत्व मानना होगा।

शंका। 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तमित्येवं जातीयकं शक्नोत्यवगमयितुम्' इति शाबरभाष्यम्। अर्थ-'चोदना' विधि अर्थात् वेद जो है सो कार्यरूप अर्थको बोधन करता है। तथा कार्यका शेषरूप करके सिद्ध आदिक अर्थोंको बोधन कर सकता है। अतः सोमादिक शब्दोंमें अर्थशून्यत्व नहीं बन सकता इति।

समाधान। जब प्रवृत्ति निवृत्तिरूप कार्यसे भिन्न सिद्ध अर्थको कार्यका शेषरूपकरके वेदने बोधन किया, तब कूटस्थ नित्य सिद्ध वस्तुको सत्य ज्ञानादिक शब्द बोधन नहीं करते हैं इसमें क्या हेतु है? क्या कूटस्थको 'अक्रियरूप होनेसे' अथवा 'शेष नहीं होनेसे' सत्यादिक शब्द बोधन नहीं करते? यदि पूर्वपक्षी कहे कि दधि आदिकोंको हवनादिरूप क्रियामें अन्वित होनेसे दधि आदिक क्रियारूप ही हैं, अतः दधि आदिकोंका उपदेश बन सकता है। और कूटस्थ क्रियामें अन्वित है नहीं। अतः कूटस्थका उपदेश नहीं बन सकता। तथाच 'क्रिया न होनेसे' यह प्रथमपक्ष बन सकता है। सो पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है। क्योंकि उपदिश्यमान सिद्ध वस्तु क्रिया नहीं हो सकती। यदि दधि आदिकोंको क्रियामें अन्वित होनेसे क्रिया मानोगे तो दधि आदिकोंमें क्रियाका शेषत्व नहीं बनेगा। अतः क्रियासे भिन्न दधि आदिक सिद्ध अर्थमें शब्दार्थत्व अवश्य मानना होगा। और यद्यपि दधि आदिक सिद्ध अर्थमें अक्रियात्व है, तथापि हवनादिरूप क्रियाका साधन होनेसे क्रियाका शेषरूप करके ही दधि आदिक सिद्ध अर्थका उपदेश

बन सकता है। और कूटस्थको क्रियाका शेष नहीं होनेसे कूटस्थका उपदेश नहीं बन सकता। तथाच 'शेष नहीं होनेसे' यह द्वितीय पक्षको यदि वादी कहे, तो तिस वादीसे मैं पूछता हूं कि सिद्ध अर्थमें जो कार्यका शेषत्व मानते हो सो 'शब्दार्थत्वके लिये' अथवा 'फलके लिये'? तहां प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि क्रियाकी सिद्धिके सामर्थ्यवाले दधि आदिकोंमें कार्यका शेषत्वके सिद्ध हुये भी शब्द करके वस्तु मात्र ही उपदिष्ट है, कार्यान्वित नहीं। और स्वर्गादिक फलके लिये सिद्ध दधि आदिकोंमें कार्यका शेषत्व है। इस द्वितीय पक्षको हम भी स्वीकार करते हैं। अर्थात् स्वर्गादि फलोंको उद्देश करके हवनादिरूप क्रियाका शेषत्व दधि आदिकोंमें बन सकता है, ब्रह्ममें नहीं।

शंका। जब सिद्ध अर्थ दधि आदिकोंमें कार्यका शेषत्व मानते हो तब स्वतन्त्रता करके शब्दार्थत्व नहीं बनेगा।

समाधान। फलके लिये कार्यका शेषत्वको अङ्गीकार किये हुये भी दधि आदिकोंमें शब्दार्थत्वका अभाव नहीं होता। अर्थात् सिद्ध दधि आदिक अर्थोंमें जो कार्यका शेषत्व है सो फलके लिये इष्ट है; परन्तु इतनेसे दधि आदिक शब्दोंके वाच्य अर्थ दधि आदिकोंमें कार्यका प्रवेश नहीं होता। अर्थात् कार्यशेषत्व दधि आदिक शब्दोंका अर्थ नहीं बन सकता। अतः दधि आदिकोंमें स्वातन्त्र्येण शब्दार्थत्व बन सकता है।

शंका। 'दध्ना जुहोति' इत्यादिक स्थलोंमें कार्यका शेषरूप करके सिद्ध दधि आदिकोंका उपदेश कहा। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि कार्यका अशेषरूप ब्रह्म वेदान्तप्रमाण करके उपदिष्ट नहीं हो सकता है। और जब वेदान्त करके ब्रह्म अनुपदिष्ट हुआ तब वेदान्तशास्त्र भी अप्रमाणरूप सिद्ध हुआ।

समाधान। जैसे प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंमें अज्ञात अर्थका बोधकत्वरूप प्रामाण्य है, तैसे वेदान्तशास्त्रमें भी अज्ञात ब्रह्मरूप अर्थका बोधकत्वरूप प्रामाण्य बन सकता है। अतः वेदान्तशास्त्र अप्रमाणरूप नहीं।

शंका। यद्यपि वेदान्तवाक्योंमें अज्ञात अर्थका उपदेशित्व है। तथापि कार्यका शेष नहीं होने करके निष्फल जो ब्रह्म है तिस निष्फल ब्रह्मका प्रतिपादक होनेसे वेदान्त अप्रमाणरूप है। क्योंकि जो शब्द सफल अर्थका प्रतिपादक होता है सो शब्द प्रमाणरूप होता है अर्थात् फलके अधीन ही शब्दमें प्रामाण्य होता है। इतने करके प्रथम जो विकल्प किया था कि अक्रियार्थक वाक्योंमें आनर्थक्य क्या है—क्या अभिधेय राहित्य है अथवा फलाभाव है? इस विकल्पके द्वितीय पक्षको पूर्वपक्षी दिखाता है:—**यदि नामोपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति।**

अर्थ—यद्यपि सिद्ध दधि आदिक स्वतः निष्फल भी हैं, परन्तु क्रियाद्वारा सफल होनेसे उपदिष्ट है। तथापि कूटस्थ ब्रह्मको कहनेवाले वेदान्तियोंको क्रियारूप द्वारका अभाव होनेसे तिस दधि आदिक दृष्टान्त करके क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? इति। तात्पर्य यह है—फलवाला जो भूत

वस्तु है सो उपदेश करनेको योग्य है जैसे दधि आदिक। और ब्रह्म तो उदासीन है तथा सर्व क्रिया करके रहित होनेसे अनुपकारक है, इसलिये ब्रह्म प्रयोजनशून्य है। और प्रयोजनशून्य होनेसे वेदान्त करके ब्रह्म उपदिष्ट भी नहीं हो सकता। अन्यथा निष्फल ब्रह्मका बोधक वेदान्त निष्फल अर्थात् अनर्थक हो जावेगा।

समाधान। सिद्ध वस्तुनिष्ठ साफल्यमें क्रिया ही द्वार होती है यह नियम नहीं, क्योंकि जैसे रज्जुमें सर्पभ्रान्तिसे अनन्तर रज्जुका ज्ञान मात्र करके सिद्ध रज्जुमें साफल्य देखनेमें आता है। भाव यह है कि यद्यपि भयकम्पादिकोंकी निवृत्तिरूप फल रज्जुके ज्ञानका है रज्जुका नहीं, तथापि रज्जुके ज्ञानद्वारा रज्जु भी फलवाला कहा जाता है। तैसे वेदान्तवाक्य करके जिस कालमें उदासीन प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, तिस कालमें ही ब्रह्मसाक्षात्कार करके संसारदुःखका कारण मिथ्या अज्ञान तथा अज्ञानके कार्यकी निवृत्तिरूप फल होता है; यहां पर भी ज्ञान द्वारा ब्रह्म फलवाला कहा जाता है। तथा ज्ञानको वेदान्तवाक्य करके जन्य होनेसे वेदान्तवाक्य भी ज्ञान द्वारा फलवाला कहा जाता है क्रिया द्वारा नहीं। इतने कहने करके यह सिद्ध हुआ कि जैसे भूत वस्तु दधि आदिक हवनादिरूप क्रिया द्वारा सफल हैं। तैसे भूत ब्रह्मवस्तु ज्ञान द्वारा सफल है। अतः क्रियाके साधनोंका उपदेशरूप कर्मकाण्डमें व वेदान्तवाक्योंमें समान ही अर्थवत्त्व है। इसलिये वेदान्तवाक्योंको फलवाला होनेसे वेदान्त भी प्रमाणरूप है। अर्थात् जिस पूर्वोक्त रीतिसे विधिवाक्यवत् दधि आदिक शब्दोंमें शुद्ध सिद्ध दधि आदिक अर्थोंका बोधकत्व है। तिस रीतिसे ही वेदान्तवाक्योंमें भी शुद्ध सिद्ध ब्रह्मरूप अर्थका बोधकत्व बन सकता है।

अब निषेध वाक्योंको जैसे सिद्धअर्थपरत्व है तैसे वेदान्तवाक्योंको भी सिद्धअर्थपरत्व है। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं:—

'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्तिरुपदिश्यते। अर्थ—ब्राह्मणका हनन नहीं करना इत्यादिक जो वाक्य हैं सो निवृत्तिको उपदेश करते हैं—अर्थात् हन् धातुरूप प्रकृतिका अर्थ हननरूप क्रिया है। और हन् प्रकृतिके साथ नञ्का सम्बन्ध होनेसे हननरूप क्रियाका जो अभाव है सो नञ्का अर्थ है। इष्टसाधनत्व तव्य प्रत्ययका अर्थ है। प्रसङ्गमें नरकदुःखके अभावका नाम इष्ट है। तिस इष्टका साधनत्व कहिये परिपालकत्वका अन्वय हननके अभावरूप नञ्के अर्थमें है। इस करके निषेध वाक्यका अर्थ यह सिद्ध हुआ कि 'नरकदुःखके अभावका परिपालक ब्राह्मणकी हननरूप क्रियाका अभाव है' इति। यहां पर हननरूप क्रियाका अभाव निवृत्तिरूप है सो निवृत्ति सिद्ध अर्थ है विधेय नहीं। क्योंकि जब पुरुष ऐसा श्रवण करता है कि 'हननरूप क्रियाका अभाव दुःखाभावका हेतु है' तब अर्थसे ही पुरुषको ऐसा ज्ञान हो जाता है कि 'हननरूप क्रिया दुःखका साधन है'। अतः पुरुष हननरूप क्रियामें प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु निवृत्त हो जाता है। और

जो विधिका विषय होता है सो क्रिया तथा क्रियाका साधन दधि आदिक भावरूप होता है अभावरूप नहीं। और निषेधवाक्यका अर्थ जो 'इष्टका साधन हननाभाव' है सो अभावरूप होनेसे भावरूप क्रिया नहीं हो सकता। तथा अभावको भावरूप अर्थके प्रति अकारण होनेसे क्रियाका साधन भी नहीं बन सकता। अतः निषेध शास्त्रको निवृत्तिरूप सिद्ध अर्थमें प्रमाणरूपता है। और यदि पूर्वपक्षी कहे कि अक्रियार्थक वाक्योंका जो उपदेश है सो अनर्थक है। तो यह वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिक वाक्यों करके जो निवृत्तिका उपदेश है सो वादीके मतमें असङ्गत होगा। निवृत्तिके उपदेशका आनर्थक्य किसीको इष्ट नहीं है।

शंका। 'न हन्तव्यः' इस वाक्यका अर्थ 'हननं न कुर्याद्' 'हननका अभावको करे' यह नहीं है; किन्तु रागसे प्राप्त जो हनन है तिस हननरूप अर्थके साथ नञ्का सम्बन्ध होनेसे 'हनन क्रियाके विरुद्ध संकल्परूप जो क्रिया है' सो नञ्का अर्थ है। इस नञ्के अर्थको विधिसे विना अप्राप्त होनेसे निषेधवाक्य विधान करता है:—'अहननं कुर्याद्' हननरूप क्रियाके विरुद्ध संकल्प रूप क्रियाको करे। अर्थात् 'हननरूप क्रियाको मैं नहीं करूंगा' ऐसा हननरूप क्रियाके विरुद्ध संकल्परूप क्रियाको करे इति। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि 'न हन्तव्यः' इस निषेध वाक्यको हननके विरुद्ध संकल्परूप क्रियार्थक होनेसे कार्यपरत्व है सिद्धार्थपरत्व नहीं, अतः निषेधवाक्योंमें कार्यको विधेय होनेसे आनर्थक्य नहीं।

समाधान। हननरूप अर्थके साथ सम्बन्धवाला नञ्का जो हनन क्रियाकी निवृत्तिरूप और औदासीन्य रूप अर्थ है तिस अर्थसे, अर्थात् हननके अभावसे, भिन्न अप्राप्त क्रियारूप नञ्का अर्थ नहीं कल्पना कर सकते। क्योंकि नञ्का अभाव रूप मुख्य अर्थके सम्भव हुये हननविरोधिसंकल्पक्रियारूप लाक्षणिक अर्थको अङ्गीकार करना असङ्गत है। किंच विधिवाक्यकी तरह निषेधवाक्यको भी यदि कार्यार्थक मानोगे तो विधि निषेधका जो भेद है सो भी असङ्गत होगा।

शंका। जैसे नञ् पदकी शक्ति हननादिक वस्तुवोंके अभावमें है, तैसे हननादिकोंसे अन्यमें तथा हननादिकोंके विरोधीमें भी शक्ति माननी चाहिये, क्योंकि अब्राह्मणः, अधर्मः, ऐसा प्रयोग देखनेमें आता है; ब्राह्मणसे भिन्न क्षत्रियादिकोंका नाम अब्राह्मण है, तथा धर्मसे विरुद्ध अर्थात् धर्मका विरोधी जो पाप है तिसका नाम अधर्म है। ऐसा माननेसे हननरूप क्रियाकी विरोधी संकल्परूपक्रिया ही 'न हन्तव्यः' इस निषेधवाक्य करके विधेय हुई। अतः निषेध वाक्योंको भी कार्यपरत्व है सिद्धार्थपरत्व नहीं।

समाधान। नञ्का यह स्वभाव है कि स्वसम्बन्धिवस्तुवोंके अभावको बोधन करता है। अतः, अभावमें ही नञ्की शक्ति है, अन्य तथा विरुद्धमें

नहीं। क्योंकि यदि एक अर्थमें शक्तिका स्वीकार करनेसे निर्वाह हो सके, तो अनेक अर्थोंमें शक्तिकी कल्पना करनी सर्वथा अयुक्त है। तहां अब्राह्मणः, अधर्मः, इस स्थलमें ब्राह्मणोंका अभावरूप नञ्के शक्य अर्थका सम्बन्धको क्षत्रियादिकोंमें विद्यमान होनेसे, तथा धर्मका अभावरूप नञ्के शक्य अर्थका सम्बन्धको अधर्ममें विद्यमान होनेसे, लक्षणावृत्ति करके 'ब्राह्मणके अभाववाले क्षत्रियादिक हैं' तथा 'धर्मका अभाववाला अधर्म है' ऐसा बोध हो सकता है। अतः नञ्की शक्ति केवल अभावमें है, अनेकार्थमें नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि 'न हन्तव्यः' इस स्थलमें भी हननकी निवृत्तिरूप अभाव ही नञ्का शक्य अर्थ है, हनन क्रियासे विरुद्ध संकल्परूप क्रिया नहीं। क्योंकि हनन क्रियाके विरुद्ध संकल्पक्रियामें नञ्के शक्य अर्थका सम्बन्धको विद्यमान होनेसे लक्षणावृत्ति करके ही हननविरुद्ध संकल्पक्रियाका बोध होता है। इसलिये पूर्वोक्त विरुद्ध संकल्पक्रियामें शक्ति मानना अनुचित है। और जहां निर्वाह नहीं हो सकता वहां ही अनेक अर्थोंमें शक्तिकी कल्पना समीचीन है। जैसे गोशब्दकी शक्ति गो पशुमें है, तैसे स्वर्ग, इषु, वाक्, वज्रादिकोंमें है। क्योंकि शक्य सम्बन्धका नाम लक्षणा है। प्रसङ्गमें शक्य पशुके सम्बन्धका स्वर्गादिकोंमें अभाव होनेसे स्वर्गादिकोंका लक्षणावृत्ति करके बोध तो हो सकता नहीं। किन्तु शक्तिवृत्ति करके ही स्वर्गादिकोंका बोध होता है। अतः गोपदकी अनेक अर्थोंमें शक्तिका स्वीकार करना उचित है।

यद्वा हन् धातुका अर्थ हननरूप क्रिया है। और 'बलवदनिष्टासाधनत्वे सति इष्टसाधनत्वम् तव्यप्रत्ययार्थः'। बलवान् अनिष्ट जो नरकादिक दुःख हैं तिनोंका असाधनत्वविशिष्ट जो इष्टसाधनत्व है सो तव्य प्रत्ययका अर्थ है। और नञ्का अर्थ अभाव है। जब प्रत्ययार्थके साथ नञ्का अन्वय किया तब यह अर्थ सिद्ध हुआ कि 'बलवदनिष्टासाधनत्वविशिष्टेष्टसाधनत्वाभाववद्धननम्'। अर्थात् हननरूप क्रिया बलवान् अनिष्टका असाधन हुई इष्टका साधन नहीं है इति। तात्पर्य यह कि 'ब्राह्मणो हन्तव्यः' इस स्थलमें भ्रान्ति करके प्राप्त जो ब्राह्मण हननमें इष्ट साधनत्व है, तिसको अनुवाद करके जब नञ्ने इष्ट साधनत्वके अभावको बोधन किया 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति, तब 'बलवान् अनिष्टका साधन हनन है' ऐसी बुद्धि होती है। इस पक्षमें 'न हन्तव्यः' यहां हननरूप-क्रियामें जो इष्टसाधनत्वका अभावरूप सिद्ध अर्थ है सोई निषेधवाक्यका अर्थ है इति। और ब्राह्मणकी हननरूपक्रिया बलवत् अनिष्टका साधन है। अथवा हनन-रूप क्रियामें इष्ट साधनत्वका अभाव है। ऐसी बुद्धि होनेसे पुरुषनिष्ठ, जो हनन क्रियाकी निवृत्ति उपलक्षित औदासीन्य है, तिस औदासीन्यकी परिपालक हननाभावबुद्धि है। अथवा हननमें इष्ट साधनत्वाभाव बुद्धि है। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं:—**अभावबुद्धिश्चौदासीन्ये कारणम्।** इस भाष्य वचनका अर्थ पूर्वोक्त ही जानना।

शंका। सिद्धन्तीने औदासीन्यकी परिपालक जो हननाभावबुद्धिको तथा हननमें इष्ट साधनत्वाभाव बुद्धिको कहा। सो असङ्गत है। क्योंकि बुद्धिको क्षणिक होनेसे जब हननाभावबुद्धि तथा इष्ट साधनत्वाभावबुद्धि निवृत्त हो जायगी, तब पुरुषकी औदासीन्यसे प्रच्युतिरूप हननादिकोंमें प्रवृत्ति हो जायगी।

समाधान। जैसे अग्नि काष्ठको दग्ध करके स्वयं शान्त हो जाता है। तैसे उभय प्रकारकी अभावबुद्धि, हननमें इष्ट साधनत्वकी भ्रान्तिका मूल जो राग है तिस रागरूपी इन्धनको दग्ध करके स्वयं ही शान्त हो जाती है। अर्थात् हननमें प्रवृत्तिका कारण रागके अभाव हुये पुनः, औदासीन्यसे प्रच्युतिरूप हननमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। और जो वादी 'न हन्तव्यः' इस वाक्यका अर्थ हनन विरुद्ध संकल्परूप क्रियाको मानता है। तिस वादीके मतमें रागमूलक जो हननमें प्रवृत्तिका कारण इष्ट साधनत्वभ्रान्ति है। तिसकी निवृत्ति न होनेसे औदासीन्यसे प्रच्युतिरूप जो हननमें प्रवृत्ति है सो अवश्य होगी। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्तमें 'न हन्तव्यः' इस वाक्य करके जन्य दो प्रकारकी बुद्धि होती है। जब नञ्का प्रकृत्यर्थके साथ अन्वय करते हैं, तब 'हननाभाव इष्टका साधन कहिये परिपालक है' ऐसी बुद्धि होती है। और जब नञ्का प्रत्ययार्थके साथ अन्वय करते हैं, तब 'इष्ट साधनत्वका अभाववाला हनन है' ऐसी बुद्धि होती है। यह दोनों प्रकारकी बुद्धि, हननमें प्रवृत्तिका कारण जो रागमूलक इष्टसाधनत्वकी भ्रान्ति है तिस भ्रान्तिकी निवर्तक है। अतः प्रवृत्तिका कारण भ्रान्तिका अभाव होनेसे औदासीन्यसे प्रच्युतिरूप हननमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और वादीके मतमें तो 'न हन्तव्यः' इस वाक्य करके जन्य पूर्वोक्त दो प्रकारकी बुद्धि हो सकती नहीं, किन्तु हननके विरुद्ध संकल्पविषयक ही ज्ञान होगा। सो ज्ञान भ्रान्तिका निवर्तक नहीं हो सकता। अतः प्रवृत्तिकी कारण पूर्वोक्त भ्रान्तिको विद्यमान हुये अवश्य औदासीन्यसे प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति हो जावेगी। इसलिये अभाव ही नञ्का मुख्य अर्थ है। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं—

तस्मात्प्रसक्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यमेव 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे, अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। अर्थ—नञ्का कार्यरूप अर्थ न होनेसे, प्रसंगमें 'रागप्राप्त हनन क्रियाकी निवृत्तिरूप' औदासीन्य ही प्रजापतिव्रतादिकोंसे भिन्न 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादिक वाक्योंमें नञ्का अर्थ हम मानते हैं इति।

तात्पर्य यह है कि 'तस्य बटोर्व्रतम्' इस वाक्यमें अनुष्ठेय क्रियाका वाचक व्रत शब्दसे उपक्रम करके 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' जिस समयमें सूर्य उदय होता है तिस समयमें सूर्यको न देखे अर्थात् दर्शनविरोधिसंकल्परूप क्रियाको करे इति। इस उपसंहारवाक्यकरके ब्रह्मचारीके लिये प्रजापतिव्रतको विधान किया है। और 'नेक्षेत' यहां पर प्रकृतिके अर्थका अभाव (अर्थात् दर्शना-

भाव) को अथवा प्रत्ययके अर्थका अभाव (अर्थात् कृतिका अभाव) को नञ् का अर्थ मानोगे तो उपक्रम वाक्यमें अनुष्ठेयक्रियाका वाचक जो व्रत शब्द है सो असङ्गत होगा। क्योंकि अभाव जो है सो अनुष्ठेय क्रियारूप नहीं, किन्तु सिद्ध अर्थ है। अत उपक्रमके वलसे 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' यह उपसंहारवाक्य लक्षणावृत्ति करके ईक्षणके विरुद्ध सङ्कल्प क्रियाको विधान करता है। इस लिये इस निषेधवाक्यको कार्यपरत्व है। और 'न हन्तव्यः' इत्यादिक स्थलोंमें अनुष्ठेय क्रियाके वाचक शब्दोंका अभाव होनेसे हननादिकोंका अभाव ही नञ्का मुख्य अर्थ है, हनन विरुद्ध संकल्परूप क्रिया नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि जैसे दुःखाभावके परिपालक हननाद्यभावरूप सिद्ध अर्थमें निषेधवाक्योंको प्रमाणरूपता है। तैसे वेदान्त वाक्योंको भी सिद्ध ब्रह्मरूप अर्थमें प्रमाणरूपत्व है।

शंका। यदि सिद्ध अर्थके बोधक निषेधवाक्योंमें तथा वेदान्तवाक्यों-में प्रमाणत्व हुआ तो 'आनर्थक्यमतदर्थानाम्' यह जैमिनीय सूत्र किन वाक्यों-में आनर्थक्यको बोधन करता है?

समाधान। जिन वाक्योंके श्रवणविचारादिकोंको करनेसे भी कुछ फल सिद्ध नहीं होता ऐसे पुरुषार्थानुपयोगी जो उपाख्यान, भूतार्थवादादिक व्यर्थ कथा हैं तिनोंमें आनर्थक्यको बोधन करता है। और वेदान्तवाक्यको सफल होनेसे वेदान्तवाक्य अनर्थक नहीं।

और प्रथम पूर्वपक्षीने शंका करी थी कि 'सप्तद्वीपा वसुमती'–पृथिवी सप्तद्वीप धनवाली है। जैसे यह वाक्य कार्यविधिके प्रवेशसे विना अनर्थक है। तैसे कार्यविधिके प्रवेशसे विना ब्रह्मस्वरूप मात्रको कथन करनेवाले वेदान्त वाक्य भी अनर्थक हैं इति। इस शंकाका परिहार भी कर चुके हैं कि 'रज्जु-रियं नायं सर्पः' इस वाक्य करके रज्जुस्वरूप वस्तु मात्रको कथन किये हुये भी भयकम्पादिकोंकी निवृत्तिरूप प्रयोजन इस वाक्यका देखनेमें आता है। अतः जैसे यह वाक्य सार्थक है। तैसे ब्रह्मस्वरूप वस्तु मात्रको कथन करनेवाला वेदान्त भी जन्ममरणादिक संसारकी निवृत्तिरूप प्रयोजनवाला होनेसे सार्थक है, अनर्थक नहीं।

शंका। सिद्धान्तीने जो 'रज्जुरियं नायं सर्पः' इस वाक्यका दृष्टान्त दिया है सो असङ्गत है, क्योंकि जैसे रज्जुस्वरूप वस्तुके बोधक वाक्यके श्रवण † से अनन्तर भयकम्पादिकोंकी निवृत्ति देखनेमें आती है। तैसे ब्रह्मबोधक वेदान्तके श्रवणसे अनन्तर संसारित्वकी निवृत्ति नहीं देखनेमें आती है। किन्तु पूर्वकी तरह श्रुत ब्रह्म पुरुषमें भी संसारित्वकी प्रतीति देखनेमें आती है।

† यहां पर 'श्रवण' शब्द करके श्रवणजन्य ज्ञानका ग्रहण करना, क्योंकि भयकम्पादिकोंका निवर्तकत्व श्रवणजन्य ज्ञानमें है, श्रवणमें नहीं।

समाधान। यद्यपि यह वादीका कहना सत्य है कि 'श्रवणसे अनन्तर संसारित्वकी निवृत्ति देखनेमें नहीं आती' तथापि ब्रह्मज्ञान मात्र संसारित्वकी निवृत्तिका कारण न होने पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार पर्यन्त जो ज्ञान है सो भोक्तृत्वादिरूप संसारित्वकी निवृत्तिका कारण है। जैसे गन्धर्वशास्त्रका श्रवण तथा अभ्यास करके संस्कृत जो मन है तिस मन करके जन्य षड्जादि भेद-विषयक साक्षात्कार होता है। तैसे वेदान्तशास्त्रके श्रवण तथा मननादिकों करके जन्य संस्कार विशिष्ट जो मन है तिस मन करके जन्य अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष होती है। इस वृत्तिविशेषका नाम ब्रह्मसाक्षात्कार है। अर्थात् अज्ञान और तत्कार्य संसारित्वादिकोंकी निवृत्तिरूप फलपर्यन्तावसायी जो 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इस प्रकारका अप्रतिबद्ध प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मज्ञान है तिस ज्ञानका नाम ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैंः— **'नावगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम्'** इत्यादि। अर्थ—अज्ञान दशामें पुरुषनिष्ठ जैसा संसारित्व है, तैसा प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मके साक्षात्कारवाले पुरुषमें संसारित्वको नहीं दिखा सकते। क्योंकि संसारित्वका विरोधी ब्रह्मात्मभाव विद्यमान है इति।

इस अर्थमें तीन दृष्टान्तोंको दिखाते हैं। जैसे शरीरादिकोंमें आत्माभिमानी जो पुरुष है तिस पुरुषमें मिथ्याज्ञान निमित्त जैसे दुःखभयादिक देखनेमें आते हैं। तिसी पुरुषमें वेदप्रमाणजन्य ब्रह्मात्माका साक्षात्कारसे शरीरादिकों विषे आत्मत्वाभिमानके निवृत्त हुये तैसे ही मिथ्याज्ञान निमित्त दुःखभयादिकोंकी कल्पना नहीं कर सकते। और धनका अभिमानी जिस धनी गृहस्थको धनका अपहार निमित्त जैसा दुःख होता है। तैसा धनका अभिमान रहित तथा संन्यासको धारण किया हुआ तिसी पुरुषको धनापहार निमित्त दुःख नहीं होता है। और कुण्डलके अभिमान निमित्त कुण्डली पुरुषको जैसा सुख होता है। तैसा कुण्डल रहित व कुण्डलके अभिमान रहित तिसी पुरुषको कुण्डलित्वाभिमान निमित्त सुख नहीं होता इति। अब देहाभिमान करके रहित जो तत्त्ववित्पुरुष है तिसको सांसारिक धर्म स्पर्श करते नहीं। इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैंः—**अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।** अर्थ—शरीर करके रहित विद्यमान ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको सुखदुःखादिक स्पर्श नहीं करते इति।

शंका। शरीरके पतनसे अनन्तर 'अशरीर' अर्थात् शरीर रहित यह व्यवहार होता है, और जीवत् दशामें ब्रह्मवित्पुरुष शरीररहित है यह व्यवहार, 'मम माता वन्ध्या' इस व्यवहारकी तरह विरुद्ध है।

समाधान। यदि परमार्थसे आत्मामें सशरीरत्व होवे तो जीवत् दशामें सशरीरत्व (शरीर) की निवृत्ति न होवे। परन्तु शरीरको मिथ्या अज्ञान निमित्तक होनेसे तत्त्वज्ञान करके मिथ्या अज्ञानकी निवृत्ति हुये जीवत्

दशामें ही शरीरकी निवृत्ति हो सकती है। जैसे रज्जुके मिथ्या अज्ञान निमित्तक सर्पकी, रज्जुज्ञान करके मिथ्या अज्ञानकी निवृत्ति हुये निवृत्ति होती है। और शरीरादिकोंमें आत्मत्वाभिमानरूप जो मिथ्या अज्ञान है तिस मिथ्या अज्ञानके हुये ही आत्मामें सशरीरत्व है। और तिस मिथ्या अज्ञानके अभाव हुये सशरीरत्वका अभाव है। इस अन्वयव्यतिरेक करके भी सशरीरत्वमें आविद्यकत्वकी सिद्धि हुई। और आत्मामें जो अशरीरत्व है सो आत्माका स्वभाव है, तिस स्वभावकी निवृत्ति हो सकती नहीं, क्योंकि स्वभाव-की हानि होनेसे भाव वस्तुका विनाशप्रसङ्ग होगा। इस अर्थको दिखाते हैं :—**'नित्यमशरीरत्वम्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—कर्म करके अजन्य होनेसे आत्मामें जो अशरीरत्व है सो नित्य है इति। अर्थात् अशरीरत्वको यदि कर्मजन्य मानोगे तो अशरीरत्वका नाश अवश्य मानना होगा। और जब आत्माके स्वरूप भूत अशरीरत्वस्वभावका नाश हुआ तब आत्माका भी नाश मानना होगा, सो अनिष्ट है।

शंका। यद्यपि आत्मामें अशरीरत्व नित्य रहो, तथापि आत्मामें जो सशरीरत्व है सो मिथ्या अज्ञान निमित्तक नहीं, किन्तु धर्माधर्म निमित्तक है। और जब सशरीरत्वका कारण धर्माधर्म हुआ तब धर्माधर्मकी निवृत्तिसे विना सशरीरत्वकी निवृत्ति न होगी। और जब धर्माधर्मकी निवृत्ति होगी तब तो शरीर-को त्यागकर प्रयाण ही कहना होगा। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि जो सिद्धा-न्तीने कहा था कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवत् दशामें ही अशरीर होता है सो असङ्गत है।

समाधान। आत्मा साक्षात् धर्माधर्मको नहीं कर सकता, किन्तु आत्माका शरीरादिकोंके साथ सम्बन्ध हुये ही शरीरादिकों करके धर्माधर्मकी उत्पत्ति होती है। और धर्माधर्मकी उत्पत्ति हुये ही आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध होता है। इस कहनेसे अन्योन्याश्रय दोषकी प्राप्ति हुई। क्योंकि धर्मा-धर्म, अपनी उत्पत्तिमें आत्माका शरीरके साथ सम्बन्धकी अपेक्षा करता है। और शरीरके साथ आत्माका सम्बन्ध, अपनी उत्पत्तिमें धर्माधर्मकी अपेक्षा करता है। अर्थात् शरीरको धर्माधर्म करके जन्य होनेसे शरीरके साथ आत्माका सम्बन्ध धर्माधर्मकी अपेक्षा करता है। और जहां पर अन्योन्याश्रय दोष होता है, वहां पर दोनों असिद्ध होते हैं। और प्रसङ्गमें असङ्ग आत्माका शरीरके साथ सम्बन्धका अभाव हुये शरीरसम्बन्ध द्वारा धर्माधर्ममें आत्मकृतत्व भी नहीं बन सकता।

शंका। यदि इस वर्तमान देह करके जन्य धर्माधर्मको इस वर्तमान शरीरके साथ आत्माके सम्बन्धके प्रति कारण मानें तो अवश्य अन्योन्याश्रय दोष हो सकता है। परन्तु हम ऐसा मानते नहीं, किन्तु पूर्वदेह करके जन्य धर्मा-धर्मको इस वर्तमान शरीरके साथ आत्माका सम्बन्धके प्रति हेतु मानते हैं।

और वर्तमान देहका आत्माके साथ सम्बन्ध जनक धर्माधर्मके प्रति पूर्व देहके साथ आत्माका जो सम्बन्ध है, तिस सम्बन्धको कारण मानते हैं। वर्तमान शरीरके साथ आत्माका सम्बन्धको नहीं। जैसे वर्तमान बीजके प्रति पूर्व अङ्कुर कारण है और पूर्व अङ्कुरके प्रति उससे जो पूर्व बीज है सो कारण है, वर्तमान बीज नहीं। इस बीजाङ्कुरन्याय करके शरीरके साथ आत्माका सम्बन्धको तथा धर्माधर्मको प्रवाहरूप करके अनादि होनेसे अन्योन्याश्रय दोष होता नहीं।

समाधान। यह जो अनादि कल्पना है सो अन्धपरम्परा है, अर्थात् प्रमाणशून्य है। तात्पर्य यह है कि जैसे बीजसे अङ्कुर होता है तथा तिस अङ्कुरसे बीजान्तर होता है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण करके देखनेमें आता है। तैसे आत्माका वर्तमान देहके साथ सम्बन्ध पूर्व धर्माधर्मकृत है, तथा पूर्वधर्माधर्म आत्माका पूर्व देहके साथ सम्बन्धकृत है। ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण करके देखनेमें नहीं आता। इस अर्थमें कोई श्रुतिप्रमाण भी श्रवणमें नहीं आता। उलटा 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादिक श्रुति आत्मामें सर्व कर्तृत्वादि धर्मको निषेध करती है। अतः बीजाङ्कुरवत् अनादि कल्पना प्रमाणशून्य है। और आत्मामें कर्तृत्वादिक नहीं बन सकता इस अर्थमें युक्तिको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:-

क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। **अर्थ**—आत्मामें क्रियाके समवायका अभाव होनेसे कर्तृत्व नहीं बन सकता है इति। अर्थात् प्रसङ्गमें क्रियापद करके क्रियाकी जनक कृतिका ग्रहण करना, क्योंकि कृतिवालेका नाम कर्ता है। और नित्य निर्विकार कूटस्थरूप आत्मामें कृतिका अभाव होनेसे कर्तृत्वका अभाव सिद्ध होता है।

शंका। जैसे राजादिकोंमें स्वगत क्रियाका अभाव हुये भी सत्तामात्रसे भृत्यादिकोंकी क्रियाका कर्तृत्व देखनेमें आता है। तैसे स्वतः निष्क्रिय कूटस्थरूप आत्मामें शरीरादिकोंकी क्रियाका कर्तृत्व बन सकता है।

समाधान। राजादिकोंने धनादिकोंको देकर भृत्यको स्वीकार किया है, अतः स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध करके भृत्यका सम्बन्धी होनेसे राजादिकोंमें भृत्यके कार्यका कर्तृत्व बन सकता है। और आत्माको सदा असङ्ग होनेसे शरीरादिकोंके साथ स्वस्वामिभावरूप सम्बन्धका निमित्त धनादिकी तरह कुछ बन सकता नहीं। अतः आत्मामें कर्तृत्वकी कल्पना नहीं कर सकते। और अविद्यारूपी भूमिमें बीजाङ्कुरकी तरह वर्तमान देह तथा कर्मका आत्माके साथ जो सम्बन्ध प्रतीत होता है तिसमें मिथ्याभिमानरूप भ्रान्तिकृतत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः भगवान् भाष्यकारने भ्रान्तिकृत शरीरादिकोंके साथ सम्बन्ध करके आत्मामें अप्रतिबद्ध ब्रह्मसाक्षात्कारसे पूर्व यागादिकोंका यजमानत्व अर्थात् कल्पित कर्तृत्वको बोधन किया है। इस करके 'यजेत' इत्यादिक विधिकी अनुपपत्ति भी नहीं होती है इति।

अब प्रभाकरके मतानुयायियोंका मतको दिखाते हैं:—**'देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मन आत्मीये देहादावभिमानो गौणो न मिथ्येति चेद्'** इति भाष्यम्। अर्थ—देहादिकोंसे भिन्न आत्माका आत्मसम्बन्धी देहादिकोंमें जो आत्माभिमान है सो गौण है। जैसे 'सिंहोऽयम् पुरुषः' इस स्थलमें पुरुषमें जो सिंहाभिमान है सो गौण है। तैसे देहादिकोंमें जो 'अहं' यह आत्माभिमान है सो भी गौण है मिथ्या नहीं इति। इसका तात्पर्य यह है कि जब देहादिकोंमें आत्माभिमान गौण हुआ तब भ्रान्तिरूप मिथ्या नहीं हुआ। और जब भ्रान्तिरूप मिथ्याभिमानका अभाव हुआ तब आत्माका देहादिकोंके साथ जो सम्बन्ध है सो सत्य होगा। और देहादिकोंके साथ आत्माका सम्बन्ध जब सत्य हुआ तब सत्य वस्तुकी निवृत्ति ज्ञान करके नहीं होगी। अतः 'जीवन्मुक्त पुरुषमें जीवद्दशामें ही सशरीरत्वका अभाव है' यह जो सिद्धन्तीने कहा था सो असङ्गत है। क्योंकि जीवद्दशामें जीवन्मुक्त पुरुषमें सशरीरत्व रहता है यह पूर्वोक्त रीतिसे सिद्ध हुआ इति।

यह प्राभाकरोंका कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि **प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धेः**, इति भाष्यम्। अर्थ—जिस पुरुषको दो वस्तुवोंका परस्पर भेद प्रसिद्ध है कहिये ज्ञात है अर्थात् जो पुरुष दो वस्तुवोंके परस्पर भेदको जानता है तिस पुरुषमें गौणमुख्यज्ञानका आश्रयत्व रहता है इति। जैसे अन्वयव्यतिरेक करके "सिंह शब्दका तथा सिंह शब्द जन्य प्रत्ययका विषय मुख्य केसरादिमान् आकृतिविशेष पुरुषसे भिन्न है, और प्रायः करके क्रौर्य शौर्यादिक सिंहगुणों करके सम्पन्न सिंहसे भिन्न पुरुष है" ऐसा जो पुरुष जानता है तिस पुरुषको पुरुषमें सिंह शब्द तथा सिंह शब्द जन्य शाब्द बोधरूप प्रत्यय गौण होता है। और जो पुरुष दो वस्तुवोंके परस्पर भेदको नहीं जानता है तिस पुरुषको शब्द तथा प्रत्यय गौण नहीं होता है। और दो वस्तुवोंके परस्पर भेदज्ञान शून्य पुरुषको अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुका जो शब्द तथा शब्द जन्य प्रत्यय होता है सो मिथ्याभिमानरूप भ्रान्ति निमित्तक होता है। जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशय स्थलमें मन्द अन्धकाररूप दोषके बलसे 'स्थाणुरयम्' 'यह स्थाणु है', इस प्रकार नहीं गृहीत है विशेष जिसका ऐसे स्थाणुविशेषमें जो पुरुषशब्द तथा पुरुषशब्दजन्य प्रत्यय स्थाणुविषयक है, सो गौण नहीं अर्थात् गुणका ज्ञान करके जन्य नहीं, किन्तु संशयमूलक है। और जब संशयमूलक शब्द तथा प्रत्यय गौण नहीं हुआ, तब विपर्ययमूलक शुक्तिमें 'इदं रजतम्' यह शब्द और प्रत्यय गौण नहीं होता है इसमें क्या कहना है। तैसे गुणका ज्ञानसे विना आत्मा अनात्माका अविवेक करके उत्पद्यमान जो देहादिक संघातमें 'अहम्' इस प्रकारका शब्द तथा शब्दजन्य प्रत्यय है तिसको गौण नहीं कह सकते, किन्तु भ्रान्तिमूलक ही कहना होगा।

शंका। अविवेकी पुरुषको अविवेक करके उत्पन्न जो देहादिकोंमें 'अहं'

शब्द तथा प्रत्यय है सो मिथ्या रहो। परञ्च आत्मा अनात्माके विवेकवाले जो पण्डित हैं तिनोंको शब्द तथा प्रत्यय गौण होगा।

समाधान। नहीं उत्पन्न हुआ ब्रह्मरूपतत्त्वसाक्षात्कार जिनको ऐसे जो केवल श्रवण मननमें कुशलता मात्र करके पण्डित हैं, तिनोंको भी बकरी भेड़को पालन करनेवाले पुरुषोंके समान ही अविवेक करके उत्पन्न जो देहादिकोंमें 'अहं' शब्द तथा प्रत्यय है सो भ्रान्तिकृत है। अतः देहादिकोंसे भिन्न करके आत्माको माननेवाले वादियोंको देहादिकोंमें जो 'अहं' इस प्रकारका आत्माभिमान है सो मिथ्या है अर्थात् भ्रमरूप है। और देहादिकोंमें अहं प्रत्ययरूप भ्रम करके जन्य होनेसे सशरीरत्व भ्रान्तिमूलक है। और जीवन्मुक्त पुरुषमें भ्रान्ति रूप कारणका अभाव होनेसे सशरीरत्व रूप कार्यका भी अभाव है। अतः जीवन्मुक्त पुरुषमें अशरीरत्व सिद्ध हुआ।

अब इसी अर्थमें श्रुति आदिक प्रमाणोंको दिखाते हैं। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।** अर्थ—इस पुरुषके अन्तःकरणमें स्थित जो विषयोंमें इन्द्रियादिकोंके प्रवर्तक वासनारूप काम हैं सो जिस कालमें निवृत्त हो जाते हैं इस हेतुसे तिस कालमें ही मरण धर्मवाला हुआ भी मनुष्य अमृतरूप होता है इति। प्रसंगमें अमृत क्या है? ऐसी जनककी आशंकाके हुये याज्ञवल्क्य कहते हैं–इस शरीरमें स्थित हुवा ही विद्वान् अमृत रूप जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका स्वरूप ही होता है इति।

शंका। ब्रह्मविद्याकी उत्पत्ति हुये भी यदि पूर्वकी तरह देहमें ही विद्वान् वर्तमान रहा तो ब्रह्मविद्या व्यर्थ हुई?

समाधान। जीवन्मुक्तके देह तथा जीवन्मुक्तमें दृष्टान्तको दिखाते हैं:– **'तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते।** अर्थ– लोकमें जैसे अहिनिर्ल्वयनी कहिये जो सर्पकी त्वचा है सो 'मृता' कहिये सर्पके शरीरसे विनिर्मुक्त हुई सर्पका आश्रय वल्मीकमें 'प्रत्यस्ता' कहिये सर्प करके त्यक्त हुई वर्तमान है, और सर्प उस त्वचामें अहंताममताभाव करके रहित होता है। तैसे स्थूलादिक शरीरोंको अनात्मरूप होनेसे जीवन्मुक्त पुरुष करके त्यक्त हैं इति। अर्थात् स्थूलादिक शरीर मरे हुयेकी तरह आत्माके साथ अहंताममतारूप सम्बन्ध रहित होते हैं। इस कारणसे जीवन्मुक्त पुरुष इस शरीरमें वर्तमान हुआ भी शरीर करके रहित ही होता है।

और **अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव।** अर्थात् स्थूलादिक शरीरमें अहंताममताभाव करके रहित होनेसे यह विद्वान् अशरीर है, अमृतरूप है, और प्राणस्वरूप है। प्रसङ्गमें 'प्राण' शब्द करके साक्षीका ग्रहण करना, पञ्चवृत्तिवाला प्राणको ग्रहण नहीं करना। क्योंकि 'प्राणस्य प्राणम्' इस श्रुतिमें पञ्च वृत्तिवाला प्राणका प्राणको साक्षीरूप कहा है। सो प्राण अशनायादिकों करके रहित ब्रह्मरूप परमात्मा ही है। पुनः वह ब्रह्म 'तेजः' स्वरूप है अर्थात् विज्ञान

ज्योतिः स्वरूप है। अतः जीवन्मुक्त पुरुषमें पूर्वकी तरह सशरीरत्वका अभाव होनेसे ब्रह्मविद्या व्यर्थ नहीं हो सकती इति।

और इसी अर्थमें श्रुत्यन्तरको दिखाते हैं:—'सचक्षुरचक्षुरिव' इत्यादि। अर्थ—वास्तवसे आत्मा चक्षु करके रहित भी है परञ्च बाधित चक्षुकी अनुवृत्ति करके सचक्षुकी तरह प्रतीत होता है, तथा कर्ण करके रहित हुआ भी बाधित कर्णकी अनुवृत्ति करके सकर्णकी तरह प्रतीत होता है, तथा वाक् करके रहित हुआ भी सवाक्की तरह प्रतीत होता हैं, तथा मन करके रहित हुआ भी मन सहितकी तरह प्रतीत होता है, तथा प्राण करके रहित हुआभी सप्राणकी तरह प्रतीत होता है इति। और 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादि वचनों करके स्थित-प्रज्ञ पुरुषका लक्षणको कहते हुये श्रीकृष्ण महाराजने भी ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त पुरुषमें सर्व प्रवृत्तिके असम्बन्धको दिखाया है। अतः पूर्वोक्त श्रुति स्मृति करके यह अर्थ सिद्ध हुआ कि निश्चित ब्रह्मात्मभाव पुरुषमें प्रथम अज्ञान दशामें जैसा संसारित्व रहा तैसा संसारित्व नहीं रहता है। और जिस पुरुषमें प्रथमकी तरह संसारित्व रहता है वह पुरुष निश्चित ब्रह्मात्मभाववाला नहीं है। और 'अनवद्यम्' इस वचन करके भाष्यकार भगवान्ने यह सूचन किया है कि वेदान्तके श्रवणजन्य प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मका ज्ञानसे मुक्तिका लाभ होता है; अतः वेदान्तमें प्रामाण्य सिद्ध हुआ। तथा हितका शासन होनेसे वेदान्तमें शास्त्रत्व भी निर्दोषरूप करके स्थित है, कार्यविधिपरक वेदान्तशास्त्र नहीं है इति।

वेदान्तशास्त्र विधिपरक है ऐसा कहनेवाले वादीको पूछना चाहिये—वेदान्तशास्त्र श्रवणविधिपरक है। अथवा मननविधि परक है। व निदिध्यासन-रूप उपासनामें विधि है। व ज्ञानमें विधि है। इनमेंसे कोई पक्ष भी नहीं बन सकता। क्योंकि हेय उपादेयविषयक विधि होती है। हेय उपादेय सो होता है जिसको पुरुष करनेमें न करनेमें व अन्यथा करनेमें समर्थ होता है। तिसी विषयमें समर्थ पुरुष कर्ता अधिकारी नियोज्य होता है। अर्थात् विषय और नियोज्यविधिके व्यापक हैं। और आत्मश्रवण, मनन, और निदिध्यासनरूप उपासना व दर्शन ऐसे हैं नहीं। अतः वेदान्तमें विधिके व्यापक विषय और नियोज्यका अभाव होनेसे व्याप्य विधिका अभाव है। क्योंकि अद्वितीय ब्रह्ममें 'तत्त्वमसि' इत्यादिक सम्पूर्ण श्रुतियोंके तात्पर्यनिश्चयका नाम श्रवण है। इस अद्वितीय ब्रह्मविषयक प्रत्ययरूप श्रवणका ज्ञान है अथवा नहीं है? द्वितीय पक्षमें श्रवणके ज्ञान विना श्रवणमें कर्तव्यताका ज्ञान नहीं होनेसे अनुष्ठान नहीं बन सकेगा। तथा च अनुष्ठानके अयोग्य विषयमें विधि व्यर्थ होगी। और प्रथम अवगम पक्षमें श्रवणको सिद्ध होनेसे हान तथा उपादान नहीं बन सकेगा।

शंका। सामान्यरूपसे तात्पर्यका अवगमरूप श्रवणका विधान मानना चाहिये।

समाधान। सम्पूर्ण वेदोंका सफल अर्थको बोधन करनेवाली 'स्वाध्या-योऽध्येतव्य' इस अध्ययनविधि करके ही कर्मकाण्डकी तरह ज्ञानकाण्डरूप

वेदान्तका भी सामान्यरूपसे अर्थविषयक तात्पर्यका अवगमरूप श्रवण सिद्ध ही है। अत ऐसे श्रवणे विधानके वास्ते 'श्रोतव्यः' इस विधिको स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु विषयविशेषरूप अद्वितीय अखण्ड ब्रह्मविषयक न्याय पूर्वक तात्पर्यका अवधारण ही प्रकृतमें श्रवण शब्दका अर्थ स्वीकार करना होगा। तथा च ऐसे श्रवणकी विधिसे प्रथम अवगम व अनवगम पक्षके दोष अवश्य होवेंगे। अर्थात् अखण्ड अद्वितीय ब्रह्ममें न्यायबलसे वेदान्तके तात्पर्यका अवगमरूप श्रवणविषयक विधिका ही स्वीकार करना होगा। तथा च विधिसे प्रथम उक्त अद्वितीय विषयक श्रवणके अवगम व अनवगम पक्षमें दोष कह आये हैं।

शंका। अङ्ग सहित वेदोंके अध्ययनके अनन्तर 'वेदान्तका सगुणमें तात्पर्य है अथवा निर्गुणमें तात्पर्य है' ऐसे सन्देहके होने पर निर्गुणविषयक तात्पर्यके अवगममें विधिका सम्भव हो सकता है।

समाधान। वेदाध्ययनविधिके बलसे वेदार्थनिश्चयमें सफलत्वके निश्चय हुये, 'जो सफल होता है सो विचारणीय होता है' इस नियमसे वेदार्थ-विषयक तात्पर्यनिश्चयके लिये स्वतः ही विचारमें जिज्ञासु प्रवृत्त होता है। अर्थात् कर्मकाण्ड विचारकी तरह अथवा सफल लौकिक विचारकी तरह वेदान्तविचारमें जिज्ञासुकी स्वतः ही प्रवृत्ति बन सकती है। अतः श्रवणमें विधिकी अपेक्षा बने नहीं।

इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म विषयक युक्तिविशेष आलोचनरूप मननमें भी विधि युक्त नहीं है। क्योंकि विधिसे प्रथम मननको यदि अवगत मानें तो मननको सिद्ध होनेसे विधि नहीं बन सकती। यदि अनवगत मानें तो अनवगतका विधान नहीं बन सकता; अज्ञात पदार्थमें कर्तव्यताका बोध नहीं बन सकता इत्यादि कह चुके हैं। और सामान्यरूपसे मननका विधान भी नही बन सकता, क्योंकि 'जो जिस विषयक मनन होता है सो तिस विषयक असम्भावना दोषको दूर करता है' इस नियमसे असम्भावना निरासरूप दृष्ट फलवाले मननमें अधिकारीकी स्वतः ही प्रवृत्ति बन सकती है।

शंका। जैसे 'यजेत' यहां पर यागादि क्रियाको सामान्यरूपसे बतला कर शास्त्र विधान करता है। पुनः अधिकारी सामान्यरूपसे ज्ञात और विहित क्रियाका अनुष्ठान करके यागकी सिद्धि करता है। इसी प्रकारसे शास्त्र द्वारा सामान्यरूपसे ज्ञात और विहित श्रवणमननको विधिप्रयुक्त अनुष्ठान करके अधिकारी सिद्ध करता है। तथा च 'श्रोतव्यो' 'मन्तव्यः' ये विधिवचन युक्त ही हैं।

समाधान। यागादिकोंको क्रियारूप होनेसे और शास्त्रके विना अप्राप्त होनेसे और पुरुषकी कृति करके साध्य होनेसे यागमें विधि उचित है। परन्तु

प्रकृतमें ब्रह्मविषयक चार प्रतिपत्ति (प्रतीति) होती हैं। उपनिषत्श्रवण मात्रसे जो प्रतिपत्ति होती है, तिसका नाम श्रवण है। और विचार सहित उपनिषत्से जो प्रतिपत्ति होती है, तिसका नाम मनन है। और 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्मविषयक चिन्तासन्ततिमयी जो प्रतिपत्ति है, तिसका नाम निदिध्यासन है। और स्वरूप विनिश्चयरूप प्रतिपत्ति चतुर्थी है। ये चारों प्रतिपत्ति ज्ञानरूप होनेसे वस्तुके और प्रमाणके अधीन होती हैं। तथा च प्राप्त होनेसे और कृति साध्य न होनेसे श्रवणादिक विधेय नहीं हैं।

शंका। पूर्वोक्त प्रतिपत्तिरूप श्रवणादिकोंको विधेय न होने पर भी सम्पूर्ण वेदान्तका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यके अवधारणानुकूल व्यापाररूप श्रवणमें, अथवा प्रमाणगतसन्देहनिवृत्तिअनुकूलव्यापाररूप श्रवणमें, और श्रुत अर्थमें असम्भावित्वनिश्चयनिराकरणानुकूलव्यापाररूप मननमें, अथवा प्रमेयगतसंशयनिराकरणानुकूलव्यापाररूप मननमें, और श्रवण व मननके विषयमें विजातीयवृत्तितिरस्कारपूर्वक सजातीयवृत्तिप्रवाहरूप निदिध्यासनमें, अथवा प्रमेयगत विपरीतभावनानिवृत्त्यनुकूल व्यापाररूप निदिध्यासनमें पुरुषकृतिसाध्यत्व होनेसे, अत एव अप्राप्तत्व होनेसे, विधिविषयता बन सकती है।

समाधान। तात्पर्यावधारणरूप श्रवणको अनुमितिरूप होनेसे तदनुकूल व्यापारव्याप्तिज्ञानादिरूप अनुमान प्रमाण ही होगा। तथा च ज्ञानरूप अनुमानमें भी विधिविषयता नहीं बन सकती। एवं प्रमाणगत संशयनिवृत्त्यनुकूल व्यापाररूप श्रवण भी युक्तिरूप व अनुमितिरूप ही होगा। क्योंकि निश्चयके विना संशयकी निवृत्ति होती नहीं। तथा च इस अनुमितिरूप श्रवणमें भी विधिविषयता नहीं बन सकती। और असंभावितत्वनिश्चयकी भी सम्भावितत्वनिश्चयके विना निवृत्ति नहीं हो सकती। और प्रमेयगत 'असम्भावना' शब्द और 'संशय' शब्दका एक ही अर्थ है। तथा च निश्चयरूप उक्त द्विविध मननमें भी ज्ञानरूपता होनेसे विधिविषयता नहीं बन सकती।

शंका। श्रवणमननमें विधिका असम्भव हुये भी चित्तवृत्तिकी सन्तति रूप अथवा ध्यानरूप अथवा उपासनारूप निदिध्यासनको क्रियारूप होनेसे उपासनामें विधि अवश्य अङ्गीकार करनी चाहिये।

समाधान। ब्रह्मविषयक प्रत्ययकी आवृत्तिरूप उपासनामें भी विधि नहीं बन सकती। क्योंकि श्रवणमननकी सिद्धिके उत्तरकालमें ही निदिध्यासन बन सकता है। श्रवणादिकी सिद्धिके विना बने नहीं। तथाच अद्वितीय ब्रह्मविषयक श्रवणकी सिद्धि, अद्वितीय ब्रह्मसिद्धिके विना नहीं हो सकती। क्योंकि विशेषणकी सिद्धिके विना विशिष्टकी सिद्धि बने नहीं। अतः श्रवणकी सिद्धिसे ही एक प्रत्ययरूप उपासना सिद्ध हो चुकी। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्मविषयक मननकी सिद्धि भी अद्वितीय ब्रह्मप्रत्ययके विना नहीं हो सकती।

तथा च प्रत्ययद्वयरूप उपासनाकी भी सिद्धि हो चुकी। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म विषयक प्रत्ययकी आवृत्तिरूप उपासनाका अवगम भी अद्वितीय ब्रह्म विषयक प्रत्यय विना नहीं हो सकता। तथा च प्रत्ययत्रयरूप भी उपासना सिद्ध हो गई। प्रत्ययकी आवृत्ति मात्र ही ध्यान व उपासना व निदिध्यासन शब्दका अर्थ है। शतसहस्र प्रत्ययका नाम ही उपासना नहीं। तथा च जैसे एक वार मुसलपातसे 'सर्वौषधस्य पूरयित्वाऽवहन्ति' यहां अवघातकी सिद्धि होती है, तैसे दो तीन प्रत्ययका नाम ध्यान व उपासना कह सकते हैं।

शंका। जैसे दर्शपूर्णमास प्रकरणमें 'व्रीहीनवहन्ति' यहां पर अवघातका दृष्ट फल होनेसे तण्डुल निष्पत्तिरूप फलकी सिद्धि पर्यन्त अवहनन, अवघात शब्दका अर्थ है। इसी प्रकार ब्रह्मविषयक उपासनाका भी ब्रह्मविषयक साक्षात्काररूप दृष्ट फल होनेसे अद्वितीय ब्रह्म विषयक साक्षात्कार पर्यन्त प्रत्ययकी आवृत्ति ही ध्यान व उपासना शब्दका अर्थ होगा। तथा च ऐसी उपासनामें, अप्राप्त होनेसे विधि वन सकती है।

समाधान। ब्रह्मउपासनाका दृष्ट फल माननेमें भी विधि नहीं हो सकती, क्योंकि "जो जिसकी उपासना होती है सो परिपक्व दशामें तिसका साक्षात्कार करती है" इस नियमसे ही ब्रह्मउपासनामें साक्षात्कारअर्थीकी प्रवृत्तिको प्राप्त होनेसे विधि व्यर्थ होगी। उपायान्तरकी प्राप्ति न होनेसे ब्रह्म-उपासनामें नियमविधि भी नहीं वन सकती।

शंका। ब्रह्मविषयक अविच्छिन्नप्रत्ययसन्ततिका नाम निदिध्यासन व उपासना है। तथा च ऐसी उपासनाको असिद्ध होनेसे विधेय मान सकते हैं।

समाधान। उपासनाउपक्रमकालसे लेकर फलसिद्धि पर्यन्त सर्वथा अविच्छिन्न प्रत्यय करनेको कोई समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इस पक्षमें भोजनादिक व्यवहार भी उच्छिन्न हो जायगा। इस लिये भोजनादिक व्यवहारका व्यवधान अवश्य मानना होगा। तथा च सर्वथा अविच्छिन्न प्रत्ययमें कृति करके साध्यताको न होनेसे, विधिविषयता नहीं बन सकती। अतः विच्छिन्न प्रत्यय सन्ततिका नाम ही ध्यान व उपासना है। ऐसी उपासनामें साधनसम्पन्न जिज्ञासुकी श्रवणमननके अन्तरान्तर प्रवृत्ति स्वतः सिद्ध है।

शंका। उपासनादिकमें अपूर्वविधि व नियमविधिके न होनेपर भी परिसंख्याविधिको अवश्य स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि—**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥** अर्थ—अत्यन्त अप्राप्त विषयमें अपूर्वविधि, पाक्षिक प्राप्त विषयमें नियमविधि, और उभय प्राप्तिमें परिसंख्याविधि होती है इति। तथा च प्रकृतमें विषयवासनाके प्रबल होनेसे पक्षमें

संसारकी तरफ मन आदिकका प्रवाह प्रबल है। शास्त्रजन्य ब्रह्मविषयक चित्त-प्रवाह दुर्बल है। अतः परम हितैषिणी श्रुति माता संसार विषयक चित्तप्रवाहकी निवृत्तिपूर्वक अद्वितीय ब्रह्मविषयक चित्तसन्ततिरूप उपासनामें परिसंख्या-विधिसे प्रवृत्त करती है।

समाधान। सर्वथा संसारविषयक चित्तसन्ततिकी निवृत्ति विधिका फल है, अथवा कथंचित् संसारविषयक चित्तसन्ततिकी निवृत्ति विधिका फल है? प्रथम पक्षमें प्रारब्धके बलसे प्राप्त विषयसम्बन्ध, विधिशतसे भी निवृत्त नहीं हो सकेगा। और द्वितीय पक्षको भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि कथंचित् संसारविषयक चित्तसन्ततिकी निवृत्ति विवेकवैराग्यादि साधनसे ही सिद्ध है, सिद्धमें विधि बने नहीं।

वेदान्तशास्त्रको उपासनाविधिपरक माननेवाले वादीके मतमें भी उपासनाविधिके फलकानिर्णय करना चाहिये। क्या मुक्ति विधिका फल है। अथवा अविद्याका अपनय विधिका फल है। अथवा विद्याका उदय विधिका फल है? इनमेंसे प्रथमपक्ष नहीं बन सकता। क्योंकि "नित्य शुद्ध बुद्ध ब्रह्म ही मोक्षका स्वरूप है, और ब्रह्म ही जीवका स्वरूप है, ब्रह्मात्मकता जीवमें स्वाभाविकी वेदान्तगम्य है" इस अर्थको वादी(वृत्तिकार)भी स्वीकार करता है। तथा च ऐसी नित्य ब्रह्मस्वरूप मुक्ति, विधिका फल कार्यरूप नहीं हो सकती है। और अविद्याका अपनय(ध्वंस)भी विधिका फल नहीं हो सकता। क्योंकि अविद्याका अपनय स्वविरोधिविद्याउदयका फल है। और विद्याका उदय भी उपासना विधिका फल नहीं है। क्योंकि विद्याउदयके प्रति, श्रवणमननपूर्वक उपासनाजनित संस्कार सहित चित्त कारण है।

शंका। उपासनासंस्कारकी तरह उपासनाजनित अपूर्व भी चित्तका सहकारी है, अपूर्वके विना श्रवणादि संस्कृत चित्तसे भी विद्याका उदय बने नहीं। क्योंकि दृष्टफल भी विधिका देखा गया है, जैसे खेतीके सूखने पर कारीरीयागका फल वर्षाका उदय दृष्ट है।

समाधान। विद्याके उदयमें उपासनाजन्य अपूर्व हेतु नहीं है; किन्तु श्रवण व मनन व उपासना जनित संस्कार करके संस्कृत चित्त ही विद्याके उदयमें कारण है। अपूर्वके विना ही जैसे गान्धर्वशास्त्रकी उपासनाके संस्कार षड्जादि स्वरभेद साक्षात्कारमें हेतु हैं। इसी प्रकारसे वेदान्तशास्त्रकी उपासनाके संस्कार ही जीवसे अभिन्न ब्रह्मसाक्षात्कारमें हेतु हैं। निर्गुण ब्रह्म विषयक उपासनाजन्य अपूर्वका स्वीकार वेदान्तसिद्धान्तमें नहीं है।

और प्रथम वादीने कहा था कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिमें श्रवणसे अनन्तर मनननिदिध्यासनका दर्शन होनेसे मनननिदिध्यासन विधिका शेषत्व ब्रह्ममें रहता है; अन्यथा मननादिकोंका विधान व्यर्थ

होगा; अतः, उपासनाविधिपर वेदान्त है। और उपासनाविधिका शेषरूप करके ब्रह्मको बोधन करता है, सिद्ध ब्रह्मको नहीं। यह भी पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है। मननिदिध्यासनमें विधि नहीं है। क्योंकि यद्विषयक मनन व निदिध्यासन होता है, सो मनन व निदिध्यासन तद्विषयक संस्कारप्रचयद्वारा तद्विषयक साक्षात्कारको पैदा करता है। यह नियम अन्वय व्यतिरेक करके सिद्ध है। जैसे गान्धर्व शास्त्रके श्रवणके अनन्तर षड्जादि विषयक मनन व निदिध्यासन षड्जादि स्वरविषयक साक्षात्कारको पैदा करता है। तैसे वेदान्तशास्त्रके श्रवणके अनन्तर ब्रह्मविषयक मनन व निदिध्यासन ब्रह्मविषयक साक्षात्कारका हेतु सिद्ध है। अतः सिद्ध मननादिनिष्ठ साक्षात्कारहेतुत्वका विधिके सदृश 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि वचन अनुवाद करते हैं। अर्थात् श्रवणकी तरह मननिदिध्यासनमें भी अवगतिजनकत्वको बोधन करते हुये श्रवणादिकोंमें प्राशस्त्यके बोधन द्वारा अनात्मचिन्तामें अरुचि करके आत्मचिन्तामें रुचि अतिशयको पैदा करते हैं। इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं:-

न, अवगत्यर्थत्वान्मननिदिध्यासनयोः । इति भाष्यम्। अर्थ—अप्रतिबद्ध ब्रह्मसाक्षात्कारका नाम अवगति है, ऐसी अवगतिरूप प्रयोजनवत्त्व मनन व निदिध्यासनमें रहता है, इस लिये ब्रह्म विधिका शेष नहीं इति।

शंका। ज्ञानमें विधि क्यों न हो?

समाधान। ज्ञान विधेय नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्ववादी यहां प्रष्टव्य है। विधेय आत्मज्ञान शाब्दबोध रूप है, अथवा प्रत्यक्षरूप है? प्रत्यक्षमें भी लौकिक 'अहं' प्रत्ययविधेय है। अथवा वेदान्तशास्त्रकी भावनाप्रकर्षसे जन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' यह प्रत्यक्ष विधेय है? परोक्ष ब्रह्मज्ञानरूप शाब्दज्ञान विधेय नहीं हो सकता, क्योंकि स्वाध्यायविधिसे कर्मदर्शनकी तरह यह ज्ञान प्राप्त हो चुका है। और लौकिक 'अहं' यह प्रत्यक्ष भी विधेय नहीं हो सकता। क्योंकि यह 'अहं' प्रत्यय विधिके विना ही सर्वको स्वभावसे सिद्ध है। और 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मसाक्षात्कार भी विधेय नहीं हो सकता। यदि ज्ञानमें विधिको स्वीकार करके, वेदान्तवाक्य करके अवगत ब्रह्म स्वविषयक ज्ञानमें, कर्मकारकरूप करके विनियुक्त होवे, तो ब्रह्ममें विधिका शेषत्व होवे। परं च निश्चित ब्रह्म कर्मकारकरूप करके ज्ञानमें विनियुक्त होता नहीं है। क्योंकि अवगतिकी प्राप्ति कालमें ही सर्व दुःखकी निवृत्तिरूपफलके लाभ होनेसे ज्ञानमें विधि अयुक्त है।

अतः मोक्षको अविद्या अपनयसे, अविद्याअपनयको विद्या उदयसे, विद्याउदयको वेदान्तशास्त्रके श्रवण व मनन व निदिध्यासनाभ्यासप्रकर्षजन्य संस्कारसचिवचिरासे, सिद्ध होनेसे, 'द्रष्टव्यः' 'आत्मानमुपासीत' 'श्रोतव्यः' 'मन्तव्यः' 'निदिध्यासितव्यः' इत्यादिक विधि नहीं हैं। किन्तु 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्यादिक विधिप्रत्यय जैसे विधिके सदृश हैं। तैसे विधिके सदृश हैं।

विधिसदृश प्रत्ययप्रयोगका प्राशस्त्य लक्षणाद्वारा रुचिअतिशयकरत्वरूप फल-को कह आये हैं। इसी प्रकार 'तद्विजिज्ञासस्व' इस श्रुतिमें, और 'ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या' इस भाष्यवचनमें, भी विधिप्रत्यय विधिके सदृश ही हैं। क्योंकि ज्ञान-इच्छारूप विजिज्ञासा कृति साध्य नहीं है।

शंका । ब्रह्मविचारमें विधि होगी।

समाधान । विचारको श्रवणादिरूप होनेसे विचारमें भी विधि नहीं है। यदि श्रवणमननके अनुकूल चेष्टा विचार शब्दका अर्थ स्वीकार किया जाय तो क्रियारूप चेष्टामें विधिविषयता वन सकती है। मोक्षइच्छारूप मुमुक्षामें भी विधि नहीं है। क्योंकि मुमुक्षाकी सिद्धि विवेक वैराग्य षट्सम्पत्तिरूप कारण-सामग्रीसे होती है। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यादिक विधिवचन शमदम आदिक षट्सम्पत्तिके विधायक हैं। 'निर्वेदमायात्' इत्यादिक वचन वैराग्यके विधायक हैं। 'तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत्' इत्यादिक वचन विवेकमें प्रवृत्त करते हैं। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादिक वचन गुरुकी उपसत्तिके विधायक हैं। क्योंकि गुरूपसदनादिक क्रियारूप हैं। तथाच—**यत्र विधिविषयत्वम्, तत्र क्रियात्वम्**। जिसमें विधिविषयत्व है, तिसमें क्रियात्व है। जिसमें क्रियात्व नहीं है तिसमें विधिविषयत्व भी नहीं है—अर्थात् क्रियात्व विधिविषयताका व्यापक है। ज्ञानमें व्यापक क्रियात्वके न होनेसे तद्व्याप्य विधिविषयत्व भी नहीं वन सकता इति।

इतने करके यह सिद्ध हुआ कि विधिका असम्भव* होनेसे उपासना-

---

* 'द्रष्टव्यः' 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि स्थलमें विधिका असम्भव होने पर भी 'श्रोतव्यः' 'मन्तव्यः' इत्यादि स्थलमें विधिप्रत्ययका सम्भव बन सकता है। क्योंकि अद्वितीय ब्रह्मविषयकतात्पर्यावधारणरूप, अथवा तात्पर्यावधारणानु-कूल व्यापाररूप श्रवणको, और अद्वितीय ब्रह्मविषयक युक्त्यालोचनरूप मननको क्रियारूप होनेसे और पुरुषकृति करके साध्य होनेसे वस्तु व प्रमाणके अधीन न होनेसे विधिविषयता बन सकती है। जो जिस विषयक श्रवण व मनन होता है सो तद्विषयक साक्षात्कारका हेतु होता है। इस नियमसे श्रवण मननको साक्षात्कारहेतुत्वेन लोकतः प्राप्त होनेपर भी पक्षमें प्राप्त लौकिक प्रत्यक्षा-दिक प्रमाणकी निवृत्ति करके नियमविधिकी उपपत्ति बन सकती है।

शंका । सविशेष स्वरूपमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणकी प्रवृत्ति है। निर्विशेष स्वरूपमें नहीं है। अतः लोकतः पक्षमें भी प्रत्यक्षादिक प्रमाणको अप्राप्त होनेसे नियमविधिका भी सम्भव नहीं वन सकता।

समाधान । आत्मस्वरूप साक्षात्कारमें साधनद्वयके प्रसङ्ग मात्रसे नियमविधिकी उपपत्ति हो सकती है। अन्यथा अपूर्वके साधन व्रीहिमें नखवि-दलनादिको लोकतः प्राप्त न होनेसे 'व्रीहीनवहन्ति' यहां पर भी नियमविधिकी उपपत्ति न हो सकेगी। यह विवरण अनुयायियोंका पक्ष है।

विधिका विषयत्वरूप करके ब्रह्ममें शास्त्रप्रमाणकत्व नहीं है। किन्तु विधिशेषत्वका अभाव होनेसे स्वतन्त्ररूप करके ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है। और सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें समन्वय होनेसे भी वेदान्तशास्त्र ब्रह्ममें प्रमाण है। और पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्मको स्वतन्त्र हुये 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह ब्रह्मविषयक शास्त्रका आरम्भ भी बन सकता है। अर्थात् धर्मसे विलक्षण ब्रह्मरूप प्रमेयका लाभ होनेसे व्यास भगवान्की पूर्वमीमांसासे पृथक् शास्त्रविषयक कृति युक्त है। और यदि वेदान्तशास्त्रको कार्यपरत्व अङ्गीकार करें तो दोनों शास्त्रोंका प्रमेयके भेदका अभाव होनेसे व्यास भगवान्की कृति युक्त नहीं होगी। क्योंकि धर्मके विचारका आरम्भ 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें हो चुका है।

शंका। यद्यपि बाह्य धर्मका विचार पूर्वमीमांसामें हो चुका है। तथापि मानस धर्म विचारके लिये पृथक् शास्त्रका आरम्भ युक्त है।

समाधान। व्यास भगवान्को यदि पृथक् शास्त्रका आरम्भ करना होता तो ऐसा आरम्भ करते—**अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा।** अर्थ—'अथ' कहिये बाह्य साधन यागादिरूप धर्मका विचारसे अनन्तर 'अतः' कहिये बाह्य धर्मको अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा मानस उपासनारूप धर्मका हेतु होनेसे 'परिशिष्ट' कहिये बाकी रहा जो मानस धर्म है सो जिज्ञास्य है इति। इस अर्थमें दृष्टान्तको दिखाते हैं—**'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा'** इति जैमिनीय सूत्रम्—जैमिनि ऋषि, श्रुतिलिङ्गादिकों करके शेषशेषित्वका निर्णयसे अनन्तर, शेषीके साथ शेषके प्रयोगका सम्भव होनेसे, 'क्रतुका शेष कौन है तथा पुरुषका शेष कौन है' इस प्रकार जिज्ञासाको दिखाये हैं। तद्वत् व्यास भगवान् 'अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा' ऐसा शास्त्रका आरम्भ तो किये नहीं। अतः मानस धर्मका विचारके लिये पृथक् शास्त्रका आरम्भ अयुक्त है। और जैमिनि ऋषिने ब्रह्मका विचार नहीं किया है। इसलिये ब्रह्म तथा आत्माके ऐक्यकी अवगतिको अप्रतिज्ञात होनेसे ब्रह्मात्माके ऐक्यका साक्षात्कारके लिये 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस शास्त्रका आरम्भ युक्त है।

शंका। जब अद्वैत ही वेदका अर्थ हुआ तब द्वैतकी अपेक्षावाले विधियोंकी तथा वेदान्त भिन्न प्रमाणोंकी क्या गति होगी?

समाधान। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारका साक्षात्कारसे पूर्व ही सम्पूर्ण विधियोंमें तथा इतर प्रामाणोंमें प्रामाण्य है, ब्रह्मसाक्षात्कारसे अनन्तर नहीं। क्योंकि अहेय तथा अनुपादेय अद्वितीय ब्रह्मात्माका साक्षात्कारकरके विधि तथा इतर प्रमाणोंके विषय प्रमाताप्रमेयादिक सर्व नष्ट हो जाते हैं। अतः प्रमातादिक विषयोंका अभाव होनेसे विधि तथा इतर प्रमाणादिक निर्विषयक हुये प्रमाणरूप नहीं हो सकते इति।

और ब्रह्म कार्यका शेष नहीं है। और ब्रह्मसाक्षात्कारसे प्रथम ही प्रमाता-

प्रमेयादिविषयक व्यवहार होता है, ब्रह्मबोधसे अनन्तर नहीं। इस अर्थमें ब्रह्मवित्पुरुषकी गाथाको भाष्यकार भगवान् दिखाते है :—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत् ॥१॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥२॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥३॥ इति ॥

अर्थ—जैसे अपनेमें स्थित सुखदुःख करके 'अहं सुखी, अहं दुःखी' ऐसा प्रत्यय होता है, तैसे पुत्रादिकोंमें स्थित सुखदुःख करके भी 'अहं सुखी, अहं दुःखी' ऐसा प्रत्यय होता है। अतः पुत्रदारादिकोंमें जो आत्माभिमान है सो सुखदुःखादिक गुण निमित्तक होनेसे गौण है। और देहइन्द्रियादिकोंमें 'नरोऽहम् , कर्ताऽहम्' इस प्रकारका जो आत्माभिमान है सो गौण नहीं, किन्तु शुक्तिमें रजतज्ञानवत् मिथ्या है। और पूर्वोक्त जो द्विविध आत्माभिमान है सोई सम्पूर्ण व्यवहारको चलानेवाला है। और 'त्रिकालाबाध्यसद्रूप ब्रह्म मैं हूँ' ऐसा अभेद साक्षात्कारके हुये पुत्रदेहादिकोंकी सत्ताका बाध होता है। अर्थात् माया मात्रत्वका निश्चय होता है। अतः 'अयमहमेव' 'पुत्रादिक मैं हूँ' इस प्रकारका पुत्रादिकोंमें गौण स्वरूप जो 'अहं' अभिमान है। तथा 'मनुष्योऽहम्, मैं मनुष्य हूँ इस प्रकारका देहादिकोंमें मिथ्यास्वरूप जो 'अहं' अभिमान है, तिस द्विविध अभिमानका अभाव होता है। और सम्पूर्ण व्यवहारका कारण द्विविध आत्माभिमानका अभाव होनेसे विधिनिषेधादिक कार्यरूप व्यवहार किस प्रकार होगा? अर्थात् न होगा ॥१॥

शंका। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह बोध बाधित है, क्योंकि अहं शब्दका अर्थ जो प्रमाता है तिसमें ब्रह्मत्व है नहीं।

समाधान। शुद्ध ब्रह्ममें जो प्रमातृत्व है सो अज्ञान करके विलसित अन्तःकरणका तादात्म्यकृत है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान भ्रमरूप नहीं।

इस अर्थको दिखाते हैं :—**'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-विशोकः' 'सोऽन्वेष्टव्यः'** इति श्रुतिः। अर्थ—जो आत्मा पापादिक दोष करके रहित है, जरा करके रहित है, मृत्यु करके रहित है, शोक करके रहित है, सो आत्मा ढूंढ़नेको योग्य है इति। तात्पर्य यह है कि जाननेके योग्य आत्माके ज्ञानसे प्रथम ही अविद्यादिक उपाधिकृत शुद्ध आत्मामें प्रमातृत्व रहता है। और प्रमाता ही ज्ञात हुआ पापरागद्वेषजरामरणशोकादिकों करके रहित परमात्मस्वरूप है ॥२॥

शंका। यदि आत्मामें प्रमातृत्वको कल्पित मानोगे तो प्रमाताके आश्रित प्रमाणोंमें प्रामाण्य किस प्रकार होगा?

समाधान। जैसे देहमें 'ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादि प्रत्यय भ्रमरूप भी है। परं च

व्यवहारका अङ्गरूप होने से वैदिक पुरुषोंने प्रमारूप माना है। तैसे लौकिक प्रत्यक्षादिक प्रमाण भी आत्माके बोधसे प्रथम व्यवहारके अङ्ग होने से, तथा व्यवहार कालमें बाधका अभाव होने से, व्यावहारिक प्रमाण हैं। और वेदान्त-शास्त्रमें अनधिगत नित्य वस्तुका बोधकत्व होनेसे तथा विषयके बाधका अभाव होनेसे, यथार्थ तत्त्वका बोधकत्वरूप प्रामाण्य है ॥३॥ इति चतुर्थसूत्रव्याख्या समाप्ता ॥४॥ इति समन्वयाधिकरणंसमाप्तम् ॥

॥ इति चतुःसूत्री समाप्ता ॥

श्रीगणेशं नमस्कृत्य, काशीविश्वेश्वरं तथा।
व्यासञ्च शङ्कराचार्यम्, श्रीगुरूंश्च नमाम्यहम् ॥

भाष्यकार भगवान् पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्माभिन्न प्रत्यगात्मविषयक साक्षात्कार है प्रयोजन जिनका, तथा विधेयकार्यमें प्रवेशसे विना ही ब्रह्ममें तात्पर्य करके समन्वित, ऐसे जो वेदान्तवाक्य हैं, तिनका, एक अद्वितीय ब्रह्ममें ही पर्यवसानको कह आये हैं। और ब्रह्म सर्वज्ञ है तथा सर्व शक्तिवाला है तथा जगत्की उत्पत्तिस्थितिनाशका कारण है यह भी कह आये हैं। और सूत्रकार व्यास भगवान्ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रसे ब्रह्मविषयक जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके, 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रसे आदि लेके 'तत्तु समन्वयात्' इत्यन्त सूत्रसमूह पर्यन्त जो सर्वज्ञ सर्वशक्ति है तथा जगत्की उत्पत्ति स्थिति नाशका कारण है, तिसमें सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रकी प्रमाणरूपता उपपादन करी है। यद्यपि सर्वज्ञ सर्वशक्ति तथा जगत्की उत्पत्ति स्थिति नाशका कारण वस्तुतः ब्रह्म ही है; तथापि अभीतक व्यास भगवान्ने "ब्रह्म चेतन ही जगत्का कारण है, अचेतन जगत्का कारण नहीं है" यह सिद्ध नहीं किया है। इससे यहां संशय होता है कि जगत्का उपादान कारण चेतन है, अथवा अचेतन है ?

तहां सांख्यवादी कहता है कि-कार्यं, जड़प्रकृतिकं, कार्यत्वात्, घटवत्। अर्थ—जैसे घटरूप दृष्टान्तमें कार्यत्वरूप हेतु है, और जड़मृत्तिकाप्रकृतिकत्व साध्य है। तैसे कार्यरूप पक्षमें कार्यत्वरूप हेतु है, अतः जड़रूपप्रधानप्रकृतिकत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सिद्ध जो प्रधान है तिस प्रधानमें ही सम्पूर्ण वेदान्तका समन्वय होता है, प्रमाणान्तरगम्य सिद्ध ब्रह्ममें नहीं क्योंकि सिद्ध वस्तु घटादिक मानान्तरगम्य ही होता है।

और काणाद कहते हैं कि-जन्यं, बुद्धिमत्कर्तृकं, कार्यत्वात्, घटादिवत्। अर्थ--जैसे घटरूप दृष्टान्तमें कार्यत्वरूप हेतु है, और बुद्धिमत्कुलालकर्तृकत्व साध्य है। तैसे जन्य प्रपञ्चरूप पक्षमें कार्यत्वरूप हेतु है, अतः बुद्धिमत् चेतनरूप ईश्वर करके जन्यत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सिद्ध ईश्वर जगत्का निमित्त कारण है। तथा-द्व्यणुकादिकं, स्वन्यूनपरिमाणवद्द्रव्यजन्यं, कार्यद्रव्यत्वात्,

घटादिवत् । अर्थ—जैसे घटरूप दृष्टान्तमें कार्यद्रव्यत्वरूप हेतु है, और घटसे न्यून परिमाणवाला कपालरूपद्रव्यजन्यत्व साध्य है। तैसे द्वयणुरूप पक्षमें कार्यद्रव्यत्वरूप हेतु है, अतः द्वयणुकसे न्यून परिमाणवाला परमाणुरूप द्रव्यजन्यत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सिद्ध जो पार्थिवपरमाणु, जलीयपरमाणु, तैजसपरमाणु, वायवीय परमाणु हैं सो चतुर्विध परमाणु, चेतन ईश्वर रूप निमित्त कारण करके अधिष्ठित जगत्के उपादान कारण हैं। अनुमान सिद्ध ईश्वर को ही वेद कहता है; ब्रह्ममें वेद स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है इति।

और शून्यवादी बौद्ध कहता है कि—असद्वा इदमग्र आसीत् इत्यादिक श्रुतिसिद्ध जो अभाव है सो जगत्का उपादान कारण है। और इसी तरह अन्य अन्य वादी भी स्व स्व बुद्धिके अनुसार जगत्कारणका वर्णन करते हैं।

और वेदान्त शास्त्रके ज्ञाता ब्रह्मवित्पुरुष इस प्रकार कहते हैं कि अनिवर्चनीय अनादि अविद्यारूप शक्तिवाला जो चेतन है सो जगत्का उपादान कारण है। इत्यादि पूर्वोक्त वादियोंकी परस्पर विप्रतिपत्ति कहिये विवादके होनेसे 'जगत्का उपादान कारण चेतन है या अचेतन है' ऐसा **संशय** होता है।

यहां वाक्याभास तथा युक्त्याभासको आश्रयण करके पूर्वपक्षी लोग अपने अपने मतको सिद्ध करनेके लिये सन्नद्ध होते हैं। इस प्रकार वादियोंके विद्यमान हुये वेदवेदाङ्ग व्याकरण मीमांसा न्यायशास्त्रादिकोंको जाननेवाले आचार्य भगवान् वेदान्तशास्त्रमें असङ्ग प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मपरत्व प्रदर्शनके लिये वाक्याभास तथा युक्त्याभास विषयक निश्चयवाले वादियोंको पूर्वपक्ष करके निराकरण करते हैं।

अब तिन वादियोंके मध्यमें प्रथम सांख्यवादीका पूर्वपक्षको दिखाते हैं।

अथ पूर्वपक्षः । त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधान जगत्का कारण है इस प्रकार मानते हुये सांख्यवादी कहते हैं कि, प्रधान तथा पुरुष तथा प्रधानपुरुषका संयोग यह तीनों अनुमेय हैं। तहां प्रधानका साधक 'यत्कार्यं तत् जड़प्रकृतिकं' इस अनुमानको समीपमें ही कह आये हैं।

और अचेतन प्रधानकी जो प्रवृत्ति है सो स्वार्थ निमित्तक नहीं किन्तु पुरुषके जो भोग मोक्षादिक हैं तन्निमित्तक ही प्रधानकी प्रवृत्ति होती है। अतः पुरुषका साधक अनुमान प्रमाणको दिखाते हैं:—बुद्धौ यः प्रतिबिम्बः स, तादृशबिम्बपूर्वकः, प्रतिबिम्बत्वात्, दर्पणे मुखप्रतिबिम्बवत् । अर्थ—जैसे दर्पणनिष्ठ मुखका प्रतिबिम्बरूप दृष्टान्तमें प्रतिबिम्बत्वरूप हेतु है, और प्रतिबिम्बके सदृश मुखरूप बिम्बपूर्वकत्व साध्य है। तैसे बुद्धिमें जो प्रतिबिम्ब है तिस प्रतिबिम्बरूप पक्षमें प्रतिबिम्बत्वरूप हेतु है, अतः बुद्धिगत प्रतिबिम्बके सदृश बिम्बपूर्वकत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सिद्ध जो बिम्ब है सोई चेतन पुरुष है। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि चेतनके निमित्त अचेतन जड़ वस्तुकी प्रवृत्ति होती है, इसमें लोक

प्रसिद्ध कोई दृष्टान्त नहीं है। सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि लोकमें यह वार्ता प्रसिद्ध है कि चेतन जो वत्सादिक हैं, तिनोंके निमित्त जड़ दुग्धकी प्रवृत्ति होती है।

और इसी प्रकार प्रधान पुरुषका संयोग भी जिस अनुमान करके सिद्ध होता है तिस अनुमानको दिखाते हैं:—'प्रधानं, चेतनसंयुक्तम्, जड़त्वात्, रथादिवत्। अर्थ—जैसे रथादिक दृष्टान्तमें जड़त्वरूप हेतु है, और रथको चलानेवाले चेतन पुरुषादिकोंका संयोगरूप साध्य भी है। तैसे प्रधानरूप पक्षमें जड़त्वरूप हेतु है, अतः चेतन पुरुषका संयोगरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। और जितने वेदान्तवाक्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्ममें जगत्का कारणत्वको दिखाते हैं तिन सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी प्रधानपक्षमें भी योजना कर सकते हैं। और प्रधानका विकार जो महदादिक प्रपंच है तिस प्रपंचकी उत्पत्ति आदिकोंके लिये सर्वशक्तिमत्त्व प्रधानमें भी बन सकता है।

और इसीप्रकार प्रधानमें सर्वज्ञत्व भी बन सकता है। इस अर्थको सांख्यवादी दिखाता है:-'यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः'। इति भाष्यम्। अर्थ-जो तुम ज्ञानको मानते हो सो सत्त्वगुणका धर्म है इति। क्योंकि श्री कृष्ण भगवान्ने १४ अध्याके १७ श्लोकमें कहा है-सत्त्वात्संजायते ज्ञानं। अर्थ-सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है इति। अतः तिस सत्त्वका धर्मरूप ज्ञान करके ही कार्यकरणवाले सर्वज्ञ योगी पुरुष प्रसिद्ध हैं। और प्रकाश स्वभाव सत्त्व होता है। और सत्त्वमें जो निरतिशय उत्कर्ष है सो सर्वज्ञताका बीज प्रसिद्ध है। अर्थात् सत्त्वगुणनिष्ठ निरतिशय उत्कर्षके हुये ही सर्वज्ञत्व होता है। और यदि सिद्धान्ती कहे कि योगी पुरुषोंमें जो सर्वज्ञत्व है सो चेतन अंशमें है अचेतन प्रधान अंशमें नहीं। सो कहना नहीं बन सकता, क्योंकि-कार्यकरणवन्तः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। इस भाष्यवचनमें 'कार्यकरणवन्तः' इस पद करके अचेतन प्रधानका ही ग्रहण किया है। अतः निरतिशय उत्कर्षविशिष्ट जो सत्त्वगुण है तिस सत्त्वगुणवाले प्रधानमें ही सर्वज्ञत्व बन सकता है। और कार्यकरण करके रहित केवल उपलब्धि स्वरूप चेतन पुरुषमें सर्वज्ञत्व वा किञ्चित्ज्ञत्वकी कल्पना नहीं कर सकते हैं।

शंका। सांख्यवादीने कहा कि निरतिशय उत्कर्षविशिष्ट सत्त्वगुणवाले प्रधानमें सर्वज्ञत्व है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि, प्रलय समयमें तीनों गुणोंकी साम्यावस्थावाले प्रधानमें सर्वज्ञत्व नहीं रहेगा। क्योंकि उस प्रधानावस्थामें सर्वज्ञत्वका कारण जो निरतिशय उत्कर्ष है सो सत्त्वगुणमें है नहीं।

समाधान। यद्यपि प्रलयमें सर्वज्ञानका कारणरूपसत्त्वमें सर्वज्ञत्वका प्रयोजक निरतिशय उत्कर्ष नहीं है। तथापि प्रलयावस्थामें भी प्रधानको त्रिगुणात्मक होनेसे सर्वज्ञानका कारण जो सत्त्वगुण है, सो सत्त्वगुण सर्वज्ञानकी

घटादिवत् । अर्थ—जैसे घटरूप दृष्टान्तमें कार्यद्रव्यत्वरूप हेतु है, और घटसे न्यून परिमाणवाला कपालरूपद्रव्यजन्यत्व साध्य है। तैसे द्वयणुकरूप पक्षमें कार्यद्रव्यत्वरूप हेतु है, अतः द्वयणुकसे न्यून परिमाणवाला परमाणुरूप द्रव्यजन्यत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सिद्ध जो पार्थिवपरमाणु, जलीयपरमाणु, तैजसपरमाणु, वायवीय परमाणु हैं सो चतुर्विध परमाणु, चेतन ईश्वर रूप निमित्त कारण करके अधिष्ठित जगत्के उपादान कारण हैं। अनुमान सिद्ध ईश्वर को ही वेद कहता है; ब्रह्ममें वेद स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है इति।

और शून्यवादी बौद्ध कहता है कि—**असद्वा इदमग्र आसीत्** इत्यादिक श्रुतिसिद्ध जो अभाव है सो जगत्का उपादान कारण है। और इसी तरह अन्य अन्य वादी भी स्व स्व बुद्धिके अनुसार जगत्कारणका वर्णन करते हैं।

और वेदान्त शास्त्रके ज्ञाता ब्रह्मवित्पुरुष इस प्रकार कहते हैं कि अनिर्वचनीय अनादि अविद्यारूप शक्तिवाला जो चेतन है सो जगत्का उपादान कारण है। इत्यादि पूर्वोक्त वादियोंकी परस्पर विप्रतिपत्ति कहिये विवादके होनेसे 'जगत्का उपादान कारण चेतन है या अचेतन है' ऐसा **संशय** होता है।

यहां वाक्याभास तथा युक्त्याभासको आश्रयण करके पूर्वपक्षी लोग अपने अपने मतको सिद्ध करनेके लिये सन्नद्ध होते हैं। इस प्रकार वादियोंके विद्यमान हुये वेदवेदाङ्ग व्याकरण मीमांसा न्यायशास्त्रादिकोंको जाननेवाले आचार्य भगवान् वेदान्तशास्त्रमें असङ्ग प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मपरत्व प्रदर्शनके लिये वाक्याभास तथा युक्त्याभास विषयक निश्चयवाले वादियोंको पूर्वपक्ष करके निराकरण करते हैं।

अब तिन वादियोंके मध्यमें प्रथम सांख्यवादीका पूर्वपक्षको दिखाते हैं।

अथ पूर्वपक्षः । त्रिगुणात्मक अचेतन प्रधान जगत्का कारण है इस प्रकार मानते हुये सांख्यवादी कहते हैं कि, प्रधान तथा पुरुष तथा प्रधानपुरुषका संयोग यह तीनों अनुमेय हैं। तहां प्रधानका साधक 'यत्कार्यं तत् जड़प्रकृतिकं' इस अनुमानको समीपमें ही कह आये हैं।

और अचेतन प्रधानकी जो प्रवृत्ति है सो स्वार्थ निमित्तक नहीं किन्तु पुरुषके जो भोग मोक्षादिक हैं तन्निमित्तक ही प्रधानकी प्रवृत्ति होती है। अतः पुरुषका साधक अनुमान प्रमाणको दिखाते हैं:—**बुद्धौ यः प्रतिबिम्बः स, तादृशबिम्बपूर्वकः, प्रतिबिम्बत्वात्, दर्पणे मुखप्रतिबिम्बवत्** । अर्थ—जैसे दर्पणनिष्ठ मुखका प्रतिबिम्बरूप दृष्टान्तमें प्रतिबिम्बत्वरूप हेतु है, और प्रतिबिम्बके सदृश मुखरूप बिम्बपूर्वकत्व साध्य है। तैसे बुद्धिमें जो प्रतिबिम्ब है तिस प्रतिबिम्बरूप पक्षमें प्रतिबिम्बत्वरूप हेतु है, अतः बुद्धिगत प्रतिबिम्बके सदृश बिम्बपूर्वकत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके सिद्ध जो बिम्ब है सोई चेतन पुरुष है। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि चेतनके निमित्त अचेतन।जड़ वस्तुकी प्रवृत्ति होती है, इसमें लोक

प्रसिद्ध कोई दृष्टान्त नहीं है। सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि लोकमें यह वार्ता प्रसिद्ध है कि चेतन जो वत्सादिक हैं, तिनोंके निमित्त जड़ दुग्धकी प्रवृत्ति होती है।

और इसी प्रकार प्रधान पुरुषका संयोग भी जिस अनुमान करके सिद्ध होता है तिस अनुमानको दिखाते हैं:—'प्रधानं, चेतनसंयुक्तम्, जड़त्वात्, रथादिवत्। अर्थ—जैसे रथादिक दृष्टान्तमें जड़त्वरूप हेतु है, और रथको चलानेवाले चेतन पुरुषादिकोंका संयोगरूप साध्य भी है। तैसे प्रधानरूप पक्षमें जड़त्वरूप हेतु है, अतः चेतन पुरुषका संयोगरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। और जितने वेदान्तवाक्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति ब्रह्ममें जगत्का कारणत्वको दिखाते हैं तिन सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी प्रधानपक्षमें भी योजना कर सकते हैं। और प्रधानका विकार जो महदादिक प्रपंच है तिस प्रपंचकी उत्पत्ति आदिकोंके लिये सर्वशक्तिमत्त्व प्रधानमें भी बन सकता है।

और इसीप्रकार प्रधानमें सर्वज्ञत्व भी बन सकता है। इस अर्थको सांख्यवादी दिखाता है:-'यत्तु ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः'। इति भाष्यम्। अर्थ-जो तुम ज्ञानको मानते हो सो सत्त्वगुणका धर्म है इति। क्योंकि श्री कृष्ण भगवान्ने १४ अध्याके १७ श्लोकमें कहा है-सत्त्वात्संजायते ज्ञानं। अर्थ-सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है इति। अतः तिस सत्त्वका धर्मरूप ज्ञान करके ही कार्यकरणवाले सर्वज्ञ योगी पुरुष प्रसिद्ध हैं। और प्रकाश स्वभाव सत्त्व होता है। और सत्त्वमें जो निरतिशय उत्कर्ष है सो सर्वज्ञताका बीज प्रसिद्ध है। अर्थात् सत्त्वगुणनिष्ठ निरतिशय उत्कर्षके हुये ही सर्वज्ञत्व होता है। और यदि सिद्धान्ती कहे कि योगी पुरुषोंमें जो सर्वज्ञत्व है सो चेतन अंशमें है अचेतन प्रधान अंशमें नहीं। सो कहना नहीं बन सकता, क्योंकि-कार्यकरणवन्तः सर्वज्ञा योगिनः प्रसिद्धाः। इस भाष्य-वचनमें 'कार्यकरणवन्तः' इस पद करके अचेतन प्रधानका ही ग्रहण किया है। अतः निरतिशय उत्कर्षविशिष्ट जो सत्त्वगुण है तिस सत्त्वगुणवाले प्रधानमें ही सर्वज्ञत्व बन सकता है। और कार्यकरण करके रहित केवल उपलब्धि स्वरूप चेतन पुरुषमें सर्वज्ञत्व वा किञ्चित्ज्ञत्वकी कल्पना नहीं कर सकते हैं।

शंका। सांख्यवादीने कहा कि निरतिशय उत्कर्षविशिष्ट सत्त्वगुणवाले प्रधानमें सर्वज्ञत्व है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि, प्रलय समयमें तीनों गुणोंकी साम्यावस्थावाले प्रधानमें सर्वज्ञत्व नहीं रहेगा। क्योंकि उस प्रधाना-वस्थामें सर्वज्ञत्वका कारण जो निरतिशय उत्कर्ष है सो सत्त्वगुणमें है नहीं।

समाधान। यद्यपि प्रलयमें सर्वज्ञानका कारणरूपसत्त्वमें सर्वज्ञत्वका प्रयोजक निरतिशय उत्कर्ष नहीं है। तथापि प्रलयावस्थामें भी प्रधानको त्रिगु-णात्मक होनेसे सर्वज्ञानका कारण जो सत्त्वगुण है, सो सत्त्वगुण सर्वज्ञानकी

शक्तिमत्त्वरूप योग्यता करके प्रधानमें विद्यमान है। अतः साम्य अवस्थामें भी अचेतन प्रधानमें ही सर्वज्ञत्वका उपचार होता है। जैसे घटके प्रति कुलालके हस्तगत दण्डमें घटरूप फलोपधायकत्वरूप कारणत्व है। और अरण्यस्थ दण्ड-में स्वरूपयोग्यत्वरूप कारणत्व है। अर्थात् कारणतावच्छेदक जो दण्डत्व अर-ण्यस्थ दण्डमें है सोई स्वरूपयोग्यत्व है। तैसे तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रधानावस्थामें भी, सत्त्वगुणमें सर्वज्ञत्वका प्रयोजक सर्वज्ञानकी शक्तिमत्वरूप स्वरूपयोग्यत्व है। अतः प्रलयमें भी प्रधाननिष्ठ ही सर्वज्ञत्व है। अर्थात् सर्वज्ञत्वका उपचार होता है।

और वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्य सर्वज्ञ ब्रह्मको अङ्गीकार करनेवाले सिद्धान्ती-को भी अवश्य सर्वज्ञानकी शक्तिमत्त्व रूप करके ही ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व कहना होगा। क्योंकि सर्व पदार्थविषयक ज्ञानको करता हुआ ब्रह्म सदा नहीं रहता है। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैंः—'तथाहि' इत्यादि भाष्यम्। ज्ञान नित्य है अथवा अनित्य है? तहां प्रथम पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि ज्ञानको यदि नित्य मानोगे तो ज्ञानरूप क्रियाके प्रति जो ब्रह्ममें स्वतन्त्रता है सो नष्ट हो जायगी। और दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता। क्योंकि जब ज्ञानको अनित्य मानोगे तब कोई समयमें ज्ञानरूप क्रियासे ब्रह्म उपराम (रहित) भी हो जायगा; और जिस समयमें उपराम होगा उस समयमें ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व नहीं होगा। अतः सिद्धान्ती-को भी सर्वज्ञानकी शक्तिमत्त्वरूप स्वरूपयोग्यत्व करके ही सर्वज्ञत्व मानना पड़ेगा। और सिद्धान्ती सृष्टिसे प्रथम सम्पूर्ण कारकोंसे रहित ब्रह्मको मानता है। अतः शरीरइन्द्रियादिक कारणका अभाव होनेसे, किसीके मतमें भी ज्ञानकी उत्पत्ति ही नहीं बन सकती है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे सांख्यमत तथा वेदान्तमतमें समानताको कह कर, सांख्यवादी अपने मतमें विशेषताको दिखाता हैः—सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण इस भेदसे अनेकात्मक प्रधानका महदादिकरूप करके परिणामका सम्भव होनेसे, मृदादिकोंकी तरह प्रधानमें कारणत्व बन सकता है। और एकात्मक निर्विकार चैतन्यरूप ब्रह्मको अपरिणामी होनेसे ब्रह्ममें कारणत्व नहीं बन सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये।

व्यास भगवान् 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस अधिकरण सूत्रको आरम्भ करते हैं। तहां अधिकरण रचनाको दिखाते हैंः—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादिक श्रुति इस सूत्रके विषय वाक्य हैं।

और ईक्षणमें गौणत्व तथा मुख्यत्व करके संशय होता है। अर्थात् 'कूलं पिपतिषति' गंगादिक नदीकिनारे कछारका नाम कूल है, जिसको कड़ाड़े भी कहते हैं। प्रसंगमें कूल जड़ है उसमें पतनकी इच्छा नहीं बन सकती है। अतः कूलमें जो पतनकी इच्छा है सो गौण है। और चेतन पुरुषमें जो पतनकी

इच्छा है सो मुख्य है। सांख्यवादी कहता है कि 'तदैक्षत बहु स्याम्' इत्यादि श्रुति, चेतनकी तरह अचेतन प्रधानमें भी उपचारसे कार्योन्मुखत्वरूप ईक्षणको दिखाती है। अतः "अभिव्यक्त नामरूप करके मैं बहुत होऊं" इस प्रकारका प्रधानमें ईक्षण होनेसे प्रधान जगत्का कारण है। और सिद्धान्ती कहता है कि चेतन पुरुषमें मुख्य ईक्षण बन सकता है। अतः चेतन पुरुष ही जगत्का कारण है। इस प्रकार ईक्षणमें गौणत्व तथा मुख्यत्व करके "अचेतन प्रधान जगत्का कारण है। अथवा चेतन जगत्का कारण है" ऐसा **संशय** होता है।

और सांख्यके मतसे समीपमें ही पूर्वपक्षको दिखा आये हैं। और सिद्धान्तपक्षको आगे दिखावेंगे। और पूर्वपक्षमें जीवका प्रधानके साथ अभेदरूप करके उपासना फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्म तथा प्रत्यग् आत्माका अभेदरूप करके साक्षात्कार फल है। और ब्रह्ममें जगत्कारणत्वका आक्षेप करके इस सूत्रका उत्थान हुआ है, अतः पूर्व सूत्रके साथ इस सूत्रकी आक्षेपसङ्गति भी जान लेनी।

अब सिद्धान्तपक्ष को व्यास भगवान् दिखाते हैं—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥५॥

अर्थ–इस सूत्रमें १ ईक्षतेः, २ न, ३ अशब्दम्, यह तीन पद हैं। सांख्यों करके कल्पना किया हुवा जो अचेतन अशब्द प्रधान है, तिसको जगत्का कारणरूप करके वेदान्तशास्त्रमें आश्रयण 'न' कहिये नहीं कर सकते हैं। क्योंकि 'ईक्षतेः' कारणमें ईक्षणका श्रवण होता है। 'अशब्दम्' कहिये वेदशब्दका अवाच्य प्रधान है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—**'अशब्दं हि तदिति'**। यहांपर ऐसा अनुमानका प्रकार जानना:–**'प्रधानं, अशब्द, ईक्षितृत्वाभावात्, घटादिवत्'**। अर्थ—जैसे घटादिरूप दृष्टान्तमें ईक्षितृत्वका अभावरूप हेतु है, और ऋगादि वेदरूप शब्दशास्त्रके वाच्यत्वका अभावरूप अशब्दत्व साध्य भी है। तैसे प्रधानरूप पक्षमें भी ईक्षितृत्वका अभावरूप हेतु है, अतः वेदशब्दके वाच्यत्वका अभावरूप अशब्दत्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके प्रधानमें अशब्दत्वकी सिद्धि हुई। और **'प्रधानं, न जगत्कारणं, अशब्दत्वात, घटादिवत्'**। अर्थ—जैसे घटादिरूप दृष्टान्तमें अशब्दत्वरूप हेतु है, और जगत्के कारणत्वका अभावरूप साध्य है। तैसे प्रधानमें अशब्दत्वरूप हेतु है, अतः जगत्के कारणत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके प्रधानमें जगत्के कारणत्वका अभाव सिद्ध हुआ।

और पूर्व समीपमें ही जो नैयायिक कह आये हैं कि जीव व परमाणुसे भिन्न सर्वज्ञ ईश्वर करके अधिष्ठित परमाणु ही जगत्के उपादान कारण हैं।

और कार्य व कारण भी परस्पर भिन्न २ हैं। सो भी असङ्गत है, क्योंकि "कारणके ज्ञानसे समस्त कार्यका ज्ञान होता है" इस अर्थको मृदादि दृष्टान्तों करके साक्षात् छान्दोग्य श्रुतिने प्रतिपादन किया है। यदि कारणसे भिन्न कार्यको मानोगे तो पूर्वोक्त श्रुतिसिद्धान्तकी हानि होगी। और जैसे रज्जुमें आरोपित सर्पका रज्जु उपादानकारण है; अतः सर्प रज्जु स्वरूप ही है रज्जुसे अतिरिक्त नहीं है। तैसे **'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किंचन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'** इत्यादिक श्रुति वचनों करके ब्रह्मसे भिन्न प्रपञ्चका प्रतिषेध होनेसे चेतन ही जगत्का उपादानकारण है, परमाणु आदिक नहीं। यदि परमाणुवोंको जगत्का उपादानकारण मानोगे तो कारणसे भिन्न कार्यको विद्यमान होनेसे कारणसे भिन्न करके कार्यका निषेध करनेवाली श्रुति भी बाधित होगी।

और जगत्के उपादानकारणमें ईक्षितृत्वका भी श्रवण होता है। अतः चेतन ही जगत्का उपादान कारण है। इस अर्थको छान्दोग्य श्रुति प्रतिपादन करती है। तहां श्रुतिः—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'**। अर्थ—उद्दालक ऋषिने श्वेतकेतुके प्रति उपदेश किया है कि हे सौम्य! हे प्रियदर्शन! सृष्टिसे प्रथम सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य सद्रूप ही होता भया। और 'तत्' कहिये सत् शब्दका वाच्य जो ब्रह्म है सो 'ऐक्षत' कहिये ईक्षाको (दर्शनको) करता भया कि 'मैं बहुरूप होऊं' और 'प्रजायेय' कहिये प्रकर्ष करके अर्थात् अभिव्यक्त नामरूप करके प्रादुर्भावको प्राप्त होऊं, और सो परमात्मा तेज को उत्पन्न करता भया इति। तात्पर्य यह है कि "श्रुतिमें जो 'इदम्' शब्द है तिस 'इदम्' शब्दका वाच्य जो व्याकृत नामरूप जगत् है सो उत्पत्तिसे प्रथम सद्रूप ही था" ऐसा निश्चय करके श्रुति भगवती तिस 'सत्' शब्दके वाच्य ब्रह्ममें ही आकाश वायु तेज आदिकोंका ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्वको दिखाती है।

तथा—**'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत'**। अर्थ—सृष्टिसे प्रथम अभिव्यक्त नामरूप प्रपञ्च आत्मस्वरूप ही होता भया। प्रकृत आत्मासे विलक्षण कोई वस्तु नहीं होता भया।

प्रश्न—ब्रह्ममें जगत्का उपादानत्वकी सिद्धिके लिये, मायाशक्तिको जगत्की उत्पत्तिसे प्रथम भी विद्यमान होनेसे ब्रह्मसे भिन्न विजातीय वस्तुका निषेध किस प्रकार करते हो?

उत्तर—मायाको आत्माकी शक्तिरूप होनेसे माया आत्मासे भिन्न नहीं है। अथवा मायाको अवस्तु होनेसे अर्थात् कल्पित होनेसे आत्मासे भिन्न माया सिद्ध नहीं होती। और 'आत्म' शब्द करके सूचित परमात्मा ईक्षणको अर्थात् सङ्कल्पको करता भया कि "प्राणियोंके कर्मफल भोगका साधनरूप पृथिव्यादिक लोकोंको हम उत्पन्न करें" और सो परमात्मा ईक्षणको करके प्राणियोंके कर्मफल भोगके योग्य पृथिवी जलादिक स्थानोंको उत्पन्न करता भया इति।

यह पूर्वोक्त ऐतरेय श्रुति भी परमात्मामें ईक्षणपूर्वक ही जगत्स्रष्टृत्वको दिखाती है।

और प्रश्नोपनिषत्के छठे प्रश्नमें लिखा है कि-भारद्वाज ऋषिने पिप्पलाद गुरुसे पूछा "हे भगवन्! षोडश कलावाला पुरुष कौन है, और किस प्रदेशमें रहता है" पिप्पलाद ऋषिने भारद्वाजके प्रति कहा है कि हे सोम्य प्रियदर्शन! इस देहके अन्तर हृदयरूपी जो कमल है, तिस कमलके अन्तर जो आकाश है जिसको हृदयाकाश कहते हैं तिस हृदयाकाशके मध्यमें पूर्णरूप करके पुरुष वर्तमान है, जिस पुरुषमें प्राणादिक षोडशकला उत्पन्न होती हैं तथा लयको प्राप्त होती हैं। अर्थात् षोडशकला करके रहित निष्कल पुरुष अविद्यारूप उपाधि करके कलावान्की तरह प्रतीत होता है। और सो षोडश कलावाला पुरुष ईक्षाको (अर्थात् दर्शन अथवा चिन्तनको) करता भया। क्या चिन्तन करता भया सो दिखाते हैं:—किस कर्ताविशेषके देहसे उत्क्रमण किये हुये हम स्वयं प्रकाश व्यापक आनन्दरूप आत्मा उत्क्रमण करें। अर्थात् शरीरसे बाहर होवें। और किस कर्ताविशेषके देहमें स्थित हुये हम देहमें स्थित होवें। इस प्रकार चिन्तन करके **'स प्राणमसृजत'** इत्यादि। अर्थात् प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, आप, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम, इनका नाम षोडशकला है। उक्त षोडश कलावान् पुरुष प्रथम उत्क्रान्ति आदिकों के लिये उपाधिरूप समष्टि प्राणको उत्पन्न करता भया। और प्राणसृष्टिसे अनन्तर सम्पूर्ण प्राणियोंकी शुभ कर्ममें प्रवृत्तिका कारण आस्तिक्य बुद्धिरूप श्रद्धाको उत्पन्न करता भया। तथा आकाशादिक पञ्च भूतोंको, तथा पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मइन्द्रियोंको, तथा मन (अन्तःकरण) को उत्पन्न करता भया। तथा व्रीहियवादिरूप अन्नको, तथा अन्नसे शरीर इन्द्रियादिकोंके सामर्थ्यरूपवीर्यको, तथा अन्तःकरणकी शुद्धिका कारण शरीरशोषणादिरूप तपको, उत्पन्न करता भया। तथा कर्मके साधन ऋगादिरूप मन्त्रोंको, तथा अग्निहोत्रादिक कर्मको, तथा कर्मके फलरूप स्वर्गादिक लोकोंको, तथा स्वर्गादिक लोकोंमें उत्पन्न प्राणियोंके देवदत्त यज्ञदत्त आदिक नामोंको, उत्पन्न करता भया। इस पूर्वोक्त रीतिसे भारद्वाजके प्रति पिप्पलाद ऋषिने ईक्षणपर्वक ही परमात्मासे सृष्टिको प्रतिपादन किया है।

शंका। 'ईक्षति' पद जो है सो धातुको बोधन करता है, धातुका अर्थ जो ईक्षण है उसको बोधन नहीं करता, अतः जो तुमने 'ईक्षति' पदका अर्थ ईक्षण कहा है सो असंगत है।

समाधान। यद्यपि 'इक्षति' पदका अर्थ धातु है ईक्षण नहीं, तथापि जैसे 'इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम्' इस जैमिनिसूत्रमें 'यजति' पद लक्षणावृत्ति करके धातुका अर्थ यागको बोधन करता है, तैसे 'ईक्षति' यह पद भी लक्षणावृत्ति करके ईक्षणरूप धातुके अर्थको कहता है।

अर्थात् जब ईक्षतिपद अर्थपरक हुवा, तब दर्शनार्थक कारणगतदर्शनके बोधक सम्पूर्ण वाक्य, प्रधानपक्षनिराकरणमें हेतु सिद्ध हो गये।

अतः यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ अर्थ—प्रमेयत्वादिरूप सामान्य करके सर्वको जो जाने तिसका नाम सर्वज्ञ है। और घटत्वादिरूप विशेष करके सर्वको जो जाने तिसका नाम 'सर्ववित्' है। अर्थात् जो सर्वज्ञ सर्ववित् है। और जिस परमात्माका सृज्यमान सर्व पदार्थाभिज्ञत्वरूप ज्ञानमय तप है, क्लेशरूप नहीं। तिस उक्त सर्वज्ञ परमात्मासे 'एतद्ब्रह्म' कहिये कार्यरूप हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है, और देवदत्त यज्ञदत्त आदिक नाम तथा नील पीतादिक रूप तथा व्रीहियवादिक अन्न विराट् उत्पन्न होता है इति। इस मुण्डक श्रुतिसे आदि लेकर अनेक श्रुति सर्वज्ञ परमात्मामें ही जगत्का कारणत्वको बोधन करती हैं।

और सांख्यवादीने पूर्व जो कहा था कि सत्त्वगुणका धर्मरूप ज्ञान करके प्रधान सर्वज्ञ होगा? सो नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रधानावस्थामें गुणोंकी समानता होनेसे सत्त्वका धर्मरूप ज्ञान नहीं बन सकता है।

शंका। सर्व ज्ञानशक्तिमत्स्वरूप स्वरूपयोग्यता करके प्रधानमें सर्वज्ञत्व बन सकता है। इस वार्ताको हम प्रथम कह आये हैं।

समाधान। वादीका यह कहना भी असंगत है, क्योंकि यदि प्रलयरूप गुणसाम्यावस्थामें भी सत्त्वगुणके आश्रित ज्ञानशक्तिको आश्रयण करके प्रधानको सर्वज्ञ कहोगे तो रजोगुण तथा तमोगुणके आश्रित ज्ञान प्रतिबन्धक शक्तिको आश्रयण करके प्रधानमें किञ्चित्ज्ञत्व भी अवश्य कहना होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे केवल सत्त्वका परिणाम वृत्तिमें ज्ञानत्वको अङ्गीकार करके प्रधानमें सर्वज्ञत्वका निरास किया है। अब, केवल जड़ वृत्ति जो है सो ज्ञान नहीं, किन्तु साक्षीरूप बोधविशिष्ट वृत्तिका नाम ज्ञान है। अथवा वृत्तिमें अभिव्यक्त बोधका नाम ज्ञान है। ऐसा ज्ञान जड़ प्रधानमें नहीं बन सकता है। इस अर्थको दिखाते हैं:—'नासाक्षिका सत्त्ववृत्तिर्जानातिनाऽभिधीयते' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—साक्षी करके रहित सत्त्वगुणकी वृत्ति 'जानाति' (ज्ञान) शब्दका अर्थ नहीं है, किन्तु साक्षिभास्यवृत्ति, अथवा वृत्त्युपहित साक्षीका नाम ज्ञान है। क्योंकि जड़ वृत्ति न किसी अर्थको जान सकती है, न अभिधान कर सकती है। और अचेतन प्रधानमें साक्षित्व नहीं है, अतः प्रधानमें सर्वज्ञत्व अनुपपन्न है इति।

शंका। जैसे सत्त्वका धर्मरूप वृत्तिज्ञान मात्र करके योगी पुरुषोंमें सर्वज्ञत्व है, तैसे प्रधानमें भी सर्वज्ञत्व बन जायगा ऐसा हम कह आये हैं।

समाधान। वादीका यह कहना असंगत है, क्योंकि योगी पुरुषोंको चेतनरूप होनेसे सत्त्वका उत्कर्षनिमित्तक सर्वज्ञत्व बन सकता है। अतः यह योगी पुरुषोंका जो दृष्टान्त दिया है सो जड़ प्रधानांशमें विषम है।

और इस निरीश्वर सांख्यमतको त्यागकर सेश्वर सांख्यमतको अर्थात्

हिरण्यगर्भरूप * ईश्वर करके सहित प्रधानको माननेवालोंके मतको अवलम्बन करके यदि प्रधानवादी कहे कि जैसे अग्निनिमित्तक दग्धृत्व अयस्पिण्डमें रहता है, तैसे साक्षिनिमित्तक ईक्षितृत्व प्रधानमें रहता है। अतः प्रधानमें सर्वज्ञत्व बन सकता है। यह भी सेश्वरवादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जिस साक्षिनिमित्तक ईक्षितृत्व को प्रधानमें कल्पना करते हो। लाघवसे 'सोई सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है' ऐसा अङ्गीकार करना ही उचित है।

शंका। मैंने प्रथम जो कहा था कि ब्रह्ममें भी मुख्य सर्वज्ञत्व नहीं बन सकता है; क्योंकि ब्रह्ममें यदि नित्यज्ञान मानोगे तो नित्य ज्ञानरूप क्रियाके प्रति स्वातन्त्र्यका अभाव होगा इत्यादि?

समाधान। सर्व पदार्थविषयक ज्ञानवत्त्वका नाम सर्वज्ञत्व है, सर्वज्ञानके कर्तृत्वका नाम सर्वज्ञत्व नहीं, क्योंकि ज्ञान जो है सो कृति करके असाध्य है। इस अभिप्राय करके सिद्धान्ती वादीको पूछता है कि ब्रह्ममें नित्य ज्ञानरूप क्रियाको माननेसे किस प्रकार स्वतन्त्रताकी हानि होगी अर्थात् किसी प्रकार हानि नहीं हो सकती। क्योंकि जिस ब्रह्ममें सम्पूर्ण विषय प्रकाश करनेकी सामर्थ्यवाला नित्यज्ञान है सो 'असर्वज्ञ है' इस प्रकारका कहना 'अग्नि शीतल है' इस वचनकी तरह विरुद्ध है। और ज्ञानको यदि अनित्य मानोगे तो ब्रह्ममें कदाचित् ज्ञान होगा, कदाचित् ज्ञान नहीं होगा, अतः ब्रह्ममें 'असर्वज्ञत्व' हो सकता है, यह दोष भी ज्ञानके नित्यत्व पक्षमें नहीं हो सकता है।

शंका। ज्ञानको यदि नित्य मानोगे तो ज्ञान विषयक स्वतन्त्रताव्यवहार न होगा, क्योंकि यदि ज्ञान अनित्य होवे तो ज्ञानके प्रति ब्रह्म स्वतन्त्र होवे। और ज्ञानविषयक स्वतन्त्रताव्यवहार ब्रह्ममें होवे कि 'ब्रह्म ज्ञानको उत्पन्न करे या न करे' अर्थात् ब्रह्ममें ज्ञानके प्रति कर्तृत्वव्यवहार होवे।

समाधान। ज्ञान प्रकाशस्वरूप है अर्थात् चैतन्यरूप है। यद्यपि शुद्ध प्रकाशरूप ज्ञान नित्य है। तथापि जैसे नैयायिक आकाशको नित्य मानते हैं, और अनित्य घटरूप उपाधि करके अवच्छिन्न आकाशको अनित्य मानते हैं। क्योंकि 'घटाकाशो जातः' अर्थात् घटकी उत्पत्तिसे घटाकाश उत्पन्न हुवा ऐसा व्यवहार होता है। तैसे विषयको अनित्य होनेसे विषयावच्छिन्न प्रकाशरूप ज्ञान भी अनि-

---

* क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। इति पतञ्जलिसूत्रम्। अर्थ—अविद्यादिक जो हैं सो नाना प्रकारके दुखोंका प्रहार करके संसारी पुरुषोंको क्लेशको प्राप्त करते हैं। अतः, अविद्या अस्मितादिकोंका नाम क्लेश है। और धर्माधर्मको शुभ अशुभ कर्म करके जन्य होनेसे कर्म कहते हैं। और कर्मका फलरूप जो जाति आयुष् और भोग आदिक हैं तिनोंका नाम विपाक है। और विपाकके अनुकूल जो चित्तरूपी भूमिमें रहनेवाली वासना हैं, तिनोंका नाम आशय है। इन क्लेशादिकों करके असंस्पृष्ट जो पुरुषविशेष है तिसका नाम ईश्वर है इति।

त्य होता है। अतः, अनित्य ज्ञानके प्रति ब्रह्ममें कर्तृत्वव्यवहार बन सकता है। इस अर्थमें भाष्यकार भगवान् भी दृष्टान्तको दिखाते हैं–प्रततौष्ण्यप्रकाशेऽपि सबितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातन्त्र्यव्यपदेशदर्शनात्। अर्थ–'प्रतत' कहिये निरन्तर, 'सविता' कहिये सूर्यको औष्ण्य प्रकाश स्वरूपके हुये भी, जैसे 'सविता दाहको तथा प्रकाशको करता है' यह दाह तथा प्रकाशरूप क्रियाका कर्तृत्वव्यवहार सवितामें होता है। तैसे ज्ञानस्वरूप परमात्मामें 'तदैक्षत' यह ईक्षणरूप ज्ञान कर्तृत्वव्यवहार होता है इति।

शंका। सविताका दाह्य तथा प्रकाश्य वस्तुके साथ संयोग होनेसे, सविता दाह तथा प्रकाश करता है, इस प्रकारका व्यवहार बन सकता है। और जगत्की उत्पत्तिसे प्रथम जगत्का अभाव होनेसे, ज्ञानका कर्मके साथ ब्रह्मका संयोग है नहीं, अतः सृष्टिसे प्रथम 'सो परमात्मा ईक्षण करता भया' ऐसा व्यवहार नहीं बन सकता है, इसलिये पूर्वोक्त सविताका दृष्टान्त विषम है।

समाधान। कर्मके अविवक्षित हुये भी जैसे 'सविता प्रकाशते' 'सूर्य प्रकाशरूप क्रियाको करता है' ऐसा सवितामें प्रकाशका कर्तृत्वव्यवहार देखनेमें आता है। तैसे ज्ञानके कर्मका अभाव हुये भी 'तदैक्षत' 'सो परमात्मा ईक्षणको करता भया' इस प्रकार ब्रह्ममें ईक्षणरूप ज्ञानका कर्तृत्वव्यवहार बन सकता है। अतः पूर्वोक्त दृष्टान्त विषम नहीं है।

शंका। 'प्रकाशते' इस क्रियाको अकर्मक होनेसे 'सविता प्रकाशते' यह प्रयोग बन सकता है। परञ्च 'जानाति' इस क्रियाको सकर्मक होनेसे कर्मके अभाव हुये 'तदैक्षत' यह प्रयोग नहीं बन सकता है।

समाधान। कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः' इति भाष्यम्। अर्थ—ज्ञानरूप क्रियाको कर्मकी अपेक्षाके हुये ब्रह्ममें जो ईक्षणके कर्तृत्वका श्रवण होता है सो सहजमें ही बन गया इति।

शंका। ईक्षणरूप ज्ञानका कर्म कौन है जो सृष्टिसे प्रथम ईश्वरज्ञानका विषय होता है?

समाधान। सत् तथा असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय, तथा अभिव्यक्त (प्रगट) करनेकी इच्छाके विषय, जो अनभिव्यक्त नामरूप हैं। सोई सृष्टिसे प्रथम ईश्वरज्ञानके विषयरूप कर्म हैं। और 'सुतराम्' इस वचन करके भाष्यकार भगवान्ने यह बोधन किया कि जैसे कुलालको, घटकी उत्पत्तिसे प्रथम स्वउपाधिरूप अन्तःकरणकी वृत्तिरूप घटविषयक ईक्षण होता है। तैसे विविध सृष्टिका संस्कार विशिष्ट, तथा प्रलयका अवसानरूप निमित करके उद्बुद्ध संस्कारवाली, जो ईश्वरकी उपाधिरूप माया है। तिस मायामें सूक्ष्मरूप करके विलीन जो सम्पूर्ण कार्य हैं, तिन कार्योंको विषय करनेवाला जो पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट अविद्याका परिणामरूप ईक्षण है, तिस ईक्षणको कार्यरूप होनेसे, तथा ईक्षणके कर्मको विद्यमान होनेसे ईक्षणमें ईश्वरका कर्तृत्व मुख्य है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे निरीश्वर सांख्यवादीके प्रति ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वको कह करके अब सेश्वर सांख्यवादीके प्रति कहते हैं-'यत्प्रसादात्' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् जब, "ईश्वरके प्रसादसे योगी पुरुषोंको अतीत अनागत वस्तुविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है" ऐसा योगशास्त्रको जाननेवाले पुरुष अङ्गीकार करते हैं। तब नित्य सिद्ध ईश्वरको सृष्टिस्थितिप्रलयविषयक नित्य ज्ञान होता है इसमें क्या कहना है। और पूर्वपक्षीने पीछे जो कहा था कि सृष्टिसे प्रथम ज्ञानका कारण शरीर इन्द्रियादिकोंका अभाव होनेसे ब्रह्ममें ईक्षितृत्व नहीं बन सकता है सो कहना असङ्गत है। क्योंकि जैसे प्रकाशस्वरूप सविताको प्रकाशके लिये साधनकी अपेक्षा नहीं है। तैसे नित्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्मको ज्ञानके लिये साधनकी अपेक्षा नहीं है। किंच अविद्यादिक दोषवाले जो संसारी पुरुष हैं तिनको ज्ञानकी उत्पत्तिमें शरीरादिकोंकी अपेक्षा होती है। और ज्ञानके प्रतिबन्धका कारण करके रहित जो ईश्वर है तिस ईश्वरको ज्ञानकी उत्पत्तिमें शरीरादिकोंकी अपेक्षा नहीं होती है।

शंका। 'ईश्वरः, ज्ञानप्रतिबन्धकारणवान्, चेतनत्वात्, जीववत्' अर्थ—जैसे जीवरूप दृष्टान्तमें चेतनत्वरूप हेतु है, और ज्ञानके प्रतिबन्धका कारण अविद्यारागादिकवत्त्व साध्य है। तैसे ईश्वररूप पक्षमें चेतनत्वरूप हेतु है, अतः ज्ञानके प्रतिबन्धका कारणवत्त्व साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके पूर्वपक्षीने जीवकी तरह ईश्वरको भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें शरीरादिकोंकी अपेक्षा अवश्य होगी यह बोधन किया।

समाधान। पूर्वपक्षीने जिस अनुमान करके ईश्वरको भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें शरीरादिकोंकी अपेक्षा को दिखाया है। सो अनुमान, ईश्वरको ज्ञानकी उत्पत्तिमें शरीरादिकोंकी अनपेक्षाको, तथा ईश्वरमें निरावरण ज्ञानवत्त्वको दिखाने वाले दो मन्त्रों करके बाधित है। तहां श्वेताश्वतर मन्त्रोंको दिखाते हैं- 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥६–८॥ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥३–१९॥ अर्थ—पूर्वोक्त, परमात्माका 'कार्य' कहिये शरीर, तथा 'करण' कहिये इन्द्रियसमूह नहीं है। और तिस परमात्माका 'समः' कहिये समान जातिवाला, 'अभ्यधिकः' कहिये विलक्षण जातिवाला भी नहीं देखनेमें आता है। और इस ईश्वरकी माया रूप शक्ति आकाशादिक स्वकार्यकी अपेक्षासे पर है। तथा विचित्र कार्यको करनेसे मायाशक्ति विविधा कही जाती है। और श्रुतिमें 'श्रूयते' जो पद है सो जैसे 'इस वटवृक्षमें प्रेत रहता है' इस ऐतिह्यमात्र करके प्रेत सिद्ध है। तैसे मायाशक्ति भी ऐतिह्यमात्र करके सिद्ध है, प्रत्यक्षादिक प्रमाण करके नहीं। इस अर्थको बोधन करता है। और ज्ञानरूप बल करके जो जगत्की सृष्टिक्रिया है सो भी अनादि मायास्वरूप होनेसे स्वाभाविकी है। अर्थात् जड़ प्रधानमें ज्ञानबल न

होनेसे जगत् सर्जनक्रिया निरूपित स्वतन्त्रता नहीं बन सकती है। ६।८। और जो परमात्मा पाणि करके रहित भी है तो भी ग्रहण करता है। तथा पाद करके रहित भी है तो भी चलता है। चक्षु करके रहित भी है तो भी देखता है। तथा श्रोत्र करके रहित भी है तो भी श्रवण करता है। और सो परमात्मा जाननेके योग्य सर्व वस्तुको जानता है। और तिस परमात्माको जानने वाला कोई नहीं है। और तिस परमात्माको ब्रह्मवित् पुरुष अनादि तथा महान् तथा पुरुष कहते हैं। इस श्रुतिमें जो 'पुरुष' पद है सो परमात्मामें निरपेक्षमहत्त्वको बोधन करता है इति। ३।१६। तात्पर्य यह है कि यह दोनों मन्त्र पूर्व अनुमानमें अविद्यादि स्वरूप जो ज्ञानके प्रतिबन्धके कारण हैं, तिन कारणरूप साध्यके अभावरूप बाधको बोधन करते हैं, अतः यह अनुमान बाधित है। तथा इस अनुमानमें अल्पज्ञत्वरूप उपाधिको विद्यमान होनेसे सोपाधिक भी जानना। और इस पूर्वोक्त श्रुति करके यह भी सिद्ध हुआ कि ईश्वरको स्वकार्यमें लौकिक कारणकी अपेक्षा नहीं है।

शंका। सिद्धान्तीने जो कहा कि "संसारी पुरुषको ज्ञानकी उत्पत्तिमें शरीरादिकोंकी अपेक्षा होती है ईश्वरको नहीं" सो कहना असङ्गत है। क्योंकि सिद्धान्तीके मतमें ज्ञानके प्रतिबन्धका कारणवान् ईश्वरसे भिन्न संसारी है नहीं। यदि ईश्वरसे भिन्न संसारीको मानोगे तो अपसिद्धान्त होगा। और **'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता'**। अर्थ—ईश्वरसे भिन्न कोई देखने वाला तथा जाननेवाला नहीं है इति। यह श्रुति ईश्वरसे भिन्न संसारीको निषेध करती है। यदि ईश्वरसे भिन्न संसारी जीवको मानोगे तो इस श्रुतिका भी बाध होगा।

समाधान। यद्यपि 'ईश्वरसे भिन्न संसारी नहीं है' यह तुम्हारा कहना सत्य है, तथापि वस्तुतः, ईश्वरसे भिन्न संसारीको हम नहीं मानते हैं, किन्तु उपाधि करके ईश्वरसे भिन्न संसारीको मानते हैं। अर्थात् जीव ईश्वरका परस्पर भेद औपाधिक है वास्तविक नहीं। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'देहादिसंघातोपाधिसम्बन्ध इष्यत एव'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—जैसे आकाशका घट, करक, गिरि, गुहादिकरूप उपाधिके साथ सम्बन्ध होता है। तैसे ईश्वरका स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरादिरूप उपाधिके साथ सम्बन्ध होता है ऐसा हम मानते हैं इति। और उपाधिके सम्बन्ध करके लोकमें शब्द तथा प्रत्यय (ज्ञान) रूप व्यवहार देखनेमें आता है। जैसे आकाशको एक हुये भी **'घटच्छिद्रं करकादिच्छिद्रम्'** अर्थात् घटाकाश, करकाकाश, गुहाकाश, ऐसा शब्दरूप व्यवहार तथा ज्ञानरूप व्यवहार होता है। और **'महाकाशः घटाकाशाद्भिन्नः'** महाकाश जो है सो घटाकाशसे भिन्न है। इस प्रकार घटरूप उपाधिके सम्बन्धप्रयुक्त महाकाशमें घटाकाशका भेद विषयक मिथ्या बुद्धि देखनेमें आती है। तैसे यहां भी ईश्वरका देहादिसंघातरूप उपाधिके साथ जो सम्बन्ध है, तिस सम्बन्धका कारण जो अविद्यारूप अविवेक है, तिस अविवेक प्रयुक्त ईश्वर तथा संसारी

जीवका परस्पर भेदविषयक मिथ्या बुद्धि होती है। यहां पर ऐसा जानना चाहिये कि अविद्यामें प्रतिबिम्बका नाम जीव है। तथा बिम्बरूप चेतनका नाम ईश्वर है। अतः जीव ईश्वरका भेद अविद्यारूप उपाधिके अधीन है। और अनादि वस्तुका भेद भी अनादि होता है। इसलिये अनादि जीव ईशादि भेदमें कार्यत्व नहीं रहता है। और कार्यरूप बुद्धि आदिकों करके किया हुआ जो प्रमातादिकोंका भेद है सो कार्यरूप है।

शंका । अखण्ड स्वप्रकाश आत्मामें अविद्यारूप अविवेक किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं हो सकता है।

समाधान । वस्तुतः देहादिकोंसे भिन्न स्वप्रकाश सद्रूप आत्माको ही पूर्व २ अनुभवजन्य संस्कारद्वारा भ्रान्तिरूप मिथ्या बुद्धि करके देहादिक संघातरूप अनात्मामें 'नरोऽहम् मनुष्योऽहम्' इस प्रकारका आत्मत्वाभिनिवेशरूप जो भ्रम दीखता है सो भ्रान्तिसिद्ध अविद्या करके कल्पित है, अत आत्मामें मिथ्या अविद्या रूप अविवेक बन सकता है।

शंका । चिदात्मामें अविद्याद्वारा संसारित्वके हुये भी प्रसङ्गमें क्या सिद्ध हुआ ?

समाधान । ईश्वरसे भिन्न संसारी जीवके सिद्ध हुये संसारीमें देहादिकोंकी अपेक्षा करके ईक्षितृत्व है, और अन्तर्यामी चिदात्मामें लौकिक देहादिक विना ही ईक्षितृत्व उत्पन्न हुवा। और प्रथम पूर्वपक्षीने कहा था कि प्रधानको अनेकात्मक होनेसे मृदादिकोंकी तरह कारणत्व बन सकता है। और एक अद्वितीय निर्विकार ब्रह्ममें जगत्का कारणत्व नहीं बन सकता है। यह भी वादिका कहना असङ्गत है, क्योंकि व्यास भगवान्ने ही 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रमें वेद करके अप्रतिपाद्यत्वरूप अशब्दत्व करके प्रधानमें जगत्का कारणत्वको निषेध किया है। और कूटस्थरूप निर्विकार ब्रह्ममें जगत्का कारणत्व बन सकता है, इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं–**'यथा तु तर्केणापि'** इत्यादि भाष्यम्। जिस प्रकार युक्ति करके ब्रह्ममें जगत्का कारणत्व सिद्ध होता है और प्रधानादिकोंमें नहीं, इस अर्थका निरूपण 'न विलक्षणत्वात्' अ-२-१-४ इत्यादिक सूत्रों करके करेंगे इति ॥५॥

अब उत्तर सूत्र करके निरास करनेको योग्य आशंकाको दिखाते हैं :—

'अत्राह' इत्यादि भाष्यम्। जो सिद्धान्तीने कहा था "अचेतन प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि जगत्के कारणमें ईक्षितृत्वका श्रवण होता है, और प्रधान जड़ है, अतः प्रधानमें ईक्षितृत्व नहीं बन सकता है"। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जैसे अचेतन 'कूल' कहिये गङ्गा किनारे ढांगको, नीचेसे कटकर गिरते हुये देखकर लोग कहते हैं कि "यह कूल पतनकी इच्छा करता है" इस प्रकार अचेतन कूलमें चेतनकी तरह ईक्षितृत्वादिका उपचार

देखनेमें आता है। तैसे सृष्टि करनेमें प्रवृत्त अचेतन प्रधानमें भी चेतनकी तरह 'तदैक्षत' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य गौण ईक्षितृत्व बन सकता है।

शंका। प्रधानको चेतनके साथ क्या तुल्यता है जिस करके प्रधानमें गौण ईक्षण मानते हो।

समाधान। जैसे कोइ चेतन पुरुष ऐसा सङ्कल्प करे कि "स्नान करके भोजन करके अपराह्नमें रथ करके ग्राम को हम जावेंगे" पुनः वह चेतन पुरुष ईक्षणसे अनन्तर नियम करके ईक्षणके अनुसार ही प्रवृत्त होता है। तैसे प्रधान भी सृष्टिके आदिकालमें महत्तत्त्व अहंकारादिविषयक ईक्षणसे अनन्तर नियमसे महदादि आकारको प्रवृत्त (प्राप्त) होता है। अतः चेतनके तुल्य प्रधान है ऐसा उपचार होता है। और प्रधानमें जो 'नियत क्रमवाला कार्यका कारित्व' है सोई चेतनकी तुल्यता (गुण) है।

शंका। किस हेतुसे प्रधानमें, मुख्य ईक्षितृत्वको त्यागकर गौण ईक्षितृत्वकी कल्पना करते हो?

समाधान। 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इस छान्दोग्य श्रुति करके चेतनकी तरह अचेतन तेज तथा आपमें ईक्षितृत्वका उपचार देखनेमें आता है। अतः सद्रूप प्रधानकर्तृक ईक्षण भी 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादि गौण ईक्षण प्रवाह पतित होनेसे गौण ही है। इस पूर्वोक्त पूर्वपक्षका यह तात्पर्य है कि जैसे चेतनमें ईक्षितृत्व है तैसे 'तदैक्षत' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य प्रधानमें भी ईक्षितृत्व बन सकता है, अतः प्रधान ही जगत्का कारण है।

इस पूर्वपक्षके प्राप्त हुये व्यास भगवान् समाधान को कहते हैं—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

अर्थ—इस सूत्रमें चार पद हैं—१ गौणः, २ चेत्, ३ न, ४ आत्मशब्दात्। पूर्वपक्षी 'चेत्' कहिये शंका करता है कि 'तदैक्षत' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य ईक्षण गौण है मुख्य नहीं, अतः प्रधान जगत्का कारण है ब्रह्म नहीं? सिद्धान्ती कहता है कि यह वादीका कहना 'न' कहिये नहीं बन सकता है। क्योंकि 'आत्मशब्दात्' श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। अतः जगत्का कारण 'तत्' शब्दका अर्थ सत् वस्तुमें चेतनत्वका निश्चय होनेसे ईक्षण मुख्य है, गौण नहीं। इसलिये चेतनरूप ब्रह्म जगत्का कारण है, प्रधान नहीं इति।

अब इसी अर्थको भाष्यकार भगवान् स्पष्ट करके दिखाते हैं:—**'यदुक्तं प्रधानमचेतनं सच्छब्दवाच्यं तस्मिन्नौपचारिक ईक्षतिः'** इत्यादि। **अर्थ**—जो वादीने कहा है कि जैसे अचेतन तेज तथा आपमें ईक्षण होता है, तैसे सत् शब्दका वाच्य अचेतन प्रधानमें औपचारिक (गौण) ईक्षण बन सकता है इति। यह वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि **'सदेवसोम्येदमग्र आसीत्'** ऐसा उपक्रम करके

'तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' इस छान्दोग्य श्रुति करके तेज, आप, पृथिवीकी सूक्ष्म सृष्टिको कहकर, प्रसङ्गमें प्राप्त जो 'सत्' शब्दका वाच्य ईक्षणका कर्ता है सो ईक्षणकर्ता अपञ्चीकृत तेज, जल, पृथिवीको, परोक्ष होनेसे, 'देवता' शब्द करके बोधन करता हुवा, सङ्कल्पको करता भया, 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस छान्दोग्य श्रुतिमें दो 'देवता' पद हैं, एक तो 'सेयं देवता' दूसरा 'तिस्रो देवता'। तहां प्रथम 'देवता' शब्द करके सत् शब्दका वाच्य चैतन्यरूपा देवताका ग्रहण करना। दूसरा देवता शब्द करके तेज, आप, पृथिवीरूपा देवताका ग्रहण करना। श्रुतिका अर्थ यह है–जगत्का कारण चेतनरूपा देवता सूक्ष्म सृष्टिसे अनन्तर ऐसा सङ्कल्पको करती भई कि "पूर्वकल्पको अनुभव करने वाला स्वस्वरूप जीवात्मा-रूपसे मैं सूक्ष्म तेज, आप, पृथिवीमें प्रवेश करके तिन तेज आदिकोंमें भोग्यत्वके लिये स्थूल नाम तथा रूपको करूं" इति। तहां यदि गुणवृत्ति करके अचेतन प्रधानको ईक्षणका कर्ता कल्पना करें तो प्रसङ्गमें 'सेयं देवता' इस वाक्य करके जगत्का कारण परदेवता प्रधानका ही ग्रहण होगा। और "तेज आदिक सूक्ष्म सृष्टिमें स्वस्वरूपभूतजीवात्मारूपसे प्रवेश करके मैं स्थूल नाम तथा रूपको करूं" ऐसा ईक्षण भी प्रधानमें ही मानना होगा। परञ्च यह असङ्गत है, क्योंकि प्रधान, आत्मशब्द करके जीवको नहीं कह सकता है। इस अर्थको दिखाते हैं–शरीरका अध्यक्ष तथा चेतन स्वरूप जीव लोकमें प्रसिद्ध है। और 'जीवः प्राणधारणे' इस धातुका अर्थके अनुसार निर्वचन से भी पूर्वोक्त चेतन ही जीव सिद्ध होता है। और जब जीवमें चैतन्य सिद्ध हुवा, तब जड़ प्रधानका आत्मा जीव किस प्रकार होगा, क्योंकि आत्मा नाम स्वरूपका है। अतः, अचेतन प्रधानका स्वरूप चेतन जीव नहीं हो सकता है।

शंका। संसारी जीव तथा असंसारी ब्रह्मको परस्पर विरुद्ध धर्मवाला होनेसे, तुम्हारे सिद्धान्तमें भी ब्रह्म 'आत्मा' शब्दको जीवमें किस प्रकार प्रयोग करेगा?

समाधान। यदि ईक्षणका कर्ता मुख्य चेतनरूप ब्रह्मको मानें तो ब्रह्मका जीवविषयक आत्मशब्दका प्रयोग बन सकता है। अर्थात् संसारी तथा असंसारी-का विरोध उपाधिकृत है, वास्तवसे नहीं। क्योंकि बिम्बरूप ब्रह्म तथा प्रतिबिम्ब रूप जीवका भेदको कल्पित होनेसे सद्रूप ब्रह्मका आत्मा ही जीव है।

प्रथम 'आत्मशब्दात्' इस हेतुका व्याख्यान इस प्रकार किया है कि प्रधान कारणवादीके मतसे, जीवमें सद्रूपकारणनिरूपितआत्मत्वबोधक आत्मशब्द-का प्रयोग नहीं बन सकता इति। अब सद्रूप कारणमें जीवनिरूपित आत्म-त्वबोधक आत्मशब्दका प्रयोग नहीं बन सकता है। इस अर्थको दिखाते हैं। तहां छान्दोग्य श्रुतिः—'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा

तत्त्वमसि श्वेतकेतो'। अर्थ—पूर्वोक्त जो सद्रूप ब्रह्म है सो यह ब्रह्म परम सूक्ष्म है, और यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् सद्रूप ब्रह्मस्वरूप ही है, और विकारको मिथ्या होनेसे ब्रह्म ही सत्य है, और जो सत् पदका अर्थ ब्रह्म है सो सर्व प्राणियोंका आत्मा है, इस प्रकार सूक्ष्म सद्रूप ब्रह्मको आत्मशब्दसे उपदेश करके, चेतन स्वरूप श्वेतकेतुके प्रति 'तत्त्वमसि' इस वाक्य करके उपदेश करते हैं कि-श्वेतकेतो ! तू संसारी नहीं है किन्तु पूर्वोक्त अबाधित सर्वात्मक ब्रह्मस्वरूप है इति। अतः श्वेतकेतुको चेतनात्मक होनेसे पूर्वोक्त सत् शब्दका अर्थ चेतन है, अचेतन प्रधान नहीं। और आप तथा तेजमें, द्रष्टाका विषय होनेसे, तथा जन्य होनेसे, तथा नियम्य होनेसे, जो अचेनत्व है सो 'तेज ऐक्षत, आप ऐक्षन्त' इस ईक्षणनिष्ठ मुख्यत्वका बाधक है। और जैसे चेतनकर्तृक ईक्षणमें मुख्यत्वका साधक आत्मशब्द है, तैसे तेज आप कर्तृक ईक्षणमें मुख्यत्वका साधक कोई है नहीं। अतः कूलकी तरह, तेज आपमें जो चेतनकी तरह कार्यकारित्व है सो गुण है। इस गुण करके तेजआपमें ईक्षण गौण है। अथवा 'तेज ऐक्षत' यहां लक्षणावृत्तिसे तेज पद करके तेजका अधिष्ठान सत् वस्तुका ग्रहण करना। इस रीतिसे तेज व आपको सद्वस्तु करके अधिष्ठित हानेसे तेज आपमें जो ईक्षण है सो ईक्षण अधिष्ठान कर्तृक होनेसे मुख्य है, गौण नहीं। क्योंकि समीपमें ही कह आये हैं कि सद्वस्तुमें आत्मश्शदका प्रयोग होनेसे सत्कर्तृक ईक्षण मुख्य ही होता है, गौण नहीं होता। और व्यास भगवान्ने 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इस सूत्र करके यह सिद्ध किया कि 'तदैक्षत' इत्यादिक छान्दोग्य श्रुतियोंका, मुख्य ईक्षणकर्ता चेतनरूप ब्रह्ममें ही तात्पर्य है। अतः चेतन ब्रह्म ही जगत्का कारण है, अचेतन प्रधान नहीं इति ॥६॥

शंका। पूर्वसूत्रके व्याख्यानमें जो सिद्धान्तीने कहा है कि, प्रधानमें आत्मशब्दके प्रयोगकी असङ्गति होनेसे गौण भी ईक्षण नहीं बन सकता है। सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जैसे राजाका जो भद्रसेन नाम करके अत्यन्त बुद्धिमान् भृत्य है, सो सन्धिविग्रह आदिकोंमें वर्तमान हुवा राजाके सम्पूर्ण अर्थको सिद्ध करता है। अतः 'ममात्मा भद्रसेन' इति। 'भद्रसेन मेरा आत्मा है' इस प्रकार राजा अपने प्रिय भृत्यमें आत्मशब्दका प्रयोग करता है। तैसे प्रधान भी चेतन पुरुषरूप आत्माका भोग मोक्षरूप अर्थको सिद्ध करता है; अत अचेतन प्रधानमें भी हितकारित्वरूप वा प्रियत्वरूप गुणके योगसे गौण आत्मशब्दका प्रयोग बन सकता है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि, जब प्रधानमें आत्मशब्द गौण सिद्ध हुवा तब प्रधानमें आत्मशब्दप्रयुक्त गौण ईक्षण भी अवश्य अङ्गीकार करना होगा। अथवा आत्मशब्दको नानार्थक होनेसे प्रधानमें भी आत्मशब्द मुख्य है गौण नहीं। क्योंकि भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा, परमात्मा, इस प्रकार भूतादिकोंमें भी आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। जैसे एक ही ज्योतिः शब्द सहस्रदक्षिणवाले ज्योतिष्टोम यागमें तथा अग्निमें मुख्य है। तैसे एक ही आत्म शब्द चेतनमें तथा अचेतनमें मुख्य

है। जब अचेतन प्रधानमें आत्मशब्द मुख्य हुवा, तब प्रधानकर्तृक ईक्षण भी मुख्य ही अङ्गीकार करना होगा, और पूर्वोक्त रीतिसे जब प्रधानमें गौण अथवा मुख्य ईक्षणकी सिद्धि हुई तब प्रधान भी जगत्का कारण हो सकता है इति।

सिद्धान्ती इस शंकाका उत्तरको कहता है :—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

अर्थ—इस सूत्रमें दो पद हैं—१ तन्निष्ठस्य, २ मोक्षोपदेशात्। 'तत्' कहिये जगत्का कारणसत्य पदार्थमें, 'निष्ठा' कहिये 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इस प्रकारका अभेद ज्ञान है जिस पुरुषको तिस पुरुषका नाम तन्निष्ठ है, ऐसा ब्रह्मनिष्ठ पुरुषका 'मोक्षोपदेशात्' कहिये मोक्षका श्रवण होता है अतः प्रधान कारण नहीं इति।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रके तात्पर्यको वर्णन करते हैं। अचेतन प्रधान आत्मशब्दका आलम्बन नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रधानमें आत्मशब्द-का प्रयोग नहीं बन सकता है। क्योंकि **'स आत्मा'** इस छान्दोग्य श्रुति करके, प्रसङ्गमें प्राप्त सूक्ष्म (दुर्लक्ष्य) सद्रूप आत्माको ग्रहण करके, उद्दालक ऋषिने मुक्त करनेको योग्य श्वेतकेतुके प्रति 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे अभेद ज्ञानरूप निष्ठाको उपदेश किया। तदनतर **'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'**। इस श्रुति करके मोक्षका उपदेश किया है। श्रुतिका अर्थ यह है—श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यवाला पुरुष ब्रह्मको जान सकता है, और ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको उतना काल ही विलम्ब है कि जहां तक प्रारब्ध कर्मका नाश नहीं होता, प्रारब्ध कर्मके नाशसे अनन्तर विदेह कैवल्यरूप मोक्षको प्राप्त होता है इति। प्रसङ्गमें यदि 'सत्' शब्द-का वाच्य अचेतन प्रधानको 'तत्त्वमसि' यह वाक्य 'तत्' पद करके बोधन करेगा। अर्थात् चेतनरूपमुमुक्षुको **'त्वमचेतनोसि'** चेतनरूप तू अचेतन स्वरूप है, इस प्रकारका बोध करेगा तो विपरीत अर्थको बोधन करनेवाला शास्त्र मुमुक्षु पुरुषका अनर्थके वास्ते होगा। अतः शास्त्र अप्रमाणरूप होगा। यदि वादी कहे कि शास्त्र अप्रामाणरूप रहो। यह वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि निर्दोष शास्त्रमें अप्रमाण्यकी कल्पना नहीं कर सकते।

और विपरीतवादि शास्त्र अनर्थके लिये होगा। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—जैसे महान् भयङ्कर वनमें मार्ग के समीप में पड़ा हुवा अति दुःखित दोनों नेत्र करके रहित पुरुषको देखकर कोई दुष्टात्मा पूछता है कि, अनेक हिंसक जन्तुवों करके परिपूरित अरण्यके दुर्गम मार्गमें सहायक सम्बन्धियों करके रहित अकेले क्यों स्थित हो? विप्रलम्भक पुरुषके ऐसे अत्यन्त मधुर सुखकर वचनोंको श्रवण करके, "विवेक रहित जो अन्ध पुरुष है सो दुष्टात्माको आप्त समझकर सहर्ष कहता है कि, दैव करके हत हुवा तथा दोनों नेत्र करके रहित हुवा मैं इस मार्गको प्राप्त होकर अनेक बन्धुवां

करके परिपूरित रमणीय नगरकी प्राप्तिमें असमर्थ हूं, बहुत दिनोंसे यहां ही पड़ा हुवा हूं, आज मेरे बड़े भाग्य हैं क्योंकि परम दयालु आपके दृष्टिपथको प्राप्त जो मैं हूं सो शोक सागरसे उत्तीर्ण तथा लब्ध सम्पूर्ण मनोरथ हुवा बहुत आनन्द पूर्वक स्थित हूं। अर्थात् अब अवश्य अभीष्ट अपने नगरको प्राप्त होऊंगा"। इस प्रकार अन्ध पुरुषके वचनोंको श्रवणकर, वह दुष्टात्मा दुष्ट युवा गौ को (अर्थात् दुष्ट सांढको) लाकर उसके लाङ्गूलको अन्ध पुरुषके हस्तमें ग्रहण कराकर, अन्ध पुरुषसे कहाकि "इस युवा गौके लाङ्गूलको नहीं छोड़ना, यह तुम्हारे अभीष्ट नगरको प्राप्तकर देगा"। वह अन्ध पुरुष दुष्टात्माके वचनोंमें श्रद्धा करके इधर उधर सकण्टक वनोंमें दौड़ता हुआ सांढके लाङ्गूलको नहीं त्यागकर अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करता हुआ भी अभीष्ट नगरको नहीं प्राप्त होकर महान् अनर्थ परम्पराको ही प्राप्त होता है। तैसे अज्ञानी मुमुक्षुके प्रति यदि प्रमाणरूप शास्त्र अचेतन अनात्मा प्रधानको आत्मारूप करके उपदेश करेगा तो मुमुक्षु पुरुष शास्त्रके वचनोंमें श्रद्धा करके अनात्मा प्रधानमें आत्म दृष्टिको त्याग नहीं करेगा। और जब अनात्मामें आत्मदृष्टिको त्याग न करेगा तब अनात्मासे भिन्न आत्माको नहीं प्राप्त होगा। और जब आत्माको प्राप्त नहीं हुवा (अर्थात् आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं हुवा) तब मुमुक्षु पुरुष मोक्षरूप पुरुषार्थ करके रहित हो जायगा। और वारंवार जन्म मरणादिरूप संसारको ही प्राप्त होगा। अतः जैसे स्वर्गार्थी पुरुषके प्रति यथार्थ अग्निहोत्रादिक साधनोंको **'अग्निहोत्रं जुहुयात्'** यह शास्त्र उपदेश करता है। तैसे **'स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** इत्यादिक शास्त्र भी मुमुक्षु पुरुषको यथार्थ आत्माका उपदेश करता है ऐसा अङ्गीकार करना ही उचित है।

शंका। 'तत्त्वमसि' इत्यादिक जो वाक्य हैं सो जीवका प्रधानके साथ ऐक्यउपासनाको बोधन क्यों न करें?

समाधान। 'तत्त्वमसि' इत्यादिक महावाक्य प्रधानकी अभेदभावनारूप उपासनाके बोधक नहीं हैं। **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** इस श्रुतिमें 'सत्' पद करके परब्रह्मका ही ग्रहण है। अत एव विद्वान् भी मर कर ब्रह्ममें लीन होता है। और अविद्वान् भी मर कर ब्रह्ममें ही लीन होता है। अविद्वान्की शास्त्रमें पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) कही है, विद्वान्की पुनरावृत्ति नहीं कही इसमें क्या कारण है? श्वेतकेतुकी इस आशङ्काको दूर करनेके लिये छान्दोग्यके षष्ठ प्रपाठकके अन्तमें **'स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपत'** इत्यादिक श्रुति करके उद्दालक ऋषिने तप्त परशुग्रहण मोक्षका दृष्टान्त दिया है। दृष्टान्तका भाव यह है—जैसे लोकमें चोरबुद्धि करके राजपुरुष दो पुरुषोंको पकड़कर राजाके पास लाये, जिनमेंसे एक पुरुष चोर था, दूसरा पुरुष चोर नहीं था। राजाने दोनोंको तप्त परशु हस्तमें ग्रहण करानेको कहा और कहा कि जिसने

चोरी नहीं की होगी जो सत्याभिसन्ध होगा, उसका हस्त नहीं जलेगा, वह मुक्त कर दिया जावेगा। और जो अनृताभिसन्ध होगा उसका हाथ जलेगा वह कारागार भेज दिया जावेगा। दोनों पुरुषोंने तप्त परशु ग्रहण किया, जो झूठा था, चोर था, उसका हस्त दग्ध हुवा वह कारागार भेज दिया गया। और जो सत्यवादी था उसका हस्त दग्ध नहीं हुवा, वह मुक्त कर दिया गया। तैसे ही ब्रह्मलीनत्व समान होने पर भी अविद्वान् अनृताभिसन्धि दोषसे पुनर्जन्मपरम्परारूप कारागारको प्राप्त होता है। और विद्वान् सत्याभिसन्धिके बलसे पुनरावृत्तिको प्राप्त नहीं होता है, किन्तु मुक्त होता है।

इस दृष्टान्तसे मोक्ष तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि सदभिन्न आत्मवादी सत्यवादी हो। यदि चेतन आत्मासे भिन्न अचेतन प्रधानको आत्मरूप करके उपासना करनेवाला श्वेतकेतु है तो अविद्वान् है अनृताभिसन्ध है। अतः श्वेतकेतुके प्रति मोक्षका उपदेश असङ्गत होगा। अर्थात् "जैसे सत्यमें अभिसन्धि वाले पुरुषका मोक्ष होता है, तैसे सत्य ब्रह्ममें 'अहम्' इस प्रकारकी अभिसन्धि कहिये अभिप्रायवाले पुरुषका मोक्ष होता है" इस रीतिसे श्रुति करके कृत जो उपदेश है सो उपासना पक्षमें नहीं बन सकता है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'अन्यथाहि'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य यदि अमुख्य सद्रूप प्रधानात्माका उपदेश करेंगे तो **'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्'** अर्थ—मैं उक्थ स्वरूप हूँ ऐसा जाने। शरीरको उत्थान करनेवाला प्राण है अतः प्राणका नाम उक्थ है अर्थात् अपनेसे अभिन्न करके प्राणकी उपासना करे इति। जैसे इसप्राणकी उपासनाका अनित्य फल है, तैसे उपासना मात्रका अनित्य ही फल होता है। और यदि जीवका प्रधानके साथ अभेदउपासना मानोगे तो यह सम्पद्रूप उपासना भी अनित्य फलवाली होगी। और जब अनित्य फलवाली हुई तब 'तस्य तावदेव चिरं' इत्यादिक श्रुति करके जो मोक्षका उपदेश किया है सो असङ्गत होगा, क्योंकि मोक्ष सर्वके मतमें नित्य है अनित्य नहीं। अतः 'तत्त्वमसि' इस वाक्य करके जीवका प्रधानके साथ अभेदउपासना नहीं बन सकती है। और पूर्वोक्त रीतिसे चेतनमें अचेतनत्व आदिक अनर्थकी भी प्राप्ति होगी। अतः प्रधानमें आत्मशब्द गौण नहीं हो सकता है।

वस्तुतः **'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** इस प्रकरणमें 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति गत जो आत्मा शब्द है, तथा 'स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस श्रुतिगत जो 'आत्मा' शब्द है सो आत्मशब्द 'तदैक्षत' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य अणिमा सत् चेतनरूप ईक्षणके कर्तामें ही मुख्य है। इस आत्मशब्दमें गौणत्व है नहीं। अतएव हितकारित्वरूप गुणके योगसे गुणवृत्ति करके यह आत्मशब्द प्रधानको बोधन भी नहीं करता। और

'ममात्मा भद्रसेनः' इस दृष्टान्तमें तो राजाका तथा भृत्यका परस्पर भेदको प्रत्यक्ष सिद्ध होनेसे भृत्यमें आत्मशब्द गौण है।

और जो वादीने कहा था कि जैसे नानार्थक ज्योतिः शब्द ज्योतिष्टोम यागका तथा अग्निका बोधक है, तैसे नानार्थक आत्मशब्द चेतन तथा अचेतन दोनोंका बोधक है। यह भी वादीका कहना असंगत है, क्योंकि एकार्थ-कत्वके सम्भव हुये अनेकार्थकत्व अन्याय्य है। अगति करके हरि आदिक शब्दोंमें नानार्थकत्व माना है। और प्रसंगमें ज्योतिः शब्द भी अग्निमें ही रूढ़ है। और जैसे अग्निमें अर्थका प्रकाशकत्व है, तैसे ज्योतिष्टोमके स्तावक मन्त्ररूप स्तोममें भी अर्थप्रकाशकत्व है। अतः, अर्थवाद वाक्य करके कल्पित जो स्तोममें अर्थका प्रकाशकत्वरूप सादृश्य है, तिस सादृश्यरूप गुण करके स्तोमको ज्योतिःशब्द बोधन करता है। अतः क्रतुमें ज्योतिः शब्द गौण है, मुख्य नहीं। इस लिये ज्योतिः शब्दका दृष्टान्त असंगत है। किञ्च किंचित् भृत्यादिकोंमें आत्मशब्द गौण है अतः 'सर्वत्र आत्मशब्द गौण है' ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। क्योंकि शब्द ही अलौकिक अर्थ में प्रमाण है। यदि सर्वत्र आत्मशब्दको गौण मानोगे तो 'अहं आत्मा' मैं आत्मस्वरूप हूं, इस स्थलमें भी आत्मशब्दको गौण मानना चाहिये तथाच सर्वत्र अव्यवस्थाका प्रसंग होगा, परञ्च कोई मानता नहीं। अतः चेतनमें ही आत्मशब्द मुख्य है। और भूत तथा इन्द्रियोंका आत्माके साथ तादात्म्याध्यास होनेसे भूतादिकोंमें आत्मशब्दका प्रयोग होता है, **भूतात्मा, इन्द्रियात्मा इति** ।

शंका। प्रधानका भी परमात्माके साथ अध्यास बन सकता है। अतः चेतन अचेतन साधारण आत्मशब्दको मानना चाहिये।

समाधान। आत्मशब्दको उभय साधारण माननेसे भी अचेतन प्रधानको आत्मशब्द बोधन नहीं कर सकता है, क्योंकि जैसे सत् शब्दका तथा तत् शब्दका अर्थ जो जगत्का कारण ईक्षण कर्ता है तिस ईक्षणकर्तामें चेतनत्वका निश्चायक, 'सदेव सोम्य' इत्यादिक प्रकरण है तथा श्वेतकेतुपद है। तैसे प्रधानका निश्चायक न प्रकरण है,न कोई पद है। और अचेतन प्रधान श्वेतकेतुका आत्मा भी नहीं हो सकता है इस अर्थको पूर्व कह आये हैं। अतः प्रकृतमें जो आत्मशब्द है सो चेतन विषयक है अचेतन प्रधान विषयक नहीं यह सिद्ध हुवा।

आत्मशब्द प्रधानमें गौण है अथवा नानार्थक होनेसे ज्योतिःशब्दकी तरह आत्मशब्द चेतन तथा अचेतनमें मुख्य है, इस शंकाका उत्तरके लिये पृथग् इस सूत्रका जो आरम्भ है सो व्यर्थ है। क्योंकि 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' इस पूर्व सूत्रमें ही आत्मशब्दनिष्ठ गौणत्व तथा नानार्थकत्वका निरास करना उचित था। इस अरुचिसे भाष्यकार भगवान् पक्षान्तरको दिखाते हैं– **'अथवा पूर्वसूत्र एवात्मशब्दम्'** इत्यादि। भाव यह कि जैसे ईक्षणनिष्ठ गौणत्व शंकाकी निवृत्तिपूर्वक प्रधान

कारण वादनिराकरण परत्वेन 'आत्मशब्दात्' इस हेतुका व्याख्यान किया है। इसी प्रकार 'स आत्मा' 'अनेनजीवेनात्मना' इत्यादि आत्मशब्दमें गौणत्व व साधारणत्व शंकाकी निवृत्तिपूर्वक प्रधान कारणवाद निराकरणपरत्वेन भी 'आत्मशब्दात्' इस हेतुका व्याख्यान करना चाहिये। आत्मशब्दनिष्ठ समस्त गौणत्व साधारणत्व शंका निरासके अनन्तर प्रधान कारणवाद निराकरणमें 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' इस हेतुका स्वतन्त्र व्याख्यान करना चाहिये, प्रथम व्याख्यानकी तरह 'आत्मशब्दात्' इस हेतुका साधकत्वेन शेष नहीं मानना चाहिये। अर्थात् कारणरूप सत्‌में निष्ठावान् पुरुषकी मुक्तिका उपदेश प्रधान कारणवादमें अनुपपन्न होकर ब्रह्मकारणवादकी सिद्धि करता है। अतः जड़-प्रधान सत्‌शब्दका वाच्य व ईक्षणका कर्ता नहीं बन सकता इति ॥७॥

शंका। जैसे कोई पुरुष सूक्ष्म अरुन्धतीके समीपमें स्थित स्थूल ताराको दिखाता है कि यह स्थूल तारा अरुन्धती है। जब देखनेवाला कहता है कि मैं अरुन्धतीको देख लिया। तब दिखानेवाला पुरुष कहता है कि यह स्थूल तारा अरुन्धती नहीं है, किन्तु इस स्थूल ताराके समीपमें जो एक बहुत सूक्ष्म तारा है सो अरुन्धती है। इस प्रकार अरुन्धतीरूप करके उपदिष्ट स्थूल ताराको त्याग कराके यथार्थ अरुन्धतीको ग्रहण कराता है। तैसे अत्यन्त सूक्ष्म सद्रूप आत्माको दुर्विज्ञेय होनेसे उद्दालक ऋषिने प्रथम आत्माके समीप स्थूल प्रधानको ही 'स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस वाक्यसे श्वेतकेतुके प्रति सद्रूप करके उपदेश किया है। अतः सत् शब्दका वाच्य अर्थ प्रधान है। तुम किस हेतुसे कहते हो कि प्रधान सत् शब्दका वाच्य अर्थ नहीं है?

समाधान—इस शंकाका समाधान व्यास भगवान् दिखाते हैं:—

हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

अर्थ-इस सूत्रमें दो पद हैं। १ हेयत्वावचनात्, २ च। जैसे स्थूल तारामें हेयत्वका बोधक वचन है कि यह स्थूल तारा अरुन्धती नहीं है, किन्तु इससे भिन्न अरुन्धती है। तैसे 'स आत्मा' इत्यादिक वाक्य करके उपदिष्ट सत् शब्दके अर्थमें हेयत्वका बोधक 'अवचनात्' कहिये'यह प्रधान सत् शब्दका अर्थ नहीं है'इत्यादि वचनका अभाव है। अतः प्रधान सत् शब्द-का वाच्य अर्थ नहीं। और कारणका ज्ञानसे कार्य मात्रका ज्ञान होता है ऐसी जो प्रतिज्ञा है तिस प्रतिज्ञाका विरोध 'च' शब्दका अर्थ है इति।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रके तात्पर्यको वर्णन करते हैं। सत् शब्द-का वाच्य यदि अनात्मारूप प्रधान 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इस वाक्य करके उपदिष्ट होवे तो "श्वेतकेतुको अनात्मज्ञ होने करके तिस उपदेशके श्रवण-से प्रधानमें अभेद ज्ञानरूप निष्ठा न होवे, किन्तु मुख्य चेतनरूप आत्मामें ही अभेद ज्ञानरूप निष्ठा होवे" इस प्रकारकी इच्छावाला उद्दालक ऋषि 'नायमा-

त्मा' यह प्रधान आत्मा नहीं है इस प्रकारसे प्रधानमें हेयत्वको कहते। जैसे अरुन्धतीको दिखानेकी इच्छावाला पुरुष स्थूल तारामें हेयत्वको कहता है। तैसे कहा नहीं, अतः सत् शब्दका वाच्य प्रधान नहीं हो सकता। और सत् शब्दका बोध्य चेतनरूप ब्रह्मसे अभिन्न प्रत्यग् आत्माका साक्षात्काररूप निष्ठामें ही छान्दोग्यके षष्ठ प्रपाठककी परिसमाप्ति देखनेमें आती है। इस हेतुसे भी प्रधान सत् शब्दका वाच्य नहीं हो सकता।

और प्रधानमें हेयत्व वचनके विद्यमान हुये भी, यदि प्रधानको सत् शब्दका वाच्य मानोगे तो प्रतिज्ञाका विरोध होगा। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—**कारणविज्ञानाद्धि सर्वं विज्ञातमिति प्रतिज्ञातम्।** अर्थात्—कारणके ज्ञानसे कार्यमात्रका ज्ञान होता है इस प्रकारकी प्रतिज्ञा देखनेमें आती है। जब श्वेतकेतु गुरुकुलसे विद्याको ग्रहण कर अपने पिताके पास आकर पिताको नमस्कारादिरूप क्रियासे संमानित नहीं करके स्तब्ध अर्थात् चुप चाप अनम्र बैठ गया। तब पिताने सोचा कि "यह गुरुकुलसे विद्याको ग्रहण करके नहीं आया है, किन्तु विद्याका अभिमानरूप अविद्याको ग्रहण करके आया है। परन्तु यह मेरा पुत्र है, अत इसका कल्याण अवश्य होना चाहिये"। ऐसा विचार कर परम दयालु उद्दालक ऋषि श्वेतकेतुके प्रति कहते भये कि-हे पुत्र! आचार्यकी उक्ति करके गम्य जो आदेशरूप वस्तु है, जिसके श्रवण, मनन, विज्ञान करके अन्य वस्तुमात्रका श्रवण, मनन, विज्ञान होता है, तिस वस्तुको तुम अपने गुरुसे पूछा है?

शंका। अन्यका ज्ञान करके जो अन्य अज्ञात वस्तु है सो ज्ञात किस प्रकार हो सकता है?

समाधान। यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। अर्थ—हे प्रियदर्शन! जैसे एक मृत्पिण्डका ज्ञान करके सम्पूर्ण मृत्तिकाका कार्य विज्ञात होता है। तैसे एक सत् कारण वस्तुके ज्ञानसे सर्व कार्यका ज्ञान होता है। और वाग् इन्द्रिय करके जो घटादिक विकार आरम्भ किया जाता है तिस घटादिक विकारका नाम वाचारम्भण है। वाचारम्भण अर्थात् नाममात्र ही विकार है सो मिथ्या है, कारण मृत्तिका मात्र सत्य है इति।

शंका। वाग् इन्द्रिय करके नामका आरम्भ होता है, घटादिक विकारोंका नहीं।

समाधान। विकारका लय नाममें होनेसे नाममात्र जो विकार है सो वाचा करके कहा जाता है। और वस्तुतः कारणसे भिन्न कार्य नहीं है। अतः घटादि विकार मिथ्या है।

शंका। जब विकारको मिथ्या मानोगे तब विकारसे अभिन्न कारण

भी मिथ्या होगा। अर्थात् घटसे अभिन्न मृत्तिका, तथा प्रपञ्चरूप विकारसे अभिन्न ब्रह्म चेतन भी मिथ्या होगा।

समाधान। कारण जो होता है सो कार्यसे भिन्न सत्तावाला होता है, और कार्य जो होता है सो कारणसे भिन्न सत्तावाला नहीं होता है। अतः कारणमें मिथ्यात्व नहीं बन सकता है। और कारणसे अतिरिक्त कार्यके स्वरूपका अभाव होनेसे कारणके ज्ञान करके कार्य मात्रका ज्ञान भी बन सकता है। इस अर्थ-को छान्दोग्यमें श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक ऋषिने उपक्रममें कहा है– **'एवं सोम्य स आदेशो भवति'** इत्यादि। अर्थात् मृत्तिकाकी तरह ब्रह्म ही सत्य है। और घटा-दिकोंकी तरह आकाशादिक प्रपञ्चविकार मिथ्या है। इस प्रकारका ब्रह्मज्ञानके हुये ब्रह्मातिरिक्त ज्ञेय पदार्थ कोई अवशेष नहीं रहता है। सोई ब्रह्म गुरूपदेश करके लभ्य आदेशरूप है। और भोग्यसमूहका कारण जो प्रधान है तिस प्रधान-का हेय तथा अहेयरूप करके ज्ञानके हुये भी प्रधानके कार्य महदादिक विकारका ज्ञान हो सकता है। परन्तु प्रधानका अकार्य जो भोक्तासमूह है तिसका ज्ञान न होगा। अतः प्रधानके ज्ञानसे सर्व वस्तुके ज्ञानका अभावहोनेसे सत् शब्दका बोध्य चेतन रूप ब्रह्म ही है। जिस चेतनरूप ब्रह्मके ज्ञानसे भोक्ता तथा भोग्य सर्वका ज्ञान होता है अर्थात् भोक्ता जो जीव है और भोग्य जो जगत् है सो सर्व सद्रूप ब्रह्मसे अभिन्न है। अतः सत् शब्दका बोध्य अर्थ ब्रह्मका ज्ञान होनेसे जीव व जगत्का ज्ञान हो चुका। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रधान सत् शब्दका वाच्य नहीं है यह सिद्ध हुवा इति ॥८॥

पुनः सांख्यवादी पूछता है कि और किस हेतुसे सत् शब्दका वाच्य प्रधान नहीं है। इसका समाधान व्यास भगवान् कहते हैं :—

॥ स्वाप्ययात् ॥९॥

अर्थ—इस सूत्रमें 'स्वाप्ययात्' यह समस्त एक पद है। सुषुप्ति अवस्थामें स्व शब्दका अर्थ जगत्का कारण सद्रूपमें जीवके लयका श्रवण होता है, अतः सत् शब्दका वाच्य चेतन है प्रधान नहीं हो सकता है इति।

अब सूत्रके तात्पर्यको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं–छान्दोग्यमें पूर्वोक्त सत् शब्दका वाच्य कारणको प्रसङ्गमें प्राप्त करके आगे कहा है कि **'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपिती-त्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति।'** **अर्थ**—उद्दालक ऋषिने श्वेतकेतुके प्रति कहा है कि, हे सोम्य! जिस अवस्थामें जीवका नाम 'स्वपिति' होता है, तिस सुषुप्ति अवस्थामें मन आदिक उपाधिके विलय होनेसे, जीव सत्शब्दका वाच्य परमात्माके साथ अभेदको प्राप्त होता है। जीवका 'स्वपिति' यह नाम किस प्रकार हुवा? ऐसी आकाङ्क्षाके हुये सिद्धान्ती कहता है कि गुणयोगसे हुवा,

क्योंकि 'स्वमपीतो भवति' मन आदिक उपाधिके विलीन होनेसे उपाधिकृत जो जीवत्व है तिसको त्याग करके अपना सद्रूप परमार्थ सत्यको जीव प्राप्त होता है। अर्थात् जीवकी उत्पत्ति तथा प्रलय विषयक 'प्रभवाप्ययौ' यह प्रयोग देखनेमें आता है। अतः सत् शब्दके वाच्य परमात्मामें जीवका लय * होता है। अतः सुषुप्तिमें स्थित जीवको 'स्वपिति' इस नामसे लोक कहते हैं। और जिस कारणसे जीव स्वशब्दका वाच्य सद्रूप अपने आत्माको प्राप्त होता है, अतः सत् शब्दका वाच्य चेतन है, अचेतन प्रधान नहीं इति।

शंका। जीवको नित्य होनेसे श्रुतिमें जो जीवका लय कहा है सो असङ्गत है।

समाधान। उपाधिके लयसे जीवका लय कहा है, तहां प्रथम जाग्रत् अवस्थाकी उपाधिको दिखाते हैं—**'मनःप्रचारोपाधिविशेषसंबन्धादिन्द्रियार्थान् गृह्णंस्तद्विशेषापन्नो जीवो जागर्ति'** इति भाष्यम्। अर्थ—चक्षुरादिक इन्द्रियद्वारा मनका जो परिणामरूप घटादि आकार वृत्ति हैं तिन वृत्तियोंका नाम मनःप्रचार है। और तिन वृत्तिरूप उपाधियों के द्वारा स्थूल घटादिरूप विशेष वस्तुवोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है। अत इन्द्रियोंको विषय घटादि वस्तुवोंको देखता (प्रकाशता) हुवा स्थूल देहरूप उपाधिके साथ 'मनुष्योऽहं, नरोऽहम्' इस प्रकार ऐक्यभ्रान्तिको प्राप्त हुवा आत्मा 'विश्व' संज्ञावाला होता है, तथा 'जागर्ति' इस व्यवहारका विषय होता है इति।

जाग्रत्की स्थूल उपाधिको कहकर अब स्वप्नकी उपाधिको कहते हैं—**'तद्वासनाविशिष्टः स्वप्नान् पश्यन् मनःशब्दवाच्यो भवति'** इति भाष्यम्। अर्थ—जाग्रत् पदार्थोंके अनुभवजन्य वासनाका आश्रय जो मन है, तिस मन करके विशिष्ट हुवा आत्मा, मायाका परिणामरूप स्वप्न पदार्थोंको देखता हुवा 'सोम्य तन्मनः' इस श्रुतिस्थ 'मनः' शब्दका वाच्य होता है। अर्थात् 'अहं कर्ता, अहं भोक्ता' इस प्रकार मनरूप उपाधिके साथ ऐक्यभ्रान्तिको प्राप्त हुवा आत्मा 'तैजस संज्ञावाला है' इस व्यवहारका विषय होता है इति।

और सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल तथा सूक्ष्मरूप उपाधिके विलीन हुये, आत्मा 'अहं कर्ता' इत्यादिक विशेष अभिमानका अभाव होनेसे स्वात्मामें लीनकी तरह कहा जाता है **'स्वं ह्यपीतो भवति'** इति। इस प्रकार लयरूप गुणके योगसे आत्माका नाम 'स्वपिति' है।

और जैसे छान्दोग्य श्रुतिमें—सर्व पापादिक दोषरहित आकाश शब्दका वाच्य जो आत्मा है सो हृदयरूपी कमलमें रहता है, अत आत्माका नाम हृदय है। इस प्रकार आत्माके हृदय नामका निर्वचनकिया है। और **'तदशितं नयन्ते'**। भोजन किया हुआ जो अन्न है तिस अन्नको जल द्रवीभावको प्राप्त करके जीर्ण कर देता है, अत आपका नाम अशनाया है। इस प्रकार

* गत्यर्थक 'इण' धातुका 'अपि'के योगसे लय अर्थ होता है।

आपके अशनाया नामका निर्वचन किया है। और 'तेज एव तत्पीतं नयते' तेज जो है सो पान किये हुये उदकको शोषण करता हुवा लोहितादि स्वरूप करके परिणामको प्राप्त करता है, अतः तेजका नाम उदन्या है। इस प्रकार तेजके उदन्या नामका निर्वचन किया है। यहां हृदय, अशनाया, उदन्या, इन नामोंके निर्वचन करके 'हृदय' शब्दसे आत्माको, तथा 'अशनाया' शब्दसे आपको, तथा 'उदन्या' शब्दसे तेजको, श्रुतिने बोधन किया है।

तैसे 'स्वपिति' इस नामका निर्वचन करके सत् शब्दका वाच्य 'स्व' कहिये अपना आत्माको, सुषुप्ति अवस्थामें जीव 'अपीतो भवति' कहिये प्राप्त होता है, इस अर्थको श्रुति दिखाती है। अतः श्रुतिमें स्थित 'स्व' शब्द करके जड़ प्रधानका ग्रहण नहीं करना। क्योंकि चेतनरूप आत्मा अचेतन प्रधान स्वरूपमें कभी लीन नहीं हो सकता है *। यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि जैसे स्व शब्दकी शक्ति आत्मामें है, तैसे 'आत्मीय' में भी है, अत आत्माका सम्बन्धी आत्मीय प्रधान भी स्व शब्दका वाच्य हो सकता है। यह वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि **'चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धमापद्येत'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—चेतन जो है सो अचेतन प्रधानमें लीन होता है। अर्थात् सुषुप्ति अवस्थामें चेतन जीव जो है सो चेतनसे विरुद्ध अचेतन प्रधानमें लयभावको प्राप्त होता है। यह अर्थ अनुभव विरुद्ध है। अतः 'स्व' शब्दका वाच्य आत्मीय प्रधान नहीं हो सकता है इति।

और इसी अर्थमें वृहदारण्यक श्रुतिको भी दिखाते हैं—**'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।'** अर्थ—प्राज्ञरूपबिम्बचैतन्य ईश्वरके साथ भेदभ्रमका अभाव होनेसे 'संपरिष्वक्तः' कहिये अभिन्न हुआ प्रतिबिम्बरूप जीव बाह्य घटादिक पदार्थोंको नहीं जानता (प्रकाशता) है, और अन्तर दुःखादिक पदार्थोंको भी नहीं जानता है इति। सुषुप्ति अवस्थामें यह श्रुति चेतनमें ही जीवका लयको दिखाती है। अतः सम्पूर्ण चेतनोंका जिसमें 'अप्यय' कहिये लय होता है सो चेतन सत् शब्दका वाच्य जगत्का कारण है, प्रधान नहीं इति ॥९॥

पुनः सांख्यवादी पूछता है कि और किस हेतुसे प्रधान जगत्का कारण नहीं है। सूत्रकार समाधान कहते हैं :—

॥ गतिसामान्यात् ॥१०॥

अर्थ—इस सूत्रमें 'गतिसामान्यात्' यह एक ही समस्तपद है। सूत्रमें 'गति' शब्द करके अवगतिका ग्रहण करना। 'अवगति' नाम ज्ञानका है, तिस ज्ञानमें सामान्यको होनेसे

---

* जैसे शुक्तिरजतका लय अनात्मरूप हस्तीमें नहीं होता है, किन्तु स्वकल्पनाधिष्ठान शुक्तिमें ही होता है, तद्वत् जीवका लय प्रधानमें नहीं बन सकता, किन्तु स्वकल्पनाधिष्ठान सत् शब्दका वाच्य ब्रह्ममें ही होता है।

अर्थात् तत् तत् वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञानमें एक चेतनरूप जगत्का कारणविषयकत्व सामान्य है कहिये तुल्य है, अतः, अचेतन जगत्का कारण नहीं हो सकता इति ।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रका तात्पर्यको वर्णन करते हैं:-जैसे तार्किकोंके शास्त्रमें कहीं चेतनरूप कारण देखनेमें आता है, कहीं अचेतन प्रधान रूप कारण देखनेमें आता है, कहीं परमाणु आदिक कारण देखनेमें आते हैं। अतः कारणविषयक अवगति भिन्न भिन्न हैं। तैसे यदि वेदान्त वाक्यमें भी क्वचित् चेतनरूप कारणविषयक, क्वचित् अचेतन प्रधानरूप कारणविषयक, क्वचित् परमाणु आदिक कारणविषयक अवगति भिन्न २ देखनेमें आती तो कदाचित् प्रधान कारणवादको अनुसरण करके भी प्रधानमें ईक्षणादिकोंकी कल्पना करते। परन्तु अवगतिमें वैषम्य नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रमें एक चेतनरूप कारण विषयक ही समान अवगति देखनेमें आती है। इस अर्थमें अनेक श्रुति प्रमाणको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं–**'यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः'** इति कौशीतकी श्रुतिः। अर्थ—जैसे प्रज्वलित महान् अग्निसे निकसकर 'विस्फुलिङ्ग' कहिये सूक्ष्म चिनगारे सर्व दिशावोंके प्रति गमन करते हैं। तैसे इस आत्मासे, सम्पूर्ण 'प्राण' कहिये चक्षुरादिक इन्द्रिय अपने अपने गोलकमें प्रादुर्भावको प्राप्त होते हैं। और इन्द्रिय रूप प्राणोंसे अनन्तर 'देवाः' कहिये इन्द्रियोंके अनुग्राहक सूर्यादिक देवता प्रगट होते हैं। और देवोंसे अनन्तर 'लोक' कहिये रूपादिक विषय प्रगट होते हैं इति। **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** (तै०) अर्थ–'तस्मात्' कहिये व्यवहित ब्राह्मणवाक्य करके उक्त 'एतस्मात्' कहिये 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' इस मन्त्र करके उक्त प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप आत्मा से आकाश उत्पन्न होता भया इति। **'आत्मत एवेदं सर्वम्'** (छा०) अर्थ—यह दृश्यमान सम्पूर्ण प्रपञ्च आत्मासे ही उत्पन्न होता भया इति। **'आत्मन एष प्राणो जायते'** (प्र०) अर्थ—आत्मासे ही यह पञ्च वृत्त्यात्मक प्राण उत्पन्न होता है इति। इस प्रकार सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र आत्मामें कारणत्वको दिखाता है। और पूर्वोक्त श्रुतियोंमें जो आत्मशब्द है सो चेतनका वाचक है ऐसा पूर्व ही कह आये हैं। और चेतननिष्ठ कारणत्वविषयक जो वेदान्तवाक्योंमें समान अवगतित्व है। अर्थात् चेतनरूप कारणविषयक समान ज्ञानजनकत्व है। सो वेदान्तवाक्योंमें महत् प्रामाण्यका कारण है। और जैसे सम्पूर्ण चक्षुवोंमें एक रूपके ज्ञानका जनकत्व है, कोई नेत्र रसज्ञानजनक हो. कोई शब्दज्ञानजनक हो ऐसा नहीं है। अतः नेत्र रूपमें स्वतन्त्र प्रमाण है। एवं श्रोत्रादिकोंमें भी गति सामान्य है। तैसे सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंमें एक चेतनरूप कारण विषयक ज्ञानका जनकत्व है, अतः गतिसामान्यसे सर्वज्ञ ब्रह्म ही जगत्का कारण है इति ॥१०॥

शंका। वादी पूछता है कि और किस हेतुसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्कारण है?

समाधान। व्यास भगवान्ने प्रथम पञ्चम सूत्रस्थ 'ईक्षतेः' इस हेतुसे लेकर **'गतिसामान्यात्'** इस दशम सूत्रपर्यन्त ईक्षत्यादिक लिङ्गोंसे अचेतन प्रधानमें वेदान्तवाक्योंके समन्वयका निरास किया। अब चेतनवाचक शब्द करके निरास करते हैं—

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

अर्थ—इस सूत्रमें १ श्रुतत्वात्, २ च, यह दो पद हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में चेतनका वाचक 'सर्ववित्' शब्दका श्रवण होता है। अतः सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है इति।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—**'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः'**। अर्थात् सर्वज्ञ, तथा कालका भी नाशक कालरूप, तथा सत्त्वादिक गुणरूप मायाविशिष्ठ, तथा सर्वको विशेषरूप करके जाननेवाला, जो परमेश्वर है तिस परमेश्वरको प्रसङ्गमें प्राप्त करके आगे श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा है—**'स कारणं करणाधिपाऽधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'** (श्वे०६।९)। अर्थ—पूर्वोक्त जो सर्ववित् परमात्मा है सो जगत्का कारण है। और चक्षुरादिक करणोंका 'अधिप' कहिये स्वामी जो जीव है तिस जीवका भी स्वामी है। और इस परमात्माको उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है। और न इस परमात्माका कोई स्वामी है इति। अतः सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है। अचेतन प्रधान तथा परमाणु आदिक जगत्के कारण नहीं हो सकते हैं, यह सिद्ध हुवा ॥११॥ इतीक्षत्यधिकरणम् समाप्तम् ॥

शंका। पूर्व वृत्तान्तको अनुवाद करके 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रसे लेकर प्रथम अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त सूत्रसमूहका जो आरम्भ व्यास भगवान्ने किया सो व्यर्थ है। क्योंकि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र करके ब्रह्मजिज्ञासा करनेको योग्य है। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके प्रतिज्ञाका विषय जो ब्रह्म है सो ब्रह्म एक वेदान्तशास्त्र करके जाननेको योग्य है। और जो वेदान्त शास्त्र है सो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, तथा जगत्की उत्पत्ति स्थिति प्रलयका कारण ब्रह्ममें ही प्रमाणरूप है, प्रधानादिकोंमें नहीं। इस अर्थको युक्तिपूर्वक प्रतिपादन कर आये हैं। अर्थात् 'जन्माद्यस्य यतः' इससे लेकर 'श्रुतत्वाच्च' इत्यन्त सूत्रों करके उदाहृत जो वेदान्तवाक्य हैं, तिन वेदान्तवाक्योंमें जगत्के जन्म स्थिति लयका कारण सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वरका प्रतिपादकत्वको न्यायपूर्वक प्रतिपादन कर आये हैं। और गतिसामान्य करके सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्र चेतनरूप कारणको कथन करता है ऐसा भी व्याख्यान कर आये हैं। और चेतनरूप कारणसे भिन्न विपरीत अर्थका बोधक कोई वेदान्तभाग है नहीं। अतः, उत्तर ग्रन्थके उत्थानका कौन कारण है? अर्थात् कोई कारण है नहीं। अतः, उत्तर ग्रन्थ व्यर्थ है इति।

सिद्धान्ती समाधान को कहता है-'उच्यते' इति। अर्थात् वेदान्तशास्त्रमें सगुण तथा निर्गुण ब्रह्मके बोधक बहुत वाक्य देखनेमें आते हैं, तहां किस वाक्यका सगुण ब्रह्मकी उपासनाविधिद्वारा निर्गुण ब्रह्ममें समन्वय है, और किस वाक्यका साक्षात् निर्गुण ब्रह्ममें समन्वय है, इस प्रकारकी जो आकाङ्क्षा है सोई उत्तर ग्रन्थके उत्थानमें कारण है। 'द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते' इति भाष्यम्। अर्थ-नामरूपात्मक जो सम्पूर्ण जगत्‌रूप विकार है तिस विकारविशेष (हिरण्यश्मश्रुत्वादि उपाधि) करके विशिष्ट जो कार्य ब्रह्म व कारण ब्रह्म है सो ब्रह्मका सगुण स्वरूप है। और सर्व उपाधि करके रहित शुद्ध चेतन ब्रह्मका निर्गुण स्वरूप है इति। इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं-'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५)। अर्थ-जिस अज्ञानावस्थामें द्वैत प्रपञ्च सत्‌की तरह प्रतीत होता है तिस अज्ञानावस्थामें दृश्य उपाधिवाला सगुण आत्मा भिन्न हुवा भिन्न भिन्न वस्तुको देखता है। और जिस ज्ञानकालमें विद्वान्‌को सम्पूर्ण जगत् आत्ममात्र ही होता है तिस ज्ञानकालमें आत्मासे भिन्न वस्तुका अभाव होनेसे किस करण करके किस विषयको कौन कर्ता देखे? इति।

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमातदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छान्दो० ७।२४।१)। अर्थ-और जिस व्यापक आनन्द स्वरूप आत्मामें स्थित हुवा विद्वान् अपनेसे भिन्न द्रष्टव्य वस्तुको चक्षु इन्द्रिय करके नहीं देखता है, तथा अपनेसे भिन्न श्रोतव्य वस्तुको श्रोत्र इन्द्रिय करके नहीं श्रवण करता है, तथा मन्तव्य अन्य वस्तुको मन करके मनन नहीं करता है, तथा ज्ञातव्य अन्य वस्तुको बुद्धि करके नहीं जानता है, सो भूमा है-अर्थात् दृष्टि, श्रुति, आदिकोंका अगोचर अद्वितीय निर्गुण निरतिशय महत्त्व सम्पन्न परमात्मा है। और निर्गुण ब्रह्मकी उक्तिसे अनन्तर सगुण ब्रह्मको कहते हैं:—जिस परिच्छिन्न वस्तु स्वरूप सगुण ब्रह्ममें स्थित हुवा अविद्वान् अन्य २ द्वैत वस्तुको देखता है, श्रवण करता है, तथा जानता है, सो उपाधिवाला सगुण ब्रह्म परिच्छिन्न है। और निर्गुण तथा सगुण ब्रह्ममें दूसरी विलक्षणताको कहते हैं, जो भूमा है सो 'अमृत' कहिये नित्य मोक्षरूप है। 'अथ' कहिये नित्य भूमाकी उक्तिसे अनन्तर जो 'अल्प' कहिये परिच्छिन्न है सो अनित्य नाशवान् है इति।

सोपाधिक अन्तर्यामी परमात्मामें श्रुत्यन्तरको दिखाते हैं:—'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते' (तै० ३।१२।७)। अर्थ-जो परमात्मा है सो ही सम्पूर्ण नामरूपात्मक विश्वको उत्पन्न करके तथा बुद्धि आदिक उपाधिमें प्रवेश करके 'जीव संज्ञावाला है' इस व्यवहारका विषय हुवा सगुण ब्रह्मरूप करके स्थित है। तिस सगुण ब्रह्मको निर्गुणत्वरूप करके साक्षात् करता हुवा पुरुष इस शरीरमें ही अमृतरूप होता है इति। अब निरुपाधिक ब्रह्ममें श्रुत्यन्तरको दिखाते हैं—निष्कलं 'निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्'

श्वे० ६।१६। अर्थ—निवृत्त हो गई हैं 'कला' कहिये अंश जिस ब्रह्मसे तिस ब्रह्मका नाम 'निष्कल' है। तथा अंशरूप कला करके रहित होनेसे क्रिया करके शून्य 'निष्क्रिय' है। अतः 'शान्त' कहिये अपरिणामी है। तथा रागादिक दोष करके रहित होनेसे 'निरवद्य' है। तथा मूलाज्ञानरूप तमका सम्बन्धरूप अथवा धर्मादिरूप अञ्जन करके रहित होनेसे 'निरञ्जन' है। और जैसे मृत्तिकाकाष्टादिकोंका सेतु नदो आदिकोंके परपारकी प्राप्तिका कारण है, तैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादिक महावाक्य करके उत्पन्न जो ब्रह्माकारवृत्ति है तिस वृत्तिमें स्थित जो पूर्वोक्त चैतन्य है सो वृत्तिमें आरूढ़ चेतन, संसार समुद्रका परपाररूप जो ब्रह्मस्वरूप अमृत है तिस अमृतरूप मोक्षकी प्राप्तिका कारण है। और जैसे इन्धनको दग्ध करके अग्नि स्वयं प्रशान्त हो जाता है, तैसे अविद्या तथा अविद्याका कार्यको दग्ध करके स्थित ब्रह्मको प्रशान्तरूप करके जाने इति। और **'नेति नेति' 'अस्थूलमनणु'** इत्यादिक स्थूल तथा सूक्ष्म प्रपञ्चको निषेध करनेवाली श्रुति भी निर्गुण ब्रह्मको बोधन करती हैं इति।

निर्गुण तथा सगुण स्वरूपमें पुनः श्रुत्यन्तरको दिखाते हैं—**'न्यूनमन्यत् स्थानं संपूर्णमन्यत्'**। अर्थ—द्वैत प्रपञ्चके रहनेका स्थानरूप जो सगुण ब्रह्म है सो 'न्यून' कहिये परिच्छिन्न है। तथा 'अन्यत्' कहिये निष्प्रपञ्च रूप निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न है अर्थात् उपास्य है। और सगुण ब्रह्मसे 'अन्यत्' कहिये भिन्न निष्प्रपञ्च ब्रह्म मुक्त पुरुषों करके प्राप्य है। 'सम्पूर्ण' कहिये त्रिविध परिच्छेद शून्य सच्चिदानन्द स्वरूप है इति। और ब्रह्मके दो प्रकारके स्वरूपमें जो पूर्व श्रुति दिखाई हैं सो और भी अनेक श्रुतियोंकी उपलक्षण हैं। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'एवं सहस्रशो विद्याविद्याविषयभेदेन ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति वाक्यानि'**। अर्थ—जिस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति ब्रह्मकी द्विरूपताको दिखाती हैं, इसी प्रकार हजारों श्रुतिवाक्य विद्या तथा अविद्याके विषयके भेदसे ब्रह्मकी द्विरूपताको दिखाते हैं इति।

शंका। ब्रह्मके दो स्वरूप नहीं बन सकते हैं, क्योंकि एक वस्तुके एक कालमें दो रूप होना यह अनुभव विरुद्ध है।

समाधान। एक ब्रह्ममें ब्रह्मविद्याका विषयरूप जो ज्ञेय निर्गुणत्व है सो सत्य है। तथा उपासनारूप अविद्याका विषय जो सगुणत्व है सो कल्पित है। अत एक ब्रह्ममें दोनों धर्मोंका समावेश होनेसे द्विरूपता अविरुद्ध है। तहां अविद्यावस्थामें उपास्य उपासक आदिक सम्पूर्ण व्यवहार ब्रह्ममें होता है। और यहां पर ऐसा भी समझना चाहिये कि—निर्गुण ब्रह्मका ज्ञानके लिये, आरोपित प्रपञ्चको ब्रह्ममें आश्रयण करके, प्रपञ्चके बाधसे पूर्वकालमें 'गुड़जिह्विकान्याय' करके जिन उपासनावोंका विधान किया है, तिन उपासनावोंकाभी चित्तकी एकाग्रताद्वारा मुख्य अभेदज्ञान ही फल है। अत उपासना विधायक वाक्योंका भी महा तात्पर्य ब्रह्ममें ही है। अब गौण फलको दिखाते हैं—जैसे नामको ब्रह्मरूप करके उपासनाका कामचारादिरूप अभ्युदय फलको कहा है अर्थात् स्वर्गादि लोक पर्यन्त जहां जानेकी तथा रहनेकी इच्छा होवे तहां जा सकता

है तथा रह सकता है। और दहरादि उपासनावोंका फल क्रममुक्ति है। और उद्गीथ आदि उपासनावोंका फल कर्मकी समृद्धि आदिक हैं।

शंका। ज्ञानकाण्डमें उपासनाका विधान क्यों किया है?

समाधान। उपासनाको मानस होनेसे, तथा ज्ञानका अन्तरङ्ग साधन होनेसे, ज्ञानकाण्डमें विधान किया है।

शंका। उपास्य ब्रह्मको एक होनेसे, तथा एकही उपास्य ब्रह्मकी प्राप्तिको उपासनाका फल होनेसे, किस प्रकार उपासनाका भेद तथा फलका भेद हो सकता है?

समाधान। **'तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः'** इति भाष्यम्। अर्थ—सत्यकामत्व आदिक गुण तथा हृदय आदिक उपाधिके भेदसे उपासनाका भेद होता है इति। अर्थात् परमात्मा यद्यपि एकही है तथापि परमात्माके सत्यकामत्व आदिक अनेक गुण हैं। तथा परमात्माका ध्यान करनेके योग्य हृदय सूर्यादिक अनेक स्थान हैं। अतः जिस जिस गुणविशिष्ट परमात्माका जिस जिस उपाधिमें ध्यान किया जाता है, तत्तत् गुण तथा तत्तत् उपाधिके भेदसे उपास्यका भेद और उपास्यके भेदसे उपासनाका भेद होता है। और उपासनाके भेदसे फलका भेद होता है। इस अर्थमें श्रुति तथा स्मृति प्रमाणको दिखाते हैं–**'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'**। अर्थ—तिस परमात्माको जिस जिस रूप करके पुरुष उपासना करता है तिस तिस रूपकी ही प्राप्तिमें पुरुषकी उपासनाका पर्यवसान हो जाता है इति। और **'यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति'** (छान्दो० ३।१४।१)। अर्थ–'क्रतु' कहिये सङ्कल्प अर्थात् ध्यान। इस संसारमें जैसा जैसा सङ्कल्प व ध्यानवाला पुरुष होता है, शरीरके पातसे अनन्तर ध्यान करके जन्य संस्कारके बलसे तैसा तैसा ध्येय स्वरूपको पुरुष प्राप्त होता है इति। और **'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः'** ॥ गी–८।६ ॥ अर्थ—कृष्ण भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं कि हे अर्जुन! अन्तकालमें अन्तर्यामी परमेश्वररूप मेरेको स्मरण करता हुआ मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ऐसा ही नियम नहीं, किन्तु जिस जिस भावको (अर्थात् सूर्यादिक देवतान्तरको अथवा भूत पिशाचादिकोंको) स्मरण करता हुआ जो पुरुष शरीरको त्याग करता है सो पुरुष तिस तिस देवतादि स्वरूपको ही प्राप्त होता है।

शंका। अन्तकालमें देवतादि स्वरूपविशेषके स्मरणका हेतु कौन है?

समाधान। सर्वकालमें तिस २ देवतादिकोंका 'भाव' कहिये जो निरन्तर चिन्तनरूप भावना है, तिस भावना करके जन्य जो संस्काररूप वासना है सो ही स्मरणमें हेतु है। और तिस वासना करके वासित चित्तवाले पुरुषका नाम 'तद्भावभावित' है इति।

शंका। सम्पूर्ण भूतोंमें निरतिशय आत्माको एक होनेसे उपास्य उपासकमें जो तारतम्य श्रवण होता है सो किस प्रकार बनेगा?

समाधान । यद्यपि स्थावर जङ्गमरूप सर्व भूतोंमें एक ही आत्मा गूढ़ है तथापि बुद्धिगत शुद्धि आदिक तारतम्यसे जो बुद्धिमें तारतम्य है तिस तारतम्य करके सहित बुद्धिरूप उपाधि करके, मनुष्यसे आदि लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्तमें, उत्तरोत्तर आविर्भूत नित्य कूटस्थरूप एक ही आत्माके आविर्भावका तारतम्य श्रवण होता है। और बुद्धिगत शुद्धिके तारतम्य प्रयुक्त ही ऐश्वर्य ज्ञान सुखादिकोंमें भी तारतम्यका श्रवण होता है। अतः निकृष्ट उपाधिवाला परमात्मा उपासक है। तथा उत्कृष्ट उपाधिवाला परमात्मा ही उपास्य है। इस प्रकार एक ही परमात्मामें औपाधिक तारतम्य * बन सकता है।

और **'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद'** । अर्थ—जो ध्यान करनेवाला पुरुष उक्त उपाधिवाले आत्माका अतिशय प्रकट अनवच्छिन्न स्वरूपको उपासनाके बलसे जानता है सो पुरुष ब्रह्मको प्राप्त होता है। ऐसा ऐतरेय आरण्यकमें श्रवण होता है इति। **'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥** गी० १० ।४१॥ अर्थ—इस वचन करके कृष्ण भगवान्ने कहा है कि हे अर्जुन! ऐश्वर्य करके युक्त, तथा सम्पत्ति करके युक्त, तथा प्रभाव बल आदिक गुणों करके अतिशयवाले, उन्नत जो जो इस संसारमें वस्तु मात्र हैं। सो सो मेरा प्रभावरूप तेजके अंश करके उत्पन्न हुये हैं ऐसा तू जान इति। इस स्मृतिमें सूर्यादिकोंमें जीवत्वेन उपास्यता नहीं है, किन्तु ईश्वरत्वेन उपास्यता है यह कहा। और इसी प्रकार यहां भी आदित्य मण्डलमें सर्व दोषोंका असम्बन्धरूप लिङ्गसे, हिरण्मय पुरुष उपास्य ईश्वर है। ऐसा व्यास भगवान् 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (अ-१-१-२०) इस अधिकरणसूत्रमें कहेंगे। और 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (अ-१।१।२२) इस अधिकरणमें भी 'आकाश' शब्द करके परमेश्वर ही जाननेको योग्य है।

---

* 'तारतम्य' नाम न्यूनाधिक भावका है। प्रकृतमें जैसे उपास्यउपासकभाव, जीवईशभाव, इत्यादि।

शंका । यदि अन्तर्यामी कूटस्थनित्य सर्व भूतोंमें गूढ़, एक ही आत्मा है तो, सर्वभूताधिष्ठानरूप इस आत्मामें, लोकप्रसिद्ध न्यूनाधिक भाव, और श्रुतिप्रसिद्ध तारतम्य नहीं होना चाहिये।

समाधान । जैसे जगत्का प्रकाशक सूर्यमण्डल एकरूप ही है। परन्तु वर्षामें न्यून प्रकाशवत्, शरदादिकमें अधिक प्रकाशवत् भासता है। तैसे यद्यपि तारतम्य शून्य सर्व भूतोंका आत्मा एक ही है। तथापि अनादि अविद्या करके आवृत्त हुवा तद्तद्भूतोंमें कहीं असत्की तरह भासता है, क्वचित् अत्यन्त अपकृष्टवत्, क्वचित् अपकृष्टवत्, क्वचित् सत्वत्, क्वचित् प्रकर्षवत्, क्वचित् अत्यन्त प्रकर्षवत् भासता है। अविद्यातमगत प्रकर्षनिकर्षतारतम्य विचित्र भानका प्रयोजक है।

और जिस २ वाक्यमें उपाधि विवक्षित है सो २ वाक्य उपासना पर है। इस अर्थको कहनेके वास्ते उत्तर सूत्रसमूहका आरम्भ है ऐसा कह कर अब जिस २ वाक्यमें उपाधि विवक्षित नहीं है सो २ वाक्य निर्गुण ज्ञेय ब्रह्म पर है। इस अर्थको कहनेके लिये उत्तर सूत्रसमूहका आरम्भ है इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—'एवं सद्योमुक्तिकारणमप्यात्मज्ञानम्' इत्यादि। अर्थात् अन्नमयादि कोशरूप उपाधिविशेष करके उपदिश्यमान होने पर भी उक्त उपाधि रहितत्वेन विवक्षित, जो वस्तुविशेषविषयक ज्ञान है। सो आत्मज्ञान शीघ्र मुक्तिका कारण भी है। परञ्च परब्रह्म तथा अपरब्रह्म विषयकत्वरूप करके संदिह्यमान है। अतः वाक्योंके तात्पर्यकी पर्यालोचना करके निर्णय करनेको योग्य है।

अब निर्णयके क्रमको कहते हैं-यथेहैव तावत्, 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इति। जैसे यहां ही इस अधिकरणमें निरुपाधिक ब्रह्मको कहा है। तैसे आगे भी 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' (अ-१।३।१) इस अधिकरणसूत्रमें भी निरुपाधिक ब्रह्मको कहा है। अतः मुक्तिका कारण आत्मज्ञान परब्रह्म विषयक है ऐसा जानना। अब उत्तर सूत्रसमूहके आरम्भका समर्थनको उपसंहार करते हैं:—'एवमेकमपि' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—एक ही ब्रह्म अपेक्षित उपाधिका सम्बन्धवाला हुवा उपास्यरूप करके वदान्तशास्त्रमें उपदेश किया जाता है। तथा निरस्त उपाधिका सम्बन्धवाला हुवा ज्ञेयरूप करके उपदेश किया जाता है। इस अर्थको दिखानेके लिये उत्तर ग्रन्थका आरम्भ किया है इति। और सिद्धवत् उक्त जो गतिसामान्य है तिसको सिद्ध करनेके लिये भी उत्तर ग्रन्थका आरम्भ बन सकता है। इस अर्थको दिखाते हैं। 'यच्च' इत्यादि भा०। अर्थात् और जो प्रथम गतिसामान्य करके अचेतन कारणका निराकरण किया है तिसको भी,पूर्व व्याख्यात वाक्योंसे अतिरिक्त ब्रह्म विषयक वाक्योंका व्याख्यान करनेकी इच्छावाले व्यास भगवान् ब्रह्मसे विपरीत कारणका निषेध करके निरूपण करते हैं :—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें १ आनन्दमयः, २ अभ्यासात्, यह दो पद हैं। 'आनन्दमय' शब्द करके मुख्य पर ब्रह्मरूप परमात्माका ग्रहण करना, क्योंकि अनेक श्रुतियोंमें 'आनन्द' शब्दका 'अभ्यास' कहिये वारंवारकथन देखनेमें आता है * इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं। यहां प्रथम 'एकदेशी' वृत्तिकारके मतसे अधिकरणकी रचनाका निरूपण करते हैं। स्वसिद्धान्तकी रीतिसे आगे निरूपण करेंगे।

* यह अर्थ वृत्तिकारके मतसे है।

तैत्तिरीय उपनिषद्में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशोंको कहकर, आगे 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः'। (तै० २–५) यह वाक्य कहा है। यह वाक्य इस अधिकरणका विषय कहा जाता है। अर्थ—ब्राह्मणवाक्य करके तथा मन्त्र करके प्रतिपादित विज्ञानमयरूप आत्मासे भिन्न अन्तर आनन्दमय आत्मा है। अर्थात् अज्ञानी पुरुषोंको जो अन्नमयादिक कोशोंमें आत्मबुद्धि है, तिस आत्मबुद्धिको पूर्व पूर्व कोशोमेंसे निवृत्त करके उत्तर उत्तर कोशोंमें आत्मबुद्धिको श्रुति कराती है। और प्रसंगमें विज्ञानमय कोशमेंसे आत्मबुद्धिको निवृत्त कराके, आनन्दमयमें आत्मबुद्धिको कराती है कि विज्ञानमयसे पृथग् आत्मा आनन्दमय है इति।

यहां अन्नका विकार प्रसिद्ध स्थूल शरीर अन्नमय है। और समष्टि प्राण तथा मन तथा बुद्धिका विकार व्यष्टि प्राण, तथा मन, तथा बुद्धि, क्रमसे प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कहे जाते हैं। तथा बिम्ब चैतन्य आनन्द रूप ईश्वरका विकार जीव आनन्दमय है ऐसा जानना। अथवा जैसे घटरूप उपाधिवाला आकाश घटका विकार है। तैसे स्थूल शरीररूप अन्न उपाधिवाला आत्मा अन्नका विकार है। प्राणरुप उपाधिवाला आत्मा प्राणका विकार है। तथा मनरूप उपाधिवाला आत्मा मनका विकार है। तथा बुद्धिरूप उपाधिवाला आत्मा बुद्धिका विकार है। तथा प्रियादि वृत्तिरूप उपाधिवाला आत्मा प्रियादि वृत्तिका विकार है, ऐसा जानना। और अन्नादिकोंका विकार होनेसे इन पांचोंका नाम क्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश है। यहां ऐसा समझना कि जो आनन्दमयको ईश्वरका विकार जीव कहा है, तथा आनन्दमयको कोश कहा है, सो सिद्धान्तकी रीतिसे कहा है। वृत्तिकारके मतसे नहीं, क्योंकि वृत्तिकारके मतमें आनन्दमय परब्रह्म है।

तहां आनन्दमय शब्दमें जो 'मयट्' प्रत्यय है सो विकाररूप अर्थमें तथा प्राचुर्यरूप अर्थमें मुख्य है। अतः विचारका बीज संशयको कहते हैं। 'तत्र संशयः' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो प्रसंगमें प्राप्त परब्रह्म है तिस परब्रह्मको 'आनन्दमय' शब्द कहता है, किंवा अन्नमयादिकोंकी तरह ब्रह्मसे भिन्न अर्थान्तरको कहता है। इस प्रकारका यहां संशय होता है इति। अर्थात् 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस पूर्व अधिकरणमें मुख्य ईक्षणके संभव हुये गौण ईक्षणका अनवकाश होनेसे संशयके अभाव हुये भी "गौणप्रायःपाठको अकिञ्चित्कर होनेसे 'तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' इत्यादिक वाक्य करके प्रतिपाद्य जो अमुख्य ईक्षण है, तिस अमुख्य ईक्षणके प्रवाहमें पड़ा हुवा भी जो 'तदैक्षत' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य जगत् कारणगत ईक्षण है सो मुख्य ईक्षण है" यह कह आये हैं। और यहां तो 'मयट्' शब्दको विकारमें तथा प्राचुर्यमें मुख्य हुये अवश्य संशय होगा कि—'आनन्दमय' शब्द अन्नमयादि विकारप्रायः पाठसे आनन्दका विकार जीवको कहता है, अथवा आनन्दका प्राचुर्यको कहता है।

अतः पूर्व अधिकरणके साथ इस अधिकरणकी प्रति उदाहरणसंगति करके पूर्वपक्षको दिखाते हैं। 'किं तावत् प्राप्तम्' इत्यादिं भाष्यम्। अर्थ—प्रसंगमें क्या प्राप्त हुवा इति।

पूर्वपक्ष। ब्रह्मसे भिन्न अमुख्य आत्मा आनन्दमय है, क्योंकि अन्नमयादिक अमुख्य आत्माके प्रवाहमें आनन्दमय पड़ा हुवा है।

शंका। सर्वके अन्तर होनेसे आनन्दमय मुख्य आत्मा है, अमुख्य जीव नहीं।

समाधान। 'अन्योऽन्तर' यह श्रुति आनन्दमयमें सर्वसे आन्तरत्वको नहीं कहती है किन्तु अन्नमयादिक चार कोशोंसे आन्तरत्वको कहती है। यदि वृत्तिकार ऐसा कहे कि आनन्दमयसे अन्तर अन्य वस्तुका श्रवण नहीं होता है,अत आनन्दमय ही सर्वसे अन्तर है,यह कहना असंगत है। क्योंकि जिस वस्तुकी अपेक्षासे जिस वस्तुमें आन्तरत्वका श्रवण होता है, सो वस्तु तिस वस्तुसे ही अन्तर होता है। जैसे 'देवदत्तो बलवान्' ऐसा किसीने कहा यहां "सिंह शार्दूल आदिक सर्वके प्रति बलवान् है" ऐसा बोधन नहीं होता है। किन्तु "समानजातीय मनुष्योंकी अपेक्षासे बलवान् है, ऐसा बोध होता हे" तैसे 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इस स्थलमें भी 'सर्वसे अन्तर आनन्दमय है' ऐसा बोध नहीं होता है। किन्तु 'सजातीय अन्नमयादिकोंसे अन्तर है' ऐसा बोध होता है। और मुख्य ब्रह्मरूप आत्माको निरवयव होनेसे प्रिय आदिक अवयवोंका योग तथा शारीरत्व भी नहीं बन सकता है। और आनन्दमयमें प्रिय आदिक अवयवका योग तथा शारीरत्वका श्रवण होता है। अतः संसारी जीव ही आनन्दमय है।

शंका। आनन्दमयमें प्रियादि अवयवोंके योगका व शारीरत्वका श्रवण कहां होता है?

समाधान। 'तस्य प्रियमेव शिरः,मोदो दक्षिणः पक्षः,प्रमोद उत्तरःपक्षः,आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। अर्थ—इष्ट वस्तुका दर्शन जन्य जो सुख विशेष सो प्रिय है,सोई आनन्दमय आत्माका शिर है। अर्थात् शिर रूप करके ध्यान करनेको योग्य है। और इष्ट वस्तुका लाभजन्य जो सुखविशेष सो मोद है, सोई आनन्दमय आत्माका दक्षिणपक्ष है। अर्थात् दक्षिण पक्षरूप करके ध्यान करनेको योग्य है। और इष्ट वस्तुका भोग जन्य जो सुख विशेष सो प्रमोद है, सोई आनन्दमय आत्माका वाम पक्ष है। अर्थात् वामपक्षरूप करके ध्यान करनेको योग्य है। और प्रिय, मोद, प्रमोदरूप अवयवविशेषमें सामान्यरूप करके अनुगत जो सुखाभासरूप आनन्द है सो आनन्दमय आत्माका आत्मा है। अर्थात् दोनों पक्षके मध्य भागरूप करके ध्यान करनेको योग्य है। और प्रसङ्गमें प्राप्त जो सत्य ज्ञान आनन्दरूप परब्रह्म है। जिस परब्रह्मका साक्षात्कारके लिये अन्नमयादिक कोशोंका निरूपण किया है। सो सर्वसे अन्तर्भूत परब्रह्म आनन्दमयका पुच्छ प्रतिष्ठा है अर्थात् पुच्छरूप करके तथा प्रतिष्ठारूप करके ध्यान करनेको योग्य है इति। भाव यह है कि जो अविद्या कल्पित द्वैत प्रपंचका अवसानरूप है

अर्थात् अधिष्ठानरूप अद्वितीय ब्रह्म है। सो आनन्दमयका पुच्छ प्रतिष्ठा अधिष्ठानरूप है। इस मन्त्रमें आनन्दमयका प्रियादिक अवयवोंके साथ संस्पर्श (सम्बन्ध)का श्रवण होता है। और **तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।** अर्थ— जो उक्त स्वरूप आनन्दमय पूर्व अन्नमयादि कोशोंका आत्मा है यही आनन्दमय तिस विज्ञानमयका शारीररूप आत्मा है। अर्थात् विज्ञानमयरूप शरीरमें रहनेवाला आत्मारूप करके कल्पना किया है इति। यह श्रुति आनन्दमयमें शारीरत्वको बोधन करती है। अत आनन्दमय शब्द करके जीवका ग्रहण करना।

किञ्च वृत्तिकार यदि 'मयट्' शब्दका प्राचुर्य अर्थ भी मानें तो भी आनन्दमय संसारीरूप ही होगा, ब्रह्मरूप नहीं हो सकता है। क्योंकि जहां दुःखलवका सम्बन्ध होता है, तहां आनन्दका प्राचुर्य होता है। और जहां दुःखलवका भी अत्यन्ताभाव रहता है, तहां आनन्दका प्राचुर्य नहीं बन सकता है। और परमात्मामें तो दुःखलवका संभव कदाचित् भी नहीं हो सकता। क्योंकि परमात्मा आनन्द एक रस स्वरूप है। इसी अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं- **'न च सशरीरस्य सतः प्रियाप्रियसंस्पर्शो वारयितुं शक्यः'** इति भाष्यम्। अर्थ—विज्ञानमयरूप शरीर करके सहित आनन्दमय आत्माका प्रिय तथा अप्रियके साथ जो संस्पर्श है सो दूर करनेको अशक्य है इति। और शरीर करके रहित जो मुख्य आत्मा है तिसका अप्रियके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस लिये प्राचुर्यार्थक मयट् मान करके भी आनन्दमय मुख्य आत्मा नहीं बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि आनन्दमय शब्द संसारी जीवात्मा-का ही बोधन करता है, मुख्य ब्रह्मरूप आत्माको नहीं इति।

इस पूर्वपक्षके प्राप्त हुये वृत्तिकार पूर्वपक्षका संक्षेपसे अनुवादपूर्वक खण्डन करते हुये **स्वसिद्धान्तको** दिखाते हैं। तहां पूर्वपक्षीने तैत्तिरीय श्रुति करके आनन्दमयको पुरुषरूप करके वर्णन किया है:—

आनन्दमयका प्रिय शिर है। और मोद दक्षिणपक्ष है अर्थात् दक्षिण भुजा है। और प्रमोद वामपक्ष है अर्थात् वामभुजा है। और प्रियादिक अवयवोंमें सामान्यरूप करके अनुगत जो आनन्दाभास है सो दोनों भुजावोंके मध्यका भाग है। और जैसे पुरुषकी स्थितिका कारण अधोभाग है तैसे आनन्दमयकी स्थितिका हेतुस्वरूप अधोभाग ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा है। अर्थात् अविद्याजन्य अन्नमयादिक द्वैत प्रपञ्चका अवसानरूप है। अत आनन्दमय शब्द करके जीवका ग्रहण करना इति। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है। क्योंकि आनन्दमयका अवयवरूप ब्रह्म पुच्छमें अङ्गत्वको होनेसे पुच्छरूप ब्रह्म अप्रधान है। और अङ्गाङ्गीभाव स्थलमें अङ्गी प्रधान होता है, अङ्ग नहीं। अतः प्रसङ्गमें आनन्दमय शब्द करके ही जगत्कारणत्वोपलक्षित निर्विकल्प शुद्ध परब्रह्मका ग्रहण करना। और अनेक श्रुतियोंमें परब्रह्म विषे ही आनन्द

शब्दका अभ्यास होनेसे आनन्दमय शब्द करके परब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है। इस अर्थको वृत्तिकार दिखाते हैं:—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। इस सूत्रका अर्थ कर आये हैं।

शंका। 'आनन्द' पदके अभ्यास हुये भी आनन्दमयमें ब्रह्मत्व किस प्रकार सिद्ध होगा?

समाधान। जैसे ज्योतिष्टोम यागके प्रकरणमें स्थित 'ज्योतिष्' पदको ज्योतिष्टोमयाग परत्व है। तैसे आनन्दमय प्रकरणमें स्थित 'आनन्द' पदको भी आनन्दमय परत्व है।

और आनन्द पदका जो अभ्यास है सो आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका साधक है क्योंकि अनेक श्रुतियोंमें परब्रह्मविषयक ही आनन्द पदका अभ्यास पुनःपुनः देखनेमें आता है। इस अर्थको दिखाते हैं–आनन्दमयको प्रसङ्गमें प्राप्त करके **'रसो वै सः'** अर्थात् सो आनन्दमय, निश्चय करके, 'रस' कहिये आनन्दरूप है। ऐसा कहकर आगे कहा कि **'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'**। अर्थ–आनन्दरूप रसको प्राप्त होकर निश्चय करके आनन्दरूप होता है इति। **'कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति'**(तै० २।७) अर्थ–यदि 'एष आकाशः' कहिये पूर्ण आनन्द साक्षीरूप प्रेरक न होवे तो कौन चले, और कौन विशेष करके प्राणादिकोंकी चेष्टा करावे। अतः यह आनन्दरूप आत्मा ही सर्वको आनन्द प्राप्त कराता है इति। **'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति'**।२–८। अर्थ–तैत्तिरीय श्रुतिमें ब्रह्मानन्दका विचार किया है कि, विषयविषयीका सम्बन्धजन्य लौकिक आनन्दकी तरह ही ब्रह्मानन्द है, अथवा स्वाभाविक है? तहां बाह्य आध्यात्मिक आदिक साधनों करके जन्य मानुषानन्दसे लेकर हिरण्यगर्भके आनन्द पर्यन्त जो लौकिक आनन्द है तिस लौकिक आनन्दमें उत्तर उत्तर उत्कर्षको दिखाया है। और सम्पूर्ण लौकिक आनन्दका अवधिरूप करके निरतिशय स्वाभाविक ब्रह्मानन्दको दिखाया है। और इस आनन्दमय आत्माको विद्वान् 'उपसंक्रामति' कहिये प्राप्त होता है इति। **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'**।२–९। अर्थ–ब्रह्मरूप आनन्दको आत्मरूप जानकर ब्रह्मवित्पुरुष किसीसे भयको नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि अपनेसे भिन्न जो द्वितीय वस्तु होता है सो भयका हेतु होता है, सो द्वितीय वस्तु ब्रह्मवित्पुरुषकी दृष्टिमें है नहीं इति। **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'**।तै० ३–६। अर्थ—पूर्वकालमें विद्वान् भृगु तपसे विशुद्ध आनन्दरूप ब्रह्मको जानता भया इति। **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**। बृ० ३-९-२८। अर्थ–विज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म है इति। इत्यादिक श्रुतियोंमें ब्रह्ममें ही 'आनन्द' पदका बहुतवार अभ्यास देखनेमें आता है, अतः 'आनन्दमय' शब्द करके परब्रह्मरूप आत्माका ही ग्रहण करना।

और पूर्वपक्षीने जो प्रथम दोष कहा था कि, अन्नमयादिक अमुख्य आत्माके प्रवाहमें पतित होनेसे, आनन्दमयमें भी अमुख्य आत्मत्व है। सो दोष

होता नहीं। क्योंकि आनन्दमय सर्वसे अन्तर है। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:-मुख्य आत्माका उपदेश करनेकी इच्छावाला जो शास्त्र है,सो लोगों-की बुद्धिको अनुसरण करता है। अर्थात् संसारमें जो अत्यन्त मूढ पुरुष हैं तिनों-को अनात्मारूप अन्नमय शरीर ही आत्मारूप करके प्रसिद्ध है। तिस प्रसिद्ध अन्नमय आत्माका अनुवाद करके यथार्थ आत्माके बोधमें सुगमताके लिये पूर्व पूर्वके समान * उत्तर उत्तर अनात्मामें आत्मत्वको ग्रहण कराता हुवा शास्त्र आनन्दमयसे अन्तर अन्यको अनुक्त होनेसे सर्वसे अन्तर आनन्दमयरूप आत्माका उपदेश करता है। अत आनन्दमय करके मुख्य आत्माही अङ्गीकार करना उचित है।

और पूर्वपक्षीने जो कहा था कि आनन्दमयमें सावयवत्व तथा शारीरत्व-रूप लिङ्ग करके अमुख्य आत्मत्व है। सो भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि मुख्य आनन्दरूप आत्माका प्रकरण है। और विकारसन्निधिको सहायकका अभाव होनेसे दोनों लिङ्ग दुर्बल हैं। अत आनन्दपदका अभ्यास तथा सर्वान्तरत्व रूप लिङ्गद्वय करके मयट् शब्दका अर्थ जो विकार है तिस विकारकी सन्निधिका बाध होता है। इसलिये आनन्दमय शब्द करके मुख्य ही आत्माका ग्रहण करना। और अन्नमयादिक अमुख्य आत्माके प्रवाहमें पतित आनन्दमयमें मुख्य आत्मत्व है इस अर्थमें दृष्टान्तको दिखाते हैं—जैसे जब लोग अरुन्धतीको दिखाते हैं, तब प्रथम स्थूल तारारूप अमुख्य अरुन्धतीको 'यह अरुन्धती है' ऐसे दिखाते हैं। जब स्थूल तारेमें जिज्ञासुकी दृष्टि जम जाती है,तब तिसमें अरुन्धतीत्वका निषेध करके, तिसके समीपस्थ सूक्ष्म सूक्ष्मतर तारेमें क्रमसे अरुन्धतीत्वको दर्शाते हुये अन्तमें जिस ताराको अरुन्धतीरूप करके दिखाते हैं सो मुख्य अरुन्धती है। तैसे आन-न्दमयको सर्वान्तर होनेसे मुख्य आत्मत्व है।

शंका। आनन्दमयको यदि मुख्य आत्मा मानोगे तो प्रियादिक अवयवों-में जो शिरस्त्वादिकोंकी कल्पना करी है सो अनुपपन्न होगी।

समाधान। आनन्दमयसे पूर्व तथा मनोमयसे अनन्तर जो विज्ञानमय कोश है तिस विज्ञानमय कोशरूप उपाधि करके जन्य प्रियादिकोंमें शिरस्त्वादि-कोंकी कल्पना है, स्वाभाविकी † नहीं, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकता है।

---

* जैसे मूषा(सञ्चा)में निषिक्त द्रवीभूत ताम्रादिकोंकी प्रतिमाका मूषासमानाकारत्व होता है। तैसे स्थूल देहान्तरवर्ती प्राणमयका स्थूल देहके समानाकारत्व है। तथा प्राणमय अन्तरवर्ती मनोमयका प्राणमयसमानाकारत्व है। तथा मनोमय अन्तरवर्ती विज्ञानमयका मनोमयसमानाकारत्व है।

† अर्थात् ब्रह्मदर्शनके लिये अध्यारोपित अन्नमयादि कोशोंमें सावयवत्व तथा शिरभुजादिमत्त्व होनेसे तत्प्रवाहपठित आनन्दमयमें भी औपाधिक साव-यवत्व तथा शिरभुजादिमत्त्वकी कल्पना मात्र है। एवं प्रियादि अवयव योगसे दुःखलवका योग भी परमात्मामें औपाधिक अर्थात् कल्पना मात्र है।

और आनन्दमयमें जो सावयवत्व व शारीरत्व कहा है। सो भी अन्नमयादिक शरीरोंकी परम्परा करके कहा है। संसारीकी तरह साक्षात् शारीरत्व नहीं है। अत आनन्दमय जो है सो परब्रह्म आत्मस्वरूप है यह सिद्ध हुआ इति ॥१२॥

शंका। जो वृत्तिकारने कहा था कि सहायकका अभाव होनेसे सावयवत्व तथा शारीरत्व रूप लिङ्गद्वय दुर्बल हैं। सो कहना असङ्गत है, क्योंकि विकारार्थक मयट् शब्दरूप श्रुति ही सहायक है। अत आनन्दमय शब्द करके अमुख्य आत्माका ही ग्रहण करना युक्त है इति।

समाधान। इस अर्थका अनुवाद पूर्वक सूत्रकार खण्डन करते हैं:—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

अर्थ—१ विकारशब्दात्, २ न, ३ इति, ४ चेत्, ५ न, ६ प्राचुर्यात्। इस सूत्रमें छ पद हैं। विकारका वाचक मयट् शब्दको विद्यमान होनेसे, 'न' कहिये आनन्दमय शब्द करके मुख्य आत्माका ग्रहण नहीं बन सकता है, 'इति चेत्' कहिये यदि वादी ऐसा कहे ? तो वृत्तिकार कहते हैं कि 'न' कहिये ऐसा नहीं कहना, क्योंकि 'प्राचुर्यात्' कहिये मयट् शब्दका अर्थ 'प्राचुर्य' है, विकार नहीं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको 'अत्राह' इत्यादि भाष्यसे दिखाते हैं:- पूर्वपक्षीका कहना है कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या, यह पूर्वमीमांसा शास्त्रमें तात्पर्यके निश्चायक षट् लिङ्ग कहे हैं। इनका अर्थ प्रथम कह आये हैं। इन षट् लिङ्गोंमें बलवती श्रुति है। प्रसङ्गमें आनन्दशब्दसे परे जो मयट् प्रत्यय है तिसका नाम श्रुति है। अतः विकारार्थक श्रुतिके योगसे आनन्दमय शब्द करके आनन्दका विकारवाला अमुख्य आत्माका ग्रहण होगा। विकार रहित मुख्य आत्माका ग्रहण नहीं हो सकता है।

यदि वृत्तिकार ऐसा कहेंकि 'शालीन् भुङ्क्ते मुद्गैरिति'। अर्थ— चावलोंको मुंगके साथ भक्षण करता है इति। यहां शाली तथा मुंगका वाचक प्रकृति-शाली तथा मुद्ग शब्द है। और मुंगके साथ चावलका भक्षण नहीं बन सकता है। अतः शालीका विकार भातको मुंगका विकार दालके साथ भक्षण करता है। ऐसा प्रयोग देखनेमें आता है—'शालिविकारं भुङ्क्ते मुद्गविकारेणेति'। जैसे यहां प्रकृति शब्दका विकारमें प्रयोग होता है, तैसे विकारवाचक शब्दका प्रकृतिके अर्थमें प्रयोग हो सकता है। ऐसा माननेसे आनन्दमय शब्द करके केवल आनन्दरूप मुख्य आत्माका ग्रहण हो सकता है।

यह वृत्तिकारका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'आनन्दमयः' यहां 'मयड्वा' इस पाणिनीय सूत्रसे विकार अर्थमें मयट् प्रत्ययको होनेसे विकारका वाचक मयट् शब्द, प्रकृतिके अर्थसे भिन्न अर्थमें निश्चित है। अर्थात् मयट् शब्दका

प्रयोग प्रकृतिके अर्थमें नहीं हो सकता है। अतः, अन्नमयादिकोंकी तरह मयट्रूप श्रुतियुक्त आनन्दमय शब्द संसारी अमुख्य आत्माको ही बोधन करता है इति।

एकदेशी वृत्तिकार कहते हैं कि यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'प्राचुर्यात्' कहिये प्राचुर्य अर्थमें भी मयट्का स्मरण होता है। इस अर्थमें पाणिनीय सूत्ररूप प्रमाणको दिखाते हैं-**'तत्प्रकृतवचने मयट्'**। अर्थ—तदिति प्रथमान्तात्समर्थाच्छब्दात् प्रकृतं प्रचुरं यस्मिन् तस्मिन्नभिधीयमाने मयट्प्रत्ययो भवति इति। जैसे अन्नमय यज्ञ जो है, सो अन्नप्रचुर कहा जाता है। अर्थात् प्राचुर्यरूप करके प्रस्तुत जो अन्न है, तिस अन्नका नाम 'प्रकृत' है। सो प्रकृत कहा जावे जिसमें तिसका प्रतिपादक वचन अन्न शब्द है, तिससे अन्नप्रचुर-रूप यज्ञको अभिधीयमान हुये मयट् प्रत्यय होता है। तैसे आनन्दमय जो है सो आनन्दप्रचुर कहा जाता है अर्थात् आनन्दका प्राचुर्यवाला जो पर ब्रह्म है तिसका नाम आनन्दमय है।

शंका। यदि परब्रह्ममें आनन्दका प्राचुर्य मानोगे तो दुःखलवका सम्बन्ध भी कहना होगा, क्योंकि दुःखलेशसे विना आनन्दका प्राचुर्य नहीं बन सकता है।

समाधान। मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्तमें विद्यमान सुखके अल्पत्वकी अपेक्षासे परब्रह्ममें आनन्दका प्राचुर्य है, दुःखलेशकी अपेक्षासे नहीं। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकता। और मनुष्यसे लेकर उत्तर उत्तर स्थानमें शतगुण २ अधिक आनन्दरूप जो आनन्दप्रचुरत्व है तिसको कह कर ब्रह्मानन्दमें निरतिशय आनन्दको दिखाया है। अतः प्राचुर्यार्थक मयट् है यह सिद्ध हुआ॥१३॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

अर्थ—१ तद्धेतुव्यपदेशात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। श्रुतिमें 'तत्' कहिये आनन्दका 'हेतु' कहिये कारणरूप ब्रह्मका उपदेश होनेसे आनन्दमय शब्द करके मुख्य आत्माका ग्रहण करना। और ब्रह्मानन्दमें जो निरतिशयत्वका अवधारण है सो सूत्रस्थ 'च' शब्दका अर्थ है इति।

अब वृत्तिकारके मतसे इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—इस हेतुसे भी प्राचुर्य अर्थमें मयट् है, क्योंकि ब्रह्ममें आनन्दका कारणत्व रूप लिङ्गको श्रुति दिखाती है:-**'एष ह्येवानन्दयाति'**। अर्थ—यह परब्रह्मरूप आत्मा ही सर्वको आनन्द प्राप्त कराता है इति। और जैसे लोगोंमें यह वार्ता प्रसिद्ध है कि जो पुरुष अपनेसे भिन्न निर्धन पुरुषोंको धनिक बना देता है सो पुरुष प्रचुरधन कहा जाता है। तैसे जो मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्तको आनन्दित कर देता है सो प्रचुरआनन्दरूप है। अतः लिङ्गबलसे प्राचुर्य अर्थमें भी मयट् शब्दका सम्भव होनेसे आनन्दमय पर आत्मास्वरूप है इति ॥१४॥

किञ्च इस प्रकरणमें उपेय तथा उपायरूप मन्त्र तथा ब्राह्मणवाक्यकी संप्रतिपत्ति होनेसे ब्रह्म ही आनन्दमय पदका अर्थ है। क्योंकि मन्त्रमें पुनः पुनः 'अन्योऽन्तर आत्मा' इस प्रकार परब्रह्ममें आन्तरत्वका श्रवण होता है। और तिस परब्रह्मकी ही 'अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' इस ब्राह्मण वाक्यमें प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः प्रकरण बलसे भी परब्रह्म ही आनन्दमय है। इस अर्थको सूत्र दिखाता है :—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

अर्थ—१ मान्त्रवर्णिकम्, २ एव, ३ च, ४ गीयते। इस सूत्रमें चार पद हैं। मन्त्र करके प्रतिपाद्य परब्रह्म ही 'आनन्दमयः' इस ब्राह्मणवाक्यमें 'गीयते' कहिये कथनका विषय है। भाष्यमें जो 'इतः' हेतु है सो सूत्रस्थ 'च' शब्दका अर्थ है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—'इतश्च' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् इस हेतुसे भी आनन्दमय परब्रह्म ही है क्योंकि '**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**'। अर्थ—ब्रह्मवित् पुरुष परब्रह्मको प्राप्त होता है इति। ऐसा उपक्रम करके 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्रमें जो प्रकृत परब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्तरूप विशेषणों करके निर्धारित है। और जिस कारणसे आकाशादिक क्रम करके स्थावर जङ्गम भूत उत्पन्न होते हैं। और जो भूतोंको उत्पन्न करके पश्चात् तिन भूतोंमें प्रवेशकर सर्वसे अन्तर, बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है। और जिसका अपरोक्ष ज्ञानके लिये 'अन्योऽन्तर आत्मा' 'अन्योऽन्तर आत्मा' इस प्रकार उपदेश है। सो मन्त्र करके वर्णित परब्रह्म ही 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इस ब्राह्मण वाक्यमें कथन किया है। और ब्राह्मणवाक्यको मन्त्रका व्याख्यान रूप होनेसे, ब्राह्मण तथा मन्त्रका उपाय उपेय भावरूप अविरोध है। अतः मन्त्र तथा ब्राह्मण वाक्यमें एकार्थत्व है। तहां ब्राह्मण वाक्यमें उपायत्व है, और मन्त्रमें उपेयत्व है। और यदि मन्त्र तथा ब्राह्मणवाक्यका भिन्न भिन्न अर्थ मानें तो प्रकृत अर्थकी हानि और अप्रकृत अर्थकी प्राप्तिरूप दोष भी होगा।

शंका। अन्नमयादिकोंमें भी मन्त्र करके प्रतिपाद्यत्व होनेसे मान्त्रवर्णिक ब्रह्मत्व होना चाहिये।

समाधान। जैसे अन्नमयादिकोंसे अन्य अन्तर आत्माका अभिधान किया है तैसे आनन्दमयसे अन्य अन्तर आत्माका अभिधान नहीं किया है। अतः यद्यपि अन्नमयादिकोंमें मन्त्र करके प्रतिपाद्यत्व है। तथापि सर्वान्तरत्वका अभाव होनेसे ब्रह्मत्व नहीं बन सकता है। और भृगुके प्रति कही हुई तथा वरुण करके उपदिष्ट जो भार्गवी वारुणी विद्या है सो भी आनन्दमयमें प्रतिष्ठित है। अत आनन्दमय परब्रह्मरूप आत्मा है, यह सिद्ध हुआ इति ॥१५॥

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

अर्थ—१ न, २ इतरः, ३ अनुपपतेः । इस सूत्रमें तीन पद हैं । ईश्वरसे भिन्न संसारी जीवको आनन्दमय शब्द करके नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जीवमें जगत् स्रष्टृत्व नहीं बन सकता है इति ।

इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं :–आनन्दमयको प्रसंगमें प्राप्त करके कहा है–**'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत । यदिदं किञ्च'** । (तै० २।६) इति । अर्थ—सो परमात्मा 'अकामयत' ऐसी कामना करता भया कि हम बहुतरूप करके होवे । सो परमात्मा सृष्टि आदिविषयक आलोचनरूप तपको करता भया । और सो परमात्मा आलोचनरूप तपको करके जो कुछ यह है तिस सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करता भया इति । तहां शरीरादिकोंकी उत्पत्तिसे प्रथम ही सृष्टि विषयक इच्छा, तथा तप, तथा सर्व जगत् स्रष्टृत्वका श्रवण होता है ।और 'बहु स्यां' इस वचन करके सृज्यमान पदार्थोंका आनन्दमयसे अभेद श्रवण होता है । अत आनन्दमय पर ही आत्मा है इति ॥१६॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

अर्थ—१ भेदव्यपदेशात्, २ च । इस सूत्रमें दो पद हैं। और आनन्दमय तथा जीवके परस्पर भेदका कथन होनेसे भी आनन्दमय पर आत्मा है इति ।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:–इस भेदव्यपदेशरूप हेतुसे भी आनन्दमय संसारी नहीं हो सकता है। क्योंकि आनन्दमयके प्रकरणमें **'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** । अर्थ–आनन्दमय जो है सो रसरूप है। और आनन्दमयरूप रसको प्राप्त होकर जीव आनन्दवाला होता है इति । यह तैत्तिरीय श्रुति जीव तथा आनन्दमयका भेदको कहती है । अतः रसको प्राप्त होनेवाला, 'लब्धा' कहिये जीव जो है, सो 'लब्धव्य' कहिये प्राप्त होनेको योग्य रस आनन्दमय स्वरूप नहीं हो सकता है ।

शंका । यदि जीव लब्धव्य स्वरूप न होता तो **'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभान्न परं विद्यते'** इति । वस्तुतः परमात्मासे अभिन्न जीव करके लभ्य परमात्मा है । इस अर्थको कहनेवाली इन श्रुति स्मृतियोंका बाध होगा ।

समाधान । यद्यपि तुम्हारा कहना सत्य है अर्थात् परमार्थसे जीव तथा आनन्दमयरूप परमेश्वरका अभेद ही है तथापि अखण्ड एक रस सद्रूप आत्माका अनवबोध रूप निमित्तसे देहादिक अनात्मामें भ्रमरूप आत्मत्वनिश्चय लौकिक देखनेमें आता है। अतः देहादिरूप आत्माका जो वास्तविक आत्मा है सो 'अनन्विष्ट' अज्ञात हो रहा है । अतएव 'अन्वेष्टव्य' खोजनेके योग्य है । अर्थात् देहादिकोंसे भिन्न करके जाननेको योग्य है । तथा अलब्ध हुवा विवेकज्ञान करके लब्धव्य है

अर्थात् साक्षात् करनेको योग्य है। इस लिये अश्रुत आत्मा श्रवण करनेको योग्य है। तथा अमत आत्मा मनन करनेको योग्य है। तथा अविज्ञात आत्मा निदिध्यासन करनेको योग्य है, इत्यादिक भेदव्यवहार आनन्दमय परमेश्वर तथा जीवका बन सकता है। और जो पूर्वपक्षी कहे कि जीव तथा परमात्माका भेद सत्य रहो, सो कहना असङ्गत है, क्योंकि 'नान्योऽस्ति द्रष्टा, नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादिक श्रुतिवचन परमेश्वरसे भिन्न जीवरूप द्रष्टा तथा श्रोताका निषेध करते हैं।

शंका। जैसे परमेश्वरसे भिन्न जीवात्मा द्रष्टा नहीं है, तैसे जीवात्मा रूप द्रष्टासे भिन्न परमेश्वर भी नहीं होगा। अतः जीवको अनिर्वाच्य (मिथ्या) हुये परमेश्वर भी अनिर्वाच्य होगा। और जब परमेश्वर भी अनिर्वाच्य होगा तब संसारमें कोई वस्तु भी सत् नहीं होगा।

समाधान। जैसे चर्मखड्गको धारण किया हुवा सूत्र करके आकाशको अधिरोहण करनेवाला जो मायावी है तिससे भिन्न सच्चा सोई मायावी भूमिमें स्थित है। अथवा जैसे शुक्तिमें आरोपित रजत शुक्तिसे भिन्न नहीं होता है। क्योंकि शुक्तिसे भिन्न करके अथवा अभिन्न करके निर्वचन करनेको अशक्य है। और शुक्ति जो है सो अनिर्वचनीय रजतसे भिन्न व्यावहारिक निर्वचनीय है। तैसे अविद्या करके कल्पित कर्ता भोक्ता शारीररूप विज्ञानात्मासे परमेश्वर भिन्न है, अतः सत्य है।

शंका। जो तुमने मायावी तथा शुक्ति रजतका दृष्टान्त दिया सो असंगत है। क्योंकि जो सूत्रारूढ़ पुरुष है तथा शुक्तिरजत है सो स्वरूपसे मिथ्या है। और जीव स्वरूपसे मिथ्या नहीं किन्तु जीवमें भेद मात्र मिथ्या है।

समाधान। पूर्व दृष्टान्तमें ऐसी * अरुचिको होनेसे दूसरा दृष्टान्तको कहते हैं:—**'यथावा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नादनुपाधिरपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ जैसे घटरूप उपाधि करके परिच्छिन्न आकाशसे उपाधि करके रहित अर्थात् परिच्छेद शून्य आकाश भिन्न है इति। अर्थात् उपाधि अवच्छिन्न आकाशमें जो महाकाशका भेद प्रतीत होता है सो मिथ्या है आकाश मिथ्या नहीं, किन्तु महाकाश स्वरूप है। तैसे अविद्याप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीवमें परब्रह्मका जो भेद प्रतीत होता है सो मिथ्या है, अविद्यारूप उपाधि रहित चैतन्य मिथ्या नहीं, किन्तु परब्रह्म स्वरूप ही है।

---

* वस्तुतः शुक्तिरजत भी शुक्तिसे भिन्न नहीं है, किन्तु भेद विभ्रम मात्र है। एवं सूत्रारूढ़ मायावी भी वस्तुतः भूमिष्ठ पुरुषसे भिन्न नहीं है किन्तु भेद विभ्रम मात्र है। अतः दृष्टान्तमें असंगति नहीं है।

शंका। 'नेतरोऽनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' इस सूत्रद्वयके बलसे भेदको सत्य मानना चाहिये।

समाधान। **'ईदृशम्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ–विज्ञानात्मा तथा परमात्माका कल्पित भेदको आश्रयण करके सूत्रद्वयको कहा है इति। यदि ऐसा न मानोगे तो 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादिक सूत्र व श्रुतिवचनका विरोध * होवेगा, क्योंकि उक्त वचन भोक्ता भोग्य आदिक सर्व जगत्को ब्रह्मस्वरूप ही प्रतिपादन करते हैं इति ॥१७॥

शंका। प्रधानमें औपचारिक कामनाका सम्भव होनेसे, तथा आनन्दस्वरूप सत्त्वका प्राचुर्यके होनेसे, प्रधान ही आनन्दमय शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है। ऐसी शंकाके हुये वृत्तिकार उत्तर कहते हैं:—

† कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

अर्थ–१ कामात्, २ च, ३ न, ४ अनुमानापेक्षा। इस सूत्रमें चार पद हैं। यतः कामनाका श्रवण होता है, अतः, अनुमानगम्य अचेतन प्रधानकी अपेक्षा नहीं हो सकती है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको वर्णन करते हैं:–आनन्दमयके प्रकरणमें 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इस श्रुतिमें कामयितृत्वका निर्देश होनेसे, सांख्य करके कल्पित अचेतन प्रधान आनन्दमयरूप करके अथवा कारणरूप करके अपेक्षित नहीं हो सकता है। इस लिये आनन्दमयशब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना।

शंका। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस अधिकरणमें प्रधाननिष्ठ कारणत्वका निराकरण कर आये हैं। पुनः इस सूत्र करके प्रधानमें कारणत्वका निषेध करनेसे पुनरुक्ति दोष होगा।

समाधान। यद्यपि 'ईक्षतेः' इस अधिकरणसूत्र करके प्रधानका निषेध कर आये हैं तथापि पूर्व सूत्रमें उदाहृत कामयितृत्व श्रुतिका आश्रयण करके गतिसामान्यका निरूपणके लिये ही पुनः निराकरण किया है इति ॥ १८॥

अब एकदेशी वृत्तिकार स्वमतमें कामनानिष्ठ अगौणत्वरूप हेतुको सूचन करते हुये "प्रधानमें तथा जीवमें आनन्दमयस्वरूपत्व नहीं बन सकता है" इस अर्थको सूत्र करके दिखाते हैं:–

---

* और 'नेतरोऽनुपपत्तेः' 'भेदव्यपदेशाच्च' इन सूत्रोंमें 'भेदः सत्यः' यह पद भी नहीं है जिससे सत्यत्वका निश्चय हो।

† यदि प्रधानके विना असङ्ग चेतनमें कामनाका असम्भव है तो चेतन विना केवल जड़ प्रधानमें भी कामनाका असम्भव स्पष्ट है। अतः जड़ वृत्ति गौण कामनाकी अपेक्षासे, मुख्य कामनाका ग्रहण ही सूत्रमें उचित है।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१६॥

अर्थ—१ अस्मिन्, २ अस्य, ३ च, ४ तद्योगं, ५ शास्ति। इस सूत्रमें पांच पद हैं। भाष्यमें स्थित जो 'इतः' हेतु है सो सूत्रस्थ 'च' शब्दका अर्थ है। इस हेतुसे भी प्रधान तथा जीवको आनन्दमय शब्द नहीं बोधन कर सकता है। क्योंकि आनन्दमय विषयक साक्षात्कार-वान् पुरुषको अभेद करके परमात्मभावकी प्राप्तिरूप 'तद्योग' अर्थात् मुक्तिको शास्त्र कहता है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:-प्रसङ्गमें प्राप्त आनन्दमयरूप आत्माका 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इस अपरोक्ष ज्ञानवान् जीवका आनन्दमय स्वरूप-त्वरूप मोक्षको कहनेवाला जो शास्त्र है तिसको कथन करते हैं—**'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति॥** (तै०२।७)। **अर्थ**—जिस ऐक्यज्ञानावस्थामें स्थूल प्रपञ्च करके शून्य, तथा लिङ्ग शरीर करके रहित, तथा शक्तिवृत्तिकी विषयता रहित, तथा निःशेषलयका स्थान (अर्थात् माया शून्य) ब्रह्मरूप आनन्दमय आत्मामें जिस प्रकार अभय होवे तिस प्रकार 'प्रतिष्ठा' कहिये प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मविषयक मनकी प्रकृष्ट वृत्तिको विद्वान् प्राप्त होता है, तिस कालमें ही आनन्दमय ब्रह्मको प्राप्त होता है इति। **'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।** (तै० २।७)। **अर्थ**—जिस कालमें यह पुरुष इस आनन्दमय आत्मामें अल्प भी भेदको देखता है तिस कालमें सो पुरुष भयको प्राप्त होता है। अर्थात् संसारभयसे निवृत्त नहीं होता है इति।

ये पूर्वोक्त श्रुति आनन्दमय शब्द करके परमात्माका ग्रहण करनेसे ही सङ्गत होती हैं, प्रधान तथा जीवका ग्रहणपक्षमें नहीं। क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान-वान् अपरिच्छिन्न चेतनरूप पुरुषका जड़प्रधानभावकी तथा परिच्छिन्न जीव-भावकी प्राप्तिरूप मोक्ष नहीं बन सकता है। अब इस वृत्तिकारके मतको समाप्त करते हैं—**तस्मादानन्दमयः परमात्मेति स्थितम्।** अर्थ स्पष्ट है इति।

अब सिद्धान्ती एकदेशीवृत्तिकारके मतको खण्डन करते हैं:-**इदं त्विह वक्तव्यम्**' इति भाष्यम्। अर्थात् हम तुम्हारेको जो पूछते हैं सो तुम्हारेको कहना चाहिये-स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्यो ऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तस्मात् 'अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः'। तस्मात् 'अन्यो-ऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः'। इस तैत्तिरीय श्रुतिमें विकारार्थक मयट्के प्रवाहमें पड़ा हुवा जो आनन्दमय है तिस आनन्दमयमें जो मयट् प्रत्यय है तिस एक-का ही अर्थ अकस्मात् प्राचुर्य व ब्रह्म है। और अन्नमयादिक चारोंमें मयट् प्रत्ययका अर्थ विकार है। यह अर्धजरतीय न्यायको किस प्रकार आश्रयण करते हो यहां सो प्रकार तुम्हारेको वक्तव्य है?

अब पूर्वपक्षी वृत्तिकार सिद्धान्तीके प्रश्नको समझकर शंका करता है। **'मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेत्'**। **अर्थ**—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिक

मन्त्र करके प्रतिपाद्य ब्रह्मके प्रकरणको विद्यमान होनेसे 'आनन्दमयः' यहां मयट् शब्दका अर्थ प्राचुर्य माना है इति ?

सिद्धान्ती अतिप्रसङ्ग दोषको दिखाता है। यदि ऐसा मानोगे तो अन्नमयादिकोंको भी मन्त्र करके प्रतिपाद्य होनेसे अन्नादिक शब्दसे पर मयट् प्रत्ययका अर्थ भी प्राचुर्य मानना होगा। और जब प्राचुर्यार्थक मयट् हुआ तब अन्नमयादिकोंमें भी ब्रह्मत्व प्राप्त होगा।

शंका। तिस तिस आत्मासे अन्तर अन्तर अन्य अन्य आत्माको उच्यमान होनेसे, अन्नमयादिकोंमें अब्रह्मत्व ही युक्त है। और आनन्दमय आत्मासे अन्तर अन्य कोई आत्मा नहीं कहा है, अत आनन्दमयमें ब्रह्मत्व ही युक्त है। यदि ऐसा न मानोगे तो **'प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गादिति'** । अर्थ— प्रसङ्गमें प्राप्त आनन्दमयमें ब्रह्मत्वकी हानि तथा आनन्दमयसे भिन्न अप्रकृत वस्तुमें ब्रह्मत्वकी प्राप्तिका प्रसङ्ग होगा इति।

समाधान। आनन्दमयसे अन्तर अन्य आत्माका श्रवण नहीं होता है। अथवा वास्तवमें आनन्दमयसे अन्तर ब्रह्मका श्रवण नहीं होता है ? तहां प्रथम पक्ष तो हम भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि अन्नमयादिकोंसे अन्तर प्राणमयादिकोंके श्रवणकी तरह यद्यपि आनन्दमयसे अन्तर अन्य आत्माका श्रवण नहीं होता है। तथापि विकारार्थक मयट् श्रुतिको विद्यमान होनेसे, तथा सावयवत्व रूप लिङ्गको विद्यमान होनेसे, आनन्दमयमें ब्रह्मत्व नहीं बन सकता है। क्योंकि आनन्दमयको प्रसङ्गमें प्राप्त करके आगे कहा है कि–'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'। इसके अर्थको पूर्व कह आये हैं। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां'** इस मन्त्रसे बुद्धिरूप गुहामें निहितत्वरूप करके प्राप्त जो सर्वान्तर ब्रह्म है, तिस ही ब्रह्मकी, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें ब्रह्म शब्दसे प्रत्यभिज्ञा होती है। और तिस ब्रह्मको बोधन करनेकी इच्छा करके ही अन्नमयसे आदि लेके आनन्दमय पर्यन्त पञ्च कोशोंकी गुहारूप करके श्रुतिने कल्पना करी है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि अन्नमयादिक पञ्च कोशोंमें ब्रह्मत्व नहीं है। और जब 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यका अर्थ प्रकृत मुख्य ब्रह्म है तब प्रकृतकी हानि तथा अप्रकृतका प्रसंग किस हेतुसे होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता है।

शंका। जैसे अन्नमय कोशरूप पक्षीका नाभिसे अधःभागको पुच्छरूप कहा है, तथा प्राणमय कोशरूप पक्षीका पृथिवीको पुच्छरूप कहा है इत्यादिक। तैसे आनन्दमयरूप पक्षीका 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य करके ब्रह्मको पुच्छरूप अवयव कथन किया है। अत इस श्रुति वाक्य करके ब्रह्ममें मुख्यत्वरूप प्रधानत्वज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु आनन्दमयका अवयवत्वरूप गौणत्वका ही ज्ञान होवेगा।

समाधान । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें स्थित ब्रह्म शब्द करके मुख्य प्रधान ब्रह्मविषयक बोधके हुये भी, ब्रह्ममें गौणत्वका बोधक पुच्छ शब्दका जो विरोध है तिस विरोधकी प्राप्तिके हुये **'एकस्मिन्वाक्ये प्रथमचरमश्रुतशब्दयोराद्यस्यानुपसंजातविरोधिनो बलीयस्त्वात् पुच्छशब्देन प्राप्तगौणत्वस्य बाध इति'** । अर्थात् 'ब्रह्म पुच्छं' इस एक वाक्यमें प्रथम श्रवणका विषय ब्रह्म शब्द है, और अन्तमें श्रवणका विषय पुच्छ शब्द है, दोनोंके मध्यमें नहीं उत्पन्न हुवा है विरोधी जिसका ऐसा जो ब्रह्म शब्द है, तिसको बलवान् होनेसे, पुच्छ शब्द करके प्राप्त जो ब्रह्ममें गौणत्व है तिसका बाध हो जाता है। जैसे महाराजाका जो प्रथम पुत्र उत्पन्न होता है सो अनुपसंजातविरोधी है, अतः महाराजाके ऐश्वर्य मात्रका स्वामी होता है। और पश्चात् जो द्वितीय पुत्र उत्पन्न होता है सो उपसंजातविरोधी है, अर्थात् उसका विरोधी बड़ा भ्राता विद्यमान है। अतः महाराजाके ऐश्वर्य मात्रका स्वामी नहीं होता है। किन्तु शरीर निर्वाहके उपयोगी ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। यहां द्वितीय पुत्र करके प्रथम पुत्रमें प्राप्त जो गौणत्व है, तिसका प्रथम पुत्रनिष्ठ अनुपसंजात विरोधित्वरूप धर्मके बलसे बाध हो जाता है अर्थात् मुख्य महाराजा ही वह होता है। तैसे ही 'ब्रह्म पुच्छं' इस वाक्यमें भी ऊपर लिखी हुई रीतिसे जानना। इस अभिप्रायसे भाष्यकार भगवान् कहते हैं—**प्रकृतत्वादिति ब्रूमः** । अर्थात्-ब्रह्मको इस प्रकरण करके प्रतिपाद्य होनेसे ब्रह्म प्रकृत हैं, अतः-तिस प्रकृत ब्रह्ममें मुख्यत्वरूप प्रधानत्वका ज्ञान बन सकता। और जो वादीने कहा था कि ब्रह्मको पुच्छरूप होनेसे, ब्रह्ममें मुख्यत्वरूप प्रधानत्वका ज्ञान नहीं हो सकता है। सो इस पूर्वोक्त रीतिसे खण्डन हो चुका ऐसा जानना।

शंका । आनन्दमयको ब्रह्मरूप होनेसे तथा अवयवायवयीभावको कल्पित होनेसे आनन्दमयका अवयवरूप करके ब्रह्मको ज्ञायमान हुये भी ब्रह्ममें प्रकृतत्वकी हानि नहीं हो सकती है। अत आनन्दमय ही मुख्य प्रधान ब्रह्मरूप है।

समाधान । 'आनन्दमयः' 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इन दोनों वाक्योंमें ब्रह्मनिर्देशको कहते हो, अथवा एक वाक्यमें ब्रह्मका निर्देश कहते हो ? तहां प्रथम पक्ष तो बन सकता नहीं, क्योंकि "सोई ब्रह्म आनन्दमय आत्मा अवयवी है और सोई ब्रह्म पुच्छरूप अवयव है" यह कहना सर्वथा असमीचीन है। और जो वादीने कहा कि 'अवयवअवयवीभाव कल्पित है' सो यद्यपि सत्य है। तथापि जैसे अन्नमयादिक प्रत्येकमें विरुद्ध गौणप्रधानभाव नहीं बन सकता है। तैसे एक आनन्दमयमें भी विरुद्ध गौण प्रधान भाव नहीं बन सकता है। और यदि द्वितीय पक्षको अङ्गीकार करो कि 'एक वाक्यमें हम ब्रह्मको कहते हैं' तो 'ब्रह्म

पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें ही ब्रह्मका निर्देश आश्रयण करनेको योग्य है। क्योंकि इस वाक्यमें ब्रह्म शब्दका सम्बन्ध है, आनन्दमय वाक्यमें नहीं, क्योंकि आनन्दमयवाक्यमें ब्रह्म शब्दके सम्बन्धका अभाव है।

किञ्च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यको कहकर, आगे कहा है कि— **'तदप्येष श्लोको भवति। असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेनं ततो विदुः'। तै०२।६।** अर्थ—तिस ब्रह्ममें यह श्लोकरूप मन्त्र प्रमाण है। 'असत्' कहिये सर्व व्यवहारका अविषय होनेसे 'अविद्यमान ब्रह्म है' इस प्रकार जो पुरुष ब्रह्मको जानता है। सो ब्रह्मको असत्‌रूप करके जानने वाला पुरुष पुरुषार्थ करके शून्य होनेसे असत्‌के समान ही होता है। अथवा जो पुरुष यदि अश्रद्धा करके 'ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार जानता है सो नास्तिक पुरुष असत् (असाधु) ही है। और "सर्व द्वैतका अधिष्ठान तथा सर्व जगत्‌का कर्ता तथा सर्वजगत्‌के लयका आधार ब्रह्म है" यदि इस प्रकार जो पुरुष जानता है, सो पुरुष पूर्वोक्त ज्ञानवाला होनेसे सन्त है। अर्थात् ब्रह्मस्वरूप करके परमार्थ सद्रूप आत्मभावापन्न है। इस प्रकार तिस अधिकारी पुरुषको ब्रह्मवित् पुरुष जानते हैं इति। इस मन्त्रमें आनन्दमयको आकर्षण नहीं करके, 'ब्रह्म है' इस प्रकार ब्रह्मविषयक भावज्ञानका ब्रह्मभावकी प्राप्तिरूप गुण (फल) विधान किया है। तथा 'ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार ब्रह्मविषयक अभावज्ञानका संसारकी प्राप्तिरूप दोष विधान किया है। अतः 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें ही मुख्य ब्रह्मका ग्रहण किया है ऐसा निश्चय होता है, आनन्दमयका नहीं। और प्रिय मोद प्रमोद वृत्तिविशिष्ट अविद्यानिष्ठ मलिन सत्त्वगुणरूप आनन्दमयको सर्वलोकप्रसिद्ध होनेसे आनन्दमयका भाव तथा अभावकी शंका ही नहीं बन सकती है।

शंका। जब इस प्रकरणमें मुख्य ब्रह्मका ही ग्रहण है, तब ब्रह्मको आनन्दमयका पुच्छरूप किस प्रकार कहा है 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति?

समाधान। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यके अर्थको प्रथम दिखाते हैं—ब्रह्म आनन्दमयका पुच्छ नहीं है किन्तु पुच्छकी तरह पुच्छ है। क्योंकि जैसे गौका लाङ्गूल पुच्छ शब्दका मुख्य अर्थ है, तैसे आनन्दमयका लाङ्गूलरूप पुच्छ शब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्म है ऐसा तो तुम भी नहीं कह सकते। और यदि पुच्छ शब्दकी पुच्छदृष्टिमें लक्षणा करोगे (अर्थात् ब्रह्ममें पुच्छदृष्टि करनी) तो इसकी अपेक्षासे आधारमें लक्षणा माननी उचित है। क्योंकि प्रतिष्ठा पदका योग है। **'प्रतितिष्ठति अनया इति प्रतिष्ठा'।** जिस करके स्थिति होवे तिसका नाम प्रतिष्ठा है। इस पद करके यह बोधन किया कि आनन्दमयका अधिष्ठानरूप मुख्य ब्रह्म है। अर्थात् 'पुच्छ' शब्दका अर्थ आनन्दमय करके उपलक्षित उपादान सहित जगत्‌का आधाररूप ब्रह्म है। तथा 'प्रतिष्ठा' शब्दका अर्थ उपादान सहित जगत्‌का अधिष्ठानरूप ब्रह्म है। तात्पर्य यह है जब प्रियादि वृत्तिविशिष्ट आनन्दमयका आधार तथा अधिष्ठानरूप ब्रह्म हुवा तब ब्रह्मासे

लेकर स्तम्ब पर्यन्त जो लौकिक आनन्द है तिसका एक नीड आश्रय ब्रह्मानन्द स्वरूप ब्रह्म ही सिद्ध हुवा। अत ऐसा ब्रह्म ही 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य करके विवक्षित है, ब्रह्ममें आनन्दमयका अवयवत्व विवक्षित नहीं। इस अर्थमें बृहदारण्यक श्रुतिको दिखाते हैं— **'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'**। अर्थ—इस ब्रह्मानन्द स्वरूपके लेशको आश्रयण करके ही ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणिसमूह जीवनको प्राप्त होते हैं इति।

किञ्च 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें ब्रह्म शब्द करके यदि आनन्दमयको ब्रह्म मानोगे तो आनन्दमयको प्रियादिक अवयववाला होनेसे सविशेष ब्रह्म ही मानना पड़ेगा। सो नहीं बन सकता, क्योंकि लोकमें ऐसी व्याप्ति देखनेमें आती है—**'यत्र सविशेषत्वं तत्र वाङ्मनसगोचरत्वम्'**। जिस वस्तुमें सविशेषत्व है, तिस वस्तुमें वाणी तथा मनका विषयत्व रहता है। और **'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह'** इस वाक्यशेष करके ब्रह्ममें सविशेषत्वका व्यापक जो वाक् तथा मनका गोचरत्व है तिसका अभावरूप अगोचरत्वका बोधन वेदने किया है। अतः व्यापकका अभाव होनेसे सविशेषत्वरूप व्याप्यका भी अभाव मानना होगा। जब ऐसा हुवा तब 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यमें ब्रह्म शब्द करके निर्विशेष ब्रह्मको ही ग्रहण करना चाहिये।

शंका। वाक्यशेषमें भी सविशेष ब्रह्मका ही बोधन किया है, निर्विशेष ब्रह्मका नहीं। क्योंकि सविशेष ब्रह्ममें भी रागादिविशिष्ट मलिन वाक् तथा मनका अगोचरत्व है, तथा शुद्ध मनका गोचरत्व है। इस अर्थको माननेसे जो सिद्धान्तीने कहा है कि "सविशेष ब्रह्ममें सविशेषत्वका व्यापक वाङ् मनस गोचरत्वका अभाव होनेसे, सविशेषत्वरूप व्याप्यका अभाव होगा"। सो कहना असङ्गत हुवा क्योंकि सविशेष ब्रह्ममें सविशेषत्वका व्यापक शुद्ध मनका विषयत्व विद्यमान है। और मलिन वाङ् मनके विषयत्वका अभाव होनेसे **'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह'** यह श्रुति भी सविशेष ब्रह्ममें समन्वित हुई। अतः 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुतिवचनमें ब्रह्म शब्द करके सविशेष आनन्दमय ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिये, निर्विशेष ब्रह्मका नहीं।

समाधान। **'आनन्दमयो, मिथ्या, सविशेषत्वात्, घटवत्'**। अर्थ—जैसे घटरूप दृष्टान्तमें सविशेषत्वरूप हेतु है, और मिथ्यात्व साध्य भी है। तैसे आनन्दमयरूप पक्षमें सविशेषत्वरूप हेतु है, अतः मिथ्यात्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके आनन्दमय मिथ्या सिद्ध हुआ। अतः 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वचनमें ब्रह्म शब्द करके निर्विशेष ब्रह्मका ही ग्रहण करना, सविशेष आनन्दमयका नहीं। और **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** यह वाक्यशेष भी **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस प्रकरण प्रतिपाद्य निर्विशेष ब्रह्मको ही प्रतिपादन करता है, सविशेष आनन्द-

मयको नहीं। यदि प्रकरण करके अप्रतिपाद्य मिथ्या सविशेष आनन्दमयको यह पूर्वोक्त श्रुति तात्पर्यरूप करके प्रतिपादन करेगी, तो श्रुति भी मिथ्या प्रकरण विरुद्ध अर्थकी प्रतिपादक होनेसे अप्रमाण होगी। और **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'**। अर्थ—ब्रह्मरूप आनन्दको साक्षात्कार करता हुवा अधिकारी पुरुष किसीसे भयको नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि प्रत्यगभिन्न ब्रह्मसे भिन्न भयका हेतु द्वितीय वस्तु है नहीं इति। यह श्रुति भी निर्विशेष ब्रह्मको ही बोधन करती है। क्योंकि यदि सविशेषको बोधन करेगी तो भयका हेतु द्वितीय सविशेष ब्रह्मको विद्यमान हुये **'न बिभेति कुतश्चन'** यह श्रुतिवचन असङ्गत होगा।

किञ्च 'आनन्दमयः' यहां 'आनन्द' प्रकृति शब्द है, और 'मयट्' प्रत्यय है, यदि आनन्दमय शब्दका अर्थ आनन्दप्रचुर मानोगे तो मयट् प्रत्ययका अर्थ प्रधान प्राचुर्य होगा। सो प्राचुर्य प्रकृतिके अर्थ आनन्दका विरोधि दुःखरूप प्रतियोगिमें अल्पत्वकी अपेक्षा करेगा। जैसे **'विप्रमयो ग्रामः'** इस कहनेसे 'ग्राममें ब्राह्मण बहुत हैं, शूद्र अल्प हैं' ऐसा निश्चय होता है। तैसे आनन्दप्रचुर ब्रह्म है इस कहनेसे ब्रह्ममें आनन्द बहुत है, दुःख अल्प है, ऐसा निश्चय होगा। और जब ब्रह्ममें अल्प दुःख मानोगे तब **'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'**। अर्थ—जिस आनन्दरूप ब्रह्ममें अन्य वस्तुको नहीं देखता है, न अन्य वस्तुको श्रवण करता है, न अन्य वस्तुको जानता है, तिस आनन्दरूप ब्रह्मका नाम भूमा है इति। इस श्रुतिका बाध होवेगा। क्योंकि यह श्रुति आनन्दरूप भूमासे भिन्न दुःखादिकोंका निषेध करती है। अतः, आनन्दमयका अर्थ आनन्दप्रचुर नहीं बन सकता है, किन्तु अन्नमयादिकोंकी तरह आनन्दविकार ही है। अर्थात् मयट् प्रत्ययमें प्राचुर्यअर्थत्वका अभाव होनेसे आनन्दमयमें ब्रह्मत्व नहीं है।

इस अर्थमें दूसरे हेतुको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**प्रतिशरीरं च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वम् ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते**। अर्थ—प्राणि मात्रमें प्रिय मोद प्रमोदरूप वृत्तिभेद करके शरीर शरीरके प्रति आनन्दमय भिन्न भिन्न है ब्रह्मका भेद नहीं है इति। इस कहनेसे यह अनुमान सिद्ध हुआ—**'आनन्दमयो, न ब्रह्म, प्रतिशरीरभिन्नत्वात्, रसादिवत्'**। अर्थ—जैसे रसरुधिरादिरूप दृष्टान्तमें प्रति शरीर भिन्नत्वरूप हेतु है, और ब्रह्मत्वका अभावरूप साध्य है। तैसे आनन्दमयरूप पक्षमें प्रतिशरीरभिन्नत्वरूप हेतु है, अतः ब्रह्मत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके आनन्दमय ब्रह्मरूप नहीं है यह सिद्ध हुआ। और ब्रह्म जो है सो प्रतिशरीरमें भिन्न भिन्न नहीं, किन्तु एक है। क्योंकि **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** यह श्रुति ब्रह्मको देश, काल, वस्तु परिच्छेदरूप त्रिविध दोष रहित कहती है।

और इसी अर्थकी प्रतिपादक दूसरी श्रुतिको दिखाते हैं—**'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'**। अर्थ स्पष्ट है।

किञ्च इस प्रकरणमें आनन्दमयका अभ्यास भी देखनेमें नहीं आता है। किन्तु केवल प्रातिपदिक आनन्द मात्रका अभ्यास देखनेमें आता है। तहां श्रुति-रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। इत्यादि (तै०)। हृदयाकाशमें स्थित जो बुद्धिरूपी गुहा है तिस बुद्धिरूपी गुहामें सर्वका साक्षीरूप करके स्थित जो चिदाकाश है सो आनन्दरूप आत्मा यदि न होवे अर्थात् जीवनके अनुकूल प्राणादिकोंके व्यापारका प्रयोजक न होवे तो, 'कोऽन्यात्' अपानवायुका निःश्वास*रूप व्यापारको कौन करे, तथा 'कः प्राण्यात्' प्राणवायुका उच्छ्वास †रूप व्यापारको कौन करे, अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि प्राण तथा अपान करके उपलक्षित जितने कार्यको करनेवाले करण हैं, तिन करणोंकी प्रवृत्ति जिसके अधीन है सो चेतन आनन्दरूप है इत्यादि। दूसरी श्रुतियोंका अर्थ स्पष्ट है तथा इन श्रुतियोंके अर्थ पूर्व कह भी आये हैं अतः यहां नहीं लिखे।

शंका। अभ्यस्यमान जो आनन्द पद है,सो लक्षणावृत्ति करके आनन्दमय पर है, इस रीतिसे आनन्दमयपदका भी अभ्यास बन सकता है।

समाधान। यदि प्रथम आनन्दमय पदमें ब्रह्मविषयकत्व अर्थात् ब्रह्मका बोधकत्व निश्चित होवे, तो उत्तरवाक्यमें आनन्द पदकी आनन्दमयमें लक्षणा करके आनन्दमय पदका अभ्यास सिद्ध होवे। परन्तु आनन्दमयमें ब्रह्मत्व ही नहीं है, क्योंकि प्रिय शिरस्त्वादिरूप सावयवत्व हेतु करके आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका खण्डन कर आये हैं। और आनन्दमयमें प्रथम ब्रह्मत्वकी सिद्धिके हुये ही आनन्दपदोंमें आनन्दमयपरत्वका ज्ञान होनेसे अभ्यासकी सिद्धि, और प्रथम अभ्यासकी सिद्धिके हुये ही आनन्दमयमें ब्रह्मत्वकी सिद्धि, इस प्रकार यहां अन्योऽन्याश्रय दोष भी जानना।

शंका। यदि आनन्दपदका अभ्यास आनन्दमयविषयक नहीं है तो किस विषयक है?

समाधान। **'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'** इस श्रुतिवाक्य करके उक्त जो ब्रह्म है, तिस ब्रह्मविषयक आनन्दपदका अभ्यास है। इस अर्थमें बृहदारण्यक

---

* मुखनासिकासे भीतर प्रविष्ट होनेवाला अधोगति अपानवृत्ति वायुका नाम निःश्वास है व श्वास है।

† मुखनासिकासे शरीरके बाहर निकलनेवाला ऊर्ध्वगति प्राणवृत्ति वायुका नाम उच्छ्वास व प्रश्वास है।

श्रुतिको दिखाते हैं:-'**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' इत्यादिक श्रुतिमें आनन्दरूप प्रातिपदिकका ब्रह्ममें प्रयोग देखनेमें आता है। अतः 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिक तैत्तिरीय श्रुतियोंमें भी ब्रह्मविषयक ही आनन्दपदका अभ्यास निश्चित होता है 'आनन्दमय' विषयक नहीं ऐसा जानना।

शंका। तैत्तिरीय श्रुतिमें आनन्दमयका ही ब्रह्मत्वेन ग्रहण है, क्योंकि मयडन्त आनन्द शब्दका अभ्यास देखनेमें आता है-**आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति**। अर्थ—ब्रह्मवित् पुरुष आनन्दमयरूप आत्माको प्राप्त होता है इति। इस अभ्याससे आनन्दमय ब्रह्मरूप है।

समाधान। इस वाक्यमें ब्रह्मका बोधकत्व ही नहीं है, क्योंकि विवेकज्ञान करके त्याज्य अर्थात् बाधके योग्य जो विकार स्वरूप अन्नमयादिक अनात्मा हैं तिनोंके प्रवाहमें पठित होनेसे आनन्दमय भी अनात्मा स्वरूप ही है, ब्रह्मस्वरूप नहीं। इस अर्थको पूर्व विस्तारसे निरूपण कर आये हैं।

शंका। '**स एवंविद् अस्माल्लोकात्प्रेत्य**' अर्थात् जो अधिकारी पुरुष 'एवंवित्' कहिये सत्य ज्ञान अनन्त, अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्मको 'ब्रह्मैवाहमस्मि' 'मैं ब्रह्म स्वरूप हूं' इस प्रकार प्रत्यग् अभिन्नत्वेन जानता है। सो ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोकसे 'प्रेत्य' कहिये दृष्ट तथा अदृष्टरूप विषयोंसे निरपेक्ष होकर अन्नमयादिकोंमें आत्मत्व बुद्धिको त्याग करता हुआ '**आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति**' अर्थात् आनन्दमयरूप ब्रह्मको प्राप्त होता है। इस तैत्तिरीय मन्त्रमें ब्रह्मवित् पुरुषको ब्रह्मकी प्राप्तिरूप फल कहा है। यदि आनन्दमयको ब्रह्मरूप न मानोगे तो अधिकारी पुरुषको आनन्दमय ब्रह्मकी प्राप्तिरूप जो फल कथन किया है सो असङ्गत होगा।

समाधान। यह दोष नहीं बन सकता है, क्योंकि आनन्दमयके उपसंक्रमणनिर्देशसे ही पुच्छ प्रतिष्ठा स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति रूप फलका निर्देश सिद्ध हो चुका है। अर्थात् 'स एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति'। इस वाक्यमें उपसंक्रम शब्दका जो मुख्य अर्थ प्राप्ति है सो नहीं बन सकता। क्योंकि यदि प्राप्तिरूप अर्थ मानोगे तो अन्नरसमय स्थूल शरीरादिरूप अनर्थ अनात्माकी भी प्राप्ति होगी सो अधिकारी पुरुषको वाञ्छित नहीं। अतः मुख्य अर्थकी अनुपपत्ति होनेसे उपसंक्रम शब्दका अर्थ त्याग व बाध ही मानना चाहिये। इस अर्थको दिखाते हैं—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इस वचनमें अन्नरसका विकाररूप करके उक्त जो स्थूल शरीररूप आत्मा है, अर्थात् भ्रान्तिसे आत्मत्वेन गृहीत जो अन्नमय कोश है, तिस अन्नमय कोशको 'उपसंक्रामति' कहिये बाध करता है। अर्थात् अधिकारी पुरुष प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मका अप्रतिबद्ध साक्षात्कार करके अन्नमय कोशमें आत्मत्वभ्रान्तिको नाश करता है। अत

उपसंक्रम शब्दका प्राप्तिरूप मुख्य अर्थकी अनुपपत्ति होनेसे भ्रान्तिका नाशरूप बाध ही अर्थ है। इसी प्रकार प्राणमयसे लेकर 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इन वचनोंमें भी आनन्दमय पर्यन्त कोशोंमें जो आत्मत्वभ्रान्ति है तिस भ्रान्तिका नाश ही उपसंक्रम शब्दका अर्थ जानना। इस पूर्वोक्त रीतिसे सिद्धान्तीने यह बोधन किया कि भ्रान्तिसे आत्मत्वेन गृहीत जो अन्नमयसे लेकर आनन्दमय पर्यन्त कोश हैं तिनोंको बाध करके जो बाधका अवधिरूप 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य करके प्रतिपाद्य निर्विकल्प ब्रह्म है तिस ब्रह्मकी प्राप्तिरूप फल विद्वान्‌को होता है इति।

अब इसी अर्थमें अगले मन्त्रको दिखाते हैं :— 'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति'। अर्थ—'यतः' कहिये अद्वय आनन्द स्वप्रकाशरूप आत्मासे 'वाचः' कहिये शक्ति-वृत्ति करके सविकल्प वस्तुके बोधक जो शब्द हैं सो 'मनसा सह' कहिये शब्दशक्तिसे जन्य वृत्तिरूप ज्ञानके सहित 'अप्राप्य' कहिये तिस अद्वितीय आनन्द स्वप्रकाशरूप आत्माको नहीं प्रकाश करके 'निवर्तन्ते' निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् शक्तिहीन हो जाते हैं। मनवाणीका अविषय निर्विकल्प आनन्दरूप ब्रह्मको अपरोक्ष करके 'विद्वान्' जानने वाला पुरुष भयरहित होता है इति। यह मन्त्र भी निर्विकल्प ब्रह्मकी प्राप्तिको ही प्रतिपादन करता है।

और वादीने 'कामाच्च नानुमानापेक्षा' इस सूत्रके व्याख्यानमें जो कहा था कि—आनन्दमयके प्रकरणमें 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' यह जो श्रुति है सो आनन्दमयमें ही कारणत्व व ब्रह्मस्वरूपत्वको बोधन करती है, अन्यमें नहीं। क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इस मन्त्रके समीपमें ही आगे 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' यह मन्त्र है? सो वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इस वाक्यके अन्तमें 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यह मन्त्र है, इसके आगे 'सोऽकामयत' यह श्रुति है, अतः 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यके अत्यन्त समीपमें जो 'सोऽकामयत' यह वचन है सो पुच्छ प्रतिष्ठारूप ब्रह्ममें ही कारणत्व व ब्रह्मत्व-को बोधन करता है, व्यवहित आनन्दमयमें नहीं। किञ्च 'सोऽकामयत' इस वाक्यसे उत्तर जो 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह वाक्य है सो भी प्रकृत अर्थकी अपेक्षा वाला होनेसे समीपमें स्थित पुच्छ प्रतिष्ठारूप ब्रह्मको ही रसरूपसे बोधन करता है, अत आनन्दमय ब्रह्म नहीं।

शंका। 'सोऽकामयत' इस श्रुतिमें 'सः' यह शब्द पुँल्लिङ्ग है, अतः नपुंसक ब्रह्म शब्दका वाच्य ब्रह्ममें 'सः' इस पुँल्लिङ्ग शब्दका प्रयोग नहीं बन

सकता है। अतः श्रुतिस्थ 'सः' शब्द करके आनन्दमयका ही ग्रहण करना चाहिये, ब्रह्मका नहीं ।

समाधान ।: 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इस श्रुतिमें पुँल्लिङ्ग आत्मशब्द करके, ब्रह्मको ही प्रकृत होनेसे, जैसे ब्रह्ममें पुँल्लिङ्ग आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। तैसे 'सोऽकामयत' इस श्रुतिमें भी जो पुँल्लिङ्ग 'सः' शब्द है तिसका प्रयोग ब्रह्ममें बन सकता है। अतः 'सः' शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना, आनन्दमयका नहीं।

और वादीने जो प्रथम कहा था कि-जैसे भृगुवल्लीके 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इस भार्गवी वारुणी विद्यामें पंचम पर्यायको ब्रह्मपरत्व है। तैसे ब्रह्मवल्लीके 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इस पंचम पर्यायको भी ब्रह्मपरत्व ही मानना चाहिये क्योंकि मीमांसकोंके मतमें 'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या' ये षट् लिङ्ग तात्पर्यके निर्णायक हैं, यहां प्रसङ्गमें पंचम 'स्थान' है।

सो वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि भृगुवल्लीके 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इस पंचम पर्यायमें, आनन्द शब्दसे उत्तर विकारार्थक मयट् प्रत्ययका श्रवण नहीं होता है। तथा प्रिय शिरस्त्वादिरूप अवयवोंका भी श्रवण नहीं होता है। अत इस वाक्यमें निर्विशेष ब्रह्म परत्व युक्त है। और ब्रह्मवल्लीके 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इस पञ्चम पर्य्यायमें, आनन्द शब्दसे उत्तर विकारार्थक मयट् प्रत्ययका श्रवण होता है। तथा प्रियशिरस्त्वादिरूप अवयवोंका भी श्रवण होता है। अत इस वाक्यमें निर्विशेष ब्रह्मपरत्व नहीं बन सकता है। किञ्च विषयसम्बन्ध तथा सत्त्वसम्बन्धरूप किञ्चित् विशेषको नहीं आश्रयण करके स्वतः ब्रह्ममें प्रियशिरस्त्वादिक भी नहीं बन सकते हैं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि प्रसङ्गमें सविशेष ब्रह्म ही प्रतिपादन करनेकी इच्छाका विषय है। सो कहना भी असङ्गत है, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिक श्रुतियों करके, वाक् व मनका अगोचर निर्विशेष ब्रह्म ही प्रतिपादन करनेकी इच्छाका विषय है। अत अन्नमयादिकोंकी तरह आनन्दमयमें भी विकारार्थक ही मयट प्रत्यय है प्राचुर्यार्थक नहीं यह सिद्ध हुआ।

और 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस बारवां सूत्रसे लेकर 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' इस उन्नीसवां सूत्र पर्यन्तका, आनन्दमयब्रह्मपरत्वरूप अर्थ वृत्तिकारने जो किया है सो समीचीन नहीं। क्योंकि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य निर्विशेष ब्रह्ममें, पुच्छ शब्दके योगसे आनन्दमयका अवयवत्वरूप गौणत्वकी कल्पना वेदविरुद्ध करी है। अतः वेदसम्मत सिद्धान्तकी रीतिसे इन सूत्रोंके अर्थोंको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—

'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इत्यादि वाक्यघटक 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यह वाक्य सिद्धान्तमें 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रका **विषय** है।

'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस मन्त्रमें आनन्दमयका अवयवरूप करके ब्रह्म विवक्षित है, अथवा मुख्य प्रधानरूप करके ब्रह्म विवक्षित है ऐसा यहां **संशय** है।

पूर्वपक्षी वृत्तिकार कहते हैं कि-'पुच्छ' शब्दके योगसे आनन्दमयका अवयवरूप करके ब्रह्म विवक्षित है। इस प्रकार यहां **पूर्वपक्ष** है।

सिद्धान्ती कहता है-**'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** ॥

'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इत्यादि वाक्यके अन्तरगत जो 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यह वाक्य है तिस वाक्यगत जो ब्रह्म पद है सो अभ्यासरूप लिङ्गके बलसे मुख्य प्रधान ब्रह्मको ही बोधन करता है, यह **सिद्धान्त** है।

यद्यपि इस सूत्रमें आनन्दमय शब्द करके जीवका ही ग्रहण होता है ब्रह्मका नहीं, तथापि आनन्दमय शब्द करके उपलक्षित 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्यगत 'ब्रह्म' शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना। क्योंकि 'अभ्यासात्'। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस मन्त्रसे अग्रिम मन्त्रमें केवल ब्रह्मका ही अभ्यास देखनेमें आता है-'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति'। इस निगमन (उपसंहार) मन्त्रका अर्थ पूर्व निरूपण कर आये हैं।

शंका। वादी कहता है कि-'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' इस सूत्रमें 'विकार' शब्द करके अवयव शब्दका ग्रहण है। अतः 'पुच्छं' इस अवयव शब्दको विद्यमान होनेसे ब्रह्ममें मुख्य प्रधानत्व नहीं बन सकता। यह जो दोष मैंने पूर्व कहा था तिस दोषका परिहार करना चाहिये।

समाधान। सिद्धान्ती कहता है कि-यह दोष नहीं बन सकता, क्योंकि 'प्राचुर्यात्' प्राचुर्यसे भी अवयव शब्दकी उपपत्ति बन सकती है, 'प्राचुर्य' कहिये अवयवप्रायमें वचनरूप प्रायापत्ति * अर्थात् अवयव क्रमकी जो बुद्धिमें प्राप्ति

* आनन्दमयका पूर्व कोशवत् पञ्चम अवयव पुच्छ भी अलङ्कारपूर्तिके निमित्त अवश्य कहना चाहिये।

परन्तु अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, प्रियादि वृत्तिविशिष्ट मलिनसत्त्वविशिष्ट अज्ञानावच्छिन्नआनन्दाभासरूपआनन्दमयके कथनसे अनन्तर चिद्रूप ब्रह्म भिन्न कोई वस्तु शेष है नहीं। जिसको आनन्दमयका पुच्छरूपसे निरूपण किया जाय। क्योंकि अज्ञान, तत्कार्य, तद्वृत्ति चिदाभासरूप निखिल अनात्मप्रपञ्चका पञ्चकोशमें अन्तर्भाव हो चुका है। अतः परिशेषसे आनन्दमयाधारत्वेन अवश्य वक्तव्य, अरुन्धतीन्याय करके आत्मत्वेन प्रदर्शनीय, प्रकृत

है तिसका नाम प्रायापत्ति है। प्रथम अन्नमयादिकोंके शिरसे आदि लेके पुच्छ पर्यन्त अवयवोंको कहते हुये पश्चात् आनन्दमयके भी शिर आदिक चारों अवयवोंको कहकर, अवयव प्रायापत्ति करके, 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यह मन्त्र आनन्दमयका पुच्छरूप अवयव ब्रह्मको कहता है, 'वास्तवसे आनन्दमयका अवयव ब्रह्म है' इस प्रकार अवयवकी विवक्षा करके नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्रमें ब्रह्मका अभ्यास करके ब्रह्ममें मुख्य प्रधानत्वको समर्थन कर आये हैं, अतः ब्रह्ममें मुख्य अवयवत्व नहीं बन सकता है इति।

'तद्धेतुव्यपदेशाच्च'। अर्थ—आनन्दमय सहित सम्पूर्ण विकाररूप कार्यका कारणरूप करके ब्रह्मको 'इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च' यह तैत्तिरीय मन्त्र कथन करता है। अतः कारणरूप ब्रह्म अपना कार्य आनन्दमय जीवका मुख्य वृत्ति करके अवयव नहीं हो सकता है इति।

'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते'। अर्थ—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो ब्रह्म है, जिस ब्रह्मके ज्ञानसे 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यह मन्त्र मोक्षको प्रतिपादन करता है, सो ही ब्रह्म प्रधानतया 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस मन्त्रका विषय है आनन्दमयका अवयवत्वेन नहीं इति।

'नेतरोऽनुपपत्तेः'। अर्थ—सर्व जगत्का स्रष्टा ब्रह्मसे भिन्न आनन्दमय जीव जो है सो इस प्रकरणमें प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि आनन्दमयमें सम्पूर्ण जगत्स्रष्टृत्वादिक अनुपपन्न है इति।

'भेदव्यपदेशाच्च'। अर्थ—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' यह मन्त्र ब्रह्मरूप रसको प्राप्त होकर आनन्दमय जीव आनन्दवाला होता है। इस प्रकार भेदका प्रतिपादन करता है, अतः यहां आनन्दमय प्रतिपाद्य नहीं है इति।

शंका। आनन्दमयो, ब्रह्म, तैत्तिरीयकपञ्चमस्थानस्थत्वात्, भृगुवल्लीपञ्चमस्थानस्थितानंदवत्। अर्थात् जैसे भृगुवल्लीके पञ्चम स्थानमें स्थित आनन्दरूप दृष्टान्तमें तैत्तिरीय उपनिषत्के पञ्चम स्थानमें वर्तमानत्वरूप हेतु है, और ब्रह्मत्व साध्य है। तैसे आनन्दमयरूप पक्षमें तैत्तिरीय उपनिषत्के पञ्चम स्थानमें वर्तमानत्वरूप हेतु है, अतः ब्रह्मत्व साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके आनन्दमय ब्रह्मरूप सिद्ध होता है।

समाधान।'कामाच्च नानुमानापेक्षा'। अर्थ—'काम्यते इति कामः'जो पदार्थ कामनाका विषय होवे तिसका नाम काम है। अर्थात् कामनाका विषय मुख्य आनन्द ही होता

ब्रह्मको ही आनन्दमय पुच्छत्वेन 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, यह श्रुति उपदेश करती है। अतः ब्रह्ममें पुच्छत्वेन अप्रधानत्वकी आशंका अयुक्त है। अधिष्ठानवाचक प्रतिष्ठा शब्दके अर्थका पुच्छशब्दार्थ ब्रह्मके साथ अभेद अन्वय बोध (आनन्दमयका पुच्छ प्रतिष्ठा कहिये अधिष्ठान ब्रह्म है) अप्रधानत्व शंकारूप भ्रमका नाशक है।

है। अत आनन्दका नाम काम है। और आनन्दको कामनाका विषय होनेसे वादीने जो अनुमान किया था कि—भृगुवल्लीके पञ्चम स्थानमें वर्तमान आनन्दमें ब्रह्मत्व देखनेमें आता है, इस लिये पञ्चम स्थानमें वर्तमान आनन्दमयमें भी ब्रह्मत्व है। इस * अनुमानकी अपेक्षा नहीं है इति। किञ्च **'आनन्दमयो, न ब्रह्म, विकारार्थकमयडन्तशब्दप्रतिपाद्यत्वात्, अन्नमयादिवत्'**। अर्थात् जैसे अन्नमयरूप दृष्टान्तमें विकारार्थक मयडन्त अन्नमय शब्द करके प्रतिपाद्यत्वरूप हेतु है, और ब्रह्मत्वका अभावरूप साध्य भी है। तैसे आनन्दमयरूप पक्षमें विकारार्थक मयडन्त आनन्दमय शब्द करके प्रतिपाद्यत्वरूप हेतु है। अतः ब्रह्मत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके आनन्दमयमें ब्रह्मत्वका साधक पूर्वोक्त अनुमान सत्प्रतिपक्षित है। अर्थात् सत्प्रतिपक्ष दोष करके दुष्ट है इति।

शंका। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इस मन्त्र करके जीवब्रह्मके भेदका उपदेश होनेसे प्रकृतमें सगुण ब्रह्म ही जाननेको योग्य है।

समाधान।'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' अर्थात् मानुषानन्दसे लेकर आनन्दकी काष्ठा पर्यन्त आनन्दका विचार करते हुये, अन्तमें लिखा है—'स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।' जैसे भिन्न देशमें स्थित घटाकाश तथा मठाकाश दोनों वस्तुतः आकाश स्वरूप करके एक हैं, तैसे 'सः' कहिये व्यष्टिशरीररूप उपाधिमें वर्तमान जो आनन्दरूप प्रत्यग् आत्मा है, तथा आदित्य वं समष्टिशरीररूप उपाधिमें वर्तमान जो आनन्दरूप परमात्मा है सो दो प्रकारका आनन्द, 'एकः' कहिये भेदरहित है। अतः 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस वाक्य करके प्रतिपाद्य सूत्रस्थ 'अस्मिन्' शब्दका अर्थ शुद्ध ब्रह्ममें, 'अस्य' कहिये 'अहमेव परं ब्रह्म' 'मैं पर ब्रह्म स्वरूप ही हूं' इस प्रकारके बोधवाले आनन्दमय जीवका, ब्रह्मभावको शास्त्र कथन करता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे निर्गुण ब्रह्मज्ञानके लिये ही जीव ब्रह्मके भेदका अनुवाद किया है। वस्तुत जीव व ब्रह्म एक ही है। और इस पूर्वोक्त प्रकारसे 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस सूत्रसे लेकर 'अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति' इत्यन्त सम्पूर्ण सूत्र 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य ब्रह्मके ही प्रतिपादक हैं आनन्दमयके नहीं ऐसा जानना ॥१६॥

इत्यानन्दमयाधिकरणम् ॥

'आनन्दमयोऽभ्यासात्' इस अधिकरणमें, तैत्तिरीय श्रुतिने निर्विशेष ब्रह्मके साक्षात्कारका उपायरूप करके अन्नमयादिक पञ्च कोशोंका निरूपण किया है, आत्मत्वरूप करके नहीं। क्योंकि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यह मन्त्र अधि-

* अर्थात् इस अनुमानमें कामनाविषयत्व उपाधि है। यदि आनन्दमयको भी कामनाका विषय मानें तो, मयडन्तत्वाभाव उपाधि है।

कारी पुरुषको जानने योग्य प्रधान ब्रह्मको प्रतिपादन करता है। अतः ज्ञेय निर्विशेष ब्रह्म है। इस प्रकार निर्णय कर आये हैं। अब 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' * इस अधिकरणमें, उपासना तथा कर्मका अतिशय करके प्राप्त उत्कर्षवाला जो आदित्यमण्डलमें स्थित सूर्यरूप जीवात्मा देवता है, तिससे भिन्न ब्रह्मरूप परमेश्वर ही उपासना करनेको योग्य है। इस अर्थको छान्दोग्य श्रुति करके भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—

'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा † कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद' इत्यधिदैवतम्। इत्यादि। अर्थ—ऋक् तथा सामको पृथिवी तथा अग्नि आदि स्वरूपत्वकी उक्तिसे अनन्तर उपासनाका प्रारम्भ 'अथ' शब्दका अर्थ है। प्रसङ्गमें 'हिरण्मय' शब्द करके सुवर्णका विकारको ग्रहण नहीं करना, किन्तु ज्योतिर्मयको ग्रहण करना। आदित्यमण्डलके अन्तर 'हिरण्मय' कहिये ज्योतिर्मय जो यह परमेश्वर है। सो शरीररूप पुरीमें शयन करनेसे, यद्वा सम्पूर्ण जगत्को अस्ति भाति प्रियरूप करके पूर्ण करनेसे, पुरुष कहा जाता है। सो पुरुष समाहित चित्तवाले उपासकोंको मूर्तिमान् दीखता है। अब मूर्तिका प्रतिपादन करते हैं—जिस पुरुषके 'श्मश्रु' कहिये दाढी मूछ तथा केश ज्योतिर्मय हैं। और नखसे लेकर दूसरे जितने अङ्ग हैं सो सर्व ज्योतिर्मय हैं अर्थात् प्रकाशरूप हैं। और नेत्रोंमें दूसरे अङ्गोंसे विलक्षणताको दिखाते हैं, जैसे 'कप्यासं' मर्कट जिस भाग करके बैठता है अर्थात् कपिके पृष्ठका अन्तिम भाग अत्यन्त रक्त तेजस्वी होता है तिसके समान अत्यन्त रक्त तेजस्वी जो कमल है, तिस कमलके समान जिसके नेत्र हैं। और जिस वास्ते यह परमात्मा सर्व पाप करके रहित है, अत उपास्य परमात्माका नाम 'उत्' है। और सर्व पाप रहित 'उत्' नामक परमात्माकी जो पुरुष उपासना करता है सो पुरुष भी सर्व पापों करके रहित होता है। और देवताको अधिकार करके जो उपासनावाक्य है तिसका नाम 'अधिदैवत' है इति।

---

* पूर्व अधिकरणमें निर्विशेषब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वेन पञ्चकोशोंका निरूपण किया है, ज्ञेय स्वरूपमें पञ्चकोश विवक्षित नहीं हैं। अब ऐश्वर्य, आदित्यमण्डलादि स्थान, हिरण्यश्मश्रु, आदिक विवक्षित उपाधिमत्त्वेन वस्तुतः निर्विशेष ब्रह्म ही उपास्य है, यह निर्णय इस अधिकरणमें करते हैं। पूर्व अधिकरणमें ब्रह्म ज्ञेय है, इसमें ब्रह्म ध्येय है।

† **शंका।** आदित्यमण्डलान्तर्गत पुरुषके नेत्रोंकी कप्यास (कपिके चूतड़) की उपमा हीन उपमा होनेसे अनुचित है।

समाधान। 'उपमितोपमानत्वान्न हीनोपमा' इति भाष्यम्। अर्थात् कप्यासवत् जो अत्यन्त तेजस्वी रक्त कमल तद्वत् सूर्यमण्डलके अन्तर्गत पुरुषके अत्यन्त तेजस्वी रक्त नेत्र हैं। इस प्रकार उपमित उपमा होनेसे हीन उपमा नहीं है।

'अथ अध्यात्मम्' । देहरूप आत्माको अधिकार करके जो उपासना वाक्य है तिसका नाम 'अध्यात्मम्' है ।

अब अध्यात्म उपासनाको दिखाते हैं-'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' । अर्थ-ऋक् तथा सामको वाक् तथा प्राण आदि स्वरूपत्वकी उक्तिसे आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ है । और नेत्रके अन्तर जो यह परमात्मारूप पुरुष है सो समाहित चित्तवाले उपासकोंको दीखता है । सो पुरुष ऋक् तथा साम तथा उक्थ तथा यजु तथा ब्रह्मस्वरूप है । और आदित्यमण्डलस्थ पुरुषके साथ अभेदरूप करके उपासना करनेको योग्य है । और आदित्यमण्डल तथा नेत्ररूप स्थानका भेद होनेसे उपास्य पुरुष भी भिन्न भिन्न होगा । इस शंकाको दूर करते हैं । श्रुतिमें आदित्यमण्डलस्थ पुरुषके जो हिरण्मय आदिकरूप,तथा ऋक् सामादि 'गेष्ण' कहिये पादपर्व अर्थात् पादकी अंगुली, तथा उत् नाम वर्णन किये हैं । सोई रूप,तथा गेष्ण,तथा नाम चाक्षुष पुरुषके वर्णन किये हैं अत एक है इति ।

अब 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इस सूत्रकी अधिकरण रचनाको दिखाते हैं । तहां 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये' इत्यादिक वाक्य इस अधिकरण सूत्रके विषय हैं ।

और स्थानद्वयमें स्थित जो उपास्य पुरुष है तिसमें सर्व पापका असम्बन्ध तथा रूपवत्त्वका श्रवण होनेसे, सूर्यमण्डलमें तथा चक्षुमें उपास्यरूप करके श्रूयमाण जो पुरुष है, सो कर्म तथा उपासनाका अतिशय करके प्राप्त उत्कर्षवाला आदित्यरूप जीवात्मा देवता है, अथवा नित्य सिद्ध परमेश्वर उपास्य है यह संशय है इति ।

'तहां वस्तुत उपास्य क्या प्राप्त हुआ' इस जिज्ञासा के हुये, 'पूर्व अधिकरणमें ब्रह्म पद तथा आनन्द पदका अभ्यास आदिक प्रमाणके बलसे, जैसे निर्गुण ब्रह्मकी सिद्धि कही है । तैसे 'हिरण्मयः' इत्यादिक रूपवत्त्वमें प्रमाण करके, सूर्यमण्डलमें तथा चक्षुमें स्थित आदित्यरूप जीवात्माका ही ग्रहण करना । इस प्रकार पूर्व सिद्धान्तरूप दृष्टान्तसङ्गति करके पूर्वपक्षी पूर्वपक्षको करता है ।

अथ पूर्वपक्ष ।'संसारीति'। इति भाष्यम् । प्रसंगमें संसारी आदित्यरूप जीवात्माका उपास्यत्वेन ग्रहण करना परमेश्वरका नहीं, क्योंकि आदित्य मण्डलस्थ पुरुषमें हिरण्यश्मश्रु इत्यादिक रूप कहे हैं । और अक्षिस्थ पुरुषमें भी रूपवत्त्व है, क्योंकि जो आदित्य पुरुषमें रूपादिक कहे हैं, सोई अक्षिस्थ पुरुषमें रूपादिक हैं, इस प्रकार श्रुतिमें कहा है । और परमात्मामें रूपवत्त्व नहीं बन सकता । क्योंकि 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' यह श्रुति परमेश्वरमें रूपादिकोंका निषेध करती है ।

और आधारके श्रवणसे भी जीव ही उपास्य है, क्योंकि 'य एषोऽन्तरादित्ये' 'य एषोऽन्तरक्षिणि' यह वचन उपास्य पुरुषका आदित्य मण्डल तथा चक्षुरूप आधारको बोधन करता है। और परमात्मा तो अनाधार है, तथा स्वरूपभूत स्वमहिमामें प्रतिष्ठित है तथा सर्वव्यापी है, अतः ब्रह्मका आधार बने नहीं। इस अर्थमें **'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः'** इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं।

और ऐश्वर्यकी मर्यादाके श्रवणसे भी जीव ही उपास्य है, क्योंकि **'स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च'**। अर्थ—आदित्य मण्डलमें स्थित जो पुरुष है, सो यह पुरुष आदित्य लोकसे ऊर्ध्व देशमें स्थित लोकोंका ईश्वर है, तथा तिन लोकोंमें स्थित देवतावोंके भोगोंका भी ईश्वर है इति। इस छान्दोग्य श्रुति करके आदित्य पुरुषके ऐश्वर्यकी मर्यादाका श्रवण होता है। और **'स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च'**। अर्थ—अक्षिमें स्थित जो पुरुष है सो यह पुरुष अक्षिसे अधस्तन जो लोक हैं अर्थात् अक्षिके विषय जो लोक हैं तिनोंका ईश्वर है, तथा मनुष्योंके भोगोंका भी ईश्वर है इति। इस छान्दोग्य श्रुति करके अक्षिस्थ पुरुषके ऐश्वर्यकी मर्यादाका श्रवण होता है। और ईश्वरका ऐश्वर्य मर्यादारहित है, क्योंकि—**'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय'**। अर्थ—यह परमात्मा भूतोंका 'अधिपति' कहिये नियामक यमरूप है, तथा भूतोंका पालक इन्द्रादिरूप है, और जैसे लोकमें जलोंका असंकरके लिये सेतु होता है तैसे वर्णाश्रमादिरूप इन लोकोंकी मर्यादाका हेतु होनेसे सेतुरूप यह परमेश्वर ही है, अतः सर्वका ईश्वररूप है इति। यह श्रुति 'सर्वेश्वर' इस पद करके परमात्माके ऐश्वर्यमें मर्यादाशून्यत्वको बोधन करती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अक्षि तथा आदित्य मण्डलमें स्थित उपास्य पुरुष परमात्मा नहीं है, किन्तु संसारी जीवात्मा आदित्य है, यह सिद्ध हुआ इति।

इस प्रकारके पूर्वपक्षको प्राप्त हुये भगवान् सूत्रकार सिद्धान्तको कहते हैं:—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

अर्थ—१ अन्तः, २ तद्धर्मोपदेशात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। अक्षि तथा आदित्य मण्डलके अन्तर स्थित जो पुरुष है सो परमेश्वर ही है, संसारी जीवात्मारूप आदित्य देवता नहीं। क्योंकि 'तद्धर्मोपदेशात्' कहिये प्रसंगमें तिस परमेश्वरके सर्व पाप रहितत्वादिरूप धर्म ही उपदिष्ट हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं। सर्व पापोंके सम्बन्ध करके रहित होनेसे आदित्य मण्डलस्थ पुरुषका नाम उत् है। और इसी प्रकार सर्व पापोंके सम्बन्ध करके रहित होनेसे अक्षिस्थ पुरुषका भी नाम उत् ही

है। इस प्रकार आदित्य पुरुषके व अक्षिस्थ पुरुषके नामका निर्वचन श्रुतिमें किया है। और सर्व पापरहितत्व परमात्मामें ही बन सकता है अन्यमें नहीं। अतः प्रसंगमें उपास्य 'पुरुष' शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना, संसारी आदित्यरूप जीवका नहीं।

शंका। **'न ह वै देवान् पापं गच्छति'** इस श्रुति करके आदित्यरूप जीवात्मामें भी सर्व पापका अस्पर्शित्व बन सकता है। अत उपास्यरूप करके आदित्यरूप जीवका ही ग्रहण करना चाहिये।

समाधान। 'न ह वै देवान् पापं गच्छति' यह श्रुति देवतावोंमें पाप मात्रका अभावको बोधन नहीं करती है। किन्तु कर्मके अनधिकारी होनेसे क्रियमाण अशुभ कर्मजन्य पाप तथा पापका फल दुःख देवतावोंमें नहीं होता है। परन्तु सञ्चित पाप तो देवतावोंमें अवश्य मानना पड़ेगा। यदि न मानोगे तो 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' यह भगवद् वचन असङ्गत होगा। क्योंकि यह स्मृति पुण्यके नष्ट हुये देवतावोंका जो अधःपतन प्रतिपादन करती है। सो विना सञ्चित पापसे नहीं बन सकता। अतः सर्व पाप रहितत्व परमेश्वरमें ही बन सकता है अन्यमें नहीं।

और **'य आत्माऽपहतपाप्मा'** यह छान्दोग्य श्रुति भी परमात्मामें ही सर्व पाप रहितत्वको बोधन करती है। और छान्दोग्यमें ही पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, नक्षत्र, आदित्यगत शुक्ल प्रकाश, ये पांच प्रकारकी अधिदैवत ऋक् कही हैं। तथा अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, आदित्यगत कृष्ण रूप, ये पांच प्रकारके अधिदैवत साम कहे हैं। और वाक्, चक्षु, श्रोत्र, अक्षिगत शुक्ल प्रकाश, ये चार प्रकारकी अध्यात्म ऋक् कही हैं। तथा प्राण, छायात्मा, मन, अक्षिगत कृष्ण रूप, ये चार प्रकारके अध्यात्म साम कहे हैं। तहां आदित्यस्थ पुरुषको अधिदैवत ऋक् तथा साम स्वरूप वर्णन किया है। और अक्षिस्थ पुरुषको अध्यात्म ऋक् तथा साम और उक्थ, यजु, व ब्रह्म स्वरूप वर्णन किया है। यह ऋक् तथा सामादि स्वरूपत्व सर्व जगत्का कारण होनेसे, सर्वात्मस्वरूप परमात्मामें ही बन सकता है, अन्यमें नहीं।

इस प्रकार कह कर आगे कहा है कि—**'तस्य ऋक् च साम च गेष्णौ'**। तिस आदित्य मण्डलस्थ पुरुषके अधिदैवत ऋक् तथा साम 'गेष्ण' कहिये पादके पर्वरूप हैं। ऐसा कह कर आगे कहा है कि—**'यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ'**। जो अधिदैवत ऋक् तथा साम आदित्य पुरुषके गेष्ण हैं। सोई अक्षिस्थ पुरुषके गेष्ण हैं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि आदित्य मण्डलस्थ तथा अक्षिस्थ पुरुष एक है। तथा सर्वात्मस्वरूप परमात्मारूप ही है। क्योंकि ऋक् सामादि ब्रह्म के ही अङ्ग बन सकते हैं।

और इसी अर्थको छान्दोग्यमें दिखाया है, जो गायक पुरुष वीणामें राजादिकोंका गायन करते हैं, सो सर्व आदित्यादि उपाधिमें प्रविष्ट परमात्माका ही गायन करते हैं, अतः धनलाभ करके युक्त होते हैं। इस प्रकार लौकिक गायनोंमें भी इसीको गीयमान श्रुति दिखाती है। इस अर्थकी संगति भी ब्रह्मके ग्रहणसे ही बन सकती है।

शंका। लोकमें श्रीमान् राजादिकोंका ही गायन करते हैं, परमेश्वरका नहीं।

समाधान। 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥' इस भगवद् वचनसे जो राजादिकोंका गायन है सो भी परमेश्वरका ही गायन है यह सिद्ध होता है। और आदित्य मण्डलस्थ तथा अक्षिस्थ पुरुषमें लोक तथा लोकोंमें भोगोंका जो निरङ्कुश अर्थात् अन्यके अनधीन नियन्तृत्व वर्णन किया है। सो निरङ्कुश नियन्तृत्व भी उपास्य पुरुषमें परमेश्वरत्वको ही बोधन करता है। और जो पूर्वपक्षीने कहा था कि 'हिरण्यश्मश्रुः'इत्यादिक वचनों करके रूपवत्त्वका श्रवण होता है। अतः रूपरहित परमेश्वर उपास्य नहीं हो सकता, किन्तु रूपवान् आदित्य ही उपास्य है? सो वादीका कहना असङ्गत है,क्योंकि उपासकोंके उपर अनुग्रह करके मायासे परमात्मा रूपवान् हो सकता है। तहां स्मृतिः-'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं मैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥' अर्थ—हे नारद! सर्व भूतोंके गुणों करके युक्त जो मेरेको देखता है सो यह मायाका कार्य होनेसे विचित्र मूर्तिरूपा माया मेरी उत्पन्न करी हुई है। अत इस प्रकार मेरेको जाननेके लिये तू योग्य नहीं है। अर्थात् उपासकोंके लिये मैंने इस स्वरूपको धारण किया है। वस्तुतः इससे विलक्षण जानने योग्य मेरा निर्गुण स्वरूप है इति।

किञ्च जहां सर्व विशेष शून्य ज्ञेय ब्रह्मरूप करके परमात्माके स्वरूपका उपदेश किया जाता है तहां 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादिक शास्त्र उदाहर्तव्य है। और जहां सर्वका कारण होनेसे विकारोंके धर्मों करके विशिष्ट परमात्माके स्वरूपका उपदेश किया जाता है तहां 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादिक शास्त्र उदाहर्तव्य है। * अर्थ—सम्पूर्ण जगत्रूप है कर्म जिसका, तथा दोष रहित हैं सर्वकाम जिसके, तथा पुण्यरूप है गन्ध जिसका, तथा सर्व सुखको करनेवाला है रस जिसका,तिसका नाम सर्वकर्मा इत्यादिक है इति। अर्थात् अग्रिम छान्दोग्य श्रुतिमें ही जैसे कर्म, काम, गन्ध, रसादिक रूप विशेषण करके विशिष्ट परमात्माकी उपासनाका विधान किया है। तैसे'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः'इत्यादिक मन्त्र भी रूपवत्त्व विशिष्ट परमात्माकी ही उपासनाको विधान करता है। और

*-अर्थात् तादात्म्यसम्बन्ध करके सर्वकर्म सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरसादिरूप जगदध्यासका अधिष्ठान आत्मा ब्रह्म है।

जिस २ गुणविशिष्ट परमात्माकी उपासना पुरुष करता है वह उपासक तिस २ गुणविशिष्ट उपास्य परमात्माके स्वरूपको प्राप्त होता है। यह वृत्तान्त छान्दोग्यमें विस्तारसे प्रतिपादन किया है। और जो वादीने कहा था कि—आदित्य मण्डलादिरूप आधारका श्रवण होनेसे आधार रहित परमेश्वर उपास्य नहीं हो सकता है? सो वादीका कहना यद्यपि सत्य है। तथापि निराधार स्वमहिमामें प्रतिष्ठित परमात्माकी उपासनाके लिये आधार विशेषका उपदेश बन सकता है। क्योंकि ब्रह्मको सर्वगत होनेसे आकाशकी तरह सर्वान्तरत्वकी उपपत्ति बन सकती है। और अध्यात्म तथा अधिदैवत विभागकी अपेक्षा करके उपासनाके लिये ऐश्वर्यकी मर्यादा भी बन सकती है। अतः, नेत्र तथा आदित्य मण्डलके अन्तर विचित्र मूर्तिमान् परमात्मा ही उपास्य है। आदित्य देवतारूप जीव नहीं यह सिद्ध हुआ। और पूर्वपक्षमें जीवकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना फल है ऐसा जानना इति ॥२०॥

"ब्रह्म व जीवका अभेद होनेसे 'ब्रह्म उपास्य है जीव नहीं' यह कथन असंगत है" इस शंकाके उत्तरको व्यास भगवान् दिखाते हैं :-

भेदव्यपदेशाच्चान्यः * ॥२१॥

अर्थ-१ भेदव्यपदेशात्, २ च, ३ अन्यः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। "आदित्यशरीराभिमानी जीवात्मासे ईश्वर भिन्न है" इस प्रकारका भेदव्यवहार होनेसे अविद्यादशामें सूर्यरूप देवतासे अन्तर्यामीरूप ईश्वर भिन्न है। अत आदित्य देवतादिका अन्तर्यामी परमेश्वर ही उपास्य है इति।

इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः–'**य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः**'। अर्थात् याज्ञवल्क्य उद्दालक ऋषिके प्रति कहते भये–हे उद्दालक! जो आदित्यमें स्थित हुआ आदित्यके अन्तर है सो परमात्मा है। यद्यपि आदित्यमें स्थित आदित्यकी रश्मि भी है, अतः 'यः' इस पद करके रश्मिका ग्रहण हो सकता है। तथापि 'आदित्यादन्तरः' इस पद करके रश्मिका निषेध किया है। क्योंकि रश्मि आदित्यके अन्तर नहीं है, किन्तु बाहर है। यद्यपि आदित्यके अन्तर जीव है, अतः जीवका ग्रहण होगा। तथापि 'जिसको आदित्य नहीं जानता है' इस कहनेसे जीवका वारण हो गया। क्योंकि जीवात्मा 'अहं' इस प्रतीतिसे सर्वको प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः

*-जीव ईशका कल्पित भेद होनेसे 'ईश उपास्य है, जीव नहीं' इस अर्थके बोधक 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' 'भेदव्यपदेशाच्च' ये दो सूत्र हैं। अर्थात् आदित्य मण्डल व चक्षुके अन्तर्गत चिदात्मा पुरुष ईशत्वेन उपास्य है, जीवत्वेन नहीं।

'यः' इस यत् सर्वनाम करके परमात्माका ही ग्रहण करना। और जो परमात्मा आदित्यको अपने नियममें रखता है।

शंका। शरीररहित परमात्मामें नियन्तृत्व नहीं बन सकता?

समाधान। जिस परमात्माका आदित्य शरीर है।

शंका। जो आदित्यमें स्थित हुआ आदित्यके अन्तर परमेश्वर है सो हम्हारे आत्मासे भिन्न क्या अनात्मारूप है?

समाधान। हे उद्दालक! यह पूर्वोक्त अन्तर्यामी परमेश्वर तुम्हारा आत्मारूप है तथा 'अमृत' कहिये मोक्षरूप है अर्थात् सर्व संसार धर्म करके रहित है इति।

यह श्रुति आदित्यरूप जीवात्मासे भिन्न करके जिस परमेश्वरको स्पष्ट प्रतिपादन करती है सोई परमेश्वर 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' इत्यादिक छान्दोग्य श्रुतिमें ग्रहण करनेको योग्य है, क्योंकि दोनों श्रुति समानार्थक हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुआ कि आदित्यमण्डलमें तथा अक्षिमें स्थित पुरुषरूप व उद्गीथरूप परमात्मा ही उपास्य है, आदित्यरूप जीवात्मा नहीं इति ॥२१॥ इति अन्तरधिकरणम् ॥

यद्यपि पूर्व अधिकरणमे सर्व पापराहतत्वादिक ब्रह्मके असाधारण प्रबल अव्यभिचारी लिङ्गोंसे, आदित्यरूप जीवात्माके बोधक हिरण्मयादिक पदों करके प्रतिपाद्य रूपवत्त्वादि दुर्बल लिङ्गोंका बाध करके परमात्मामें 'हिरण्मय' इत्यादिक श्रुतिका समन्वय कर आये हैं। अर्थात् उपास्य प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप परमात्मा ही, उपासक पुरुषोंके ऊपर अनुग्रह करके, हिरण्मयादिक स्वरूप मायामय रूपवाले विचित्र देहोंको धारण करता है। अतः प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म ही उपास्य है, आदित्यरूप जीवात्मा नहीं। तथापि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस अधिकरण सूत्रमें जो श्रुतिस्थ आकाश पद है सो लिङ्गसे प्रबल श्रुतिरूप है। अतः लिङ्ग करके श्रुतिको अबाध्य होनेसे, 'आकाशः' पद करके भूताकाशको ही ग्रहण करना चाहिये, ऐसी शंकाके प्राप्त हुये व्यास भवगान् कहते हैं:—

॥ आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

अर्थ—१ आकाशः, २ तल्लिङ्गात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'आकाश' शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना, भूताकाशका नहीं, क्योंकि श्रुतिमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, लयका कर्तृत्व रूप ब्रह्मका लिङ्ग देखनेमें आता है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरण रचनाको दिखाते हुये तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं। तहां **'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्'** । यह छान्दोग्य श्रुति इस सूत्रका

विषयवाक्य है। अर्थ-शालावत्य ब्राह्मण जैवलि राजाको पूछता भया—हे राजन्! इस पृथिवी लोकका तथा अन्य लोकोंका आधार कौन है? राजा कहता भया-हे शालावत्य! आकाश है, और इस आकाशसे ही यह स्थावर जङ्गमरूप सम्पूर्ण भूत उत्पन्न होते हैं। तथा आकाशके प्रति नाशको प्राप्त होते हैं, अर्थात् आकाशमें ही लयको प्राप्त होते हैं। श्रुतिमें उत्पत्ति तथा नाशको कहा है अतः स्थितिका भी ग्रहण जानना। और इन सर्वभूतोंसे आकाश महत्तर है। अतः सर्व भूतोंका परम अयन (स्थान) है इति।

यहां आकाश शब्द परब्रह्मका वाचक है, अथवा भूताकाशका वाचक है। ऐसा **संशय** होता है।

शंका। संशयका क्या कारण है?

समाधान। भूताकाशमें व ब्रह्ममें आकाश शब्दकी प्रवृत्ति संशयमें कारण है।

क्योंकि आकाश शब्दका प्रयोग दोनोंमें होता है। तहां भूताकाशमें आकाश शब्दका जो प्रयोग होता है, सो तो लोक तथा वेदमें प्रसिद्ध है। और जहां असाधारण धर्म करके, तथा वाक्यशेष करके, ब्रह्मका निर्णय किया है, तहां ब्रह्ममें भी आकाश शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। यथा '**यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्**। अर्थ—यदि जो यह सर्वका प्रवर्तक साक्षी आकाशरूप आत्मा आनन्द स्वरूप न होवे तो प्राण तथा अपानके व्यापारको कौन करावे इति। इस तैत्तिरीय उपनिषद्में आनन्दस्वरूप असाधारण धर्म करके निर्णीत जो ब्रह्म है, तिस ब्रह्ममें आकाश शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है।

और '**आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद्ब्रह्म**'। अर्थ—प्रथम 'नाम' शब्द प्रसिद्धार्थक है। आकाश ही नामरूपात्मक प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थितिका हेतु है। और नाम तथा रूप जिस आकाशसे भिन्न हैं, अथवा जिस आकाशके अन्दर कल्पित रूप करके वर्तमान हैं, सो आकाश ब्रह्मरूप है इति। इस छान्दोग्य श्रुतिमें 'आकाशो वै' इससे लेकर 'यदन्तरा' यहां पर्यन्त जो वाक्य है इस वाक्यका शेष 'तद्ब्रह्म' यह वाक्य है। इस वाक्यशेष करके निर्णीत जो ब्रह्म है, तिस ब्रह्ममें आकाश शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है, अतः **संशय** होता है।

"यहां फिर आकाश शब्दसे किसका ग्रहण युक्त है" ऐसी जिज्ञासाके हुये।

अथ पूर्वपक्षः। आकाश शब्द करके भूताकाशका ग्रहण करना, ब्रह्मका नहीं। क्योंकि प्रसिद्ध आकाश शब्दके प्रयोगसे भूताकाश शीघ्र ही बुद्धिमें आरूढ़ होता है। अर्थात् आकाश शब्दके उच्चारण मात्रसे प्रथम भूताकाशका ही बोध होता है। और जो प्रथम कह आये हैं कि आकाश शब्दका प्रयोग दोनोंमें होता है। अतः भूताकाश तथा ब्रह्म उभय साधारण आकाश शब्दको होनेसे संशय होता है। सो कहना असङ्गत है, क्योंकि अनेका-

र्थत्वका प्रसङ्गरूप दोष होगा। अत आकाशके विभुत्वादिक धर्मों करके, ब्रह्मको आकाशके सदृश होनेसे, ब्रह्ममें आकाश शब्द गौण है, मुख्य नहीं। और मुख्य अर्थके सम्भव हुये गौण अर्थका ग्रहण अयुक्त है। अत आकाश शब्द करके मुख्य भूताकाशरूप अर्थका ही ग्रहण करना। और जो सिद्धान्ती कहे कि "यदि भूताकाश ग्रहण करोगे तो 'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच' इस वाक्यका 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादि वाक्यशेषकी उपपत्ति न बनेगी। क्योंकि भूताकाशमें सम्पूर्ण प्रपञ्चकी उत्पत्ति आदिकोंका कारणत्व नहीं बन सकता है"। सो यह सिद्धान्तीका दोषोद्घाटन असङ्गत है। क्योंकि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः' यह तैत्तिरीय श्रुति, भूताकाशमें वायु आदिकोंके कारणत्वको स्पष्ट प्रतिपादन करती है। और श्रुतिमें जो 'ज्यायस्त्व' तथा 'परायणत्व' कहा है सो भी भूताकाशमें भूतान्तरकी अपेक्षासे बन सकता है। अत आकाश शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण करना, ब्रह्मका नहीं इति।

अथ **सिद्धान्तपक्षः** । इस प्रकारके पूर्वपक्षको प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है 'आकाशस्तल्लिङ्गात्'। यहां आकाश शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना भूताकाशका नहीं। क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव' इत्यादि वाक्यमें परब्रह्मका ही जगत्की उत्पत्ति आदिकोंका कारणत्वरूप लिङ्ग देखनेमें आता है। और वेदान्तशास्त्रकी यह मर्यादा है कि—परब्रह्मसे ही भूतोंकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि पूर्वपक्षीने भूताकाशमें वायु आदि क्रम करके भूतकारणत्वको दिखाया है। तथापि यदि आकाश शब्द करके मूल कारण परब्रह्मका ग्रहण न करेंगे तो पूर्वपक्षीके मतमें 'आकाशादेव' इस वाक्यमें जो 'एवकार' है तथा 'सर्वाणि' यह जो भूतोंका विशेषण है,सो दोनों अनुकूल न होवेंगे। क्योंकि सम्पूर्ण भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार श्रुति कहती है। यहां यदि सर्व भूतोंके अन्तर्गत भूताकाशका भी ग्रहण करोगे तो भूताकाशसे भूताकाशकी उत्पत्ति कहनी होगी। सो बन सकती नहीं,क्योंकि स्वसे स्वकी उत्पत्ति माननेमें आत्माश्रय दोष होवेगा।

और यदि सर्वभूत पद करके भूताकाशसे भिन्न वायु आदिक सर्व भूतोंका ग्रहण करोगे तो सर्वभूत पदका अर्थ संकुचित मानना होगा। ऐसे संकुचित अर्थमें कोई प्रमाण है नहीं, जिस प्रमाणसे भूताकाशसे भिन्न वायु आदिक संकुचित अर्थको स्वीकार करें। अत आकाश पद करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना, इस पक्षमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि आकाशरूप परब्रह्मसे भूताकाशकी भी उत्पत्ति होती है। इसलिये आत्माश्रय व सर्व पदके अर्थमें संकोच भी नहीं है। और पूर्वपक्षीके मतमें **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः'** इस श्रुति प्रमाणसे, आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति, तथा आकाशसे

वायुकी उत्पत्ति, वायुसे अग्निकी उत्पत्ति, ऐसा अर्थ माननेसे 'आकाशादेव' "आकाशसे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है, अन्यसे नहीं" इस वाक्यका जो यह अर्थ है सो असङ्गत होगा।

और हमारे सिद्धान्तकी रीतिसे तो परब्रह्मरूप आकाशसे भूताकाशकी उत्पत्ति होती है, तथा भूताकाशोपहित परब्रह्मरूप आकाशसे ही वायुकी उत्पत्ति होती है, इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति परब्रह्मसे ही होती है।

और सम्पूर्ण भूतोंके लयका आधारत्व भी परब्रह्ममें ही बन सकता है भूताकाशमें नहीं। क्योंकि भूताकाशका लय भूताकाशमें नहीं बन सकता, किन्तु भूताकाशसे भिन्न परब्रह्ममें ही कहना होगा। इस रीतिसे सर्वका लयाधारत्व-रूप लिङ्गसे भी 'आकाश' शब्द करके परब्रह्मका ही ग्रहण करना। और 'आकाशो ह्येभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' ये ज्यायस्त्व व परायणत्व भी ब्रह्मके ही लिङ्ग हैं।

और वादीने भूतान्तरकी अपेक्षासे जो भूताकाशमें ज्यायस्त्व तथा परायणत्व कहा है, सो यद्यपि सत्य है! तथापि अनापेक्षिक ज्यायस्त्व, तथा परायणत्व परब्रह्ममें ही बन सकता है, भूताकाशमें नहीं। तहां छान्दोग्य श्रुति-**'ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः'** यह वचन भी पृथिवी आदिक सर्वसे पर ब्रह्मको ही महान् कहता है। और सम्पूर्ण जगत्का परम कारण होनेसे परमात्मामें ही परायणत्व भी बन सकता है। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः-**'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्'**। अर्थ—कूटस्थ चिन्मात्र स्वरूप जो विज्ञान है, तथा दुःख करके अननुविद्ध अविक्रियमाण सुख स्वरूप जो आनन्द है, सो ब्रह्म है। तथा 'रातेः' कहिये धनका, 'दातुः' कहिये अज्ञानी यागादिक कर्मका कर्ता यजमानका, 'परायणम्' कहिये परगतिरूप ब्रह्म है, अर्थात् धनदाताका आश्रय तथा जगत्का आश्रय ब्रह्म है इति।

किंच "आकाश शब्द करके परब्रह्मका ग्रहण करना" इस अर्थमें अन्य लिङ्गको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं-**'अपि चान्तवत्त्वदोषेण'** इत्यादि भाष्यम्। छान्दोग्यमें लिखा है कि-उद्गीथ विद्यामें कुशल दाल्भ्य, तथा शालावत्य ब्राह्मण, तथा जैवलि राजा, यह तीनों बैठकर परस्पर विचार करते भये कि—उद्गीथका परायण कौन है। तहां जैवलि राजाने कहा कि "आप दोनों ब्राह्मण हैं,अतः प्रथम आप परस्पर विचार करें,हम आपके वचनोंको श्रवण करेंगे"। ऐसे राजाके वचनको श्रवणकर शालावत्य, दाल्भ्य ऋषिके प्रति पूछता भया—हे दाल्भ्य! उद्गीथ रूप ओंकारका 'का गतिः' कहिये आश्रय अर्थात् कारण कौन है? दाल्भ्य ऋषि कहता भया—हे शालावत्य! ओंकाररूप उद्गीथका कारण स्वर है अर्थात् ध्वनिविशेष है। शालावत्य-स्वरका कारण कौन है? दाल्भ्य—प्राण है अर्थात् बल है। शालावत्य-बलरूप प्राणका कारण कौन है? दाल्भ्य-अन्न है। शालावत्य-अन्नका कारण कौन है? दाल्भ्य-आप है। शाला०-आपका कारण कौन है? दाल्भ्य-स्वर्गलोक है। शाला०-स्वर्गलोकका कारण कौन है? दाल्भ्य-कोई नहीं।

क्योंकि कोई पुरुष स्वर्गलोकको उलंघन करके सामका आश्रयान्तर नहीं कह सकता। अतः हम भी स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित सामको जानते हैं। तथा **'स्वर्गो वै लोकः सामवेदः'** इस प्रकार स्वर्गरूप करके सामकी स्तुति करी है। अतः साम स्वर्गमें प्रतिष्ठित है। इस पूर्वोक्त रीतिसे दाल्भ्य ऋषिने सामरूप उद्गीथका अर्थात् प्रणवका आश्रयरूप कारण स्वर्गलोक है ऐसा कहा ।

शंका । जब प्रथम ओंकाररूप उद्गीथका कारण ध्वनिविशेषरूप स्वरको कहा है, तब स्वर्ग किस प्रकार सामका आश्रय होगा ?

समाधान । * स्वर्गसे प्राप्त जो आप हैं, तिन करके जीवित प्राण है, और तिस प्राणरूप बल करके क्रियमाण उद्गीथ है, अतः तिस उद्गीथका स्वर्ग परायण बन सकता है इति।

इस वचनको श्रवण करके शालावत्य दाल्भ्य ऋषिके प्रति कहता भया- हे दाल्भ्य ! तुम्हारा साम स्वर्गमें अप्रतिष्ठित है। अर्थात् स्वर्गको अप्रतिष्ठित होनेसे, अप्रतिष्ठा दोष करके तुम्हारा पक्ष दूषित है। और जो तुम स्वर्गमें प्रतिष्ठित सामको जानता है, अथवा कहता है, अतः सो तुम भ्रमज्ञानवाला है, तथा मिथ्यावादी है।

और मिथ्या वचनको नहीं सहन करनेवाला जो यथार्थवेत्ता पुरुष है, सो पुरुष यदि तुझ मिथ्यावादी पुरुषको कहे कि 'तेरा शिर टूट पड़ेगा' तो अवश्य मिथ्या वचनके समकालमें ही मिथ्यावादीका शिर टूट पड़ेगा †। इस प्रकार शालावत्यके वचनको श्रवण कर, भयभीत हुवा दाल्भ्य ऋषि, शालावत्य ऋषिसे पूछता भया—हे भगवन् ! **अमुष्य लोकस्य का गतिः** । अर्थ- स्वर्गलोकका कारण कौन है ? इति। शालावत्य-'अयं लोकः' स्वर्गका कारण यह पृथिवी- लोक है, क्योंकि यागादिद्वारा यह लोक स्वर्गका पोषक है। दाल्भ्य-इस पृथिवी- लोकका कारण कौन है ? शालावत्य-कोई नहीं, क्योंकि इस पृथिवीलोकसे दूसरे आश्रयमें सामको कोई पुरुष स्थापन नहीं कर सकता, अतः हम भी इस पृथिवी-

---

* स्वाभिव्यञ्जक ध्वनिप्रयोजक प्राणप्रयोज्य बलजनकान्नहेतुवृष्टिप्रयोजक देवाधारत्वसम्बन्धसे प्रणवका आश्रय स्वर्ग बन सकता है।

† अर्थात् मैं सहन कर जाता हूं, 'मूर्धा ते विपतिष्यति' इस वाक्यको नहीं कहता हूं।

शंका । शिर गिरनेका हेतु पापकर्म यदि दाल्भ्यका होगा तो न कहने- से भी अवश्य शिर गिरेगा। हेतु न होनेसे शापरूप कथनसे भी नहीं गिरेगा। अन्यथा कृतनाश अकृताभ्यागम होगा। अतः शापवरकी चर्चा अयुक्त है।

समाधान । किया हुवा कर्म (पाप पुण्य) फल देनेमें देशकालादि निमित्त- की अपेक्षा करता है। अतः मूर्धाके पातका हेतु अज्ञान भी परवचन रूप (निमित्त) की अपेक्षा करेगा। अतः शापादिक चर्चा व्यर्थ नहीं।

लोकमें सामको स्थापन करते हैं। और पृथिवीलोक सामकी प्रतिष्ठा कहिये आश्रयरूप परायण है, क्योंकि श्रुतिने पृथिवीरूप करके सामकी स्तुति करी है इति।

शालावत्यके पूर्वोक्त वचनोंको श्रवण करके जैवलि राजा कहता भया **'अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम'**। हे शालावत्य! तुम्हारा साम अन्तवत् है अर्थात् पृथिवीको परिच्छिन्न होनेसे परिच्छिन्न है। इस प्रकार अन्तवत्त्व दोषसे शालावत्यके पक्षकी निन्दा करके, आगे किसी अन्तशून्य वस्तुको कहनेकी इच्छा करके जैवलिने कहा कि हे शालावत्य! जो आप कहते हो 'साम इस पृथिवीलोकमें प्रतिष्ठित है' सो तुम्हारा कहना मिथ्या है, ऐसे मिथ्यावादी तुझको यदि दूसरा कोई यथार्थवेत्ता पुरुष कहे कि—'तुम्हारा शिरका पतन हो जावे' तो उसी समयमें तुम्हारे शिरका पतन हो जावेगा।

राजाके ऐसे वचनको सुनकर भयभीत हुवा शालावत्य जैवलि राजाके प्रति पूछता भया-"हे राजन्! **'अस्य लोकस्य का गतिः'** इस पृथिवीलोकका कौन कारण है?"

राजा उत्तर करता है-**'आकाश इति होवाच'**। अर्थात् त्रिविध परिच्छेद शून्य अनन्तरूप आकाश कारण है इति। इस मन्त्रमें 'आकाश' शब्द करके परब्रह्मका ग्रहण करना, भूताकाशका नहीं, क्योंकि यदि भूताकाशका ग्रहण करोगे तो अन्तवत्त्व दोष पूर्वकी तरह बना रहेगा।

शंका। आकाशमें अनन्तत्वका श्रवण मैंने कहीं भी नहीं किया?

समाधान। तिस आकाशको उद्गीथमें सम्पादन करके उपसंहार किया है-**'स एष वरोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः'**। अर्थ—जिस आकाशसे भूतोंकी उत्पत्ति स्थिति व लय होता है, सो यह आकाशरूप परमात्मा उत्तर उत्तर श्रेष्ठ जो स्वर प्राण व अन्नादिक हैं तिन सर्वसे श्रेष्ठ है, तथा उद्गीथ (साम व प्रणव स्वरूप) है, तथा उद्गीथमें सम्पादित जो परमात्मारूप आकाश है सो अनन्त है इति। अर्थात् 'उद्गीथ आकाश एवेति' उद्गीथ आकाशरूप है। इस प्रकार अनन्त स्वरूप आकाशके साथ उद्गीथ रूप सामकी अभेद दृष्टिसे उद्गीथमें अनन्तत्वादिक हैं स्वभावसे नहीं ऐसा जानना। यह जो आकाशनिष्ठ अनन्तत्व है सो ब्रह्मका लिङ्ग है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि दाल्भ्य ऋषिने स्वर्गमें उद्गीथरूप सामको प्रतिष्ठित माना। और शालावत्य ऋषिने पृथिवीमें सामको प्रतिष्ठित माना। और जैवलि राजाने ब्रह्मरूप आकाशमें सामको प्रतिष्ठित माना। तहां दोनों पक्षोंमें दोष कह आये हैं, अत ब्रह्मरूप करके उद्गीथकी उपासना करनी। यह तृतीय पक्ष सिद्धान्त है। और इस उद्गीथरूप आकाशके उपासकोंको सर्वोपरि श्रैष्ठ्यादि फल भी छान्दोग्यमें प्रतिपादन किये हैं।

और जो वादीने कहा था कि-भूताकाशमें आकाश शब्दकी प्रसिद्धिके

बलसे आकाश शब्द करके प्रथम भूताकाशकी उपस्थिति होती है। सो वादीका कहना यद्यपि सत्य है, तथापि आकाश शब्द करके प्रथम प्रतीत हुआ भी भूताकाश ग्रहण करनेको योग्य नहीं है। किन्तु ब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है। क्योंकि वाक्यशेषमें ब्रह्मके बोधक बहुत लिङ्ग देखनेमें आते हैं। और **'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता'** इत्यादिक श्रुतिवाक्योंमें जो आकाशादिक शब्द हैं तिनका प्रयोग ब्रह्ममें दिखा भी आये हैं।

और आकाश पदसे गौण अर्थरूप ब्रह्मकी भी प्रथम उपस्थिति हो सकती है। क्योंकि आकाश शब्दका तथा आकाश शब्दके पर्याय 'व्योम' तथा 'खं' इत्यादिक अनेक शब्दोंका प्रयोग ब्रह्म विषे देखनेमें आता है। तहां श्रुति- **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः'**। अर्थ–जिस कूटस्थरूप परम आकाशमें वेद विद्यमान हैं, और जिस अक्षररूप कूटस्थमें विश्वेदेवता अधितिष्ठित हैं, यदि तिसको यह जीव नहीं जानेगा तो वेदोंसे व देवोंसे क्या करेगा इति। इस ऋग्वेदकी संहितामें आकाश शब्दका पर्याय जो 'व्योम' शब्द है तिसका प्रयोग ब्रह्ममें है। इसी प्रकार **'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता'** इस तैत्तिरीय उपनिषद्‌में जो 'व्योम' शब्द है तिसका प्रयोग ब्रह्ममें है। इसी प्रकार **'ॐ कं ब्रह्म खं ब्रह्म'** इस छान्दोग्य वाक्यमें जो 'खं' शब्द है, तथा **'खं पुराणम्'** इस बृहदारण्यक वाक्यमें जो 'खं' शब्द है तिसका प्रयोग भी ब्रह्ममें है इति।

इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि वारम्वार आकाश व्योमादिक शब्दजन्य उपस्थितिका विषय जो ब्रह्म है तिस अभ्यस्त गौणार्थरूप ब्रह्मकी भी आकाश पद करके प्रथम प्रतीति हो सकती है।

और–**'अग्निरधीतेऽनुवाकम्'** इस वाक्यके उपक्रममें स्थित जो 'अग्नि' शब्द है सो जैसे प्रथम उपस्थित वह्निको त्यागकर प्रकरणादि बलसे गौण अर्थरूप माणवक विषयक देखनेमें आता है। तैसे 'आकाश इति होवाच' इत्यादि वाक्यके उपक्रममें स्थित जो 'आकाश' शब्द है सो भी प्रथम उपस्थित भूताकाशको त्यागकर वक्तृतात्पर्य व वाक्यशेषादिके बलसे गौणार्थ ब्रह्मविषयक बन सकता है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे आकाश शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना भूताकाशका नहीं यह सिद्ध हुवा। और यहां पूर्वपक्षमें भूताकाशरूप करके उद्गीथकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्मरूप करके उद्गीथकी उपासना फल है इति ॥२२॥ इति आकाशाधिकरणम् ॥

'आकाश इति होवाच' इस वाक्यकी रीतिसे उत्तरवाक्यके अर्थको भी व्यास भगवान् दिखाते हैं :—

अत एव प्राणः ॥२३॥

अर्थ—१ अतः, २ एव, ३ प्राणः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य जो जगत्के लय आदिक ब्रह्मके लिङ्ग हैं तिन लिङ्गोंसे प्राण शब्द भी ब्रह्मका ही बोधक है अर्थात् इस श्रुतिमें प्राण शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना वायुके विकाररूप प्राणका ग्रहण नहीं करना इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं–सामवेदीय उद्गीथके प्रकरणमें ऐसा श्रवण होता है कि, चाक्रायण ऋषिने धनके लिये राजाके यागमें जाकर अपना ज्ञानरूप वैभवको प्रगट करते हुये देवताकी स्तुति करने वाला जो प्रस्तोता है उसके प्रति कहा–'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यति'। अर्थ—हे प्रस्तोतः! सामरूप भक्तिविशेष प्रस्तावकी अनुगत अधिष्ठात्री जो देवता है, तिस देवताको नहीं जानके, यदि मुझ विद्वान्के समीप स्तुति करेगा तो तेरा शिर टूट पड़ेगा इति। ऐसा उपक्रम करके श्रवण होता है कि चाक्रायण ऋषिके इस वचनको श्रवणकर भयभीत होकर प्रस्तोताने पूछा—'कतमा सा देवता'। हे भगवन्! वह देवता कौन है? 'प्राण इति होवाच'। चाक्रायणने कहा—'प्राण है'।

अब इस अर्थको अधिकरणकी रचनापूर्वक स्पष्ट करके भाष्यकार भगवान् प्रतिपादन करते हैं:-तहां "कतमा सा देवता। प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" यह श्रुति इस अधिकरण सूत्रका विषयवाक्य है। अर्थ— 'उवाच' पर्यन्तका अर्थ कह आये हैं। सम्पूर्ण स्थावर जंगमरूप प्रपञ्च प्रलयकालमें प्राणके विषे ही लयभावको प्राप्त होता है, तथा सृष्टिके आदिकालमें सम्पूर्ण जगत् प्राणसे ही उत्पन्न होता है। इन प्रपञ्चके लयकारणत्व तथा उत्पत्तिकारणत्वरूप परमात्माके लिङ्गों करके प्राणशब्दका अभिधेय जो यह देवता है सो परमात्मा है इति।

इस अधिकरणमें संशय और निर्णय पूर्वअधिकरणके सदृश हैं। तहां संशयको दिखाते हैं—'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' 'प्राणस्य प्राणम्'। अर्थ—हे प्रियदर्शन! मनरूप उपाधिवाला जो जीव है, सो 'प्राण' कहिये ब्रह्मके साथ, 'बन्धनं' कहिये सुषुप्ति अवस्थामें, एक होता है। तथा वायुका विकाररूप प्राणका भी प्राण है कहिये प्रेरक है अर्थात् सर्वकी सत्तास्फूर्तिको देनेवाला जो ब्रह्मरूप आत्मा है, तिसको जाननेवाले जो पुरुष हैं सो ब्रह्मविद् हैं इति। इस छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक श्रुतिमें ब्रह्मविषयक प्राण शब्द देखनेमें आता है। और वायुका विकाररूप जो प्राण है, तिस प्राणविषयक प्राण शब्द तो लोक तथा वेदमें प्रसिद्ध ही है। अतः प्राण शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना, अथवा वायुके विकाररूप प्राणका ग्रहण करना, यह संशय होता है इति।

"फिर यहां किसका ग्रहण युक्त है" ऐसी जिज्ञासाके हुये।

अथ पूर्वपक्षः। पञ्चवृत्तिवाला वायुका विकार जो प्राण है, सो ग्रहण करनेको योग्य है, क्योंकि वायुका विकाररूप प्राणमें प्राण शब्द प्रसिद्धतर है यह पूर्व कह चुके हैं। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि पूर्व अधिकरणवत् इस अधिकरणमें भी ब्रह्मके लिङ्ग देखनेमें आते हैं, अतः प्राण शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना युक्त है॥ अर्थात् 'प्राण इति होवाच' इस वाक्यका 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इत्यादिक शेषवाक्य है। इसमें भूतोंका लय तथा उत्पत्तिरूप कर्म परमेश्वरका प्रतीत होता है, अतः परमेश्वर ही ग्राह्य है? सो सिद्धान्तीका कहना असंगत है, क्योंकि मुख्य प्राणमें भी भुतोंका लय तथा उत्पत्ति देखनेमें आती है। तहां शतपथ ब्राह्मणवाक्यको दिखाते हैं :—

'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते'। अर्थ—जिस कालमें यह पुरुष शयन करता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है तिस कालमें वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदिक मुख्य प्राणको प्राप्त होते हैं अर्थात् मुख्य प्राणमें लयभावको प्राप्त होते हैं। और जब यह पुरुष जाग्रत् अवस्थाको प्राप्त होता है तब मुख्य प्राणसे ही पुनः वागादिक उत्पन्न होते हैं इति। अर्थात् यह वृत्तान्त प्रत्यक्ष सिद्ध है कि, सुषुप्ति कालमें प्राणवृत्तिका लोप न हुये भी इन्द्रियोंका लय हो जाता है, और प्रबोध कालमें प्रादुर्भाव होता है। अतः प्राण शब्द करके मुख्य प्राणका ही ग्रहण करना इति।

और जो सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—इस मन्त्रमें इन्द्रियोंकी प्राणसे उत्पत्ति तथा लयका श्रवण होता है, महाभूतोंकी नहीं, अतः महाभूतोंके लयादिकोंका प्रतिपादक वाक्यशेषकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? यह भी सिद्धान्तीका कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि वागादिक इन्द्रिय जो हैं, सो अपञ्चीकृत पञ्च भूतोंके साररूप हैं। और प्राणमें साररूप इन्द्रियोंका लय होनेसे, भूतोंका भी मुख्य प्राणमें लयादिक बन सकते हैं। अतः भूतोंके लयादिकोंका प्रतिपादक वाक्यशेषकी भी उपपत्ति हो चुकी।

किञ्च इसी प्रसङ्गमें आगे उद्गाताने, चाक्रायण ऋषिसे पूछा है—'कतमा सा देवतोद्गीथमन्वायत्ता'। भगवन्! उद्गीथरूप सामभक्तिका कौन देवता है? चाक्रायण ऋषिने कहा—'आदित्य इति होवाच'। आदित्यरूप देवता है। और पुनः प्रतिहर्ताने पूछा—'कतमा सा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता'। कौन देवता सामभक्तिरूप प्रतिहारमें अनुगत है? चाक्रायणने कहा—'अन्नमिति होवाच'। अन्नरूप देवता है। इस प्रकार प्रस्तावका देवतारूप प्राणसे अनन्तर, उद्गीथ तथा प्रतिहारका आदित्य तथा अन्नरूप देवताको कथन किया है। तहां जैसे आदित्य तथा अन्नमें ब्रह्मत्व नहीं है। तैसे आदित्य तथा अन्नके सन्निहित प्राणमें भी

ब्रह्मत्व नहीं बन सकता है। अतः प्राण शब्द करके वायुके विकाररूप मुख्य प्राणका ही ग्रहण करना।

अथ सिद्धान्तपक्षः। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सूत्रकार सिद्धान्तको दिखाते हैं–**'अत एव प्राणः'** इति। 'तल्लिङ्गात्' इस प्रकार पूर्व सूत्रमें कह आये हैं। इस लिये इस सूत्रमें जो 'अतः' शब्द है तिसका अर्थ 'तल्लिङ्गात्' है। यहां प्राण शब्द करके परब्रह्मका ही ग्रहण करना, मुख्य प्राणका नहीं। क्योंकि प्राणमें ब्रह्मत्वके बोधक लिङ्गोंका श्रवण होता है–**'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते'** इस छान्दोग्य श्रुति करके प्राणसे कही हुई जो सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति तथा प्रलय है, सो प्राणमें ब्रह्मत्वका बोधक लिङ्ग है।

और जो वादीने कहा था कि स्वापकालमें मुख्य प्राणमें सम्पूर्ण भूतोंका लय होता है तथा प्रबोध कालमें प्राणसे ही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति होती है, अतः मुख्य प्राणके स्वीकारमें भी सर्वभूतोंकी उत्पत्ति व लयके दर्शनका कोई विरोध नहीं होता है? सो कहना असङ्गत है, क्योंकि स्वाप तथा प्रबोध समयमें केवल इन्द्रियोंका ही प्राणमें लय तथा उत्पत्ति देखनेमें आती है सम्पूर्ण भूतोंकी नहीं। और प्रसङ्गमें 'भूतानि' इस पद करके गृहीत जो भवन धर्मक, व जीव करके आविष्ट, इन्द्रिय शरीरादिक कार्य मात्र हैं। तिन कार्यमात्रके लय तथा उत्पत्तिका 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतिसे निश्चित जो कारणत्व है सो मुख्य प्राणमें नहीं बन सकता। अतः प्राण शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना मुख्य प्राणका नहीं। और यदि पूर्वपक्षी 'भूत' पद करके महाभूतोंका ही ग्रहण करे, कार्य मात्रका ग्रहण न करे, तो भी ब्रह्मके लिङ्गमें विरोध नहीं। अर्थात् महाभूतोंके लयादिकोंका कारणत्वेन ब्रह्मकी ही सिद्धि होगी, मुख्य प्राणकी नहीं। क्योंकि महाभूतोंके कार्यरूप मुख्य प्राणमें कारणरूप महाभूतोंके लयादिकोंका कारणत्व नहीं बन सकता है।

शंका। सम्पूर्ण विषयोंके सहित इन्द्रियोंकी सुषुप्तिके समय मुख्य प्राणमें लय तथा जाग्रत् कालमें मुख्य प्राणसे ही उत्पत्ति श्रुतिमें देखनेमें आती है, अतः कार्य मात्रके लयादिकोंका कारणत्व मुख्य प्राणमें बन सकता है। तहां कौषीतकि श्रुतिः—**'यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति'** इत्यादि। **अर्थ**—जिस कालमें यह पुरुष सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है, तिस कालमें वह पुरुष किसी पदार्थको भी नहीं देखता है। और 'अथ' कहिये जिस कालमें सुषुप्त जीव प्राणमें अभेदको प्राप्त होता है तिस कालमें सर्व विषयरूप कार्यके सहित वागादिक इन्द्रिय इस

प्राणको प्राप्त होते हैं। अर्थात् मुख्य प्राणमें लयभावको प्राप्त होते हैं इति। इस लिये प्राण शब्द करके मुख्य * प्राणका ही ग्रहण करना चाहिये।

समाधान। यह भी वादीका कहना समीचीन नहीं, क्योंकि अभेदरूपसे जीव करके ब्रह्ममें प्राप्यत्व रूप जो लिङ्ग है, तथा अशेष विकारोंके लयका आधारत्वरूप जो लिङ्ग हैं, तिन लिङ्गोंका प्रतिपादक यह कौषीतकि मन्त्र है। अत इस मन्त्रमें जो प्राण शब्द है तिस करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना मुख्य प्राणका नहीं। क्योंकि मुख्य प्राणमें जीव करके प्राप्यत्व तथा सर्वविकारका लयाधारत्वादि लिङ्ग नहीं बन सकते हैं।

और वादीने जो कहा था कि प्राणको आदित्य तथा अन्नके सन्निधान होनेसे प्राणमें ब्रह्मत्व नहीं है। सो भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'प्राण इति होवाच' इस मन्त्रगत 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' यह जो शेषवाक्य है तिस वाक्यशेषगत ब्रह्मलिङ्ग करके प्राण शब्दको ब्रह्मविषयक निश्चित होनेसे आदित्यादिकोंकी सन्निधिका बाध होता है। अर्थात् आदित्यादिकोंका प्रतिपादक जो वाक्यान्तर है तिसकी सन्निधिकी अपेक्षासे स्ववाक्यगत लिङ्ग बलवान् है।

किञ्च वादीने जो प्रथम कहा था कि-पञ्चवृत्तिवाले मुख्य प्राणमें प्राण शब्द प्रसिद्धतर है, अतः प्राण शब्द करके मुख्य प्राणका ग्रहण करना? सो वादीका कहना असंगत है, क्योंकि जैसे आकाश शब्द भूताकाशमें प्रसिद्धतर है भी, तो भी ब्रह्मबोधक लिङ्गों करके आकाश शब्दको ब्रह्मपरत्व प्रतिपादन कर आये हैं। तैसे प्राण शब्द मुख्य प्राणमें प्रसिद्धतर है भी, तो भी ब्रह्मबोधक लिङ्गों करके प्राण शब्दमें ब्रह्मपरत्व जानना। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रस्तावकी देवता प्राणमें ब्रह्मत्व सिद्ध हुवा। अर्थात् 'प्राण इति होवाच' इस मन्त्रमें प्राण शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना मुख्य प्राणका नहीं इति। और यहां पूर्वपक्षमें मुख्य प्राणदृष्टि करके प्रस्तावरूप उद्गीथकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्मदृष्टि करके उद्गीथकी उपासना फल है।

और **'अत एव प्राणः'** इस सूत्रका विषयवाक्यरूप उदाहरण 'प्राणस्य प्राणम्' 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' यह श्रुति है ऐसा वृत्तिकार जो कहते हैं सो असंगत है, क्योंकि शब्दका भेद है, तथा ब्रह्मका प्रकरण है। अतः संशयकी उपपत्ति न बन सकेगी। तहां शब्दभेदको दिखाते हैं—

'यथा पितुः पितेति'। अर्थ—जैसे यहां प्रथम षष्ठी विभक्त्यन्त पद करके निर्दिष्ट जो पिता है, सो अन्य निश्चित है। और दूसरा प्रथमा विभक्त्यन्त पद करके निर्दिष्ट जो पिताका

* इस मन्त्रका जो यह अर्थ किया है सो पूर्वपक्षकी रीतिसे किया है। वस्तुत इस श्रुतिमें जो प्राण शब्द है सो भी ब्रह्मका ही वाचक है।

पिता है सो अन्य निश्चित है। अतः यहां संशय नहीं होता इति। तैसे 'प्राणस्य प्राणम्' इस शब्दभेदसे यहां भी प्रथम षष्ठी विभक्त्यन्त पद करके निर्दिष्ट जो प्राण है, सो भिन्न निश्चित है। और दूसरा प्रथमा विभक्त्यन्त पद करके निर्दिष्ट जो प्रसिद्ध प्राणका प्राण है सो भिन्न निश्चित है। क्योंकि जो प्रथमानिर्दिष्ट है सो ही भिन्नत्वेन षष्ठी करके निर्देशके योग्य नहीं हो सकता है। अतः संशय नहीं हो सकता।

और जैसे 'प्राण इति होवाच' इस श्रुतिमें एक प्राण शब्द है, अतः "प्राण शब्द करके मुख्य प्राणका ग्रहण करना, अथवा ब्रह्मका ग्रहण करना" ऐसा संशय होता है, अतः यह वाक्य उदाहरणरूप है। तैसे 'प्राणस्य प्राणम्' इस श्रुतिमें भिन्नार्थक दो प्राण शब्द हैं, अत इस वाक्यमें संशय नहीं हो सकता। और संशयका अभाव होनेसे पूर्वपक्षादिक भी नहीं हो सकते। अतः यह वाक्य उदाहरणरूप नहीं।

अब प्रकरणको दिखाते हैं। जिसके प्रकरणमें जो नामान्तरसे भी यदि निर्दिष्ट होवे तो भी प्रायः 'सो प्रकरणी (प्रकृत) ही निर्दिष्ट है' यह निश्चय होता है। जैसे ज्योतिष्टोमके प्रकरणमें **'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत'** ऐसा लिखा है। यहां नामान्तर 'ज्योतिः' शब्द ज्योतिष्टोम विषयक है तैसे परब्रह्मके प्रकरणमें **'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः'** ऐसा श्रवण होता है। अतः नामान्तर प्राण शब्द भी ब्रह्मविषयक ही है, वायुका विकाररूप मुख्य प्राण नहीं। अतः संशयादिकोंका अभाव होनेसे यह वाक्य उदाहरणरूप नहीं। और प्रस्तावकी देवता प्राणपक्षमें तो संशय, पूर्वपक्ष व निर्णयका उपपादन कर आये हैं इति ॥ २३ ॥ इति प्राणाधिकरणम् ॥

'आकाश इति होवाच' इस आकाशवाक्यमें, तथा **'प्राण इति होवाच'** इस प्राणवाक्यमें, आकाश शब्द तथा प्राण शब्द ब्रह्मरूप अर्थका प्रतिपादक है ऐसा कह आये हैं। अब 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इस ज्योतिर्वाक्यमें भी "ज्योतिःशब्द ब्रह्मरूप अर्थका प्रतिपादक है" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:-

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

अर्थ—१ ज्योतिः, २ चरणाभिधानात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। ज्योतिः शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना, सूर्यादिकोंका नहीं, क्योंकि पादका कथन किया है इति। तहां श्रुतिः-

'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। अर्थ—इस वाक्यमें चार पादवाला ब्रह्मको कथन किया है। तहां इस ब्रह्मका एक पाद तो सम्पूर्ण भूत हैं अर्थात् ब्रह्मके एक अंशमें सम्पूर्ण भूत स्थित हैं। और अमृत स्वरूप तीन पाद स्वप्रकाशरूप आत्मामें स्थित हैं इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:-

'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमे-

पृष्ठेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' । यह छान्दोग्य श्रुति इस अधिकरण सूत्रका विषयवाक्य है । अर्थ—'अथ' शब्दका अर्थ आनन्तर्य है । अर्थात् गायत्रीउपाधिक ब्रह्मकी उपासनासे अनन्तर शरीरके मध्यमें जाठराग्निरूप भौतिक ज्योतिको ब्रह्मरूप करके उपासनाका निरूपण करते हैं । द्युलोकसे परे तथा 'विश्वतः पृष्ठेषु' कहिये सम्पूर्ण प्राणिवर्गोंसे परे, तथा 'सर्वतः पृष्ठेषु' कहिये सम्पूर्ण भूरादिक लोकोंसे परे, तथा नहीं हैं उत्तम जिन्होंसे ऐसे उत्तम जो कार्यरूप हिरण्यगर्भादिकोंके लोक हैं तिनसे परे, 'दीप्यते' कहिये जो ज्योति देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप है, सोई परज्योति इस शरीरके अन्तर जाठराग्निस्वरूप है। अर्थात् सर्व संसारमण्डल करके रहित जो परज्योति है, तिस परज्योतिरूप करके जाठराग्निकी उपासना करनेको योग्य है । अथवा "परज्योति ही शरीर-के अन्तर प्रत्यग् रूप ज्योति है" ऐसा निश्चय करनेके योग्य है इति ।

तहां आदित्यादिक तेजविषयक 'ज्योतिः' शब्द लोक तथा वेदमें प्रसिद्ध है । और श्रुतिमें ब्रह्मविषयक ज्योतिः शब्द प्रसिद्ध है । अतः "ज्योतिः शब्द करके आदित्यादिक ज्योतिका ग्रहण करना, अथवा ब्रह्मरूप ज्योतिका ग्रहण करना" यह संशय होता है इति ।

यदि कोई ऐसा कहे कि—यहां संशय ही नहीं हो सकता है, क्योंकि यद्यपि आकाश शब्द प्रसिद्ध आकाशमें रूढ़ है, तथा प्राण शब्द वायुका विकार मुख्य प्राणमें प्रसिद्ध है । तथापि जैसे आकाश शब्दको तथा प्राण शब्दको तल्लिङ्गत्व हेतुसे ब्रह्मपरत्व प्रतिपादन कर आये हैं । तैसे ज्योतिः शब्दको भी ब्रह्मपरत्व बन सकता है । अतः पूर्व सूत्र करके ही इस सूत्रको गतार्थ होनेसे पृथग् आरम्भ व्यर्थ है ? सो कहना असङ्गत है, क्योंकि—'अर्थान्तरेति' इति भाष्यम् । अर्थात् प्रसिद्ध आकाशादिरूप अर्थान्तर विषयक आकाशादिक शब्दके स्ववाक्यमें ब्रह्मके लिङ्ग देखनेमें आते हैं, अत आकाशादिक शब्दको ब्रह्मपरत्व कहा है । और इस ज्योतिर्वाक्यमें ब्रह्मका बोधक लिङ्ग देखनेमें आता नहीं, अतः 'यहां ब्रह्मका बोधक लिङ्ग है या नहीं' ऐसा निर्णय अवश्य कर्तव्य है, इस लिये पूर्व सूत्र करके अगतार्थ होनेसे, इस सूत्रका पृथग् आरम्भ व्यर्थ नहीं ।

'यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ पूर्वपक्षः । इस ज्योतिर्वाक्यमें ब्रह्मके लिङ्गका अदर्शन होनेसे और तेजके लिङ्गका दर्शन होनेसे, ज्योतिः शब्द करके आदित्यादिक तेजका ही ग्रहण करना, परमात्माका नहीं । और यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—ज्योतिः शब्दको प्रकाशका वाचक होनेसे चैतन्यरूप प्रकाशका ही ग्रहण करना चाहिये, लौकिक ज्योतिका नहीं ? सो कहना असङ्गत है, क्योंकि 'तमः' और 'ज्योतिः' ये दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध विषयक प्रसिद्ध हैं, तथाच तमके विरोधीमें ज्योतिः शब्द रूढ़ है, ब्रह्म तमका विरोधी है नहीं।

यदि सिद्धान्ती कहे कि—अज्ञानरूप तमका विरोधि ब्रह्म भी है, अतः ज्योतिः शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना ? सो भी कहना असङ्गत है, क्योंकि **'चक्षुर्वृत्तेर्निरोधकं शार्वरादिकं तम उच्यते'** इति भाष्यम्। अर्थ—चक्षुवृत्तिका निरोधक कहिये आवरण करनेवाला जो रात्रिमें होनेवाला नील वस्तु है तिसका नाम तम है इति। और चक्षुवृत्तिका तमकी निवृत्ति द्वारा अनुग्राहक जो आदित्यादिक तेज है सोई ज्योतिः शब्द करके ग्राह्य है। इस वचन करके भाष्यकारने तममें भावरूपत्वको बोधन किया है। तहां अनुमान प्रमाणको दिखाते हैं- **'तमः, भावरूपं, आवरकत्वाद् रूपवत्त्वाच्च, कुड्यादिवत्'**। अर्थ—जैसे भित्ति आदिक दृष्टान्तमें आवरकत्व तथा रूपवत्त्व हेतु है, और भावत्वरूप साध्य है। तैसे तमरूप पक्षमें घटादिक वस्तुका आवरकत्व तथा रूपवत्त्व हेतु है। अतः भावत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। और 'दीप्यते' यह श्रुति भी घटादिक अर्थका प्रकाशक आदित्यादिक तेजविषयक ही है ब्रह्मविषयक नहीं, क्योंकि रूपादिकों करके हीन ब्रह्ममें अर्थका प्रकाशकत्व नहीं बन सकता है। और 'परो दिवो ज्योतिः' यह ब्राह्मणवाक्य जो मर्यादाको कहता है, सो भी सर्व जगत्का कारण तथा सर्वात्मस्वरूप अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें नहीं बन सकती है। किन्तु परिच्छिन्न कार्यरूप आदित्यादिक ज्योतिमें ही द्युमर्यादा बन सकती है।

यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि–ब्रह्मवत् कार्यज्योतिको भी सर्वत्र गम्यमान होनेसे कार्यरूप ज्योतिमें भी द्युमर्यादा नहीं बन सकती है ? इस शंकाका समाधान मुख्य पूर्वपक्षीसे भिन्न कोई एकदेशी कहता है कि सो सिद्धान्तीका कहना यद्यपि सत्य है, क्योंकि द्युलोकसे अधः भी अग्नि आदिक कार्यज्योतिकी प्रतीति होती है, तथापि 'परो दिवो ज्योतिः' इस वेद वाक्यको अदुष्ट होनेसे त्रिवृत् कृत तेजसे भिन्न प्रथम जायमान अत्रिवृत्कृत तेज द्युलोकसे परे अवश्य होगा तिसमें द्युमर्यादा बन सकती है। यह भी एक देशीका कहना असङ्गत है। क्योंकि त्रिवृत् कृत तेज ही तमका नाशरूप प्रयोजनवाला होनेसे सफल है, उससे भिन्न अत्रिवृत् कृत तेज निष्फल है। और यदि निष्फल वस्तुका प्रतिपादक इस ब्राह्मणवाक्यको मानोगे तो यह वाक्य अप्रमाणरूप होगा, और जो ऐक देशी कहे कि—अत्रिवृत् कृत तेजमें जो उपास्यता है सोई फल है, अतः सफल है। यह एक देशीका कहना असङ्गत है, क्योंकि सफल वस्तुमें उपास्यत्व होता है, निष्फल वस्तुमें नहीं। यदि उपास्यत्वरूप फल करके सफल मानकर, अत्रिवृत् कृत तेजमें पुनः उपास्यत्व मानोगे, तो उपास्यत्वरूप फलकी सिद्धिमें उपास्यत्वरूप फलकी अपेक्षा होनेसे आत्माश्रय दोष होवेगा। अतः, अत्रिवृत् कृत तेजमें उपास्यत्व नहीं, किन्तु तमकानाश रूप प्रयोजनवाले जो आदित्यादिक तेज हैं सोई उपास्य देखे गये हैं।

और पूर्वोक्त रीतिसे, अत्रिवृत्कृत तेजको अङ्गीकार करके, अत्रिवृत कृत तेजमें निष्फलत्व कहा। अब 'वस्तुतः अत्रिवृत्कृत तेज है ही नहीं' इस अर्थको

दिखाते हैं—**'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि'**। अर्थ-पृथिवीजलतेजरूप तीन देवतावोंके मध्यमें एक एकको त्रिगुण रज्जुवत् त्रिवृत् २ करूं इति। सूक्ष्म सृष्टिके अनन्तर स्थूल रचनाके निमित्त यह ईशका सङ्कल्प है। तेज, आप, पृथिवीरूप देवतावोंके मध्यमें एक एकको दो दो भाग किया, एक एक अर्ध अर्ध भागको ज्योंका त्यों रहने दिया, और दूसरा अर्ध अर्ध भागको पुनः दो दो भाग किया, इन दोनों भागोंको अपने अपने अर्ध भागसे इतर दो अर्ध अर्ध भागोंमें मिलाकर त्रिवृत्करण होता है। इस छान्दोग्य श्रुतिमें अविशेषका श्रवण होनेसे "त्रिवृत् कृत तेजसे भिन्न अत्रिवृत् कृत तेज नहीं है" यह सिद्ध हुआ। किञ्च यदि प्रथम अत्रिवृत् कृत् तेजको मानें तो भी, उस समयमें तिससे भिन्न अन्य वस्तुका अभाव होनेसे, अन्य वस्तुसे प्रसिद्ध जो मर्यादा है, सो अत्रिवृत् कृत तेजमें नहीं बन सकती है इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे सिद्धान्ती करके एकदेशीको परास्त हुये मुख्य पूर्वपक्षी कहता है कि त्रिवृत् कृत आदित्यादिक तेज ही ज्योतिः शब्दका अर्थ रहो। यदि सिद्धान्ती कहे कि-द्युलोकसे 'अर्वागपि' कहिये नीचे भी अग्नि आदिक ज्योतिका निश्चय होता है, अतः ज्योतिः शब्द करके त्रिवृत् कृत तेजका ग्रहण नहीं कर सकते? यह सिद्धान्तीका दोष देना असङ्गत है, क्योंकि सर्वत्र गम्यमान ज्योतिमें 'परो दिवः' इस वचन करके, उपास्यताके लिये प्रदेशविशेषका परिग्रह विरुद्ध नहीं है।

यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि ध्यानके लिये ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मके देशविशेषका ग्रहण करना? सो कहना असङ्गत है, क्योंकि निष्प्रदेश ब्रह्मके प्रदेशकी कल्पना नहीं हो सकती है। और **'सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु'** इस श्रुतिमें जो बहुत आधारका श्रवण होता है, सो भी कार्यरूप ज्योतिः पक्षमें ही अच्छी तरह उपपन्न हो सकता है। अतः कार्यरूप ज्योति ही उपास्य है

और "उपास्य ज्योतिमें ब्रह्मत्वका अभाव है" इस अर्थमें वादी युक्तिको दिखाता है-**'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः'**। इसका अर्थ प्रथम कह आये हैं। इस मन्त्रसे जाठराग्निमें परज्योति अध्यस्यमान प्रतीत होती है। जो सिद्धान्ती कहे कि अध्यासके हुये भी ब्रह्मरूप ज्योतिका ही ग्रहण करना? सो कहना असङ्गत है, क्योंकि **'सारूप्यनिमित्ताश्चाध्यासा भवन्ति'** अर्थ—सादृश्य रूप निमित्तसे अध्यास होता है इति। जैसे **तस्य भूरिति शिर एकं शिर एकमेतदक्षरम्**। अर्थ—शिर एक है तथा 'भूः' यह अक्षर भी एक है इति। अर्थात् दोनोंमें एकत्व सम है, अतः 'भूः' इस अक्षरमें प्रजापतिके शिरका अध्यास होता है अर्थात् 'भूः' इस अक्षरमें प्रजापतिके शिरकी दृष्टि करनी। तैसे जाठराग्नि जड़ है तथा आदित्यादिरूप पर ज्योति भी जड़ है अर्थात् दोनोंमें जड़त्व सम है। अतः पर ज्योतिका जाठर अग्निमें अध्यास बन सकता है।

और कौक्षेय ज्योतिमें अब्रह्मत्व तो प्रसिद्ध ही है, क्योंकि 'तस्यैषा दृष्टिः' 'तस्यैषा श्रुतिः' । अर्थ—शरीरमें हस्त लगानेसे जो उष्णताका ज्ञान होता है, सोई जाठर अग्निकी दृष्टि है। और कर्णके पिधान करनेसे जो शब्दविशेषका श्रवण होता है, सोई जाठर अग्निकी श्रुति है इति। अर्थात् इन श्रुतियोंमें औष्ण्य तथा घोषविशिष्टत्वका श्रवण होनेसे जाठराग्निमें अब्रह्मत्व है। और दृष्टत्व तथा श्रुतत्वरूप गुणकरके विशिष्ट जो कौक्षेय ज्योति है सो परज्योति आदित्यादिरूप करके उपासना करनेको योग्य है। और इस उपासनाको करनेवाला जो पुरुष है सो संसारमें दर्शनीय होता है, तथा विख्यात होता है। इस अल्प फलका श्रवण होनेसे भी पर ज्योति ब्रह्मरूप नहीं, किन्तु ब्रह्मसे भिन्न है। क्योंकि महत् ब्रह्मकी उपासनाका तो महान् मोक्षरूप फल होता है, अल्प फल नहीं। और जैसे आकाश तथा प्राणवाक्यमें ब्रह्मके बोधक लिङ्ग हैं, तैसे ज्योतिर्वाक्यमें ब्रह्मका बोधक लिङ्ग है नहीं।

किंच ज्योतिर्वाक्यसे पूर्व 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इस वाक्यमें भी ब्रह्म निर्दिष्ट नहीं है, क्योंकि 'गायत्री वा इदँ सर्वं भूतम्' इस पूर्व मन्त्रमें छन्दका निर्देश किया है। और जो कदाचित् पूर्व वाक्यमें ब्रह्म निर्दिष्ट होवे तो भी प्रसङ्गमें ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। क्योंकि 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस पूर्ववाक्यमें अमृतरूप त्रिपादका अधिकरणरूप करके द्युका श्रवण होता है। और यहां 'परो दिवो ज्योतिः' इस वाक्यमें द्युका मर्यादारूप करके श्रवण होता है अर्थात् सप्तमी तथा पञ्चमी विभक्तिका भेद होनेसे प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। अतः यहां ज्योतिः शब्द करके प्रकृतिका कार्यरूप ज्योतिका ही ग्रहण करना, ब्रह्मका नहीं इति।

अथ सिद्धान्तपक्षः। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि, **'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते'** इस वाक्यमें जो 'ज्योतिः' शब्द है तिस ज्योतिः शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना, क्योंकि **'चरणाभिधानात्'** कहिये पादका अभिधान किया है।

शंका। पादका वाचकपद इस मन्त्रमें दृष्ट नहीं है।

समाधान। 'अथ यदतः' इस मन्त्रसे पूर्व मन्त्रमें चार पाद वाला ब्रह्म निर्दिष्ट है, तहां श्रुतिः—**'तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति।'** अर्थ—इस वाक्यसे पूर्व **'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्'** इत्यादिक मन्त्रों करके १ वाक्, २ सम्पूर्ण प्राणियोंका समूहरूप भूत, ३ पृथिवी, ४ शरीर, ५ प्राण, ६ हृदय, इस भेद करके छ प्रकारकी जो चतुष्पदा गायत्री है, तिस गायत्रीका कथन किया है। इस गायत्रीमें अनुगत ब्रह्मका 'तावान्' कहिये जितना यह प्रपञ्च है सो सर्व प्रपञ्च

महिमा (विभूति) है। और वस्तुतः तिस विभूतिरूप प्रपञ्चसे यह पुरुष महत्तर है। अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं—सम्पूर्ण भूत इस ब्रह्मका एक पाद है, और अमृतरूप तीन पाद 'दिवि' कहिये स्वयंप्रकाशरूप आत्मामें स्थित हैं इति।

और **'यदतः परः'** इस मन्त्रमें जो 'यत्' शब्द है सो प्रसिद्ध अर्थका वाचक है, अतः पूर्व वाक्य करके चतुष्पाद ब्रह्मका जो द्यु सम्बन्धि अमृतरूप तीन पाद प्रसिद्ध हैं। सो प्रसिद्ध त्रिपादरूप ब्रह्म ही इस मन्त्रमें 'यत्' शब्द करके द्यु सम्बन्धसे निर्दिष्ट है। इस लिये यत् शब्द करके ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। और इस प्रसिद्ध ब्रह्मको त्याग करके यदि वादी प्रकृतिका कार्यरूप ज्योतिकी कल्पना करेगा तो वादीके मतमें प्रकृत ब्रह्मरूप अर्थकी हानि, अप्रकृत कार्यरूप ज्योतिकी प्राप्तिरूप दोष होवेगा।

किञ्च केवल ज्योतिर्वाक्यमें ही पूर्ववाक्यसे ब्रह्मकी अनुवृत्ति करते हैं यह वार्ता नहीं, किन्तु **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** ज्योतिर्वाक्यसे इस उत्तर वर्त्ति-शाण्डिल्यविद्याके वाक्यमें भी ब्रह्मकी अनुवृत्ति देखनेमें आती है। अतः 'मध्यमें स्थित ज्योतिर्वाक्य भी ब्रह्मपरक है' ऐसा अवश्य मानना चाहिये।

और वादीने जो कहा था कि 'ज्योतिः' तथा 'दीप्यते' यह दोनों शब्द कार्यरूप 'ज्योतिमें प्रसिद्ध हैं, अतः ज्योतिः शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण नहीं कर सकते ? सो वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि **'प्रकरणात्'** इति भाष्यम्। अर्थ—ब्रह्मका प्रकरण है इति। अर्थात् 'यदतः परो' इस मन्त्रमें, प्रकृतमें अपेक्षित अर्थकी वाचक जो 'यत्' पदरूप श्रुति है, तथा द्युसम्बन्ध, भूतपादत्वादिरूप लिङ्ग हैं, तिन श्रुति तथा लिङ्गों करके प्रकृत ब्रह्मको निश्चित होनेसे, तथा 'ज्योतिः' और 'दीप्यते' इन दोनों शब्दोंको ब्रह्मका अव्यावर्तक होनेसे, दीप्यमान कार्यज्योति उपलक्षित ब्रह्ममें भी प्रकरणके बलसे 'ज्योतिः' शब्दका तथा 'दीप्यते' शब्दका प्रयोग बन सकता है। तहां तैत्तिरीय श्रुतिः— **'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'**। अर्थ—जिस चैतन्यरूप तेज करके प्रकाशित हुवा सूर्य जगत्को प्रकाश करता है तिस बृहत् ब्रह्मको अवेदवित् पुरुष मनन नहीं कर सकते हैं इति।

प्रथम ज्योतिः शब्दकी कार्यज्योतिमें शक्तिको अङ्गीकार करके, कारणरूप ब्रह्ममें ज्योतिः शब्दकी लक्षणा कही। अब ब्रह्ममें ज्योतिः शब्दकी शक्तिको कहते हैं—**'यद्वा नायं'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् चक्षुवृत्तिका अनुग्राहक सूर्यादिक तेजमें ही ज्योतिः शब्दकी शक्ति है ऐसा नहीं, क्योंकि सूर्यादिकोंसे भिन्न वाणी आदिकोंमें भी ज्योतिःशब्दकी शक्ति देखी गई है। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः-**'वाचैवायं ज्योतिषास्ते'**। अर्थ—जहां चक्षुवृत्तिका अनुग्राहक सूर्यादिक तेज नहीं है अर्थात् गाढ़ अन्धकार है तहां यह पुरुष वाणीरूप ज्योतिकरके ही आसन आदिक व्यवहारको करता है इति। तथा **'मनो ज्योतिर्जुषताम्'**। अर्थ-घृतको पीने वाले पुरुषोंका मन प्रकाशक होता है

इति। इस तैत्तिरीय श्रुतिमें भी ज्योतिः शब्द मनका वाचक है। और जब यत् किञ्चित् पदार्थोंके प्रकाशक जो जो वस्तु हैं सो सो ज्योतिः शब्दके वाच्य होते हैं, तब सर्व जगत्का प्रकाशक चैतन्यरूप ब्रह्ममें ज्योतिः शब्दका अभिधेयत्व है इसमें क्या कहना है। अर्थात् शक्तिवृत्ति करके भी ज्योतिः शब्द ब्रह्मको बोधन करता है।

और 'ब्रह्म सर्व जगत्का प्रकाशक है' इस अर्थमें कौषीतकी श्रुतिको दिखाते हैं—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। अर्थ—तिस प्रकाशमान ब्रह्मके ही पश्चात् सम्पूर्ण जगत् प्रकाशवाला होता है इति।

शंका। 'गच्छन्तमनुगच्छति' यहां जैसे गमन करने वाले पुरुषके पीछे जो पुरुष गमन करता है तिस पुरुषमें भी गतिरूप क्रिया है। अर्थात् स्वगतिसे ही सो पुरुष गतिमान् है। तैसे ही 'अनुभाति सर्वं' यहां पर भी सर्व जगत् स्वभानकरके ही भान वाला होगा अर्थात् सर्व जगत् अपने प्रकाश करके ही प्रकाशित है, ब्रह्मके प्रकाश करके नहीं इति।

समाधान। 'तस्येति' तिस ब्रह्मके प्रकाशसे ही सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकाशवाला होता है अपने प्रकाश करके आप प्रकाशित नहीं होता इति।

और 'ब्रह्म ज्योतिःस्वरूप है' इस अर्थमें बृहदारण्यक श्रुतिको दिखाते हैं—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'। अर्थ—काल करके अनवच्छिन्न जो ब्रह्म है सो सूर्यादिक ज्योतियोंका भी ज्योतिरूप है। अर्थात् जो जगत्का प्रकाशक व जीवनरूप कूटस्थ है तिस कूटस्थ साक्षी रूप ब्रह्मको आयुष्रूप करके तथा अमृतरूप करके इन्द्रादिक देवता उपासना करते हैं इति। और 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' इत्यादिक श्रुति भी ज्योतिःस्वरूप ब्रह्ममें प्रमाण हैं। और 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते' इत्यादिक स्मृति भी ज्योतिःस्वरूप ब्रह्ममें प्रमाण हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे ज्योतिः शब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्म है यह सिद्ध हुआ इति। और जो वादीने पूर्व कहा था कि—सर्वगत अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें द्यु मर्यादा नहीं बन सकती है। सो वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि उपासनाके लिये प्रदेशविशेषका ग्रहण अविरुद्ध है।

शंका। निष्प्रदेश ब्रह्मके प्रदेशविशेषकी कल्पना नहीं बन सकती।

समाधान। निष्प्रदेश ब्रह्ममें भी उपाधि विशेषके सम्बन्धसे प्रदेशविशेषकी कल्पना बन सकती है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—'तथाहि' इत्यादिना। जैसे आदित्य, चक्षु, हृदय, इत्यादिक प्रदेशसम्बन्धी ब्रह्मको उपासनाका श्रवण होता है। तैसे ही 'विश्वतः पृष्ठेषु' इस मन्त्रमें भी उपासनाके लिये ब्रह्मके बहुत आधारोंका वर्णन उपपन्न हो सकता है।

और जो वादीने कहा था कि "औष्ण्य तथा घोष करके अनुमित जो जाठराग्नि है तिस जाठराग्निमें जड़त्वरूप सादृश्य प्रयुक्त पर ज्योतिको अध्यस्यमान होनेसे, पर ज्योति करके कार्यज्योतिका ही ग्रहण करना, जड़त्वरूप सादृश्यका अभाव होनेसे ब्रह्मका नहीं"? सो भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जिस

आलम्बन (आश्रय) में उपास्य वस्तुका आरोप करते हैं, तिस आरोप्यरूप ध्येय तथा आश्रयरूप आलम्बनके सादृश्यका नियम नहीं है। जैसे प्रणव यह नाम तथा शालग्राम आदिक जो प्रतीक हैं तिन प्रतीकोंकी ब्रह्मरूप करके उपासना उपनिषदोंमें कही है। परन्तु यहां प्रतीक तथा उपास्यका सादृश्य है नहीं। तैसे कौक्षेय अग्निरूप प्रतीकमें तथा उपास्य ब्रह्मरूप परज्योतिमें सादृश्य नहीं भी है, तो भी कौक्षेय अग्निरूप प्रतीककी ब्रह्मरूप करके उपासना बन सकती है, अतः पर ज्योति करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना।

और जो वादीने कहा था कि दृष्ट तथा श्रुत वस्तुकी उपसना की जाती है, ब्रह्म दृष्ट तथा श्रुत है नहीं, यह भी वादीका कहना असमीचीन है; क्योंकि जाठराग्निरूप प्रतीक दृष्ट तथा श्रुत है, अतः प्रतीक द्वारा ब्रह्ममें भी दृष्टत्व तथा श्रुतत्व बन सकता है।

और जो वादीने कहा था कि-अल्प फलका श्रवण होता है, अतः काय ज्योतिका ग्रहण करना, ब्रह्मका नहीं? सो भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'तं यथा यथोपासते तथा तथा फलं भवति'। अर्थात् जिस जिस रूप करके ब्रह्मकी उपासना पुरुष करता है तिस तिस रूप करके ब्रह्म ही उपासनाके अनुसार फलको देता है। इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म भी अल्प फलका हेतु है। अतः यह नियम नहीं है कि-ब्रह्म अल्प फलका हेतु नहीं।

शंका। ब्रह्मकी उपासनाका फल एक रूप क्यों न होवे?

समाधान। जहां सर्व विशेषसम्बन्ध करके रहित शुद्ध परब्रह्मको आत्मरूप करके महावाक्य उपदेश करते हैं, तहां एकरूप मोक्ष फल होता है। और जहां गुणविशेषका सम्बन्धवाला, तथा प्रतीकविशेषका सम्बन्धवाला, ब्रह्मको श्रुति उपदेश करती है। तहां संसारविषयक ही उत्तम, मध्यम, कनिष्ट फल होता है। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः-अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद। अर्थात् परमेश्वर जो है सो जीवरूप करके अन्नको भक्षण करता है, अतः परमेश्वरका नाम 'अन्नाद' है। और कर्मफलरूप वस्तुको अथवा हिरण्यरूप वस्तुको देनेवाला परमात्मा है, अतः परमात्माका नाम 'वसुदान' है। जो पुरुष अन्नादत्व तथा वसुदानत्वरूप गुणविशिष्ट परमात्माकी उपासना करता है, सो पुरुष दीप्त अग्निवाला तथा धनवाला होता है। इसी प्रकार प्रतीक उपासनाका भी फल जान लेना। और 'यदतः परो' इस विषयवाक्यमें यद्यपि ब्रह्मका बोधक लिङ्ग नहीं है, तथापि पूर्व वाक्यमें दृश्यमान जो ब्रह्मका लिङ्ग है सो ही यहां ग्रहण करनेको योग्य है, इस अर्थको सूत्रकार कह आये हैं'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति।

शंका। पूर्व वाक्यमें प्राप्त जो ब्रह्मकी सन्निधि है तिस ब्रह्मकी सन्निधि करके, इस ज्योतिःश्रुतिको स्वविषय कार्यरूप ज्योतिसे किस प्रकार निवृत्त कर सकते हो?

समाधान । 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' अर्थात् द्युसम्बन्धसे प्रत्यभिज्ञाका विषय जो पूर्व वाक्य करके निर्दिष्ट ब्रह्म है, तिस ब्रह्मको इस वाक्यमें प्रथम पठित जो 'यत्' शब्द है, सो स्वनिष्ठ सन्निहितवाचित्वरूप सामर्थ्य करके बोधन करता है । अतः, अर्थसे ज्योतिः शब्दमें ब्रह्म विषयकत्वकी उपपत्ति बन सकती है । इस लिये यहां ज्योतिः शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना, कार्यरूप आदित्यादिक ज्योतियोंका नहीं यह सिद्ध हुआ । और यहां पूर्वपक्षमें जाठराग्निकी कार्य आदित्यादिक ज्योतिरूप करके उपासना फल है । और सिद्धान्तमें ब्रह्मरूप करके उपासना फल है इति ॥२४॥

'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इस पूर्व वाक्यमें प्रथम ब्रह्मार्थत्वकी सिद्धि हो लेवे तो पीछे ज्योतिर्वाक्यमें ब्रह्मपरत्वकी सिद्धि होवे, परन्तु पूर्व वाक्यमें ब्रह्मार्थकत्व है नहीं, किन्तु गायत्री छन्दका प्रतिपादकत्व है । क्योंकि 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च' इस मन्त्रसे गायत्रीको प्रसङ्गमें प्राप्त करके आगे श्रवण होता है-'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' । अतः यह मन्त्र चतुष्पदा गायत्रीको बोधन करता है, ब्रह्मको नहीं । इस पूर्वपक्षको दिखाते हुये सूत्रकार समाधान दिखाते हैं :—

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

अर्थ—१ छन्दोऽभिधानात्, २ न,३ इति, ४ चेत् ,५ न,६ तथा,७ चेतोऽर्पणनिगदात् , ८ तथा, ९ हि, १० दर्शनम् । इस सूत्रमें दश पद हैं । पूर्वोक्त रीतिसे 'गायत्री वा' इस वाक्य करके छन्दका कथन होनेसे 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' यह पूर्व वाक्य भी ब्रह्मको बोधन नहीं करता है, किन्तु छन्दको बोधन करता है इति ? इस शंकाको दूर करते हैं 'न' ऐसा नहीं कहना, क्योंकि जैसे गायत्रीके चारपाद हैं, तैसे ब्रह्मके भी चारपाद हैं । अतः चतुष्पादत्वरूप सामान्यसे गायत्री शब्द ब्रह्मको ही बोधन करता है । इस अर्थको दिखाते हैं— 'तथा चेतोऽर्पणनिगदात्' गायत्री वाक्य 'तथा' कहिये गायत्री द्वारा ब्रह्ममें चित्तकी 'अर्पण' कहिये सावधानताको अभिधान करता है, अतः पूर्व वाक्य ब्रह्मको ही बोधन करता है छन्दको नहीं । 'तथा हि दर्शनम्' जैसे छन्दको अभिधान करनेवाला गायत्री शब्द यहां ब्रह्मको अभिधान करता है ।।तैसे अन्य स्थलमें भी छन्दका अभिधायी'विराट्'शब्द छन्दसे भिन्न वायु आदिक अर्थको अभिधान करता है ऐसा देखनेमें आता है इति ।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् 'अथ' इत्यादि भाष्यसे दिखाते हैं—

शंका । पूर्व वाक्यमें ब्रह्मका कथन नहीं है, क्योंकि 'पादोऽस्य' इस पूर्व वाक्यसे प्रथम 'गायत्री वा' यह जो ब्राह्मणवाक्य है सो गायत्रीरूप छन्दको अभिधान करता है । अतः 'पादोऽस्य' यह पूर्वा वाक्य भी छन्दको ही अभिधान करता है ऐसा हम कह आये हैं ।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है क्योंकि 'तावानस्य महिमा' इस ऋचामें चतुष्पात् ब्रह्मको ही दिखाया है। अतः 'गायत्री' इस पूर्वतर मन्त्र करके छन्दका अभिधान होनेसे 'पादोऽस्य' इस पूर्व वाक्य करके ब्रह्म अभिहित नहीं है ऐसा नहीं कह सकते।

शंका। यह जो कोई एकदेशीका कहना है सो असङ्गत है, क्योंकि 'गायत्री वा' इस मन्त्र करके गायत्रीको प्रसङ्गमें प्राप्त कर, आगे 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' इस मन्त्रमें छ छ अक्षर करके चार पादवाली, तथा भूत, पृथिवी, शरीर, हृदय, वाक्, प्राण, इस भेद करके छ प्रकार वाली, गायत्रीका निरूपण किया है। अतः 'तावानस्य महिमा' यह मन्त्र व्याख्यात गायत्रीमें ही उदाहृत है, अकस्मात् चार पादवाले ब्रह्मको किस प्रकार कथन करेगा। किञ्च 'तावानस्य महिमा' इस मन्त्रके आगे **'यद्वै तद्ब्रह्म'** इस मन्त्रमें जो ब्रह्म शब्द है, सो भी छन्दको प्रकृत होनेसे गायत्रीरूप छन्दविषयक ही है। क्योंकि **'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद'** इस मन्त्रके व्याख्यानमें 'ब्रह्मोपनिषदं' इसका 'वेदोपनिषदं' ऐसा व्याख्यान भाष्यकारोंने स्वयं किया है। अतः गायत्रीमें वेदत्वको विद्यमान होनेसे गायत्रीमें ब्रह्म शब्दका प्रयोग युक्त है। **'य एतामेवम्'** इत्यादि श्रुतिका अर्थ-वेदका रहस्यरूप मधुविद्याकी इस श्रुतिसे पूर्व श्रुतियों करके उक्त प्रकार जो पुरुष जानता है तिस पुरुषको उदय अस्तमय रहित ब्रह्मकी प्राप्ति होती है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि प्रकरणमें गायत्रीरूप छन्दका अभिधान होनेसे, ब्रह्म प्रकृत नहीं है। और जब ब्रह्म प्रकृत नहीं हुवा, तब 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' यह मन्त्र ब्रह्मका बोधन न करेगा। और जब यह मन्त्र ब्रह्मका बोधन न किया तब **'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते'** इस वाक्यमें भी ज्योतिःशब्द करके द्युसम्बन्धसे ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। अतः परज्योतिः शब्द करके आदित्यादिक ज्योतिका ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

समाधान। अब इस शंकाको सिद्धान्ती निराकरण करता है— **'तथा चेतोऽर्पणनिगदात्'**। 'तथा' कहिये गायत्रीरूप छन्द द्वारा गायत्रीमें अनुगत जो ब्रह्म है तिस ब्रह्ममें चित्तका 'अर्पण' कहिये समाधानको **'गायत्री वा इदं सर्वम्'** यह वाक्य बोधन करता है। अतः ब्रह्मको ही प्रकृत होनेसे वादीका पूर्वोक्त दोषोद्घाटन सर्वथा असमीचीन है। किञ्च अक्षरका सन्निवेश मन्त्र रूप गायत्रीमें 'इदं सर्वम्' इस वाक्य करके प्रतिपाद्य जो सर्वात्मत्व है सो भी नहीं बन सकता। अतः जैसे 'सर्वं खल्विदंब्रह्म' इस वाक्यमें ब्रह्मको सर्व स्वरूप कहा है। तैसे गायत्रीरूप विकारमें अनुगत जो जगत्का कारणरूप ब्रह्म है, सो ब्रह्म ही सर्वरूप है, छन्द नहीं। और जो कार्य होता है सो कारणसे भिन्न नहीं होता,

किन्तु कारण स्वरूप ही होता है, इस अर्थको आगे 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस अधिकरणसूत्रमें वर्णन करेंगे।

और अब **'तथाहि दर्शनम्'** इसके अर्थको दिखाते हैं-जैसे गायत्रीरूप विकारद्वारा ब्रह्मकी उपासना कही है। तैसे अन्य उपाधिद्वारा भी ब्रह्मकी उपासना ऐतरेयक श्रुति विषे देखनेमें आती है। तहां ऋग्वेदको जाननेवाले पुरुष महान् उक्थरूप उपाधिमें अनुगत इस परमात्माकी उपासना करते हैं। तथा यजुर्वेदी जो अध्वर्यु हैं सो अग्निरूप उपाधिमें अनुगत इस परमात्माकी उपासना करते हैं। तथा सामवेदी जो हैं सो महाव्रतरूप यागमें अनुगत इस परमात्माकी उपासना करते हैं। अतः गायत्रीरूप छन्दके अभिधान हुये भी **'पादोऽस्य'** इस पूर्व वाक्यमें ब्रह्म ही निर्दिष्ट है। और उपासनान्तरके विधानके लिये तिस ब्रह्मका ही ज्योतिर्वाक्यमें परामर्श किया है। अतः ज्योतिर्वाक्य ब्रह्मपरक है इति। और पूर्व गायत्री शब्द करके गायत्रीमें अनुगत ब्रह्मको कहा है, तहां गायत्री शब्द अजहत् लक्षणा करके गायत्री तथा ब्रह्म दोनोंको बोधन करता है ऐसा जानना।

शंका। जब गायत्री शब्द विशिष्ट ब्रह्मका बोधक हुआ तब 'गायत्री वा इदं सर्वम्', यहां गायत्रीमें सर्वात्मकत्वके अन्वयका असम्भव होगा।

समाधान। 'रूपी घटः' इस स्थलमें जैसे 'रूपी' शब्दका वाच्य अर्थ जो रूपविशिष्ट व्यक्ति है, तिसका एकदेश घटव्यक्तिमें घटत्वका अन्वय होता है। तैसे गायत्री शब्दका लक्ष्य अर्थ जो गायत्रीविशिष्ट ब्रह्म है तिसका एकदेश प्रधान ब्रह्ममें सर्वात्मत्वका अन्वय बन सकता है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे गायत्री शब्दकी ब्रह्ममें लक्षणा कही। अब गायत्री शब्दमें गौणी वृत्ति करके ब्रह्म बोधकत्वको दिखाते हैं:—**'अपर आह—साक्षादेव गायत्रीशब्देन ब्रह्म प्रतिपाद्यते संख्यासामान्यात्'** इति भाष्यम्। अर्थ—जैसे गायत्री षडक्षर पादों करके चतुष्पदा है, तैसे ब्रह्म भी चतुष्पात् है, अतः समानसंख्यारूप गुण करके 'साक्षादेव' कहिये गायत्रीरूप वाच्य अर्थके ग्रहण विना ही गायत्री शब्द ब्रह्मको प्रतिपादन करता है इति।

अब इस पक्षमें 'तथा हि दर्शनम्' इस सूत्रशेषके अर्थको दिखाते हैं:—संवर्गविद्यामें लिखा है कि-अधिदैव जो अग्नि, सूर्य, चन्द्र, अम्भः हैं सो वायुमें लयभावको प्राप्त होते हैं, और अध्यात्म जो वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन हैं सो प्राणमें लयभावको प्राप्त होते हैं। और ये पांच अधिदैव तथा पांच अध्यात्म दोनों मिलकर दश संख्यावाले हुये कृत कहे जाते हैं। क्योंकि कृत, त्रेता, द्वापर, कलि इन चार युगोंको द्यूत (पाशा) रूप करके वर्णन किया है। तहां कृत (सतयुग) रूप पाशामें चार अङ्क हैं, त्रेतारूप पाशामें तीन अङ्क हैं, द्वापररूप पाशामें दो अङ्क हैं, कलिरूप पाशामें एक अङ्क है। और दशात्मकका नाम कृत है। क्योंकि

चार अङ्कमें तीनका अन्तर्भाव है, तथा तीन अङ्कमें दोका अन्तर्भाव है, तथा दो अङ्कमें एक अङ्कका अन्तर्भाव है।

इस रीतिसे जैसे दशत्व संख्यावाला सत्युगरूप पाशाका नाम कृत है। तैसे दशत्वगुण करके वायु आदिक भी कृत कहे जाते हैं। इस प्रकार वायु आदिकोंमें कृतत्वका उपक्रम करके कहा है-**'सैषा विराडन्नादी'**। अर्थ—'सा' कहिये वायु आदिक दश, 'एषा' कहिये 'कृत' शब्द करके बोधित जो वायु आदिक हैं, सो विराट्त्व रूप करके अन्न है, और कृतत्वरूप करके आनन्द हैं इति। यहां 'विराट्' पद छन्दका वाचक है, क्योंकि 'दशाक्षरा विराट्' यह श्रुति दश अक्षरवाले छन्दको 'विराट्' कहती है। और दशत्वका साम्य करके वायु आदिक भी विराट् कहे जाते हैं। इस प्रकार दशत्वद्वारा वायु आदिकोंमें कृतत्व तथा विराट्त्व ध्यान करनेको योग्य है अर्थात् वायु आदिकों-का कृत तथा विराट्रूप करके ध्यान करना चाहिये। तहां विराट्त्वरूप करके ध्यान करनेसे इस उपासकको सम्पूर्ण अन्नकी प्राप्ति होती है। क्योंकि **'अन्नं विराट्'** यह श्रुति विराट्को अन्नरूप कहती है। और कृतत्वरूप करके ध्यान करनेसे यह उपासक अन्नको भक्षण करनेवाला अन्नादरूप होता है। क्योंकि कृतद्यूत अन्नादरूप है। अर्थात् कृतद्यूत जो है सो अपने चार अङ्कोंमें इतर तीन-दो, एक अंकोंको अन्तर्भाव करता हुआ भक्षण करतेकी तरह प्रतीत होता है।

अत एव श्रुतिमें लिखा है कि-कृतद्यूतके जयसे इतर द्यूतका जय होता है **'कृतायविजितायाधरेयाः संयन्ति'**। अर्थ—'अय' नाम द्यूतका है,'कृत' संज्ञक द्यूतका विजय किया है जिसने तिसका नाम कृतायविजित है, तिस कृतायविजितके आगे 'अधरेयाः' कहिये इतर तीन अङ्कादिक 'संयन्ति' कहिये नमन करते हैं। अर्थात् तिस कृतायविजित पुरुष करके तीन अङ्कादिक द्यूत जीते जाते हैं इति। तथा च प्रकृतमें यहां छन्दका वाचक गायत्री शब्दका प्रयोग ब्रह्ममें ही किया है। क्योंकि अन्यत्र भी छन्दका वाचक विराट् शब्दका प्रयोग दशत्व संख्यारूप गुण करके वायु आदिकोंमें देखनेमें आता है। और "गौणीवृत्ति करके गायत्री शब्द ब्रह्मको बोधन करता है" इस पक्षमें तो गायत्री शब्द करके केवल ब्रह्म ही अभिहित है, छन्द नहीं। और **'सर्वथाप्यस्ति पूर्वस्मिन्वाक्ये प्रकृतं ब्रह्म'** इति भाष्यम्। अर्थ—गायत्री पदमें लक्षकत्व तथा गौणत्व उभय पक्षकी रीतिसे 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस पूर्व वाक्यमें ब्रह्म ही प्रकृत है छन्द नहीं। अतः 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' यह वाक्य भी ब्रह्म पर है, यह सिद्ध हुआ इति ॥२५॥

शंका। 'गायत्री वा इदं सर्वम्' यहां प्रथम गायत्रीका श्रवण होता है अतः लक्षणामें कोई प्रमाण नहीं है।

समाधान। 'इदं सर्वम्' इस वाक्यशेषमें जो सर्वात्मत्वका श्रवण होता है तिस सर्वात्मत्वका अक्षरका सन्निवेशरूप गायत्रीमें अन्वयकी अनुपपत्ति

होनेसे गायत्रीमें अनुगत जो ब्रह्म है तिस ब्रह्ममें लक्षणा अवश्य माननी पड़ेगी। इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं :—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

अर्थ—१ भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः, २ च, ३ एवम्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। 'च' कहिये पुनः,'एवम्' कहिये इस वक्ष्यमाण हेतुसे पूर्ववाक्यमें ब्रह्म ही प्रकृत है क्योंकि भूतादिकोंको पादरूप करके जो श्रुति कथन करती है तिसकी उपपत्ति इसी पक्षमें बन सकती है इति।

और भूत, पृथिवी, शरीर व हृदयको दिखाकर आगे—'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' ऐसा कहा है। यहां यदि ब्रह्मका आश्रयण न करोगे तो केवल छन्दके भूतादिक पाद नहीं हो सकते हैं। और छन्दमें भूत, पृथिवी, आदि स्वरूपत्व भी नहीं बन सकता। किञ्च प्रसङ्गमें यदि ब्रह्मका आश्रयण न करोगे तो 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इस मन्त्र करके सर्वात्मत्वकी उपपत्ति होनेसे, जो 'तावानस्य महिमा' यह ऋचा मुख्य करके ब्रह्मको प्रतिपादन करती है, सो ऋचा असमीचीन होगी। परन्तु असमीचीन नहीं कह सकते, क्योंकि पुरुषसूक्तमें इस मन्त्रको ब्रह्मका प्रतिपादक स्वीकार किया है। और सर्वात्म स्वरूप ब्रह्मको स्मृति भी कथन करती है-'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'। अर्थ—हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण जगत्को एक अंश करके'विष्टभ्य' कहिये लपेटकर मैं स्थित हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् हमारे एक अंशमें रहता है इति। और पूर्वपक्षीने 'यद्वै तद्ब्रह्म' इस वाक्यमें स्थित 'ब्रह्म' शब्द छन्दका प्रतिपादक है, ऐसा जो कहा था सो भी असङ्गत है, क्योंकि पूर्ववाक्यमें ब्रह्मका प्रतिपादकत्वके स्वीकार हुये 'यद्वैतद्ब्रह्म' यह निर्देश भी मुख्य ब्रह्ममें ही बन सकता है छन्दमें नहीं।

और 'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः' इत्यादिक छान्दोग्यमें लिखा है। गायत्री उपाधिवाला ब्रह्मका हृदयरूप नगरके प्राणादिक देवतावों करके रक्षित पाँच छिद्र हैं, जिनको देवसुषि कहते हैं। अर्थात् हृदयरूपी नगरके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व, इन पांच छिद्र रूप द्वारोंमें प्राण, व्यान, अपान, समान, उदान क्रमसे रहते हैं। और स्वर्गके द्वारपाल कहे जाते हैं। और हृदयरूप नगरमें गायत्रीरूप उपाधिवाले ब्रह्मकी मुख्य अंगीरूप उपासना कही है। और प्राणादिकोंकी द्वारपालत्वेन अङ्गरूप उपासना कही है। इस प्रकार छान्दोग्यमें विस्तारसे निरूपण किया है। प्रसङ्गमें जाननेके योग्य यह बात है कि-मन्त्रमें लिखा है-'पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' अर्थ—ब्रह्मके द्वारपाल होनेसे प्राणादिक पञ्च ब्रह्मपुरुष कहे जाते हैं इति। यहां ब्रह्म शब्द करके गायत्रीउपहित हार्द ब्रह्मका ही ग्रहणकरना। क्योंकि प्राणादिकोंमें

हार्द ब्रह्म सम्बन्धित्वरूप करके ही पुरुषत्वकी उपपत्ति हो सकती है। और ऐसा माननेसे **'हृदयसुषिषु ब्रह्मपुरुषाः'** यह मन्त्र भी समीचीन होता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'पादोऽस्य' इस पूर्व वाक्यमें ब्रह्म प्रकृत है, अतः'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इस ज्योतिर्वाक्यमें भी द्युसम्बन्धसे तिस ब्रह्मकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है, अतः यह वाक्य ब्रह्मपरक है यह सिद्ध हुआ इति ॥२६॥

जो वादीने कहा था कि **'त्रिपादस्यामृतं दिवि'** यहां 'दिवि' इस सप्तमी विभक्ति करके द्यु का आधाररूप करके उपदेश किया है, और **'यदतः परो दिवो ज्योतिः'** यहां 'दिवः' इस पञ्चमी विभक्ति करके द्यु का मर्यादारूप करके उपदेश किया है अत उपदेशका भेद होनेसे द्यु के सम्बन्धसे पूर्ववाक्य निर्दिष्ट ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती? इस पूर्वपक्षको दिखाते हुये सूत्रकार समाधानको दिखाते हैं:—

उपदेशभेदान्नेति चेत् नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

अर्थ—१ उपदेशभेदात्, २ न, ३ इति, ४ चेत्, ५ न, ६ उभयस्मिन्, ७ अपि, ८ अविरोधात्। इस सूत्रमें आठ पद हैं। 'उपदेशभेदान्नेति चेत्' इस वाक्यका अर्थ प्रथम लिख चुके हैं। सिद्धान्ती कहता है 'न' ऐसा नहीं कहना, क्योंकि सप्तम्यन्त पदसे तथा पञ्चम्यन्त पदसे उपदेशके हुये भी प्रत्यभिज्ञामें कोई विरोध नहीं अर्थात् प्रत्यभिज्ञाका प्रतिबन्धक कोई नहीं है इति। जैसे लोकमें वृक्षके अग्र भागमें संलग्न जो पक्षी है, उसमें दोनों प्रकारका व्यवहार होता है—**'वृक्षाग्रे श्येनः' 'वृक्षाग्रात्परतः श्येनः'**। वृक्षके अग्र भागमें पक्षी है, और वृक्षके अग्र भागसे परे पक्षी है। अर्थात् दोनों वाक्य करके बोधित पक्षी एक है। तैसे द्युसे: संलग्न ब्रह्ममें 'द्यु में ब्रह्म है' व 'द्युसे परे ब्रह्म है' ये दोनों व्यवहार बन सकते हैं।

अर्थात् जब द्यु में आधारत्वको मुख्य मानते हैं, तब ऐसा अर्थ जानना—जैसे वृक्षके अग्र भागमें स्थित जो पक्षी है, तिस पक्षीके शरीरका जो अधः भाग है, तिसका सम्बन्ध वृक्षके अग्र भागसे है, अतः वृक्षके अग्रभागमें पक्षीका मुख्य आधारत्व है। और पक्षीके शरीरका मध्य तथा ऊर्ध्व भागको वृक्षके अग्र भागसे सम्बन्ध नहीं होनेसे 'पक्षी वृक्षके अग्र भागसे उपर है' ऐसा व्यवहार होता है। अतः वृक्षका अग्र भाग मर्यादा है। तैसे **'दिव्येव सद्ब्रह्म दिवः परमित्युपदिश्यते'** इति भाष्यम्। अर्थ–सूर्यरूप अथवा हार्दाकाशरूप द्युमें ही विद्यमान हुवा ब्रह्मका 'द्युसे परे है' ऐसा व्यवहार होता है। अर्थात् सूर्यमें अथवा हार्दाकाशमें संलग्न ब्रह्मका पूर्वोक्त 'दिविमें' आधारत्व है, और सूर्यमें अथवा हार्दाकाशमें असंलग्न ब्रह्मका मर्यादात्व है इति।

और अब जो मर्यादाको मुख्य मानता है उसके मतको दिखाते हैं—**'अपर आह'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ स्पष्ट है। जैसे वृक्षके अग्र भागके साथ असम्बद्ध

हुवा भी जो पक्षी है अर्थात् अग्र भागसे दश पांच अंगुल ऊपर उड़ता होवे सो पक्षी उभय प्रकार करके उपदिश्यमान देखनेमें आता है 'वृक्षाग्रे श्येनः' 'वृक्षाग्रात्परतः श्येनः'। अर्थात् जब वृक्षके अग्र भागमें श्येन असम्बद्ध है तब सप्तमी विभक्तिकी सामीप्यमें लक्षणा करनी। और जो वृक्षके अग्रभागमें आधारत्व प्रतीत होता है सो अमुख्य है। और जब वृक्षके अग्रभागमें असम्बद्ध श्येन पञ्चमी विभक्ति करके वृक्षके अग्रभागसे परे प्रतीत होता है तब वृक्षके अग्रभागमें मर्यादात्व मुख्य है। तैसे 'दिवः परमपि सद्ब्रह्म दिवीत्युपदिश्यते'। अर्थात् सूर्य अथवा हार्दाकाश करके असम्बद्ध जो ब्रह्म है, सो सूर्यादिरूप द्यु से परे हुवा भी सूर्यादिरूप द्यु में है। यहां पञ्चमी विभक्त्यन्त पद करके बोधित द्यु में मुख्य मर्यादात्व है, और सप्तमी विभक्त्यन्त पद करके बोधित द्यु में अमुख्य आधारत्व है। अथवा 'दिवि' व 'दिवः' इन दोनों पदोंका अर्थ ब्रह्म ही है ज्योतिः स्वरूप ब्रह्मकी आधारता व मर्यादा ब्रह्मरूप ज्योतिमें ही कल्पित है। इस पूर्वोक्त रीतिसे दोनों वाक्योंसे बोधित एक ही ब्रह्म है, अतः पूर्ववाक्य करके निर्दिष्ट ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा बन सकती है। अतः 'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' यह वाक्य ब्रह्मपरक है यह सिद्ध हुवा इति। ॥२७॥ इति ज्योतिरधि०॥

अब कौषीतकि श्रुतिमें मुख्य प्राण, जीव, देवता, ब्रह्म, इनके बोधक बहुत लिङ्ग देखनेमें आते हैं। तिन लिङ्गोंमें कौन यथार्थ लिङ्ग हैं, कौन अयथार्थ लिङ्गाभास हैं, इस अर्थके विचारको **'प्राणस्तथानुगमात्'** इस अधिकरणसूत्रमें दिखाते हैं। और **'अत एव प्राणः'** इस अधिकरणसूत्रमें इस अर्थका विचार नहीं किया है, अतः पूर्वसूत्र करके यह सूत्र गतार्थ नहीं हो सकता। इस अर्थको भी दिखाते हैं:—

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—१ प्राणः, २ तथा, ३ अनुगमात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्राण शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करना मुख्य प्राणादिकोंका नहीं, क्योंकि जैसे उपक्रम वाक्यमें जो पद हैं, तिनका ब्रह्ममें समन्वय देखनेमें आता है, तैसे अन्त व मध्य वाक्यगत पदोंका भी समन्वय ब्रह्ममें है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं-कौषीतकि उपनिषद्में जो इन्द्र तथा प्रतर्दनकी आख्यायिका है तिसको दिखाते हैं:—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण च'। अर्थ-दिवोदास राजाका पुत्र जो प्रतर्दन है सो युद्ध करके तथा पुरुषार्थ करके, प्रेमका आस्पदरूप इन्द्रके धाम स्वर्गको प्राप्त होता भया इति। और इन्द्र प्रतर्दनके प्रति कहता भया 'हे प्रतर्दन! तू वरको मांग' इस वचनको न कर प्रतर्दनने कहा कि-हे इन्द्र! मनुष्यके लिये जो वस्तु हिततम आप मानते हैं तिस हिततमरूप वरको आप ही विचार करके देवें।

इन्द्र—अन्यके हिततम वरको अन्य कैसे जान सकता है तुम ही मांगो।

प्रतर्दन—तो आपका वर मेरे लिये अवर है अर्थात् मैं नहीं मांगता।

इस प्रतर्दनके वचनको श्रवण कर 'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व'। अर्थ-इन्द्र कहता भया हे प्रतर्दन! मैं प्राणरूप हूँ तथा प्रज्ञा रूप हूं। तिस प्राण तथा प्रज्ञारूप मेरेको आयुष तथा अमृतरूप करके उपासनाको कर इति। यहां मुख्य प्राणको निरास करनेके लिये श्रुतिमें 'प्रज्ञा' यह पद कहा है, और निर्विशेष चैतन्यके निरासके लिये 'तं मां' यह पद कहा है, और 'तं मां' यह पद प्राणमें इन्द्र देवतात्वका बोधक लिङ्ग है, अतः प्राण शब्द करके इन्द्र देवताका ग्रहण हो सकता है?

और इस मन्त्रके आगे लिखा है-'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति'। अर्थात् 'अथ' कहिये वागादिक इन्द्रियोंमें देहधारणशक्ति-के अभावका निश्चयसे अनन्तर। और 'खलु' शब्द, प्राणमें जो प्रसिद्ध देहधार-कत्व तथा उत्थापकत्व है तिसको बोधन करता है। और प्रज्ञारूप जो प्राण है सोई इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है। अतः शरीरका उत्थापकत्व-रूप लिङ्गको विद्यमान होनेसे प्राण शब्द करके मुख्य प्राणका ग्रहण हो सकता है?

और आगे लिखा है कि 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'। अर्थ—वाणीको जाननेकी इच्छा न करे, किन्तु वक्ताको जाने इति। यहां प्राणमें जीवत्व-का बोधक वक्तृत्वरूप लिङ्ग है। अतः प्राण शब्द करके जीवका ग्रहण हो सकता है? और अन्तमें लिखा है। 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः'। अर्थ—सो यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर, अमृतरूप है इति। यहां प्राणमें आन-न्दत्वादिक ब्रह्मके बोधक लिङ्ग हैं। अतः प्राण शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण हो सकता है?

और 'प्राणोऽस्मि' इससे लेकर 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' यहां पर्यन्त जो वाक्य हैं सो इस अधिकरण सूत्रके विषय हैं।

तहां प्राणशब्द, वायुका विकार मुख्य प्राणको बोधन करता है, अथवा देवताको बोधन करता है, अथवा जीवको बोधन करता है, अथवा ब्रह्मको बोधन करता है, यह **संशय** होता है इति।

यहां कोई शंका करता है कि 'अत एव प्राणः' इस सूत्रमें प्राण शब्दको ब्रह्मपरत्व है ऐसा वर्णन कर आये हैं, और यहां भी 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्या-दिक ब्रह्मके बोधक लिङ्ग हैं, अत यहां संशय ही नहीं हो सकता। और जब संशयका अभाव हुवा, तब इस सूत्रका आरम्भ व्यर्थ हुवा इति? यह कहना असङ्गत है, क्योंकि यहां अनेक लिङ्ग देखनेमें आते हैं। "इनमें कौन लिङ्ग है? और

कौन लिङ्गाभास है" इस संशयको दूर करनेके लिये इस सूत्रका आरम्भ सार्थक है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं-'अनेकलिङ्गदर्शनादिति ब्रूमः' अर्थ--अनेक लिङ्गोंका दर्शन होनेसे संशय बन सकता है इति । अर्थात् यहां केवल ब्रह्मके बोधक ही लिङ्ग देखनेमें नहीं आते, किन्तु देवतादिकोंके बोधक लिङ्ग भी देखनेमें आते हैं—'मामेव विजानीहि' । अर्थ—इन्द्रने प्रतर्दनके प्रति कहा कि तू मेरेको ही जान इति । यह इन्द्रका वचन जैसे देवताका बोधक लिङ्ग है। तैसे मुख्य प्राण, जीव, व ब्रह्मके बोधक पूर्वोक्त लिङ्ग हैं। अतः संशय बन सकता है।

और पूर्व प्रकृत ब्रह्मका वाचक 'यत्' शब्दके बलसे ज्योतिःश्रुतिको ब्रह्मपरत्व कह आये हैं, तैसे 'प्राणोऽस्मि' इस श्रुतिमें ब्रह्मका बोधक कोई पद है नहीं, जिसके बलसे इस श्रुतिको ब्रह्मपरत्व कहैं । इस प्रत्युदाहरणसङ्गति करके पूर्वपक्षी पूर्वपक्षको दिखाता है:—'तत्र प्रसिद्धेर्वायुः प्राण' इति । अर्थ-- प्राण शब्दकी वायुविकाररूप मुख्य प्राणमें प्रसिद्धि होनेसे यहां प्राण शब्द करके मुख्य प्राणका ही ग्रहण करना इति । ऐसा यहां पूर्वपक्ष है।

अथ सिद्धान्तपक्षः। 'उच्यते' इत्यादि भाष्यम्। यहां प्राण शब्द ब्रह्मविषयक ही जानना, क्योंकि 'तथानुगमात्' अर्थात् पूर्व अपर वाक्योंकी पर्यालोचना करके पदोंका समन्वय ब्रह्मपर ही देखनेमें आता है। तहां प्रथम उपक्रममें लिखा है 'वरं वृणीष्व' तू वरको मांग, इस प्रकार इन्द्र करके उक्त जो प्रतर्दन है "सो मनुष्योंके लिये जो परम पुरुषार्थरूप हिततमको आप मानते हो सो वर हमारेको देवें" इस प्रकार कहता भया। तिस प्रतर्दनके प्रति हिततमरूप करके उपदिश्यमान जो प्राण है, सो परमात्मा किस प्रकार न होगा? किन्तु अवश्य होगा। क्योंकि परमात्माके ज्ञानसे विना हिततमकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तहां श्रुतिः- 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। अर्थ—तिस परमात्माका ही साक्षात्कार करके जन्ममरणादि संसारमृत्युको उलंघन करता है, और मोक्षके वास्ते परमात्माके ज्ञानसे भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं है इति। और 'स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया'। अर्थ— जो विद्वान् मेरेको ब्रह्मरूप साक्षात् अनुभव करता है, तिस विद्वान्का मोक्षरूपी लोक चोरी भ्रूणहत्यादिक महापापों करके भी प्रतिबद्ध नहीं होता है इति। यह कौषीतकि श्रुति भी ब्रह्मके ग्रहण करनेसे ही समीचीन होगी। क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही सर्व कर्मका क्षय प्रसिद्ध है। तहां मुण्डक श्रुतिः-'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे'। अर्थ स्पष्ट है। और ब्रह्मपक्षमें ही प्राणमें प्रज्ञात्मत्व उपपन्न हो सकता है, क्योंकि अचेतनरूप वायुमें प्रज्ञात्मत्व नहीं बन सकता ।

और उपसंहारमें पठित 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो आनन्दत्व, अजरत्व, अमृतत्वादिक धर्म हैं, सो भी ब्रह्मसे भिन्नमें सम्यक् नहीं बन सकते। किन्तु ब्रह्ममें ही बन सकते हैं। और 'स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान्'। अर्थ—सो परमात्मा पुण्यकर्मसे बड़ा नहीं होता। तथा पापकर्मसे छोटा नहीं होता इति। धर्माधर्म करके स्पर्शराहित्यका बोधक यह वचन भी परमात्मामें ही ठीक समन्वित होता है। 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते'। अर्थ—यहां परमात्मा जिस पुरुषको इस लोकसे उर्ध्व लोकको ले जानेकी इच्छा करता है, तिस पुरुषसे सुकृत कर्मको कराता है। और जिस पुरुषको इस लोकसे अधः लोकको ले जानेकी इच्छा करता है, तिस पुरुषसे असुकृत कर्मको कराता है इति। कर्मके कारयितृत्वका बोधक यह वचन भी सर्वनियन्ता परमात्मामें ही घटता है। 'एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः'। अर्थ—यह परमात्मा ही लोकोंका अधिपति है तथा लोकोंका ईश्वर है इति। निरङ्कुश ऐश्वर्यको बोधन करनेवाला यह वचन भी परमात्मामें ही संघटित होता है। अतः प्राण शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना, वायुका विकाररूप मुख्य प्राणका नहीं, यह सिद्ध हुवा। यहां पूर्वपक्षमें प्राणकी अथवा देवताकी अथवा जीवकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना फल है इति ॥ २८ ॥

जो सिद्धान्तीने प्राण शब्दको ब्रह्मपरत्व कहा है, सो नहीं बन सकता, इस प्रकार आक्षेप करके सूत्रकार समाधानको दिखाते हैं:—

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

अर्थ—१ न, २ वक्तुः, ३ आत्मोपदेशात्, ४ इति, ५ चेत्, ६ अध्यात्मसंबन्धभूमा, ७ हि, ८ अस्मिन्। इस सूत्रमें आठ पद हैं। 'न' कहिये प्राण शब्द ब्रह्मका बोधक नहीं है। क्योंकि वक्ता जो विग्रहवान् देवताविशेष इन्द्र है सो प्रतर्दनके प्रति अपनी आत्माका उपदेश करता है—'मामेव विजानीहि' 'तु मेरेको जान' इस रीतिसे प्राण शब्द करके देवताविशेषका ही ग्रहण करना चाहिये? ऐसी शंकाके हुये सिद्धान्ती कहता है—'हि' कहिये निश्चय करके 'अध्यात्मसंबन्ध' कहिये प्रत्यग् आत्माका सम्बन्ध, 'अस्मिन्' कहिये इस प्रकरणमें, 'भूमा' कहिये बहुत देखनेमें आता है। अतः प्राण शब्द करके प्रत्यगात्मासे अभिन्न ब्रह्मका ही ग्रहण करना इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—

शंका। 'मामेव विजानीहि' ऐसा उपक्रम करके आगे लिखा है—'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'। अर्थ—तू मेरेको जान, मैं प्रज्ञात्मारूप प्राण हूं इति। यहां वक्ताका

आत्मारूप करके उपदिश्यमान जो प्राण है सो ब्रह्मरूप किस प्रकार होगा ? अर्थात् न होगा। और ब्रह्ममें वक्तृत्व भी नहीं बन सकता, क्योंकि बृहदारण्यकमें लिखा है 'अवागमनाः' ब्रह्म वाक् तथा मन करके रहित है। तथा ब्रह्ममें नहीं रहनेवाले जो हननादिरूप विग्रह सम्बन्धी धर्म हैं, तिन धर्मों करके इन्द्रने अपने आत्माकी स्तुति करी है– 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्छालावृकेभ्यः प्रायच्छम्'।

अर्थ— तीन हैं शिर जिसके तिसका नाम त्रिशीर्षा है। अर्थात् त्वष्टाका पुत्र विश्वरूप नामा जो ब्राह्मण है, तिसको मैं हनन करता भया। और यथार्थ अर्थ कहनेवाले जो वेदान्तवाक्य हैं तिनका नाम 'रुत्' है। और वेदान्तवाक्य हैं मुखमें जिनके तिनका नाम रुन्मुख है। और रुन्मुखसे भिन्न अर्थात् वेदान्तवाक्यों करके शून्य हैं मुख जिनके ऐसे जो वेदान्त बहिर्मुख संन्यासी हैं, तिनको मैं हनन करके बनश्वानोंके प्रति देता भया। परन्तु मेरी हानि किञ्चित् मात्र भी नहीं हुई। इत्यादि वाक्य इन्द्र प्रतर्दनके प्रति कहता भया इति। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि प्राण शब्दका अर्थ ब्रह्म नहीं है। किन्तु विग्रहवान् देवताविशेष है। और इन्द्रमें प्राण शब्दकी उपपत्ति भी बन सकती है। क्योंकि 'प्राणो वै बलम्' बलका नाम प्राण है। और बलका देवता इन्द्र है यह वार्ता प्रसिद्ध है। अतः इन्द्रको बलवान् होनेसे इन्द्रमें प्राणस्वरूपत्व बन सकता है। यहां बलवाचक प्राण शब्दकी बलकी देवतामें लक्षणा जाननी। और लौकिक पुरुष भी इस प्रकार कहते हैं कि–बलसे होनेवाले जितने कार्य हैं सो सर्व कार्य इन्द्रके हैं। और इन्द्रमें अप्रतिहत ज्ञान होनेसे प्रज्ञात्मत्व भी बन सकता है। क्योंकि 'अप्रतिहतज्ञाना देवता इति हि वदन्ति' लोकमें तथा वेदमें प्रसिद्ध है कि–इन्द्रादिक देवता अप्रतिहत ज्ञानवाले होते हैं। और हिततमरूप पुरुषार्थका उपदेशद्वारा हेतु होनेसे इन्द्रदेवता हिततमरूप है। और कर्मका अनधिकारी होनेसे भ्रूणहत्यादिक पापका स्पर्श करके रहित है। और लोकोंका पालक होनेसे इन्द्रमें लोकपालत्व है। और स्वर्गको आनन्दरूप होनेसे इन्द्रमें आनन्दरूपत्व है। तथा स्वर्गको प्रलय पर्यन्त स्थायी होनेसे इन्द्रमें अजरत्व, अमृतत्व भी बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे इन्द्रमें सम्पूर्ण लिङ्गोंका समन्वय सिद्ध हुवा। अतः वक्ता जो देवताविशेष इन्द्र है तिसके आत्माका उपदेश होनेसे प्राणशब्द करके देवताका ही ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

समाधान। प्राण शब्दसे विग्रहवती इन्द्रदेवताका ग्रहण नहीं करना, किन्तु ब्रह्मका ही ग्रहण करना। क्योंकि इस प्रकरणमें विशेष करके प्रत्यग् आत्माका ही सम्बन्ध देखनेमें आता है। और 'यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः'।
अर्थ—यावत्काल पर्यन्त इस शरीरमें प्राण रहता है, तावत्काल पर्यन्त इस शरीरमें 'आयुः' कहिये प्राणका सञ्चार रहता है इति। यह वचन प्रत्यग् आत्मारूप प्राणमें ही आयुष्के प्रदानकी तथा उपसंहारकी स्वतन्त्रताको दिखाता है। देवताविशेषमें निरपेक्ष आयुष्प्रदातृत्व नहीं बन सकता है। अर्थात् प्रत्यग् आत्माको शरीरमें रहनेसे आयुष् रहती है, और प्रत्यग् आत्माको न रहनेसे आयुष् नहीं रहती है। और

'अथातो निःश्रेयसादानम्' इत्यादिक श्रुतिमें--जैसे अध्यात्मरूप अर्थात् प्रत्यग् आत्मारूप प्राणके स्थित हुये ही इन्द्रियोंकि स्थिति कही है। तैसे प्रत्यग् आत्मारूप प्राणमें देहका उत्थापकत्वको भी श्रुति कहती है। तहां श्रुतिः— 'प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति'। और 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इस श्रुतिसे प्रत्यग् आत्मामें वक्तृत्वको कहकर आगे प्रत्यग् आत्मामें ही सर्वका अधिष्ठानत्वको श्रुति दिखाती हैः—

तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। अर्थ—इस प्रत्यग् आत्मामें नाना प्रकारके प्रपञ्चकी कल्पनामें यह दृष्टान्त है—जैसे नेमि अरोंमें अर्पित है, और अरा नाभिमें अर्पित हैं। रथके चक्रकी नाभि तथा नेमिके मध्यमें जो शलाका अर्थात् टेढे टेढं काष्ठविशेष हैं तिनका नाम 'अर' है। और जो चक्रके अन्तमें कुछ चौड़ा काष्ठविशेष है तिसका नाम 'नेमि' है। और चक्रके बीचमें जो गोलाकार काष्ठविशेष है, तिसका नाम 'नाभि' है। तैसे पृथिवी आदिक पञ्च भूत, तथा भोग्य शब्दादि पञ्च, यह दशभूतमात्रा, दशप्रज्ञामात्रावोंमें अर्पित हैं। और इन्द्रियजन्य जो शब्दादिविषयक पञ्च ज्ञानरूप प्रज्ञा, तथा पञ्च इन्द्रिय, यह दशप्रज्ञामात्रा प्राणमें अर्पित हैं। सो यह प्राण ही प्रज्ञात्मा तथा आनन्द तथा अजर तथा अमृतरूप है इति। यह मन्त्र विषयोंकी व इन्द्रियव्यवहार रूप अरोंकी नाभिरूपसे प्रत्यगात्माका ही उपसंहार करता है।

और इन्द्रने प्रतर्दनके प्रति कहा कि—हे प्रतर्दन! सो प्राण मेरा स्वरूप है— 'स म आत्मेति विद्यात्' यह जो उपसंहार है सो भी 'प्राण' शब्द करके प्रत्यग् आत्माका ग्रहण करनेसे ही समीचीन होगा, देवताविशेषका ग्रहण करनेसे नहीं।

शंका। पूर्वोक्त रीतिसे प्रत्यग् आत्मामें ही इन वाक्योंका समन्वय हुवा ब्रह्ममें नहीं।

समाधान। 'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' यह बृहदारण्यक श्रुति प्रत्यग् आत्माको ब्रह्मरूप तथा सर्वका साक्षीरूप वर्णन करती है, इसलिये ब्रह्ममें ही समन्वय जानना। अतः अध्यात्मसम्बन्धके बाहुल्यसे, यहां ब्रह्मका ही उपदेश है देवतात्माका नहीं। अर्थात् यहां प्राण शब्द करके ब्रह्मका हो ग्रहण करना देवताका नहीं यह सिद्ध हुवा इति ॥ २९ ॥

शंका। यदि प्राण शब्द करके ब्रह्मका उपदेश मानोगे तो इन्द्रने प्रतर्दनके प्रति 'मामेव विजानीहि' इस प्रकार जो अपने विग्रहवान् देवतात्माका उपदेश किया है सो असङ्गत होगा।

इस शंकाका व्यास भगवान् सूत्रसे समाधान करते हैः—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

अर्थ—१ शास्त्रदृष्ट्या, २ तु, ३ उपदेशः, ४ वामदेववत्। इस सूत्रमें चार पद हैं। जैसे

वामदेव ऋषि गर्भमें स्थित हुवा ही सत् शास्त्रजन्य 'अहमेव परं ब्रह्म' में परब्रह्म स्वरूप हूँ। इस प्रकार अपने आत्माका परमात्मरूप करके साक्षात्काररूप दर्शनसे 'मैं मनु होता भया' 'मैं सूर्य होता भया' इस प्रकार उपदेश करता भया। तैसे इन्द्रदेवता भी अपने आत्माका आर्ष दर्शन करके प्रतर्दनके प्रति उपदेश करता भया। अर्थात् जन्मान्तर कृत श्रवणादिकोंसे इस जन्ममें जो स्वतः सिद्ध 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इस प्रकारका अप्रतिबद्ध साक्षात्कार है। इसका नाम शास्त्रदृष्टि है। इस शास्त्रदृष्टिसे इन्द्रने प्रतर्दनके प्रति अपने आत्माको परब्रह्मरूप करके 'मामेव विजानीहि' इस प्रकार उपदेश किया है। अतः यह जो इन्द्रका उपदेश है सो शास्त्रदृष्टि करके वामदेव ऋषिके उपदेशकी तरह है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—यद्यपि देवतावोंको कर्ममें अधिकार नहीं भी है, तथापि ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। अतः वृहदारण्यकमें लिखा है—'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्'। अर्थ—देवता तथा ऋषि तथा मनुष्योंके मध्यमें जो जो ब्रह्मरूप करके अपने आत्माको जानता भया सो सो ही तिस बोध करके सर्वात्मरूप ब्रह्मरूप होता भया इति।

शंका। इन्द्रादिक देवतावोंमें वेदान्तशास्त्रके श्रवणादिकोंके अभाव हुये 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा यथार्थ ज्ञान नहीं बन सकता।

समाधान। जैसे वामदेव ऋषिको पूर्वजन्मकृत श्रवणादिकों करके यथार्थ तत्त्वज्ञान हुवा है; तैसे इन्द्रादिक देवतावोंको भी पूर्वजन्म कृत श्रवणादिकों करके यथार्थ तत्त्वज्ञान बन सकता है। और पूर्ववादीने जो कहा था कि—'मामेव विजानीहि' ऐसा कहकर त्वाष्ट्रवधादिरूप विग्रहके धर्मों करके अपने आत्माकी स्तुति करी है। अतः इन्द्रने विग्रहरूप देवताका ही उपदेश किया है ब्रह्मका नहीं? सो कहना असङ्गत है। क्योंकि—जिस वास्ते हम त्वाष्ट्रवधादिरूप कर्मवाले हैं अतः 'मां विजानीहि' इस प्रकार विज्ञेय विग्रहवती स्वमूर्तिकी स्तुतिके लिये यह उपदेश नहीं है। किन्तु ब्रह्मविज्ञानकी स्तुतिके लिये है। क्योंकि त्वाष्ट्रवधादिरूप साहस कर्मोंको कहकर आगे इन्द्रने विज्ञानकी स्तुति करी है:—'तस्य मे तत्र लोम च न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केन च कर्मणा लोको मीयते'। अर्थ—तत्त्वसाक्षात्कारके प्रभावसे महान् क्रूर कर्मको करके भी मेरी एक लोम मात्रकी हानि नहीं हुई। और जो कोई अन्य प्राणी भी ब्रह्मरूप करके मेरेको साक्षात्कार करता है, तिस प्राणीका भी किसी कर्मसे मोक्षरूप लोक हिंसित नहीं होता है इत्यादि इति। अतः 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यादिक वचनों करके ब्रह्म ही विज्ञेय है। देवता नहीं, यह सिद्ध हुवा इति ॥३०॥

यद्यपि इस प्रकरणमें प्रत्यग् आत्माका बहुत सम्बन्ध देखनेमें आता है। अत अप्रत्यग् देवतात्माका उपदेश नहीं बन सकता। तथापि ब्रह्मका बोधक यह वाक्यसन्दर्भ नहीं है, किन्तु जीव तथा मुख्य प्राणके लिङ्गोंका दर्शन होनेसे जीव तथा मुख्य प्राणका ही बोधक यह वाक्यसन्दर्भ है इति? इस शंकाको दिखाते हुये समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं:—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

अर्थ—१ जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्, २ न, ३ इति, ४ चेत्, ५ न, ६ उपासात्रैविध्यात्, ७ आश्रितत्वात्, ८ इह, ९ तद्योगात्। इस सूत्रमें नव पद हैं। जीवके, तथा वायुके विकाररूप मुख्य प्राणके लिङ्गोंको विद्यमान होनेसे 'प्राणोऽस्मि' इत्यादिक वाक्य ब्रह्मके बोधक नहीं हैं? इस प्रकारकी शंकाके हुये सिद्धान्ती कहता है कि—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि जीव, प्राण, ब्रह्म इन उपास्योंके भेदसे उपासना तीन प्रकारकी हो जायगी। एक वाक्यमें तीन उपासनाका स्वीकरण अनुचित है। तथा अन्य स्थलमें भी ब्रह्मके लिङ्गोंके बलसे प्राण शब्दकी प्रवृत्ति ब्रह्ममें आश्रयण करी है। तथा यहां भी हिततमका उपदेशादिरूप ब्रह्मके लिङ्गोंका योग होनेसे यह वाक्य ब्रह्मका ही उपदेश करता है, जीव तथा मुख्य प्राणका नहीं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—

शंका। 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'। इत्यादि मन्त्र वागादिक करणों करके विशिष्ट जो कार्यकरणका अध्यक्षरूप जीव है तिस जीवमें ही विज्ञेयत्व-का अभिधान करता है। अत इस वाक्यसन्दर्भमें 'वक्तारं विद्यात्' यह वचनरूप जीवका बोधक लिङ्ग अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है। और 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्य उत्थापयति' यह मन्त्र "शरीरका धारण-रूप जो प्राणका धर्म है सो प्राणका बोधक लिङ्ग है" ऐसा बोधन करता है। और एक समयमें वागादिक इन्द्रिय तथा प्राण यह सर्व 'मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं' इस प्रकार परस्पर विवाद करते हुये, ब्रह्माके पास गये और ब्रह्माजीसे पूछा कि—हमारेमें कौन श्रेष्ठ है? ब्रह्माने तिनके प्रति कहा कि—इस शरीरसे जिसके निकल जानेपर यह शरीर अमङ्गल रूप हो जावे सो तुम्हारेमें श्रेष्ठ है। जब वागादिक इन्द्रियोंके निकल जानेपर भी यह शरीर मूक अन्धादिक होकर जीवित ही रहा तब प्राणने शरीरसे निकलनेकी इच्छा करी। और जब प्राणने शरीरसे उत्क्रमणकी इच्छा करी, तब वागादिक इन्द्रिय व्याकुल होकर प्राणकी स्तुति करने लगे। यह छान्दोग्यमें लिखा है। और प्रश्नमें लिखा है कि—प्राण इन्द्रियोंके प्रति कहता भया—'मा मोहमापद्यथाहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि'। अर्थ—तुम लोग मोहको मत प्राप्त होवो, क्योंकि मैं ही अपने स्वरूपको प्राण अपानादिक पञ्च प्रकारसे विभक्त करके इस शरीरको धारण करता हूं इति। इस इन्द्रिय प्राणके संवादसे भी शरीरका धारणरूप धर्म प्राणमें ही निश्चित होता है। और जो लोग 'इदं शरीरं परिगृह्य' इस स्थानमें 'इमं शरीरं परिगृह्य' ऐसा पाठ कहते हैं, तिनके मतमें इस जीवको अथवा इन्द्रियसमूहको ग्रहण करके शरीरको प्राण उत्थापन करता है; ऐसा अर्थ जानना। अतः 'प्राणोऽस्मि' इत्यादिक वाक्यमें जीवका वा मुख्य प्राणका ही ग्रहण करना। और जीवको चेतन होनेसे प्रज्ञात्मत्व भी बन सकता है। तथा प्रज्ञाके साधन इन्द्रियोंका आश्रय होनेसे मुख्य

प्राणमें भी प्रज्ञात्मत्व बन सकता है। और यहां जीव तथा मुख्य प्राणका ग्रहण करनेसे ही जो श्रुतिमें जीव तथा प्राणका 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः' इस वचन करके सहवर्तमान होनेसे 'अभेद वर्णन किया है', और 'सहोतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इस वचन करके जो स्वरूपसे 'भेद वर्णन किया है'; सो दोनों प्रकारका निर्देश बन सकता है। यदि सिद्धान्ती प्राण शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण करेगा तो ब्रह्मको एक अद्वितीय होनेसे कौन किससे भिन्न होगा। अर्थात् ब्रह्मपक्षमें पूर्वोक्त श्रुतियोंकी उपपत्ति नहीं बन सकेगी। अतः जीवका अथवा प्राणका अथवा उभयका ही बोधक इन्द्र प्रतर्दनका सम्वादरूप वाक्यसन्दर्भ है ब्रह्मका बोधक नहीं है इति।

समाधान। यदि जीव तथा मुख्य प्राणके लिङ्गोंका दर्शन होनेसे जीव तथा प्राणमें उपास्यत्व मानोगे तो ब्रह्मके लिङ्गोंका भी यहां दर्शन होता है, अतः ब्रह्ममें भी उपास्यत्व होगा। जब ऐसा हुवा तब जीव उपासना, मुख्य प्राण उपासना, ब्रह्म उपासना, इस भेद करके यहां उपासना तीन प्रकारकी सिद्ध होगी। परन्तु एकवाक्यमें ऐसा नहीं मान सकते। क्योंकि उपक्रमादिकों करके निश्चित जो एकवाक्यता है तिसके भङ्गका प्रसङ्ग होगा। इस अर्थको दिखाते हैं:—तहां 'मामेव विजानीहि' ऐसा उपक्रम करके 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व'। अर्थ—मैं प्राण प्रज्ञात्मारूप हूं, मेरी आयुष तथा अमृतरूप करके उपासना कर इति। ऐसा कहकर अन्तमें प्रतर्दनके प्रति इन्द्रने कहा-'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः'। अर्थ—सो यह प्राण ही प्रज्ञात्मारूप, आनन्दरूप, अजररूप, मोक्षरूप है इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे उपक्रम तथा उपसंहार एकरूप ही देखनेमें आते हैं, अत इन वाक्योंका ब्रह्मरूप एक ही अर्थ मानना चाहिये। और जीव तथा मुख्य प्राणके जो लिङ्ग हैं। तिन लिङ्गोंका समन्वय ब्रह्ममें बन सकता है। किन्तु ब्रह्मलिङ्गोंका अन्य प्राणादिकोंमें समन्वय नहीं बन सकता। क्योंकि दश भूतमात्रा तथा दश प्रज्ञामात्राका अर्पण अर्थात् अधिष्ठानत्व रूप लिङ्गका समन्वय ब्रह्मसे भिन्नमें नहीं बन सकता। तथा अन्य स्थलमें भी ब्रह्मके लिङ्गोंके बलसे प्राण शब्दकी प्रवृत्ति ब्रह्ममें जैसे आश्रयण करी है। तैसे यहां भी हिततमका उपदेशादिरूप ब्रह्मके लिङ्गोंका योग होनेसे यह वाक्य ब्रह्मका ही उपदेश करता है, जीव तथा मुख्य प्राणका नहीं। और जो वादीने प्राणका शरीरउत्थापनरूप लिङ्ग कहा था सो भी असङ्गत है। क्योंकि मुख्य प्राणका जो व्यापार है सो परमात्माके अधीन है; अतः परमात्मामें ही प्राणव्यापारका भी उपचार कर सकते हैं। तहां श्रुतिः—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' अर्थ—कोई भी जीव प्राण तथा अपान करके जीवनको नहीं प्राप्त होता, किन्तु जिस ब्रह्म चैतन्यके आश्रित प्राण तथा अपान हैं, तिस ब्रह्म चैतन्य करके ही जीवनको प्राप्त होते हैं इति। अर्थात् प्रेर्यरूप

करके स्थित जो प्राणादिक हैं सो सर्व ब्रह्म करके ही प्राणनादिक स्वव्यापारको करते हैं। अतः शरीरका उत्थापनरूप लिङ्ग भी ब्रह्मका ही है मुख्य प्राणका नहीं।

और वादीने **'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'** यह जो जीवका लिङ्ग कहा है, सो भी ब्रह्मपक्षको दूर नहीं कर सकता। क्योंकि जीव जो है सो 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिक श्रुतियों करके ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न नहीं है। किन्तु ब्रह्मरूप हुवा ही जीव बुद्धि आदिक उपाधिकृत परिच्छिन्नत्वादिका अभिमानको आश्रयण करके, कर्ता भोक्ता संसारी कहा जाता है। और बुद्धि आदिक उपाधिकृत परिच्छिन्नत्वादिक अभिमानको त्याग करके जीव ब्रह्मस्वरूप ही है। इस अर्थको दिखाते हुये 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इस मन्त्रसे अधिकारीको प्रत्यग् आत्माके सन्मुख करनेके लिये यह वक्तृत्वका उपदेश विरुद्ध नहीं है। और यह मन्त्र वक्तामें ज्ञेयत्वको नहीं बोधन करता है। क्योंकि वक्ता तो लोक-प्रसिद्ध है। किन्तु ब्रह्मत्वको ही बोधन करता है। इस अर्थमें केन श्रुतिको दिखाते हैं:—

'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' । अर्थ—जो श्रोत्रादिका श्रोत्रादिरूप प्रसिद्ध आत्मास्वरूप चेतन, वागादिक इन्द्रियोंसे इदंरूप करके प्रकाशित नहीं हो सकता है। और जिस ज्योतिरूप चैतन्य करके वागादिक इन्द्रिय अपने २ व्यापारको करते हैं, उसीको तू ब्रह्म जान। जिन वागादिक इन्द्रियोंके विषयोंकी उपासना करते हो, सो ब्रह्म नहीं हैं इति। इत्यादि केन मन्त्र वचनादिरूप क्रियावोंमें व्यापृत और वचनादि क्रियाका अविषय प्रत्यग् आत्मामें ही ब्रह्मत्वको बोधन करते हैं।

शंका। यदि 'वक्तारं विद्यात्' इत्यादिक मन्त्र ब्रह्मको बोधन करेगा तो 'सह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इस वचन करके जो प्राण तथा प्रज्ञात्माके भेदका दर्शन होता है सो ब्रह्मवादीके मतमें नहीं उपपन्न हो सकेगा।

समाधान। यह वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि प्रत्यग् आत्माकी उपाधिरूप जो ज्ञानशक्तिवाली बुद्धि तथा क्रियाशक्तिवाला प्राण है इनोंका परस्पर भेद है, अतः पूर्वोक्त मन्त्र औपाधिक भेदको बोधन करता है। तथा उपाधिद्वय उपहित प्रत्यग् आत्माका स्वरूपसे अभेद है, अतः **'प्राण एव प्रज्ञात्मा'** यह वचन अभेदको बोधन करता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सिद्धान्तमें कोई दोष नहीं है इति।

सिद्धान्तकी रीतिसे सूत्रका व्याख्यान करके अब 'अथवा' इत्यादि भाष्यसे एकदेशी वृत्तिकारके मतके अनुसार **'नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्'** इस सूत्रके अन्य अर्थको दिखाते हैं—ब्रह्मवाक्यमें भी जीवके तथा प्राणके जो लिङ्ग प्रतीत होते हैं सो विरुद्ध नहीं हैं।

क्योंकि प्राणके धर्म, तथा प्रज्ञाके धर्म, तथा ब्रह्मके धर्मों करके एक ब्रह्मकी ही उपासना तीन प्रकारकी विवक्षित है। तहां **'आयुरमृतमित्युपास्स्वायुः प्राणः' 'इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति'** अर्थ—देहमें चेष्टात्मक जो जीवन है, तिसका हेतु होनेसे प्राणमें आयुष्ट्व है। और देहकी अपेक्षासे प्राणको मुक्ति पर्यन्तावस्थायी होनेसे प्राणमें अमृतत्व है। और शरीरको उत्थापन करता है, अतः प्राणमें उक्थस्वरूपत्व है इति। ये प्राणके धर्म हैं। और इन आयुष्ट्व अमृतत्व, उक्थत्वरूप प्राणके धर्मों करके जो ब्रह्मकी उपासना है सो प्रथम उपासना है।

अब जीवके धर्मोंको दिखाते हैं:—**'अथ यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतानि एकीभवन्ति तद्व्याख्यास्यामः'**। अर्थ—'प्रज्ञा' पद करके यहां साभास बुद्धिरूप जीवका ग्रहण करना। और जीवरूप साभास बुद्धि सम्बन्धी जो सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च है सो चैतन्यरूप करके जिस प्रकार एक होता है तिस प्रकार व्याख्यानको करते हैं इति। ऐसा उपक्रम करके आगे कहा है कि—**'वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्'** इत्यादि। अर्थात् असत् तुल्य उत्पन्न जो साभास बुद्धि है तिसका नामस्वरूप प्रपञ्चविषयित्व अर्ध शरीर है। तथा अर्थस्वरूप प्रपञ्चविषयित्व अर्ध शरीर है। नामविषयित्व तथा अर्थविषयित्व दोनों मिलकर पूर्ण शरीर कहा जाता है। और यह विषयित्वरूप शरीर इन्द्रियों करके साध्य है। तहां कर्म इन्द्रियोंके मध्यमें एक वाग् इन्द्रिय ही साभास बुद्धिरूप प्रज्ञाका नामस्वरूप प्रपञ्चविषयित्वरूप अर्ध शरीरको पूर्ण करती है। अर्थात् वागिन्द्रियद्वारा ही नामप्रपञ्चविषयित्वको साभास बुद्धिरूप प्रज्ञा प्राप्त होती है। और जो चक्षुरादिक इन्द्रिय हैं सो रूपादिक अर्थस्वरूप भूतमात्राविषयित्वरूप अर्ध शरीरको पूर्ण करते हैं। अर्थात् ज्ञानके करण चक्षुरादिक इन्द्रियों द्वारा ही अर्थस्वरूप प्रपञ्चविषयित्वको प्रज्ञा प्राप्त होती है। इस पूर्वोक्त प्रकारसे साभास बुद्धिरूप प्रज्ञामें सर्व विषयक द्रष्टृत्वको उपपादन करके; अब बुद्धिनिष्ठ चेतनप्रतिबिम्बद्वारा साक्षीमें द्रष्टृत्वके अध्यासको कहते हैं—**'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति'**। अर्थ—बुद्धिद्वारा चिदात्मा वागिन्द्रियमें आरूढ होकर अर्थात् वागिन्द्रियका प्रेरक होके वक्तव्यरूप सम्पूर्ण नामोंको वागिन्द्रियरूप करण करके प्राप्त होता है, अतः वक्ता है इति। इसी प्रकार चक्षु करके सम्पूर्ण रूपोंको देखता है, अतः द्रष्टा है। रसना करके सम्पूर्ण रसोंको प्राप्त होता है, अतः रसयिता है इत्यादि। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि सर्व द्रष्टृत्व,और चैतन्यरूप आत्मामें द्रष्टृत्वादि अध्यासका निमित्तत्व, प्रज्ञारूप जीवके धर्म हैं। इन धर्मों करके जो ब्रह्मकी उपासना है सो दूसरी उपासना है।

अब ब्रह्मके धर्मों करके ब्रह्मकी तृतीय उपासनाको दिखाते हैं:—**'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्'** अर्थ—पूर्वोक्त जो यह दश भूतमात्रा हैं अर्थात् पृथिवी आदिक पञ्च भूत, तथा भोग्य शब्दादिक पञ्च, इन दशका नाम भूतमात्रा है; सो प्रज्ञा मात्राको अधिकार करके वर्तमान हैं। तथा जो दश प्रज्ञामात्रा हैं अर्थात् इन्द्रियजन्य पञ्च ज्ञान, तथा पञ्च ज्ञानइन्द्रिय; इन दशका नाम प्रज्ञामात्रा है। सो

भूतमात्राको अधिकार करके वर्तमान हैं इति। यह मन्त्र ग्राह्य जो दश भूतमात्रा हैं, तथा ग्राहक जो दश प्रज्ञामात्रा हैं; इन दोनोंमें परस्पर सापेक्षत्वको बोधन करता है। क्योंकि ग्राह्यसे ग्राह्यवस्तुके स्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती है। किन्तु ग्राहकसे सिद्धि होती है। तथा ग्राहकसे भी ग्राहक वस्तुके स्वरूपकी सिद्धि नहीं होती है। किन्तु ग्राह्यसे सिद्धि होती है।

और एकको त्यागकर एक वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः ग्राह्य तथा ग्राहक ये दोनों वस्तुतः भिन्न भिन्न नहीं हैं। किन्तु चैतन्यरूप आत्मामें आरोपित हैं। इस अर्थको भी श्रुति प्रतिपादन करती है:—'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिताः। नाभावरा अर्पिताः। एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः। प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः। स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा'। इस मन्त्रका अर्थ इस सूत्रके व्याख्यानमें ही कर आये हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे जो सर्वका आधारत्व है, तथा 'आनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्यादि मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो आनन्दत्वादिक हैं; सो सर्व ब्रह्मके धर्म हैं। इन धर्मों करके जो ब्रह्मकी उपासना है सो तीसरी है।

अर्थात् एक ही ब्रह्मकी उपासना प्राण तथा प्रज्ञारूप उपाधि द्वयके धर्मों करके तथा ब्रह्मके धर्मों करके तीन प्रकारकी सिद्धि हुई। और ऐसा माननेमें कोई दोष भी नहीं हैं। क्योंकि अन्य स्थलमें भी अन्यके धर्मोंसे अन्यकी उपासनामानी है--जैसे 'मनोमयः प्राण शरीरः' यह मन्त्र जीवरूप उपाधिके मनोमयत्वादि धर्मों करके ब्रह्मकी उपासनाको प्रतिपादन करता है। तैसे यहां भी-अन्यके धर्मों करके अन्यकी उपासना बन सकती है। और उपक्रम उपसंहार करके वाक्योंमें एक अर्थत्वरूप एक वाक्यत्वका भी निश्चय होता है। अतः वाक्यभेदरूप दोष भी नहीं होता। यदि सिद्धान्तो ऐसा कहे कि जब वाक्यका भेद नहीं हुवा तब उपासना तीन प्रकारकी किस प्रकार होगी। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि प्राण तथा जीव तथा ब्रह्मके लिङ्गोंका दर्शन होता है, अतः पूर्वोक्त रीति से उपासना तीन प्रकारकी बन सकती है। इति।

वृत्तिकारने इस प्रकारकी जो इस सूत्रकी व्याख्या करी है सो असङ्गत है। क्योंकि उपासनामें त्रित्वका प्रसङ्गरूप दोष कह आये हैं। तथा यदि तीन प्रकारकी उपासना मानोगे तो पूर्वोक्त वाक्योंमें अनेक अर्थका प्रतिपादकत्वरूप वाक्य भेदका प्रसङ्गरूप दोष होगा। और उपक्रम उपसंहारादि सिद्ध एकार्थ प्रतिपादकत्वरूप एकवाक्यता का भङ्गप्रसङ्ग कह आये हैं। और वृत्तिकारको यदि ऐसा अभिमान होवे कि उपासना त्रयविशिष्ट एक ब्रह्मका विधान होनेसे वाक्यभेद नहीं हो सकता तो अवश्य विचार करना चाहिये कि-क्यों नहीं वाक्यभेद होगा? किन्तु अवश्य होगा। क्योंकि 'सोमेन यजेत' यहाँ सोमरूप गुण विशिष्टयाग जो है सो प्रथम असिद्ध है, अतः यागरूप कर्ममें विधि विषयत्व है। और ब्रह्म तो सिद्ध

है, अतः सिद्ध ब्रह्ममें विधि विषयत्व नहीं बन सकता। और प्राण तथा जीव तथा ब्रह्म इन तीनों की उपासना का विधायक एक वाक्य भी नहीं है। और यदि एक वाक्य होता तो वाक्यभेदरूप दोष न होता। यदि एक वाक्य मान भी लेवें तो भी उपास्ति विधिकी प्रत्येक उपास्यके साथ सम्बन्धके लिये आवृत्ति करनी पड़ेगी। जब आवृत्ति करोगे तब वाक्यका भेदरूप दोष अवश्य होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे वृत्तिकारका मत सर्वथा असङ्गत है। अतः पूर्वोक्त वाक्य ब्रह्मका ही प्रतिपादक है, जीव तथा मुख्य प्राणका नहीं यह सिद्ध हुवा इति ॥ ३१ ॥ इतिप्रतर्दनाधिकरणम्

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीचिद्घनानन्दगिरिपूज्यपादशिष्य-गोविन्दानन्दगिरिविरचितायां सूत्रभाष्यार्थप्रदीपिकायां प्रथमा-ध्यायस्य स्पष्टब्रह्मलिङ्कश्रुतिसमन्वयाख्यः प्रथमः पादः ॥ १ ॥



प्रथमाध्याये द्वितीयपादः ।



ॐ परमात्मने नमः ॥ प्रथम पादमें 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिक श्रुतिमूलक 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादिक सूत्रों करके समस्त आकाशादिक जगत्के जन्म, स्थिति व प्रलयका कारणत्व ब्रह्ममें कह आये हैं। और इस कहनेसे सम्पूर्ण जगत्का कारण ब्रह्ममें व्यापित्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व इत्यादिक धर्मोंकी भी सिद्धि अर्थसे हो चुकी। और प्रथम पाद करके प्रतिपाद्य पूर्वोक्त धर्मोंका उपजीवन करके उत्तर पादोंकी प्रवृत्ति है। अतः प्रथम पादके साथ उत्तर द्वितीय तथा तृतीया पादकी हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है अर्थात् प्रथम पाद उपजीव्य (हेतु) है और उत्तर दो पाद उपजीवक हैं।

शंका। जब प्रथम पादके साथ उत्तर दो पादों का हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध हुवा तब द्वितीय तथा तृतीय पादका भेद किस प्रकार होगा ?

सामाधान। द्वितीय पादका प्रमेय सविशेष ब्रह्म है। और तृतीय पादका प्रमेय निर्विशेष ब्रह्म है। इस प्रकार प्रमेयके भेदसे पादोंक अवान्तर भेद जानना। और प्रथम पादमें ब्रह्मसे भिन्न अर्थान्तरमें प्रसिद्ध जो आकाश शब्द, प्राण शब्द, ज्योति शब्दादिक हैं तिनका जगत् कारणत्वादिकरूप स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गों करके ब्रह्ममें समन्वयको दिखा आये हैं। अर्थात् सन्देहके विषय स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गक वाक्योंका ब्रह्मपरत्वेन निर्णय कर आये हैं।

अब अस्पष्ट हैं ब्रह्मके लिङ्ग जिन वाक्योंमें तिनके निर्णयको करते हैं। अर्थात 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इन वाक्योंमें जगत् जन्मादि कारणत्वरूप ब्रह्मके लिङ्ग स्पष्ट हैं। और 'तज्जलान्' सत्यसंकल्पः' इन वाक्योंमें ब्रह्मके लिङ्ग तो हैं परन्तु संदिग्ध व अस्पष्ट हैं। क्योंकि व्युत्पत्ति करने से ब्रह्मके लिङ्ग प्रतीत होते हैं। सो ये वाक्य क्या ब्रह्मको प्रतिपादन करते हैं, अथवा अन्य अर्थको प्रतिपादन करते हैं ? इस अर्थके निर्णय करनेके लिये द्वितीय पाद तथा तृतीय पादका आरम्भ सूत्रकारकरते हैं। तहां सूत्रम्—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

अर्थ—१ सर्वत्र, २ प्रसिद्धोपदेशात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'मनोमयः प्राण शरीरः' इत्यादि श्रुतिमें परब्रह्म ही मनोमयत्वादिक धर्मों करके उपास्य है। क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंमें प्रसिद्ध जो जगत्का कारणरूप ब्रह्म है, तिस ब्रह्मका ही उपदेश किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरण रचनाको दिखाते हुये तात्पर्यको भाष्यकार

भगवान् दिखाते हैं–'इदमाम्नायते' इत्यादि भाष्यम्। तहां प्रथम इस सूत्रके विषयवाक्यको दिखाते हैं:—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिः। अर्थ—सृष्टिकालमें ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति होती है, तथा प्रलय कालमें ब्रह्ममें जगत्का लय होता है, तथा स्थितिकालमें ब्रह्मही जगत्को चेष्टा कराता है अर्थात् पालन करता है, अतः ब्रह्मका नाम 'तज्जलान्' है। और तज्जत्व, तल्लत्व, तदनत्व रूप हेतुसे ब्रह्मसे भिन्नत्वेन जगत्का निरूपण नहीं बन सकता। अतः ब्रह्मका विवर्त होनेसे ब्रह्म रूप करके अवशिष्ट सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप ही है। इस प्रकार निश्चय पूर्वक 'शान्तः' कहिये रागद्वेषादिकोंसे रहित होकर 'उपासीत' कहिये शान्त होवे यह विधि शमको विधान करती है। और जिस वास्ते यह पुरुष 'क्रतुमयः' कहिये संकल्परूप ध्यानका विकाररूप अथवा संकल्प प्रधान होता है। अर्थात् यह जीव वर्तमान देहमें जिस वस्तु विषयक ध्यानरूप संकल्पवाला होता है तिस ध्यानके प्रभावसे इस शरीरको त्यागकर तिस ध्येयस्वरूपको ही प्राप्त होता है। अतः यह पुरुष 'क्रतुं कुर्वीत' कहिये राग द्वेषादिकोंसे रहित होकर अविचल प्रत्ययरूप ध्यानको करे। अब इस ध्यानरूप क्रतुके विषयको दिखाते हैं–'मनोमयः' कहिये अन्तःकरण प्रचुर है। ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिवाला प्राण है शरीर जिसका तिसका नाम 'प्राणशरीर' है। ऐसा जो परमात्मा है सो उपास्य है। यहां ये दोनों विशेषण, परमात्माका जीवके साथ अभेद विवक्षा करके जानना। और 'भारूपः' कहिये चैतन्यस्वरूप है। तथा अन्वर्थ हैं संकल्प जिसके तिसका नाम सत्यसंकल्प है इत्यादिक। ऐसा पूर्वोक्त मनोमयत्वादिक धर्मविशिष्ट परब्रह्म ही हृदयमें ध्यान करनेको योग्य है इति। इस विषयवाक्यका यह अर्थ सिद्धान्तकी रीतिसे है।

अब **संशय** को दिखाते हैं:—इस शाण्डिल्य-विद्यामें मनोमयत्वादिक धर्मों करके क्या जीवात्मा उपास्य है? अथवा परब्रह्म उपास्य है?

'यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासा के हुये—

अथ **पूर्वपक्षः**। प्रथम पादमें आनन्दत्वादिक ब्रह्मके लिङ्गों करके, ब्रह्मसे भिन्न प्राण जीवादिकोंके शरीरका उत्थापकत्व वक्तृत्वादिक लिङ्गोंका बाध कह आये हैं। और यहां ब्रह्मका लिङ्ग देखनेमें आता नहीं, किन्तु ब्रह्मका प्रकरण है। और प्रकरणकी अपेक्षासे मनोमयत्वादिक जीवके लिङ्ग प्रबल हैं। अतः मनोमयत्वादि धर्मों करके जीव ही उपास्य हैं ब्रह्म नहीं। अतएव **'शारीर इति'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् यहां जीवात्मा ही उपास्य है। क्योंकि शरीरादिरूप कार्य तथा इन्द्रियादिरूप करणका अधिपति जो जीव है तिस जीवका ही मन आदिकोंके साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है परब्रह्मके साथ नहीं। क्योंकि 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादिक श्रुति ब्रह्मको प्राण तथा मन आदि करके रहित शुद्ध स्वरूप बोधन करती हैं।

शंका। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस मन्त्रमें जो यह ब्रह्म शब्द है इस

शब्द करके ब्रह्म ही उपास्य सिद्ध होता है, अतः 'जीव उपास्य है' यह आशंका कैसे हो सकती है।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि यह वाक्य ब्रह्मकी उपासना विधिपरक नहीं है, किन्तु शम विधिपरक है। क्योंकि इसी मन्त्रमें आगे लिखा है—**'शान्त उपासीत'** अतः यह विधि केवल शमको विधान करती है। अर्थात् इस मन्त्रसे यह सिद्ध हुवा कि—सम्पूर्ण विकार समूहकी ब्रह्मसे ही उत्पत्ति, स्थिति, व लयके होनेसे सर्व ब्रह्मस्वरूप ही है। और जब सम्पूर्ण जगत् एक ब्रह्मात्मा ही हुवा तब किसीमें रागद्वेष नहीं बन सकता है। अतः रागादिक रहित होकर पुरुष शान्त होवे। और 'शान्त उपासीत' इस वाक्यको जब शम विधि पर मान लिया तब इस वाक्य करके ब्रह्मकी उपासना नहीं सिद्ध हो सकती है। क्योंकि शम तथा ध्यानको विधान करेगा तो वाक्य-भेदरूप दोष होवेगा। और **'स क्रतुं कुर्वीत'** यह वाक्य ध्यानरूप उपासनाको विधान करता है। और इस ध्यानके विषयका श्रवण भी होता है—'मनोमयः प्राणशरीरः' इत्यादिक' इस मन्त्रमें मनोमयत्वादिक जीवके ही लिङ्ग भी देखनेमें आते हैं। अतः यहां जीव ही उपास्य है। और **'सर्वकर्मा सर्वकामः'** इत्यादिक श्रूयमाण विशेषण भी जीव विषयक बन सकते हैं। क्योंकि जन्म परम्परा करके जीवमें सर्वकर्म तथा सर्वभोग्यरूप काम बन सकते हैं। और **'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा'**। *अर्थ—स्पष्ट है। इत्यादिक मन्त्रमें जो हृदयगतत्व अणीयस्त्वको कहा है सो भी सुईके अग्र भागके तुल्य जीवमें ही बन सकता है अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें नहीं।

शंका। इसी मन्त्रमें आगे लिखा है—**'एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्। पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः'** यह मन्त्र पृथिवी आदिक लोकोंसे जो ध्येय आत्मामें महत्परिमाणको बोधन करता है, तिस महत्परिमाणकी परिच्छिन्न जीवमें कल्पना नहीं कर सकते हैं?

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि अणीयस्त्व तथा ज्यायस्त्वरूप विरुद्ध धर्मोंकी एक वस्तुमें स्थिति नहीं हो सकती है। किन्तु विरुद्ध एक धर्मकी ही एक वस्तुमें स्थिति बन सकती है। अतः अन्यतरका आश्रयण करना पड़ेगा। तहां मन्त्रमें प्रथम श्रवणके विषय अणीयस्त्वादिकही हैं। अतः आत्मामें अणीयस्त्वादिक धर्मोंका ही आश्रयण करना उचित है। और जब ऐसा मानोगे तब जीव ही उपास्य सिद्ध होगा। और यद्यपि संसार दशामें पृथिवी आदिकोंसे ज्याय-

* यह मनोमयत्वादि विशिष्ट आत्मा मेरे हृदयमें विराजमान है, व्रीहिसे, जवसे अथवा सर्षपसे श्यामाक (सवां) से श्यामाक तण्डुलसे भी अणीयान् (दूर्लक्ष्य) है।

स्वरूप महत्परिमाण जीवमें नहीं बन सकता। तथापि मोक्ष दशामें ब्रह्मभावकी अपेक्षा करके महत्परिमाण जीवमें भी बन सकता है। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकता है। और इस वाक्यमें जीवविषयत्वके निश्चित हुये जो अन्तमें लिखा है—'एतद्ब्रह्म' (छा० । ३ । १४ । ४ ।) अर्थ—पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट जो ध्येय है सो ब्रह्म है इति। सो यह वाक्य भी प्रकृत जीवका परामर्शार्थक होनेसे जीव विषयक ही है। अतः मनोमयत्वादिक धर्मों करके यहां जीव ही उपास्य है यह सिद्ध भया इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि परब्रह्म ही मनोमयत्वादिक धर्मों करके उपास्य है जीव नहीं क्योंकि 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' इस सूत्रका अर्थ कह आये हैं। अर्थात् "सर्व वेदान्तवाक्योंमें प्रसिद्ध ब्रह्मशब्दका अर्थरूप जो जगत्का कारण ब्रह्म है, और जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस उपक्रम वाक्यमें यहांभी श्रुत है,सो ब्रह्मही मनोमयत्वादिक धर्मों करके उपदिष्ट है" ऐसा मानना ही युक्त है। और फल शून्य जो लिङ्ग हैं, तिन लिङ्गों करके प्राप्त जो जीव है, तिस जीवको त्याग करके फलवत् प्रकरण करके प्राप्त ब्रह्मका ही ग्रहण करना उचित है। इस अर्थको दिखाते हैंः—'एवं च प्रकृतहानाऽप्रकृतप्रक्रिये न भविष्यतः' इति भाष्यम्। अर्थ—ब्रह्मको उपास्य मानने से प्रकृत अर्थकी हानि तथा अप्रकृत अर्थकी प्राप्ति न होगी इति। अर्थात् 'मनोमयः' इस प्रकृत विशेष्यापेक्षी तद्धित करके, और 'प्राणः शरीरमस्येति प्राणशरीरः' इस सन्निहित विशेष्याकाङ्क्षी समास करके, और समासके अन्तर्गत सन्निहित अर्थका वाचक 'अस्य' पदघटक जो 'इदम्' सर्वनाम है तिस सर्वनाम करके, प्रकृत जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मको त्याग करके अप्रकृत जीवके ग्रहण करनेकी इच्छावाला जो पूर्वपक्षी है तिसके मतमें प्रकृत हानि अप्रकृतका प्रसङ्गरूप दोष होवेगा।

शंका। 'आगतोऽयं राजपुरुषस्तं भोजयेत्' यहां राजा गौण अर्थ है और पुरुष मुख्य अर्थ है। जैसे यहां 'तं' इस तत्पदसे पुरुषका ही परामर्श होता है पुरुषका शेषरूप राजाका नहीं, तैसे शमविधिका शेषरूप ब्रह्मका सर्वनामसे परामर्श नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म प्रकृत नहीं है। अत एव 'ननु वाक्योपक्रमे शमविधिविवक्षया ब्रह्म निर्दिष्टं न स्वविवक्षया' इति भाष्यम्। अर्थ - शमको विधान करनेकी इच्छा करके ब्रह्मका निर्देश किया है, ब्रह्मको अभिधान करनेकी इच्छा करके ब्रह्मका निर्देश नहीं किया है इति। अतः ब्रह्ममें प्रकृतत्वका अभाव होनेसे उपास्यत्वका अभाव भी जानना।

समाधान। जैसे दर्शपौर्णमास यागमें लिखा है—'स्योनं ते सदनं करोमि तस्मिन् सीद'। अर्थ—हे पुरोडाश ! तुम्हारा 'स्योनं' कहिये पात्र विशेषरूप, 'सदनं' कहिये समीचीन स्थानको हम करते हैं, तुम 'तस्मिन् सीद' कहिये तिस सदनमें स्थिर हो इति। यहां घृतादिकों करके पुरोडाश के संस्कारार्थ जो गौण सदन है, तिसका 'तस्मिन्' इस

तत्पद करके परामर्श होता है। तैसे अन्यका शेषरूप ब्रह्मका भी सर्वनाम करके परामर्श हो सकता है। इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं:—'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। यद्यपि शम विधिकी विवक्षा करके ब्रह्म निर्दिष्ट है, तथापि मनोमयत्वादिरूप धर्मोंके उपदिश्यमान हुये सोई ब्रह्म सन्निहित होता है। अतः ब्रह्मका परामर्श बन सकता है।

शंका । मनोमयत्वादि लिङ्गों करके जीव भी सन्निहित हो सकता है।

समाधान । ये जो लिङ्ग हैं सो लोक प्रसिद्ध जीवको सन्निहितरूप करके बोधन नहीं कर सकते। और दुःखी जो जीव है तिसकी उपासना भी अयुक्त है। तथा यहां कोई फल भी श्रुत नहीं है। अतः विश्वजित् न्याय करके सर्वको अभिलषित आनन्दरूप ब्रह्म ही उपासनारूप क्रियाका विषय है। दुःखी जीव नहीं। और ब्रह्म पदरूप श्रुति करके जीव लिङ्गोंका बाध भी जानना। और जैसे 'सर्वं खलु' इस मन्त्रमें ब्रह्म शब्द करके ब्रह्म प्रतिपादित है तैसे जीव शब्द करके जीव प्रतिपादित नहीं है, यह वैषम्य भी जानना। अतः विफल लिङ्गोंसे फलवत् प्रकरणको बलवान् होनेसे प्रकरण करके प्रतिपाद्य ब्रह्म ही उपास्य है जीव नहीं यह सिद्ध हुवा। यहां पूर्वपक्षमें जीवकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना फल है इति ॥ १ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतुसे भी ब्रह्म ही उपास्य है। तहां सूत्रम्—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

अर्थ—१ विवक्षितगुणोपपत्तेः, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। कहनेकी इच्छाका विषयरूप जो वस्तु है तिसका नाम विवक्षित है। अर्थात् वाञ्छित जो सत्य कामत्व, सत्य संकल्पत्वादिक गुण हैं तिनका नाम विवक्षित है। इन विवक्षित गुणोंकी ब्रह्ममें उपपत्ति होनेसे ब्रह्म की ही उपासना करनी योग्य है जीव की नहीं इति।

शंका । यद्यपि 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र करके प्रतिपाद्य जो शास्त्रका कारणत्व है सो ईश्वरमें है भी, तथापि पूर्व पूर्व सृष्टि रचित वेद समूहकी अपेक्षा करके वेदको रचना होनेसे, ईश्वर वेदमें अस्वतन्त्र है, अतः वेदमें *अपौरुषेयत्वको अभिधान किया है। तथा च-वेदमें स्वतन्त्र वक्ताका अभाव होनेसे, सूत्रकारने जो सूत्रमें विवक्षित पदको कहा है सो असङ्गत है।

*टि० १—'सजातीयउच्चारणसापेक्ष उच्चारणविषयत्व' ही वेदमें अपौरुषेयत्व है। अर्थात् ईशावास्यादि मन्त्रोंकी जैसी आनुपूर्वी इस समयमें है, ठीक तैसी तैसी ही आनुपूर्वी पूर्व पूर्व सृष्टिमें थी, और तैसी ही भविष्यत्में रहेगी। भारतादिवत् विसदृश नहीं। तथा च सृष्टिके आदिमें पूर्वकल्पीय आनुपूर्वीविशिष्ट वेदका स्मरण करके, ईश्वर वेदको रचता है। अत एव ईश्वर वेदका स्मर्ता है। पूर्वानुपूर्व्यनपेक्ष वक्ता नहीं है; आनुपूर्वीका वैचित्र्य बने नहीं ।†

समाधान । यद्यपि वेदमें वक्ताका अभाव होनेसे इच्छारूप अर्थ नहीं बन सकता है; तथापि उपादानरूप फल करके इच्छाका उपचार करते हैं अर्थात् जो वस्तुकी विवक्षाका फल है तिसका नाम उपादान है, सो ग्रहण अथवा स्वीकाररूप है। और जो स्वीकाररूप उपादान है सो प्रकृत सत्यसंकल्पादिक गुणोंमें है। अतः विवक्षाका उपचार बन सकता है।

शंका । यह वस्तु ग्राह्य है तथा यह वस्तु त्याज्य है इस प्रकारका जो ज्ञान है, सो वेदमें विवक्षाके अधीन किस प्रकार होगा, क्योंकि वेदमें वक्ताका अभाव है ?

समाधान । जैसे लोकमें जिस शब्द करके अभिहित जो वस्तु उपादेय होती है, सो उपादेय वस्तु तिस शब्दसे विवक्षित कही जाती है। और जो अनुपादेय वस्तु है सो अविवक्षित कही जाती है। तैसे वेदमें भी उपादेयरूप करके अभिहित जो वस्तु है, सो विवक्षित कही जाती है। और उपादेयसे भिन्न जो वस्तु है, सो अविवक्षित कही जाती है। और वस्तुका उपादान व अनुपादान जो है, सो वेदवाक्योंके तात्पर्य तथा अतात्पर्य करके निश्चित होता है। और 'फलवदर्थविषयक प्रतीतिमें अनुकूलत्व' जो शब्दमें है तिसका नाम तात्पर्य है। वेदको इस तात्पर्यवाला होनेसे इस प्रकरणमें उक्ततात्पर्यवाले श्रुत जो सत्यसंकल्पादिक गुण हैं, तथा उपासनामें उपादेयरूप करके निर्दिष्ट हैं, सो ग्राह्य व विवक्षित कहे जाते हैं। और ये गुणपरब्रह्ममें ही बन सकते हैं जीवमें नहीं।

और **'य आत्मापहतपाप्मा'** इस मन्त्रमें भी 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः पर आत्मा है' ऐसा ही श्रवण होता है। अतः जगत्की सृष्टि स्थिति, संहारमें अप्रतिबद्ध शक्तिवाला होनेसे परमात्मामें ही सत्यसंकल्पत्वादिक गुणोंकी उपपत्ति बन सकती है।

और **'आकाशात्मा'** आकाशवत् है आत्मा कहिये स्वरूप जिस परमात्माका

---

[1] **शंका** । ककारादिक वर्णोंके नित्य विभु होनेसे विभु पदार्थोंकी क्रम (पौर्वापर्य) स्वरूप आनुपूर्वी बने नहीं।

समाधान । यद्यपि व्यापक वर्णोंकी आनुपूर्वी नहीं बन सकती है, तथापि व्यञ्जकध्वनिगत व उच्चारणगत आनुपूर्वीका व्यङ्ग्यमें आरोप होता है।

शंका । ध्वन्यादिगत क्रमका प्रतिकल्पीय ध्वन्यादिक वैचित्र्यसे वैचित्र्य अवश्य होगा।

समाधान । वेदाभिव्यञ्जक ध्वन्यादिमें भी वैचित्र्यका स्वीकार नहीं है। वैदिक शब्दानुपूर्वी प्रयोजक ध्वनिमें व उच्चारणमें जो वैचित्र्य भासता है सो जीवीय दोषप्रयुक्त उच्चारणमें व ध्वनिमें है, वेदकी आनुपूर्वीमें वैचित्र्य नहीं है। अर्थात ईशकर्तृक वेद उच्चारणमें व तत्प्रयुक्त ध्वनिमें वैचित्र्य नहीं है। अतः वैदिक आनुपूर्वी सदा अविचित्र एक रस रहती है। यह अवैचित्र्य ही वेदमें महत् प्रामाण्यका साधक है।

तिसका नाम आकाशात्मा है। यहां सर्वगतत्वादिक धर्मों करके आकाशका साम्य भी ब्रह्ममें बन सकता है।

और **'ज्यायान् पृथिव्याः'** इत्यादिक मन्त्र भी इसी अर्थको दिखाते हैं। और 'आकाशात्मा' यहां–'आकाश है आत्मा जिसका तिसका नाम आकाशात्मा है' यदि ऐसा व्याख्यान करें तो भी सर्व जगत्का कारण सर्वात्म स्वरूप ब्रह्ममें आकाशात्मत्व भी बन सकता है। अतः **'सर्वकर्मा सर्वकामः'** इत्यादिक स्वरूप भी ब्रह्म कहा है। इस पूर्वोक्त रीतिसे इस प्रकरणमें उपास्यरूप करके विवक्षित जो पूर्वोक्त गुण हैं सो ब्रह्ममें ही बन सकते हैं।

और पूर्वपक्षीने जो कहा था कि–**'मनोमयः प्राणशरीरः'** यह जीवका लिङ्ग है ब्रह्मका नहीं सो भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि ब्रह्मको सर्वात्मक होनेसे जीवसम्बन्धी जो मनोमयत्वादिक धर्म हैं, सो सर्व ब्रह्म सम्बन्धी हो सकते हैं।

अब ब्रह्ममें सर्वात्मत्वको दिखाते हैं–**'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि'** इत्यादिक। अर्थात् तुही स्त्री है, तुही पुरुष है, तुही कुमार है, तुही कुमारी है, और जीर्ण हुवा जो दण्ड करके गमन करता है सो भी तुही है, बालरूपसे उत्पन्न भी तुही होता है, विश्वमें सर्वत्र मुखवाला तुही है इत्यादि। इत्यादिक श्रुति 'सर्वात्मक ब्रह्मही है' इस अर्थको कहती हैं।

और **'सर्वतः पाणिपादं तत्'** इत्यादिक। सर्वत्र पाणी तथा पादवाला तुही है, और सर्वत्र अक्षि, शिर, मुखवाला भी तुही है, तथा सर्वत्र श्रोत्र इन्द्रियवाला भी तुही है, तथा सर्वको लपेट व ढक करके तुही स्थित है। इत्यादि श्रुति "सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रसिद्ध जो हस्तपादादिक हैं, सो सर्व ब्रह्मके ही हैं" इस प्रकार प्रतिपादन करती है, अतः ब्रह्ममें सर्वात्मत्व सिद्ध हुवा इति।

और **'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'**। यह श्रुति शुद्ध ब्रह्मविषयक है। और **'मनोमयः प्राणशरीरः'** यह श्रुति सगुण ब्रह्मविषयक है, यह विलक्षणता जाननी। अतः 'विवक्षितगुणोपपत्तेः' इस सूत्र करके "परब्रह्म ही उपास्यरूप करके उपदिष्ट है जीव नहीं" ऐसा निश्चय होता है इति ॥ २ ॥

शंका। जब जीवगत मनोमयत्वादिक धर्मोंकी ब्रह्ममें योजना करते हो, तब ब्रह्मसे अभिन्न जीवमें भी सत्यसंकल्पादिक ब्रह्मके धर्मोंकी योजना करनी चाहिये।

समाधान। 'समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तुरूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥' अर्थ–जैसे रज्जुमें 'समारोप्य' कहिये कल्पित जो सर्प है, तिस सर्पके भीषणत्वादिक जो धर्म हैं, तिन धर्मोंवाली रज्जु हो सकती है, क्योंकि सर्पदशा-में वास्तवी रज्जु विद्यमान है। और रज्जुके धर्म जो अभिगम्यत्वादिक हैं तिन धर्मोंवाला सर्प नहीं हो सकता है। क्योंकि रज्जुमें यथार्थ ज्ञानविषयत्वरूप अभिगम्यत्व कालमें सर्प नहीं है।

तैसे समारोप्य जो कल्पित साभास बुद्धिरूप जीव है, तिस जीवके मनोमयत्वादिक धर्मोंवाला सद् ब्रह्म हो सकता है। क्योंकि जीवदशामें अधिष्ठानरूप ब्रह्म विद्यमान है। और अधिष्ठानरूप परमात्माके धर्मोंवाला जीव नहीं हो सकता है। क्योंकि सर्वात्मत्वादिविषयक यथार्थ ज्ञान कालमें जीवका स्वरूप ही नहीं है। अतः परमात्माके धर्मोंकी योजना जीवमें नहीं बन सकती है इति।

इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ २ ॥

अर्थ—१ अनुपपत्तेः, २ तु, ३ न, ४ शारीरः। इस सूत्रमें चार पद हैं। शरीरमें रहनेवाला जो शारीर जीव है सो उपास्य नहीं है। क्योंकि सत्यसंकल्पादिक ब्रह्मके धर्म जीवमें नहीं बन सकते हैं। 'तु' का अर्थ अवधारण है अर्थात् ब्रह्म ही उपास्य है इति।

अब भाष्यकार इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—पूर्व सूत्रसे ब्रह्ममें विवक्षित सत्यकामत्वादि गुणोंकी उपपत्ति कही है। और इस सूत्र करके जीवमें विवक्षित गुणोंकी अनुपपत्तिको कहते हैं। उक्त सर्वात्मत्व न्यायसे ब्रह्म ही सत्यसंकल्पत्व मनोमयत्वादिक गुणवाला है जीव नहीं। क्योंकि—'मनोमयः प्राणशरीरः' इसी प्रकरणमें 'सत्यसंकल्प आकाशात्मा' 'ऽवाक्यनादरो' 'ज्यायान् पृथिव्याः' इत्यादिक लिखा है। इन पदों करके प्रतिपाद्य जो सत्यसंकल्पत्वादिक परमात्माके धर्म हैं, तिन धर्मोंकी जीवमें ठीक २ उपपत्ति नहीं बन सकती है।

और इस श्रुतिमें जो 'अवाकी' तथा 'अनादरः' ये पद हैं, इन पदोंका अर्थ ऐसा जानना—वाक्इन्द्रियवालेका नाम वाकी है, और वागादिक सर्व इन्द्रिय करके शून्य जो आत्मा है, तिसका नाम अवाकी है। और नहीं है आदर कहिये किसी पदार्थमें कामना जिसको तिसका नाम अनादर है। अर्थात् आप्त कामवाला होनेसे आत्मा नित्य तृप्त है।

शंका। शरीरमें रहनेसे यदि जीवको शारीर कहें तो ईश्वरका नाम भी शारीर होना चाहिये? क्योंकि ईश्वर भी शरीरमें रहता है।

समाधान। यद्यपि शरीरमें ईश्वर है तथापि 'शरीरमें ही है' यह वार्ता नहीं, किन्तु शरीरसे बाहर भी है। क्योंकि 'ज्यायान् पृथिव्याः' 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि मन्त्रों करके ब्रह्ममें व्यापित्वका श्रवण होता है। और जीव तो शरीरमें ही रहता है। क्योंकि जीवको भोगका आश्रय होनेसे शरीरसे अन्यत्र जीवकी सत्ता नहीं बन सकती है।

और भाष्यकार भगवान्ने जो कहा है कि "सर्वात्मत्व न्याय करके मनोमयत्वादिक गुणवाला ब्रह्म है जीव नहीं" यहां ऐसी शंका होती है कि—आरोप्य जीवमें यदि मनोमयत्वादिक गुण न होवेंगे तो अधिष्ठान ब्रह्ममें भी आरोप्य मनोमयत्वादिक धर्म नहीं बनेंगे। अतः जीवमें ही मनोमयत्वादिक धर्मोंको मानना चाहिये? यद्यपि यह वार्ता सत्य है तथापि उपास्यवृत्तित्वेन विवक्षित

जो मनोमयत्वादिक धर्म हैं सो ब्रह्ममें ही हैं जीवमें नहीं हैं। इस अभिप्रायसे भाष्यकारने कहा है कि—मनोमयत्वादिक धर्मवाला ब्रह्म है जीव नहीं इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे जीवमें विवक्षित मनोमयत्वादिकोंका अभाव सिद्ध हुवा इति ॥ ३ ॥

जीवमें मनोमयत्वादिक विवक्षित गुणोंके अभावमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं:—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

अर्थ---१ कर्मकर्तृव्यपदेशात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। पूर्व सूत्रसे नकारका आकर्षण करना, 'च' कहिये पुनः ईशका कर्मत्वेन जीवका कर्तृत्वेन श्रुतिमें 'व्यपदेशात्' कहिये कथन होनेसे मनोमयत्वादिक धर्मवाला जीव नहीं हो सकता इति।

अत्र श्रुतिको दिखाते हैं—'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि'। इस मन्त्रमें 'एतं' यह जो पद है सो प्रकृतमें प्राप्त जो मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट उपास्य ब्रह्म है, तिस ब्रह्मको कर्मरूप करके अर्थात् प्राप्यरूप करके कथन करता है। और 'अभिसंभवितास्मि' यह जो वाक्य है सो शारीर जीवरूप उपासकको कर्तारूप करके अर्थात् प्रापकरूप करके कथन करता है। 'अभिसंभवितास्मि' इसका अर्थ 'प्राप्तास्मि' है अर्थात् मैं उपास्यको प्राप्त होऊँगा। इस मन्त्रोक्त रीतिसे उपास्य उपासकका कल्पित भेद सिद्ध होता है। अतः मनोमयत्वादिक धर्म कर्मरूप उपास्य ब्रह्मके ही बन सकते हैं कर्तारूप जीवके नहीं।

शंका। 'मामहं जानामि' इस वाक्यमें जैसे 'मां' इस कर्मका तथा 'अहं' इस कर्ताका अभेद है, तैसे पूर्वोक्त उपास्य उपासकका भी अभेद बन सकता है। और जब अभेद हुवा तब मनोमयत्वादिक धर्म उपासक जीवके भी हो सकते हैं, अतः यहां जीव ही उपास्य है।

समाधान। 'मामहं जानामि' यहां गतिका अभाव होनेसे कर्म तथा कर्ताका अभेद मान सकते हैं, किन्तु जहां गति (व्यवस्था) बन सकती है तहां कर्म कर्ताका भेद ही मानना चाहिये। क्योंकि 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' यह श्रुति भगवती साक्षात् 'कर्म तथा कर्ताके भेदको' कह रही है, अतः जीव उपास्य नहीं हो सकता इति। और सूत्रकारको अभिप्रेत जो कर्म कर्ताका भेद है तिसको भाष्यकार प्रकारान्तरसे दिखाते हैं—'उपास्यउपासकभावोपि भेदाधिष्ठान एव' इति भाष्यम्। अर्थ—जो उपास्यउपासकभाव है सो भी भेदका आश्रयण करके ही होता है, अत इस विद्यामें मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट जीव उपास्य नहीं है इति ॥ ४ ॥

और भी इसी अर्थमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं:—

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। शब्द विशेषरूप हेतुसे भी मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट

परमात्मा शारीर जीवसे भिन्न ही है। क्योंकि एक विद्याविषयक समान प्रकरणमें लिखा है- 'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः' इस शतपथकी श्रुतिमें जीवात्माका बोधन करनेवाला 'आत्मन्' यह सप्तम्यन्त पद है, यहां ङिकारका लोप छान्दस जानना, क्योंकि सप्तमी विभक्त्यन्तका रूप 'आत्मनि' ऐसा होता है। और तिस आत्मन् शब्दार्थ जीवसे भिन्न मनोमयत्वादिकगुणविशिष्टका बोधन करनेवाला प्रथमान्त 'पुरुषः' शब्द है। अतः यहां शब्दविशेष (विभक्तिभेद) का श्रवण होनेसे उपास्य उपासकके भेदका निश्चय होता है इति ॥ ५ ॥

हृदयमें स्थित परमात्मामें जीवके भेदको स्मृतिमें भी कहा है। अतः यहां भी मनोमय करके ईश्वरका ही ग्रहण करना चाहिये। इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैं:—

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

अर्थ —१ स्मृतेः, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ "हे अर्जुन! शरीर रूप यन्त्रमें आरूढ़ जीवोंको अपनी माया करके अनेक योनियोंमें भ्रमण कराता हुवा मैं परमात्मा संपूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूं" इत्यादिक स्मृतियोंमें भी जीव तथा परमात्माका भेद कहा है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—तहां सूत्रकारने जीव तथा परमात्माका जो भेद कहा है सो भेद सत्य है? यह जो शंका है। इस शंकाका यद्यपि 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस अधिकरणमें निरास कर आये हैं। तथापि पुनः इस शंकाको उद्भावन करके निरास करते हैं-'अत्राह' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् यहां पूर्वपक्षी कहता है कि—परमात्मासे भिन्न कौन शारीर आत्मा है? जिसको 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादि सूत्र करके निषेध करते हो। अर्थात् यदि परमात्मासे भिन्न प्रथम कोई शारीर आत्मा सिद्ध हो लेवे तो उसमें मनोमयत्वादिकोंका निषेध कह सकते हैं सो भेद सिद्ध हो सकता नहिं, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादिक श्रुति परमात्मासे भिन्न अन्य आत्माका निषेध करती हैं। और 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' इत्यादिक स्मृति भी परमात्मासे भिन्न अन्य आत्माका निषेध करती हैं। अर्थात् परमात्मासे भिन्न कोई आत्मा है नहीं जिसमें मनोमयत्वादिकोंका सूत्र निषेध करे? यद्यपि यह पूर्वपक्षीका कहना सत्य है। तथापि वादीसे मैं पूछता हूं कि-वस्तुतः परमात्मासे भिन्न जीव नहीं है? अथवा उपाधि करके भी परमात्मासे भिन्न जीव नहीं है? तहां प्रथम पक्ष तो हमारेको इष्ट है। और द्वितीय पक्ष इष्ट नहीं। क्योंकि जैसे घटकरकादिरूप उपाधि करके, अपरिच्छिन्न आकाशमें परिच्छिन्नत्वकी प्रतीति होती है। तैसे ही देह इन्द्रिय मन बुद्धिरूप उपाधि करके, अपरिच्छिन्न परमात्मामें भी अज्ञानी पुरुष परिच्छिन्नत्वरूप जीवत्वका उपचार करते हैं। और 'तत्त्वमसि' इस वाक्य करके आत्मामें एकत्वके उपदेशको ग्रहण करनेसे प्रथम २

उपाधिकी अपेक्षासे कर्मत्व तथा कर्तृत्वादिक भेद व्यवहार बन सकता है । और जब आत्मामें एकत्वका निश्चय होता है, तब बन्ध मोक्ष व्यवहारकी समाप्ति हो जाती है । अतः पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्मसे भिन्न औपाधिक शारीर आत्मा बन सकता है । तथा इस औपाधिक आत्मामें विवक्षित मनोमयत्वादिकोंका निषेध भी बन सकता है । और परमात्माका तथा औपाधिक आत्माका परस्पर कल्पित भेद भी बन सकता है इति ॥ ६ ॥

अब जीव सम्बन्धी जो अल्पस्थानत्व तथा अणीयस्त्व रूप लिङ्गद्वय कहे हैं, तिनको सूत्रकार खण्डन करते हैं:—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

अर्थ —१ अर्भकौकस्त्वात्, २ तद्व्यपदेशात्, ३ च, ४ न, ५ इति, ६ चेत्, ७ न, ८ निचाय्यत्वात्, ९ एवं, १० व्योमवत्, ११ च । इस सूत्रमें एकादश पद हैं ।

शंका । 'अर्भक' कहिये अल्प है, 'ओकः' कहिये स्थान जिसका तिसका नाम अर्भकौक है । अर्थात् हृदयरूप अल्प स्थानवाला होनेसे जीव ही इस विद्यामें उपास्य है । तहां श्रुति 'एष म आत्मान्तर्हृदये' । अर्थ स्पष्ट है । और 'तद्व्यपदेशात्' कहिये अणीयस्त्वका कथन होनेसे भी जीव ही ग्राह्य है । तहां श्रुतिः-'व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यादिक । इस पूर्वोक्त रीतिसे सूचीके अग्र भाग तुल्य परिमाणवाला जीव ही इस प्रकरणमें उपास्यरूप करके उपदिष्ट है सर्वगत परमात्मा नहीं ।

समाधान । सिद्धान्ती कहता है कि-इस प्रकरणमें सर्वगत परमात्माका ही उपास्यरूप करके ग्रहण करना, क्योंकि-'निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' । जैसे सर्वगत आकाश सूची आदिकोंकी अपेक्षा करके अल्प स्थानवाला तथा अणीय कहा जाता है । तैसे हृदयरूप अल्प स्थानमें दर्शन करनेके योग्य होनेसे सर्वगत ब्रह्म भी अल्प स्थानवाला तथा अणीय कहा जाता है । अतः इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म ही उपास्यरूप करके उपदिष्ट है जीव नहीं इति ।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार दिखाते हैं—परिच्छिन्न देशमें रहनेवाला जो जीव है, तिसमें ब्रह्मभावकी अपेक्षा करके भी सर्वगतत्वका व्यवहार नहीं हो सकता है । क्योंकि हृदयादिरूप परिच्छेदके त्यागसे विना जीवमें ब्रह्मत्वका असम्भव है । और यदि परिच्छेदको त्याग करोगे तो ब्रह्मही उपास्य सिद्ध होगा । और जो वस्तु सर्वगत है तिस वस्तुमें,सर्व देशमें विद्यमान होनेसे 'परिच्छिन्न देशवाला है' ऐसा व्यवहार भी किसी कारणसे बन सकता है । जैसे सर्वेश्वर रामचन्द्र महाराज सम्पूर्ण वसुधाके अधिपति हुये भी 'अयोध्याके अधिपति थे' ऐसा व्यवहार होता है । तैसे हृदयादिरूप देशकी अपेक्षा करके सर्वगत परमात्मा भी 'अर्भकौकः' 'अणीयान्' इत्यादि व्यवहारका विषय होता है ।

शंका । सर्वगत हुवा भी परमेश्वर यहां किसकारणसे अर्भकौकः व अणीयान् कहा जाता है ?

समाधान। जैसे जब शालग्राममें विष्णुको निश्चय करनेवाली बुद्धि-वृत्ति 'शालग्रामो विष्णुः' ऐसी होती है। अर्थात् जब विष्णुविषयक तदाकार वृत्ति होती है। तब विष्णु भगवान् भक्तोंके उपर प्रसन्न होता है। तैसे ही सर्वगत परमात्मा भी हृदयमें उपास्यमान हुवा उपासकके उपर प्रसन्न होता है। अतः 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' इत्यादिक श्रुतिमें "अणीयस्त्वादि गुणों करके हृदयमें परमेश्वर निचाय्य है अर्थात् उपास्य है" और निचाय्य होनेसे ही 'अर्भकौकः है' इत्यादि कहा जाता है। वस्तुतः नहीं।

शंका। जैसे भिन्न भिन्न स्थानवाले होनेसे शुकादिक पक्षियोंमें अनेकत्व, सावयवत्व, अनित्यत्वादिक दोष देखनेमें आते हैं। तैसे ब्रह्मका हृदयरूप जो आयतन (स्थान) कहा है सो प्रति शरीरमें भिन्न भिन्न है। जब भिन्न भिन्न आयतनवाला ब्रह्म हुवा तब ब्रह्ममें भी अनेकत्व, सावयवत्व, अनित्यत्वादिक दोषोंकी प्राप्ति होगी।

समाधान। यह शंका भी पूर्वोक्त आकाशके दृष्टान्त करके ही परिहृत जाननी। अर्थात् जैसे एक आकाशके घटकरकादिरूप अनेक आयतनके हुये भी सत्य भेदका अभाव होनेसे अनेकत्वादिकोंका प्रसङ्गरूप दोष नहीं होता है। तैसे परमात्मामें भी जानना। और जो वादीने शुकादिकोंका दृष्टान्त दिया है सो विषम है। क्योंकि शुकादिक सावयव व अनित्य हैं; ब्रह्म निरवयव व नित्य है इति ॥ ७ ॥

यदि ब्रह्मको हार्द मानोगे तो ब्रह्ममें अनिष्ट सुखदुःखादिक भोगकी प्राप्तिरूप दोष होवेगा। अतः "हार्द जीव ही उपास्य है ब्रह्म नहीं" इस प्रकारकी शंकाको दिखाते हुये समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं:—

संभोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ—१ संभोगप्राप्तिः, २ इति, ३ चेत्, ४ न, ५ वैशेष्यात्। इस सूत्रमें पांच पद हैं। 'ब्रह्मका हृदयस्थान माननेसे जीवकी तरह सुखीदुःखी ब्रह्म होगा'? यह आपत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि ब्रह्ममें—धर्माधर्मशून्यत्व शुद्धत्वादिक विशेष है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको शंका समाधान पूर्वक विस्तारसे दिखाते हैं:—

शंका। आकाशकी तरह ब्रह्मको सर्व प्राणियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे, तथा चैतन्यरूप करके जीवके तुल्य होनेसे, ब्रह्ममें जीवकी तरह अनिष्ट सुख-दुःखादिक भोगोंकी प्राप्ति होगी। अर्थात्—'ब्रह्म, भोक्तृ, हार्दत्वे सति चेतनत्वात्, जीववत्'। जैसे जीवरूप दृष्टान्तमें 'हार्दत्वे सति चेतनत्व' रूप हेतु है। और भोकृत्वरूप साध्य है। तैसे ब्रह्मरूप पक्षमें भी हार्दत्वे सति चेतनत्वरूप हेतु है। अतः भोक्तृत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके ब्रह्ममें भोक्तृत्वकी सिद्धि हुई। यदि सिद्धान्ती कहे कि भोगके कारण जो धर्मा-

धर्मादिक हैं, तिन धर्मादिकों करके सम्बद्ध जीवमें ही दुःखादिक हो सकते हैं ब्रह्ममें नहीं। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिक श्रुतियोंमें परमात्मासे भिन्न संसारी जीवात्माके अभावको कहा है। अतः जीव व ब्रह्मको एक ही होनेसे परब्रह्ममें भी दुःखादिक होना चाहिये इति।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—'न वैशेष्यात्'। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयके साथ सम्बन्ध होनेसे ब्रह्ममें अनिष्ट दुःखादिक भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि शारीर तथा परमात्मामें विशेष है। अर्थात् विलक्षणता है। एक तो कर्ताभोक्ता धर्माधर्मवान् व सुखदुःखादिमान् है। और एक अपहतपाप्मत्वादिक गुणवाला इससे विपरीत है। अर्थात्—अकर्ता अभोक्ता तथा धर्माधर्म सुखदुःखादिकोंके अभाववाला है। अत इस विशेषतासे एक जीवको भोग होता है। और दूसरे परमात्माको भोग नहीं होता है। और यदि वादी वस्तुकी शक्तिको नहीं आश्रयण करके केवल सन्निधि मात्रसे कार्यके सम्बन्धको अङ्गीकार करेगा तो; अग्निके सन्निहित आकाशादिकोंमें भी दाहादिक कार्य होना चाहिये परन्तु होता तो नहीं।

किञ्च जैसे हमारेको वादीने दोष दिया कि—एक हृदयमें जीव तथा ब्रह्म रहता है, अतः जीवका भोग ब्रह्ममें होना चाहिये। तैसे जिन वादियोंके मतमें विभु तथा अनेक आत्मा हैं, तिनके मतमें भी एक देहमें अनेक आत्मावोंको विद्यमान होनेसे सर्व आत्मावोंमें सुखदुःखादिकोंका प्रसङ्गरूप दोष होवेगा। यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि—जिस आत्मा करके अर्जित जो कर्म है, तिस कर्मका भोग तिस आत्मामें ही होता है। अन्यमें नहीं। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं होता। तो हमारे सिद्धान्तमें भी जीव करके अर्जित कर्मका भोग जीवमें ही होगा ब्रह्ममें नहीं होगा। अतः हमारे मतमें भी दोष नहीं अर्थात् शंका तथा परिहार दोनोंके मतमें तुल्य हैं। और वादीने जो प्रथम 'ब्रह्म, भोक्तृ, हार्दत्वे सति चेतनत्वात्, जीववत्'। इस अनुमान करके ब्रह्ममें भोक्तृत्व सिद्ध किया था सो भी असङ्गत है। क्योंकि यह अनुमान सोपाधिक होनेसे दुष्ट है। और जो अनुमान दुष्ट होता है तिस अनुमान करके साध्यकी सिद्धि नहीं होती। अब उपाधिको दिखाते हैं:—साध्यका व्यापक तथा साधनका अव्यापक जो धर्म है तिसका नाम उपाधि है। इस अनुमानमें 'धर्माधर्मवत्त्व' उपाधि है, दृष्टान्तरूप जीवमें भोक्तृत्व साध्य है और धर्माधर्मवत्त्व उपाधि है, अतः साध्यका व्यापक है। और ब्रह्मरूप पक्षमें हार्दत्वे सति चेतनत्वरूप हेतु है, परन्तु धर्माधर्मवत्त्व उपाधि नहीं है, अतः साधनका अव्यापक है इति।

और जो वादीने कहा था कि-ब्रह्मको एक होनेसे ब्रह्मसे भिन्न दूसरा आत्माका अभाव है, अतः शारीरके भोगसे ब्रह्ममें भोगका प्रसङ्ग होगा? 'अत्र वदामः—इदं तावद्देवानां प्रियः प्रष्टव्यः' इति भाष्यम्। अर्थात् यहां हम कहते हैं कि—

देवतावोंका प्रिय जो पशुरूप वादी है सो पूछनेको योग्य है—तुमने ब्रह्मसे भिन्न दूसरे आत्माका अभावको किस प्रकार निश्चय किया है ? यदि पूर्वपक्षी कहे कि—मैंने 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिक शास्त्रसे निश्चय किया है। तो सिद्धान्ती कहता है कि—शास्त्रको उलंघन नहीं करके ही शास्त्रका अर्थ जाननेको योग्य है। अर्धजरतीन्याय* करके नहीं। 'अर्धं मुखमात्रं जरत्या वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति' जैसे जिस वृद्धा स्त्रीके मुखसे भिन्न दूसरे अङ्ग जरजरीभूत हो गये हों; परन्तु मुख मात्र युवावस्थाके मुखके समान सुन्दर हो; तिस वृद्धा स्त्रीके मुख मात्रकी कामी पुरुष कामना करता है; इतर अङ्गोंकी नहीं। इसका नाम 'अर्धजरतीयन्याय' है। तैसे शास्त्रके एक वचनको स्वीकार करके, अपनी इच्छाके अनुसार शास्त्रके अर्थको सिद्ध करना,और दूसरे वचनके अनुसार सिद्ध अर्थको नहीं मानना, इस अर्धजरतीयन्यायके अनुसार अर्थको नहीं मान सकते हैं।

और 'तत्त्वमसि' 'अपहतपाप्मा' इत्यादिक शास्त्र जब अपहतपाप्मत्वादि विशेषणवाले ब्रह्मको शारीरका आत्मारूप करके उपदेश करता हुवा शारीरमें ही उपभोक्तृत्वको वारण करता है। तब किस हेतुसे शारीरके उपभोगसे ब्रह्म उपभोग-वाला होगा ? किन्तु नहीं होगा। और यदि शारीरका ब्रह्मके साथ एकत्व अनिश्चित है। तो मिथ्या ज्ञान निमित्त ही शारीरमें उपभोग कहना होगा। तथाच जैसे बालकों करके तलमलिनतादिक धर्मविशिष्टत्वेन विकल्प्यमान जो आकाश है सो परमार्थसे तलमलिनतादिक धर्मविशिष्ट नहीं हो सकता। तैसे ही तिस मिथ्या उपभोगके साथ भी परमार्थस्वरूप ब्रह्मका संस्पर्श नहीं हो सकता है। इस अर्थको सूत्रकार कहते हैं:— **'न वैशेष्यात्'** शारीर तथा ब्रह्मको एक हुये भी शारीरके उपभोग करके ब्रह्ममें उपभोगका प्रसङ्ग नहीं हो सकता है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान तथा सम्यक् ज्ञानमें विलक्षणता है। अर्थात् आत्मामें मिथ्या ज्ञान करके कल्पित भोग है। और सम्यक् ज्ञान करके दृष्ट एकत्व है।

किञ्च मिथ्याज्ञान करके कल्पित जो उपभोग है, तिस उपभोगसे सम्यक् ज्ञान करके दृष्ट वस्तु संस्पर्शवाली नहीं हो सकती है। अतः उपभोगका गन्धमात्र भी ईश्वरमें कल्पना करनेको अशक्य है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सत्यसंकल्पत्व मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट परमात्मा ही उपास्य है जीव नहीं यह सिद्ध हुवा इति ॥ ८ ॥

इति सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् समाप्तम्।

---

*टि० १—'नहि कुक्कुट्यादेः शरीरमर्धं पच्यतेऽर्धं प्रसवाय कल्पते'। अर्थात् कुक्कुटीका अर्ध शरीर पकाया जावे और अर्ध शरीर प्रसवके लिये समर्थ होवे ऐसा नहीं हो सकता। अथवा युवती अर्ध शरीर करके जरती (वृद्धा) होवे और अर्ध करके युवती होवे ऐसा नही हो सकता।

पूर्वपक्षी कहता है कि–पूर्वोक्त रीतिसे जब परमात्मामें भोक्तृत्वका अभाव हुवा तब अत्तृत्व (अदनकर्तृत्व) भी ब्रह्ममें नहीं बन सकता है। अतः 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च' इत्यादि श्रुतिमें अत्ता शब्द करके जीवका ही ग्रहण करना चाहिये ? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ६ ॥

अर्थ—१ अत्ता, २ चराचरग्रहणात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। अत्ता इस शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना जीवका नहीं, क्योंकि श्रुतिमें चराचरका ग्रहण किया है। अर्थात् स्थावरजङ्गमरूप चराचरका भक्षणकर्तृत्व परमेश्वरमें ही बन सकता है जीवमें नहीं इति।

अब भाष्यकार इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हुये तात्पर्यको दिखाते हैं:–कठवल्लीमें लिखा है–'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः'। यह वाक्य इस सूत्रका विषय है। अर्थ—जिस तमःप्रधान मायोपाधिक परमेश्वरका ब्राह्मण तथा क्षत्र करके उपलक्षित चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् 'ओदनः' कहिये भक्षण करनेके योग्य भात है। और जिसका सर्वको संहार करनेवाला मृत्युरूप 'उपसेचन' कहिये घृत दाल व शाक है। सो ईश्वर जिस शुद्ध स्वरूपमें स्थित है तिस शुद्ध स्वरूप आत्माको 'इत्था' कहिये जिस प्रकार मैं धर्मराज जानता हूं तिस प्रकार मेरेसे भिन्न दूसरा कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता है इति।

इस वचन करके धर्मराजने नचिकेताके प्रति आत्मज्ञानमें दुर्लभत्वको बोधन किया है। दूसरेको ज्ञान नहीं होता ऐसा नहीं। अथवा 'इत्था' कहिये ईश्वरका अधिष्ठानरूप शुद्ध ब्रह्मको कौन जान सकता है। अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि आदिकरूप उपायसे विना कोई भी नहीं जान सकता है। अर्थात् जो ब्रह्मको जानता है सो मेरा स्वरूप ही है मुझसे भिन्न कोई भी द्रष्टा है नहीं।

शंका। श्रुतिमें अत्ता पदका श्रवण न होनेसे यह सूत्र श्रुतिके अनुसार नहीं हो सकता है।

समाधान। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' इस श्रुतिमें ओदनके उपसेचन करके सूचित कोई अत्ता प्रतीत होता है। अतः यह सूत्र श्रुतिके अनुसार ही है। परन्तु यहां अत्ताके बोधक 'यस्य' शब्द करके विशेषका अनवधारण होनेसे संशय होता है कि–क्या अग्नि अत्ता है ? अथवा जीव अत्ता है ? अथवा परमात्मा अत्ता है ? क्योंकि इस ग्रन्थमें तीनोंके ही प्रश्नोंका उपन्यास देखनेमें आता है।

तहां 'स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि' इत्यादि। अर्थात्—हे सर्वलोकप्रसिद्ध मृत्यो ! आप स्वर्गकी प्राप्तिका साधनरूप जिस अग्निको जानते हैं तिस अग्निको हमारे प्रति उपदेश करें। यह नचिकेताका अग्निविषयक प्रश्न है। और इस प्रश्नका यमराजकृत उत्तरकी बोधक यह श्रुति है—'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै। या इष्टका यावतीर्वा यथा वा' इत्यादिक। अर्थ—पृथिवी आदि लोकोंका 'आदि' कहिये प्रथम शरीरी विराट्स्वरूप जो अग्नि है तिसको

नचिकेताके प्रति यमराज कहते भये। किञ्च जिन ईंटों करके कुण्ड बनाया जाता है, तिन ईंटोंके स्वरूपको व परिमाणको तथा ईंटोंकी संख्याको तथा जिस प्रकार अग्निका अनुष्ठान होता है तिस सर्व प्रकारको कहते भये इति।

और **'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'** इत्यादि। अर्थ—'मनुष्ये' कहिये प्राणियोंके 'प्रेते' कहिये मृत हुये जो यह 'विचिकित्सा' कहिये संशय होता है कि-कोई आस्तिक पुरुष कहता है-देहादिक संघातसे भिन्न यह आत्मा इस शरीरको त्यागकर देहान्तरको प्राप्त होता है। और कोई नास्तिक पुरुष कहता है कि-यह आत्मा देहादिक संघातसे व्यतिरिक्त है नहीं। अतः आप ब्रह्मनिष्ठ गुरु करके प्रतिबोधित हुवा जो मैं शिष्य हूं सो मैं जिस प्रकारसे आत्मतत्त्वको जान सकुं तिस प्रकारसे उपदेश करें इति।

यह नचिकेताका जीवविषयक प्रश्न है।

और **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥** अर्थ—यागादिरूप धर्मसे जो वस्तु 'अन्यत्र' कहिये भिन्न है, और हिंसादिरूप अधर्मसे जो वस्तु भिन्न है, और 'अस्मात् कृताकृतात्' कहिये विद्वद्बुद्धिका विषय जो कार्यकारण तिससे जो वस्तु भिन्न है, और भूत, वर्तमान, भविष्यत् कालोंसे तथा तिन कालोंमें रहनेवाले पदार्थोंसे जो वस्तु भिन्नहै यदि ऐसे वस्तुको आप जानते हैं तो तिस सर्व विलक्षण तत्त्व वस्तुको मेरे प्रति कथन करें इति।

यह नचिकेताका ब्रह्मविषयक प्रश्न है।

अब जीवविषयक तथा ब्रह्मविषयक प्रश्नोंके उत्तरको धर्मराज कहते हैं:—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ इत्यादि। अर्थ हे नचिकेतः! अभी तुम्हारे प्रति गोपनीय सनातन तत्त्व ब्रह्मको कहता हूं। तथा जिस प्रकार देही आत्मा मरणको प्राप्त होकर देहान्तरको प्राप्त होता है, तिसको भी तू श्रवण कर। अर्थात् इस जन्ममें यह प्राणी जैसे विहित तथा निषिद्ध कर्मोंको करता है। तथा जैसी विहित तथा निषिद्ध ज्ञानरूप उपासनाको सम्पादन करता है। तिन कर्मों तथा उपासनावोंके अनुसार स्थावर वा जङ्गम योनियोंको प्राप्त होता है। और इन्द्रियादिकोंके उपराम हुये स्वप्न अवस्थामें अनेक स्त्रीपुत्रादिक प्रपञ्चको रचता हुवा जो यह स्वप्रकाश चिद्रूप पुरुष जाग्रत्को प्राप्त होता है सोई अर्थात् स्वप्नादिका द्रष्टारूप करके वर्णित यह पुरुष ही सर्वोपाधि करके रहित शुद्ध व्यापक ब्रह्मरूप है। तथा पूर्वोक्त ब्रह्म ही मोक्षरूप है। इस प्रकार श्रुति कहती है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे धर्मराजने नचिकेताके प्रति जीवविषयक तथा ब्रह्मविषयक प्रश्नोंका उत्तर कहा। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रश्न तथा प्रतिवचन करके 'अत्ता अग्नि है, अथवा जीव है वा ब्रह्म है' इस प्रकार यहां **संशय** है।

'यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ **पूर्वपक्षः।** अग्नि अत्ता है। क्योंकि 'अग्निरन्नादः' इस बृहदारण्यक श्रुति करके, तथा लोकप्रसिद्धि करके, अन्नको भक्षण करनेवाला अग्नि ही अत्ता है। और "अग्निप्रकरणको अतीत होनेसे अग्नि अत्ता नहीं हो सकता है" ऐसी यदि अरुचि होवे तो जीव अत्ता है। क्योंकि **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'** इस मन्त्रमें जीवको

भी कर्मफलका अत्ता कहा है। परन्तु परमात्मा अत्ता नहीं हो सकता है। क्योंकि '**अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**'। यह मन्त्र परमात्मामें अत्तृत्वको निषेध करता है।

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। प्रसङ्गमें अत्ता शब्द करके परमात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है। क्योंकि '**चराचरग्रहणात्**'। मृत्यु है उपसेचन जिसका ऐसा जो जङ्गमस्थावररूप प्रपञ्च है तिस प्रपञ्चकी भक्ष्यरूप करके प्रतीति होती है। और समग्ररूप करके प्रपञ्चका अत्ता परमात्मासे भिन्न दूसरा कोई नहीं बन सकता है। और परमात्मा तो सम्पूर्ण विकारोंको उपसंहार करता हुवा 'सर्वको भक्षण करता है' ऐसे व्यवहारका विषय बन सकता है।

शंका। श्रुतिमें चराचरका ग्रहण नहीं देखनेमें आता है, फिर सूत्रकारने किस प्रकार चराचरग्रहणको हेतुरूप करके कथन किया है।

समाधान। यहां श्रुतिमें ब्राह्मण तथा क्षत्रियमें वृत्ति जो ओदन शब्द है तिस ओदन शब्द करके, और मृत्युरूप उपसेचनके सन्निधानसे ओदनगत विनाश्यत्वरूप गुणका आश्रयण करके ब्रह्म तथा क्षत्र शब्दोपलक्षित यावत् जगत्का ग्रहण करना। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:--'**नैष दोषः**' इत्यादि। अर्थात् वादी करके उक्त जो दोष है सो नहीं बन सकता है। क्योंकि मृत्युरूप उपसेचन करके प्राणिसमूहकी ओदन रूपसे प्रतीति होती है। और श्रुति जो ब्रह्म तथा क्षत्रको ही कथन करती है सो ब्रह्मक्षत्रको प्रधान होनेसे प्रदर्शन मात्र है। अतः सूत्रमें जो चराचरका ग्रहण है सो समीचीन ही है। और जो वादीने कहा था कि–परमात्मामें अत्तृत्व नहीं बन सकता। क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' 'परमात्मा भोगोंको नहीं भोगता हुवा केवल प्रकाश ही करता है' यहां 'अनश्नन्' इस श्रुतिसे ईशमें भोक्तृत्वका निषेध प्रतीत होता है इति? यह भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि कर्मफलभोगका सन्निधान होनेसे यह वचन ईश्वरमें कर्मफलके भोगको निषेध करता है। सम्पूर्ण जगत्रूप विकारके संहारका निषेध नहीं करता है। क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्तमें जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहारका कारणत्व ब्रह्ममें ही प्रसिद्ध है। अतः यहां परमात्मा ही अत्ता होनेको योग्य है, यह सिद्ध हुवा। यहां पूर्वपक्षमें जीवकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान फल है इति ॥ ९ ॥

यहां परमात्मा ही अत्ता है इस अर्थमें प्रमाणान्तरको दिखाते हैं:--

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

अर्थ—१ प्रकरणात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। यहां परमात्मा ही अत्ता होनेको योग्य है, क्योंकि परमात्माका ही यह प्रकरण है इति।

अर्थात् 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादि। 'विपश्चित्' कहिये जो

नित्य चैतन्यरूप आत्मा है सो उत्पन्न नहीं होता है तथा मरता भी नहीं हैं। यहां इन आदि तथा अन्तके विकारोंका निषेध होनेसे, मध्यके विकारोंका निषेध भी जान लेना। तथाच यहां इस प्रकरण करके प्रकृत जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही ब्रह्मक्षत्रअत्तृत्वेन ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि अग्निमें तथा जीवमें चराचरका संहर्तृत्व नहीं बन सकता है। और 'क इत्था वेद यत्र सः' यह वचन भी परमात्मामें ही दुर्विज्ञानत्वरूप लिङ्गको बोधन करता है जीवमें नहीं, क्योंकि जीव तो लोकप्रसिद्ध है। अतः जीवमें दुर्विज्ञानत्व नहीं बन सकता है इति ॥ १० ॥

इति अत्त्रधिकरणम्।

अब 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः' यह जो अत्तृवाक्य है तिस वाक्यसे अनन्तर जो 'ऋतं पिबन्तौ' यह वाक्य है तिस वाक्यका भी ज्ञेय आत्मामें ही समन्वयको दिखाते हैं:—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

अर्थ—१ गुहां, २ प्रविष्टौ, ३ आत्मानौ, ४ हि, ५ तद्दर्शनात्। इस सूत्रमें पांच पद हैं। परम श्रेष्ठ हृदयाकाशरूप स्थानमें जो बुद्धिरूपी गुहा है, तिस गुहामें प्रवेश करके जीव तथा परमात्मा ही दोनों स्थित हैं। क्योंकि श्रुतिमें चैतन्यरूप करके समान स्वभाववाले जीव तथा परमात्माका ही कथन किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हुये तात्पर्यको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं—**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥** यह वाक्य इस अधिकरणसूत्रका विषय है। अर्थ—'सुकृतस्य' कहिये स्वयं इस जीव करके सम्यक् किया हुवा जो विहित तथा निषिद्ध कर्म है, तिस कर्मका 'ऋतं' कहिये अवश्य भोक्तव्य जो सुख-दुःखादिक फल है, तिस फलको 'पिबन्तौ' कहिये भोगनेवाले जो जीव तथा परमात्मा हैं, सो 'लोके' कहिये इस देहमें वर्तमान हैं। और जैसे 'दशभिः सह पुत्रैश्च भारं वहति गर्दभी' यहां पुत्रोंका भार वहनमें अन्वय नहीं होता है। तैसेही 'ऋतं पिबन्तौ' यहां भी कर्मफलका भोक्ता जो यह जीव है इसके साथ वर्तमान परमात्माका भी पानकर्तृत्वमें अन्वय नहीं होता है ऐसा जानना। पुनः जीव तथा परमात्मा कैसे हैं कि–बाह्याकाशकी अपेक्षासे उत्कृष्ट जो हृदयाकाश है, तिस हृदयाकाशरूप स्थानमें जो बुद्धिरूपी गुहा है तिसमें स्थित हैं। और जिनको "छाया तथा आतपवत् परस्पर भोक्तृत्व तथा अभोक्तृत्वरूप विरुद्ध धर्मोंकरके विलक्षण हैं" इस प्रकार ब्रह्मवित्पुरुष कहते हैं। तथा कर्मी पुरुष भी कहते हैं। तथा जिन्होंने तीन वार नाचिकेत नामक अग्निको सम्पादन किया है सो भी इस प्रकार कहते हैं इति।

इस श्रुतिमें 'बुद्धि तथा जीवका ग्रहण करना' अथवा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण करना' ऐसा संशय होता है। तहां बुद्धि तथा जीवका ग्रहण करोगे तो बुद्धि है प्रधान जिसमें ऐसा जो कार्यकारणका संघात है, तिससे विलक्षण जीव प्रतिपादनका विषय होगा। यहां जीवमें बुद्धिआदिकसे वैलक्षण्य प्रतिपादन करनेको

योग्य भी है। क्योंकि नचिकेताने भी जीवके स्वरूपको धर्मराजसे पूछा है–'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥' इति। इस मन्त्रका अर्थ समीपमें ही कह आये हैं। और यदि जीव तथा परमात्माका ग्रहण करोगे तो जीवसे विलक्षण परमात्मा प्रतिपादनका विषय होगा। यहां परमात्माका स्वरूप भी प्रतिपादन करनेको योग्य है। क्योंकि नचिकेताने भी धर्मराजसे पूछा है–अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ इति। इस मन्त्रका भी अर्थ समीपमें ही कह आये हैं।

शंका। बुद्धि तथा परमात्मामें भोक्तृत्वका अभाव होनेसे पूर्वोक्त दोनों पक्ष नहीं बन सकते। अतः संशय भी नहीं बन सकता है। अत एव—'अत्राह आक्षेप्ता उभावप्येतौ पक्षौ न सम्भवतः' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् यहां आक्षेप करनेवाला कहता है कि—'बुद्धि तथा जीवका ग्रहण करना' अथवा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण करना' यह जो पूर्व दो पक्ष कहे है सो दोनों पक्ष नहीं बन सकते हैं। क्योंकि प्रथम पक्षमें तो चेतन क्षेत्रज्ञमें ही भोक्तृत्व बन सकता है, अचेतन बुद्धिमें नहीं। और 'ऋतं पिबन्तौ' यह श्रुति द्विवचन करके दोनोंमें कर्मफलभोगको दिखाती है। 'सुकृतस्य लोके' (अदृष्टजन्य देहमें) इस लिङ्गसे 'ऋतपान' कर्मफलभोगका नाम है। अतः दूसरा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण' पक्ष भी नहीं बन सकता है क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' यह मन्त्र चेतनरूप परमात्मामें भी कर्मफलभोगको निषेध करता है इति।

समाधान। 'नैष दोषः' इत्यादि भाष्यम्। यहां संशयका अभावरूप दोष नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रथम बुद्धि तथा जीवका ग्रहण पक्ष बन सकता है। जैसे 'एधांसि पचन्ति' यह प्रयोग देखनेमें आता है। यहां यद्यपि पाकके प्रति काष्ठोंमें करणत्व है कर्तृत्व नहीं, तथापि कर्तृत्वका उपचार होता है। तैसे 'ऋतं पिबन्तौ' यहां यद्यपि बुद्धिमें पानका करणत्व है, कर्तृत्व नहीं, तथापि कर्तृत्वका उपचार होनेसे बुद्धि तथा जीवमें यह प्रयोग बन सकता है। और दूसरा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण' पक्ष भी बन सकता है। क्योंकि जैसे 'छत्रिणो गच्छन्ति' यहां अजहत् लक्षणासे एक छत्री करके छत्ररहित अनेकमें छत्रित्वका उपचार देखनेमें आता है। तैसे कर्मफलको पान करनेवाले एक जीव करके 'द्वौ पिबन्तौ' यह प्रयोग भी बन सकता है। अर्थात् ईश्वरमें भी पानकर्तृत्वका उपचार बन सकता है। अथवा यहां जीव तथा परमात्मामें मुख्य स्वातन्त्र्यरूप कर्तृत्व भी बन सकता है। इस अर्थको भाष्यकर दिखाते हैं:—'जीवस्तावत् पिबति, ईश्वरस्तु पाययति पाययन्नपि

पिबतीत्युच्यते' इत्यादि। जैसे पाचकसे भिन्न पाचयितामें पक्तृत्व देखनेमें आता है। तैसे जीव कर्मफलको पान करता है, तथा ईश्वर पान कराता है। और पान कराते हुये ईश्वरमें भी 'पान करता है' ऐसा व्यवहार बन सकता है। क्योंकि जैसे जीवमें पानानुकूल नियत पूर्वभाविकृतिमत्त्वरूप मुख्य कर्तृत्व है। तैसे पानकारयिता परमात्मामें भी पानानुकूल नियत पूर्वभाविकृतिमत्त्वरूप मुख्य कर्तृत्व है। और **'यः कारयति स करोत्येव'** 'जो करानेवाला है सो कर्ता है' यह न्याय भी लोकमें प्रसिद्ध है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे अध्यात्म प्रसङ्गमें अन्य कोई दो ऋतपान करनेवाले नहीं बन सकते हैं। किन्तु 'बुद्धि तथा जीव' और 'जीव तथा परमात्मा' इन दोनों पक्षोंमेंसे ही कोई एकपक्ष बन सकता है। अतः यहां इन दोनों पक्षोंमें कौन पक्ष ग्रहण करनेको योग्य है यह **संशय** है इति।

'यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये--

अथ **पूर्वपक्षः**। 'पिबन्तौ' इस पद करके बुद्धि तथा जीवात्माका ही ग्रहण करना, क्योंकि श्रुतिमें 'गुहां प्रविष्टौ' यह विशेषण कहा है। यदि शरीररूप गुहाको ग्रहण करें, अथवा हृदयरूप गुहाको ग्रहण करें, उभय प्रकारसे भी 'बुद्धि तथा जीव गुहामें प्रविष्ट हैं' ऐसा व्यवहार उपपन्न हो सकता है। और जीव तथा परमात्मा गुहामें प्रविष्ट नहीं बन सकते हैं। क्योंकि अन्यथाउपपत्तिके सम्भव हुये सर्वगत परमात्माकी हृदयादिरूप विशेषदेशमें स्थितिकी कल्पना नहीं बन सकती। और 'सुकृतस्य लोके' यह वचन कर्मफलमें वर्तमानत्वरूप कर्मफल गोचरता को बोधन करता है। और परमात्मा तो कर्मफल का गोचर हो सकता नहीं। तहां श्रुतिः—**'नो कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'** इत्यादिक। अर्थ स्पष्ट है। और 'छायातपौ' यह वचन भी छाया तथा आतपकी तरह विलक्षण होनेसे चेतन जीव तथा अचेतन बुद्धिके निर्देशमें ही उपपन्न हो सकता है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे बुद्धि तथा जीवको ही 'ऋतं पिबन्तौ' इस श्रुतिमें ग्रहण करना चाहिये इति।

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ' इस प्रसङ्गमें जीव तथा परमात्माका ही ग्रहण करना, क्योंकि यह दोनों समान स्वभाववाले चेतनस्वरूप हैं। और संख्याके श्रवण हुये लोकमें समान स्वभाववालोंकी ही प्रतीति देखनेमें आती है। जैसे **'अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्यः'**। अर्थ—इस गौका सम्बन्धी दूसरा ढूंढनेको योग्य है इति। यहां गौका सजातीय दूसरा गौ ही ढूंढनेको योग्य है। विजातीय अश्व, पुरुषादिक ढूंढनेको योग्य नहीं। क्योंकि एक गोत्व जातिवालेके सिद्ध हुये सजातीय दूसरे गौके ग्रहणमें व्यक्ति मात्रका ग्रहण होनेसे लाघव है। और विजातीयके ग्रहणमें जाति तथा व्यक्तिकी कल्पना होनेसे गौरव है। तैसे कर्मफलके पानरूप लिङ्ग करके जीवके निश्चित हुये 'इस जीवका सम्बन्धी दूसरा अन्वेषण करनेको योग्य है' ऐसा कहनेसे जीवके समान स्वभाववाले चेतनरूप परमात्माकी ही प्रतीति होती है। अतः यहां जीव तथा परमात्माका ही ग्रहण करना।

शंका। गुहाहितत्वके दर्शन होनेसे सर्वगत परमात्माकी प्रतीति नहीं हो सकती है ऐसा हम कह आये हैं।

समाधान। गुहाहितत्वके दर्शनसे ही परमात्माका निश्चय होता है। क्योंकि परमात्मामें ही अनेकवार गुहाहितत्वको श्रुति स्मृति प्रतिपादन करती हैं। तहां श्रुतिः—

'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं' (कठ०)। अर्थ—'गुहाहितं' कहिये बुद्धिरूपी गुहामें जो स्थित है, 'गह्वरेष्ठं' कहिये अनेक अनर्थों करके विशिष्टजो देह है तिस देहमें जो स्थित है, 'पुराणं' कहिये जो अनादि पुरुषरूप है, ऐसे आत्माको जानकर अधिकारी पुरुष हर्ष ,शोकको त्याग करता है इति।

और **'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'** (तै०)। अर्थ—परम श्रेष्ठ हार्दाकाशमें स्थित जो बुद्धिरूपी गुहा है, तिस बुद्धिरूपी गुहामें परब्रह्मको जो पुरुष साक्षात्कार करता है, सो पुरुष सम्पूर्ण कामोंको प्राप्त होता है इति।

'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्'। अर्थ—बुद्धिरूपी गुहामें प्रविष्ट आत्माका विचार कर इति। इत्यादिक वाक्योंमें "सर्वगत परमात्माके साक्षात्कारके लिये हृदयादिरूप देशविशेषका जो उपदेश किया है सो अविरुद्ध है" ऐसा हम कह ही आये हैं। अतः परमात्मामें गुहाहितत्व बन सकता है इति।

और 'छत्रित्वकी तरह, एक जीवमें वर्तमान जो सुकृतलोकवर्तित्व तथा कर्मफलभोक्तृत्व है; सो भी जीव तथा परमात्मा उभयमें *अविरुद्ध है। और 'छायातपौ' यह वचन भी अविरुद्ध है, क्योंकि छाया तथा आतपकी तरह संसारित्व तथा असंसारित्व परस्पर विलक्षण हैं। अर्थात् अविद्याकृत संसारित्व है। और परमार्थसे असंसारित्व है। अतः गुहामें प्रविष्ट 'जीवात्मा तथा परमात्माका ग्रहण करना' यह सिद्ध हुवा इति। यहां नचिकेताके प्रति धर्मराजने 'तत्' और 'त्वं' पदार्थका उपदेश किया ऐसा जानना। यहां पूर्वपक्षमें बुद्धिसे विलक्षण जीवका प्रतिपादन फल है, और सिद्धान्तमें जीवसे विलक्षण परमात्माका प्रतिपादन फल है इति॥ ११॥

और किस हेतुसे 'ऋतं पिवन्तौ' इस श्रुतिमें जीवात्मा तथा परमात्माका ग्रहण करते हो? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

अर्थ—१ विशेषणात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। जीव तथा परमात्मामें गन्तृत्व

टि० * सुखदुःखात्मक कर्मफलविषयक अपरोक्षवृत्तिप्रकाशकत्वरूप भोक्तृत्व जैसे प्रतिविम्बरूप जीवमें है, तैसे विम्बस्वरूप ईश्वरमें भी प्रतिबिम्बद्वारा अविरुद्ध है।

तथा गन्तव्यत्वरूप विशेषण (लिङ्ग) को विद्यमान होनेसे भी यहां जीव तथा परमात्मा ही ग्राह्य हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—जैसे किसी ग्रामको प्राप्त होनेवाले रथीपुरुषकी गतिके साधन रथादिक हैं। तैसे संसारको अथवा मोक्षको प्राप्त होनेवाला जो कर्मफलका भोक्ता जीव है तिस जीवकी गतिके साधन शरीरादिक हैं। इस प्रकार रथरूपककल्पना करके श्रुति कहती है। तहां श्रुतिः—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ अर्थ—धर्मराज नचिकेताके प्रति कहते हैं कि—हे नचिकेतः! 'आत्मानं' कहिये त्वं पदके अर्थ जीवको, 'रथिनं' कहिये रथ करके संसार अथवा मोक्षको प्राप्त होनेवाला रथका स्वामी जानो, और शरीरको 'रथमेव तु' कहिये रथकी तरह गतिका साधन जानो, और निश्चयरूप बुद्धिको शरीररूप रथका नियन्ता सारथी जानो, और संकल्प विकल्परूप मनको रशनारूप प्रग्रह जानो इति।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ अर्थ—और चक्षु आदिक जो बाह्य इन्द्रिय हैं तिनको 'शरीररूप रथके आकर्षण करनेवाले अश्वरूप हैं' ऐसा शास्त्रवित् पुरुष कहते हैं। और इन्द्रियरूप अश्वोंके विचरनेके मार्ग स्थानीय रूपादिक विषयोंको कहते हैं। और देह, इन्द्रिय, मन करके युक्त आत्माको विवेकी पुरुष भोक्ता कहते हैं इति।

इन देहादिक विशषणोंको कहनेसे "सोपाधिक आत्मामें ही भोक्तृत्व है, निरूपाधिक आत्मामें नहीं" यह सिद्ध हुवा। अतः पूर्वोक्त रीतिसे 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रसे अग्रिम 'आत्मानं' इत्यादिक मन्त्रोंसे रथिरथादिक रूपकको कल्पना करके "कर्मफलको पान करनेवाला और रथी संसार व मोक्षका गन्ता विज्ञानात्मा जीव है" इस अर्थको धर्मराज प्रतिपादन करते हैं। और—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

अर्थ—विवेकवती बुद्धिरूप सारथिवाला, तथा निगृहीत मनरूप रशनावाला जो पुरुष है सो पुरुष संसारमार्गके पारको प्राप्त होता है। सोई व्यापक विष्णुका स्वरूप परमपद व वैष्णवपद है इति। यह मन्त्र परमात्माको रथादि करके गन्तव्यरूपसे प्रतिपादन करता है।

और **'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥'**

अर्थ—हे नचिकेतः! तू जिस आत्माको जाननेकी इच्छा करता है-'तं देवं' कहिये तिस प्रकाशरूप आत्माको, आत्मामें चित्तका समाधानरूप अध्यात्मयोग अर्थात् निदिध्यासनके लाभसे, 'मत्वा' कहिये साक्षात्कार करके, 'धीरः' कहिये बुद्धिमान् पुरुष

हर्षशोकको त्याग करता है। और सो देव कैसा है कि-'दुर्दर्श' कहिये असंयत चित्तवाले पुरुषों करके देखनेको अशक्य है। 'गूढं' कहिये माया तत्कार्य करके आवृत्त है। 'अनुप्रविष्ट' कहिये प्रथम जगत्को उत्पन्न करके पश्चात् तिस जगत्में प्रविष्ट है। और 'गुहाहितं' बुद्धिमें उपलभ्यमान होनेसे बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है। 'गह्वरेष्टं' कहिये रागद्वेषादिक अनर्थों करके परिश्रमका जनक जो देहादिरूप कार्यकारणका संघात है तिसमें स्थित है। 'पुराणम्' कहिये सनातन है इति।

'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रसे पूर्व जो यह मन्त्र है सो भी जीव तथा परमात्मामें ही मन्तृत्वमन्तव्यभावको बोधन करता है। और परमात्माका ही यह प्रकरण भी है। और 'ब्रह्मविदो वदन्ति' यह जो वचन वक्ताविशेषको बोधन करता है; सो भी परमात्माके ग्रहण करनेसे ही समीचीन हो सकता है। और 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रमें "जीवका अनुवाद करके जीवसे भिन्न जो तत् पदका ज्ञेय अर्थ परमात्मा है, सो वाक्यार्थज्ञानके लिये प्रतिपादन करनेको योग्य है" इस अर्थको भाष्यकार भगवान् भी दिखातेहैं:—**'तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्'**। अर्थ—अतः पूर्वोक्त कारणकलापसे 'ऋतं पिबन्तौ' इस श्रुतिमें जीवका तथा परमात्माका ही कथन करना योग्य है इति।

और कठकी यही रीति, 'द्वा सुपर्णा' तथा 'समाने वृक्षे' इन मुण्डकके मन्त्रोंमें भी जाननी। तहां श्रुति-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**

अर्थ—द्वासे लेकर चारपद छान्दस हैं, क्योंकि द्वौ, सुपर्णौ, सयुजौ, सखायौ, ऐसे द्विवचनके रूप व्याकरणकी रीतिसे होते हैं। और जैसे वृक्षका उच्छेद हो जाता है तैसे शरीरका भी उच्छेद हो जाता है अतः 'समानं' कहिये वृक्षके तुल्य इस शरीररूप वृक्षमें, जीव तथा परमात्मारूप दो पक्षी हैं। पुनः यह दोनों कैसे हैं कि 'सयुजौ' कहिये सर्वदा संयुक्त हैं। तथा 'सखायौ' कहिये चेतनरूप करके समान स्वभाववाले हैं। इन दोनोंके मध्यमें ईश्वरसे भिन्न जो जीव है सो कर्मफलका भोक्ता है। और जीवसे विलक्षण जो परमात्मा है सो कर्मके फल सुखदुःखादिकोंको नहीं भोगता है केवल प्रकाश ही करता है इति।

शंका। यह मन्त्र तो 'द्वा सुपर्णा' दो पक्षियोंको वर्णन करता है, जीव और ईश्वरको नहीं। अतः कठका न्याय मुण्डकमें नहीं लगता है?

समाधान। **'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।'** इस ब्रह्मविद्याके अधिकारमें लौकिक पक्षियोंका वर्णन नहीं बन सकता है। अतः सुपर्ण शब्दका अर्थ-इस शरीररूप वृक्षमें अल्पकाल स्थायी पक्षियोंके सदृश जीव और ईश्वर ही है। और 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस स्वादु अदनरूप लिङ्गसे तिन दोनोंके मध्यमें एक जीव प्रतीत होता है। और एक 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इस अनशन व प्रकाशन लिङ्गसे परमात्मा प्रतीत होता है।

और अनन्तर पूर्वमुण्डकमें 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' इस श्रुतिवाक्यसे धीर शब्दवाच्य साधनसम्पन्न जीवोंको द्रष्टारूपसे और अविनाशी आनन्दरूप तत्

पदार्थ ईश्वरको अर्थात् शुद्ध ज्ञेयस्वरूपको द्रष्टव्यरूपसे प्रतिपादन किया है। और अनन्तर उत्तर मन्त्रमें भी द्रष्टृद्रष्टव्यभाव करके जीव और ईशका ही निर्देश किया है।

शंका। जीव और ईशमें द्रष्टृद्रष्टव्यभावका निर्देशक अनन्तर उत्तर मन्त्र कौन है?

समाधान। समाने वृत्ते पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ अर्थ—'समाने' कहिये वृक्षके तुल्य शरीररूपी वृक्षमें, कर्मफलका भोक्ता जो जीवरूप पुरुष है सो 'निमग्नः' कहिये 'देहरूप मैं हूँ' इस प्रकार देहके साथ तादात्म्य अभिमानमें डूबा हुवा, 'अनीशया शोचति' कहिये 'इष्टकी प्राप्तिमें तथा अनिष्टके परिहारमें मैं असमर्थ हूँ' इस प्रकार दीनभावरूप अनीशा करके सन्तप्त होता है। और 'मुह्यमानः' कहिये अविवेक करके नाना प्रकारकी चिन्ताको प्राप्त होता है। और जिस कालमें यह अधिकारी पुरुष योगियों करके सेवित, तथा सर्वका नियन्ता, तथा देहादिरूप उपाधि करके परिच्छिन्न जो जीव है तिससे विलक्षण; अर्थात् शोधित चिन्मात्ररूप परमात्माको प्रत्यग् आत्मारूप करके जानता है। तिस कालमें परमात्माकी स्वरूप भूत महिमाको प्राप्त होता है। अतः जन्ममरणादिरूप संसारशोक करके रहित होता है। अर्थात् कृतकृत्य होता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक मन्त्रोंको जीव तथा ईश्वरपरत्व वर्णन किया है।

अब कोई ऐसा कहता है कि–'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक जो मन्त्र हैं सो 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ' इस अधिकरणसूत्रके सिद्धान्तको नहीं कहते हैं। अर्थात् जीव तथा ईश्वरको नहीं कहते हैं। क्योंकि पैङ्गिरहस्यब्राह्मणमें बुद्धिसे विलक्षण त्वं पदका लक्ष्य कूटस्थपरत्व करके इन मन्त्रोंका व्याख्यान किया है।

तिस व्याख्यानको दिखाते हैं:—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति' इस मन्त्र करके स्वादु अदनका कर्तृभोक्तृ जो सत्त्व है तिसका ग्रहण करना। और 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इस मन्त्र करके कर्मफलको जो नहीं भोगता है। और जो सत्त्वसे भिन्न है, केवल देखनेवाला है, तिस क्षेत्रज्ञका ग्रहण करना इति।

यदि सत्त्व शब्द करके जीवका ग्रहण करें तथा क्षेत्रज्ञ शब्द करके परमात्माका ग्रहण करें तो 'गुहां प्रविष्टौ' इस अधिकरणके अनुकूल 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक मन्त्र हो सकते हैं। परन्तु ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्त्व शब्द अन्तःकरणमें तथा क्षेत्रज्ञ शब्द शारीर जीवमें प्रसिद्ध है। और पैङ्गिरहस्यब्राह्मणमें भी इसी प्रकार कहा है। तहां ब्राह्मण—

'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यत्यथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा सः क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ।' अर्थ—सो यह सत्त्व है कहिये अन्तःकरण है जिस अन्तःकरण करके स्वप्न देखता है, और जो यह जीव उपद्रष्टा कहिये देखनेवाला है सो क्षेत्रज्ञ है; अर्थात् दर्शनरूप क्रियाके प्रति अन्तःकरण तो करण है तथा क्षेत्रज्ञ कर्ता है इति।

शंका। यदि सत्त्व शब्द करके बुद्धिका ग्रहण करोगे तथा क्षेत्रज्ञ शब्द करके जीवका ग्रहण करोगे तो गुहाअधिकरणके पूर्वपक्षका अर्थ सिद्ध होगा।

समाधान। 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक जो वाक्य हैं सो 'गुहां प्रविष्टौ' इस अधिकरणके पूर्वपक्षके अर्थको भी नहीं कहते हैं। क्योंकि ये वाक्य बुद्धिसे भिन्न जो कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक धर्मों करके विशिष्ट जीव है, तिस जीवको प्रतिपादन नहीं करते हैं। किन्तु सर्व संसारधर्मों करके रहित चैतन्य ब्रह्मस्वरूप शोधित त्वं पदका लक्ष्यार्थ कूटस्थको प्रतिपादन करते हैं। और 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति' 'अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादिक श्रुति स्मृति करके भी पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त है। और 'द्वा सुपर्णा' इस ऋचाका उक्त व्याख्यान करके जीवमें ब्रह्मत्वको सिद्ध हुये ही 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत्' यह ब्रह्मविद्याके उपसंहारका दर्शन भी बन सकता है। और 'बुद्धिसे जीव भिन्न है' ऐसे विवेक मात्र करके विद्याका उपसंहार अयुक्त है। क्योंकि भेदज्ञान भ्रान्तिरूप है, तथा निष्फल है। अतः सत्त्व तथा क्षेत्रज्ञ शब्द करके बुद्धि तथा जीवका ग्रहण नहीं करना, किन्तु बुद्धि तथा कूटस्थको ग्रहण करना। तहां श्रुतिः—

'न ह वा एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते' इत्यादि। अर्थ— ब्रह्मरूप कूटस्थके साक्षात्कारवाले पुरुषमें अविद्यारूप जो रज है सो किञ्चित् मात्र भी सम्बन्धको नहीं कर सकता है, क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि करके स्वयं अविद्या नष्ट हो चुकी है इति।

शंका। जब 'द्वा सुपर्णा' यह वाक्य जीवमें ब्रह्मत्वको कहता है तब इस पक्षमें 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' यह वचन अचेतन बुद्धिमें कर्मफलका भोक्तृत्वको किस प्रकार कहेगा?

समाधान। 'अचेतन बुद्धिमें भोक्तृत्वको हम कहें' ऐसा विचार करके 'तयोरन्यः' यह श्रुति प्रवृत्त नहीं हुई है, किन्तु 'चेतनरूप क्षेत्रज्ञमें अभोक्तृत्व तथा ब्रह्मस्वभावताको हम कहें' ऐसा विचार करके यह श्रुति प्रवृत्त हुई है। अतः जीवमें ब्रह्मत्व बोधके लिये सुख:दुखादिरूप विक्रियावाली बुद्धिरूप उपाधिमें ही भोक्तृत्वको आरोप करती है।

शंका। यदि वास्तवसे जीवमें अभोक्तृत्व है तो जीवमें जो भोक्तृत्वकी प्रतीति होती है सो किस प्रकार होगी?

समाधान। जीवमें जो कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वादिक प्रतीत होते हैं, सो बुद्धि तथा क्षेत्रज्ञके परस्पर स्वभावका अविवेक करके कल्पित हैं। अतः परमार्थसे दोनोंमें नहीं बन सकते हैं। क्योंकि सत्त्वरूप बुद्धि अचेतन है तथा क्षेत्रज्ञरूप कूटस्थ अविक्रिय है।

शंका। यद्यपि निर्विकार कूटस्थमें कर्तृत्वभोक्तृत्व नहीं बन सकता है। तथापि बुद्धिसत्त्वमें कर्तृत्वभोक्तृत्व बन सकता है।

समाधान। जैसे रज्जुकी अविद्यासे प्रतीत सर्प भ्रममात्र है।

तैसे ही कूटस्थकी अविद्यासे प्रतीत बुद्ध्यादि जगत् भ्रममात्र है। वास्तवमें बुद्ध्यादिक पदार्थ हैं नहीं। अतः बुद्धिसत्त्वमें कर्तृत्वभोक्तृत्व सुतरां नहीं बन सकता है।

इस अर्थमें श्रुतिको भी दिखाते हैं—'यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्' इत्यादि। अर्थ—जिस अविद्याकालमें आभासरूप जगत् नानाकी तरह प्रतीत होता है, तिस अविद्याकालमें द्रष्टा दृश्यसे भिन्न होकर चक्षुरादिक करणों करके अन्यको देखता है। तथा श्रोत्र करके श्रवण करता है इत्यादि इति। यह श्रुति स्वप्न दृष्ट हस्ति आदिक व्यवहारकी तरह आविद्यक कर्तृत्वभोक्तृत्व द्रष्टृत्वादिक व्यवहारको दिखाती है।

और 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि। अर्थ—जिस ब्रह्मविद्याकालमें इस विद्वान्का सम्पूर्ण जगत् आत्मास्वरूप ही हो गया, तिस ब्रह्मविद्याकालमें कौन कर्ता किस करण करके किस विषयको देखे इति। इत्यादि श्रुति विद्वान्में कर्तृत्वादिक व्यवहारको निषेध करती है इति।

इस पूर्वोक्त पैङ्गिरहस्यब्राह्मणके व्याख्यानकी रीतिसे 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक मुण्डकके वाक्य 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इस अधिकरणसूत्रके विषय नहीं हो सकते; किन्तु 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि कठ वाक्य ही विषय हैं यह सिद्ध हुवा इति* ॥ १२ ॥ इति गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥

जैसे 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रमें प्रथम श्रुत जो द्विवचनान्त पद है, तिस करके चेतनत्वरूप समान स्वभाववाला जीव तथा परमात्माका ग्रहण किया है। और इसके अनुसार ही अन्तमें श्रुत गुहाप्रवेशादिकोंका समन्वय किया है। अर्थात् बुद्धिरूप गुहामें भी जीव तथा परमात्मा ही स्थित हैं यह सिद्धान्त किया है। तैसे ही 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस मन्त्रमें भी प्रथम श्रुत जो अक्षिमें स्थित चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय पुरुष है, तिस करके छायात्मारूप प्रतिबिम्बका ही ग्रहण करना। और इसके अनुसार ही अन्तमें श्रुत अमृतत्वादिक धर्मोंकी उपासनाके लिये प्रतिबिम्बमें कल्पना करनी चाहिये? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अर्थ—१ अन्तरः, २ उपपत्तेः। इस सूत्रमें दो पद हैं। अक्षिके अन्तर उपदिश्यमान जो पुरुष है सो परमात्मा ही है। छायात्मारूप प्रतिबिम्ब नहीं। क्योंकि यहां आत्मतत्त्व अमृतत्वादिक जो उपदिश्यमान धर्म हैं, तिन सर्वकी परमेश्वरमें ही उपपत्ति बन सकती है प्रतिबिम्बमें नहीं इति।

---

* वस्तुतः 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस वाक्यमें श्रुत जो स्वादु अदनका कर्तृत्व है सो केवल बुद्धिसत्त्वमें नहीं बन सकता है। क्योंकि बुद्धिसत्त्व भोगमें करण है, कर्तृ नहीं। अत इस पैङ्गिरहस्यव्याख्यानमें अरुचि होनेसे भाष्यकारने 'अपर आह' यह कहा।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं:—छान्दोग्यके चतुर्थाध्यायमें जो उपकोसलविद्याका प्रसङ्ग है तिसमें लिखा है कि—सत्यकाम नामक जावाल ऋषिके आश्रममें अनेक ब्रह्मचारियोंके साथ कमल ऋषिका पुत्र उपकोसल नाम करके एक ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करता था । और उसने श्रद्धापूर्वक गुरुके गृहमें अग्निकी द्वादश वर्ष पर्यन्त सेवा करी। परन्तु गुरुने एक उपकोसलसे विना दूसरे सम्पूर्ण ब्रह्मचारीयोंको क्रमशः वेदाध्ययन कराके समावर्तनको करा दिया। वाद सर्व स्नातक ब्रह्मचारी अपने अपने गृहको चले गये। विद्याहीन एक उपकोसल ही वहां पर रह गया। पश्चात् जावाल ऋषिकी पत्नीने उपकोसलके अध्ययन व समावर्तनके लिये जावाल ऋषिसे अनुरोध किया। परन्तु पत्नीके वचनको नहीं मानकर ऋषि देशान्तरको चले गये। पीछे उपकोसलने अनशन व्रत कर लिया। अग्नियोंकी सेवा करता रहा। तव आचार्यजायाने ब्रह्मचारीसे भोजन करनेके लिये अनुरोध किया, परन्तु उपकोसलने अन्न खानेसे इन्कार कर दिया, और कहा कि—अनेक संसारी वासनावोंसे मैं भरा हुवा हूं, जवतक मूलसहित वासनावोंकी उच्छेदक विद्या नहीं मिलेगी तवतक अन्न नहीं खाउंगा। तदनन्तर इस उपकोसलके निश्चयसे प्रसन्न होकर अत्यन्त श्रद्धालु गुरुभक्त तथा अपने परम सेवक उपकोसलके प्रति गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, आहवनीय, ये तीनों अग्नि अपनी २ विद्याका तथा आत्मविद्या (प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति) का उपदेश करते भये। अन्तमें अग्नियोंने कहा कि—"हे सोम्य! यह हमने तुमको अग्निविद्याका व आत्मविद्याका उपदेश किया है। और इस विद्यासे ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। और ब्रह्म प्राप्तिके लिये केवल मार्गको तेरा आचार्य उपदेश करेगा" ऐसा कहकर तीनों अग्नि अन्तर्धान हो गये।

और जव जावाल ऋषि प्रवाससे आकर उपकोसलको देखा तव देखकर कहा कि-'हे सोम्य! तुम्हारा मुख ब्रह्मवित्की तरह प्रसन्न प्रतीत होता है, तुम्हारेको किसने आत्मविद्याका उपदेश किया है?' उपकोसल निषेध करते हुयेकी तरह कहता भया कि—हे भगवन्! आपके अनुग्रह विना मुझे कौन उपदेश करेगा। अर्थात् आचार्यकी कृपासे ही देवता भी उपदेश करते हैं। ऐसा कहकर अग्नियोंको निर्देश करता हुवा कहता भया—'हे भगवन्! प्रथम ये अग्नि और प्रकारके थे अव और प्रकार (वेगमान) के हो रहे हैं। आचार्य—हे सोम्य! इन्होंने तुझे क्या उपदेश किया है? उपकोसल—'इदमिति'। अर्थात् पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्यको गार्हपत्यने उपदेश किया है इत्यादि। आचार्य---हे सोम्य! अग्नियोंने तुझे लोकोंका ही यह उपदेश किया है। अव मैं तुझको उपदेश करुंगा:—हे सोम्य! जैसे पुष्करपलाशको जल स्पर्श नहीं करता है, तैसे ही जिस ब्रह्मको जाननेसे इस पुरुषको पापकर्म स्पर्श नहीं करता है तिस स्थानगुणविशिष्ट ब्रह्मको मैं तुम्हारे प्रति कहता हूं:—

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्र-

ह्येति तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति'। यह वाक्य इस अधिकरणसूत्रका विषय है।

अर्थ—अग्नियों करके उक्त जो सुखाकाशरूप परमात्मा है सो यह ब्रह्म स्वरूप पुरुष ही अक्षिमें उपासकों करके देखनेमें आता है। और यह पुरुष ही सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा है। और यह पुरुष कैसा है कि-अमृतरूप है अर्थात् अविनाशी है, और अभयरूप है, तथा बृहत्तम होनेसे ब्रह्मरूप है। और जैसे चक्षुमें डाला हुवा जो घृत है अथवा उदक है सो चक्षुके पक्ष्म (पलक) में ही आजाता है चक्षुके साथ सम्बद्ध नहीं होता है; तैसे पापकर्म भी ऐसे जाननेवाले पुरुषके साथ सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं इति।

अब दर्शनमें लौकिकत्व तथा शास्त्रीयत्व करके संशयको दिखाते हैं—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यहां पुरुष शब्द करके, क्या किसी एक पुरुषके समीपमें सन्मुख स्थित होनेसे दूसरे पुरुषके अक्षिमें स्थित जो पुरुषकी छायारूप प्रतिबिम्ब दीखता है तिसका ग्रहण करना, अथवा जीवका, अथवा इन्द्रियोंका अधिष्ठाता आदित्य देवताका, अथवा ईश्वरका ग्रहण करना, ऐसा संशय होता है।

यहां 'क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ पूर्वपक्षः। यहां पुरुष शब्द करके छायारूप प्रतिबिम्बका ही ग्रहण करना, क्योंकि छायारूप प्रतिबिम्बमें दृश्यत्व प्रसिद्ध है। और 'दृश्यते' यह श्रुति भी प्रसिद्धकी तरह उपदेश करती है। और छायात्मामें, कतिपय क्षण पर्यन्त स्थित होनेसे अमृतत्व है; तथा अचेतन होनेसे अभयत्व है; तथा पुरुषाकार होनेसे पुरुषत्व है; तथा नेत्रके कनीनिकास्थानमें स्थित होनेसे आत्मत्व है; तथा च छायात्मामें पूर्वोक्त अमृतत्वादिक धर्मोंका योग होनेसे ब्रह्मत्व है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अक्षिस्थानमें छायात्मा ही उपास्य है इति।

अब सम्भावनामात्र करके पूर्वपक्षी कहता है कि—अथवा यहां पुरुष शब्द करके जीवात्माका भी ग्रहण हो सकता है। क्योंकि जीवात्मा चक्षु करके रूपोंको देखता हुवा चक्षुके सन्निहित है। और इस पक्षमें श्रुतिस्थ आत्मशब्द भी अनुकूल है इति। अथवा इस पुरुष शब्द करके चक्षुका अनुग्राहक आदित्यरूप पुरुषका भी ग्रहण बन सकता है। क्योंकि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः।' अर्थ-रश्मियोंद्वारा यह आदित्य पुरुष चक्षुमें स्थित है इति। और देवतात्मामें कथंचित् अमृतत्वादिक धर्म भी बन सकते हैं। परन्तु इस पुरुष शब्द करके सर्वगत ईश्वरका ग्रहण नहीं बन सकता, क्योंकि श्रुतिमें अक्षिरूप स्थानविशेषका निर्देश किया है इति।

अथ सिद्धान्तपक्षः। इस श्रुतिमें अक्षिके अभ्यन्तर पुरुषरूप परमेश्वरका ही उपदेश किया है, क्योंकि आत्मत्वादिक जो धर्म श्रुतिमें कहे हैं सो मुख्य वृत्ति करके परमेश्वरमें ही बन सकते हैं छायादिकोंमें नहीं। 'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति मुख्य वृत्ति करके परमेश्वरमें ही आत्मत्वको बोधन करती हैं। और परमेश्वरमें ही अमृतत्व अभयत्वादिक धर्म रहते हैं. इस प्रकार श्रुतिमें अनेकवार

श्रवण होता है। और अक्षिस्थान परमेश्वरके रहने योग्य भी है, क्योंकि अपहत पाप्मत्वादिके श्रवणसे जैसे परमात्मा सर्व दोषों करके अलिप्त है; तैसे अक्षिस्थान-को भी सर्व लेप करके रहित उपदेश किया है। तहां श्रुतिः—'तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पि-र्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति'। इसका अर्थ समीपमें ही कह आये हैं।

और अक्षिमें स्थित जो पुरुष है सो परमात्मारूप है, इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं—'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति' इत्यादि। अर्थ—इस अक्षिस्थ पुरुषको ब्रह्मवित् पुरुष 'संयद्वाम' कहते हैं, क्योंकि इस पुरुष-को आश्रयण करके ही कर्मोंके फल उत्पन्न होते हैं अर्थात् यह पुरुष कर्मफलका हेतु है इति। और इस पुरुषको 'वामनी' कहते हैं, क्योंकि यह पुरुष ही सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंको प्राणियोंको देता है। और इस अक्षिस्थ पुरुषको 'भामनी' भी कहते हैं। क्योंकि 'भामानि' कहिये 'भानानि' अर्थात् सर्व लोकोंको ज्ञानदाता यही है। तथा सर्व लोकोंमें आदित्यादिक रूप करके देदीप्यमान भी यही है। अतः पूर्वोक्त संयद्वाम-त्वादिक गुणोंकी परमेश्वरमें ही उपपत्ति होनेसे परमेश्वर ही अक्षिमें उपास्य है। छायादिक नहीं यह सिद्ध हुवा। और छायादिकोंमें पूर्वोक्त अमृतत्वादिक गुणोंका निराकरण सत्तरहवां सूत्रमें करेंगे इति ॥ १३ ॥

शंका। आकाशकी तरह सर्वगत ब्रह्मका अक्षिस्थान किस प्रकार बन सकता है? इस आक्षेपके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

अर्थ—१ स्थानादिव्यपदेशात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। ब्रह्मके स्थानका और नाम रूपका उपदेश ध्यानके लिये अन्य श्रुतियोंमें भी किया है, अतः 'य एषोऽक्षिणि' इस श्रुतिमें स्थानकी उक्ति विरुद्ध नहीं है। अतः ब्रह्मका अक्षिस्थान बन सकता है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—यदि ब्रह्मका एक चक्षुस्थान ही श्रुतिमें निर्दिष्ट होता तो अक्षिस्थानकी अनवक्लृप्ति—अक्लृप्त कल्पना अर्थात् असिद्धि होवे। परन्तु श्रुतिमें ब्रह्मके अन्य भी पृथिवी आदिक अनेक स्थान देखनेमें आते हैं। तहां श्रुतिः—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि। और इन पृथिवी आदिक स्थानोंके मध्यमें चक्षुस्थानको भी कहा है—'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादि। और ब्रह्मका केवल एक स्थानको ही श्रुति अनुचित नहीं कहती, किन्तु नामरूप करके रहित ब्रह्मका नाम रूपादिको भी अनुचित कहती है। यह इस सूत्रगत 'आदि' शब्दका अर्थ है। तहां श्रुति—'तस्योदिति नाम'। सर्व पापों करके रहित होनेसे, तिस परमात्माका नाम 'उत्' है। इस करके नामको बोधन किया। तथा—'हिरण्यश्मश्रुः' सुवर्णके सदृश जिस ब्रह्मकी 'श्मश्रु' कहिये

दाढ़ी मूछ हैं, इस करके रूपको बोधन किया। इत्यादि। अर्थात् यद्यपि ब्रह्म निर्गुण भी है। तथापि नाम तथा रूपगत गुणों करके सगुण ब्रह्मकी उपासनाके लिये तहां २ अनेक श्रुतियोंमें ब्रह्मका उपदेश है। यह भी पूर्व कह ही आये हैं। और जैसे उपासनाके लिये विष्णुका स्थान शालग्राम कहा है, तैसे ही "यद्यपि ब्रह्म सर्वगत है; तथापि परमात्माकी उपलब्धिके लिये अक्षि हृदयादि स्थानविशेषका निर्देश जो किया है सो अविरुद्ध है" इस अर्थको प्रथम भी हम कह आये हैं इति ॥ १४ ॥

प्रकरणसे भी यहां ब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है, प्रतिबिम्ब व जीव व देवता नहीं। इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अर्थ—१ सुखविशिष्टाभिधानात्, २ एव, ३ च। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्रसङ्गमें प्राप्त जो सुखगुणविशिष्ट ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस वाक्य करके अभिधान होनेसे अर्थात् कथन होनेसे, अक्षिके अन्तर स्थित परमात्मा ही है। यद्यपि सुख ब्रह्मरूप है ब्रह्मका सुख गुण (विशेषण) नहीं, तथापि यहां ध्यानके लिये भेदकी कल्पना करके सुखको ब्रह्मका गुण कहा है। अर्थात् सुखरूप गुणविशिष्ट ब्रह्म ध्यान करने को योग्य है इति।

अब इस सूत्रके तात्पयको दिखाते हैं:— 'अपि च नैवात्र विवदितव्यम्' इत्यादि भाष्यम्। यहां ऐसा विवाद नहीं करना कि—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यह वाक्य ब्रह्मरूप पुरुषको प्रतिपादन करता है या नहीं। क्योंकि 'कं ब्रह्म' इस श्रुतिमें सुखगुणविशिष्ट ब्रह्मका अभिधान किया है। अतः पुरुषमें ब्रह्मत्व सिद्ध हुवा। अर्थात् इस विद्याके उपक्रमवाक्यमें जो सुखविशिष्ट ब्रह्म प्रकृत है 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, सोई ब्रह्म 'य एषोऽक्षिणि' इस वाक्यमें उपदिष्ट है, क्योंकि प्रकृत वाचक 'यः' शब्द करके प्रसङ्गमें प्राप्त जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही ग्रहण करना उचित है, अन्यका नहीं।

शंका। 'दृश्यते' इस दृश्यत्व लिङ्गसे उपस्थित जो अक्षिमें स्थित पुरुष है सो छायात्मा ही है। छायात्मा ही 'यः' इस शब्दका अर्थ है ब्रह्म नहीं, क्योंकि प्रकरणसे लिङ्ग बलवान् है?

समाधान। उपकोसलके अनशनव्रतके निश्चयसे प्रसन्न होकर गार्हपत्यादिक अग्नियोंने दया करके उपकोसलके प्रति 'प्राणो ब्रह्म' इत्यादिक मन्त्रोंसे आत्मविद्याका तथा—पृथिवी अग्नि अन्न इत्यादि स्वविद्याका ही उपदेश किया है छायात्माका नहीं। क्योंकि उपदेश करके आगे अन्तमें यह कहा है—हे उपकोसल! 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' अर्थात् इस उपासनारूप आत्मविद्याका जो हिरण्यगर्भ लोककी प्राप्तिरूप फल है, तिसके लिये आचार्य तुम्हारे प्रति केवल अर्चिरादि मार्गरूप गतिको कहेंगे। ऐसी प्रतिज्ञा करके तीनों अग्नि उपराम हो गये।

पश्चात् आचार्य देशान्तरसे आकर 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादिक उपदेश करके, आगे अर्चिरादिक गतिको कहते भये। यहां ऐसा जानना चाहिये कि-अग्नियों करके उक्त जो आत्मविद्यावाक्य है तिस वाक्यकी आचार्य करके उक्त गतिवाक्यके साथ एकवाक्यता कहनी चाहिये। सो एकवाक्यता 'य एषोऽक्षिणि' इस मन्त्रमें पुरुष शब्द करके अक्षिमें स्थित प्रकृत परमात्माको ग्रहण करनेसे ही बन सकती है। अत एकवाक्यता निर्वाहक जो यह प्रकरण है, सो वाक्यभेदका जनक दृश्यत्वरूप लिङ्गसे प्रबल है। क्योंकि एकवाक्यताके सम्भव हुये वाक्यभेदका स्वीकार अयुक्त है। अतः प्रकरणप्रतिपाद्य सुखगुणविशिष्ट परमात्माका ही 'य एषः' इस मन्त्रमें ग्रहण करना इति।

शंका। उपक्रमवाक्यमें अग्नियोंने सुखादिविशिष्ट ब्रह्मको बोधन किया है इस अर्थको तुम किस प्रकार जानते हो?

समाधान। **'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति'।** अर्थ—हे उपकोसल! प्राण ब्रह्मरूप है, तथा कं ब्रह्मरूप है, तथा खं ब्रह्मरूप है इति। इस अग्नियोंके वचनको श्रवण करके उपकोसल कहता भया—हे भगवन्! प्राण नाम सूत्रात्माका है सो जगत्का जीवन है और बृहत् होनेसे ब्रह्मरूप है। इस अर्थको मैं जानता हूं। परन्तु 'कं' नाम विषयसुखका है, और 'खं' नाम आकाशका है, इन दोनोंको ब्रह्मरूप करके जाननेको मैं असमर्थ हूं। क्योंकि विषयइन्द्रियजन्य अनित्य सुख ब्रह्मरूप नहीं हो सकता है एवं जड़ भूताकाश भी चेतन ब्रह्मरूप नहीं हो सकता है। ऐसे उपकोसलके वचनोंको श्रवण करके अग्नियोंने कहा कि-हे सोम्य! **'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्'।** अर्थ—जो 'कं' कहिये सुख है, सोई 'खं' कहिये विभु है। और जो विभुरूप 'खं' है, सोई सुखरूप 'कं' है इति।

तहां लोकमें खं शब्द भूताकाशमें प्रसिद्ध है, यदि खं का विशेषणरूप करके, सुखका वाचक कं शब्दका ग्रहण नहीं करते, तो "केवल भूताकाशमें ब्रह्म शब्द प्रतीकके अभिप्राय करके प्रयुक्त है" ऐसी प्रतीति होगी।

शंका। प्रतीकके अभिप्रायसे ही यहां 'खं ब्रह्म' का उपदेश क्यों न हो?

समाधान। 'अप्रतीकालम्बनान्नयति' इस न्यायसे इस विद्यामें अर्चिरादि मार्गका उपदेश असङ्गत हो जावेगा, अतः यह प्रतीकउपासना नहीं है। अर्थात् **'आश्रयान्तरप्रत्ययस्याश्रयान्तरे शास्त्रीयः क्षेपः प्रतीकः।'** अन्यविषयक बुद्धिका व शब्दका अन्यमें शास्त्रीय क्षेपका नाम प्रतीक है। जैसे परमात्मविषयक ब्रह्म शब्दका नामादिकोंमें क्षेप कहिये प्रयोग करते हैं—**'इदमेव तद्ब्रह्म यन्नामेति'** सो ब्रह्म यही है जो नाम है, अर्थात् नामकी ब्रह्मरूप करके उपासना करनी। यहां नाममें ब्रह्मशब्दका प्रयोग प्रतीकके अभिप्राय करके है। तैसे खं शब्द भी प्रतीकके अभिप्राय करके भूताकाशमें प्रयुक्त है—**'इदमेव तद्ब्रह्म यद्भूता-**

काशमिति' सोई यह ब्रह्म है जो भूताकाश है। अर्थात् भूताकाशकी ब्रह्मरूप करके उपासना करनी। और जब खं का विशेषण रूप करके कं को कहा, तब कं शब्द करके खं शब्दके अर्थमें भूताकाशत्वकी व्यावृत्ति हुई इति।

तथा साधनपारतन्त्र्य, अनित्यत्वादिक दोषरूप आमय करके सहित जो विषय इन्द्रियोंका संपर्कजन्य सुख है, तिसमें 'कं' शब्द प्रसिद्ध है। यहां यदि कं का विशेषण रूप करके खं को नहीं कहते तो 'लौकिक सुख ब्रह्मरूप है' ऐसी प्रतीति होगी। अर्थात् "लौकिक सुख ब्रह्मरूप करके उपास्य है" ऐसा बोध होगा। परन्तु प्रसङ्गमें ऐसा है नहीं। और जब कं का विशेषण रूप करके खं को कहा तब विभुत्व करके विशेषित सुखमें जन्यत्वादिक दोषोंकी निवृत्ति हो गई। अर्थात् परस्पर विशेषणों करके विशेषित जो कं तथा खं हैं सो दोनों मिलकर नित्य सुखरूप व्यापक ब्रह्मको बोधन करते हैं इति।

शंका। एक ब्रह्मको ही ध्येय होनेसे ब्रह्म पदका जो अभ्यास है सो वृथा है।

समाधान। यदि कं शब्दसे उत्तर ब्रह्म शब्दको नहीं कहते अर्थात् 'कं खं ब्रह्म' ऐसा ही कहते, तो कं शब्द खं निष्ठ भूतत्वकी व्यावृत्ति करके ही चरितार्थ हो जायगा, सुख रूप गुणमें ध्येयत्वको नहीं बोधन करेगा। अर्थात् सुखमें अध्येयत्व हो जायगा। और यहां गुणी ब्रह्मकी तरह सुखरूप गुणमें भी ध्येयत्व इष्ट है। अतः 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्मशब्दशिरस्त्वको अर्थात् ब्रह्म शब्दको कं खं दोनों के उत्तर कहा है। क्योंकि अर्चिरादि मार्गके उपदेशसे यह सगुण ब्रह्मविद्या है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म पदका अभ्यास व्यर्थ नहीं है। तथा च सुख-विशिष्ट ब्रह्म ही निर्दिष्ट है यह सिद्ध हुवा इति।

और अग्नियोंने आत्मविद्या पद करके उपसंहार किया है इसलिये भी यहां प्रकृत ब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है। इस अर्थको अब भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—'प्रत्येकं च' इत्यादि। गार्हपत्य अग्निने उपकोसलके प्रति कहा कि—हे उपकोसल! पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्य, यह चारों हमारी शरीररूप विभूति हैं। और आदित्यमण्डलमें जो पुरुष है सो मैं ही हूं। और अन्वाहार्यपचन अग्निने कहा कि—हे सोम्य! आप, दिशा, नक्षत्र, चन्द्रमा, यह चारों हमारी विभूति हैं। और चन्द्रमण्डलमें जो पुरुष है सो मैं ही हूं। और आहवनीयने कहा कि—हे उपकोशल! प्राण, आकाश, द्यौ, विद्युत्, यह चारों हमारी महिमारूप विभूति हैं। और विद्युत्में जो पुरुष है सो मैं ही हूं। इस प्रकार तीनों अग्नियोंने अपनी अपनी विद्याका उपदेश करके कहा कि—हे उप-कोसल! यह तुझको हमने अपनी विद्या कही, और पूर्व हम तीनोंने मिलकर 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस मन्त्र करके तुम्हारेको आत्मविद्याका उपदेश किया है। इस प्रकार उपसंहार करते हुये अग्नि देवता 'पूर्व हमने ब्रह्मका उपदेश

किया है' यह स्पष्ट ज्ञापन करती हैं। अतः 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस मन्त्रमें भी पुरुष शब्द करके ब्रह्म ही निर्दिष्ट है।

शंका। "अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश किया है, और गुरुने अक्षिमें छायात्माका उपदेश किया है" ऐसा मानना ही उचित है, क्योंकि वक्ताके भेद होनेसे उपदेशके विषयका भी भेद हो सकता है?

समाधान। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इस मन्त्रकरके गतिमात्रके अभिधानकी जो प्रतिज्ञा है; सो परमात्मासे भिन्न छायादिरूप अर्थान्तरकी विवक्षाको वारण करती है। अर्थात् प्रतिज्ञाबलसे एकवाक्यताके निश्चय हुये वक्ताके भेद हुये भी उपदेशके विषयरूप अर्थका भेद नहीं हो सकता है। और—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' यह मन्त्र भी अक्षिस्थ पुरुषको जाननेवाले पुरुषमें पापकर्मके असम्बन्धको कहता हुवा, अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वको ही बोधन करता है। अतः प्रकृत ब्रह्ममें ही अक्षिस्थानताको तथा संयद्वामत्वादि गुणोंको कहकर "हम अक्षिस्थ पुरुषको जाननेवाले पुरुषके लिये अर्चिरादिक गतिको कहेंगे" इस अभिप्रायसे आचार्य उपक्रम करते हैं:—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच' इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे नेत्रमें स्थित पुरुष ब्रह्म है, छायादिक नहीं, यह सिद्ध हुवा इति ॥ १५ ॥

प्रकरणसे अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वको कहकर, अब लिङ्गसे भी अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वको सूत्रकार कहते हैं:—

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

अर्थ—१ श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। इस हेतुसे भी 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इस श्रुतिमें स्थित अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है। क्योंकि 'श्रुता' कहिये अनुष्ठान करी है, 'उपनिषत्' कहिये रहस्य अर्थात् सगुण ब्रह्मकी उपासना जिसने तिस पुरुषका नाम 'श्रुतोपनिषत्क' है। तिस उपासकके लिये जो श्रुति स्मृतियोंमें प्रसिद्ध देवयानगति कही है। तिस ही गतिका प्रकृत अक्षिमें स्थित पुरुषके विज्ञाता उपकोसलके प्रति आचार्यने भी अभिधान किया है। अतः इस गतिका अभिधानरूप लिङ्ग करके भी अक्षिमें स्थित परमात्माका ही ग्रहण करना, क्योंकि छाया व जीवके उपासकको उत्तरायण मार्ग नहीं मिलता है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' इति (प्रश्न०)

अर्थ—देहपातसे अनन्तर-स्वधर्मरूप तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, विद्यादिकों करके 'आत्मानमन्विष्य' कहिये आत्माकी खोज अर्थात् ध्यान करके उत्तर देवयान मार्गको प्राप्त होकर उपासक पुरुष आदित्यद्वारा हिरण्यगर्भरूप सगुण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। और यह कार्यरूप

ब्रह्म व्यष्टि तथा समष्टि प्राणोंका आयतन है। और यह वस्तुतः अमृत अभयादिरूप है। तथा निर्गुण है। सर्वका अधिष्ठान है। अतः कार्य ब्रह्मको प्राप्त होकर पुनरावृत्तिको नहीं प्राप्त होते हैं। अर्थात् अन्तमें तिस कार्य ब्रह्मके यथार्थ निर्गुण स्वरूपको जानकर मोक्षभावको प्राप्त होते हैं इति।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ इस स्मृतिका अर्थ अग्रिम श्रुतिके अर्थके अनुसार ही है। इत्यादिक श्रुति स्मृतियोंमें सगुण ब्रह्मको जाननेवाले ब्रह्मवित् पुरुषकी जो देवयान गति प्रसिद्ध है। सो ही गति प्रकृतमें भी उपकोसलके प्रति आचार्य करके कही हुई देखनेमें आती है। अतः अक्षिमें स्थित पुरुष परमेश्वर ही है।

शंका। आचार्यने उपकोसलके प्रति देवयान गतिका अभिधान कहां कियां है?

समाधान। 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' इस प्रकार उपक्रम करके आगे लिखा है:—

'आदित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'। अर्थ—देहके पातसे आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ है। और 'अस्मिन्' कहिये "छखाकाशरूप अक्षिमें स्थित पूर्वोक्त संयद्वामत्वादिक गुणविशिष्ट ब्रह्मरूप मैं हूं" इस प्रकार अभेद रूप करके उपासना करनेवाले उपासक पुरुषके मृत हुये, पुत्रादिक 'शव्यं' कहिये शव सम्बन्धि कर्मको करें अथवा न करें, परन्तु उपासक पुरुष 'अर्चिषं' कहिये अग्निकी अभिमानिनी देवताको ही प्राप्त होते हैं। और अग्निदेवताद्वारा दिवसके देवताको प्राप्त होते हैं। और दिवसकी देवताद्वारा कलावों करके आपूर्यमाण शुक्लपक्षके अभिमानी देवको प्राप्त होते हैं। और शुक्लपक्षके देवद्वारा षण्मासकी अभिमानिनी उत्तरायणकी देवताको प्राप्त होते हैं। और उत्तरायणकी देवता संवत्सरकी देवताको प्राप्त करती है। और संवत्सरकी देवता आदित्यको प्राप्त करती है। और आदित्य चन्द्रमाको प्राप्त करता है। और चन्द्र विद्युत्को प्राप्त करता है। और विद्युतलोकमें स्थित उपासकोंको लेनेके लिये मनुसृष्टिमें नहीं होनेवाला अमानव पुरुष ब्रह्मलोकसे आकर उपासकोंको ब्रह्मलोकमें प्राप्त करता है। और पूर्वोक्त अर्चिरादिक देवों करके विशिष्ट होनेसे उत्तरायणमार्गको देवपथ कहते हैं। तथा गन्तव्य ब्रह्मका योग होनेसे ब्रह्मपथ कहते हैं। और इस देवपथ करके कार्यब्रह्मके लोकमें प्राप्त जो उपासक हैं, सो घटीयन्त्रकी तरह वारम्वार जन्ममरणादिरूप जो मनुकी सृष्टिरूप आवर्त है इस आवर्तको नहीं प्राप्त होते हैं इति।

इन पूर्वोक्त छान्दोग्य मन्त्रों करके जो अक्षिमें स्थित ब्रह्मवित्के लिये गति कही है। इस प्रसिद्ध गति करके अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वका ही निश्चय होता है। अतः अक्षिमें स्थित पुरुष परमेश्वर ही है यह सिद्ध हुवा इति॥ १६॥

प्रथम वादीने जो कहा था कि—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस मन्त्रमें स्थित पुरुषशब्द करके अक्षिमें स्थित छायात्माका अथवा जीवात्माका अथवा

देवतात्माका ग्रहण करना ? सो वादीका कहना असंगत है । इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

अर्थ—१ अनवस्थितेः, २ असंभवात्, ३ च, ४ न, ५ इतरः । इस सूत्रमें पांच पद हैं। परमेश्वरसे इतर जो छायादिक हैं तिनकी अक्षिमें नियम करके स्थितिका अभाव होनेसे, तथा छायादिकोंमें अमृतत्वादिक गुणोंका असंभव होनेसे, प्रसङ्गमें छायादिक ग्रहण करनेको अयोग्य हैं इति ।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—तहां प्रथम छायारूप प्रतिबिम्बकी निरन्तर चक्षुमें स्थिति नहीं बन सकती है। क्योंकि जिस कालमें दूसरा पुरुष चक्षुके समीपमें प्राप्त होता है, तिस कालमें ही चक्षुमें प्रतिबिम्ब देखनेमें आता है। और जब वह पुरुष चला जाता है, तब चक्षुमें प्रतिबिम्ब नहीं देखनेमें आता है। अतः अनवस्थित वस्तुमें सदा उपास्यत्व नहीं बन सकता है । किञ्च 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुतिमें अव्यवधानसे अर्थात् स्वचक्षुको प्रथम उपस्थित होनेसे, 'अपने चक्षुमें दृश्यमान पुरुष ही उपास्य है' ऐसा कहना होगा । और अपने चक्षुमें स्थित छायात्माका अपने चक्षु करके प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। 'अतः छायासे विलक्षण पुरुष उपास्य है, इस अर्थको ही स्वीकार करना चाहिये ।

शंका । यद्यपि अपने चक्षुमें स्थित छायात्मा अपने चक्षु करके दृश्यमान नहीं हो सकता है तथापि समीपमें स्थित दूसरे पुरुष करके दृश्यमान हो सकता है। अतः छायात्मा ही उपास्य है ।

समाधान । जो पुरुष उपासना करता है, सो पुरुष उपासना कालमें दूसरे पुरुषको अपने समीपमें स्थापन करके उपासना करता है ऐसी कल्पना नहीं कर सकते । अतः यह शंका ही नहीं बन सकती है ।

और छायारूप प्रतिबिम्बमें युक्ति करके सिद्ध जो अनवस्थितत्व है तिसमें श्रुतिको दिखाते हैं:—'अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति'। अर्थ—छायाका निमित जो बिम्बरूप शरीर है तिस बिम्बके नाशसे ही छायात्मा नाशको प्राप्त होता है इति । यह श्रुति छायात्मामें अनवस्थितत्वको भी दिखाती है । इस कहनेसे छायात्मामें अमृतत्वादिकोंका अभाव भी सिद्ध हो चुका क्योंकि विनाशी वस्तुमें अमृतत्वादिका असम्भव है । अतः छायात्मा उपास्य नहीं है इति ।

अब जीवके निरासको दिखाते हैं: –'तथा विज्ञानात्मनोऽपि' इत्यादि भाष्यम् । अर्थात् जैसे छायात्मामें उपास्यत्व नहीं है तैसे जीवमें भी उपास्यत्व नहीं बन सकता है । क्योंकि जीवात्माका समग्र देहइन्द्रियादिकोंके साथ सम्बन्धके हुये 'चक्षुमें ही जीव स्थित है' ऐसा नहीं कह सकते हैं। अर्थात् जैसे नेत्रवाले पुरुषको 'अहम्' इस प्रकारका जीवकी अभिव्यक्तिरूप ज्ञान होता है । तैसे ही जन्मान्ध पुरुषको

भी 'अहम्' इस प्रकारका ज्ञान होता है। अतः 'चक्षु ही जीवका स्थान है' यह कहना अयुक्त है। और यद्यपि सर्वगत परमात्माका भी सर्वके साथ सम्बन्धके हुये, 'चक्षुमें ही परमात्मा स्थित है' यह भी नहीं कह सकते हैं। तथापि परमात्माकी उपलब्धिके लिये श्रुतियोंमें परमात्माका हृदयादिक देशविशेषके साथ सम्बन्ध देखनेमें आता है। अतः चक्षुरूप देशविशेषमें भी सम्बन्ध बन सकता है। और जैसे छायात्मामें अमृतत्वादिक गुणोंका अभाव है, तैसे विज्ञानात्मामें भी अमृतत्वादिक गुणोंका अभाव तुल्य है।

यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्माका अभेद है; तथापि जीवमें अविद्या, काम, कर्म करके आरोपित मर्त्यत्व तथा भय विद्यमान है, अतः जीवमें अमृतत्व तथा अभयत्व नहीं बन सकता है। और जीवमें ऐश्वर्यका अभाव होनेसे पूर्वोक्त संयद्वामत्वादिक गुण भी नहीं बन सकते हैं, अतः अक्षिमें स्थित पुरुष जीव नहीं हो सकता है इति।

अब देवताके निरासको दिखाते हैं:—'**रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः**' इस श्रुति करके यद्यपि "रश्मियों द्वारा चक्षुमें आदित्यदेवता प्रतिष्ठित है" ऐसा बोध होता है। तथापि '**आत्मेति होवाच**' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य आत्मत्व आदित्यदेवतामें नहीं है। क्योंकि आत्मत्व प्रत्यग्में होता है पराक्में नहीं। और आदित्यदेवता पराक् (बाह्य) है। और आदित्यमें अमृतत्वादिक धर्म भी नहीं बन सकते हैं। क्योंकि '**चक्षोः सूर्यो अजायत**' '**सूर्योऽस्तमेति**' इत्यादिक श्रुतियोंमें आदित्यकी उत्पत्ति तथा प्रलयका श्रवण होता है। और देवतावोंमें जो अमृतत्वादिक कहे हैं। सो भी चिरकाल अवस्थानकी अपेक्षासे कहे हैं ऐसा जानना। और जो देवतावोंका ऐश्वर्य है, सो भी परमेश्वरके अधीन है स्वाभाविक नहीं। क्योंकि '**भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥**' यह तैत्तिरीय मन्त्र देवतावोंमें परतन्त्रताको स्पष्ट बोधन करता है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे अक्षिस्थानमें परमेश्वर ही ग्रहण करनेको योग्य है इति।

शंका। ईश्वरमें भी '**दृश्यते**' इस पद करके जो प्रसिद्ध घटादिकोंकी तरह दृश्यत्वका अभिधान श्रुति करती है सो अयुक्त है, क्योंकि ईश्वर अदृश्य है।

समाधान। इस ईश्वर पक्षमें प्रसिद्ध घटादिकोंके लौकिक दर्शनोंकी तरह 'दृश्यते' यह पद ईश्वरके दर्शनको बोधन नहीं करता है। किन्तु शास्त्रीय तथा विद्वानोंके अनुभवकी अपेक्षा करके ईश्वरके दर्शनको बोधन करता है। अर्थात् उपलब्धिका नाम दर्शन है। तहां शास्त्रीय दर्शनका करण शास्त्र ही होता है। अतः अज्ञानी पुरुषोंकी अभिरुचिके लिये विद्वानोंमें प्रसिद्ध शास्त्रीय दर्शनको 'दृश्यते' यह पद प्रसिद्ध लौकिक दर्शनकी तरह अनुवाद करता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे उपकोसलवाक्य सगुण ब्रह्ममें ही समन्वित हुवा, ऐसा जानना इति॥ १७॥

इति अन्तराधिकरणम्॥

शंका। 'स्थानादिव्यपदेशाच्च' (सू० १४) इस सूत्रमें सर्वगत परमात्माके जो पृथिवी आदिक स्थान कहे हैं सो असङ्गत हैं। क्योंकि व्यापक होनेसे आकाशकी तरह परमात्मा अवृत्ति (आधाररहित) है इस आक्षेपके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मोपदेशात् ॥ १८ ॥

अर्थ—१ अन्तर्यामी, २ अधिदैवादिषु, ३ तद्धर्मोपदेशात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। श्रुतिमें अन्तर्यामी शब्द करके अधिदैवादिकोंमें स्थित परमात्माका ही ग्रहण करना देवादिकोंका नहीं, क्योंकि परमात्माके जो सर्वनियन्तृत्व, अमृतत्वादिक धर्म हैं तिन धर्मोंका श्रुतिमें कथन किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं। बृहदारण्यकके तृतीय अध्यायमें यह प्रसङ्ग है कि—एक समय राजा जनकने अपने यज्ञमें दूर २ के विद्वानोंको एकत्रित करके सभा करी, और 'इन विद्वानोंमें विशेष विद्वान् कौन है" ऐसी जिज्ञासासे एक हजार गायोंको मंगाया, दश २ पाद सुवर्ण एक २ गायके शृङ्गमें बधा था। कर्षका नाम पाद (१६ माषा) है। फिर राजा जनकने सभामें उपस्थित होकर कहा कि—हे ब्राह्मणाः! जो विद्वान् ब्रह्मिष्ठ होवे सो इस धनको स्वीकार करे। तिस समय तिस धनको स्वीकार करनेमें किसीका साहस नहीं हुवा। पीछे याज्ञवल्क्यने विद्वत् समाजके रहते २ "किसीको ब्रह्मिष्ठत्व स्वीकार न करना" अनुचित समझकर अपने सामाध्यायी शिष्यको आज्ञा करी कि—'सर्व धनको ले जावो।' शिष्यके धन ले जाने पर ब्राह्मण लोग क्रुद्ध हो गये। इसके पीछे जनकका होता अश्वल याज्ञवल्क्यसे बोला—हे याज्ञवल्क्य! क्या तू ब्रह्मिष्ठ है? याज्ञवल्क्य कहने लगे—ब्रह्मिष्ठको मैं नमस्कार करता हूं, गोकामनावाले हम हैं। इसके बाद अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त, कहोल, ये ऋषि क्रमसे शास्त्रार्थ करके परास्त हो गये। पश्चाद् जब गार्गी शास्त्रार्थमें बहुत प्रश्न करने लगी तब याज्ञवल्क्य बोले—हे गार्गी! तू अति प्रश्नोंको करना छोड़ दे नहीं तो तेरा शिर गिर जायगा। पीछे गार्गी उपराम हो गई। इसके पीछे अरुण ऋषिके पुत्र उद्दालक याज्ञवल्क्यसे बोले—हे याज्ञवल्क्य! हम मद्रदेशमें पतञ्चल नामक काप्य ऋषिके गृहमें यज्ञशास्त्रको अध्ययन करते थे, पतञ्चल ऋषिकी भार्यामें गन्धर्व आविष्ट था, तिस गन्धर्वको हमने पूछा—'तुम कौन हो'? सो बोला—'मैं कबन्ध नामक गन्धर्व हूं।' पुनः गन्धर्व बोला—हे पतञ्चल! यह लोक तथा परलोक जिसमें ग्रथित है तिस सूत्रात्माको तुम क्या जानते हो? पतञ्चल—हे भगवन्! मैं तिसको नहीं जानता। गन्धर्व—हे पतञ्चल! तिस अन्तर्यामीको तुम जानते हो— 'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति' अर्थ—जो इस लोकको तथा परलोकको तथा सर्व भूतोंको अन्तर विद्यमान हुवा नियमन करता है इति। पतञ्चल—हे भगवन्! मैं नहीं जानता। गन्धर्व—हे पतञ्चल!

ज़ो तिस सूत्रात्माको व अन्तर्यामीको जानता है सो ब्रह्मवित् है इत्यादि। पुनः हम सर्व शिष्योंके सहित पतञ्चल ऋषिको कृपाकर गन्धर्वने उपदेश किया है। सो मैं तिस सूत्रको तथा अन्तर्यामीको जानता हूं। सो हे याज्ञवल्क्य! तुम यदि तिस सूत्रको तथा अन्तर्यामीको न जानकर ब्राह्मणोंके धनको लेगा तो तेरा शिर गिर जायगा। याज्ञवल्क्य—मैं जानता हूं। उद्दालक—जानता हूं २ कहते हो, यदि जानते हो तो जैसे जानते हो तैसे कहते क्यों नहीं? तब याज्ञवल्क्य प्रथम वायुरूप सूत्रके उपदेशको करके अन्तर्यामीका उपदेश करने लगे—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यादि श्रवण होता है। अर्थ—हे उद्दालक! जो पृथिवीमें स्थित हुवा वर्तमान है। तथा जो पृथिवीके अन्तर है। तथा जिसको पृथिवीकी अभिमानिनी देवता नहीं जानती है। तथा जिसका पृथिवी शरीर है। अर्थात् पृथिवी देवताके जो शरीरादिक हैं सोई जिस अन्तर्यामीके कल्पित शरीरादिक हैं वस्तुतः नहीं। क्योंकि 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' यह मन्त्र शरीररूप कार्य तथा इन्द्रियादिक रूप करणोंको निषेध करता है। प्रश्नः—ऐसे अन्तर्यामीकी सत्तामें कोई अन्य प्रमाण है कि नहीं? उत्तर—'भीषाऽस्माद्वातः पवते' 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ' इत्यादि श्रुतिप्रमाण भी अन्तर्यामीके सत्त्वमें विद्यमान हैं। इस अभिप्राय करके कहते हैं:—'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' जो परमात्मा अन्तर वर्तमान हुवा सूत्रात्मारूप पृथिवीकी अभिमानिनी देवताको 'यमयति' कहिये अपने व्यापारमें नियम करके प्रवृत्त करता है। सो परमात्मा ही शरीरादिक कार्यकरणका संघातवाला जो तू है तेरा अन्तर्यामी रूप आत्मा है, तथा सर्व संसारके धर्मों करके रहित अमृतरूप है इति। इत्यादि वाक्य इस अधिकरणसूत्रके विषय हैं।

इस प्रकरणमें अधिदैव (पृथिव्यादिक देवता) अधिलोक (सर्वलोक) अधिवेद (सर्ववेद) अधियज्ञ (सर्व यज्ञ) अधिभूत (सर्वभूत) अध्यात्म (प्रमाणादिक सर्व करण) इनोंके अन्तर स्थित हुवा जो कोई इनोंका प्रेरक है सो अन्तर्यामी है ऐसा श्रवण होता है। अब शरीरादिकों करके रहित जो ब्रह्म है तिसमें नियन्तृत्वका सम्भव तथा असम्भव करके संशयको दिखाते हैं:—तहां अन्तर्यामी शब्द करके क्या अधिदैवादिकोंका अभिमानी किसी देवतात्माका ग्रहण करना, अथवा प्राप्तअणिमादि ऐश्वर्यवाला जो योगी पुरुष है तिस योगी पुरुषका ग्रहण करना, अथवा परमात्माका ग्रहण करना, अथवा किसी प्रधानादिक अर्थान्तरका ग्रहण करना। अर्थात् तीनोंसे विलक्षण किसी अन्य अर्थका ग्रहण करना। सन्देहका कारण यहां अन्तर्यामी इस अपूर्व संज्ञाका दर्शन है। क्योंकि ब्रह्मको व्यापार हीन होनेसे अधिदैवादिकोंके अन्तर स्थित हुवा प्रेरक दूसरा भी सायत बन सकता होवे? इस प्रकारका यहां संशय है॥ 'वस्तुतः यहां क्या प्रतीत होता है' ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ पूर्वपक्ष। अन्तर्यामी इस संज्ञाको अप्रसिद्ध होनेसे अप्रसिद्ध ही अर्थान्तर रूप संज्ञी अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है यह हमको प्रतीत होता है इति।

'अथवा * नानिरूपित' इत्यादि भाष्यम्। अथवा निरूपणका अविषय अर्थात् अप्रसिद्ध स्वरूप अर्थान्तरका स्वीकार नहीं बन सकता है। अतः यह अर्थान्तर पक्ष असिद्ध है। और अन्तर्यामी शब्द जो है सो अन्तर नियमनके योग करके प्रवृत्त हुवा है। अत अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है। इसलिये पृथिवी आदिकोंका अभिमानी कोई देव अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है। तहां श्रुतिः—'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' इत्यादि बृ०। अर्थ—जिस देवका पृथिवी 'आयतन' कहिये शरीर है। और अग्नि लोक है। अर्थात् 'लोक्यतेऽनेनेति लोकः' इस व्युत्पत्ति करके चक्षुका नाम लोक है। और सर्व अर्थका प्रकाशक मनरूप ज्योति है। अर्थात् चक्षु जिसका असाधारण करण है, और मनरूप ज्योति साधारण करण है इति। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—पृथिवी देव अग्निरूप चक्षु तथा मनरूप ज्योति करके सर्व अर्थको जानता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे शरीररूप कार्य तथा इन्द्रियरूप करणवाला होनेसे पृथिवी आदिकोंका अभिमानी कोई देव ही सर्वका अन्तर्यामी मानना युक्त है। अतः अन्तर्यामी शब्द करके देवतात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है।

अब उपक्रमउपसंहार करके एक अन्तर्यामीके निश्चित हुये अनेक देवतापक्ष असङ्गत है। इस अरुचि करके योगीपक्षको दिखाते हैं:—'योगिनो वा कस्यचित् सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्' इति भाष्यम्। अर्थ—सिद्ध जो कोई योगी पुरुष है तिस योगिमें, सर्व वस्तुमें प्रवेश करके यमयितृत्व बन सकता है। अत अन्तर्यामी शब्द करके किसी योगीका ही ग्रहण करना योग्य है इति। और यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि जिस परमात्माके अनुग्रहसे अनेक योगियोंमें नियमनादिक सामर्थ्य होती है तिस परमात्माकी उपेक्षा क्यों करते हो? यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि योगी कार्यकरणवाला है, और परमात्मा कार्यकरण करके रहित है। और जो कार्यकरणवाला होता है उसीमें यमयितृत्व होता है, जो कार्यकरण रहित होता है उसमें यमयितृत्व नहीं होता है। अतः कार्यकरण करके रहित परमात्मा अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको अयोग्य है इति।

अथ सिद्धान्तपक्षः ‡। अधिदैवादिकोंमें जिस अन्तर्यामीका श्रवण होता है सो परमात्मा ही है देवतादिक नहीं, क्योंकि प्रसङ्गमें परमात्माके ही धर्मोंका निर्देश देखनेमें आता है। तहां परमात्माका असाधारण धर्म जो सर्वका नियन्तृत्व है तिसको दिखाते हैं:–अधिदैवादिक भेद करके भिन्न भिन्न जो पृथिवी आदिक समस्त विकारसमूह है, तिस विकारसमूहके अन्तर स्थित हो करके जो सर्वका नियामकत्व, इस प्रकरणप्रतिपाद्य अन्तर्यामीमें श्रवण होता है;

* अब स्वयं पूर्वपक्षी इस पक्षमें अरुचिको दिखाता हुवा पक्षान्तरको कहता है।

‡ पूर्वपक्षमें देवतावोंकी अथवा योगी आदिककी उपासना फल है, सिद्धान्तमें परमात्माकी उपासना फल है।

सो यह सर्वका नियन्तृत्वरूप धर्म परमात्मामें ही बन सकता है। क्योंकि परमात्मामें ही सर्व विकारके कारणत्वकी तथा सर्वविषयक शक्तिकी उपपत्ति हो सकती है। यहां भाव यह है कि—योगाभ्यासादिक साधनके अधीन शक्तिवाले योगीके ग्रहणमें गौरव है। और नित्य सिद्ध शक्तिवाले परमेश्वरके ग्रहणमें लाघव है। अतः यहां परमेश्वर ही सर्वका नियन्ता अन्तर्यामी है योगी नहीं ऐसा जानना।

और **'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'** इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य मुख्य आत्मत्व तथा अमृतत्वरूप जो धर्म हैं सो भी परमात्मामें ही बन सकते हैं अन्यमें नहीं।

और **'यं पृथिवी न वेद'** यह मन्त्र भी पृथिवीकी अभिमानिनी देवता करके अविज्ञेय अन्तर्यामीको कहता हुवा देवतात्मासे भिन्न ही अन्तर्यामीको दिखाता है। अर्थात् जैसे सर्व प्राणियोंको 'अहं' इस प्रकारका ज्ञान होता है, तैसे ही जब पृथिवी देवताको 'अहं' ज्ञान होता है तो 'मैं पृथिवी हूं' इस प्रकारसे आत्माको जानती है। मेरे अन्तर कोई अन्य अन्तर्यामी वर्तमान है ऐसा विनाशास्त्रके नहीं जान सकती है।

और **'अदृष्टोऽश्रुतः'** इत्यादिक श्रुतिमें जो अदृष्टत्व, अश्रुतत्वादिक धर्म कहे हैं; सो भी रूपादिकों करके रहित होनेसे परमात्मामें ही बन सकते हैं।

शंका। कार्यकरण करके रहित परमात्मामें नियन्तृत्व नहीं बन सकता है। इस अर्थमें अनुमानको दिखाते हैं—**'ईश्वरो, न नियन्ता, अशरीरत्वात्, घटवत्'।** अर्थ—जैसे घटरूप दृष्टान्तमें अशरीरत्वरूप हेतु है, और नियन्तृत्वका अभावरूप साध्य है। तैसे ईश्वर रूप पक्षमें भी अशरीरत्वरूप हेतु है, अतः नियन्तृत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके परमात्मामें नियन्तृत्वका अभाव सिद्ध हुवा।

समाधान। यह दोष नहीं हो सकता है, क्योंकि नियम्य स्वशरीरसे अतिरिक्त शरीरशून्यत्वरूप अशरीरत्व हेतु है? अथवा शरीरमात्रका असम्बन्धित्वरूप अशरीरत्व हेतु है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि स्वदेहके नियन्ता जीवमें नियम्यस्वशरीरसे अतिरिक्त शरीरशून्यत्वरूप हेतु रह गया, और नियन्तृत्वाभावरूप साध्य नहीं रहा; अतः साध्यके अभाववालेमें रहनेवाला यह हेतु व्यभिचारी हुवा। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्ममें स्वअविद्या करके अर्जित सर्वपदार्थके साथ सम्बन्धको विद्यमान होनेसे शरीरमात्रका असम्बन्धित्वरूप हेतु नहीं रहेगा। अतः पक्षमें हेतुका अभावरूप स्वरूपासिद्धि दोषवाला यह हेतु होगा। अर्थात् इस दुष्ट हेतु करके ईश्वरमें नियन्तृत्वका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

और अब 'परमेश्वरके शरीरादिक भी बन सकते हैं' इस अर्थको भाष्यकार

दिखाते हैं:—'यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्त्वोपपत्तेः'। अर्थ—परमात्मा जिन २ पृथिवी आदिक जीवोंको प्रेरणा करता है, तिन २ जीवोंके शरीरादिकों करके ही ईश्वरमें भी शरीरादिक बन सकते हैं इति।

और 'सशरीर ही नियन्ता होता है' इस लोकदृष्टिके अनुसार यह कहा है। वास्तवसे तो चेतनके सान्निध्यमात्रसे जो जड़ वस्तुका व्यापार है तिसका नाम नियमन (नियम्यत्व) है। और तिस नियमनकी जो परमात्मामें शक्ति है तिसका नाम नियन्तृत्व है। ऐसा नियन्तृत्व अचिन्त्य मायारूप शक्तिवाले चिदात्मामें शरीरादिकोंसे विना भी बन सकता है ऐसा जानना इति।

शंका। यदि देहके नियन्ता जीवका भी दूसरा कोई नियन्ता अङ्गीकार करोगे तो उसका भी कोई तिसरा नियन्ता अङ्गीकार करना होगा, इस रीतिसे अनवस्था दोष होगा?

समाधान। वेद करके प्रतिपाद्य जो निरङ्कुश सर्वका नियन्तृत्व है सो केवल ईश्वरमें ही श्रवण होता है। और यदि ईश्वरका भी कोई दूसरा नियन्ता मानोगे तो श्रुतिका बाध होवेगा। इसलिये श्रुतिके बाधके भयसे ईश्वरका नियन्ता दूसरा नहीं मान सकते। अतः अनवस्था दोष नहीं हो सकता है। अथवा जो वादीने कहा था कि स्वदेहका नियन्ता जो जीव है तिस जीवका नियन्ता यदि ईश्वरको मानोगे तो ईश्वरका भी नियन्ता कोई दूसरा मानना पड़ेगा, इस रीतिसे अनवस्था दोष होगा? सो भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'ईश्वरसे जीव भिन्न है' इस प्रकार भेदकी कल्पना करके जीवमें नियन्तृत्वको कहा है। यदि सत्य भेद होता तो अनवस्था दोष होता, सो वास्तवमें सत्य भेद है नहीं। अतः 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिक श्रुतियोंका भी अर्थ समीचीन बन सकता है। किंवा 'सर्वस्येशानः' 'सर्वस्येश्वरः' इत्यादिक श्रुतियों करके प्रतिपाद्य जो सर्वका नियन्तृत्व है, सो भी ईश्वरसे भिन्न ईश्वरके नियन्तृत्वका अभावके अङ्गीकार पक्षमें ही बनेगा। अन्यथा 'सर्व' पदका सङ्कुचित अर्थ मानना पड़ेगा। परन्तु सङ्कोचमें कोई प्रमाण है नहीं। अत एक ईश्वर ही सर्वका नियन्ता है। इसलिये अनवस्था दोष नहीं हो सकता। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमात्मा ही अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है यह सिद्ध हुवा इति ॥ १८ ॥

शंका। सांख्य स्मृति करके कल्पित जो प्रधान है, तिस प्रधानमें अदृष्टत्वादिक धर्म बन सकते हैं। क्योंकि सांख्यवादियोंने रूपादिकों करके रहित प्रधानको स्वीकार किया है। इस अर्थको दिखाते हैं:—'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' अर्थात् प्रधान 'अतर्क्य' है कहिये महदादिरूप करके प्रधान क्यों प्रवृत्त हुवा? और किस हेतुसे अन्यरूप करके प्रवृत्त नहीं हुवा? इस प्रकारके तर्कका अविषय है। और 'अविज्ञेय' है कहिये रूपादिकों

करके रहित होनेसे, चक्षुरादिकों करके अग्राह्य है। और जड़ होनेसे प्रधान सर्वत्र सर्वदा सोये हुयेकी तरह है। इस प्रकार मनुस्मृतिमें लिखा है। और सर्व विकारोंका कारण होनेसे प्रधानमें सर्वका नियन्तृत्व भी बन सकता है। अतः पूर्वोक्त श्रुतिमें अन्तर्यामी शब्द करके प्रधानका ही ग्रहण करना? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १६ ॥

अर्थ—१ न, २ च, ३ स्मार्तम्, ४ अतद्धर्माभिलापात्। इस सूत्रमें चार पद हैं। सांख्य स्मृति करके प्रतिपाद्य जो प्रधान है सो अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य नहीं है। क्योंकि 'अतत्' कहिये प्रधानसे भिन्न जो चेतन है तिस चेतनके धर्मोंका यहां अन्तर्यामीमें कथन है इति।

शंका। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रमें प्रधानका खण्डन कर ही आये हैं। पुनः इस सूत्रके उत्थानका क्या तात्पर्य है?

समाधान। यद्यपि पूर्व प्रधानका निराकरण कर आये हैं, तथापि अन्तर्यामी ब्राह्मणमें कहे हुये अदृष्टत्वादिक धर्मोंका प्रधानमें भी सम्भव हो सकता है। अतः यहां पुनः आशंका करके सूत्रकारने इस उत्तर सूत्रको रचा है। तात्पर्य यह है कि—यद्यपि अदृष्टत्वादिक धर्मोंका कथन प्रधानमें बन सकता है। तथापि यहां 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' बृ०। इत्यादि वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य जो द्रष्टृत्वादिक धर्म हैं; तिनका प्रधानमें व्यपदेश नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रधानवादियोंने प्रधानको अचेतन माना है। और प्रधानमें 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य आत्मत्वादिक धर्म भी नहीं बन सकते हैं। अतः पूर्वोक्त रीतिसे अन्तर्यामी शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना योग्य है प्रधानका नहीं, यह सिद्ध हुवा इति ॥ १६ ॥

शंका। यद्यपि प्रधानमें आत्मत्वादिक व द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका असम्भव होनेसे अन्तर्यामी शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। तथापि शारीर जो जीव है तिसका अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण बन सकता है। क्योंकि जीवको चेतन होनेसे द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व, विज्ञातृत्वरूप धर्म बन सकते हैं। तथा जीवको प्रत्यग्रूप होनेसे आत्मत्व धर्म भी बन सकता है। तथा नाश रहित होनेसे अमृतत्व धर्म भी बन सकता है। क्योंकि जीवमें ही धर्माधर्मका फलभोग देखनेमें आता है। और यदि जीवको अमृतस्वरूप अविनाशी नहीं मानोगे तो कृतहानि अकृताभ्यागम दोष होवेगा। और जीवमें अदृष्टत्वादिक धर्म तो सुप्रसिद्ध हैं। क्योंकि दर्शनादिरूप क्रियाकी जीवरूप कर्तामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् जैसे—'अयं पुरुषो ग्रामं गच्छति' यहां गमनरूप क्रियाका

विषय ग्रामरूप कर्म होता है पुरुषरूप कर्ता नहीं। तैसे ही दर्शनादिरूप क्रियाका विषय जीवरूप कर्तासे भिन्न ही दूसरा कर्मरूप पदार्थ होवेगा, कर्तारूप शारीर नहीं। इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' अर्थ—जो दृश्यरूप दृष्टि है सो द्रष्टारूप आत्माको विषय नहीं कर सकती है इत्यादि इति। जीवका शरीरादिरूप कार्यकरणसंघातके अन्तर स्थित होकर प्रेरणा करनेका स्वभाव भी है। क्योंकि शारीर भोक्ता है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे शारीर ही अन्तर्यामी है? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

अर्थ—१ शारीरः, २ च, ३ उभये, ४ अपि, ५ हि, ६ भेदेन, ७ एनं, ८ अधीयते। इस सूत्रमें आठ पद हैं। पूर्व सूत्रसे नकारकी अनुवृत्ति करनी। शारीर जो जीव है सो अन्तर्यामी नहीं हो सकता। क्योंकि द्रष्टृत्वादि धर्म यद्यपि जीवमें बन सकते है, तथापि घटाकाशकी तरह जीवको शरीर उपाधि करके परिच्छिन्न होनेसे पृथिवी आदिक सर्व पदार्थोंके अन्तर स्थित होनेको तथा सर्वको प्रेरणा करनेको जीव समर्थ नहीं हो सकता है। और काण्व शाखावाले तथा माध्यन्दिन शाखावाले ये दोनों अन्तर्यामीसे भिन्न करके जीवको कथन करते हैं। तथा पृथिवी आदिकोंकी तरह अन्तर्यामीका आश्रयरूप करके तथा नियम्यरूप करके जीवको कथन करते हैं। वहां काण्व कहते हैं कि-'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादि। माध्यन्दिन कहते हैं कि-'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादि। यहां श्रुतिमें जो 'विज्ञान' शब्द है सो जीवका वाचक है। क्योंकि विज्ञानप्रचुर होनेसे जीवका नाम विज्ञान है। तथा 'आत्म' शब्द जो है सो भी जीवका वाचक है। अर्थ यह है कि-जीवके अन्तर स्थित हुवा जो जीवको प्रेरणा करता है सो अन्तर्यामी है इति। इस कहनेसे 'शारीरसे भिन्न ईश्वर स्वरूप अन्तर्यामी है' यह सिद्ध हुवा इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—

शंका। एक ईश्वररूप अन्तर्यामी, दूसरा संघातका स्वामी शारीररूप जीव, ये दो द्रष्टा एक शरीरमें किस प्रकार रह सकते हैं? यदि सिद्धान्ती कहे कि-एक शरीरमें दो द्रष्टावोंको रहनेमें क्या अनुपपत्ति है? सो कहना बने नहीं, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिकी असङ्गतिरूप अनुपपत्ति होगी। यह श्रुति प्रकृत अन्तर्यामीसे भिन्न द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता, आत्माका निषेध करती है। यदि सिद्धान्ती कहे कि-यह श्रुति प्रकृत अन्तर्यामीरूप ईश्वरके नियन्ताका व द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता आत्माका निषेध करती है। जीवरूप द्रष्टासे भिन्न अन्तर्यामीरूप द्रष्टाका निषेध नहीं करती है। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि सर्वके नियन्ता ईश्वरमें दूसरे नियन्ता करके नियन्तव्यत्वकी शंका ही नहीं होती है। और यदि दूसरे नियन्ताका निषेध मानोगे तो अप्रसक्तका निषेध कहना होगा। क्योंकि ईश्वरसे भिन्न नियन्ता प्रसक्त है नहीं। और 'अन्योऽतोऽस्ति नियन्ता द्रष्टा' इस प्रकार नियन्ताविशेषका कहीं श्रुतिमें श्रवण भी नहीं होता है।

अतः 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुति एक द्रष्टासे भिन्न दूसरे द्रष्टादिकोंका सामान्यरूपसे ही निषेध करती हैं ईश्वरके ही नियन्ताका नहीं। यदि ईश्वरके नियन्ताका ही निषेध मानोगे तो श्रुतिका संकोचरूप बाध होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे एक शरीरमें एक ही द्रष्टा बन सकता है दो नहीं।

समाधान। **'अत्रोच्यते'** इत्यादि भाष्यम्। जैसे 'घटाकाशः, महाकाशः' इस प्रकार घटादिरूप उपाधि करके निर्भेद आकाशमें भेदव्यवहार होता है। तैसे ही अविद्या करके जन्य शरीरादिरूप कार्यकरण उपाधि करके निर्भेद ब्रह्ममें शारीर तथा अन्तर्यामीका यह भेदव्यवहार होता है। पारमार्थिक नहीं है। अतः कल्पित भेद प्रयुक्त एक शरीरमें शारीररूप तथा अन्तर्यामीरूप दो द्रष्टा बन सकते हैं। और इसी अभिप्रायसे ही जीवसे भिन्न नियन्ता अन्तर्यामीको कहा है। और वास्तवमें प्रत्यग् आत्मारूप द्रष्टा एक ही है दो नहीं। क्योंकि जो अहं प्रत्ययका विषय होता है सो ही प्रत्यग् आत्मा है। यदि एक ही शरीरमें दो प्रत्यग् आत्मा मानोगे तो अहंबुद्धिविषयत्व दोनोंमें मानना होगा। परन्तु गौरव दोष करके ग्रस्त होनेसे दोनोंमें अहंबुद्धिविषयत्वका असम्भव है। किन्तु लाघव करके एक ही प्रत्यग् आत्मा अहंबुद्धिका विषय है। तिस प्रत्यग् आत्मासे भिन्न सम्पूर्ण अनात्मा हैं। अतः जीवात्मा तथा अन्तर्यामीरूप आत्माका परस्पर सत्य भेद नहीं बन सकता है। किन्तु उपाधिकृत कल्पित है। और कल्पित भेदके अङ्गीकारसे ही ज्ञाता ज्ञेय आदिकोंके भेदकी प्रतिपादक श्रुति तथा प्रत्यक्षादिक प्रमाण तथा संसारका अनुभव तथा विधिप्रतिषेधशास्त्र यह सर्व बन सकते हैं। इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं:— **यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।** यह श्रुति अविद्याकालमें ही सर्व व्यवहारको दिखाती है। और **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'** यह श्रुति विद्याकालमें सर्व व्यवहारको वारण करती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अन्तर्यामीब्राह्मण ज्ञेय ब्रह्ममें समन्वित हुआ ऐसा जानना इति ॥२०॥

इति अन्तर्याम्यधिकरणम् ॥

मुण्डक उपनिषत्में ऐसा श्रवण होता है कि—शौनक ऋषि, विधिपूर्वक अङ्गिरा ऋषिके पास जाकर पूछता भया कि—हे भगवन्! किस वस्तुके विशेष करके निश्चित हुये, सम्पूर्ण यह कार्यसमूह विशेष करके निश्चित होता है। अर्थात् सर्व विज्ञानका हेतु जिस एक वस्तुका ज्ञान है, तिस एक वस्तुका आप मेरेको उपदेश करें? इस प्रकार शौनक ऋषिके पूछने पर जो अङ्गिरा ऋषि हैं, सो शौनक ऋषि करके पूछी हुई जो एक वस्तु है, तिस वस्तुको कहनेके वास्ते प्रथम कहने लगे कि—हे शौनक! दो विद्या जाननेको योग्य हैं। एक तो परमात्मविषयक फलरूप परा विद्या है। और धर्मके अनुष्ठानद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु जो "शिक्षादिक षडङ्ग सहित चारों वेदोंके अर्थोंका ज्ञान है" सो परा विद्याका उपकारक होनेसे साधनरूप दूसरी अपरा विद्या है।

ऐसा कहकर पुनः ऋषि परा विद्याको कहते भये—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।'

अर्थ—जिस विद्या करके सो वक्ष्यमाण विशेषणविशिष्ट अक्षररूप ब्रह्म प्राप्त होता है सो ब्रह्मका साक्षात्कार रूप परा विद्या है। सो ब्रह्म कैसा है—'अद्रेश्य' है कहिये सर्व ज्ञान इन्द्रियोंका अविषय है। तथा 'अग्राह्य' है कहिये कर्म इन्द्रियों करके ग्रहण करनेको अयोग्य है। तथा 'अगोत्र' है कहिये काश्यपादिरूप वंश करके रहित है। तथा 'अवर्ण' है कहिये ब्राह्मणत्वादिक जाति करके रहित है। तथा 'अचक्षुःश्रोत्र' है कहिये चक्षु श्रोत्रादिक ज्ञान इन्द्रियों करके रहित है। तथा प्रकृत ब्रह्म 'अपाणिपाद' है कहिये पाणिपादादिक कर्म इन्द्रियों करके शून्य है। तथा 'नित्य' है कहिये नाश रहित है। तथा 'विभु' कहिये विविध प्राणि विशेषरूप करके पैदा होता है। तथा 'सर्वगत' है कहिये व्यापक है। तथा 'सुसूक्ष्म' है कहिये स्थूलत्वके हेतु शब्दादिक गुणों करके रहित है। तथा प्रकृत ब्रह्म 'अव्यय' है कहिये अपक्षय रहित है। तथा भूतोंका 'योनि' है कहिये स्थावरजङ्गमरूप भूतोंका कारण है। तिस कारणरूप ब्रह्मको 'धीर' कहिये विवेकी पुरुष, जिस विद्या करके 'परिपश्यन्ति' कहिये अपने आत्माको जानते हैं, तिसका नाम परा विद्या है इति। इस मन्त्रको अग्रिम अधिकरणसूत्रका विषयवाक्य जानना।

शंका। "अन्तर्यामीवाक्यमें अन्तर्यामी शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रधानमें अद्रष्टृत्वादिक धर्मोंके सम्भव हुये भी द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका असम्भव है" ऐसा सिद्धान्ती कह आये हैं। परन्तु इस 'भूतयोनि'के वाक्यमें द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका कथन न होनेसे तथा अद्रश्यत्वादिक धर्मोंका प्रधानमें सम्भव होनेसे 'भूतयोनि' शब्द करके प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये? ऐसी प्रधानवादीकी शंकाके हुये सूत्रकार उत्तर कहते हैं:—

अद्रश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

अर्थ—अद्रश्यत्वादिगुणकः, २ धर्मोक्तेः। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'अथ परा यया' इस विषयवाक्यमें 'भूतयोनि' शब्द करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना प्रधानका नहीं। क्योंकि 'य सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेषमें जो चेतनके धर्म सर्वज्ञत्व सर्ववित्त्वादिक कहे हैं; सो केवल परमेश्वरमें ही बन सकते हैं प्रधानमें नहीं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—तहां 'यत्तदद्रेश्यं' इत्यादि वाक्यमें, अद्रश्यत्वादिक धर्मोंको ब्रह्म तथा प्रधानमें साधारण होनेसे संशयको दिखाते हैं:—यहां भूतयोनि शब्द करके क्या अद्रश्यत्वादिक गुणवाले प्रधानका ग्रहण करना, अथवा शारीरका ग्रहण करना, अथवा परमात्माका ग्रहण करना यह संशय है इति।

अथ पूर्वपक्षः। अचेतन जो प्रधान है सोई भूतयोनि है,यही युक्त है क्योंकि

जगत्के कारण भूतयोनिमें अचेतनोंका ही दृष्टान्तरूप करके ग्रहण किया है। तहां श्रुति–यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि; तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। अर्थ—जैसे अनायाससे 'ऊर्णनाभि'कहिये लूताकीट (मकरी) स्वदेहसे तन्तुवोंको उत्पन्न करता है तथा विहार करके उत्पन्न हुये तन्तुवोंको अपनेमें ही लय कर लेता है। और जैसे पृथिवीसे व्रीहि यवादिरूप औषधि उत्पन्न होवी हैं। और जैसे जीवित पुरुषसे केश लोमादिक उत्पन्न होते हैं। तैसे ही सृष्टि कालमें अक्षरसे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है इति। यहां अचेतनरूप दृष्टान्तोंके बलसे अक्षर शब्द करके अचेतन प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये।

शंका। इस वाक्यमें चेतनरूप ऊर्णनाभि तथा पुरुषको भी दृष्टान्तरूप करके कथन किया है, अतः चेतन ही अक्षररूप भूतयोनि है प्रधान नहीं।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि केवल चेतनमें सूत्रयोनित्व तथा केशलोमयोनित्व नहीं बन सकता है। किन्तु चेतनकरके अधिष्ठित कहिये आश्रित जो अचेतन ऊर्णनाभिका शरीर है सो सूत्रोंका कारण है। तथा अचेतन ही पुरुषका शरीर केशलोमादिकोंका कारण है यह वार्ता प्रसिद्ध है। अतः पूर्वोक्त दृष्टान्तों करके चेतनसंयुक्त अचेतन प्रधान ही भूतयोनि है चेतन नहीं यह सिद्ध हुवा।

शंका। "प्रधानमें अदृष्टत्वादिक धर्मोंके अभिलापका सम्भव हुये भी द्रष्टृत्वादिक धर्मोंके अभिलापका असम्भव होनेसे प्रधान ग्रहण करनेको अयोग्य है" इस प्रकार प्रधान का खण्डन कर आये हैं। पुनः प्रधानमें भूतयोनित्वकी सम्भावनाको क्यों करते हो?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'यत्तदद्रेश्यम्' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य अदृश्यत्वादिक धर्मोंका प्रधानमें सम्भव हो सकता है। और प्रधानमें असम्भावित धर्मोंका कथन इस श्रुतिमें है नहीं। अतः प्रधानमें भूतयोनित्वकी सम्भावना समीचीन ही है।

शंका। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य सर्वज्ञत्वादिक धर्मोंका अचेतन प्रधानमें असम्भव है, अतः 'प्रधान भूतोंका कारण है' यह प्रतिज्ञा कैसे कर सकते हो?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' यहां अक्षर शब्द करके अदृश्यत्वादिक गुणवाले भूतयोनिको श्रवण कराके पुन आगे श्रवण कराया है— 'अक्षरात्परतः परः' तथाच इस मन्त्रमें भूतोंका उपादान कारणरूप अक्षरसे पर जो सुना गया है सो सर्वज्ञ सर्ववित् पुरुष निमित्त कारण होगा, अत अक्षर शब्द करके निर्दिष्ट जो भूतयोनि है सो प्रधान ही है इति।

और यदि योनि शब्द निमित्तवाची मानोगे। तो शरीर जो जीव है सो भी भूतयोनि हो सकता है। क्योंकि धर्माधर्मरूप अदृष्टद्वारा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति जीव भी निमित्त कारण है इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। 'सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्' अर्थात् जिस अर्थमें सन्देह होता है तिस अर्थका निर्णय वाक्यशेषसे होता है। इस न्याय करके जो अदृश्यत्वादिक गुणवाला भूतयोनि है सो परमेश्वर ही है, प्रधानादिक नहीं।

शंका। किस हेतुसे तुम ऐसा जानते हो?

समाधान। **धर्मोक्तेः**। अर्थात् 'यत्तदद्रेश्यं' इस मन्त्रके वाक्यशेषरूप श्रुतियोंमें परमेश्वरके ही धर्म देखनेमें आते हैं। तहां श्रुति—**'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** इत्यादि। अचेतनरूप प्रधानमें, तथा अविद्यादिक उपाधि करके परिच्छिन्न दृष्टिवाले जीवमें, सर्वज्ञत्व तथा सर्ववित्त्वादिक धर्म नहीं बन सकते हैं अतः परमेश्वर हो भूतयोनि है।

शंका। अक्षर शब्द करके निर्दिष्ट जो भूतोंका उपादान कारणरूप भूतयोनि प्रधान है, तिस भूतयोनिसे पर निमित्त कारणरूप परमात्मा ही सर्वज्ञ तथा सर्ववित् होगा ऐसा हम कह आये हैं। अतः 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' यह वचन भूतयोनि प्रधानविषयक नहीं है किन्तु ईश्वरविषयक है।

समाधान। यह वादीका कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि—मुण्डकमें **तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्'** इस वाक्य करके शौनक ऋषिके प्रति अङ्गिरा ऋषिने जायमान प्रपञ्चकी प्रकृतिरूप करके भूतयोनिको दिखाकर, आगे भी जायमान प्रपञ्चकी प्रकृतिरूप करके ही सर्वज्ञ तथा सर्ववित्को दिखाया है। तहां श्रुतिः—**'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥'** अर्थ—जो अक्षररूप परमात्मा सर्वज्ञ है। तथा सर्ववित् है। और जिस अक्षर रूप परमात्माका 'ज्ञानमयं तप' है कहिये सृज्यमान सर्व पदार्थोंका अभिज्ञत्वरूप तप है। प्रजापतिव्रतादिकोंकी तरह क्लेशरूप नहीं। तिस उक्त सर्वज्ञ परमात्मासे एतत् 'ब्रह्म' कहिये कार्यरूप हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है। और तिस सर्वज्ञ परमेश्वरसे ही देवदत्त यज्ञदत्तादि नाम, तथा शुक्ल नीलादि रूप, तथा व्रीहि यवादिरूप अन्न उत्पन्न होता है इति। 'तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्' यहां जैसे अक्षररूप भूतयोनिमें जगत्का उपादानत्वको कहा है। तैसे ही 'यः सर्वज्ञः' इस मन्त्रमें भी सर्वज्ञत्वादि विशिष्टमें जगत्का उपादानत्वको कहा है। अत इस निर्देशके साम्य करके भूतियोनिकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे ऐसा निश्चय होता है कि—यह मन्त्र प्रकृत अक्षररूप भूतयोनिमें ही सर्वज्ञत्वादिक धर्मोंको कहता है। अतः सर्वज्ञ परमात्मा ही अक्षररूप भूतयोनि है।

और 'अक्षरात्परतः परः' यहां वादीने जो कहा था कि—अक्षरसे पर जो कोई है तिसको 'यः सर्वज्ञः' यह श्रुति कहती है, अक्षररूप भूतयोनिको नहीं ? यह भी वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि 'अक्षरात्परतः परः' इस श्रुतिमें भूतयोनिरूप अक्षरसे पर किसी अन्यका निर्देश नहीं है जिसको 'यः सर्वज्ञः' यह श्रुति बोधन करे।

शंका। तुम किस हेतुसे ऐसा जानते हो ?

समाधान। 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्'। अर्थ—शमादि साधन सम्पन्न तथा विधिपूर्वक ब्रह्मवित् आचार्यके शरणको प्राप्त जो शिष्य है तिसके प्रति आचार्य वेदान्तशास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्याको यथावत् कहे। जिस ब्रह्मविद्यारूप आत्मज्ञान करके त्रैकालाबाध्य स्वरूप जो अदृश्यत्वादिक गुणविशिष्ट अक्षररूप परब्रह्म है तिस अक्षर ब्रह्मरूप पुरुषको शिष्य जाने इति। ऐसा उपक्रम करके वक्तव्य अक्षरकी प्रतिज्ञापूर्वक आगे कहा है:—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' इति। अतः इस मन्त्र करके कहा हुवा जो प्राण मन आदि करके रहित, शुद्ध, अक्षरसे पर, परमात्मा है सोई भूतयोनि है ऐसा निश्चय होता है। अर्थात् 'येनाक्षरं' इस मन्त्रमें अक्षररूप ब्रह्मका कथन किया है, और 'अप्राणो' इस मन्त्रमें अक्षरसे पररूप सर्वज्ञ परमात्माका कथन किया है। अतः "सर्वज्ञ परमात्मा स्वरूप जो अदृश्यत्वादिक गुण-विशिष्ट प्रकृत अक्षररूप भूतयोनि है सोई 'अक्षरात्परतः परः' इस उत्तरवाक्यमें 'पर' शब्दसे कहनेके योग्य है" ऐसा निश्चय होता है।

शंका। यदि पूर्वोक्त अर्थ समीचीन है तो 'अक्षरात्परतः परः' यह व्यवहार किस प्रकार होगा अर्थात् पञ्चम्यन्त 'अक्षर' शब्दका अर्थ भूतयोनि नहीं हुवा तो क्या अर्थ है ?

समाधान। इस पञ्चम्यन्त 'अक्षर' शब्दका अव्याकृतरूप अर्थ अग्रिम सूत्रमें कहेंगे इति। किञ्च प्रथम जाननेके योग्य परा विद्या और अपरा विद्याको कह आये हैं। तहां प्रथम ऋग्वेदादिरूप अपरा विद्याको कहकर **'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'** इस मन्त्रमें परा विद्याका विषयरूप करके अक्षरका श्रवण होता है। यहां यदि परमेश्वरसे भिन्न अदृश्यत्वादि गुणवाले अक्षरकी कल्पना करोगे तो यह परा विद्या न होगी। क्योंकि मोक्षरूप फलवाली जो विद्या है तिसका नाम परा विद्या है। और स्वर्गादिरूप फलवाली जो विद्या है सो अपरा विद्या है। इस अभिप्राय करके ही परा विद्या तथा अपरा विद्या ऐसा विभाग किया है।

शंका। 'यः सर्वज्ञः' यह मन्त्र सर्वज्ञ परमात्मविषयिणी परा विद्याको कहता है, तथा 'यत्तदद्रेश्यम्' यह वाक्य प्रधानविषयिणी अपरा विद्याको कहता है।

समाधान। यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि प्रधान-विषयिणी विद्या मोक्ष फलवाली किसीने अङ्गीकार नहीं करी है। और यदि ऐसा मानोगे तो तुम्हारे मतमें तीन प्रकारकी विद्या प्रतिज्ञात होगी—एक तो अपरा विद्या, दूसरी प्रधान विषयिणी विद्या, तीसरी अक्षररूप भूतयोनिसे भिन्न परमात्मविषयिणी परा विद्या। और श्रुतियोंमें दो ही प्रकारकी विद्या कही है। क्योंकि वस्तुतः यहां अक्षर रूप परमात्मा ही प्रतिपादन करनेको योग्य हैं।

किञ्च **'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'।** यहां एकके विज्ञान करके जो सर्वविषयक विज्ञानको कहा है सो भी सर्वात्म-स्वरूप ब्रह्मकी विवक्षाके हुये ही बन सकता हैं। अचेतन मात्रका उपादान कारणरूप प्रधानके, अथवा जीवके विवक्षाके हुये, नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रधानके ज्ञानसे प्रधानके कार्य मात्रका ज्ञान हुये भी प्रधानके अकार्य जीवोंका ज्ञान नहीं होगा। तथा जीवके ज्ञात हुये भी जीवके अकार्य भोग्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे भूतयोनि ब्रह्म ही है यह सिद्ध हुवा।

किञ्च 'ब्रह्मविद्या शब्दसे भी भूतयोनि ब्रह्म ही है' इस अर्थको दिखाते हैं:— **'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।'** इति। अर्थ— ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाके प्रति कर्म उपासनादिरूप सर्वविद्याकी प्रतिष्ठा कहिये समाप्तिकी भूमिरूप जो ब्रह्मविद्या है तिसको उपदेश करता भया। अर्थात् ब्रह्मविद्या सर्व विद्याकी प्रतिष्ठारूप है। क्योंकि सर्वविद्यावोंका तथा सर्वविद्याके फलोंका ब्रह्ममें ही अन्तर्भाव है इति। इस प्रकार प्रधानरूपसे ब्रह्मविद्याका उपक्रम करके आगे परा अपरा विभाग पूर्वक अपरा विद्याको कहकर अक्षरअधिगामिनो परा विद्याको दिखाते हुये परा विद्यामें ब्रह्मविद्यात्वको श्रुति बोधन करती है। और तिस ब्रह्मविद्या करके प्राप्त होनेको योग्य जो अक्षर है तिस अक्षरको ब्रह्म न मानोगे तो 'ब्रह्मविद्या' यह समाख्या (संज्ञा) बाधित होगी। और पूर्वोक्त रीतिसे बाधित है नहीं। अतः 'भूतयोनिरूप अक्षर ब्रह्मस्वरूप है' ऐसा अवश्य मानना होगा इति!

शंका। यदि यहां ब्रह्मरूप अक्षर ही प्रतिपाद्य है तो परा विद्याके प्रकरणमें अपरा विद्याको क्यों कहा है?

समाधान। ऋग्वेदादिरूप अपरा कर्मविद्याको जो परा विद्याके प्रकरणमें कहा है सो ब्रह्मविद्याको प्रशंसा वास्ते कहा है।

अब वैराग्यके लिये कर्मफलकी तथा कर्मकर्ताको निन्दाको दिखाते हैं। तहां श्रुतिः—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो

येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ अर्थ—'एते' कहिये शास्त्रमें प्रसिद्ध जो यज्ञरूप हैं। अर्थात् जिनोंका यज्ञ करके निरूपण किया जाता है तिनोंका नाम यज्ञरूप है। अर्थात् यज्ञके करनेवालोंका नाम यज्ञरूप है। वह कैसे हैं? 'प्लव हैं' कहिये प्लव तुल्य हैं; जैसे क्षुद्र नदीके तरणे वास्ते तृण काष्ठादिकों करके निर्मित जो साधन विशेषरूप प्लव है सो समुद्र पारको प्राप्त करनेमें असमर्थ है। तैसे यह जो यज्ञके कर्ता हैं सो भी समुद्ररूप संसारका मोक्षरूप जो पार है तिसको कर्मद्वारा प्राप्त करनेको असमर्थ हैं। इसमें हेतुको कहते हैं-'अदृढाः' जिस कारणसे अदृढ़ हैं कहिये स्वल्पविघ्न करके प्रतिहत हुये स्वर्गको भी प्राप्त करनेको असमर्थ हैं। वह कितने हैं ऐसी शंकाके हुये कहते हैं 'अष्टादश' अठारह हैं-१ होता, २ अध्वर्यु, ३ ब्रह्मा, ४ उद्गाता, ५ प्रतिप्रस्थाता, ६ ब्राह्मणाच्छंसि, ७ प्रस्तोता, ८ मैत्रावरुण, ९ अच्छा वाक्, १० नेष्टा, ११ आग्नीध्र, १२ प्रतिहर्ता, १३ ग्रावस्तुत्, १४ उन्नेता, १५ पोता, १६ सुब्रह्मण्य, यह षोडश ऋत्विज् हैं, तथा पत्नी तथा यजमान। इन अठारहोंमें शास्त्र करके कहा हुवा अनित्य फलवाला कर्म रहता है। और जो मूढ अज्ञानी पुरुष इस कर्मको मोक्षका साधन मानकर हर्षको प्राप्त होते हैं। सो उक्त कर्मी पुरुष किञ्चित् काल स्वर्गमें स्थित होकर पुनः जरा करके सहित मृत्युको प्राप्त होते हैं। अर्थात् वारंवार जन्म मरणको प्राप्त होते हैं इति। इत्यादिक वचनोंसे अपरा विद्याकी निन्दा करके, अनन्तर विरक्त पुरुषको परा विद्यामें अधिकारको श्रुति दिखाती है। तहां श्रुतिः—

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥'

(मु०) अर्थ—कर्म करके सम्पादित स्वर्गादिक लोकोंको अनित्य निश्चय करके, अधिकारी पुरुष 'निर्वेद' कहिये वैराग्यको प्राप्त होता है। और 'अकृत' जो मोक्ष है सो 'कृत' कहिये कर्म करके प्राप्त नहीं होता है। किन्तु ब्रह्मविद्या करके ही मोक्ष होता है। इसलिये ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके निमित्त समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास हो जावे इति। यह नियमविधि है।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि "पृथिवी आदिक अचेतनोंको दृष्टान्तरूप करके ग्रहण किया है अतः दार्ष्टान्तिकमें भी अचेतनरूप ही भूतयोनिको ग्रहण करना चाहिये" यह भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक दोनोंमें अत्यन्त साम्य होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है। किन्तु यत्किञ्चित् साम्य होना चाहिये। यहां पृथिवी आदिक जो दृष्टान्त हैं सो "कार्य जो होता है सो उपादान कारणसे अभिन्न होता है" इतने अंशमें हैं। किञ्च यदि तुम अत्यन्त साम्य मानोगे तो पृथिवी आदिक दृष्टान्त स्थूल हैं अतः दार्ष्टान्तिक जो भूतयोनि है सो भी स्थूल ही होना चाहिये। परन्तु यह तुम्हारेको इष्ट नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे अदृश्यत्वादिक गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर ही है अन्य नहीं यह सिद्ध हुवा। यहां पूर्वपक्षमें प्रधानादिकोंकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मज्ञान फल है इति ॥ २१ ॥

भूतयोनि ब्रह्म है इस अर्थमें हेत्वन्तरको सूत्रकार दिखाते हैं—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

अर्थ – १ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्, २ च, ३ न, ४ इतरौ। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस हेतुसे भी परमेश्वर ही भूतयोनि है, इतर शारीर वा प्रधान भूतयोनि नहीं हैं। क्योंकि प्रकृत भूतयोनिको शारीरसे विलक्षण श्रुति कहती है। और भूतयोनिके जो दिव्यत्वादिक विशेषण कहे हैं; तिन विशेषणों करके विशिष्ट जीव नहीं हो सकता है। तथा प्रधानसे भी भूतयोनिको भिन्न कहा है। अतः प्रधान भी भूतयोनि नहीं हो सकता है। किन्तु परमेश्वर ही भूतयोनि है इति।

तहां प्रथम जीवपक्षके खण्डनको दिखाते हैं:–'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि। इस श्रुतिमें कहे हुये दिव्यत्वादिक विशेषणों करके विशिष्ट भूतयोनिरूप परमात्मा ही है, जीव नहीं। क्योंकि अविद्या करके रचित जो नामरूपात्मक शरीर है, तिस शरीर करके जो अल्पत्वरूप परिच्छेद है, तिस परिच्छेदका अभिमानी; तथा शरीरके जाड्यमूर्तत्वादिक धर्मोंको स्वात्मामें कल्पना करनेवाला; जो जीव है तिस जीवमें दिव्यत्व अप्राणत्व अमनस्त्व शुभ्रत्वादिक विशेषण नहीं बन सकते हैं। अतः साक्षात् उपनिषत्–प्रतिपाद्य पुरुषरूप परमात्मा ही भूतयोनि है।

और अब प्रधानपक्षके खण्डनको दिखाते हैं—'अक्षरात्परतः परः' यहां पर–सांख्यमतमें 'अक्षर' शब्द करके प्रतिपाद्य जो प्रधान है तिस प्रधानसे भी प्रकृत भूतयोनिको भिन्न कहा है।

शंका। अक्षर शब्द करके यदि प्रधानको कहोगे तो 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रमें जो वेद करके अप्रतिपाद्यत्वरूप अशब्दत्वको प्रधानमें कहा है सो बाधित होगा?

समाधान। सिद्धान्तमें अक्षर शब्द करके अव्याकृत(अविद्या)का ग्रहण करना। 'अश्नोति व्याप्नोति स्वविकारजातमित्यक्षरम्' अपने विकारसमूहको जो व्याप्त करे तिसका नाम अक्षर है। अर्थात् इस 'अक्षर' शब्दका अर्थ अविनाशी नहीं समझना। वह अक्षररूप अव्याकृत कैसा है कि—नामरूप जगत्का जो बीजरूप ईश्वर है तिस ईश्वरकी शक्तिरूप है। तथा भूतोंके सूक्ष्म संस्कार हैं जिस अव्याकृतमें तिसका नाम भूतसूक्ष्म है। तथा 'ईश्वराश्रयम्' तत्पदका लक्ष्यार्थ चिन्मात्र है आश्रय जिसका तिसका नाम ईश्वराश्रय है। तथा तिस चिन्मात्रका-जो जीव, ईश्वर; इस प्रकारका भेद है तिस भेदको उपाधिरूप है।

यहां 'ईश्वराश्रयम्' 'ईश्वर' कहिये तत्पदका लक्ष्य चिन्मात्र है 'आश्रय' कहिये विषय जिस अव्याकृतरूप अज्ञानका तिसका नाम ईश्वराश्रय है। यह जो नानाजीववादीका व्याख्यान है सो भाष्यसे बहिर्भूत है। अर्थात् नानाजीववादीका यह तात्पर्य है कि—मूल प्रकृतिरूप अज्ञान एक नहीं किन्तु

नाना है। और अज्ञान उपाधिवाला जीव भी नाना है। और वह अज्ञान जीवमें रहकर ब्रह्मको विषय करता है। अतः 'ईश्वराश्रयम्' यहां आश्रय शब्दका अर्थ विषय करना इति। यह व्याख्यान भाष्यकारको संमत नहीं है। क्योंकि 'एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इस मन्त्रमें अव्याकृतरूप मूलप्रकृति अविद्याका अक्षररूप ब्रह्ममें ओतप्रोतभावको कहा है। अतः मूलप्रकृतिरूप अविद्याका आश्रय चिदात्मा ही है। और आश्रय पदकी विषयमें लक्षणा माननेमें कोई मूल है नहीं। अतः भूतयोनिरूप ब्रह्म ही मूलप्रकृतिरूप अव्याकृतका आश्रय है केवल विषय ही नहीं। यही अर्थ यहां भाष्यकारोंको सम्मत है। अन्यथा श्रुतार्थका परित्यागरूप दोष होगा। और मूलप्रकृतिके भेदमें कोई प्रमाण है नहीं। अतः मूलप्रकृतिरूप अविद्या एक है।

शंका। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' यह श्रुति 'मायाभिः' इस बहु वचन करके अविद्यामें नानात्वको कहती है अतः अविद्याके भेदमें यह श्रुति प्रमाण है।

समाधान। 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादिक अनेक श्रुति अविद्यामें एकत्वको कहती हैं। और एक माननेमें लाघव भी है। अतः लाघव सहकृत 'अजाम्' इत्यादिक श्रुतियोंके बलसे 'इन्द्रो मायाभिः' यह श्रुति बुद्धिके भेद करके अविद्याके भेदको अनुवाद करतो है। वस्तुतः अविद्यामें अनेकत्वको नहीं कहती है। इस अर्थको सुरेश्वराचार्यजीने भो कहा है— **'स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते'** अर्थ—यहां स्वभावसे अविद्याका भेद किञ्चित् मात्र भी नहीं है इति। और सांख्य तथा योगके जो आचार्य हैं तथा पुराण इतिहासोंके जो कर्ता हैं सो भी मूलप्रकृतिमें ऐक्यको ही कथन करते हैं।

शंका। यदि अविद्याको एक मानोगे तो एक अविद्योपहित चेतन जीव भी एक ही होगा। और जब ऐसा मानोगे तो 'कोई जीव बद्ध है कोई जीव मुक्त है' यह जो बन्ध मोक्षको व्यवस्था है सो असङ्गत होगी। तथा अनेक प्राणियोंकी जो श्रवणादिकोमें प्रवृत्ति है तिसका भी बाध होवेगा।

समाधान। जो अविद्याको नाना मानते हैं तिनोंको भी परिणामी होनेसे अवयवरूप अंशवाली अविद्या माननी पड़ेगी। क्योंकि अंशवाले पदार्थका ही परिणाम होता है, निरवयवका नहीं। जब ऐसा मानोगे तब सांश एक ही अविद्या माननी उचित है। क्योंकि अनर्थ स्वरूप जो अपने अपने देहादिक संघात हैं, तिन २ देहादिक संघातरूप करके परिणत जो अनेक अविद्याके अंश हैं; तिन २ अंशो करके उपहित चेतन जीव भी अनेक हैं। इस प्रकार जीवोंकी भेदव्यवस्था बन सकती है। तथा जिसके अन्तः-

करणमें ज्ञान उत्पन्न होगा तिसके अन्तःकरणादिका मूल परिणामी जो अविद्याअंश है तिसका नाशरूप मोक्ष होगा अन्यका नहीं। इस प्रकार एक अविद्या माननेसे भी अनेक अविद्याअंश प्रयुक्त बन्ध मोक्षकी व्यवस्था बन सकती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे श्रोता पुरुषको स्वरूपानन्दकी प्राप्तिका, तथा श्रवणादिकोंमें प्रवृत्तिका, तथा विद्वानोंके अनुभवका, तथा जीवन्मुक्तिके प्रतिपादक शास्त्रादिकोंका बाध भी नहीं होता है। और यहां ऐसा जाननेको योग्य है कि—पूर्वोक्त रीतिसे भाष्यकार भगवान्को नानाजीववाद सम्मत है असम्मत नहीं, किन्तु मूलप्रकृतिरूप अविद्यामें नानात्व असम्मत है। यह एकअविद्यावादका अभिप्राय है।

पुनः अक्षररूप अव्याकृत कैसा है कि—सम्पूर्ण विकारोंसे पर अविकाररूप है। तिस अविकाररूप अक्षरसे भिन्नरूप करके यहां विवक्षित परमात्माको 'अक्षरात्परतः परः' यह श्रुति दिखाती है इति!

शंका। यदि प्रधानसे भिन्न ब्रह्मको मानोगे तो "ब्रह्मनिष्ठ भेदका प्रतियोगि जो प्रधान है सो तुम्हारेको भी इष्ट है" ऐसा हमारेको निश्चय होता है। क्योंकि असत् वस्तुमें भेदका प्रतियोगित्व नहीं होता है।

समाधान। यहां जिस वस्तुमें भेदको हम कहते हैं "सो स्वतन्त्र वस्तु स्वरूप कोई प्रधान है तिस सत्य प्रधानसे प्रकृत भूतयोनि भिन्न है" ऐसा हम नहीं अंगीकार करते है। किन्तु यदि अज्ञों करके कल्पित जो प्रधान है तिसको स्वीकार करना होवे तो श्रुतिसे विरोध न करके परतन्त्र अव्याकृत शब्दका वाच्य अज्ञानस्वरूप तथा भूतसूक्ष्मरूप ही स्वीकार करना चाहिये यह हम कहते हैं। यदि वादी ऐसी कल्पना करे तो, यह हम भी अङ्गीकार करते हैं। और इस उक्त अव्याकृतरूप अज्ञानसे 'अक्षरात्परतः परः' इस श्रुतिने ब्रह्ममें भेदको कथन किया है। अतः भूतयोनिरूप परमेश्वर ही उक्त श्रुति व सूत्रमें प्रतिपाद्य है यह सिद्ध हुवा।

और यहां ऐसा जानना कि—**'कार्यात्मना प्रधीयत इति प्रधानम्'** कार्यरूप करके परिणामको जो प्राप्त होवे तिसका नाम प्रधान है। अर्थात् अज्ञानका नाम प्रधान है। तिस अज्ञानसे भिन्न प्रधानमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः यहां 'अज्ञान ही भूतयोनि है' ऐसा पूर्वपक्षको दिखाकर खण्डन किया है कि—'अज्ञान ही भूतोंका योनि नहीं है। किन्तु अज्ञानसे पर परमात्मा ही भूतयोनि है। इस प्रकार अज्ञानका खण्डन करके सांख्यकल्पित प्रधानका भी खण्डन हो चुका इति॥ २२॥

और किस हेतुसे परमेश्वर भूतयोनि है? ऐसी शंकाके हुये भूतयोनिमें ईश्वरत्वकी सिद्धिके लिये सूत्रकार कहते हैं:—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अर्थ—१ रूपोपन्यासात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। इस सूत्रमें पूर्वोक्त सूत्रसे 'नेतरौ' इसका अनुषङ्ग करना। पूर्व वाक्यमें श्रुत जो पद हैं तिन पदोंका जो उत्तर वाक्यमें अनुकर्षण अर्थात् लाके जोड़ देना है। इसका नाम अनुषङ्ग है। जायमान विकारात्मक परमेश्वरके रूपोंका वाक्यशेषमें कथन होनेसे भूतयोनि शब्द करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना, जीव तथा प्रधानका नहीं इति।

अब प्रथम वृत्तिकारके मतसे सूत्रके अर्थको दिखाते हैं—'अक्षरात्परतः परः' इस मन्त्रसे अनन्तर **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥** यह मन्त्र है। यहां ऐसा जानना कि—अर्थक्रम करके पाठक्रमका बाध होता है। क्योंकि 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा' 'प्राणस्तेजसि' इत्यादि मन्त्रोंमें प्राणादिकोंका भूतोंमें लयका श्रवण करके प्राणादिकोंमें भौतिकत्वका निश्चय होता है। अतः आकाशादिक भूतोंकी उत्पत्तिसे अनन्तर प्राणादिकोंकी उत्पत्ति कहनी चाहिये। इसलिये इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार करना :—मायाप्रतिबिम्बित ब्रह्मसे शब्द गुणवाला आकाश उत्पन्न होता है। तथा आकाश भावापन्न ब्रह्मसे शब्द स्पर्श गुणवाला वायु उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना। तथा वायुसे शब्द स्पर्श रूप गुणवाला ज्योतिरूप अग्नि उत्पन्न होता है। तथा अग्निसे शब्द स्पर्श रूप रस गुणवाला जल उत्पन्न होता है। तथा जलसे शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध गुणवाली तथा विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है। अनन्तर मायामें व सूक्ष्म भूतोंमें प्रतिविम्बित ब्रह्मसे प्राण उत्पन्न होता है, तथा मन, तथा सर्व इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं इति। इस मन्त्र करके प्राणसे आदि लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वोंकी सृष्टिको कहकर आगे तिस भूतयोनिका ही सर्व विकारात्मक रूपको श्रुति दिखाती है। तहां श्रुतिः—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ अर्थ—जिस ईश्वरका द्युलोकरूप अग्नि शिर है। तथा प्रसिद्ध चन्द्र और सूर्य नेत्र हैं। प्राची आदिक दिशा जिस ईश्वरके श्रोत्र हैं। तथा प्रसिद्ध ऋगादिक जो वेद हैं सो वाणी है। तथा बाह्य भूतात्मक वायु प्राण है। तथा सब जगत् हृदय है अर्थात् अन्तःकरण है। क्योंकि सुषुप्तिमें अन्तःकरणके लय होनेसे सर्व जगत्का लय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नमें उसी अन्तःकरणसे अग्निके विष्फुलिङ्गोंकी तरह बाहर आकर सर्व जगत् प्रतिष्ठित होता है। तथा पृथिवी जिस परमेश्वरका पाद है। ऐसा उक्त प्रकारका शरीरवाला जो यह परमात्मा है सो सर्व प्राणियोंका अन्तर आत्मा है अर्थात् सर्व भूतोंका द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता है इति।

यह पूर्वोक्त रूप, सर्व विकारोंका कारण होनेसे परमात्माका ही उचित है। अल्प शक्तिवाला जीवका नहीं तथा प्रधानका भी नहीं। क्योंकि जीवमें तथा प्रधानमें सर्वान्तरात्मत्वका असम्भव है। इसलिये परमेश्वर ही भूतयोनि है, जीव तथा प्रधान नहीं।

शंका। किस प्रकार तुम जानते हो कि—भूतयोनिके रूपका यह उपन्यास कहिये कथन है।

समाधान! 'प्रकरणात्' इति भाष्यम्। प्रकरणसे हम जानते हैं सो दिखाते हैं—जैसे उपाध्यायको प्रसङ्गमें प्राप्त करके 'एतस्मादधीष्व एष वेदवेदाङ्गपारगः' यह वचन उपाध्याय विषयक है। तैसे 'अग्निर्मूर्धा' इसश्रुतिमें 'एषः' यह जो शब्द है सो प्रसङ्गमें प्राप्त भूतयोनिका अनुकर्षण करता है। अतः भूतयोनिको प्रसङ्गमें प्राप्त करके 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिक जो वचन हैं सो भी भूतयोनिविषयक ही हैं इति।

शंका। अदृश्यत्वादिक गुणवाले भूतयोनिका विग्रहवाला रूप किस प्रकार बन सकता है?

समाधान। जैसे कोई ब्रह्मवित् पुरुष अपना सर्वात्मत्वको प्रकट करनेके लिये 'अहमन्नमहमन्नादः' इत्यादिक सामको गायन करता है, आत्मामें अन्नत्वादिक धर्मोंकी विवक्षा करके नहीं। क्योंकि अन्नत्वादिकोंकी विवक्षा निष्फल है। तैसे 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक मन्त्र भी भूतयोनिरूप परमात्मामें सर्वात्मत्वकी विवक्षा करके परमेश्वरके रूपको कहते हैं। विग्रहवत्त्वकी विवक्षा करके नहीं। अतः कोई दोष नहीं।

अब इस वृत्तिकारके व्याख्यानको खण्डन करते हैं:—'अन्ये पुनर्मन्यन्ते' इत्यादि भाष्यम्। सिद्धान्ती ऐसा मानता है कि—भूतयोनिके रूपका यह उपन्यास नहीं बन सकता है। क्योंकि 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिक जो प्रथम मन्त्र है सो प्राणसे आदि लेके पृथिवी पर्यन्त तत्त्वसमूहको जायमानरूप करके कथन करता है। अतः अगले मन्त्रमें जो 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' यह वाक्य है तिसका 'एतस्माज्जायते' इस श्रुतिके साथ अन्वय करना। इस कहनेसे यह अर्थ सिद्ध हुवा—इस भूतयोनिरूप परमात्मासे 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहिये हिरण्यगर्भरूप सूत्रात्मा उत्पन्न होता है। और आगे भी 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः'। अर्थ—जिस स्वर्गरूप द्युलोक अग्निका सूर्य 'समित्' कहिये काष्ठकी तरह काष्ठ व प्रदीप्तिकर है। सो द्युलोक अग्नि भी तिस भूतयोनिरूप परमात्मासे ही उत्पन्न होता है इति। इस मन्त्रसे लेकर 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च'। अर्थ—इस भूतयोनिसे ही सम्पूर्ण औषधि तथा षट् प्रकारका रस उत्पन्न होता है इति। इस मन्त्र पर्यन्त जो वाक्य हैं सो सर्व वाक्य जायमान रूप करके ही पदार्थोंको निर्देश करते हैं। अर्थात् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिक जो यह पूर्व मन्त्र है सो भूतयोनिसे सृष्टिको कहता है। तथा 'तस्मादग्निः' इत्यादिक जो उत्तर मन्त्र है सो भी भूतयोनिसे ही सृष्टिको कहता है। और मध्यमें जो 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक मन्त्र है सो अकस्मात् किस प्रकार भूतयोनिके रूपको कहेगा? अर्थात् नहीं कहेगा।

अतः मध्य मन्त्र भी सृष्टिको ही कहेगा भूतयोनिके रूपको नहीं। और वादीने जो कहा था कि भूतयोनिमें सर्वात्मत्वको 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक मन्त्र कहता है। सो भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि सृष्टिको समाप्त करके आगे सर्वात्मत्वको श्रुति कहेगी। तहां श्रुतिः— **'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य'।** अर्थ—हे सोम्य! हे शौनक! परमात्मारूप पुरुषसे उत्पन्न हुवा जो यह सम्पूर्ण विश्व है सो पुरुषस्वरूप ही है पुरुषसे भिन्न नहीं। इस कहनेसे जो शौनक ऋषिने अङ्गिरा ऋषिके प्रति पूछा था—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' इसका उत्तर हो चुका। क्योंकि कार्यको कारणसे अभिन्न होनेसे सर्वका कारण परमात्माके विज्ञात हुये सर्व विज्ञात होता है। अर्थात् फल व साधनके सहित अग्निहोत्रादिरूप कर्म, तथा फल व साधनके सहित उपासनारूप तप, तथा कर्मतपका प्रकाशक वेद, यह सर्व स्वरूप जो विश्व है सो 'परामृतम्' कहिये अमृतरूप परब्रह्मका कार्य होनेसे परब्रह्म स्वरूप ही है। और सर्व प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें स्थित जो सर्वात्मक ब्रह्म है तिस ब्रह्मको जो अधिकारी पुरुष अपने आत्मारूप करके जानता है सो विद्वान् 'अज्ञोऽहम्' इस प्रकारका जो अज्ञानके साथ तादात्म्यरूप अविद्याग्रन्थि है तिसको नाश करता है इति।

शंका। हिरण्यगर्भके जन्मका प्रतिपादन अन्यत्र कहीं देखनेमें आता नहीं। यहां किस प्रकार करते हो?

समाधान। त्रैलोक्य शरीरवाले प्रजापतिके जन्मादिक श्रुति स्मृति विषे देखनेमें आते हैं— **हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ तथा स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥** अर्थ—सृष्टिके आदिकालमें जो हिरण्यगर्भ 'समवर्तत' कहिये उत्पन्न हुवा और ईश्वरके प्रसादसे भूतसमूहका पतिरूप होता भया, सो सूत्रात्मा स्वर्गलोक तथा इस पृथिवीको अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्चको धारण करता भया। ऐसा जो हिरण्यगर्भरूप एक देव है तिस देवकी मैं हविष् करके परिचर्याको करता हूं। इस अर्थमें 'कतम एको देव इति प्राण इति' यह श्रुति प्रमाण है इति। अथवा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिके अनुसार ऐसा अर्थ करना—जिस परमात्मासे प्रजापति सूत्रात्मा उत्पन्न होता भया तिस परमात्माकी मैं हविष् करके परिचर्याको करता हूं। पूर्व श्रुतिमें 'कस्मै' के स्थानमें 'एकस्मै' जानना, क्योंकि एकारका लोप हो गया है। अन्यथा कको सर्वनाम न होनेसे कस्मै रूप न बन सकेगा। तथा सो हिरण्यगर्भ ही सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न होनेसे प्रथम शरीरी कहा जाता है। तथा सोई पुरुष कहा जाता है। तथा सोई सम्पूर्ण भूतोंका आदि कर्ता कहा जाता है इति।

शंका। इस व्याख्यानमें हिरण्यगर्भमें 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' यह सर्वभूतान्तरात्मत्व किस प्रकार बनेगा?

समाधान। पूर्व कल्पमें प्रकृष्ट उपासना तथा कर्म दोनोंके समुच्चयका अनुष्ठानसे इस कल्पके आदिमें सम्पूर्ण प्राणियोंके जो व्यष्टि लिङ्ग शरीर हैं

तिनोंमें व्यापक एक सत्तरह तत्त्वोंका समष्टि लिङ्ग शरीर उत्पन्न होता है। तिस समष्टि लिङ्ग शरीररूप सूत्रात्मामें सर्वान्तरात्मत्व युक्त ही है। क्योंकि सूत्रात्मा सर्व भूतोंके अन्तर स्थिर रह कर सम्पूर्ण प्राणादिक व्यष्टि सूक्ष्म शरीरोंका अधिष्ठाता है। और अधिष्ठाता समष्टि लिङ्ग शरीरका तथा अधिष्ठेय व्यष्टि लिङ्ग शरीरका अभेद है इति।

शंका। हिरण्यगर्भसे लेकर सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टिको ही पूर्वोक्त सर्व मन्त्र जब प्रतिपादन करते हैं। तब तुम्हारे मतसे 'रूपोपन्यासाच्च' इस सूत्रका क्या अर्थ होगा?

समाधान। हमारे पक्षमें 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो परमेश्वरके रूपका उपन्यास है; सो परमात्माकी प्रतिपत्तिका हेतु है। अतः भूतयोनिरूप ज्ञेय ब्रह्ममें ही पूर्वोक्त वाक्यका समन्वय जानना इति॥ २३॥

इत्यदृश्यत्वाधिकरणम्॥

पूर्वोक्त रूपके उपन्यासके प्रसङ्गसे त्रैलोक्य शरीरवाला जो वैश्वानर है सो भी परमात्मा ही है इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैं:--

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्॥ २४॥

अर्थ—१ वैश्वानरः, २ साधारणशब्दविशेषात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। वैश्वानर शब्द करके भी परमात्माका ही ग्रहण करना, जाठर अग्नि आदिकोंका नहीं। यद्यपि 'वैश्वानर' यह शब्द जाठराग्नि, भूताग्नि व देवताग्निमें साधारण है। तथा 'आत्मा' यह शब्द भी जीव व ब्रह्ममें साधारण है। तथापि इन साधारण दोनों शब्दोंका 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक विशेषशब्द है। अर्थात् 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक विशेषशब्दों करके प्रतिपाद्य जो त्रैलोक्य शरीरवाला वैश्वानर है सो परमात्मा ही है। जाठराग्नि आदिक नहीं। क्योंकि जाठराग्नि आदिकोंका त्रैलोक्य शरीर नहीं बन सकता है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—छान्दोग्यमें पञ्चम अध्यायके अग्यारवां खण्डसे लेकर लिखा है कि—प्राचीनशाल तथा सत्ययज्ञ तथा इन्द्रद्युम्न तथा जन तथा बुडिल, यह पांचों ऋषि मिलकर विचार करते भये—'को न आत्मा किं ब्रह्मेति'। अर्थ—हमारे लोगोंका आत्मा कौन है? और ब्रह्म कौन है? अर्थात् ब्रह्मसे अभिन्न प्रत्यग् आत्मा कौन है इति। जब परस्पर विचार करके निश्चय नहीं हुवा तब सर्व मिलकर अरुण ऋषिके पुत्र उद्दालक ऋषिके पास प्राप्त होते भये। परन्तु उद्दालक ऋषि भी यथार्थ नहीं जानते थे। अतः उद्दालक ऋषि मनमें विचार करने लगे कि—ये पांचो ऋषि बड़ी २ शालावाले हैं, और बड़े २ विद्वान् हैं। इनके प्रश्नोंका यथावत् उत्तर देना मेरी शक्तिके बाहर है। इसलिये इन सर्वको लेकर मैं अश्वपति राजाके पास चलूं। ऐसा

विचार कर उद्दालकने तिन ऋषियोंसे कहा—हे भगवन्तः! इस समयमें यह राजा कैकेय इस वैश्वानर आत्माको जानता है। इसलिये हम सर्व मिलकर राजाके पास चलें। इसके बाद उद्दालकके सहित सर्व ऋषि मिलकर केकय राजाका पुत्र जो कैकेय राजा है जिसका नाम अश्वपति भी है तिस राजाके पास गये। राजाने यथायोग्य सर्वकी पूजा कराई और भोजन विश्रामका सुप्रबन्ध करा दिया। प्रातःकालमें राजाने ऋषियोंके पास विनयपूर्वक जाकर कुछ धन समर्पण करनेका विचार प्रकट किया। ऋषियोंने लेनेसे इन्कार किया। तब राजा कहने लगे—**'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो'** इत्यादि। अर्थात् मेरा धन राजधन होनेपर भी अशुद्ध नहीं है। क्योंकि मेरे राज्यमें चोर नहीं हैं। और कृपण भी नहीं हैं। मद्य पीनेवाले भी नहीं हैं। विधिवत् अग्निका आधान करके हवन न करनेवाले भी नहीं हैं। और अविद्वान् भी नहीं हैं। कोई पुरुष व्यभिचारी भी नहीं हैं। और व्यभिचारिणी स्त्री कहांसे होगी। हे भगवन्तः! मैं यज्ञ करनेवाला हूं जितना २ धन एक २ ऋत्विक्को दूंगा उतना २ ही आपमेंसे प्रत्येकको दूंगा। आप लोग मेरे यहां सुखसे निवास करें। ऋषि बोले—हे राजन्! जिस पुरुषको जिस अर्थकी इच्छा हो सो ही अर्थ दाताने अधिकारीको देना चाहिये। हम धनार्थी नहीं हैं। किन्तु हम वैश्वानर आत्माको जाननेके निमित्त आपके पास आये हैं। अतः आत्मविद्या ही हमको देनी चाहिये। **आत्मानमेवेमं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति।** अर्थ—हे राजन्! जिस वैश्वानर स्वरूप आत्माको आप इस समय स्मरण करते हैं तिसको ही हम लोगोंके लिये कथन करें इति।

राजा ऋषियोंसे बोले—**'प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मि'**। अर्थ – प्रातःकालमें इसका उत्तर मैं आपसे कहुंगा इति। इसके दूसरे दिन प्रातःकाल सर्व ऋषि विधिवत् समित्पाणि होकर राजाके पास पहुंचे। तब तिन सर्व ऋषियोंको, उपनयन संस्कारके विना ही उपदेश करनेके लिये अपने सन्मुख बैठाकर उपमन्युके पुत्र प्राचीनशालकी तरफ दृष्टि करके राजा बोले—हे औपमन्यव! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो? औपमन्यव—हे भगवन्! हे राजन्! द्युलोककी उपासना करता हूं। राजा—जिसकी तुम उपासना करते हो इस द्युलोक रूप वैश्वानर आत्माका नाम सुतेजा है। अर्थात् सुतेजस्त्वगुणविशिष्ट यह आत्मा वैश्वानर है। इसी कारणसे तुम्हारे वंशके यज्ञोंमें सोमरसका बाहुल्य है। अर्थात् तुम कुलीन हो कर्मठ हो। उत्तम अन्नको खाते हो, और प्रियको देखते हो। जो इस सुतेजस्त्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है और प्रियको देखता है। इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्रह्मतेज होता है। परन्तु यह द्युलोक वैश्वानरका मूर्धा है वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो अवैश्वानरको वैश्वानररूप करके चिन्तनरूप अपराधसे तुम्हारा शिर गिर जाता।

इसके बाद सत्ययज्ञकी तरफ देखकर राजा बोले—हे प्राचीनयोग्य! तुम

किस आत्माकी उपासना करते हो ? सत्ययज्ञ–हे भगवन्! हे राजन्! आदित्यकी उपासना करता हूं। राजा-जिसकी तुम उपासना करते हो इस आदित्यरूप वैश्वानर आत्माका नाम विश्वरूप है। इसीसे तुम्हारे कुलमें भोगके साधन अश्वतरी (खच्चर) रथ दास दासी निष्क (हार) आदिक अनेक प्रकारके हैं। उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो। जो इस विश्वरूपत्वविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है और प्रियको देखता है। और इसके कुलमें ब्रह्मवर्चस होता है। परन्तु यह आदित्य वैश्वानर आत्माका चक्षु है वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम अन्धे हो जाते।

इसके बाद इन्द्रद्युम्नकी तरफ देखकर राजा बोले–हे वैयाघ्रपद्य! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? इन्द्रद्युम्न–हे भगवन्! हे राजन्! वायुकी उपासना करता हूं। राजा-जिसकी तुम उपासना करते हो इस वायुरूप वैश्वानर आत्माका नाम पृथग्वर्त्मा है। इसीसे तुम्हारे लिये पृथक् २ बलि (भेट) व रथश्रेणी आती हैं। और उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो। जो इस पृथग्वर्त्मत्व गुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, प्रियको देखता है। इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस होता हैं। परन्तु यह वायु वैश्वानर आत्माका प्राण है वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारा प्राण निकल जाता।

इसके बाद राजा जनकी तरफ देखकर बोले–हे जन! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? जन–हे भगवन्! हे राजन्! आकाशकी उपासना करता हूं। राजा–जिसकी तुम उपासना करते हो इस आकाशरूप वैश्वानर आत्माका नाम बहुल है। इसीसे तुम प्रजा करके व धन करके बहुल हो। उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो। जो इस बहुलत्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, और प्रियको देखता है। और इसके वंशमें ब्रह्मतेज होता है। परन्तु यह आकाश वैश्वानर आत्माका सन्देह है अर्थात् देहका मध्य भाग है, वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारा देहका मध्य भाग टूट जाता।

इसके बाद राजा बुडिलकी तरफ देखकर बोले–हे वैयाघ्रपद्य! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो। बुडिल–हे भगवन्! हे राजन्! आप (जल) की उपासना करता हूं। राजा–जिसकी तुम उपासना करते हो इस जलरूप वैश्वानर आत्माका नाम रयि (धन) है। इसीसे तुम धनवान् पुष्टिमान् हो। उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो। जो इस रयित्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, और प्रियको देखता है। और इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस होता है। परन्तु यह जल वैश्वानर आत्माकी बस्ति (मूत्रस्थान) है, वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारी बस्ति विदीर्ण हो जाती।

इसके बाद राजा उद्दालककी तरफ देखकर बोले–हे गौतम! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो। उद्दालक–हे भगवन्! हे राजन्! पृथिवी की उपासना करता हूं। राजा–हे उद्दालक! जिसकी तुम उपासना करते हो इस पृथिवीरूप वैश्वानर आत्माका नाम प्रतिष्ठा है। इसीसे तुम प्रतिष्ठित हो, प्रजा और पशुवों करके युक्त हो। उत्तम अन्नको खाते हो, और प्रियको देखते हो। जो इस प्रतिष्ठात्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, और प्रियको देखता है। और इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस होता है। परन्तु यह पृथिवी वैश्वानर आत्माका पाद है, वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारे पैर शिथिल अर्थात् शक्तिहीन हो जाते। अच्छा किया, आप जो हमारे पास आये।

इसके बाद राजा सर्व ऋषियोंको लक्ष्य करके सर्वकी तरफ देखकर बोले–आप लोग इस अपृथक् रूप अर्थात् सर्वात्मा समष्टिरूप एक वैश्वानरके मूर्धादि अङ्गोंको वैश्वानर बुद्धिसे पृथक्की तरह उपासना करते हुये अन्नको भक्षण करते हो। अर्थात् आप लोगोंका अन्नभक्षण करना व्यर्थ है। जैसे बहुतसे जन्मके अन्धे–हस्तीको देखनेमें उत्सुक हुये एक २ करके समीपमें स्थित हाथीके पास जाकर, किसीने हाथीके कानको टटोल कर सूपके सदृश हाथी समझा। किसीने पैरको टटोल कर स्तम्भके समान हाथी समझा। किसीने पूछको टटोल कर मुसलके सदृश समझा। इसी प्रकार तिस तिस अङ्गको हाथी समझकर पुन आपसमें कलह करने लगे। यही कथा आप लोगोंमें चरितार्थ हो रही है।

इस प्रकार एक एक अङ्गकी उपासनाकी निन्दा करके, तथा द्युलोकादिकोंमें वैश्वानरके मूर्धाभावादिकोंका उपदेश करके, राजा सर्वाङ्गविशिष्ट वैश्वानरकी उपासनारूप प्रधान विद्याको कहते भये:—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः।' इत्यादिक श्रुति इस अधिकरण सूत्रका विषय है।

अर्थ—जो अधिकारी पुरुष 'एतं' कहिये सर्वात्मक। 'एवं' कहिये यथोक्त द्युमूर्धादि विशिष्ट। 'प्रादेशमात्रम्' कहिये प्रादेश परिमाणवाला। चिबुकसे मूर्धा पर्यन्त। अर्थात् अङ्गुष्ठ और तर्जनीको फैलानेसे जो मध्यवर्ति परिमाण है तिसका नाम प्रादेश है। अथवा 'प्रादेश' कहिये मूर्धारूप द्युलोकसे लेकर पादरूप पृथिवी पर्यन्त प्रदेशों करके, समष्टिरूपसे अङ्गित्वेन जो जाना जावे तिसका नाम प्रादेशमात्र है। अथवा प्रादेशमात्र ज्योतिःस्वरूप इस आत्माका हृदयमें उपासकको प्रत्यक्ष होता है। इसलिये वैश्वानररूप ब्रह्मका नाम प्रादेश

मात्र है। 'अभिविमानम्' कहिये अपरोक्षरूप करके विश्वको जाननेवाला है। अथवा 'अहं' इस प्रकार प्रत्यग् रूप करके जो जाना जावे तिसका नाम अभिविमान है। अथवा अभितः सर्वतः सर्व रूपसे द्युलोकादि विशिष्ट रूप करके जो जाना जावे तिसका नाम अभिविमान है। 'आत्मानम्' कहिये प्रत्यग् स्वरूप है। 'वैश्वानरम्' कहिये सर्वात्मक होनेसे विश्व स्वरूप नर वैश्वानर आत्माका नाम है। अथवा सर्वका कारण होनेसे विश्वका नर वैश्वानर परमात्माका नाम है। अथवा सर्वका ईश्वर होनेसे विश्व नियम्य है जिसका ऐसा जो नर तिसका नाम विश्वानर है। और जो विश्वानर होवे तिसीका नाम वैश्वानर है। अर्थात् 'को न आत्मा, किं ब्रह्म' इस उपक्रमके अनुसार-इस प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप वैश्वानरकी जो उपासना करता है सो उपासक सर्वात्मभावको प्राप्त हुवा द्यु आदिक सर्व लोकोंमें तथा सर्व भूतोंमें कहिये चराचररूप शरीरोंमें तथा सर्व जीवोंमें अन्नको भक्षण करता है। अर्थात् सर्व लोकादिकोंके आश्रित जो फल है तिस फलको प्राप्त होता है। और तिस इस वैश्वानर आत्माका जो सुतेजस्त्वगुणवाला अर्थात् सुन्दर कान्तिवाला द्युलोक है सो मूर्धा है। तथा विश्वरूपत्वगुणवाला जो सूर्य है सो नेत्र है। तथा पृथग्वर्त्मत्वगुणवाला अर्थात् नाना प्रकारका गमन स्वभाववाला जो वायु है सो प्राण है। तथा बहुलत्वरूप व्यापित्वगुणवाला जो आकाश है सो 'संदेहो' कहिये शरीरका मध्य भाग है। तथा रयित्वरूप धनत्व गुणवाले जो आप हैं सो मूत्रस्थानरूप बस्ति हैं। तथा प्रतिष्ठात्व गुणवाली जो पृथिवी है सो वैश्वानरका पाद है। अब वैश्वानरमें होमका आधारत्वको दिखाते हैंः—उर जो है सो वेदि है। तथा लोम जो हैं सो बर्हि हैं। तथा हृदय जो है सो गार्हपत्य अग्नि है। तथा मन जो है सो अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) है। तथा मुख जो है सो आहवनीय अग्नि है। इस प्रकार चिन्तन करें इति।

अब यहां संशयको दिखाते हैंः-वैश्वानर शब्द करके क्या जाठर अग्निका ग्रहण करना। अथवा भूताग्निका ग्रहण करना। अथवा देवता अग्निका ग्रहण करना। अथवा शारीरका ग्रहण करना। अथवा परमेश्वरका ग्रहण करना? 'यहां संशयका कारण क्या है' ऐसी जिज्ञासाके हुये—अब इस संशयके कारणको दिखाते हैंः—विषयवाक्यमें वैश्वानर शब्द है तथा आत्मा शब्द है। तहां वैश्वानर शब्द जाठराग्नि, भूताग्नि, देवताग्नि इन तीनोंमें साधारण है। तथा आत्मा शब्द जीव और परमात्मामें साधारण है। अतः कौन ग्रहण करनेको योग्य है, कौन त्याग करनेको योग्य है, इस प्रकारका यहां संशय होता है।

वस्तुतः यहां क्या प्राप्त हुवा ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ पूर्वपक्ष। 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः'। इस अधिकरणसूत्रका 'यत्तदद्रेश्यम्' यह जो उपक्रममें स्थित विषयवाक्य है, इस करके प्रतिपाद्य अदृश्यत्वादिक साधारण धर्मोंमें, जैसे 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य सर्वज्ञत्वादिक लिङ्गों करके ब्रह्मनिष्ठत्वको कहा है। तैसे ही विषयवाक्यके उपक्रममें स्थित जो साधारण वैश्वानर शब्द है, इसमें भी वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य होमाधारत्वरूप लिङ्ग करके जाठराग्निनिष्ठत्व है। अर्थात् जाठराग्निका प्रतिपादक है ऐसा निश्चय होता है। अतः वैश्वानर

शब्द करके जाठराग्निका ही ग्रहण करना। क्योंकि वैश्वानर शब्दका प्रयोग विशेष करके जाठराग्नि विषे कहीं २ देखनेमें आता है। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः— 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' अर्थ—जो यह जाठररूप अग्नि है सो वैश्वानर है। तथा जो यह वैश्वानर है सो पुरुषाकार देहके अन्तर जाठराग्निरूप है। जिससे यह पुरुष करके भोजन किया हुवा अन्न परिपक्व होता है इति। और अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥' इस गीतास्मृतिमें भी जाठराग्निविषयक ही वैश्वानर शब्द देखनेमें आता है। इत्यादि।

अब दूसरे पक्षको पूर्वपक्षी कहता है:—'अग्निमात्रं वा स्यात्' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—अथवा वैश्वानर शब्द करके भूताग्निमात्रका ही ग्रहण करना, क्योंकि भूताग्निमें भी वैश्वानर शब्दका सामान्यसे प्रयोग देखनेमें आता है इति। तहां श्रुतिः— 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' इत्यादि ऋक्। अर्थ—विश्वरूप भुवनके वास्ते देवता वैश्वानर अग्निस्वरूप दिवसका चिह्न सूर्यको करते भये, क्योंकि सूर्यके उदय हुये ही दिन व्यवहार होता है इति। इत्यादि

अब तीसरे पक्षको वादी कहता है:-अथवा वैश्वानर शब्द करके ऐश्वर्यादि सम्पन्न अग्नि देवताका ही ग्रहण करना। क्योंकि अग्नि शरीरवाली देवतामें भी वैश्वानर शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। तहां श्रुतिः— 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः' इत्यादि ऋक्। अर्थ—जिस वास्ते वैश्वानर भुवनको 'कं' कहिये सुख देनेवाला राजा है। और 'अभिश्रीः' कहिये भली प्रकारका ऐश्वर्यवाला ईश्वररूप है। अतः तिस वैश्वानरकी सुमतिमें हम लोग होवें अर्थात् तिस वैश्वानरकी सुमतिके पात्र हम होवें इति। इत्यादिक श्रुतियोंका ऐश्वर्ययुक्त देवतामें ही सम्भव है।

अब पूर्वोक्त तीनों पक्षोंमें अरुचिको दिखाते हुये पक्षान्तरको पूर्वपक्षी कहता है— 'अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यात्' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् पूर्व विषय वाक्यमें 'आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते' ऐसा कहा है। यहां 'आत्म' शब्दका सामानाधिकरण्य वैश्वानर शब्दमें है। अतः वैश्वानर शब्द करके जाठराग्नि आदिकोंका ग्रहण नहीं बन सकता है। क्योंकि विषयवाक्यमें वैश्वानर शब्दसे भिन्न जाठराग्नि आदिकोंका वाचक कोई शब्द है नहीं, जिस शब्दका सामानाधिकरण्य वैश्वानर शब्दमें कहें, और तिस सामानाधिकरण्यके बलसे वैश्वानर शब्द करके जाठराग्नि आदिकोंका ग्रहण होवे। और 'को न आत्मा किं ब्रह्म' इस उपक्रमवाक्यमें भी केवल आत्मा शब्दका ही प्रयोग किया है। इस लिये भी वैश्वानर शब्द करके जाठराग्नि आदिकोंका स्वीकार नहीं कर सकते हैं। तथाच आत्मा शब्दके बलसे 'आत्मा वैश्वानरः' इस प्रकार वैश्वानर

शब्दको परिणत करना चाहिये अर्थात् जाठरादि अग्नियोंसे अन्य अर्थका बोधक वैश्वानर शब्दको स्वीकार करना चाहिये ऐसा यद्यपि कह सकते हैं। तथापि यहां आत्माका भोक्तृत्वरूप करके ही वैश्वानरके साथ सम्बन्ध होनेसे आत्म शब्द करके जीवका ही ग्रहण होगा, परमात्माका नहीं। और विषयवाक्यमें जो 'प्रादेशमात्रम्' यह विशेषण कहा है सो भी उपाधि करके परिच्छिन्न जीवात्मामें ही बन सकता है। अतः वैश्वानर ईश्वर नहीं है किन्तु जीव ही है इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष*** । इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहते हैं:—**'वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति'** इति भाष्यम्। अर्थात् वैश्वानर जो है सो परमात्मा ही होनेको योग्य है। अर्थात् वैश्वानर शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना। क्योंकि 'साधारणशब्दविशेषात्' यद्यपि आत्म शब्द तथा वैश्वानर शब्द ये दोनों शब्द साधारण हैं। अर्थात् आत्मशब्द जीव तथा परमात्मामें साधारण है, तथा वैश्वानर शब्द जाठराग्नि, भूताग्नि, व देवताग्निमें साधारण है। तथापि इन दोनों शब्दोंमें, 'विशेषात्' कहिये विशेष दीखता है! अर्थात् विषयवाक्यमें प्रथम श्रुत जो मुख्य त्रैलोक्य शरीररूप विशेष लिङ्ग है तिस लिङ्ग करके इन दोनों शब्दोंको परमेश्वरपरत्व ही अङ्गीकार करना युक्त है। तहां श्रुतिः— **'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा'** इत्यादिक। और विषयवाक्यके अन्तमें श्रुतिकल्पित होमाधारत्वरूप लिङ्ग करके आत्मशब्द तथा वैश्वानर शब्दमें जाठराग्निपरत्वको अङ्गीकार करना युक्त नहीं।

शंका। निर्विशेष परमात्मामें किस प्रकार त्रैलोक्यादि विशेष बनेगा?

समाधान। **'अत्र हि'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् द्युमूर्धत्वादिकों करके विशिष्ट जो त्रैलोक्यरूप करके स्थित परमेश्वर है सोई यहां उपासनाके लिये प्रत्यगात्मा रूप करके उपन्यस्त है जाठरादिक नहीं ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि परमात्मा सर्वका कारण है। और कार्यगत सम्पूर्ण अवस्थावों करके कारणको अवस्थावाला होनेसे विश्वका उपादान कारणरूप परमात्माके द्युलोकादिरूप अवयवविशेष भी बन सकते हैं। और 'स सर्वेषु लोकेषु' इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें जो कहा है कि-'प्रत्यगात्मारूप करके वैश्वानरके उपासक पुरुषको सर्वलोक व सर्वभूतादिकोंके आश्रित सम्पूर्ण फलोंकी प्राप्ति होती हैं' सो कहना भी परम कारण परमात्माके ग्रहण करनेसे ही समीचीन होगा। और जैसे अग्निमें प्रक्षिप्त इषीकाकी रूई शीघ्र ही दग्ध हो जाती है। तैसे ही वैश्वानरको अपने प्रत्यग् आत्मारूप करके जाननेवाले पुरुषके भी सम्पूर्ण पाप दग्ध हो जाते हैं। वैश्वानर वेत्ताके यह जो सर्वपापोंके प्रदाहका श्रवण है सो भी ब्रह्मके ग्रहणसे ही समञ्जस होगा। और 'को न आत्मा किं ब्रह्म' यहां आत्मा, तथा ब्रह्म

*यहां पूर्वपक्षमें जाठर अग्नि आदिकी उपासना फल है। सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना फल है।

शब्द करके जो उपक्रम किया है यह उपक्रम भी ब्रह्मात्माके ग्रहणसे ही समञ्जस होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे क्वचित् अन्यके बोधक जो ये लिङ्ग हैं सो भी परमेश्वरको ही बोधन करते हैं। अतः वैश्वानर शब्द करके परमेश्वर ही ग्रहण करनेको योग्य है, जाठराग्नि आदिक नहीं इति ॥ २४ ॥

और स्मृति करके भी श्रुतिका अर्थ निर्णय करनेको शक्य है। इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैं—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

अर्थ–१ स्मर्यमाणम्, २ अनुमानम्, ३ स्यात्, ४ इति। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस हेतुसे भी प्रसङ्गमें परमात्मा ही वैश्वानर है। क्योंकि स्मृतिमें परमेश्वरका ही अग्नि मुख है, द्यु मूर्धा है, इस प्रकार त्रैलोक्यात्मक रूपका स्मरण होता है इति। तहां स्मृतिः—**यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा, खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे, तस्मै लोकात्मने नमः॥** अर्थ स्पष्ट है। इत्यादिक स्मृतियों करके स्मर्यमाण जो परमेश्वरका रूप है सो इन स्मृतियोंकी मूलभूत श्रुतिको बोधन करता हुवा श्रुतिस्थ वैश्वानर शब्दमें परमेश्वर-परत्वको बोधन करता है। और सूत्रमें जो 'इति' शब्द है तिसका अर्थ हेतु है। इस सूत्रसे यह अनुमान सिद्ध हुवा—**'वैश्वानरः, परमात्मा भवितुमर्हति, स्मर्यमाणत्रैलोक्यात्मकरूपवत्त्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा जाठराग्न्यादिकम् ॥'** अर्थ—जैसे जाठर अग्नि आदिक दृष्टान्तमें परमात्मत्वरूप साध्य नहीं है। अतः स्मर्यमाण त्रैलोक्यात्मक रूप हेतु भी नहीं है, और वैश्वानररूप पक्षमें स्मर्यमाण त्रैलोक्यात्मक रूप हेतु है। अतः परमात्मत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस स्मर्यमाण त्रैलोक्यात्मक रूप व्यतिरेकि अनुमान करके वैश्वानरमें परमात्मत्वकी सिद्धि हुई। अर्थात् 'वैश्वानर परमात्मा स्वरूप है' इस अर्थमें स्मर्यमाण जो विराट् रूप है सोई अनुमानरूप हेतु है इति।

शंका। 'तस्मै लोकात्मने नमः' यह जो स्तुति है सो असत् द्युमूर्धादिरूप करके भी बन सकती है। अतः मूल श्रुतिकी अपेक्षा क्यों करनी? अर्थात् नहीं करनी चाहिये।

समाधान। यद्यपि यह स्तुति है; तथापि वेदवाक्यसे विना ऐसे द्युमूर्धादिक रूप करके सम्यक् स्तुति मनुष्य मात्रसे नहीं हो सकती है। अतः श्रुतिकी अपेक्षा आवश्यक है। भाव यह है कि–द्युमूर्धादिक सत् रूप करके स्तुतिका सम्भव होनेसे असत् रूपका आरोप नहीं बन सकता है इति। अब त्रैलोक्य देहवाले वैश्वानरनिष्ठ ईश्वरतामें दूसरी स्मृतिको कहते हैं—**द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति, खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं**

च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥ अर्थ—जिस वैश्वानरके द्यु आदिकरूप मूर्धादिकोंको विप्र कहते हैं; सो अचिन्त्य आत्मा सर्व भूतोंका नियन्ता वैश्वानर है । पदोंका अर्थ स्पष्ट है इति। अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ यह मुण्डकश्रुति भी वैश्वानरके स्वरूपको वर्णन करती है ॥ २५ ॥

अब वैश्वानर शब्दादिकोंकी गतिको कहनेके लिये प्रथम पूर्वोक्त सिद्धान्तका प्रकारान्तरसे आक्षेप करके पुनः समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

अर्थ—१ शब्दादिभ्यः, २ अन्तःप्रतिष्ठानात्, ३ च, ४ न, ५ इति, ६ चेत्, ७ न, ८ तथा, ९ दृष्ट्युपदेशात्, १० असम्भवात्, ११ पुरुषम्, १२ अपि, १३ च, १४ एनम्, १५ अधीयते । इस सूत्रमें पन्द्रह पद हैं । 'शब्दादि हेतुवोंसे तथा अन्तरप्रतिष्ठितत्व हेतुसे वैश्वानर करके परमेश्वरका ग्रहण नहीं बन सकता है' ऐसा आक्षेप नहीं करना । क्योंकि यहां जाठरका परित्याग न करके परमेश्वरदृष्टिका उपदेश है । अर्थात् जाठराग्नि परमेश्वरकी प्रतीक है । अथवा जाठर उपाधिक परमेश्वरका ही यह उपदेश है । क्योंकि जाठरमें द्युमूर्धत्वादिका असम्भव है । और पुरुषरूपसे भी इस वैश्वानरको वेदमें कहा है, पुरुषत्व जाठरमें बनता नहीं इति ।

शंका । वैश्वानर परमेश्वर होनेको योग्य नहीं है,क्योंकि वैश्वानर शब्दजाठर-अग्निमें रूढ़ है । और 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इस अग्निरहस्यको वैश्वानरविद्यामें श्रुत जो 'अग्नि' शब्द है सो भी जाठराग्नि आदिक अर्थान्तरमें रूढ होनेसे परमेश्वरमें नहीं बन सकता है । और 'शब्दादिभ्य' यहां 'आदि' शब्द करके 'हृदयं गार्हपत्यः' इत्यादिक वचनों करके त्रिविध अग्निकी कल्पना; तथा—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयम्'* (छा०) अर्थ—भोजनकालमें जो प्रथम भोजन करनेके योग्य अन्न यदृच्छासे आवे तिसका

*टिः—वैश्वानरका उपासक अपनेको द्युमूर्धादिमान् विराट्रूप वैश्वानर समझता हुवा—अपने उरको वेदि समझे, और लोमोंको कुशा, हृदयको गार्ह्यपत्य अग्नि, मनको अन्वाहार्यपचन अर्थात् दक्षिणाग्नि, और मुखको आहवनीय समझे । इस प्रकार भावना करता हुवा प्राणाग्निहोत्रको करे ।

सो उपासक 'प्राणाय स्वाहा' इस मन्त्रसे प्रथम आहुति देवे । अर्थात् प्रथम ग्रासको भक्षण करे । इससे प्राणकी तृप्ति होती है । प्राणकी तृप्तिसे चक्षु तृप्त होता है । चक्षुकी तृप्तिसे आदित्य तृप्त होता है । आदित्यकी तृप्तिसे द्युलोक तृप्त होता है । द्युकी तृप्तिसे द्युके और आदित्यके आश्रित जीवोंकी तृप्ति

प्राणाग्निमें हवन करना चाहिये इति। इत्यादिक वचनों करके वैश्वानरमें प्राणाहुतिकी अधिकरणताका संकीर्तन; इत्यादिक हेतुवों करके भी 'जाठराग्नि ही वैश्वानर है' ऐसा जाननेको योग्य है। और अन्तःप्रतिष्ठानका भी श्रवण होता है-'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद'

होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजासे पशुसे खाद्य अन्नसे शरीरकी कान्तिसे व ब्रह्मवर्चससे तृप्त होता है।

और 'व्यानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे दूसरी आहुति देवे। इससे व्यान तृप्त होता है। व्यानकी तृप्तिसे श्रोत्र तृप्त होता है। श्रोत्रकी तृप्तिसे चन्द्रमा तृप्त होता है। चन्द्रमाकी तृप्तिसे दिशा तृप्त होती हैं। दिशावोंकी तृप्तिसे दिशावोंके और चन्द्रके आश्रित जीवोंकी तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

और 'अपानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे तृतीय आहुति देवे। इससे अपानकी तृप्ति होती है। अपानकी तृप्तिसे वाक् तृप्त होती है। वाक्की तृप्तिसे अग्निकी तृप्ति होती है। अग्निकी तृप्तिसे पृथिवीकी तृप्ति होती है। पृथिवीकी तृप्तिसे पृथिवी और अग्निके आश्रित जीवोंकी तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

और 'समानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे चतुर्थ आहुति देवे। इससे समान तृप्त होता है। समानकी तृप्तिसे मन तृप्त होता है। मनकी तृप्तिसे पर्जन्य तृप्त होता है। पर्जन्यकी तृप्तिसे विद्युत् तृप्त होता है। और विद्युत्की तृप्तिसे विद्युत्के और पर्जन्यके आश्रित जीवोंकी तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

और 'उदानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे पञ्चम आहुति देवे। इससे उदान तृप्त होता है। उदानकी तृप्तिसे त्वक्की तृप्ति होती है। त्वक्की तृप्तिसे वायुकी तृप्ति होती है। वायुकी तृप्तिसे आकाश तृप्त होता है। आकाशकी तृप्तिसे वायु और आकाशके आश्रित जीवोंकी तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

जो इस अग्निहोत्रको त्यागकर केवल बाह्य अग्निहोत्रको करता है सो पुरुष अङ्गारोंको त्यागकर भस्ममें हवन करता है। और जो पुरुष अभेदभावसे वैश्वानरकी उपासना करता है, और इस अग्निहोत्रको करता है, तिस विद्वान्का सर्व लोकोंमें सर्वभूतोंमें और सर्व आत्मावोंमें हवन किया हुवा होता है। और जैसे अग्निमें प्रक्षिप्त इषीकातूल तुरत भस्म हो जाता है। ऐसे ही इस उपासकके सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं। यह विद्वान् यदि चाण्डालको भी उच्छिष्ट देवे तो भी वैश्वानरमें ही अर्पण होता है। जैसे क्षुधा करके आतुर बालक माताकी उपासना करते हैं। इसी प्रकार सर्वभूत इस विद्वान्के प्राणाग्नि-होत्रकी उपासना करते हैं। अर्थात् इस विद्वान्के भोजनसे सर्वजगत् तृप्त होता है।

अर्थात् "पुरुष शरीरके अन्तर स्थित वैश्वानरको जो जानता है सो सर्वत्र अन्नको भक्षण करता है" यह वचन भी शरीरके अन्तर जाठर अग्निमें ही बन सकता है। और सिद्धान्तीने जो प्रथम कहा था कि—'मूर्धैव सुतेजा' इत्यादिक वचनों करके प्रतिपाद्य द्युमूर्धादिरूप विशेष कारणोंसे परमात्मा ही वैश्वानर है, जाठरादिक नहीं। यहां हम कहते हैं कि—जब परमात्माका विशेष द्युमूर्धादिक, तथा जाठरका विशेष होमाधारत्वादिक, इन दोनों विशेषोंका भान यहां तुल्य होता है तो किस हेतुसे परमेश्वरका विशेष ही आश्रयण करनेको योग्य है, जाठरका नहीं ? अर्थात् जाठरके विशेषका भी दर्शन होता है, अतः जाठरका भी ग्रहण करना चाहिये। और यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—"यद्यपि द्युमूर्धत्वादिक विशेष ईश्वरपक्षपाती है, तथा होमाधारत्वादिक विशेष जाठरपक्षपाती है, इन दोनों विशेषोंका प्रतिभान समान है। तथापि होमाधारत्व जगदाधार परमेश्वरमें बन सकता है। परन्तु परमेश्वर सम्बन्धी जो द्युमूर्धत्वादिक विशेष है तिसका जाठर अग्निमें अभाव है। अतः यह विशेष बलवान् हैं। अतः वैश्वानर शब्द करके जाठराग्निका ग्रहण नहीं बन सकता इति" तो यह सिद्धान्तीका कहना समीचीन है। इसीसे पक्षान्तरको कहते हैः—'अथवा' इत्यादि भाष्यम्। यद्यपि शरीरके अन्तर स्थित जाठराग्निमें द्युमूर्धत्वादि विशेषका निर्देश नहीं बन सकता है। तथापि अन्तर तथा बाहर सर्वत्र विद्यमान भूताग्निमें इस द्युमूर्धत्वादिक विशेषका निर्देश बन सकता है। क्योंकि भूताग्निका भी भूर्लोकादिकोंके साथ सम्बन्ध मन्त्रोंसे प्रतीत होता है। तहां श्रुतिः—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' इति ऋक्। अर्थ—अधः यह पृथिवी तथा ऊर्ध्व द्युलोकरूप रोदसीको तथा इन दोनोंके मध्यवर्ती अन्तरिक्ष लोकको जो भूताग्नि सूर्यरूप करके व्याप्त किया है अर्थात् जो तीनों लोकोंमें व्याप्त है सो भूताग्नि ध्यान करनेको योग्य है इति। इत्यादि। 'जड़ मात्र स्वरूप भूताग्निमें ध्येयत्व नहीं बन सकता है' ऐसी यदि अरुचि होवे तो अग्नि शरीरवाले देवताका वैश्वानर शब्दसे ग्रहण करना। अत एव 'अथवा तच्छरीराया देवताया' इत्यादि भाष्यम्। भूताग्नि है शरीर जिसका तिसका नाम यहां 'तच्छरीरा' है। अर्थात् भूताग्निकी अभिमानिनी जो देवता है तिस देवताके, ऐश्वर्यके योगसे द्युलोकादिक अवयव बन सकते हैं। अतः चेतनरूप देवता ही वैश्वानर है, परमेश्वर नहीं ?

समाधान । इस प्रकारकी शंकाके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है—**न तथादृष्ट्युपदेशादिति** । जो प्रथम वादीने सूत्रमें स्थित 'शब्दादिभ्यः' इस वचन करके, अर्थात् श्रुतिमें जो वैश्वानरादिक शब्द हैं तिन शब्दादिरूप कारणों करके, परमेश्वरका निराकरण किया है सो युक्त नहीं है। क्योंकि 'तथादृष्ट्युपदेशात्'। 'जाठराग्निको नहीं परित्याग करके जाठररूप वैश्वानरमें परमेश्वरदृष्टि करनी' इस प्रकार श्रुति उपदेश करती है। जैसे 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' 'मनरूप प्रतीकको ब्रह्मरूप करके उपासना करे'। तैसे प्रसङ्गमें भी जान लेना।

इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—परमेश्वरदृष्टि करके उपास्य जो जाठराग्निरूप प्रतीक है, तिसके वाचक जो वैश्वानर शब्द तथा अग्नि-शब्द हैं; तिन शब्दोंका लक्ष्यार्थ द्युमूर्धत्वादिमान् ईश्वर है।

अब प्रकारान्तरसे 'तथादृष्ट्युपदेशात्' के अर्थको कहते हैं—'अथवा जाठर' इत्यादि भाष्यम्। जैसे 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इत्यादिक मन्त्रोंमें मन आदि उपाधिवाला ब्रह्म द्रष्टव्य है। तैसे यहां जाठररूप वैश्वानर है उपाधि जिसका ऐसा जो परमेश्वर है सो द्रष्टव्यरूप करके उपदेशका विषय है। लक्षणा इस पक्षमें भी तुल्य है। परन्तु इस पक्षमें प्रधानरूप करके ईश्वर ही उपास्य है। और प्रथम प्रतीक पक्षमें गुणरूप करके परमेश्वर उपास्य है। और पूर्व परमेश्वरको लक्ष्य कहा है। तहां लक्षणाका जाठराग्निमें द्युमूर्द्धत्वादिकोंका असम्भवरूप बीजको दिखाते हैं—'यदि च' इत्यादि भाष्यम्। प्रसङ्गमें यदि परमेश्वर विवक्षित न होवे किन्तु केवल जाठराग्नि ही विवक्षित होवे तो श्रुतिमें जो द्युमूर्धत्वादिक विशेष कहे हैं तिन विशेषोंका अत्यन्त असम्भव होगा। क्योंकि जाठरमें द्युमूर्धत्वादिक विशेष नहीं बन सकते हैं। अतः लक्षणावृत्ति करके परमेश्वर ही विवक्षित है। और देवता तथा भूताग्निको आश्रयण करके भी जिस प्रकार द्युमूर्धत्वादि विशेषका उपपादन नहीं कर सकते हैं तिस प्रकारको अग्रिम सूत्रमें दिखावेंगे।

और प्रसङ्गमें वैश्वानरादिक शब्दों करके यदि केवल जाठराग्निकी ही विवक्षा होवे तो जाठरमें पुरुषके अन्तःप्रतिष्ठितत्वमात्र केवल रहेगा, पुरुषत्व नहीं रहेगा। और वाजसनेयी शाखावाले इस वैश्वानरको पुरुष भी कहते हैं। तहां श्रुतिः—'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः' इत्यादि। अर्थ—जो यह अग्निरूप वैश्वानर है सो पुरुष है, और जो प्राणी इस अग्निरूप वैश्वानरको पुरुषविध, तथा पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठित जानता है सो सर्व फलको भोगता है इति। और परमेश्वरमें तो पूर्णत्वरूप पुरुषत्व तथा शरीररूप पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठितत्व, ये दोनों बन सकते हैं। क्योंकि परमात्मा सर्वस्वरूप है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सूत्रमें जो 'पुरुषमपि चैनमधीयते' इतना भाग है सो भी व्याख्यात हो चुका।

और जो कोई 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इस प्रकार सूत्रके अवयवको पठन करते हैं; तिनके मतमें यह अर्थ है—वैश्वानर शब्द करके केवल जाठराग्निका ही स्वीकार करें तो केवल पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठित तो जाठराग्नि हो सकता है। और पुरुषविध नहीं हो सकता है, क्योंकि जाठराग्नि जड़ है। परन्तु वाजसनेयी शाखावाले इस वैश्वानरको पुरुषविध भी कहते हैं—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। इस पक्षमें भी जैसे अचेतन जाठरमें पूर्णत्वरूप पुरुषत्व नहीं बन सकता है। तैसे देहाकारत्वरूप पुरुषविधत्व भी नहीं बन सकता है। किन्तु केवल पुरुषके अन्तर-प्रतिष्ठितत्व ही बन सकता है।

शंका। जाठरमें भी देहव्यापित्वरूप पुरुषविधत्व बन सकता है।

समाधान। यहांपर प्रकरणके बलसे देहव्यापित्वरूप पुरुषविधत्वका ग्रहण नहीं हो सकता है। किन्तु द्युमूर्धत्वसे आदि लेके पृथिवीप्रतिष्ठितत्व पर्यन्त विराड्-देहाकारत्व रूप जो अधिदैव पुरुषविधत्व है; तथा प्रसिद्धमूर्धत्वसे आदि लेके चुबुकप्रतिष्ठितत्व पर्यन्त जो अध्यात्म पुरुषविधत्व है; तिसका ग्रहण करना। ऐसा पुरुषविधत्व जाठराग्निमें नहीं वन सकता है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे वैश्वानरादि शब्दों करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना जाठराग्निका नहीं। इतनेसे जाठराग्निका खण्डन हो चुका इति ॥ २६ ॥

और वादिने जो कहा था कि—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्।' इत्यादिक मन्त्रवर्णमें भूताग्निका भी द्युलोकादिकोंके साथ सम्बन्ध देखनेमें आता हैं अतः भूताग्निके भी द्युमूर्धादिरूप अवयवोंकी कल्पना कर सकते हैं। अथवा भूताग्निरूप शरीरवाली जो देवता है तिस देवताके, ऐश्वर्यके योगसे द्युमूर्धादिरूप अवयवोंकी कल्पना हो सकेगी। अतः वैश्वानरादि शब्दों करके भूताग्निका अथवा देवतात्माका ही ग्रहण करना इति? तिसका परिहार भी अवश्य करना चाहिये। अतः इस परिहारको सूत्रकार स्वयं दिखाते हैं:—

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

अर्थ—१ अतः, २ एव, ३ न, ४ देवता, ५ भूतं, ६ च। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'अत एव' कहिये श्रुति स्मृतियों करके निश्चित जो द्युमूर्धत्वादिकोंका सम्बन्ध, तथा सर्व लोकोंके आश्रित फलभागित्व, तथा सर्व पापोंका नाश, तथा आत्मा और ब्रह्म शब्दका उपक्रम, इन हेतुवोंसे देवता रूप तथा भूताग्नि रूप, वैश्वानर नहीं हो सकता है इति।

अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—औष्ण्य प्रकाश मात्र स्वरूप भूताग्निमें द्युमूर्धत्वादिकोंकी कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि जो वस्तु स्वयं विकाररूप है सो दूसरे विकारका स्वरूप नहीं हो सकती है। जैसे घटरूप विकार दूसरा शरावरूप विकारात्मक नहीं हो सकता है। तैसे भूताग्निरूप विकार भी दूसरा द्युमूर्धादिरूप विश्वात्मक विकार नहीं हो सकता है। तथा देवतामें भी ऐश्वर्यके योग हुये भी द्युमूर्धत्वादिक धर्म नहीं रह सकते हैं। क्योंकी देवता द्युमूर्धादि स्वरूप विश्वका कारण नहीं है। और ऐश्वर्य भी देवताका परमेश्वरके अधीन है स्वतन्त्र नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—जो कारण होता है सो कार्य स्वरूप होता है। अतः परमेश्वररूप कारण ही द्युमूर्धादिकवाला होगा, देवता नहीं। और जाठराग्नि आदिक तीनों पक्षोंमें आत्मशब्दका तथा ब्रह्मशब्दका असम्भव तो विद्यमान ही है इति। प्रथम हेतुमें 'द्युमूर्धत्वादिसम्बन्ध' करके द्युमूर्धाद्यवयवकत्व समझना। दूसरे हेतुमें जो 'फलभागित्व' पद है इसका अर्थ फलप्रदातृत्व करना चाहिये। और तीसरे हेतुमें जो 'सर्वपापनाश' पद है इसका अर्थ 'स्वसाक्षात्कार द्वारा सर्व पापका नाशजनकत्व' ऐसा अर्थ करना। ऐसा अर्थ करनेसे ये हेतु परमेश्वरमें रहेंगे। अन्यथा जीवमें रहेंगे, परमेश्वरमें नहीं।

शंका । भूताग्निके विभवका प्रतिपादक—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' इस मन्त्रकी फिर क्या गति होगी ?

समाधान । केवल औष्ण्य प्रकाश स्वरूप भूताग्निकी महिमाको 'यो भानुना' इत्यादि मन्त्र नहीं कहता है किन्तु ब्रह्मविकार होनेसे ब्रह्मदृष्टि करके भूताग्निकी स्तुति परक उक्त मन्त्र है ॥ २७ ॥

पूर्व यह कह आये ह कि— अग्नि शब्द, तथा वैश्वानर शब्द, ईश्वरके लक्षक हैं। और 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इत्यादि श्रुतिके अनुरोधसे जाठराग्नि ईश्वरका प्रतीक है। अथवा जाठराग्नि उपहित ईश्वर ही वैश्वानर उपास्य है इति। अब "जाठराग्निरूप प्रतीक तथा उपाधिको त्याग करके भगवान् विराट् पुरुषाकाररूप वैश्वानरको अध्यात्म मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त अपने अवयवोंमें स्थापन करके साक्षात् वैश्वानरकी उपासना माननेमें भी अग्नि शब्दादिकोंका कोई विरोध है नहीं" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

अर्थ—१ साक्षात्, २ अपि, ३ अविरोधं, ४ जैमिनिः। इस सूत्रमें चार पद हैं। प्रतीक तथा उपाधिसे विना ही साक्षात् परमेश्वरकी उपासनाके अङ्गीकारमें भी कोई विरोध नहीं है इस प्रकार आचार्य जैमिनि ऋषि कहते हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं। तहां:—

शंका । यदि जाठराग्निका ग्रहण न करोगे तो 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह श्रुति तथा अग्नि आदिक शब्दरूप कारण विरुद्ध होवेंगे।

समाधान । 'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। अन्तःप्रतिष्ठितत्व बोधक वचनका विरोध नहीं है; क्योंकि यहां 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह जो वचन है सो जाठराग्निमें उदरस्थत्वरूप अन्तःप्रतिष्ठितत्वको नहीं कहता है क्योंकि जाठराग्नि अप्रकृत है 'को न आत्मा किं ब्रह्म' यह ब्रह्मका प्रकरण है। और वैश्वानरादिक शब्दोंको ब्रह्मपरक होनेसे जाठर असंशब्दित भी (शब्दाविषय) है। किन्तु जैसे कोई वृक्षमें शाखाको प्रतिष्ठित देखता है। तैसे ही नखसे लेकर शिखा पर्यन्त अवयवोंका समुदायरूप जो यह शरीर है इस शरीरमें, जो ये मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त अवयव प्रतिष्ठित हैं इन अवयवोंमें वैश्वानरको प्रतिष्ठित उपासक देखता है। अतः पूर्वोक्त वचन 'अन्तःप्रतिष्ठितत्वेन' वैश्वानरको ही कहता है। अर्थात् जैसे शाखामें स्थित पक्षीको 'वृक्षमें स्थित है' इस प्रकार कहते हैं। तैसे मूर्धादिक अवयवोंमें स्थित वैश्वानरको 'पुरुषमें स्थित है' इस प्रकार 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह वचन कहता है। और 'पुरुषविधं' यह जो पुरुषविधत्व वचन है सो भी जाठराग्निके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है। किन्तु

मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त अवयवोंमें कल्पित जो अध्यात्म पुरुषविधत्व है तिस पुरुषविधत्वकी अपेक्षा करके वैश्वानरके अभिप्रायसे ही कहा गया है इति।

अब पक्षान्तरको दिखाते हैं:—'अथवा' इत्यादि भाष्यम्। अथवा अध्यात्म तथा अधिदैवतरूप जो पुरुषविधत्व है तिस पुरुषविधत्वरूप उपाधिवाला जो 'को न आत्मा किं ब्रह्म' यह प्रकृत प्राप्त परमात्मा है तिस परमात्माका उपाधियोंको त्याग करके जो केवल शुद्ध साक्षी स्वरूप है तिसके अभिप्रायसे 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह वचन कहा है। यहां पुरुषविध शब्दका अर्थ पूर्वोक्त ही जानना। और 'अन्तःप्रतिष्ठित' शब्दका अर्थ लक्षणावृत्ति करके साक्षी जानना। क्योंकि वस्तुतः साक्षी ही सर्वके अन्तर प्रतिष्ठित है। और पूर्वापरका आलोचनबल करके परमात्माका परिग्रहके निश्चित हुये वैश्वानर शब्द भी किसी योग करके परमात्मामें ही वर्तेगा। सो दिखाते हैं—'विश्वश्चायं नरश्च विश्वानरः' 'अथवा विश्वेषां वाऽयं नरः विश्वानरः' 'विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः' इति सर्वात्म स्वरूप होनेसे परमात्माका नाम विश्वानर है। 'नरे संज्ञायाम्' इस सूत्रसे पूर्व पदको दीर्घ होता है। और जो विश्वानर है तिसीका नाम वैश्वानर है। यहां स्वार्थमें तद्धित प्रत्यय जानना। जैसे 'रक्ष एव राक्षसः' तैसे 'विश्वानर एव वैश्वानरः' इनभिन्न भिन्न व्युत्पत्तियोंका अर्थ पूर्व कह आये हैं तहांसे जान लेना। और अग्रणीत्वके योगका आश्रयण करके अग्नि शब्द भी परमात्माविषयक ही है सो दिखाते हैं—'नि' प्रत्यय है अन्तमें जिसके ऐसा जो गत्यर्थक अगि धातु है तिसका रूप अग्नि शब्द है—'अङ्गयति गमयत्यग्रं कर्मफलं जगतो जन्म वा प्रापयतीत्यग्निरग्रणीरुक्तः'। अर्थात् जो अग्ररूप कर्मफलको अथवा जगत्के जन्मको प्राप्त कराता है, सो अग्रणी व अग्नि कहा जाता है। और कर्मफलको अथवा जगत्के जन्मको देनेवाला तो परमात्मा ही है। अतः यहां अग्नि शब्द करके भी परमात्माका ही ग्रहण करना, भूताग्नि आदिकोंका नहीं। और जो गार्हपत्यादिक तीन अग्निकी कल्पना तथा प्राणाहुत्यधिकरणत्वको कहा है सो भी परमात्मामें उपपन्न हो सकता है, क्योंकि परमात्मा सर्वात्मस्वरूप है इति ॥ २८ ॥

यदि इस प्रसङ्गमें वैश्वानरादिक शब्दों करके विभु परमेश्वरका ग्रहण करोगे तो प्रादेशमात्र श्रुतिकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? ऐसी शंकाके हुये प्रादेशमात्र श्रुतिके व्याख्यानको करने वास्ते सूत्रकार आरम्भ करते हैं:—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अर्थ—१ अभिव्यक्तेः, २ इति, ३ आश्मरथ्यः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्रादेशमात्र हृदयादिक देशमें परमात्माकी अभिव्यक्ति होनेसे परमात्मामें प्रादेशमात्र श्रुतिकी उपपत्ति बन सकती है इस प्रकार आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं इति। तात्पर्य यह है कि—परिमाणरूप व परिच्छेदरूप मात्रा करके रहित जो व्यापक अपरिच्छिन्न परमेश्वर है

तिस परमेश्वरमें जो औपाधिक प्रादेशमात्रत्व कहा है सो परमात्माकी अभिव्यक्तिके निमित्त है। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—प्रादेशमात्र परिमाणवाले हृदय-देशमें जो अपरिच्छिन्न परमेश्वर है सो उपासक पुरुषोंके प्रति अनुग्रहके लिये औपाधिक प्रादेशमात्र स्वरूप करके अभिव्यक्त (प्रगट) होता है। क्योंकि परिच्छिन्न दृष्टिवाले उपासकको अपरिच्छिन्न स्वरूपकी उपलब्धिमें सामर्थ्य है नहीं। इसलिये परमेश्वरको प्रादेशमात्र कहा है। और **'अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वरः'** इस भाष्यमें जो 'किल' शब्द है सो, अपनेमें जो स्वाभाविक अणिमादि ऐश्वर्य हैं तिनोंको ख्यापन करने वास्ते स्वयं परमात्मा उपासकोंके प्रति सूक्ष्म स्वरूप हो जाता है—इस अर्थको बोधन करता है।

अथवा उपलब्धिके स्थान जो हृदयादिक प्रदेश हैं, तिनोंमें परमेश्वर विशेष-रूपसे प्रतीत होता है। इसलिये परमेश्वर को प्रादेशमात्र कहा है। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमेश्वरमें भी अभिव्यक्तिके निमित्त जो प्रादेशमात्रकी श्रुति है सो समीचीन ही है यह सिद्ध हुवा इति ॥ २९ ॥

अब मतान्तरको दिखाते हैं:—

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

अर्थ—१ अनुस्मृतेः, २ बादरिः। इस सूत्रमें दो पद हैं। "जैसे प्रस्थ करके नापे हुये जो यव हैं सो यव भी प्रस्थ कहे जाते हैं। तैसे ही प्रादेशमात्र हृदयमें प्रविष्ट जो मन है तिस प्रादेशमात्र मन करके परमेश्वरकी अनुस्मृति होती है, अतः परमेश्वर भी प्रादेश-मात्र कहा जाता है" इस प्रकार बादरि आचार्य मानते हैं इति ॥

शंका। यवोंमें जो अपना परिमाण है सो परिमाण ही प्रस्थके सम्बन्धसे व्यक्त होता है अतः यवोंको प्रस्थमात्र कह सकते हैं; और ईश्वरमें तो कोई परिमाण है नहीं, अतः "ईश्वरमें जो परिमाण है सो प्रादेशमात्र हृदयादिकोंके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होता है" ऐसा नहीं कह सकते; अतः पूर्वोक्त दृष्टान्त असङ्गत है?

समाधान। यद्यपि यवोंमें स्वगत परिमाण ही प्रस्थके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होता है। और यहां परमेश्वरमें स्वगत परिमाण कुछ है नहीं जो हृद-यादिके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होवे। तथापि मन्त्रोंमें प्रयुक्त जो प्रादेशमात्र श्रुति है तिसका आलम्बन कहिये विषय यथाकथंचित् अनुस्मरण (प्रादेश-मात्रत्व) हो सकता है। अर्थात् हृदयमें स्थित जो प्रादेशमात्रत्व है सो हृदयमें स्थित मन करके स्मृति द्वारा स्मर्यमाण परमात्मामें कल्पित है। और कल्पित जो प्रादेशमात्रत्व है सोई श्रुतिका आलम्बन है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि प्रादेशमात्र हृदय गोलकरूप उपाधिके सम्बन्धसे परमात्मामें स्थित

जो कल्पित परिमाण है सोई मन आदिकोंके सम्बन्धसे व्यक्त होता है। अतः पूर्वोक्त दृष्टान्त समीचीन ही है इति।

अब इस सूत्रका दूसरी रीतिसे अर्थको कहते हैं:—

शंका। जहां प्रादेशमात्र ब्रह्मकी अभिव्यक्ति होती है; तहां प्रादेशमात्रत्व वस्तुतः स्मृतिमें है ब्रह्ममें नहीं। अतः हृदय व मनके द्वारा आरोपित जो स्मृतिगत परिमाण है तिसका स्मर्यमाण ब्रह्ममें आरोप नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्मका और स्मृतिका विषयविषयित्वेन भेद निश्चित है?

समाधान। प्रादेशमात्र श्रुतिकी अर्थवत्ताके लिये प्रादेशमात्र परिमाण करके रहित भी परमात्मा है तो भी प्रादेशमात्रत्वेन हृदयमें स्मरण करनेको योग्य है। अर्थात् ब्रह्मका अन्तःकरणके साथ तादात्म्याध्यासके विद्यमान हुये अन्तःकरणके धर्म स्मृति आदिकोंके साथ भी ब्रह्मका तादात्म्याध्यास अविद्यादशामें बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमेश्वरमें जो प्रादेशमात्र श्रुति है सो अनुस्मृतिका निमित्त है इस प्रकार बादरि आचार्य मानते हैं इति॥ ३०॥

यथाकथंचित् प्रादेशमात्र श्रुतिकी गतिको कहकर अब साक्षात् श्रुति करके उक्त संपत्ति रूप गतिको कहते हैं:—

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति॥ ३१॥

अर्थ—१ संपत्तेः, २ इति, ३ जैमिनिः, ४ तथा, ५ हि, ६ दर्शयति। इस सूत्रमें छ पद हैं। अथवा परमेश्वरकी जो मूर्धादिक स्थानोंमें स्थितिरूप संपत्ति है तिस संपत्तिरूप निमित्तसे परमेश्वर विषयक जो प्रादेसमात्र श्रुति है सो समीचीन ही है। और इसी अर्थको वाजसनेयि ब्राह्मण भी दिखाता है इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं। अपने अध्यात्म मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त देहके अवयवोंमें, त्रैलोक्यात्मस्वरूप वैश्वानर परमात्माके जो द्युलोकरूप मूर्धासे लेकर पृथिवी पर्यन्त अवयव हैं तिन अवयवोंको सम्पादन करती हुई, अर्थात् अध्यात्म अवयवोंमें अधिदैव अवयवोंकी दृष्टिको कराती हुई, प्रादेश मात्र जो अध्यात्म मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त देश है तिसमें परमेश्वरको स्थितिरूप प्रादेशमात्र संपत्तिको 'प्रादेशमात्र' श्रुति कहती है। क्योंकि छान्दोग्यमें स्थित इस वैश्वानर विद्या प्रतिपादक प्रकरणके समान प्रकरणको वाजसनेयि ब्राह्मण भी इसी प्रकार दिखाता है। तहां ब्राह्मणरूप श्रुतिः— 'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नाः।' इत्यादि। अर्थात् अप्रादेशमात्र अपरिच्छिन्न जो परमात्मा है तिसको मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त स्थानमें सम्पादन करनेसे "परमात्मा प्रादेशमात्रकी तरह है वस्तुतः नहीं" इस प्रकारसे पूर्वकालमें देवता सम्यक् जानते भये, और जानकर तिस ईश्वरको ही प्राप्त

होते भये। इस हेतुसे तुम्हारे लोगोंके प्रति "जिस प्रकार मूर्धादिक अध्यात्म अङ्गोंमें प्रादेश परिमाणको नहीं उलङ्घन करके वैश्वानरको आप लोग संपादन करेंगे तिस प्रकारसे हम द्युलोकादिक अवयवोंको कहेंगे" इस प्रकार कैकेय राजा प्राचीन-शालादिक षट् ऋषियोंके प्रति प्रतिज्ञाको कह करके; पुनः—'मूर्धानमुपदिशन्नुवाच। एष वा अतिष्ठा वैश्वानरः' इत्यादि। अर्थ—कैकेय राजा स्वहस्तको अङ्गुलि करके अपने मूर्धाको दिखाता हुवा कहता भया कि—भूरादिक लोकोंको उलङ्घन करके उपर भागमें स्थित जो यह अधिदैव द्युलोक है सो वैश्वानरका मूर्धारूप अवयव है इति।

अर्थात् प्रसिद्ध अपने मूर्धामें वैश्वानरका जो द्युलोकरूप अधिदैव अतिष्ठात्वगुणविशिष्ट मूर्धा है तिस मूर्धाकी अभेदरूपसे दृष्टि कर्तव्य है। यहां सर्वत्र वैश्वानर शब्द करके वैश्वानरके अङ्गोंका ग्रहण करना। इसी प्रकार अपने चक्षुको दिखाता हुवा कहता भया—'एष वै सुतेजा वैश्वानरः'। शोभन तेज करके सहित जो यह अधिदैव सूर्य है सो वैश्वानरका चक्षु है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने चक्षुमें अधिदैव आदित्यरूप जो वैश्वानरका सुतेजस्त्व गुणवाला चक्षु है तिस चक्षुकी अभेदरूपसे दृष्टि कर्तव्य है। तथा अपने नासिकाको दिखाता हुवा कहता भया कि—नाना प्रकारकी गतिवाला जो यह अधिदैव वायु है सो वैश्वानरका प्राण है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने नासिकोपलक्षित प्राणमें वैश्वानरका जो अधिदैव वायुरूप पृथग् वर्त्मत्वगुणवाला प्राण है तिस प्राणकी दृष्टि कर्तव्य है। तथा प्रसिद्ध अपने मुखके अन्दर जो अवकाशरूप आकाश है तिसको दिखाते हुये राजा कहते भये कि—अधिदैव जो यह आकाश है सो वैश्वानरके शरीरका मध्य भाग है। अर्थात् प्रसिद्ध अध्यात्मरूप अपने मुखके अन्दर आकाशमें वैश्वानरके शरीरका मध्य भागरूप जो अधिदैव बहुलत्वगुणवाला आकाश है तिस आकाशकी दृष्टि कर्तव्य है। तथा अपने मुखमें जो लालारूप जल है तिस जलको दिखाते हुवे राजा कहते भये कि—अधिदैव जो यह सरित् समुद्रादिकरूप जल है सो वैश्वानरका रयि है। अर्थात् मूत्रस्थानरूप वस्तिमें रहनेवाला जल है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने मुखमें स्थित लालारूप जलमें वैश्वानरका अधिदैवरूप जो रयित्व गुणविशिष्ट जल है तिस रयि रूप जलकी दृष्टि कर्तव्य है। तथा राजा अपने चुबुकको अङ्गुलि करके दिखाते हुये कहते भये कि—जो यह अधिदैव पृथिवी है सो वैश्वानरका पादरूप प्रतिष्ठा है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने चुबुकमें वैश्वानरकी पृथिवीरूप जो प्रतिष्ठा है तिस प्रतिष्ठाकी दृष्टि कर्तव्य है। मुखका निचला भाग जो अधर है जिसको ओष्ठ भी कहते हैं तथा मुखफलक भी कहते हैं तिसका नाम चुबुक है। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि—प्रत्येक अध्यात्म अङ्गोंमें प्रत्येक अधिदैव अङ्गोंकी स्थितिरूप सम्पत्तिको करके पुनः अधिदैव अङ्गोंसे अभिन्न अध्यात्म अङ्गोंमें अभेदरूपसे समष्टि वैश्वानररूप परमात्माको स्थापन करके उपासना करे।

यद्यपि वाजसनेयकमें द्यौको अतिष्ठात्व गुणवाली कहा है, और आदित्यको सुतेजस्त्व गुणवाला कहा है। और छान्दोग्यमें द्यौको सुतेजस्त्व गुणवाली कहा

है, और आदित्यको विश्वरूपत्व गुणवाला कहा है। इस प्रकार गुणोंके भेद करके विद्याका भेद होनेसे छान्दोग्य तथा वाजसनेयक इन दोनोंमें एक विद्याकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। तथा वाजसनेयक श्रुतिके अनुसार छान्दोग्यके प्रादेशमात्र श्रुतिका व्याख्यान भी नहीं कर सकते हैं। तथापि छान्दोग्य तथा वाजसनेयकके बहुत स्थलोंमें समान अर्थकी प्रत्यभिज्ञा करके सिद्ध जो विद्याका अभेद है सो पूर्वोक्त इतने अल्प भेद करके निवृत्त नहीं हो सकता है। अतः 'परस्पर गुणोंका उपसंहार करना' अथवा 'शाखा भेदसे व्यवस्था करनी' परन्तु विद्याभेद नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रादेशमात्र श्रुति दोनोंमें समान है। "तथा शाखाके भेद हुये भी सर्व शाखावोंमें प्रतीयमान वैश्वानरादिकोंकी उपासना एक है" इस न्यायको तृतीय अध्यायके गुणोपसंहारके अधिकारमें दिखावेंगे। अतः अतिष्ठात्व गुणका छान्दोग्यमें और विश्वरूपत्व गुणका वाजसनेयकमें उपसंहार करना योग्य है। इस पूर्वोक्त रीतिसे पूर्वोक्त सम्पत्ति है निमित जसकी ऐसी जो प्रादेशमात्र श्रुति है सो युक्ततर हो है। इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं इति ॥ ३१ ॥

अब परमात्मानिष्ठ प्रादेशमात्रत्वमें जो सम्पत्तिप्रयुक्तत्व कहा है तिसमें जाबाल श्रुतिके संवादको सूत्रकार दिखाते हैं:—

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

अर्थ—१ आमनन्ति, २ च, ३ एनम्, ४ अस्मिन्। इस सूत्रमें चार पद हैं। जाबाल शाखावाले भी मूर्धा चुबुकके अन्तरालमें इस परमेश्वरको कथन करते हैं इति। जाबाल श्रुतिः- 'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति' 'सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति' इत्यादि। **अर्थ**— जो यह प्रसिद्ध परमात्मा 'अनन्त' है कहिये अपरिच्छिन्न है अर्थात् त्रिविध परिच्छेद शून्य है। अतः 'अव्यक्त' है कहिये स्वरूप करके अनभिव्यक्ति होनेसे अव्यक्त है अर्थात् दुर्विज्ञेय है। तिस परमात्माको मैं किस प्रकार जानुं ? इस प्रकारका अत्रि ऋषिके प्रश्नके हुये याज्ञवल्क्य ऋषि उत्तरको कहते हैं-जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है सो 'अविमुक्ते' कहिये अविद्यादिक उपाधि करके परिच्छिन्न तथा कर्मादिकों करके बद्ध संसारी जीवात्मामें भेदकल्पना करके प्रतिष्ठितः है अर्थात् उपास्य है। पुनः अत्रि ऋषि पूछते हैं कि--जीवरूप अविमुक्त किसमें प्रति ष्ठित है ? याज्ञवल्क्य उत्तरको कहते है-वरणा तथा नासीके मध्यमें प्रतिष्ठित है। प्रश्न- 'वरणा' किसको कहते हैं ? तथा 'नासी' किसको कहते हैं ? उत्तर-सम्पूर्ण इन्द्रिययकृत दोषोंको वारण करती है अतः भ्रूःको वरणा कहते हैं। तथा इन्द्रियकृत सम्पूर्ण दोषोंको नाश करती है। अतः नासिकाका नाम नासी है इति। यहां ऐसा जानना कि भ्रूरूप वरणा तथा नासिकारूप नासी इन दोनोंमें, नियम्य जीवके अधिष्ठानत्व द्वारा नियन्ता

परमेश्वरके अधिष्ठानत्वको विद्यमान होनेसे उपासना द्वारा वरणा तथा नासीमें सर्व पापादिक दोषोंका वारकत्वादिक है।

तहां प्रथम इस भ्रू सहित नासिकारूप जीवके स्थानका सामान्यसे वरणा तथा नासीरूपसे निर्वचनको कहा। अब विशेषरूप करके अत्रि ऋषि पूछते हैं कि— **'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्युलोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति'।** अर्थ—जीवका स्थान कौन है? याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—भ्रू तथा घ्राणको जो सन्धि है सो यह स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोककी सन्धिरूप करके ध्यान करनेको योग्य है। अर्थात् भ्रूकी तथा घ्राणकी जो सन्धि है सो जीवका स्थान है। इसमें स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोककी सन्धिदृष्टि करनी, तथाच पूर्वोक्त जीवके स्थानमें प्रत्यग्रूप करके परमात्मा उपास्य है अतः परमेश्वरमें प्रादेशमात्र श्रुति समीचीन ही है यह सिद्ध हुवा इति।

अब वैश्वानरका जो 'अभिविमानम्' यह विशेषणान्तर है तिसको परमेश्वरमें घटाते हैं—**'अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया'** इति भाष्यम्। अर्थ—यह जो अभिविमानश्रुति है सो भी प्रत्यग् आत्मत्वके अभिप्राय करके ही कही है इति। अर्थात् प्रत्यग्रूप करके सर्व प्राणी जिसको जानें तिसका नाम अभिविमान है। अथवा आभिमुख्य करके 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकार ब्रह्मको अपना प्रत्यग् आत्मारूप करके जो 'विमीयते' कहिये जानता है तिस प्रत्यगात्माका नाम अभिविमान है। अथवा प्रत्यग् आत्मस्वरूप होनेसे जो परमात्मा 'अभिगत' है अर्थात् सर्वरूप है, तथा जो परमात्मा 'विमान' कहिये परिमाण रहित है; तिस परमात्माका नाम अभिविमान है। अथवा परमात्माको सम्पूर्ण जगत्का कारण होनेसे जो परमात्मा सर्व जगत्को 'अभिविमिमीते' कहिये निर्माण करता है तिस परमात्माका नाम अभिविमान है। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमात्मा ही वैश्वानर है जाठराग्नि आदिक नहीं। अतः जो वैश्वानरवाक्य है सो उपास्य ब्रह्ममें समन्वित हुवा यह सिद्ध हुवा।

यहां अधिदैव द्युमूर्धादिकोंको अध्यात्म अपने मूर्धादिकोंमें सम्पादन करके अवयवोंके अभेद होनेसे अवयवीका अभेद अवश्य होता है अतः द्युमूर्धादिमान् वैश्वानरको आत्मरूपसे ध्यान करना यह प्रथम पक्ष है।

और वैश्वानरके द्युमूर्धादिकोंको अपने मूर्धासे लेकर चिबुक पर्यन्त छ अङ्गोंमें सम्पादन करके सर्वात्मा वैश्वानर ध्येय है यह द्वितीय पक्ष है।

और द्युमूर्धादिउपलक्षित अनन्त अव्यक्त चिदात्माकी चिदाभासरूप जीवमें

स्थितिको सम्पादन करके चिदाभासरूप जीवको नासिका व भ्रूके मध्यमें सम्पादन करे। अर्थात् नासिकाका मूलस्थान दो भ्रुवोंके मध्यमें स्थित जीवरूप चिदाभासमें विम्बरूपसे साक्षी व अधिष्ठानरूपसे स्थित चिदात्मा विश्वेश्वररूप वैश्वानरको प्रत्यग् आत्मरूपसे ध्यान करना चाहिये यह तृतीय पक्ष है ॥३२॥

॥ इति वैश्वानराधिकरणम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीचिद्घनानन्दगिरिपूज्यपादशिष्य-गोविन्दानन्दगिरिविरचितायां सूत्रभाष्यार्थप्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्यास्पष्टश्रुतिसमन्वयाख्यो द्वितीयपादः ॥ २ ॥



प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

ओं श्रीगणेशायनमः । ओं श्रीगुरवे नमः । ओं श्रीशंकराचार्य्येभ्यो नमः ॥

'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः ॥' इत्यादिक सविशेष वस्तुके प्रतिपादक वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वयको द्वितीय पादमें दिखा आये हैं। अब निर्विशेष वस्तुके प्रतिपादक वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वयको कहनेके लिये तृतीय पादका आरम्भ करते हैं। तहां पूर्व वैश्वानराधिकरणमें "तीन लोकस्वरूप" जो वैश्वानर है सो ब्रह्मरूप परमात्मा ही है ऐसा कह आये हैं। अतः तीनों लोकोंका आयतन ब्रह्मसे भिन्न प्रधानादिक ही कहना होवेगा ? ऐसी शंकाके हुये व्यास भगवान् कहते हैं:-

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

अर्थ—१ द्युभ्वाद्यायतनम्, २ स्वशब्दात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'द्यु' कहिये स्वर्ग लोक तथा 'भू' कहिये पृथिवीलोक 'आदि'पद करके अन्तरिक्ष लोकादिक सम्पूर्ण जगत्का 'आयतन' कहिये स्थान अर्थात् अधिष्ठान ब्रह्म ही है प्रधानादिक नहीं, क्योंकि 'स्वशब्दात्' कहिये 'यस्मिन् द्यौ' इस श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है इति।

और जो पूर्व अधिकरणमें कहा था कि—द्युलोकादिक विशेष करके विशिष्ट अर्थात् लोकत्रयस्वरूप वैश्वानररूप परमात्मा ही यहां उपास्य है इति। तिस कहनेका तात्पर्य यह हैं कि—निर्विशेष परमात्मा ही उपासनाके लिये लोकत्रयस्वरूप करके स्थित है। अर्थात् लोकत्रयस्वरूप वैश्वानरको प्रत्यगात्मारूप करके उपासना करे। और परमात्मा लोकत्रयका कारण है अतः उपसनाके लिये लोकत्रयस्वरूप बन सकता है।

और इस अधिकरणमें, निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार करके द्वैत प्रपञ्चकी निवृत्तिके लिये निर्विशेष ब्रह्मको ही जगत्का आयतन अर्थात् अधिष्ठान रूप करके कथन किया है। अतः पूर्वोक्त शंका असंगत है। 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' इस द्वितीय पादस्थ सूत्रके विषयवाक्यमें स्थित जो वैश्वानर शब्द है सो यद्यपि जाठराग्नि, भूताग्नि, देवताग्नि, इन तीनोंमें साधारण है, तथापि जैसे द्युमूर्धादिकोंका प्रतिपादक वाक्यशेष करके वैश्वानर शब्दको ब्रह्मपरत्व कह आये हैं। तैसे ही 'यस्मिन् द्यौ' इस मन्त्रमें स्थित जगदायतनत्व भी यद्यपि प्रधान, वायु व जीवमें साधारण है, तथापि 'अमृतस्यैष सेतुः' इस वाक्यशेषमें स्थित 'सेतु' श्रुति करके इस सूत्रके विषयवाक्यको ब्रह्मपरत्व ही है। अतः 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' इस सूत्रके साथ 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस सूत्रकी दृष्टन्त

सङ्गति जाननी। अब इस अधिकरणसूत्रके मुण्डक उपनिषत्का वाक्यरूप विषयको दिखाते हैं—'इदं श्रूयते' इति भाष्यम्। मुण्डकमें ऐसा श्रवण होता है—**यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥** अर्थ—स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्षरूप जो लोकत्रयस्वरूप विराट्; तथा वागादिक सम्पूर्ण इन्द्रियों करके सहित मनरूप सूत्रात्मा; तथा श्रुतिस्थ चकार करके अव्याकृतरूप कारण; जिसमें 'ओतं' कहिये समर्पित हैं अर्थात् कल्पित हैं। तिन कल्पित पदार्थोंका अपवाद करके साजात्यादिक भेदरहित तिस अधिष्ठानरूप केवल ब्रह्मको ही श्रवणादिकों करके प्रत्यग् आत्मास्वरूप जानो। और आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोंकी प्रतिपादक जो अपरा विद्यारूप वाणी है तिसको विशेष करके त्यागो। और वाणीका त्यागपूर्वक जो आत्माका साक्षात्कार है सो यही अमृत स्वरूप मोक्षका सेतु है। अर्थात् जैसे लोकप्रसिद्ध सेतु पर तीरका प्रापक होता है तैसे ही आत्मसाक्षात्कार भी असार अपार दुर्वार संसाररूप समुद्रके पर तीर रूप मोक्षका प्रापक है इति। माताकी तरह मुमुक्षुवोंके प्रति उपदेश करनेवाली यह श्रुति इस अधिकरणसूत्रका **विषय** है।

इस श्रुतिमें 'यस्मिन् ओतं' इस वचन करके द्युप्रभृतिका कोई आयतन प्रतीत होता है। और आयतनत्वरूप धर्म प्रधानादिकोंमें साधारण है। अतः "यहां क्या आयतन शब्द करके परब्रह्मका ग्रहण करना अथवा ब्रह्मसे भिन्न प्रधानादिकोंका ग्रहण करना" यह **संशय** होता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'अमृतस्य एष सेतुः' यहां 'अमृतस्य' इस षष्ठी विभक्ति करके अमृतरूप ब्रह्मसे भिन्नरूप करके सेतुका श्रवण होता है। अत 'एष' शब्द करके परामृष्ट द्युप्रभृतिका आयतन प्रधानको ही मानना उचित है। और लोकमें भी जो पारवान् पदार्थ होता है सो ही सेतु शब्द करके कहा जाता है। ब्रह्मसे परे कोई है नहीं। क्योंकि 'अनन्तमपारम्' यह श्रुति ब्रह्मको काल करके अन्तरहित तथा देश करके पाररहित बोधन करती है। और प्रसङ्गमें जलविधारक मुख्य सेतुका ग्रहण तो नहीं बन सकता है; किन्तु गौण सेतुका ही ग्रहण करना होगा। और जब गौण सेतुका ग्रहण हुवा तब स्मृतिप्रसिद्ध व मुख्य सेतुका पारवत्त्वरूप गुणविशिष्ट प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि चेतनरूप पुरुषकी अपेक्षासे प्रधान परिच्छिन्न है। अर्थात् देश करके पारवाला है। और द्युप्रभृति जगत्का कारण होनेसे प्रधान जगत्का आयतन भी बन सकता है। और सांख्यके मतमें प्रधानका ज्ञान भी मोक्षका उपयोगी है। क्योंकि प्रधानके ज्ञानका अभाव हुये प्रधानसे भिन्न करके पुरुषका निश्चय न होनेसे मोक्षकी अनुपपत्ति होगी। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रधान ही आयतनरूप करके ग्रहण करनेको योग्य है इति।

यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—श्रुतिरूप प्रमाणसिद्ध वस्तुको ही जगत्का आयतन मानना उचित है। यद्यपि प्रधान स्मृतिरूप प्रमाणसे सिद्ध है तथापि

श्रुति करके सिद्ध नहीं है। अतः प्रधान जगत्का आयतन नहीं बन सकता है? ऐसी शंकाके हुये पूर्ववादी पक्षान्तरको कहता है—'श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्' इति भाष्यम्। अर्थ—अथवा श्रुति करके प्रसिद्ध जो वायु है सो जगत्का आयतन बन सकता है इति। तहां श्रुति—'स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति' इति (बृहदा०)। अर्थ—याज्ञवल्क्य उद्दालकके प्रति कहते हैं—हे गौतम (उद्दालक)! गन्धर्व करके उक्त जो सूत्र हैसो वायु है। और जैसे सूत्र करके मणि आदिक ग्रथित होते हैं। तैसे समष्टि लिङ्गात्मक वायुरूप सूत्र करके यह लोक तथा परलोक सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च ग्रथित है इति। इस श्रुति करके वायुमें भी जगत्का विधारकत्व सिद्ध होता है। अतः सूत्रात्मारूप वायुका ही 'आयतन' पद करके ग्रहण करना योग्य है।

अथवा प्रधान तथा वायु इन दोनों पक्षोंमें श्रुतिमें स्थित आत्मशब्दकी अनुपपत्ति होनेसे पक्षान्तरको पूर्ववादी दिखाता है—'शारीरो वा स्यात्' इति भाष्यम्। अथवा द्युप्रभृतिका आयतन जीवात्मा बन सकता है। क्योंकि जीवको भोक्ता होनेसे भोग्यरूप प्रपञ्चके प्रति जीव आश्रय है। अर्थात् प्रपञ्च स्वनिष्ठ भोग्यता निरूपित भोक्तृत्वरूप सम्बन्ध करके जीवमें रहता है।

अथ सिद्धान्तपक्ष*। 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्।' यहां 'द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ' इस प्रकार द्वन्द्व समासके अनन्तर 'द्युभुवावादी यस्य' द्यौ और भू हैं आदि जिसके तिसका नाम द्युभ्वादि हैं' इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। यहां समासका अर्थ निखिल जगत् है। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी' इस वाक्यमें जो द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष और मन व सम्पूर्ण प्राण इत्यादिक निखिल जगत् तन्तुवोंमें पटकी तरह ओत प्रोत भावसे निर्दिष्ट है तिसका आयतन कहिये अधिष्ठान परब्रह्म ही होनेको योग्य है। क्योंकि 'स्वशब्दात्' अर्थात् द्युपृथिवी आदिक जिसमें 'ओतम्' अनुस्यूत हैं और द्युपृथिवी आदिकका जो आयतन है तिस विषे आत्मशब्दका प्रयोग 'यस्मिन् द्यौः' इस श्रुतिमें किया है—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'। तथाच इस श्रुतिमें जो आत्मशब्द है सो परमात्माके ग्रहण करनेसे ही समीचीन हो सकता है जीवात्मादिके ग्रहणसे नहीं। क्योंकि उपाधि करके परिच्छिन्न जीवमें व जड़ प्रधानादिकमें सर्व वस्तुका प्रत्यक्त्वरूप मुख्य आत्मत्व व आयतनत्व नहीं बन सकता है। अतः यहां द्युभ्वादिकोंका आयतन परमात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है। और कहीं २ छान्दोग्य आदिकमें स्वशब्द करके ब्रह्ममें ही आयतनत्वका श्रवण भी होता है। तहां श्रुति—'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' इति—

* टि०—यहां पूर्वपक्षमें प्रधानादिकोंकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है।

अर्थ--हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो! इस सम्पूर्ण प्रजाकी उत्पत्तिमें सत् वस्तु ही मूल है तथा स्थितिमें सत् वस्तु ही आयतन है तथा लयमें सत् वस्तु ही प्रतिष्ठा है इति। इस सूत्रमें स्थित 'स्व' शब्द जो है सो 'आत्म' शब्द तथा 'सत्' शब्द तथा 'पुरुष' शब्द तथा 'ब्रह्मादिक' शब्दोंका सूचक है। इसलिये भाष्यकार भगवान्ने कहा है— 'स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते' इति।

और इस सूत्रका, जो द्वितीय मुण्डकके द्वितीय खण्डका पञ्चम मन्त्र 'यस्मिन् द्यौः' इत्यादिक विषयवाक्य है; तिस वाक्यसे पूर्ववाक्य प्रथम खण्डका दशम मन्त्र- **'पुरुष एवेदं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य'।** अर्थ—पुरुषसे उत्पन्न हुवा जो सम्पूर्ण विश्व है सो पुरुषरूप परमात्माका स्वरूप ही है। और यह विश्व कैसा है—सफल अग्निहोत्रादिकरूप कर्म, तथा सफल उपासनारूप तप, तथा कर्मतपका प्रकाशक वेद, ये तीन स्वरूप है। तथा पर अमृत स्वरूप जो ब्रह्म है तिसका कार्य होनेसे परब्रह्म स्वरूप हो विश्व है। हे शौनक! सर्व प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें स्थित जो सर्वात्मस्वरूप ब्रह्म है तिस ब्रह्मको जो अधिकारी पुरुष अपना आत्मारूप करके जानता है सो विद्वान् 'अज्ञोऽहम्' इस प्रतीतिकी विषय जो अज्ञानके साथ चेतनका तादात्म्यरूप ग्रन्थि है। तिसको इस जीवित शरीरके हुये ही नाश करता है इति। और उत्तर वाक्य द्वितीय खण्डका अग्यारमा मन्त्र—**'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'॥** अर्थ—पूर्व दिशामें वर्तमान जो वस्तुसमूह है सो नाशरहित ब्रह्म स्वरूप ही है। तथा पश्चिम दिशामें वर्तमान जो वस्तु हैं सो भी ब्रह्म स्वरूप ही हैं। तथा दक्षिण दिशामें तथा उत्तर दिशामें वर्तमान जो वस्तु हैं सो भी सर्व ब्रह्म स्वरूप ही हैं। और अधोदेशमें तथा ऊर्ध्वदेशमें ब्रह्म ही व्याप्त है। बहुत क्या कहें यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् बाधसामानाधिकरण्य करके ब्रह्मस्वरूप ही है। और यह ब्रह्म श्रेष्ठतम है इति। इन पूर्व और उत्तर वाक्योंमें जो 'पुरुष' शब्द तथा 'ब्रह्म' शब्द हैं ये शब्द भी ब्रह्मका ही संकीर्तन करते हैं। अतः ये दोनों मन्त्र ब्रह्मपरक हो हैं। वस्तुतः 'यस्मिन्' इस मन्त्रके पूर्व व उत्तरके सम्पूर्ण मन्त्र ब्रह्मको ही प्रतिपादन करते हैं। अतः मध्यवर्ती यह 'यस्मिन्' मन्त्र भी अवश्य ब्रह्मका ही प्रतिपादक है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म ही स्वर्गादि प्रपञ्चका आयतन है यह सिद्ध हुवा।

शंका। जैसे शाखा, स्कन्ध, मूल इस भेदसे वृक्ष अनेकात्मक है अर्थात् शाखाका आयतन स्कन्ध है तथा स्कन्धका आयतन मूल है। तथा च ये तीन स्वरूप वृक्ष है। तैसे ही एक रससे भिन्न अनेकरसरूप विचित्र सविशेष ही आत्मा भी होवेगा। क्योंकि आयतनायतनवत्त्वका श्रवण होता है। तथा 'सर्वं ब्रह्म' यह सामानाधिकरण्य है। अर्थात् हिरण्यगर्भका आयतन ईश्वर है तथा ईश्वरका आयतन ब्रह्म है। इस रीतिसे ब्रह्महिरण्यगर्भका आयतनायतनवत्त्व तथा सामानाधिकरण्य बन सकता है। अतः, अनेकात्मक, अनेकरस हिरण्यगर्भ ही यहां आत्मा है।

समाधान। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी' यह श्रुति 'कार्य प्रपञ्चविशिष्ट विचित्र आत्मा जाननेको योग्य है' ऐसा नहीं बोधन करती है। किन्तु अविद्याकृत कार्य प्रपञ्चको तथा अविद्याको विद्या करके प्रविलापन करते हुये सम्पूर्ण जगत्का आयतनरूप एकरस आत्माको जानो- इस अर्थको बोधन करती है। अन्यथा 'यस्मिन्' इस मन्त्रके उत्तरार्धगत 'तमेवैकं जानथ आत्मानं' इस श्रुतिमें एवकार और 'एक' शब्द व्यर्थ हो जायेगा। अर्थात् जैसे किसीने कहा कि—'जिसके उपर देवदत्त स्थित है उसको ले आवो' इस वचनको सुनकर पुरुष आसनको लेआता है, देवदत्तको नहीं। तैसे ही यह श्रुति द्यु पृथिवी अन्तरिक्ष आदिक सर्वका अधिष्ठान एकरस आत्माको विज्ञेयरूप करके उपदेश करती है अन्यको नहीं।

इस पूर्वोक्त रीतिसे श्रुतिस्थ एवकार तथा एक शब्द करके 'निर्विशेष ब्रह्म ही ज्ञेय है, ऐसा कहकर अब दूसरे हेतुको दिखाते हैं—**'विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते'** इति भाष्यम्। अर्थ—शरीरादि विकाररूप कल्पित पदार्थोंमें अभिसन्धि अभिमान है जिस पुरुपको तिसका नाम विकारानृताभिसन्ध है; ऐसे पुरुपकी अनर्थका भागी होनेसे श्रुति निन्दा करती है इति। तथा च श्रुतिः—**'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'**। अर्थ—जो अतिमूढ़ पुरुष इस ब्रह्ममें नानात्वरूप भेदकी तरह देखता है सो जन्ममरण धाराको प्राप्त होता है इति। इस श्रुतिसे सत्य कूटस्थरूप एकरस ब्रह्म ही ज्ञेय है अनेक रस नहीं यह सिद्ध हुवा।

शंका। यदि ब्रह्मको अनेकात्मक नहीं मानोगे तो 'सर्वं ब्रह्म' इस सामानाधिकरण्यकी उपपत्ति किस प्रकार होगी।

समाधान। जैसे भ्रमविषय जो चोर है सो स्थाणुरूप है। तैसे जो सम्पूर्ण जगत् है सो ब्रह्मरूप है। इस प्रकार जगत्का प्रविलापन व बाधके लिये सर्व जगत्को उद्देश करके ब्रह्मत्वको वेद विधान करता है। 'जो ब्रह्म है सो सर्व जगत्रूप है' इस प्रकार ब्रह्ममें अनेकात्मकत्वरूप नानारसत्वबोधनके लिये सामानाधिकरण्य नहीं है। इस रीतिसे एकरस ब्रह्ममें भी 'सर्वं ब्रह्म' इस सामानाधिकरण्यकी उपपत्ति बन सकती है। इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं—**'स यथा सैंधवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'**। अर्थ—जैसे लवणपिण्ड अन्तर बाहर रसान्तर करके शून्य केवल एकरस लवणमात्र ही है। तैसे अरे मैत्रेयि! यह सम्पूर्ण अन्तर बाहर विभागशून्य केवल चैतन्य एकरस आत्मा ही है इति। इस प्रकार आत्मामें एक रसताका ही श्रवण होता है। अतः द्यु पृथिवी आदिकोंका आयतन परब्रह्म ही है।

शंका। यदि द्युभ्वादिका आयतन ब्रह्मको मानोगे तो 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' इस श्रुतिमें जो आगे 'अमृतस्यैष सेतुः' यह सेतुका श्रवण होता है

सो विरुद्ध होगा। क्योंकि जो सेतु है सो पारवान् ही उपपन्न हो सकता है ब्रह्म पाररहित है। अतः ब्रह्मसे भिन्न पारवान् प्रधानादिक ही द्यु पृथिवी आदिकोंका आयतन मानना चाहिये।

समाधान। 'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। जैसा लोकमें सावयवत्व, पारवत्त्वादिक मुख्य धर्मों करके विशिष्ट मृत्तिकादारुमय सेतु देखा है; तैसा पूर्वोक्त सर्व धर्मों करके विशिष्ट मृत्तिकादारुमय ही सेतु प्रकृतमें नहीं ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु गौण जलादिकोंका बन्धनरूप विधारणवान् ही प्रकृतमें सेतु शब्दका अर्थ है। क्योंकि बन्धनार्थक षिञ् धातुका सेतु शब्द बनता है। तथा च प्रसङ्गमें सेतुश्रुति करके गौण विधारण मात्र ही विवक्षित है पारवत्त्वादिक नहीं। अतः सावयवत्व पारवत्त्वादिक रहित ब्रह्ममें भी जगत्का विधारकत्व रूप सेतुत्व बन सकता है। और 'अमृतस्यैष सेतुः' यहां 'अमृत' पद भावप्रधान निर्देश करके कहा है। अर्थात् अमृत शब्दका अर्थ अमृतत्व जानना। तथाच इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि—जो ब्रह्म द्यु पृथिवी आदिक जगत्का आयतन है सो ब्रह्म अमृतत्वका विधारक सेतुरूप है इति।

अथवा द्युलोकादिकोंका आधार जो ब्रह्म है सो सेतु शब्दका अर्थ नहीं है; किन्तु यहां ब्रह्मसाक्षात्कार सेतु शब्दका अर्थ है। अब इस अर्थको दिखाते हैं:— 'अपर आह' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—कोई कहते हैं कि—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' यह पूर्ववचन आत्मज्ञानको संकीर्तन करता है। और 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' यह अव्यहित पूर्व वचन ब्रह्मसे भिन्न अर्थके प्रतिपादक शब्दोंके त्यागको संकीर्तन करता है। अतः, अनात्मपदार्थ प्रतिपादक वाणीका त्यागपूर्वक आत्मज्ञान जो है सो ही यहां अमृतत्वरूप मोक्षका साधन होनेसे 'अमृतस्यैष सेतुः' इस सेतुश्रुति करके संकीर्तन किया है। अर्थात् संसार समुद्रके पर पाररूप मोक्षका प्रापक आत्मसाक्षात्कार यहां सेतु शब्दका अर्थ है। और द्यु भु आदिका आयतन सेतु शब्दका अर्थ नहीं है। अतः पूर्वपक्षीने जो कहा था कि— सेतुश्रुतिसे ब्रह्मभिन्न प्रधानादिकोंको ही द्युलोकादिकोंका आयतन मानना चाहिये सो यह अयुक्त है इति। अर्थात् प्रधानादिकोंमें आयतनत्वका खण्डन कर आये हैं इति॥ १॥

पूर्व इस अधिकरणसूत्रमें द्यु पृथिवी आदिक प्रपञ्चका आयतन ब्रह्मको कहा है। इस अर्थमें हेत्वन्तरको सूत्रकार दिखाते हैं:—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्॥ २॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। इस हेतुसे भी यहां पर ब्रह्म ही द्युभ्वादिका आयतन है। क्योंकि अविद्यादिक दोषों करके रहित जो मुक्त पुरुष है तिस पुरुष करके 'उपसृप्य' कहिये प्रत्यग् आत्मरूप करके प्राप्त होनेको योग्य जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही यहां वाक्यशेषमें 'व्यपदेशात्' कहिये कथन है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार दिखाते हैं—जो अविद्यादिक बन्धकी

निवृत्ति है सोई मुक्ति है। अब मुक्तिके प्रतियोगी बन्धको दिखाते हैं। देहादिक अनात्म वस्तुमें जो 'अहमस्मि' इस प्रकार आत्मबुद्धि है तिसका नाम अविद्या है और इस अविद्यासे ही देहादिकोंके पूजनादिकोंमें राग, तथा देहादिकोंके परिभवरूप तिरस्कारमें द्वेष, तथा शरीरके उच्छेदके दर्शनसे भय तथा विषादरूप मोह इत्यादिक अनेक प्रकारका निरन्तर वर्तमान अनर्थसमूह होता है। इस अविद्यादिका नाम बन्ध है सो हमारे सर्व प्राणियोंको प्रत्यक्ष सिद्ध है। और इस बन्धकी निवृत्तिरूप जो मोक्ष है सो सम्यग् ज्ञान करके साध्य है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि–यथार्थ ज्ञान करके निवृत्त अविद्या रागद्वेषादिक दोषवाले मुक्त पुरुषों करके यह ब्रह्म गम्य है।

शंका। मुक्तों करके उपसृप्य ब्रह्मका व्यपदेशक वह वाक्यशेष कौन है?

समाधान। इस अर्थको द्युलोकादिकोंका आयतनरूप ब्रह्मको प्रसङ्गमें प्राप्त करके मुण्डकमें आगे कहा है–**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥** अर्थ–'परावरे' कहिये पर–कारण, अवर–कार्य, उभयरूप अर्थात् सर्वात्मस्वरूप ब्रह्मके 'दृष्टे' कहिये 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इस प्रकार साक्षात्कारके हुये। अथवा सर्व देवतावोंसे 'पर' कहिये उत्कृष्ट जो हिरण्यगर्भ है सो भी 'अवर' कहिये निकृष्ट है जिस ब्रह्मसे तिस ब्रह्मका प्रत्यग् आत्मारूप करके साक्षात्कारके हुये, इस विद्वान्की चेतन तथा अहंकारका तादात्म्याध्यासरूप हृदयकी ग्रन्थि विदीर्ण हो जाती है। तथा ज्ञेय वस्तु-विषयक सर्व संशय छिन्न हो जाते हैं। तथा सञ्चित व आगामि सर्व कर्म क्षीण होते हैं इति। इस मन्त्रको कहकर पुनः आगे लिखा है–'**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**'॥ अर्थ–जैसे गमन करती हुई गंगा यमुनादिक जो नदी हैं सो अपने नाम तथा रूपको त्याग करके समुद्रको प्राप्त होकर समुद्ररूप होती हैं। तैसे आत्मज्ञ पुरुष भी मनुष्य देवतादिक नाम तथा रूप स्वरूप संसारको त्याग करके अव्याकृतसे उत्कृष्ट स्वयं ज्योति आनन्दरूप पूर्ण परब्रह्मको प्राप्त होता है इति। इन मन्त्रों करके ब्रह्ममें मुक्त पुरुषों करके उपसृप्यत्व अर्थात् प्राप्यत्वको दिखाया।

और ब्रह्ममें मुक्तोपसृप्यत्व शास्त्रमें प्रसिद्ध है। अब इसी अर्थमें बृहदारण्यक वाक्यको दिखाते हैं–**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥** अर्थ–जिस कालमें इस विद्वान्के अन्तःकरणमें स्थित, इस लोकके तथा परलोकके विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंके हेतु सम्पूर्ण वासनारूप काम, निवृत्त हो जाते हैं। तिस कालमें मरण धर्मवाला भी मनुष्यादिक अमृतरूप होता है। अर्थात् इस शरीरमें ही स्थित हुवा ब्रह्मरूप होता है इति।

और यहां मुण्डकमें द्युलोकादिकोंका आयतनरूप ब्रह्ममें जो 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' इस वचन करके 'अन्य वाग्विमोचन पूर्वक विज्ञेयत्व' कहा है; सो अन्य बृहदारण्यक श्रुतिमें भी पर ब्रह्ममें देखा गया है। तहां श्रुति–तमेव

धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्॥ अर्थ—विवेकी पुरुष पूर्वोक्त अद्वितीय आत्माको 'विज्ञाय' कहिये शोधिततत्त्वं पदके लक्ष्यार्थको जानकर 'प्रज्ञा' कहिये मोक्षको संपादन करनेवाला महावाक्यार्थज्ञानको सम्पादन करे। और अनात्म पदार्थ प्रतिपादक बहुत शब्दोंको मन करके चिन्तन तथा वाणी करके कथन न करे। क्योंकि यह मन वाणीके परिश्रमको देनेवाले हैं इति। इत्यादिक पूर्वोक्त श्रुतियोंमें जैसे ब्रह्ममें मुक्तोपसृप्यत्व प्रसिद्ध है तैसे प्रधानादिकोंमें कहीं प्रसिद्ध है नहीं। अतः द्युलोकादिकोंका आयतनरूप करके परब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है प्रधानादिक नहीं इति॥ २॥

'यस्मिन् द्यौः' इत्यादि मुण्डकमें ब्रह्म ही द्यु भू आदिका आयतन है क्योंकि जैसे ब्रह्मके साधक आत्मशब्दादिक हेतुविशेष श्रुतिमें कहे हैं; तैसे प्रधानादिकोंके साधक हेतुविशेष प्रसिद्ध नहीं है। यहां अनुमानका आकार ऐसा जानना—'द्युभ्वाद्यायतनं, ब्रह्म भवितुमर्हति, आत्मशब्दप्रतिपाद्यत्वात्, एवं मुक्तोपसृप्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटादिः' इत्यादि। अर्थ—जैसे घटादिक दृष्टान्तमें ब्रह्मत्वरूप साध्य नहीं है; तैसे आत्मशब्दप्रतिपाद्यत्व तथा मुक्तोपसृप्यत्वरूप हेतु भी नहीं हैं। और द्युभ्वाद्यायतनरूप पक्षमें आत्मशब्दप्रतिपाद्यत्वादिक हेतु हैं; अतः ब्रह्मत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस व्यतिरेकि अनुमानादिकों करके सिद्धान्तको कहकर अब प्रधानपक्षको सूत्रकार खण्डन करते हैं:—

नानुमानमतच्छब्दात्॥ ३॥

अर्थ—१ न, २ अनुमानम्, ३ अतच्छब्दात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। सांख्य स्मृति करके परिकल्पित जो अनुमान अर्थात् प्रधान है सो द्युभ्वादिकोंका आयतन नहीं बन सकता है। क्योंकि 'अतच्छब्दात्' अचेतन प्रधानका वाचक शब्दका नाम यहां 'तत्' शब्द है। और 'तत्' शब्दसे भिन्न चेतनवाचक शब्दका नाम 'अतत्' शब्द है। पञ्चमी विभक्ति हेतुकी वाचक है। अर्थात् प्रकृत मुण्डक श्रुतियोंमें प्रधानका वाचक कोई शब्द नहीं है, जिस प्रधानवाचक शब्द करके प्रधानको जगत्का कारण अथवा जगत्का आयतन मानें। और अचेतन प्रधानसे भिन्न चेतनके वाचक आत्म शब्द, सत् शब्द, ब्रह्म शब्द, और 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुतिमें स्थित सर्ववित् शब्द इत्यादिक शब्द विद्यमान हैं। अतः ब्रह्म ही द्युभ्वादिकोंका आयतन है प्रधान नहीं। और अतत् शब्दको विद्यमान होनेसे ही वायु भी यहां द्युलोकादिकोंका आयतन नहीं बन सकता है इति। अर्थात् प्रधानका साधक अनुमान नहीं बन सकता हैं, क्योंकि श्रौतबाध है॥ ३॥

प्राणभृच्च॥ ४॥

अर्थ—१ प्राणभृत्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। इस सूत्रमें स्थित चकार करके पूर्व सूत्रसे नकारका तथा अतच्छब्दका अनुकर्षण करना। प्राणभृत् जो जीव है सो भी द्युलोकादिकों-

का आयतन सम्यक् नहीं बन सकता है। क्योंकि जीव अविद्यारूप उपाधि करके अविभु तथा परिच्छिन्न ज्ञानवाला अल्पज्ञ है। तथा सर्वज्ञपदसमानाधिकरण जो आत्मशब्द है सो यहां अतत् शब्द है। यद्यपि जीवमें आत्मत्व तथा चेतनत्व है तथापि सर्वज्ञत्वादिकोंका सम्भव नहीं है। अतः अतत् शब्दरूप आत्मशब्द करके प्रतिपाद्य न होनेसे द्युलोकादिकोंका आयतन रूप करके जीवका ग्रहण करना योग्य नहीं है इति।

शंका। भोग्यको भोक्ता जीवका शेष होनेसे जीवमें भोग्य प्रपञ्चका आयतनत्व बन सकता है इस अर्थको हम पूर्व कह आये हैं।

समाधान। अदृष्टद्वारा जीवमें द्युलोकादिकोंका निमित्तत्वके हुये भी साक्षात् द्युलोकादिकोंका विवर्ताधिष्ठानत्वरूप आयतनत्व नहीं है। क्योंकि उपाधि करके जीव परिच्छिन्न है। अतः यावज्जगत्का अधिष्ठान बने नहीं।

शंका। जब इस सूत्रमें अतच्छब्दका अनुकर्षण किया तो 'न प्राणभृदनुमाने, अतच्छब्दात्' ऐसा एक ही सूत्र करना था, 'प्राणभृच्च' यह सूत्र पृथग् क्यों किया है?

समाधान। 'भेदव्यपदेशात्' इत्यादिक अग्रिम सूत्र करके केवल जीवका ही निषेध करते हैं, प्रधानका नहीं। इस ज्ञानके लिये पृथग् सूत्र किया है। यदि एकही सूत्र करते तो पूर्वोक्त निःसन्देह ज्ञान नहीं होता इति ॥ ४ ॥

और किस हेतुसे प्राणभृत्को द्युभ्वादिकोंका आयतन नहीं आश्रयण कर सकते हैं? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें ही एक पद है। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इस श्रुतिमें जीवको मुमुक्षु होनेसे ज्ञाता कहा है। और परिशेषसे आत्मशब्द करके ज्ञेय ब्रह्मको कहा है। इस प्रकार ज्ञातृ ज्ञेयभाव करके भेदव्यवहारको होनेसे ज्ञेय ब्रह्म ही द्युलोकादिकोंका आयतन है जीव नहीं इति ॥ ५ ॥

शंका। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'। इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि–'स्वात्मानमेव जानथ' 'अपने आत्माको ही जानो' इस वचनसे आत्मासे भिन्न ब्रह्ममें ज्ञेयत्व सिद्ध नहीं होता है किन्तु आत्मामें ही ज्ञेयत्व सिद्ध होता है। अतः जीवमें आयतनत्व तथा ज्ञेयत्वके निरासके लिये हेत्वन्तर कहना चाहिये? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

अर्थ—इससूत्रमें भी एक ही पद है। पूर्वोक्तश्रुति करके शुद्ध प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म ही द्युभ्वादिका आयतनमानना चाहिये। जीव नहीं क्योंकि ब्रह्मका प्रकरण है इति।

तहां मुण्डक श्रुति—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'। इस श्रुतिमें एकके विज्ञान करके सर्वके विज्ञानकी अपेक्षा व जिज्ञासा कही है। तथाच सर्वात्मक ब्रह्मके विज्ञात हुये ही सर्व जगत्का ज्ञान बन सकता है। केवल जीवके विज्ञात हुये सर्वका ज्ञान नहीं बन सकता है। अतः जिज्ञासाशान्तिके लिये द्युलोकादिकोंका आयतन ब्रह्म ही यहां प्रतिपाद्य है जीव नहीं इति ॥ ६ ॥

और किस हेतुसे द्युभ्वादिकोंका आयतनरूप करके प्राणभृत् ग्रहण करनेको योग्य नहीं है? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

अर्थ—१ स्थित्यदनाभ्याम्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। द्युलोकादिकोंके आयतनको प्रसङ्गमें प्राप्त करके आगे 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें स्थिति और अदनको कहा है। तहां 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस वचन करके कर्मफलके अशनको कहा है। तथा 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इस वचन करके उदासीनरूप करके स्थिति अर्थात् अवस्थानको कहा है। तिस अदन तथा स्थिति करके क्षेत्रज्ञ तथा ईश्वरका ग्रहण होता है। तहां यदि द्युलोकादिकोंका आयतनरूप करके ईश्वर विवक्षित होगा तो आगे-क्षेत्रज्ञका बोधक वचनसे पृथग् जो 'अनश्नन्' इत्यादिक प्रकृत ईश्वरका प्रतिपादक वचन है सो समीचीन होगा; यदि ऐसा न माने तो यह ईश्वर प्रतिपादक वचन अप्रकृत व असमीचीन हो जायगा इति।

शंका। यदि आयतनरूप करके जीवको विवक्षित न मानोगे तो तुम्हारे सिद्धान्तमें भी ईश्वरके बोधक वचनसे भिन्न जीवका बोधक 'तयोरन्यः' इत्यादिक वचन आकस्मिक व असमीचीन ही होगा।

समाधान। जीवको विवक्षित न होनेसे यह शंका नहीं बन सकती है। क्योंकि क्षेत्रज्ञ जो है सो कर्ता भोक्तारूप करके शरीर शरीरके प्रति बुद्धि आदिक उपाधिसे सम्बद्ध हुवा लोकमें प्रसिद्ध है। अतः श्रुतिके तात्पर्यका विषय आयतनरूप करके विवक्षित नहीं हो सकता है। किन्तु अनुवाद्य है। और ईश्वर जो है सो लोक प्रसिद्ध है नहीं अतः वैदिक तात्पर्य करके विवक्षित है। इसलिये ईश्वरबोधक वचन आकस्मिक नहीं है किन्तु समीचीन है। और क्षेत्रज्ञबोधक वचन लोकप्रसिद्ध अर्थका अनुवाद है। वस्तुतः 'द्वा सुपर्णा' यह श्रुति जीव तथा ईश्वरको अनुवाद करके प्रत्यगभिन्न शुद्ध ब्रह्मको ही बोधन करती है। शुद्ध ब्रह्म ही द्युभ्वादिकोंका आयतन है।

शंका। 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें बुद्धि तथा जीवका कथन होनेसे यह सूत्र परमात्माका बोधक नहीं हो सकता है।

समाधान। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इस अधिकरणसूत्रके 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इस विषयवाक्यके व्याख्यानमें यह अर्थ दिखा आये हैं कि—हृदयरूपी गुहामें जीवात्मा तथा परमात्माका ही ग्रहण किया है।

अतः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इस वाक्यमें भी जीव व ईश्वरका ही ग्रहण किया है इति। यदि पैङ्गी उपनिषत्व्याख्यानमें बुद्धि तथा क्षेत्रज्ञका ग्रहण किया है; तौ भी इस सूत्रकी कोई असंगति नहीं है। अब इस अर्थको भाष्यकार भगवान् आक्षेप पूर्वक दिखाते हैं—'कथम्' इत्यादि। अर्थात् जैसे घट मठादिरूप उपाधि करके गृह्यमाण आकाश भिन्न भिन्न है, तैसे बुद्धि आदिक उपाधिका अभिमानीरूप करके शरीर शरीरके प्रति भिन्न भिन्न गृह्यमाण जो प्राणभृत् हैं सो द्युभ्वादिकोंका आयतन नहीं बन सकता है। इस रीतिसे पैङ्गीब्राह्मण निषेध करता है। और जैसे घटादिक उपाधि करके उपलक्षित अर्थात् घटादिक उपाधि रहित जो घटाकाशादिक है सो महाकाशसे भिन्न नहीं है। तैसे ही सर्व शरीरोंमें बुद्धि आदिक उपाधि करके उपलक्षित अर्थात् रहित जो शुद्ध कूटस्थरूप प्राणभृत् है सो परमात्मारूप ही है, परमात्मासे भिन्न उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः कूटस्थ साक्षीका निषेध नहीं बन सकता है। अर्थात् अदनवाक्यसे साभास बुद्धिका भोक्तृत्वेन अनुवाद करके, स्थिति वाक्यसे बुद्धि आदिकोंसे विलक्षण प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप ज्ञेय साक्षीको 'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र बोधन करता है। तथाच ऐसे शुद्ध कूटस्थको कहनेवाला जो 'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र है। इससे अर्थात् द्यु भू आदिका आयतन ब्रह्म ही उक्त होता है। और उपाधि विशिष्ट जीव प्रतिषिद्ध होता है। अतः पैङ्गी ब्राह्मणका कोई विरोध नहीं है। और 'यस्मिन् द्यौ' इस मन्त्रमें भी सोई ब्रह्म ग्राह्य है बुद्धिविशिष्ट जीव नहीं। अतः बुद्धि आदिक उपाधिके अभिमानी जीवमें द्युलोकादिकोंके आयतनत्वका निषेध किया है। इस पूर्वोक्त रीतिसे पर ब्रह्म ही द्युभ्वादिकोंका आयतन है यह सिद्ध हुवा।

शंका। पूर्वोक्त 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इस अधिकरण करके ही द्युभ्वादिक वाक्यमें ब्रह्मपरत्व सिद्ध हो चुका है। क्योंकि 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'। अर्थ—कर्मविद्याके कथनका आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ है। जिस विद्या करके निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है तिसका नाम परा विद्या है इति। ऐसा उपक्रम करके दृश्यत्वादि गुणों करके रहित भूतोंका कारणरूप पर ब्रह्मके प्रतिपादक मुण्डक मन्त्रोंके मध्यमें ही 'यस्मिन् द्यौः' इस मन्त्रका पठन किया है, पुनः 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस अधिकरणसूत्र करके 'यस्मिन् द्यौः' इस श्रुतिवाक्यको ब्रह्मपरत्व कहनेसे पुनरुक्ति दोष हुवा?

समाधान। 'प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम्' इति भाष्यम्। अर्थ—दुर्विज्ञेय अक्षररूप ब्रह्मका सम्यक् साक्षात्कारके लिये; तथा सेतु शब्दका व्याख्यान करके भूतयोनिरूप ब्रह्ममें प्रत्यग् आत्मस्वरूपत्वको स्पष्ट करनेके लिये सूत्रकारने 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस सूत्रका उपन्यास किया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे मुण्डकोपनिषद् ब्रह्ममें समन्वित हुई यह सिद्ध हुवा इति ॥ ७ ॥

इति द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥

छान्दोग्यके सप्तम अध्यायमें यह प्रसङ्ग लिखा है कि–अनात्मज्ञ होनेसे

अपनेको शोच्य मानता हुवा देवऋषि जो नारद है सो ब्रह्मनिष्ठ महायोगी आजान-सिद्ध सनत्कुमारजीके पास आकर कहा—'अधीहि भगव इति' 'हे भगवन्! आप मेरेको आत्माका उपदेश करें'? इस वचनको श्रवणकर सनत्कुमारने कहा कि–तुम आत्माके विषयमें जो कुछ जानते हो सो मेरेसे प्रथम कहो, तुम्हारे कहे हुये विषयको जानकर पश्चात् मैं उपदेश करुंगा । इस वचनको श्रवणकर नारदने कहा कि—हे भगवन्! मैंने ऋग्वेदको अध्ययन किया है, और यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद, पञ्चम वेद अर्थात् सम्पूर्ण इतिहासपुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पाद्विद्या, महाकालादि निधिशास्त्र, वाकोवाक्य-तर्कशास्त्र, एकायन–नीतिशास्त्र, देवविद्या—निरुक्त, ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदविद्या शिक्षा कल्प छन्दादिक, भूतविद्या, क्षत्रविद्या—धनुर्विद्या, ज्योतिष्, सर्पविद्या—गारुड़, देवजनविद्या—गन्ध, युक्ति, नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्पादिक विज्ञान, इन सर्व विद्यावोंको, हे भगवन्! मैं जानता हूं ।

इतने विद्वान् जब आप हैं तब ऋगादिकोंमें ही आत्मविद्या है तिसको भी आप जानते ही होंगे—ऐसी शंकाके परिहारके वास्ते नारद पुनः कहते हैं—सो मैं हे भगवन्! मन्त्रविद् अर्थात् केवल शब्दार्थ विज्ञानवाला ही हूं आत्मवित् नहीं हूं । क्योंकि–'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति' इति (छा०)। अर्थ—आपके सदृश महानुभावोंसे मैंने श्रवण किया है कि–आत्मवित्पुरुष शोकको तर जाता है । और मैं कर्मवित् हूं आत्मवित् नहीं, अतः शोकको प्राप्त हो रहा हूं । हे भगवन्! आप कृपा करके मेरेको शोकोपलक्षित जन्म मरणादिरूप संसारके पर पारको प्राप्त करें इति ।

इस वचनको श्रवण करके सनत्कुमारने कहा कि—हे नारद! जो तुमने ऋगादिक विद्याका अध्ययन किया है सो नाममात्र ही हैं । 'नामोपास्स्व' इस नामको तुम ब्रह्मरूप करके उपासना करो इत्यादिक कह कर आगे भूमाका उपदेश किया है–'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति । यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतम्' ॥ इत्यादि। अर्थ—हे नारद! भूमा ही सुखरूप है अतः निरतिशय सुखार्थी पुरुषको भूमा ही विचार करनेको योग्य है । इस प्रकार जब सनत्कुमारने कहा तब नारदने कहा–'हे भगवन्! मैं भूमाको जाननेकी इच्छा करता हूं'? इस वचनको श्रवण कर सनत्कुमार प्रथम भूमाके लक्षणको कहते भये । हे नारद! ज्ञानावस्थामें जिस भूमा विषे भूमासे भिन्न द्रष्टव्य वस्तुको, अन्य करण करके, अन्य द्रष्टा, नहीं देखता है, तथा अन्य पदार्थोंको नहीं श्रवण करता है, तथा अन्य पदार्थोंको नहीं जानता है सोई भूमा है । अर्थात् सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहाराभाव करके उपलक्षित जो वस्तु है सोई भूमा है । इस वचन करके सनत्कुमारने भूमाका अद्वितीयत्वरूप लक्षण बोधन किया है । और जहां अज्ञानावस्थामें अन्य द्रष्टा अन्य करण करके अन्य वस्तुको देखता है तथा श्रवण करता है

तथा जानता है सो सम्पूर्ण पदार्थ स्वप्नदृष्ट पदार्थोंकी तरह अविद्याके समकालभावि परिच्छिन्न हैं। और जो परिच्छिन्न हैं सो विनाशी हैं। और जो सुखरूप भूमा है सो अमृतरूप है अर्थात् अविनाशी है इति। यह भूमावाक्य 'भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' इस अधिकरणसूत्रका विषयवाक्य है।

अब संशयको दिखाते हैं—इस श्रुतिमें स्थित भूमा शब्द करके क्या प्राण ग्रहण करनेके योग्य है अथवा परमात्मा ग्रहण करनेके योग्य है। यह यहां संशय होता है इति।

अब इस संशयके कारणको दिखाते हैं—'भूमा' नाम बहुत्वका है क्योंकि 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इस पाणिनिसूत्रसे 'बहु' शब्दके स्थानमें भू आदेश हुवा है। और 'बहु' शब्दसे उत्तर 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय होता है। इमनिच् प्रत्ययका अर्थ भाव है। इस प्रकार भाव प्रत्ययान्त भूमा शब्द सिद्ध होता है। 'पूर्वोक्त बहुत्व किं स्वरूप है' ऐसी विशेष आकांक्षाके हुये 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इति। इस मन्त्रको 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इस विषयवाक्यके समीपमें होनेसे 'प्राण जो है सो भूमा है' ऐसा प्रतीत होता है। और इस सप्तम अध्यायके आदिमें लिखा है—'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ् छोकस्य पारं तारयत्विति'। इस श्रुतिका अर्थ समीपमें ही कह आये हैं। इस प्रकार प्रथम प्रकरणका उत्थान होनेसे 'परमात्मा ही भूमा है' ऐसा प्रतीत होता है। अतः सन्निहित तथा व्यवहित प्रकरणरूप कारणोंसे 'तहां किसका उपादान न्याय्य है; और किसका हान न्याय्य है' यह संशय होता है इति।

यहां ऐसा जाननेको योग्य है कि—भूमा नाम लोकमें बहुत्वका है। अर्थात् व्यापकत्वका है। इससे यह संशय होता है कि—बहुत्वरूप भूमाका प्राण धर्मी है अथवा परमात्मा धर्मी है। और श्रुतिमें व भाष्यमें जो प्राणको तथा परमात्माको भूमा कहा है; सो भूमारूप धर्मके साथ प्राण अथवा परमात्मारूप धर्मीकी अभेद विवक्षा करके कहा है। अतः प्राणो भूमा, परमात्मा भूमा, यह सामानाधिकरण्य बन सकता है॥ प्रसङ्गमें क्या प्राप्त हुवा ऐसी आकांक्षाके हुये—

अथ पूर्वपक्ष। 'प्राणो भूमेति' इति भाष्यम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इस विषयवाक्यमें स्थित जो भूमा शब्द है तिस 'भूमा शब्द करके प्राणका ही ग्रहण करना परमात्माका नहीं। क्योंकि–'भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरम्पराऽदर्शनात्' अर्थ—बहुत प्रश्नोत्तरके अनन्तर जब सनत्कुमारने प्राणका उपदेश नारदके प्रति किया है तदनन्तर नारदने महत्तर विषयक पुनः प्रश्न नहीं किया है। अतः जाना जाता है कि–प्राण ही निरतिशय सर्व महत्तर भूमा है इति।

अर्थात् 'नामोपास्स्व' 'नामकी उपासना करो' इस उपासककी नामकी

जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है । इस प्रकार सनत्कुमारके उपदेश करने पर नारद बोले–'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति । अर्थ–हे भगवन् ! नामसे बड़ा कौन है जिसको ब्रह्मरूप करके उपासना करें इति । इस प्रकार नारदके प्रश्न हुये सनत्कुमार कहते हैं:—'वाग् वाव नाम्नो भूयसी' । अर्थ—हे नारद ! नामसे बड़ी वाक् है क्योंकि वाक् इन्द्रिय जिह्वामूलादिक अष्ट स्थानोंमें रहनेसे वर्णरूप नामका कारण है । और जो कारण होता है सो कार्यसे अधिकतर होता है । और वाक् इन्द्रियके विद्यमान हुये ही ऋग् वेदादिकोंका अध्ययन तथा वेदादिकोंके अर्थोंका ज्ञान होता है । और वाक् इन्द्रियके अभाव हुये वेदादिकोंका अध्ययन तथा वेदादिकोंके अर्थोंका ज्ञान होता नहीं । इस अन्वयव्यतिरेक करके भी नामसे उत्तम कारणरूप वाक् इन्द्रिय सिद्ध होता है । तिस वाक् इन्द्रियको ब्रह्मरूप करके उपासना करो इति । इस उपासक-की वाणीकी जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है । नारद–'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति । अर्थ—हे भगवन् ! वाक् इन्द्रियसे अधिकतर कौन है जिसको ब्रह्मरूप करके उपासना करें इति । सनत्कुमार—'मनो वाव वाचो भूयः' इति । अर्थ—हे नारद ! वाक् इन्द्रियसे बड़ा *विवक्षाबुद्धिरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष मन है । क्योंकि वक्तव्य वस्तुविषयक वाक् इन्द्रियका प्रेरक मन है । और जैसे मुष्टिके अन्तर्गत दो आमलक बदर फल व विभीतक फल मुष्टि करके व्याप्त होते हैं; तैसे वाक् तथा नाम मन करके व्याप्त हैं अर्थात् मनके अन्तर्गत हैं । अतः वाक्से बड़ा मन है ।

नारद—हे भगवन् ! मनसे बड़ा कौन है ?

सनत्कुमार—सङ्कल्प मनसे बड़ा है । कर्तव्याकर्तव्य विवेकका नाम प्रकृतमें सङ्कल्प है । सर्व प्रपञ्च सङ्कल्पमय है । सङ्कल्पकी उपासना करो–इस उपासककी सङ्कल्पकी जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है ।

नारद—हे भगवन् ! सङ्कल्पसे महत्तर श्रेष्ठ कौन है ?

सनत्कुमार – चित्त सङ्कल्पसे बड़ा है । कर्तव्याकर्तव्य निरूपणसामर्थ्यका नाम प्रकृतमें चित्त है । विवेकका यह चित्त कारण है । चित्तके अधीन ही सङ्कल्पादिक प्रपञ्च है । चित्तकी उपासना करो–इस उपासककी चित्तकी जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है । इसी प्रकार ध्यानादिकोंकी उपासनाका फल आगे भी जानना ।

नारद—हे भगवन् ! चित्तसे बड़ा कौन है ?

---

* यह मन्त्र उच्चारण करनेको योग्य है तथा यह कार्य करनेको योग्य है इस प्रकारकी जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है तिसका नाम विवक्षाबुद्धि है । इस विवक्षाबुद्धिसे अनन्तर मन्त्रका उच्चारण तथा कार्यको पुरुष करता है ।

सनत्कुमार—ध्यान चित्तसे बड़ा है। एकाग्रतारूप ध्यान उक्त सामर्थ्यरूप चित्तका कारण है, अतः महत्तर है।

नारद—हे भगवन्! ध्यानसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—विज्ञान ध्यानसे बड़ा है। शास्त्रार्थनिश्चयका नाम विज्ञान है। यही एकाग्रतारूप ध्यानका कारण है।

नारद—हे भगवन्! विज्ञानसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—विज्ञानसे बड़ा बल है। शास्त्रार्थ प्रतिभानसामर्थ्यका नाम प्रकृतमें बल है। जब यह पुरुष बली होता है तब उठता है। उठकर गुरुकी सेवा करता है। शुश्रुषासे गुरुके अन्तरङ्ग होता है। अन्तरङ्ग होनेसे ही गुरुका द्रष्टा होता है। और कृपापात्र होता है। अथ श्रोता मन्ता होता है। तदनन्तर शास्त्रार्थ प्रतिभानरूप विज्ञानवाला होता है। पुनः शास्त्रार्थ कर्ता अर्थात् अनुष्ठाता होता है। जब अनुष्ठाता होता है तब स्वरूपानन्दका विज्ञाता अर्थात् अनुभविता होता है।

नारद—हे भगवन्! बलसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—अन्न बलसे बड़ा है, क्योंकि बलका कारण है।

नारद—हे भगवन्! अन्नसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—जल अन्नसे बड़ा है।

नारद—हे भगवन्! जलसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—तेज जलसे श्रेष्ठ है।

नारद—हे भगवन्! तेजसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—आकाश है।

नारद—हे भगवन्! आकाशसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—आकाशसे बड़ा स्मर (स्मृति) है। क्योंकि स्मृतिरूप ही आकाशादिक सर्व प्रपञ्च है।

नारद—हे भगवन्! स्मरसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—स्मरसे बड़ी आशा है। क्योंकि आशारूप तृष्णा हो स्मृतिरूप प्रपञ्चकी कारण है।

नारद—हे भगवन्! आशासे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—'प्राणो वावाऽऽशाया भूयान्' आशासे बड़ा प्राण है। क्योंकि आशादिक सर्व जगत् प्राणरूप ही है। प्राणके विना आशादिक किसी वस्तुकी सिद्धि होती नहीं, अतः प्राण बड़ा है।

इस प्रकार नामसे लेकर प्राण पर्यन्त जैसा प्रश्न तथा प्रतिवचन (उत्तर)

का प्रवाह देखनेमें आता है। तैसे प्राणसे अनन्तर 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति। 'अदो वाव प्राणाद्भूयः' इति। 'हे भगवन्! प्राणसे वड़ा कौन है'? 'प्राणसे वड़ा अमुक है' इत्यादिक प्रश्न तथा प्रतिवचन देखनेमें नहीं आते हैं। इसलिये प्राण ही भूमा है इति।

शंका। इसी प्रकरणमें आगे श्रुतिमें कहा है—**'एष तु वा अतिवदति'** इति। इस श्रुतिमें जो 'तु' शब्द है तिस तु शब्द करके प्राणके प्रकरणका विच्छेद हो गया है अतः प्राण भूमारूप नहीं है।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि **'प्राणमेव तु'** इत्यादि भाष्यम्। अथात्—नामसे लेकर वस्तुकी आकांक्षारूप आशा पर्यन्त जो वस्तु कहे हैं 'तिनोंसे अधिकतर प्राण ही है' इस अर्थको विस्तार पूर्वक 'प्राणो वाव आशाया भूयान्' इत्यादि पूर्व वाक्योंसे कहकर प्राणवित् पुरुषमें सनत्कुमारने अतिवादित्वको कहा है–एवं विजानन्नतिवादी भवति' इति। नामसे लेकर आशा पर्यन्त उपास्य वस्तुको उल्लंघन करके जो पुरुष नामादि आशान्त जगत्का विधारक प्राणको ही श्रेष्ठ जानकर कहता है तिस प्राणदर्शी पुरुषका नाम अतिवादी है। और तिस प्राणवित् पुरुषके प्रति जब कोई पूछे कि-तू अतिवादी है? तब वह कहे कि-हम अतिवादी हैं। 'मैं अतिवादी नहीं हूं'।ऐसा निषेध न करे। इस प्रकार प्राणवित्में अतिवादित्वको स्वीकार करके पुनः आगे सनत्कुमार कहते हैं—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' 'यह ही पुरुष अतिवादी है जो सत्यका अनुभव करके कहता है' इति। इस मन्त्रमें जो 'एष' शब्द है तिस एष शब्दसे प्राणवित् पुरुषका परामर्श करके, और अर्थसे अतिवादित्वरूप प्राणके व्रतको आकर्षण करके, तथा प्राणको त्याग न करके; सनत्कुमारजीने अपनेमें **'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि'** इस वचनसे सत्यके बलसे अतिवादित्वको प्रगट किया है। और सत्यको विशेष करके विजिज्ञासितव्य बतलाया है। पुनः आगे नारद प्रश्न करते हैं—

नारद—**'सत्यं भगवो विजिज्ञासे'** हे भगवन्! मैं सत्यकी विजिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—सत्यविज्ञानकी तुमको विजिज्ञासा करनी चाहिये, क्योंकि सत्यविज्ञानसे ही सत्यवक्ता होता है। सत्यविज्ञानके विना सत्यवक्ता नहीं होता। अतः विज्ञानकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! सत्यविज्ञानकी मैं जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—मनन सत्यविज्ञानका हेतु है। मनन के विना सत्यविज्ञान नहीं होता है अतः मननकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! मननकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—श्रद्धासे मनन होता है। श्रद्धाके विना होवे नहीं, अतः श्रद्धाकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! श्रद्धाकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—निष्ठा अर्थात् सत्यविज्ञानके लिये गुरुशुश्रूषामें तत्परता श्रद्धाकी हेतु है। निष्ठाके विना श्रद्धा होवे नहीं, अतः निष्ठाकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! निष्ठाकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—कृति अर्थात् इन्द्रियोंका संयम व चित्तकी एकाग्रता निष्ठामें हेतु है। कृतिके विना निष्ठा होवे नहीं, अतः कृतिकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! कृतिकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—सुखकी विजिज्ञासा करो। क्योंकि सुखकी इच्छासे ही करता है। सुखकी इच्छाके विना कुछ नहीं कर सकता है, अतः सुखकी विजिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! सुखकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—**'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति'**। अर्थ—जो भूमा है सो सुखरूप है। अल्प वस्तुमें सुख नहीं है। भूमा ही सुखरूप है। भूमाकी ही जिज्ञासा करनी चाहिये इति।

नारद—हे भगवन्! भूमाकी विजिज्ञासा करता हूं। इस प्रकार सत्यादि परम्परा करके अनन्तर सनत्कुमारजीने नारदके प्रति भूमाका अवतरण किया है। अतः प्राणके प्रकरणका विच्छेद नहीं हो सकता है। किन्तु प्राणका ही प्रकरण है। अतः प्राणप्रकरणके विच्छेद न होनेसे 'प्राणको ही सनत्कुमार भूमा मानते हैं' यह निश्चय होता है।

शंका। सत्यकी विजिज्ञासा द्वारा सत्य, विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा, कृति व सुखकी परम्परा करके भूमाका अवतरण होनेसे भूमा अनृत प्राणरूप नहीं हो सकता है। अतः प्राणप्रकरणका विच्छेद अवश्य मानना चाहिये?

समाधान। 'प्राणो वै सत्यः' इत्यादि श्रुतियोंमें प्राणमें भी सत्यता प्रसिद्ध है। अतः सत्य शब्दसे भी प्राणप्रकरणका विच्छेद नहीं बन सकता है। अतः प्राण ही भूमा है यह सिद्ध हुवा इति।

शंका। प्रसङ्गमें प्राणरूप भूमाका ग्रहण करोगे तो 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' यह जो भूमाके लक्षणका प्रतिपादक वचन है; तिसका प्राणमें समन्वय किस प्रकार होगा?

समाधान। सुषुप्ति अवस्थामें चक्षुरादिक इन्द्रियोंके प्राणमें लीन हुये 'सुषुप्त पुरुष न देखता है' 'न श्रवण करता है' इस प्रकार सर्वको दर्शनादिक व्यवहारका अभाव देखनेमें आता है। अतः 'नान्यत्पश्यति' इत्यादिक लक्षण प्राणमें

घट सकता है। तहां प्रश्नोप० श्रुतिः –'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिक वचनोंसे सर्व करणोंके व्यापारका विलयरूप सुषुप्ति अवस्थाको कहकर 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' "तिस पूर्वोक्त सुषुप्ति अवस्थामें पञ्च वृत्तिवाला प्राण ही जागता है" इस प्रकारसे प्राणके जागरणको कहती हुई सुषुप्ति अवस्थामें प्राणकी प्रधानताको दिखाती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे श्रुतिने प्राणमें ही भूमाका जो सर्वव्यवहाराभाव करके उपलक्षित अद्वितीयत्व लक्षण है सो बोधन किया है इति।

अब भूमामें जो सुखरूपत्व श्रवण होता है—'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति। सो भी प्राणमें बन सकता है। इस अर्थको पूर्वपक्षी प्रतिपादन करता है। तहां-प्रश्नोप० श्रुतिः—अत्रैषो देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति। अर्थ—जिस अवस्थामें बुद्धयादि उपाधिवाला जीव अविद्योपहित चिद्रूपतेज करके अभिभूत होता है इस सुषुप्ति अवस्थामें यह जीवरूप देव; स्वप्नरूप देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक पदार्थोंको नहीं जानता है। और तिस अवस्थामें जो सुख होता है सो इस कारण शरीरमें होता है इति। सो यह सुख भी प्राणका ही है, क्योंकि सुषुप्तिमें ही सुखका श्रवण है; और सुषुप्तिमें प्राण ही प्रधान है इति।

शंका। भूमामें अमृतत्वका श्रवण होता है 'यो वै भूमा तदमृतम्' अतः प्राणसे भिन्न ही भूमाको कहना चाहिये। क्योंकि प्राण अल्प है 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' 'जो अल्प होता है सो नाशवान् होता है' और भूमा नाशरहित है। अतः प्राण भूमा नहीं हो सकता है।

समाधान। सो कहना भी बने नहीं क्योंकि 'प्राणो वा अमृतम्' इस कौषीतकि-श्रुतिप्रमाणसे प्राणमें भी अमृतत्वकी सिद्धि हो सकती है, अतःप्राण भूमारूप हैं इति।

शंका। जो प्राणको भूमा माननेवाले हैं उनके मतमें 'तरति शोकमात्मवित्' यह जो आत्माको जाननेकी इच्छा करके प्रकरणका उत्थान हुवा है। सो प्राणमें किस प्रकार उपपन्न होगा?

समाधान। सो कहना भी असङ्गत है क्योंकि 'आत्मशब्द करके यहां प्राण ही विवक्षित है' ऐसा हम कहते हैं। तहां श्रुति–'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता' इत्यादि। अर्थ—प्राण ही पितारूप है, तथा माता, भ्राता, स्वसा, आचार्य्य तथा ब्राह्मण यह सर्व प्राणरूप ही हैं इति। यह श्रुति प्राणको ही सर्वका आत्मारूप स्वीकार करती है। और 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्'। अर्थ—जैसे नाभिमें अरा स्थित हैं तैसे प्राणमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है। गाड़ीके पहियामें जो टेढे २ काष्ठ हैं तिनका नाम अर है, बीचमें जो स्थूल तथा गोल काष्ठ है तिसका नाम नाभि है इति। यह श्रुति प्राणमें ही सर्व जगत्के अधिष्ठान-

त्वको कहती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सर्वात्मत्व तथा अरनाभिके दृष्टान्तसे विस्तृतत्वरूप भूमस्वरूपता प्राणमें भी बन सकती है। अतः प्राण ही भूमारूप है इति।

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। प्रसङ्गमें भूमा शब्द करके 'परमात्माका ही ग्रहण करना योग्य है प्राणका नहीं' इस अर्थको व्यास भगवान् दिखाते हैं:—

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

अर्थ—१ भूमा, २ संप्रसादात्, ३ अध्युपदेशात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। इस भूमविद्यामें भूमा परब्रह्म ही होनेको योग्य है; क्योंकि जिस अवस्थामें भली प्रकार प्रसन्नताको अर्थात् आनन्दको संसारी जीव प्राप्त होवें तिसका नाम संप्रसाद है। इस निर्वचनसे, और बृहदारण्यकमें स्वप्न व जागरण अवस्थाके साथ पाठ होनेसे, यहां संप्रसाद शब्दका वाच्य अर्थ सुषुप्ति स्थान है। और तिस सुषुप्ति स्थानमें प्राण जागता है। अतः जागनेवाला प्राण यहां लक्षणावृत्तिसे सम्प्रसाद अभिप्रेत है। तथा च प्राणरूप संप्रसादसे आगे भूमाका उपदेश होनेसे भूमा परमात्मास्वरूप ही है प्राणस्वरूप नहीं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'प्राण एव चेद्भूमा स्यात्'** इत्यादि। यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'प्राण ही भूमा' है तो सनत्कुमारने नारदके प्रति 'प्राणसे आगे प्राणका ही उपदेश किया है' ऐसा कहना होगा सो अत्यन्त असङ्गत है। क्योंकि नामसे आगे नामका उपदेश नहीं किया है। किन्तु नामसे भिन्न वाक् इन्द्रियका उपदेश किया है। इसी प्रकार वाक् इन्द्रियसे लेकर प्राण पर्यन्त वाक् इन्द्रियादिकोंसे भिन्न २ अर्थका ही तहां २ आगे उपदेश किया है। जब प्रत्येक प्रश्न व प्रतिवचनमें भिन्न २ ही अर्थको कहा है तब प्राणसे आगे उपदिश्यमान भूमाको भी प्राणसे भिन्न परमात्मास्वरूप ही कहना होगा इति।

शंका। 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति। हे भगवन्! प्राणसे बड़ा कौन है। 'प्राणाद्वाव भूयोऽस्ति' इति। प्राणसे बड़ा अमुक है। इस प्रकारका जब यहां प्राण उपदेशके आगे प्रश्न तथा प्रतिवचन देखनेमें नहीं आता है तब किस प्रकार प्राणसे भिन्न भूमाका उपदेश बन सकता है? अर्थात् नहीं बन सकता है। और प्राणके उपदेशसे उत्तर भागमें 'प्राण ही श्रेष्ठ है' इस प्रकारका कथनरूप जो प्राण विषयक अतिवादित्व है तिसका अनुकर्षण भी देखनेमें आता है—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति'। और इस मन्त्रमें जो 'एष' शब्द है तिस एष शब्द करके प्राणवित्का ही परामर्श होता है। अतः प्राणसे आगे प्राणसे भिन्न भूमाका उपदेश नहीं है किन्तु प्राण ही भूमास्वरूप है इति।

समाधान। 'एष तु वा अतिवदति' यहां 'एष' शब्द जो है सो 'यः सत्येनातिवदति' इस मन्त्रमें स्थित 'यत्' शब्दके परतन्त्र होनेसे सत्यवादीको ही बोधन करता है प्राणवित्को नहीं, अतः नामादिके प्रकरणकी तरह प्राणके प्रकरणका विच्छेद होनेसे

प्राण भूमा नहीं है। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं—**'अत्रोच्यते'** इत्यादि भाष्यम्। यहां 'एष' शब्द करके प्राणवित्का व 'अतिवदति' शब्द करके प्राण-विषयक अतिवादित्वका अनुकर्षणको नहीं कह सकते हैं। क्योंकि 'यः सत्येनाति-वदति' 'जो सत्य करके कहता है सो अतिवादी है' इस विशेषवादको होनेसे सत्यवक्ता ही यहां अतिवादी है प्राणवित् नहीं।

शंका। 'एष तु वा अतिवदति' इस मन्त्रसे प्राणवित् पुरुषका अनुवाद करके 'यः सत्येनातिवदति' यह मन्त्र प्राणवित् पुरुषमें सत्य वदनरूप धर्मको विधान करता है। अतः प्राणके प्रकरणका विच्छेद नहीं बन सकता है। इस अर्थको अब दृष्टान्तपूर्वक वादी कहता है-सत्यवदनरूप विशेषवाद भी प्राणविषयक ही बन सकता है। क्योंकि जैसे किसीने कहा कि-'जो पुरुष सत्य कथन करता है सो अग्निहोत्री है'। यहां पुरुषमें सत्य भाषण करके अग्निहोत्रित्वकी सिद्धि नहीं होती है। किन्तु अग्नि-होत्र करके ही अग्निहोत्रित्वकी सिद्धि होती है। और सत्य भाषण अग्निहोत्रीका केवल धर्मविशेष कहा जाता है। तैसे ही प्रकृतमें सत्यवदन करके पुरुषमें अतिवादित्व नहीं सिद्ध होता है। किन्तु प्रकृत प्राणविषयक श्रेष्ठत्वविज्ञान करके ही अतिवादित्व सिद्ध होता है। और सत्यवदन जो है सो केवल प्राणवित् पुरुषका विशेषधर्म विवक्षित है। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्राणप्रकरणका विच्छेद न होनेसे प्राण ही भूमा है इति।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है क्योंकि ऐसा माननेसे श्रुतिके अर्थका परित्याग होगा। इस अर्थको दिखाते हैं-**'श्रुत्या ह्यत्र'**इत्यादि भाष्यम्। **'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति'** इस श्रुतिसे 'सत्यवदन करके ही अतिवादित्वरूप' जो श्रुतिका अर्थ यहां प्रतीत होता है सो त्यक्त हो जावेगा। अर्थात् नामादिक उपासकोंकी अपेक्षासे प्राणवादीमें 'एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजान-न्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीतेति' । यह श्रुति अतिवादित्वको स्वयं स्वीकार करती है। परन्तु निरपेक्ष अतिवादित्व तो सत्य-विज्ञान करके ही होता है प्राणविज्ञान करके नहीं—इस अर्थको बोधक 'एष तु वा अतिवदति' यह श्रुति है। और 'यः सत्येनातिवदति' इस वाक्यमें प्राणविषयक विज्ञानका संकीर्तन भी नहीं है। अतः प्राणवित्में अतिवादित्व नहीं बन सकता है। यदि प्रकरणसे प्राणवित्में अतिवादित्वके लिये प्राणविषयक विज्ञानका अनुकर्षण करोगे तो श्रुत्यर्थका त्याग होनेसे श्रुति भी त्याग करनेको योग्य हो जायेगी यह भी वादीके मतमें दोष होगा। और ब्रह्मविज्ञानकरणक श्रुतिसिद्ध जो अति-वादित्व है तिसका प्रकरण करके बाध नहीं हो सकता; किन्तु 'सत्येन' इस तृतीया श्रुति करके प्रकरणका बाध ही युक्त है। और प्रसङ्गमें, प्राणप्रकरणकी व्यावृत्ति है अर्थ जिसका ऐसा जो 'एष तु वा अतिवदति' इस श्रुतिमें 'तु' शब्द है सो भी प्राणप्रकरणके स्वीकार करनेसे समीचीन नहीं होगा। अतः तु शब्द करके

भी प्राणप्रकरणका बाध होता है; इस पूर्वोक्त रीतिसे प्राणसे भिन्न भूमा है यह सिद्ध हुवा इति।

अब जिज्ञासारूप लिङ्ग करके भी प्राणसे भिन्न परमात्मा स्वरूप ही भूमा है इस अर्थको दिखाते हैं—'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'। अर्थ—हे नारद! प्राणवित्में जो अतिवादित्व है सो नामादिकोंकी अपेक्षा करके है निरङ्कुश अतिवादित्व नहीं है। सर्वातिक्रान्त भूमारूप परमार्थसत्यवादीमें ही निरङ्कुश अतिवादित्व है। अतः सत्य ही जिज्ञासा करनेको योग्य है इति। जैसे एक वेदवित्की प्रशंसाके प्रकरणमें 'एष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीते' इति यहां एक वेदवित्से भिन्न चतुर्वेदवित्की प्रशंसा है, तैसे प्रसङ्गमें यह जिज्ञासा भी प्राणसे भिन्न भूमाकी ही है। ऐसा मानना योग्य है। अन्यथा सत्यविषयक जिज्ञासा, और जिज्ञासामें कर्तव्यताबोधानुकूल सनत्कुमारका प्रयत्न व्यर्थ होगा। क्योंकि प्राणबोधानुकूल प्रयत्न प्रथम हो चुका है। अतः यह जो पुनः प्रयत्न है सो प्राणसे भिन्न परम उत्कृष्ट सत्य स्वरूप परमेश्वरकी विवक्षाको सूचन करता है।

शंका। प्रश्नके भेदसे अर्थका भेद होता है क्योंकि नामादिके उपदेशमें प्रश्नके भेदसे अर्थका भेद देखा गया है। और प्राणके उपदेशसे आगे प्रश्न है नहीं, अतः प्राणसे भिन्न भूमाकी विवक्षा करके उपदेश नहीं बन सकता।

समाधान। यह वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'अर्थके भेदका प्रयोजक प्रश्नका भेद ही होना चाहिये' यह नियम नहीं है किन्तु प्रकृत अर्थके सम्बन्धका असम्भव अर्थभेदकी विवक्षाका प्रयोजक है। जैसे मैत्रेयीआदिकोंने एक आत्मरूप अर्थमें अनेक प्रश्न किये हैं। तहां प्रश्नके भेद हुये भी अर्थका भेद नहीं होता है। और प्रश्नसे विना ही चतुर्वेदवित्में प्रकृत एक वेदवित्का भेद कह आये हैं। तैसे ही प्रश्नसे विना भी प्रकृत प्राणरूप अर्थके साथ 'एष तु' इत्यादि ग्रन्थका सम्बन्धके असम्भव होनेसे प्राणसे भिन्न भूमा ही यहां उपदिष्ट है इति।

शंका। 'नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्' इत्यादि स्मृतिसे प्रश्नके विना उपदेश अयुक्त है?

समाधान। 'अनधिकारीको उपदेश नहीं करना' इस अर्थकी बोधक यह स्मृति है। परन्तु "जिज्ञासु शिष्य तो प्रश्न न भी कर सके तौ भी गुरुको उपदेष्टव्य है" इस अर्थकी सूचक 'एष तु वा अतिवदति' यह श्रुति है। क्योंकि तहां सनत्कुमार करके उक्त प्राण पर्यन्त उपदेशको श्रवण करके तूष्णींभावको प्राप्त जो नारद है तिसको सनत्कुमार स्वयं व्युत्पन्न करते हैं—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। अर्थात् नारदके प्रति सनत्कुमारने कहा कि—हे नारद! विकार तथा मिथ्यारूप जो प्राण है तिस प्राणविषयक विज्ञान करके जो अतिवादित्व है सो अनतिवादित्वरूप ही है। किन्तु जो सत्यविषयक ज्ञान करके अतिवादित्व

है, तिसका नाम ही अतिवादित्व है इति । प्रसङ्गमें सत्य शब्दका अर्थ परमार्थरूप होनेसे परब्रह्म ही है प्राण नहीं। क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुत्यन्तरसे सत्यरूप परब्रह्म ही प्रसिद्ध है। और इस उपदेश करके व्युत्पन्न जो नारद है। अर्थात् सत्यविषयक ज्ञान करके कथन करनेकी इच्छावाला जिज्ञासु हुवा पुनः श्रवणके लिये प्रवृत्त जो नारद है। तिसके प्रति निदिध्यासनरूप विज्ञान तथा मनन व श्रद्धा आदिक साधनपरम्पराका विधान करते हुये सनत्कुमारने भूमाका उपदेश किया है। तहां प्राणसे आगे 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इस प्रतिज्ञाका विषय जो वक्तव्य सत्य वस्तु है सोई यहां भूमा है ऐसा निश्चय होता है। अतः प्राणसे आगे भूमाका उपदेश विद्यमान है। इसलिये प्राणसे भिन्न परमात्मा ही भूमा होनेको योग्य है इति ।

किञ्च 'सन्निहितादपि व्यवहितं साकाङ्क्षं बलीयः।' अर्थः—निराकाङ्क्ष अव्यवहितसे भी आकाङ्क्षावाला जो व्यवहित है सो बलवान् होता है इति। इस न्याय करके यद्यपि भूमावाक्यके समीपमें प्राण है तथापि निराकांक्ष प्राणको स्थित देखकर उपक्रममें स्थित जो आत्म शब्द है सो अपनेको प्रतिपादन करनेके लिये भूमावाक्यकी अपेक्षावाला है अतः बलवान है। इस रीतिसे प्रसङ्गमें आत्माकी विविदिषा करके जो प्रकरणका उत्थान हुवा है सो भी समीचीन होवेगा। और जो वादीने प्रथम कहा था कि—यहां प्राण ही आत्मा विवक्षित है। सो भी वादीका कहना उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि परिच्छिन्न प्राणमें मुख्य वृत्ति करके व्यापकत्वरूप आत्मत्व नहीं रह सकता है इसलिये प्राण आत्मा नहीं है। किञ्च प्रत्यग् अभिन्न परमात्माके ज्ञानसे विना शोककी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है। क्योंकि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' यह अन्य श्रुति शोककी निवृत्तिरूप मोक्षके लिये ज्ञानसे भिन्न अन्य उपायोंको निषेध करती है। और 'तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु' ऐसा उपक्रम करके 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः' ऐसा उपसंहार किया है। यहां 'तम' नाम अविद्याका है। और जन्म मरणादिरूप शोकका मूल कारण अविद्यारूप तमके नाश विना शोकका तरणा शक्य है नहीं। अतः तिस तमका निवर्तक ज्ञानगम्यत्वरूप लिङ्गसे आत्मा ब्रह्मरूप ही है प्राणरूप नहीं। और 'आत्मतः प्राणः' 'आत्मासे प्राणादिक सर्व उत्पन्न हुवा है' इत्यादिक जो ब्राह्मणभाग है सो 'प्राणादिक सर्व प्रपञ्च आत्माके अधीन है' इस अर्थको बोधन करता है, प्राण ही यदि इस प्रकरणमें अनुशासनका विषय होता तो प्राणमें अन्य (आत्मा) अधीनता नहीं कहते। अतः प्राण भूमा नहीं।

शंका। प्रकरणके अन्तमें परमात्माकी विवक्षा रहो। इससे प्रथम उक्त जो भूमा है सो प्राण ही है?

समाधान । यह भी वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि—**'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'** इति । अर्थ—नारद पूछता है—हे भगवन् ! 'स' पूर्वोक्त भूमा किसमें स्थित है ? सनत्कुमारने कहा कि-स्वरूपभूत अपनी महिमामें स्थित है । इत्यादिक मन्त्र करके प्रथमसे लेकर प्रकरणकी समाप्ति पर्यन्त भूमाका ही अनुकर्षण है । और सर्व जगत्के कारण परमात्मामें ही निरपेक्ष विस्तृततत्वरूप भूमरूपता बन सकती है परिच्छिन्न प्राणमें नहीं । अतः परमात्मा ही भूमा है प्राण नहीं यह सिद्ध हुवा इति । यहां पूर्वपक्षमें प्राणकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञान फल है इति ॥ ८ ॥

पुनः भूमामें ब्रह्मत्वके बोधक लिङ्गान्तरको सूत्रकार दिखाते हैं:—

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—१ धर्मोपपत्तेः, २ च । इस सूत्रमें दो पद हैं । सत्यत्व, स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्वादिक जो भूमामें श्रूयमाण धर्म हैं सो परमात्मामें ही बन सकते हैं अन्यमें नहीं, अतः भूमा परमात्मा स्वरूप ही है यह सिद्ध हुवा इति ।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'** इत्यादिक श्रुतिने जो भूमामें दर्शनादिक व्यवहाराभावको बोधन किया है सो दर्शनादिक व्यवहाराभावरूप धर्म परमात्मामें निश्चित है । और बृहदारण्यकमें भी लिखा है—**'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ।'** अर्थ—जिस अवस्थामें इस विद्वान्‌को संपूर्ण जगत् आत्मा ही हो गया तिस अवस्थामें किस करण करके किस विषयको देखे इति । और जो सुषुप्ति अवस्थामें दर्शनादिक व्यवहाराभावको श्रुतिने कहा है सो भी आत्मामें ही असङ्गत्वकी विवक्षा करके कहा है, प्राणके स्वभावकी विवक्षा करके नहीं । क्योंकि परमात्माका ही यह प्रकरण है । अर्थात् बुद्धि आदिक उपाधिके विद्यमान हुये आत्मामें द्रष्टृत्वादिक धर्म हैं । और सुषुप्तिमें बुद्धि आदिक उपाधिके अभाव हुये द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका अभाव है । इस प्रकार आत्मामें असङ्गत्व ज्ञानके लिये प्रश्नोपनिषद्‌में आत्माको प्रसङ्गमें प्राप्त करके 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिक मन्त्रों करके दर्शनादिक व्यवहारके अभावरूप धर्मको कहा है ।

और जो सुषुप्ति अवस्थामें सुख कहा है सो भी आत्मामें ही सुख स्वरूपत्वकी विवक्षा करके कहा है । तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—**'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।'** अर्थ—इस सुषुप्त पुरुषका ही स्वरूपानुभवरूप जो आनन्द है सो 'परम' कहिये साधन करके असाध्य है, निरतिशय

है। और इस ब्रह्मानन्दकी ही मात्रा कहिये लेशरूप कलाको अर्थात् इन्द्रिय और विषयके सम्बन्ध कालमें प्रतीयमान सुखको ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणी भोगते हैं इति। और यहां छान्दोग्यमें भी कहा है—**'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्'**। यह मन्त्र भी नाशादिक दोषरूप आमय करके सहित जो सामय सुख है तिस सामय सुखका निराकरण पूर्वक ब्रह्म ही सुखरूप भूमा है इस अर्थको दिखाता है। और **'यो वै भूमा तदमृतम्'** इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो नित्यत्वरूप अमृतत्व है सो भी परम कारण ब्रह्ममें ही बन सकता है अन्यमें नहीं। अतः अमृतत्व भी परम कारणका ही बोधक है क्योंकि प्राणादिक विकारोंमें जो अमृतत्व है सो आपेक्षिक तथा विनाशी है। अतः जो वादीने पूर्व कहा था कि—**'प्राणो वा अमृतम्'** इस ब्राह्मणभाग करके प्राणमें अमृतत्व सिद्ध है; सो सापेक्षिक अमृतत्व है इसलिये विरोध नहीं। तथा **'अतोऽन्यदार्तम्'** यह श्रुति भी आत्मासे भिन्नमें नश्वरत्वको बोधन करती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे **'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'** इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो सत्यत्व है; तथा **'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'** इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व है; तथा **'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्'** इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो सर्वगतत्व है; तथा **'स एवेदं सर्वम्'** 'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इन मन्त्रोंमें श्रूयमाण जो सर्वात्मत्व है सो सम्पूर्ण धर्म परमात्मामें ही बन सकते हैं, परमात्मासे भिन्न प्राणादिकोंमें नहीं। अतः भूमाध्याय निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित हुवा ऐसा जानना इति ॥ ९ ॥

इति भूमाधिकरणं समाप्तम्।

भूमामें श्रुत जो सत्यत्वादिक धर्म हैं तिन धर्मोंकी परमात्मामें ही उपपत्ति होनेसे 'भूमा ब्रह्मरूप है' ऐसा पूर्व अधिकरणमें कहा है। इसी न्यायसे अक्षरमें श्रुत जो जगत्का विधारण है तिसको भी परमात्मामें ही उपपन्न होनेसे अक्षर परब्रह्म ही है। इस अर्थको व्यास भगवान् अब दिखाते हैं—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

अर्थ—१ अक्षरम्, २ अम्बरान्तधृतेः। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इस श्रुतिमें पृथिवीसे लेकर अव्याकृतरूप आकाश पर्यन्त जगत्के धारणका अक्षरमें श्रवण होनेसे यहां 'अक्षर' शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना, वर्णका नहीं। क्योंकि वर्णरूप अक्षरमें जगत्का विधारकत्व नहीं बन सकता है इति। अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—बृहदारण्यकके तृतीय अध्यायमें लिखा है कि—

जनककी सभामें उद्दालक ऋषिके शास्त्रार्थसे उपरत होनेके अनन्तर याज्ञवल्क्यके वचनरूपी शाप करके शिर गिरनेके डरसे भयभीत हुई गार्गी याज्ञवल्क्यसे पुनः प्रश्न करनेकी इच्छा करके ब्राह्मणोंकी अनुमति लेनेके लिये सभामें कहने लगी–हे भगवन्त ! मैं इस याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न पूछना चाहती हूं। इन दो प्रश्नोंके उत्तरको यदि याज्ञवल्क्य दे देगा तो आप लोगोंमेंसे इस ब्रह्मवादीको कोई भी नहीं जीत सकेगा।

ब्राह्मण–पृच्छ गार्गि !

इस प्रकार ब्राह्मणोंकी अनुमतिको लेकर गार्गी याज्ञवल्क्य ऋषिसे कहने लगी–हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशीराज अथवा वैदेह धनुष्के उपर दो भयङ्कर बाणोंको चढ़ाकर शत्रुके सन्मुख खड़ा होवे, इसी प्रकार मैं भी दो प्रश्न-रूपी बाणोंसे तुमको परास्त करनेके लिये खड़ी हुई हूं। इन मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो।

याज्ञवल्क्य–पृच्छ गार्गि !

तब गार्गीने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया–हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोकसे उपर २ जो कुछ वस्तु है, और पृथिवीलोकसे नीचे २ जो कुछ है, और पृथिवी व स्वर्गके बीच अन्तरिक्षमें जो कुछ है, और स्वर्ग व पृथिवी और भूत भविष्यत् वर्तमान जो कुछ प्रपञ्च है, यह सर्व किसमें ओतप्रोत है अर्थात् किसके आश्रित है ?

याज्ञवल्क्य–हे गार्गि ! यह जो तुमने द्युलोकसे उपर इत्यादि जो कुछ जगत् कहा है सो सर्व स्थूल सूक्ष्म विराट् हिरण्यगर्भरूप जगत्; जैसे यह पृथिवी, उत्पत्ति स्थिति लय तीनों कालमें जलमें ओतप्रोत है इसी प्रकार, आकाश (साभास माया)में ओतप्रोत है।

गार्गी–हे याज्ञवल्क्य ! तुम्हारेको मैं नमस्कार करती हूं। क्योंकि आपने मेरे इस प्रश्नका उत्तर ठीक दिया है। अब मैं दूसरा प्रश्न करती हूं सो तुम दृढ़ हो जावो।

याज्ञवल्क्य–पृच्छ गार्गि !

गार्गी–हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोकसे उपर जो कुछ है और पृथिवी लोकसे नीचे जो कुछ है, यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण जगत् किसमें ओतप्रोत है। इस प्रश्नका उत्तर जो तुमने सम्पूर्ण जगत्का आधार आकाशको कहा है। क्या केवल आकाश ही इस स्थूल सूक्ष्म जगत्का आधार है अथवा और भी कोई आधार है ? यह पुनः प्रश्न उक्त अर्थके अवधारणके लिये है, और कुछ अपूर्व अर्थ इस प्रश्नमें नहीं है।

याज्ञवल्क्य–हे गार्गि ! सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्चका आधार आकाश ही है, आकाशसे दूसरा नहीं है। इसके अनन्तर गार्गिने पुनः याज्ञवल्क्य मुनिके

प्रति पूछा है कि– हे मुने ! 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च *प्रोतश्चेति' १ 'स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ०) इत्यादिक श्रवण होता है। यह मन्त्र इस अधिकरणका विषयवाक्य है। अर्थ—ब्रह्माण्डका उपरला कटाहरूप जो स्वर्गलोक है तिससे उपर जो लोक हैं, तथा ब्रह्माण्डका निचला कटाहरूप जो यह पृथिवी है इसके अधोभागमें जो लोक हैं, तथा स्वर्ग और पृथिवी तथा दोनोंके अन्तर जो लोक हैं। तथा भूत, वर्तमान, भविष्यत् अर्थात् हिरण्यगर्भ पर्यन्त कार्यमात्र सम्पूर्ण जगत् जिस अव्याकृतरूप आकाशमें अर्थात् मायाशबल ईश्वरमें ओतप्रोत है सो अव्याकृतरूप आकाश किसमें ओतप्रोत है? इस गार्गीके द्वितीय प्रश्नको श्रवण करके याज्ञवल्क्यने कहा कि—हे गार्गि ! यह अव्याकृतरूप आकाश अक्षरमें ओतप्रोत है इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कहते हैं। अथवा वेद कहता है। और यह अक्षर कैसा है—स्थूलसे भिन्न अस्थूल है। तथा अणुसे भिन्न अनणु है। और न ह्रस्व है। न दीर्घ है। न लोहित है। न स्नेह है। न छाया है। न तम है। न वायु है। न आकाश है। और न सङ्ग सम्बन्ध है। अर्थात् संसर्गरहित है। न रस है। न गन्ध है। और न चक्षु है। न श्रोत्र है। न वाक् है। न मन है। न तेज है। न प्राण है। न मुख है। न हस्तपादादिरूप है। और मात्रारूप परिच्छेद शून्य है। और छिद्ररहित है अर्थात् अन्तर रहित है। और बाह्यरहित है। और सो अक्षर किसीको भक्षण नहीं करता है। न इस अक्षरको कोई भक्षण करता है। भोक्तृत्व भोग्यत्व रहित है। अर्थात् इस मन्त्रसे अक्षरमें स्थूलत्व अणुत्व ह्रस्वत्व दीर्घत्वादिक उक्त अनुक्त सर्व जगत्के अत्यन्ताभावको श्रुति बोधन करती है। और सम्पूर्ण वस्तुवोंके ध्वंसका व प्रागभावका निषेध भी अर्थसे सिद्ध होता है। तथा च जिसमें आकाश ओतप्रोत है सो अक्षर सम्पूर्ण भावाभावविनिर्मुक्त है यह सिद्ध हुवा। एवं च इस अक्षरकी वेदजन्य प्रतिपत्तिको विद्यमान होनेसे अप्रतिपत्ति नहीं है। और ब्रह्ममें वाच्यत्वके अस्वीकारसे, और लक्षणावृत्ति करके व उपलक्षणन्याय करके पुरुषमें उपनिषत्प्रतिपाद्यत्वरूप औपनिषदत्वके स्वीकारसे विप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान भी नहीं बन सकता है इति।

इस विषयवाक्यमें स्थित जो 'अक्षर' शब्द है तिसका वर्णमें तथा परमात्मामें प्रयोग होनेसे "यहां अक्षर शब्द करके वर्णका ग्रहण करना अथवा परमात्माका ग्रहण करना" ऐसा **संशय** होता है इति।

अथ **पूर्वपक्ष**। जैसे पूर्व अधिकरणमें 'सत्य' शब्दको ब्रह्ममें रूढ़ होनेसे, 'ब्रह्म भूमारूप है' ऐसा कहा है। तैसे ही अक्षर शब्द भी वर्णमें रूढ़ है; अतः 'अक्षर' शब्द करके वर्णका ही ग्रहण करना।

---

* अर्थात् आकाशका अधिष्ठान मनवाणीका अविषय है। तथाच अविषय समझकर यदि याज्ञवल्क्य चुप हो जावेगा तो अप्रतिपत्ति नामक निग्रह-स्थान करके निगृहीत होवेगा। और यदि अवाच्यको भी कहेगा तो विप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान होगा। क्योंकि अवाच्यका वचन विरुद्ध है। अतः यह प्रश्न दुर्वच है यह यहां गार्गीका अभिमान है।

शंका । 'न क्षरतीति अक्षरम्' जो नाशको प्राप्त न होवे तिसका नाम अक्षर है। इस अविनाशित्वके योगसे ब्रह्ममें भी अक्षर शब्द मुख्य है। अतः अक्षर शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिये।

समाधान । सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि **'तत्राक्षरसमाम्नाय'** इति। यहां अक्षर शब्दको वर्णमें प्रसिद्ध होनेसे प्रसिद्धिका व्यतिक्रम अयुक्त है। अर्थात् 'रूढ़िर्योगमपहरति' इस न्याय करके वर्णमें जो अक्षर शब्दकी रूढ़िवृत्ति है सो 'न क्षरतीति अक्षरम्' इस योगवृत्तिको हरण कर लेती है। अतः अक्षर शब्द करके वर्णका ही ग्रहण करना, ब्रह्मका नहीं।

शंका । वर्णमें आकाशान्त जगत्का विधारण नहीं बन सकता है। और सर्वात्मभाव भी नहीं बन सकता है। अतः अक्षर शब्द करके वर्णका ग्रहण नहीं करना किन्तु पूर्वोक्त अविनाशी ब्रह्मका ही ग्रहण करना?

समाधान । सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जैसे **'ॐकार एवेदं सर्वम्'** इत्यादिक अन्य श्रुतिमें ॐकारका ध्यानके लिये ॐकारमें सर्वात्मत्वका अवधारण किया है, तथा ॐकारसे ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया है; तैसे यहां ॐकारमें सर्वाश्रयत्व भी बन सकता है। और वस्तुतः पृथिवी आदिक आकाश पर्य्यन्त सम्पूर्ण अर्थ; पृथिवी आदिक शब्दात्मक सम्पूर्ण नामोंमें ओतप्रोत हैं। और सम्पूर्ण नाम 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णेति' इत्यादिक श्रुति प्रमाणसे ओंकारमें ओतप्रोत हैं। अतः ओंकारमें भी अम्बरान्तधृति बन सकती है। इसलिये अक्षर शब्द करके उपास्य ॐकार ही ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष** । प्रसङ्गमें प्रश्न व प्रतिवचन करके अव्याकृतरूप आकाश पर्यन्त जगत्के आधारमें ही तात्पर्यका निश्चय होनेसे यहां ध्यानका विधान नहीं है। अतः रूढिवृत्तिको बाध करके योगवृत्ति ही ग्राह्य है इस अर्थको दिखाते हैं–**'उच्यते'** इत्यादि भाष्यम्। 'अक्षर' शब्द करके परमात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है। क्योंकि **'अम्बरान्तधृतेः'** पृथिवीसे लेकर आकाश पर्यन्त विकारका धारणरूप अम्बरान्तधृति परमात्मामें ही बन सकती है। और तहां इस अक्षरके प्रकरणमें तीनों कालोंमें विभक्त पृथिवीसे लेकर सम्पूर्ण विकाररूप जगत्की 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इस वचन करके आकाशमें प्रतिष्ठाको जब याज्ञवल्क्यने कहा तब गार्गीने पूछा है कि—यह अव्याकृतरूप आकाश किसमें ओतप्रोत है? इस प्रश्न करके इस अक्षरका प्रसङ्गमें याज्ञवल्क्यने अवतरण किया है। और आगे भी याज्ञवल्क्यने **'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति'** इस वचन करके आकाशके आधाररूपसे ही अक्षरका उपसंहार किया है। तथाच यह जो अव्याकृतरूप आकाश पर्यन्तका धारण कहा है सो ब्रह्मसे भिन्नमें नहीं

बन सकता है। अतः अक्षर शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना। और 'ओंकार एवेदं सर्वम्' इस मन्त्रमें जो सम्पूर्ण जगत्को ओंकाररूप कहा है, और 'तद्यथा शङ्कुना' इस श्रुतिसे जो ओंकारमें सर्व प्रपञ्चको ओतप्रोत कहा है, सो भी ओंकारकी उपासना ब्रह्मज्ञानका साधन है, इसलिये ओंकारकी स्तुतिके वास्ते है। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि-'न क्षरतीत्यक्षरम्' 'अश्नुत इत्यक्षरम्'। इस योगवृत्तिसे नित्यत्व तथा व्यापित्वरूपधर्म करके परब्रह्मरूप ही अक्षर है वर्णरूप नहीं इति॥ १०॥

अब प्रधानवादी श्रुतिमें स्थित आकाश शब्दसे भूताकाशको समझकर शंका करता है—यदि आकाशान्तकार्यको कारणके अधीन होनेसे अक्षर शब्द करके परमात्माका ग्रहण करोगे तो प्रधानवादीके मतमें भी आकाश पर्यन्त कार्यको प्रधानके अधीन होनेसे सम्पूर्ण कार्यरूप जगत्का विधारकत्व प्रधानमें भी बन सकता है। तथा च अम्बरान्तधृतिसे ब्रह्मकी ही प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है अतः अक्षर शब्दसे प्रधान ही ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं?

ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार समाधानको कहते हैं—

सा च प्रशासनात्॥ ११॥

अर्थ—१ सा, २ च, ३ प्रशासनात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्रकृत आकाशमें भूताकाशत्वका निषेध 'च' का अर्थ है। 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इस श्रुतिमें आकाश पर्यन्तका जो धारणरूप कर्म है सो परमात्माका ही है, क्योंकि 'प्रशसनात्' प्रशासनका यहां श्रवण होता है इति। **एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'** । इत्यादि। अर्थ—हे गार्गि! इस अक्षरकी प्रशासन कहिये शिक्षामें और विधृतिमें सूर्यचन्द्रमा विषयरूप करके स्थित हैं इति। इस सूत्र करके यहां सूत्रकारने यह बोधन किया है कि—प्रशासन परमेश्वरका ही कर्म है। क्योंकि जैसे अचेतन मृदादिकोंमें स्वकार्य घटादिक विषयक प्रशासन नहीं बन सकता है। तैसे अचेतन प्रधानमें भी स्वकार्य जगत्विषयक प्रशासन नहीं बन सकता है। किन्तु चेतनरूप परमात्मामें ही बन सकता है। अतः अक्षर शब्द करके चेतनरूप ब्रह्मका ही ग्रहण करना प्रधानका नहीं। किंच भूताकाशको कार्यके अन्तःपाति होनेसे भूताकाशमें, श्रुत सम्पूर्ण कार्यका आश्रयत्व भी नहीं बन सकता है। अतः अव्याकृत प्रधानरूप जो अज्ञान है सोई यहां 'आकाश' शब्दका अर्थ है। तिस प्रधानका आश्रयत्व अक्षरमें श्रवण होता है। अतः अक्षर शब्दका अर्थ प्रधान नहीं हो सकता है किन्तु ब्रह्म ही है इति॥ ११॥

अक्षर शब्दसे ओंकारादिकोंका निषेध करके जो ब्रह्मका ग्रहण है तिसमें दूसरे हेतुको सूत्रकार दिखाते हैं:—

अन्यभावव्यावृत्तेश्च॥ १२॥

अर्थ—१ अन्यभावव्यावृत्तेः, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। पुनः अन्यभावकी

व्यावृत्तिरूप हेतुसे भी प्रकृतमें 'अक्षर' शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना। तिस ब्रह्ममें ही जगदध्यासाधिष्ठानत्वरूप अम्बरान्तधृति बन सकती है, अन्य किसीमें नहीं बन सकती है इति।

शंका। 'अन्यभावव्यावृत्ति' शब्दका क्या अर्थ है?

समाधान। अन्यका जो भाव तिससे वा तिसकी व्यावृत्ति; 'अन्यभावव्यावृत्ति' शब्दका अर्थ है। यहां यह अर्थ उक्त होता है—प्रकरणकी पर्यालोचना करके अक्षरमें प्रतीयमान जो प्रधानादिकोंसे भिन्नत्वरूप व्यावृत्ति है तिस व्यावृत्तिरूप हेतुसे, अम्बरान्तके विधारक अक्षरको जो पुरुष ईश्वरसे अन्य वर्णरूप अथवा प्रधानरूप अथवा जीवरूप करके शंका करते हैं, तिन वादियोंका भाव कहिये अभिप्राय व शंकाको श्रुति व्यावृत्त करती है। अथवा अक्षरको अन्यभाव कहिये अचेतनत्वसे श्रुति व्यावृत्त करती है। अर्थात् अक्षरमें वर्णत्व व प्रधानत्व व जीवत्वके अत्यन्ताभावको श्रुति बोधन करती है। अथवा प्रधानादिकोंसे भिन्नरूप करके अक्षरको श्रुति बोधन करती है। अथवा अन्य भाव व्यावृत्तिरूप अभेदको श्रुति बोधन करती है। अतः 'एतद्वैतदक्षरं गार्गि' यहां अक्षर शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—**'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ'** इति। अर्थ—हे गार्गि! 'अस्थूलमनणु' इत्यादिक मन्त्र करके निश्चित जो यह अक्षर है सो प्रत्यक्षवृत्तिरूप दृष्टिका अविषय होनेसे किसी करके दृष्ट नहीं है। और दृशिस्वरूप होनेसे स्वयं द्रष्टृ है। और शब्द वृत्तिरूप श्रुतिका अविषय होनेसे किसी करके श्रुत नहीं है। और श्रुति स्वरूप होनेसे स्वयं श्रोतृ है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना इति। यद्यपि प्रधानमें अद्रष्टृत्वादिक धर्म बन सकते हैं तथापि अचेतन होनेसे प्रधानमें व ॐकाररूप वर्णमें द्रष्टृत्वादिक धर्म नहीं बन सकते हैं। अतः प्रधान व वर्णसे भिन्न अक्षर ब्रह्मरूप ही है।

अब इस सूत्रसे जीवके निषेधको दिखाते हैं—**'तथा'** इत्यादि भाष्यम्। 'अन्यभावव्यावृत्तेश्च' अन्यभाव कहिये अन्यत्व अर्थात् भेद, तिस भेदकी व्यावृत्ति कहिये निषेध, तिससे। अर्थात् इससे यह सिद्ध हुवा कि-श्रुतिमें अक्षरसे भिन्न जीवका निषेध होनेसे अक्षर परब्रह्म स्वरूप ही है इति। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—**'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ'** इत्यादि। अर्थ—प्रकृत अक्षरसे भिन्न दर्शनादिरूप क्रियाका द्रष्टा कोई नहीं है, तथा श्रोता भी नहीं है, मन्ता भी नहीं है, व विज्ञाता भी नहीं है इति। इस श्रुति करके प्रकृत अक्षर आत्माके भेदका प्रतिषेध होनेसे और उपाधिवाले जीवमें नानात्वको विद्यमान होनेसे अक्षर शब्दका वाच्यत्व नहीं बन सकता है। और 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' इति। यह अक्षर प्रतिपादक श्रुति भी अक्षरमें उपाधिमत्ताका निषेध करती है। जीवमें चक्षुरादिका निषेध बने नहीं। अतः अक्षर शब्द करके जीवका ग्रहण नहीं करना।

शंका । उपाधि रहित अर्थात् शोधित जो जीव है सो अक्षर शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है परब्रह्म नहीं ।

समाधान । जो निरुपाधिक चेतन है वह शारीर व जीव नहीं कहा जाता है । क्योंकि निरुपाधिक चेतनमें जीवत्व ही नहीं है । इस पूर्वोक्त रीतिसे अक्षर परब्रह्मरूप ही है । इसलिये निर्गुण अक्षरमें ही गार्गीब्राह्मण समन्वित हुवा ऐसा जानना इति ॥ १२ ॥

इत्यक्षराधिकरणम् ॥

ॐकार जो है सो पर पुरुषरूप करके ध्यान करने योग्य है अब इस अर्थको व्यास भगवान् दिखाते हैं—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

अर्थ—१ ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्, २ सः । इस सूत्रमें दो पद हैं इति । इस सूत्रमें जो 'सः' यह शब्द है सो परब्रह्मका बोधक है । और 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकारका प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मके साक्षात्काररूप दर्शनका नाम यहां ईक्षति है । तिस ईक्षतिका विषयरूप जो कर्म है तिसका नाम ईक्षतिकर्म है । तिस ईक्षतिकर्मरूप परब्रह्मका 'परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस वाक्यशेषमें 'व्यपदेशात्' कहिये कथन होनेसे यहां ओंकारसे अभिन्नरूप करके परब्रह्म ही ध्यान करनेको योग्य है अपरब्रह्म नहीं इति ।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं । प्रश्नोपनिषत्के पञ्चम प्रश्नमें लिखाहै कि—सत्यकामनामक शिष्य पिप्पलाद गुरुके प्रति पूछता भया—हे भगवन् ! मनुष्योंके मध्यमें जो त्रैवर्णिक पुरुष अधिकारी गुणों करके प्रसिद्ध है वह यदि मरण पर्यन्त अर्थात् यावत्जीवन श्रद्धा भक्ति पूर्वक ओंकारके ध्यानको करे तो सो ध्याता पुरुष तिस ओंकारके ध्यान करके उपासनाका फलरूप किस लोकको प्राप्त होता है ?

पिप्पलाद ऋषि कहते भये—**एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति** । प्रश्न०। अर्थ—हे सत्यकाम ! निरतिशय सुखादि लक्षण जो परब्रह्म है; तथा कार्यात्मक हिरण्यगर्भरूप जो अपरब्रह्म है; तथा श्रुतिमें स्थित दो चकारों करके पर अपर ब्रह्मसे भिन्न रूप करके गृहीत जो जगत् है; सो सम्पूर्ण स्वरूप चारों वेदोमें प्रसिद्ध ओंकार ही है । अतः पर अपर ब्रह्मरूप करके प्रणवको जाननेवाला जो विद्वान् है सो पर अपर ब्रह्मकी प्राप्तिका साधनरूप ओंकारका ध्यान करके पर ब्रह्मका उपासक परब्रह्मको प्राप्त होता है, तथा अपरब्रह्मका उपासक अपर ब्रह्मको प्राप्त होता है इति । इस अर्थको प्रसङ्गमें प्राप्तकरके आगे पिप्पलादऋषिने कहा कि—हे सत्यकाम ! जो पुरुष ओंकारकी सकल मात्रा विभाग व सर्व मात्रावोंके अर्थको नहीं भी जाने तो भी ओंकारके ध्यानके प्रभावसे उत्तम गतिको ही प्राप्त होता है । किसी मात्राके

अर्थज्ञान वैगुण्यसे कर्मज्ञान उभय भ्रष्ट हुवा भी ओंकारैकशरण पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है। किन्तु ओंकारकी एक मात्राके अर्थादिविषयक ज्ञानवान् हुवा एकमात्राविशिष्ट ओंकारका भी यदि ब्रह्मरूप करके ध्यान करे तो भी तिसी ध्यानके प्रभावसे इस ओंकारके उपासकको ऋग्वेदके मन्त्र मनुष्यलोकमें प्राप्त करते हैं। और मनुष्यलोकमें श्रीमान् द्विजोत्तम होकर; तप ब्रह्मचर्य श्रद्धादि साधन सम्पन्न हुवा; मनुष्यलोककी विभूतियोंका अनुभव करता है। और तप आदिके प्रभावसे जन्मान्तरमें भी सद्गतिको ही प्राप्त होता है, दुर्गतिको कभी नहीं प्राप्त होता है।

और यदि दोमात्रावोंके अर्थादिक ज्ञान करके युक्त हुवा दोमात्रावों करके विशिष्ट ओंकारको ब्रह्मरूप करके मनमें चिन्तन अधिकारी पुरुष करे तो; तिसको यजुर्वेदके मन्त्र सोमलोकको प्राप्त करते हैं। और सोमलोकमें प्राप्त होकर तहांके ऐश्वर्यको अनुभव करके सो पुरुष पुनः मनुष्यलोकमें आता है। पूर्ववत् दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है।

और 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इति। प्रश्न०। अर्थ—'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इस उपक्रमवाक्यमें ओंकारका और ध्येय ब्रह्मका अभेदको श्रुत होनेसे त्रिमात्रेण, ओमित्येतेन, अक्षरेण, यहां तीनों स्थानमें जो तृतीया विभक्ति है सो द्वितियार्थमें है ऐसा जानना। आचार्य पिप्पलाद कहते हैं—"हे सत्यकाम! जो ध्यान करनेवाला अधिकारीगुणों करके प्रसिद्ध पुरुष मात्राविभाग सहित तत्तन्मात्राके अर्थविषयक ज्ञान सहित ऋषि आदिक ज्ञानविशिष्ट होकर 'परं' कहिये सूर्यके अन्तर्गत जो परिपूर्ण पुरुष है तिसके साथ अभेद करके त्रिमात्रक तथा 'ओं' इत्याकारक तथा वर्णात्मक ओंकारका चिन्तन करता है सो पुरुष ध्यानके प्रभावसे सूर्यलोकको प्राप्त होता है। सूर्यकी सम्पत्तिमात्रसे ही जैसे सर्प अनायाससे अपनी त्वचाको त्यागता है इसी प्रकार सर्व पापोंसे विनिर्मुक्त होकर सामके अधिष्ठातृदेवतावों करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। तहां जाकर इस जीवघनसे पर जो पुरिशय अन्तर्यामी पुरुष है तिसको आत्मरूपसे देखता है" इति। यह मन्त्र इस अधिकरणसूत्रका विषयवाक्य है।

अब संशयको दिखाते हैं—'एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' अर्थ—ध्याता पुरुष इस ओंकाररूप आलम्बन करके ही पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्ममेंसे किसी एकको प्राप्त होता है इति। इस श्रुतिको प्रसङ्गमें प्रकृत होनेसे; 'यः पुनरेतं' इस वाक्यमें सत्यकामके प्रति पिप्पलाद ऋषि ध्यान करनेके योग्य पर ब्रह्मका ही उपदेश करते हैं अथवा अपरब्रह्मका उपदेश करते हैं ऐसा यहां संशय होता है इति।

'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' इस पूर्व अधिकरणमें यद्यपि जो अक्षर शब्द है सो वर्णमें रूढ़ है; तथापि आकाशादिक जगत्का आधारत्वरूप लिङ्ग करके 'न क्षरतीत्यक्षरम्' इस योगवृत्तिका आश्रयण किया है; अर्थात् लिङ्गके बलसे 'अक्षर' शब्द करके जैसे ब्रह्मका ग्रहण किया है। तैसे ही प्रसङ्गमें भी परिच्छिन्न फलका

श्रवणरूप लिङ्गको विद्यमान होनेसे आपेक्षिक परत्वविशिष्ट हिरण्यगर्भरूप अपर ब्रह्मका 'पर' शब्द करके ग्रहण करना चाहिये इस दृष्टान्तसङ्गति करके पूर्वपक्षी पूर्वपपक्षको दिखाता है—

अथ पूर्वपक्ष। **'तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्'** इति भाष्यम्। अर्थ—तहां 'यः पुनरेतं' इस वाक्यमें अपर ब्रह्म ही उपास्यरूप करके ग्रहण करनेको योग्य है। क्योंकि 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्'। अर्थात् 'सो उपासक पुरुष तेजका मण्डलरूप सूर्यविषे प्राप्त होता है' 'पश्चात् सो उपासक पुरुष गीतिप्रधान सामवेदके अभिमानी देवतावों करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है' इति। यह मन्त्र प्रकृत ब्रह्मवित् उपासक पुरुषको देश करके परिच्छिन्न ब्रह्मलोकरूप फलकी प्राप्तिको कथन करता है। और परब्रह्मको सर्वगत होनेसे, परब्रह्मवित् उपासक पुरुष, परिच्छिन्न फलको नहीं प्राप्त हो सकता है। किन्तु अपरिच्छिन्न नित्य ब्रह्म सुखरूप मोक्ष फलको ही प्राप्त होता है। अतः यहां अपर ब्रह्म ही ध्येय है।

शंका। यदि प्रसङ्गमें अपर ब्रह्मका ग्रहण करोगे तो 'परं' यह विशेषण व्यर्थ होवेगा।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि स्थूल विराट्की अपेक्षासे हिरण्यगर्भरूप अपर ब्रह्ममें परत्व बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अपर ब्रह्म ही यहां ॐकाररूप करके उपास्य है पर ब्रह्म नहीं इति।

ऐसे पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहते हैं:—

अथ सिद्धान्तपक्ष। **'परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते'** इति भाष्यम्। अर्थ–'यः पुनरेतं' इत्यादि इस विषयवाक्यमें ॐकाररूप करके ध्यान करनेको योग्य पर ब्रह्म ही उपदिष्ट है, अपर ब्रह्म नहीं इति। क्योंकि वाक्यशेषमें ध्यातव्य पुरुषको ही ईक्षतिरूप दर्शनका विषयरूप करके कथन किया है। तहां वाक्यशेषश्रुतिः—**'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'**। अर्थ—ब्रह्मलोकको प्राप्त जो त्रिमात्रक ओंकारका ध्यान करनेवाला उपासक है; सो तहां सर्व शरीरोंमें अनुप्रविष्ट परिपूर्ण परमात्माका साक्षात्कार करता है; तथा ब्रह्मलोकमें उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कारवाला उपासक पुरुष विदेहकैवल्यको प्राप्त होता है। वह उपास्य पुरुष कैसा है—सत्यलोक निवासी तथा सम्पूर्ण जीवोंका एक पिण्डरूप घन तथा स्थावरजङ्गमसे 'परात्' कहिये उत्कृष्ट जो हिरण्यगर्भ है तिस हिरण्यगर्भसे 'परं' कहिये उत्कृष्ट है इति।

शंका। ईक्षणरूप दर्शनका विषय अपर ब्रह्म ही रहो। और यदि अपर ब्रह्मको ही दर्शनका विषय मानोगे तो अपर ब्रह्म ही उपास्य सिद्ध होवेगा।

समाधान। **'तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति'** इति भाष्यम्। अर्थ—तहां ध्यानका विषय तो 'अतथाभूत' कहिये मिथ्या पदार्थ भी होता है।

क्योंकि मनोरथ कल्पित वस्तुमें भी ध्यानका कर्मत्व देखनेमें आता है। और ईक्षणरूप दर्शनका विषय तो सत्य ही होता है असत् नहीं ऐसा लोकमें देखनेमें आता है। अतः यथार्थ दर्शनका विषय परमात्मा ही यहां ईक्षतिका कर्मरूप करके उपदिष्ट है ऐसा निश्चय होता है इति।

शंका। यद्यपि प्रमारूप ईक्षण, विषयनिष्ठ सत्यत्वकी अपेक्षा करता है इसलिये परमात्मा ईक्षणका विषय रहो। तथापि ध्यान तो विषयनिष्ठ सत्यत्वकी अपेक्षा करता नहीं; अतः असत्य अपर ब्रह्म ही ध्यानका विषय क्यों न होवे?

समाधान। 'स एव' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् 'परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस वाक्यशेषमें जो ईक्षणका विषय परमात्मा है; तिस परमात्माकी ही ध्यातव्यरूप करके विषयवाक्यमें स्थित 'पर' तथा 'पुरुष' शब्दसे प्रत्यभिज्ञा होती है; अतः यहां परमात्मा ही ध्येय है।

शंका। ध्यानमें पर पुरुषको कथन किया है; और ईक्षणमें परसे पर पुरुषको कथन किया है; इस कहनेसे "ध्यानका विषय पर पुरुषसे, ईक्षणका विषय परसे पर पुरुष भिन्न है" ऐसा निश्चय होता है। जब ईक्षणका विषय भिन्न हुवा तब ईक्षणके विषय इतर पुरुषकी विषयवाक्यमें ध्यातव्यरूप करके प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है, क्योंकि अभिन्न वस्तुकी प्रत्यभिज्ञा होती है।

समाधान। दोनों वाक्योंमें पर शब्द तथा पुरुष शब्दको साधारण होनेसे परमात्माकी प्रत्यभिज्ञा बन सकती है।

शंका। 'एतस्माज्जीवघनात्परात्' इन पदों करके प्रकृत ध्यान करनेके योग्य जो हिरण्यगर्भ है तिसका परामर्श है; और 'परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इन पदों करके ध्यातव्य हिरण्यगर्भसे भिन्न जो ईक्षणका विषय पर पुरुष परमात्मा है तिसका परामर्श है; अतः ध्येय विषयवाक्यमें परमात्माकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है।

समाधान। 'जीवघन' शब्द करके प्रसङ्गमें प्राप्त ध्यान करनेके योग्य हिरण्यगर्भरूप पर पुरुषका परामर्श नहीं हो सकता है जिस परामर्श करके परसे पर जो ईक्षणीय पुरुष है सो प्रकृत ध्येयसे भिन्न होवे। क्योंकि ध्यानको तथा ध्यानका फल दर्शनरूप ईक्षणको समानविषयक होनेसे, और उपक्रमउपसंहार वाक्योंकी एक वाक्यताके बलसे जो ध्येय है सोई ईक्षणीय है। अतः दर्शनका विषय जो पर ब्रह्म है सोई यहां ध्यातव्य है अर्थात् ध्यानका विषय है यह सिद्ध हुवा।

शंका। 'जीवघन' किसको कहते हैं।

समाधान। 'घन' नाम मूर्तिका है, जीव स्वरूप जो घन तिसका नाम

जीवघन है। अर्थात् लवणपिण्डकी तरह उपाधि करके परिच्छिन्न जो परमात्माका जीव स्वरूप है तथा विषय इन्द्रियादिकोंसे जो पर है सोई यहां जीवघन है। यद्यपि समष्टिजीवाभिमानी हिरण्यगर्भका नाम जीवघन है। और यह जीवघनरूप अपर ब्रह्म एक एक मात्रक ओंकारमें अथवा द्विमात्रक ओंकारमें उपास्य भी है अत एव 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इस पर अपर विषयक उपक्रमवाक्यमें अपरविषयक उपक्रमकी भी सङ्गति होती है। तथापि त्रिमात्रक ॐकारमें 'परं पुरुषमभिध्यायीत' इत्यादिक श्रुतिके बलसे पर ब्रह्म ही ध्येय है हिरण्यगर्भ नहीं इति।

अब "लक्षणावृत्ति करके जीवघन शब्दसे ब्रह्मलोकका परामर्श होता है" यह जो किसीका मत है सो दिखाते हैं-**'अपर आह'** इत्यादि भा०। अर्थ-- 'एतस्माज्जीवघनात्' इस वाक्यशेषसे प्रथम तथा 'यः पुनरेतं' इस विषयवाक्यसे अनन्तर जो 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्', यह वाक्य है तिस वाक्य करके कथन किया हुवा जो ब्रह्मलोक है सोई यहां जीवघन शब्दका अर्थ है। यद्यपि व्यष्टि करणोंके अभिमानी जो जीव हैं तिन जीवोंका संघातरूप एकीभाव ब्रह्मलोकनिवासी समष्टिकरणोंका अभिमानी हिरण्यगर्भमें हो सकता है; अतः हिरण्यगर्भका नाम जीवघन है, परन्तु ब्रह्मलोकका नाम जीवघन नहीं हो सकता है। तथापि हिरण्यगर्भको ब्रह्मलोकका स्वामी होनेसे परंपरा सम्बन्धरूप लक्षणावृत्ति करके ब्रह्मलोक भी जीवघन कहा जाता है इति। और जीवघनरूप जो ब्रह्मलोक है सो 'परात्' कहिये लोकान्तरसे पर भी है। तिस ब्रह्मलोकसे पर जो सर्वलोकातीत तथा ईक्षणका कर्मरूप शुद्ध परमात्मा है सोई परमात्मा यहां ध्यानका विषयरूप कर्म है। ऐसा निश्चय होता है।

और 'परपुरुष' शब्दको परमात्मामें मुख्य होनेसे भी परमात्मा ही यहां ध्येय है। अब इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं— **'परं पुरुषं'** इत्यादि। अर्थात् 'परपुरुष' यह जो विशेषण है सो भी उपास्यरूप करके परमात्माका ग्रहण करनेसे ही समीचीन होता है। क्योंकि जिससे परे किञ्चित् अन्य वस्तु न होवे सोई वस्तु मुख्य 'पर' हो सकता है। ऐसा परमात्मा ही है। यद्यपि स्थूल विराट्की अपेक्षासे हिरण्यगर्भ भी पर है; तथापि शुद्ध परमात्माकी अपेक्षासे पर नहीं किन्तु अपर है। अतः मुख्य पर नहीं है। इस अर्थमें श्रुत्यन्तरको दिखाते हैं-**पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः**। अर्थ—पुरुषसे परे कुछ नहीं है किन्तु सोई शुद्ध परमात्मा सर्वका अवधिरूप है, सोई परा 'गति' कहिये मोक्षरूप है इति।

किञ्च 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इस मन्त्रमें पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्मका विभाग दिखा करके आगे कहा है कि-**'ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत'** यह मन्त्र ॐकार करके पर पुरुषमें ध्यानके विषयत्वको कहता हुवा 'परपुरुष' शब्द करके पर ब्रह्मको ही बोधन करता है अपर ब्रह्मको नहीं इति।

और पापकी निवृत्तिरूप फलसे भी निश्चय होता है कि—ध्यानका विषय

परमात्मा ही है। तहां श्रुतिः—**'स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः'**। अर्थ—सो उपासक पुरुष तेजका मण्डलरूप सूर्यलोकमें प्राप्त होता है, और तहां प्राप्त हुवा जो उपासक पुरुष है सो जैसे 'पादोदर' जो सर्प है सो जीर्णकञ्चुक करके मुक्त होता है तैसे ही अशुद्धिरूप पाप करके मुक्त होता है इति। यह पापकी निवृत्तिरूप फलका कथन करनेवाला जो वचन है सो भी प्रसङ्गसे परमात्माको ही यहां ध्यातव्यरूप करके सूचन करता है।

शंका। प्रकृत त्रिमात्रक ॐकारके उपासक पुरुषको जो देश करके परिच्छिन्न ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप फल होता है; सो अपरिच्छिन्न परमात्माके उपासक पुरुषको नहीं बन सकता है।

समाधान। यह जो वादीने कहा है सो असंगत है, क्योंकि त्रिमात्रक ॐकाररूप करके परमात्माका ध्यान करनेवाले उपासकको ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप फल होता है; पश्चात् ब्रह्मलोकमें 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकारका उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कारवाला हुवा उपासक पुरुष विदेहकैवल्यरूप मोक्षको प्राप्त होता है। अतः **'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्'** यह जो वचन देशपरिच्छिन्न ब्रह्मलोकरूप फलको कहता है सो वचन क्रममुक्तिके अभिप्रायसे है। अत कोई दोष नहीं यह सिद्ध हुवा इति। और इस अधिकरणमें पूर्वपक्षकी रीतिसे त्रिमात्रक ॐकारमें भी अपर ब्रह्मकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें पर ब्रह्मकी उपासना फल है इति॥ १३॥

इति ईक्षतिकर्माधिकरणम्॥

'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस मन्त्र करके पूर्व अधिकरणमें उपास्य परपुरुषका निर्णयके हुये भी 'पुरिशयं' इस पद करके जैसे परमात्माका शरीररूप पुरके साथ सम्बन्ध कहा है; तैसे ही 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे' इस वक्ष्यमाण मन्त्रमें भी दहराकाशका शरीररूप पुरके साथ सम्बन्ध कहा है, अतः दहराकाश परब्रह्म स्वरूप ही है। इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैं:—

दहर उत्तरेभ्यः॥ १४॥

अर्थ—१ दहरः, २ उत्तरेभ्यः। इस सूत्रमें दो पद हैं। अल्प परिमाणवालेका नाम 'दहर' है। और अल्प परिमाणवाला हृदयकमलरूप उपाधि करके अवच्छिन्न जो आकाश है तिसका नाम दहराकाश है। अर्थात् 'दहर' कहिये जो दहराकाश है सो परमात्मा ही है भूताकाश तथा जीव नहीं है। क्योंकि 'उत्तरेभ्यः' कहिये 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिक उत्तरवाक्यशेषमें परमेश्वरके ही पापरहितत्वादिक धर्मोंका यहां कथन किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके प्रथम खण्डमें—**'अथ यदिदमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽ**

स्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्यादिक मन्त्र हैं। अर्थ—'अथ' कहिये भूमविद्याके अनन्तर दहरविद्याका प्रारम्भ करते हैं। 'अस्मिन् ब्रह्मपुरे' प्रत्यक्ष सिद्ध जो यह शरीर है सो ब्रह्मकी उपलब्धिका हेतु होनेसे सद्रूप ब्रह्मका पुर है अर्थात् पुरकी तरह पुर है। तिस ब्रह्मपुररूप शरीरमें 'यदिदम्' यह जो प्रसिद्ध 'दहरं' अल्प 'पुण्डरीकं' कमलके सदृश हृदयरूप 'वेश्म' स्थानकी तरह स्थान है। 'अस्मिनन्तः' इस हृदयरूप स्थानके मध्यमें 'आकाशः' जो सूक्ष्मरूप दहराकाश है। 'तस्मिन्' तिस दहराकाशरूप ब्रह्मके 'यदन्तः' मध्यमें जो स्वर्ग पृथिवी आदिक हैं 'तदन्वेष्टव्यं' दहराकाशरूप आश्रय सहित सो स्वर्ग पृथिवी आदिक शास्त्रादिक उपाय करके अन्वेषण (श्रवण मनन) करनेको योग्य हैं। और 'तद्वाव' सोई दहराकाश सहित स्वर्ग पृथिवी आदिक 'विजिज्ञासितव्यम्' साक्षात्कार करनेको योग्य है। वस्तुतः द्यावा पृथिवी आदिकों करके उपहित परमात्मा ही यहां अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य है इति। इत्यादिक मन्त्र इस अधिकरणसूत्रके विषय हैं।

प्रसङ्गमें 'दहराकाश जिज्ञास्य है अथवा दहराकाशके अन्तर स्थित जो वस्तु है सो जिज्ञास्य है' ऐसा यहां संशय होता है।

और यदि आकाश जिज्ञास्य है तो तहां दहररूप हृदय पुण्डरीकमें श्रुत जो दहराकाश है सो क्या भूताकाश है अथवा विज्ञानात्मारूप जीव है अथवा परमात्मा है ऐसा संशय होता है।

शंका। इस प्रकारका संशय क्यों होता है ?

समाधान। आकाश तथा ब्रह्मपुर शब्दसे होता है। क्योंकि आकाश शब्द भूताकाशका वाचक है, और ब्रह्म शब्द जीव तथा परमात्माका बोधक है इति।

तथा च और दो प्रकारका संशय है—तहां प्रथम संशय यह है कि—आकाश शब्दका प्रयोग भूताकाशमें तथा परब्रह्म विषे देखनेमें आता है, अतः क्या भूताकाशका नाम दहराकाश है अथवा परब्रह्मका नाम दहराकाश है इति। तथा दूसरा संशय यह है कि—'ब्रह्मपुरम्' इस मन्त्रमें क्या जीवका नाम ब्रह्म है अथवा परब्रह्मका ही नाम ब्रह्म है। तहां द्वितीय प्रथम पक्षमें इस शरीररूप पुरका स्वामी जीव कहा जावेगा। तथा द्वितीय द्वितीय पक्षमें इस शरीररूप पुरका स्वामी ब्रह्म कहा जावेगा इति। तहां दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण करना अथवा परब्रह्मका ग्रहण करना इति।

इस प्रकारका संशयके हुये जैसे पुरुष शब्दको ब्रह्ममें मुख्य होनेसे ब्रह्म ध्येय है; ऐसा पूर्व अधिकरणमें कह आये हैं। तैसे आकाश शब्दको भूताकाशमें रूढ़ होनेसे भूताकाश ही ध्येय है। इस दृष्टान्तसङ्गतिसे पूर्वपक्षी प्रथम पूर्वपक्षको दिखाता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'तत्र' इत्यादि भा०। तहां आकाश शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण करना परमात्माका नहीं, क्योंकि आकाश शब्द भूताकाशमें

रूढ़ हैं इति। सिद्धान्ती यदि ऐसा कहे कि—व्यापक भूताकाशमें अल्पत्वरूप दहरत्व, तथा एक ही आकाशमें उपमानउपमेयभाव; तथा स्वर्ग पृथिवी अग्नि वायु इत्यादिक पदार्थोंका अल्प दहराकाशरूप हृदयपुण्डरीकावच्छिन्न भूताकाशमें आधारत्व, किस प्रकार बनेगा इति। इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे वादी देता है। यद्यपि भूताकाश व्यापक है तथापि अल्प हृदयकमलरूप स्थानकी अपेक्षासे भूताकाशमें दहरत्व बन सकता है। तथा **'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः'** इति। अर्थ—जितना परिमाणवाला बाह्य आकाश है, उतना परिमाणवाला ही इस हृदयके अन्तर आकाश है इति। इस श्रुतिसे बाह्य अभ्यन्तर भाव करके कल्पित भेदवाले एक ही आकाशमें उपमानउपमेयभाव भी बन सकता है। तथा वास्तवमें अवकाशरूप करके आकाशको एक होनेसे दहराकाशरूप भूताकाशमें स्वर्ग पृथिवी आदिक पदार्थोंका आधारत्व भी बन सकता है इति।

शंका। दहराकाशके प्रकरणमें 'एष आत्मा' इस श्रुतिमें जो 'आत्म' शब्द है सो भूताकाशमें नहीं बन सकता है इति।

समाधान। अथवा इस अरुचिसे दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि जीवमें आत्मशब्दका प्रयोग बन सकता है। किञ्च 'ब्रह्मपुरे' इस मन्त्रमें स्थित ब्रह्म शब्दसे भी जीवका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जीवका ही यह शरीररूप पुर हुवा ब्रह्मपुर कहा जाता है। किञ्च इस शरीरको जीवका कर्म करके उपार्जित होनेसे जीवका शरीररूप पुरके साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी बन सकता है। तथा चैतन्यरूप गुणके योगसे ब्रह्म शब्दका वाच्यत्व भी जीवमें बन सकता है; अतः दहराकाश शब्द करके जीवका ही ग्रहण करना परब्रह्मका नहीं इति।

शंका। ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही ब्रह्म शब्दसे ग्रहण करना चाहिये, गौण जीवका नहीं।

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि परब्रह्मका शरीररूप पुरके साथ स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध नहीं बन सकता है; अतः जीव ही ब्रह्म शब्दका अर्थ है ब्रह्म नहीं इति।

शंका। शरीररूप पुरका स्वामी जीव रहो, किन्तु हृदयमें स्थित जो आकाश है सो ब्रह्मरूप है इति।

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि पुरस्वामीका पुरके एक देशमें अवस्थान देखा गया है। जैसे पुरका स्वामी जो राजा है सो राजा पुरके एक देशमें स्थित होता है ऐसा देखनेमें आता है। तैसे मन जो है सो प्रायः करके हृदय स्थानमें रहता है अतः मन उपाधिवाला जो पुरका स्वामी जीव है सो जीव ही इस शरीररूप पुरके एक देश हृदयमें रहेगा ब्रह्म नहीं। किञ्च

जीवकी उपमा अरके अग्र भागसे करी है, अतः जीवमें ही दहरत्वकी कल्पना कर सकते हैं ब्रह्ममें नहीं इति। यदि सिद्धान्ती कहे कि—जीवको आकाशकी सदृश भी कहा है अतः जीवमें दहरत्व नहीं बन सकता है इति। यह कहना असङ्गत है क्योंकि जीवको जो आकाशके सदृश कहा है सो जीवका ब्रह्मके साथ अभेदको विवक्षा करके कहा है अतः कोई दोष नहीं।

शंका। जो जीव है सो आकाश पदका अर्थ नहीं हो सकता है; क्योंकि आकाश शब्द भूताकाश मात्रमें रूढ़ है। इसलिये दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण नहीं बन सकता है?

समाधान। अथवा मन्त्रमें स्थित 'दहराकाश' शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण करना चाहिये; और भूताकाशके अन्तर स्थित जो किञ्चित् स्वर्ग पृथिवी आदिक वस्तु हैं सोई ध्येय हैं, अत एव **'न चात्र दहरस्याकाशस्यान्वेष्यत्वम्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे' इस मन्त्रसे दहराकाशका अन्वेषणीयत्व-रूप करके, तथा जाननेकी इच्छाका विषयत्वरूप करके, श्रवण नहीं होता है। किन्तु 'तस्मिन् यदन्तः' इति। इस मन्त्रमें दहराकाशमें स्थित जो वस्तु हैं तिन वस्तुवोंका विशेषणरूप करके अर्थात् आधारत्वरूप करके आकाशका श्रवण होता है। अतः भूताकाशविशिष्ट द्यावापृथिवी आदिक ही उपास्य हैं इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। **'परमेश्वर एव दहराकाशो भवितुमर्हति'** इत्यादि भा०। अर्थ—परमेश्वर ही दहराकाश होनेको योग्य है, भूताकाश अथवा जीव नहीं इति। अर्थात् जो दहराकाश है सो परमेश्वर ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें परमात्माके ही पापरहितत्व, शोकरहितत्वादिक धर्मरूप हेतुवोंका कथन किया है। अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—श्रुति भगवती कहती है कि–दहराकाशविषयक उपदेश करनेवाले आचार्यके प्रति शिष्य यदि पूछे कि–हे भगवन्! अल्प जो हृदयकमल है तिसमें भी अतिअल्प जो हृदयमें रहनेवाला आकाश है तिस आकाशमें क्या वस्तु है जो अन्वेषण करनेके योग्य तथा साक्षात्कार करनेके योग्य है? अर्थात् अत्यन्त अल्प हृदयाकाशमें कुछ भी नहीं है। यदि बदरमात्र कुछ होवे तो भी तिसके अन्वेषणसे अथवा साक्षात्कारसे किस फलकी सिद्धि होगी? अतः दहराकाशका अन्वेषण निरर्थक है इति।

इस प्रकार प्रकृत अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य दहराकाशविषयक आक्षेप करनेवाले शिष्यके प्रति 'स ब्रूयात्' 'आचार्य समाधानवचनको कहे कि'— **"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते"** इत्यादि (छा०)। अर्थ—हे शिष्य! जितना परिमाणवाला यह बाह्य आकाश है; उतना परिमाणवाला ही यह अन्तर हृदयमें आकाश है। और इसी हृदयाकाशरूप दहराकाशके अन्दर स्वर्ग पृथिवी आदिक सम्पूर्ण जगत् स्थित है इति। 'यावान् वा' इस वचन करके आचार्य, अल्प हृदय करके प्राप्त जो दहराकाशमें

अल्पत्व है; तिस अल्पत्वको प्रसिद्ध भूताकाशकी उपमा करके निवृत्त करते हुये; दहराकाशमें भूताकाशत्वको भी निवृत्त करते हैं। ऐसा निश्चय होता है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—दहराकाश करके परमात्मा ही अन्वेषण करनेको योग्य है तथा जाननेको योग्य है इति। यद्यपि आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है; तथापि तिसी भूताकाश करके तिस भूताकाशकी उपमा नहीं बन सकती है। क्योंकि उपमानउपमेयभाव भिन्न पदार्थोंका होता है। अतः भूताकाश ही दहराकाश है यह शंका भी निवृत्त हो गई।

शंका। एक आकाशका भी बाह्यत्व तथा आन्तरत्वरूप धर्म करके कल्पित जो भेद है तिस भेद करके उपमानउपमेयभाव बन सकता है ऐसा हम पूर्व कह आये हैं।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना नहीं बन सकता; क्योंकि काल्पनिक भेदका आश्रयण करके उपमानउपमेयभावको सिद्ध करना जो है सो अगतिक गति है। किञ्च भेदकी कल्पना करके उपमानउपमेयभावका वर्णन करनेवाला जो वादी है; तिसके मतमें परिच्छिन्न हार्दाकाशमें जो अभ्यन्तरत्व है तिसको त्यागे विना व्यापक बाह्य आकाशका सादृश्य नहीं बन सकता है। यदि अभ्यन्तरत्वको त्यागकर देवे तो भी अत्यन्त अभेद होनेसे सादृश्य नहीं बन सकता है।

शंका। 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' 'रामरावणका जो युद्ध है सो रामरावणका युद्धके सदृश है' यहां अत्यन्त अभेद स्थलमें भी उपमानउपमेयभाव देखनेमें आता है इति।

समाधान। अत्यन्त अभिन्नमें भिन्नत्व घटित सादृश्यके अन्वयका अभाव होनेसे; इस वाक्यका युद्धनिष्ठ उपमारहितत्वमें तात्पर्य है उपमामें नहीं है। अतः काव्यवित् जो पुरुष हैं सो इसको अनन्वयालङ्कार कहते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे हार्दाकाशमें बाह्य आकाशके समान परिमाणका अभाव होनेसे उपमान-उपमेयभाव नहीं बन सकता है इति।

शंका। "ज्यायानाकाशात्" यह शतपथका मन्त्र परमेश्वरमें भी आकाशसे अधिक परिमाणको कथन करता है; अतः परमेश्वररूप दहराकाशका भी आकाशके साथ उपमानउपमेयभाव उपपन्न नहीं हो सकेगा।

समाधान। 'यावान्वा' इस मन्त्रमें 'जितना भूताकाश है उतना ही ब्रह्म है' यह विधान नहीं किया है जिससे "ज्यायानाकाशात्" इस श्रुतिका विरोध होवे। किन्तु हृदय पुण्डरीकरूप वेष्टन करके प्राप्त जो दहराकाशमें अल्पत्व है; तिस अल्पत्वकी निवृत्तिके बोधनमें इस वाक्यका तात्पर्य है; अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है इति।

शंका। भूताकाशरूप हार्दाकाशमें जो उपाधिकृत अल्पत्व है तिसकी

निवृत्तिमें तथा स्वभावसे आकाशके समान परिमाणवत्त्वमें अर्थात् सादृश्यमें 'यावान् वा' इस मन्त्रका तात्पर्य क्यों न होवे ?

समाधान । यदि यह वाक्य उभय अर्थको प्रतिपादन करेगा तो वाक्यभेदरूप दोष होवेगा । क्योंकि जहां एक वाक्यका दो अर्थके साथ अन्वय होता है; तहां वाक्यभेद दोष कहा जाता है । किंच कल्पित भेदवाला तथा हृदय पुण्डरीक करके वेष्टित जो आकाशका एक देश है तिसमें द्यावापृथिवी आदिकोंका आश्रयत्व भी नहीं बन सकता है। और यह आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा करके रहित है; तथा सत्य कामना, सत्यसङ्कल्पवाला है; इस प्रकार आत्मत्व, तथा अपहतपाप्मत्वादिक गुण भी भूताकाशमें नहीं बन सकते हैं; अतः दहराकाश शब्द करके भूताकाशका ग्रहण नहीं हो सकता है इति ।

यद्यपि जीवमें आत्मशब्द बन सकता है; तथापि सत्यसङ्कल्पादिक गुणोंका अभाव होनेसे दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण भी नहीं बन सकता है। किंच अरके अग्रभाग करके उपमित जो उपाधि करके अवच्छिन्न जीव है; तिस जीवमें हृदय पुण्डरीक करके किया हुवा जो अल्पत्वरूप दहरत्व है, सो भी 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादि श्रुतिसे निवृत्त करनेको अशक्य है। क्योंकि जीव आकाशसे बड़ा है नहीं। यदि वादी कहे कि-ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षा करके जीवमें ज्यायस्त्वरूप सर्वगतत्व बन सकता है; तो जिस ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षा करके जीवमें सर्वगतत्व मानते हो तिस ब्रह्ममें ही साक्षात् सर्वगतत्वरूप व्यापकत्व मानकर इस प्रकरण करके प्रतिपाद्यत्व मानना उचित है जीवको प्रतिपाद्य मानना उचित नहीं है। और पूर्ववादीने जो कहा था कि-जैसे पुरका स्वामी जो राजा है सो पुरके एक देशमें रहता है; तैसे ही शरीररूप पुरको जीव करके उपार्जित होनेसे जीव ही हृदयरूप पुरके एक देशमें रहता है; अतः जीव ही दहराकाश शब्द करके ग्राह्य है ब्रह्म नहीं इति। सो भी वादीका कहना असङ्गत है; क्योंकि ब्रह्ममें ही ब्रह्म शब्दको मुख्य होनेसे पर-ब्रह्मका ही यह शरीररूप पुर हुवा ब्रह्मपुर कहा जाता है। अतः दहराकाश शब्द करके ब्रह्म ही ग्राह्य है जीव नहीं है ।

शंका । ब्रह्मको असंग होनेसे शरीरके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध नहीं बन सकता है ?

समाधान । इस शरीरको ब्रह्मसाक्षात्कारका अधिष्ठान (हेतु) होनेसे इस शरीररूप पुरके साथ ब्रह्मका कल्पित सम्बन्ध भी बन सकता है। अब ब्रह्मका शरीरके साथ जो ब्रह्मोपलब्धिस्थानत्वरूप सम्बन्ध है तिस सम्बन्धमें श्रुति-प्रमाणको दिखाते हैं—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'। प्रश्न० । इस मन्त्रका अर्थ पूर्व अधिकरणमें विस्तारसे कह आये हैं। 'स वा अयं पुरुषः

सर्वासु पूर्षु पुरिशयः ।' (बृ० २—५—१८)। अर्थ—सम्पूर्ण शरीररूप पुरोंमें जो हृदयरूप पुरि हैं तिन पुरियोंमें शयन करनेवाला जो पूर्णरूप यह पुरुष है सोई दहराकाशरूप परमात्मा है इति । इत्यादि मन्त्र ब्रह्मका शरीररूप पुरके साथ सम्बन्धको कहते हैं ।

अथवा शरीर जीवका ही पुर रहो । 'बृंहयति इदमिति ब्रह्म' देहकी वृद्धिको जो करे तिसका नाम ब्रह्म है । अर्थात् प्रकृतमें जीवका नाम ब्रह्म है। जैसे शालग्राममें विष्णु सन्निहित होता है; तैसे जीवके इस शरीररूप पुरमें ब्रह्म सन्निहित है । अतः उपास्य विष्णुकी तरह उपास्य ब्रह्म ही दहराकाश है ।

किंच जैसे राजाके पुरमें मैत्रका भी गृह होता है; तैसे जीवके शरीररूप पुरमें ब्रह्मका हृदयरूप रहनेका स्थान है । अतः हृदयरूप पुण्डरीकमें परमात्मा ही ध्येय है जीव नहीं इति ।

किंच **'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते ।'** अर्थ—जैसे स्वामीकी आज्ञानुवर्त्ति प्राणियोंका सेवादिक कर्म करके सम्पादित जो भोगरूप लोक है, सो नष्ट हो जाता है । तैसे ही अग्निहोत्रादिक पुण्यकर्म करके सम्पादित जो स्वर्गादिक लोक है सो भी नष्ट हो जाते है इति । इस प्रकार कर्मजन्य फलको अन्तवत् कह कर आगे कहा है कि—**'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।'** अर्थ—जो इस दहराकाशरूप आत्माको तथा तदाश्रित कामोंको न जान करके शरीर त्याग करता है; तिसका सर्वलोकमें कामचार नहीं होता है । और 'अथ' कर्मफलविषयक वैराग्यसे अनन्तर जीवत् दशामें ही दहररूप आत्माको तथा आत्माके आश्रित सत्यकाम सत्यसङ्कल्प आदिक गुणोंको शास्त्र व आचार्यके उपदेशके अनन्तर स्वयं अनुभव करके इस देहका त्यागपूर्वक जो मनुष्य परलोकको जाते हैं सो सार्वभौम राजाकी तरह सर्वलोकमें कामचार होते हैं । अर्थात् जिस लोकमें जानेकी इच्छा करते हैं उस लोकमें जा सकते हैं । तथा जिन पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं तिन पदार्थोंको प्राप्त होते हैं इति। यह मन्त्र प्रसङ्गमें प्राप्त दहराकाशके विज्ञानका अनन्त फलको कहता हुवा दहराकाशमें परमात्मत्वको सूचन करता है ।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि—दहराकाशमें अन्वेष्टव्यत्व तथा विजिज्ञासितव्यत्वका श्रवण नहीं होता है । किन्तु परत्र अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्य जो द्यावापृथिवी आदिक हैं तिनोंका विशेषणरूप करके व आधाररूप करके दहराकाशका श्रवण होता है, अतः दहराकाश उपास्य नहीं है इति। सो भी वादीका कहना असङ्गत है । क्योंकि यदि दहराकाश अन्वेष्टव्य न होवे तो **'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः'** । इत्यादिक मन्त्र करके जो आकाशके स्वरूपका प्रदर्शन किया है तिसका उपयोग न हो सकेगा ।

शंका । यह जो आकाशके स्वरूपका प्रदर्शन है सो भी आकाशके अन्तर

स्थित द्यावापृथिवी आदिक उपास्य वस्तुके सद्भावको दिखानेके लिये ही है। क्योंकि श्रुतिने स्वयं ही 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्' इत्यादि मन्त्र करके शिष्यके, दहराकाशके अन्तर स्थित वस्तुविषयक आक्षेपको दिखाकर; परिहारके अवसरमें 'यावान्वा' इत्यादि मन्त्रसे आकाशकी उपमाका उपक्रम करके आगे 'उभे अस्मिन्' इस मन्त्रसे द्यावापृथिवी आदिकका दहराकाशके अन्तर सद्भावको दिखाया है। अतः आकाशके अन्तर स्थित वस्तु ही उपास्य है दहराकाश नहीं।

समाधान। यह भी वादीका कहना असङ्गत है; क्योंकि यदि आकाशके अन्तर स्थित स्वर्गादिकोंके स्वरूप प्रदर्शनके लिये ही 'यावान् वा' इत्यादिक मन्त्रको मानोगे तो "जो द्यावापृथिवी आदिक दहराकाशके अन्दर समाहित हैं सोई अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य हैं" यह अर्थ उक्त होवेगा। परन्तु ऐसा माननेसे वाक्यशेषकी उपपत्ति न होगी। इस अर्थको दिखाते हैं—**'अस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा'।** अर्थ— इस दहराकाशरूप अपने आत्मामें सम्पूर्ण कामादिक स्थित हैं; और यह आत्मा पापादिक रहित है इति। यहां 'अस्मिन्' तथा 'एष' शब्दसे प्रकृत द्यावापृथिवी आदिककी स्थितिका आधारभूत दहराकाशका आकर्षण करके—**'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्'।** इस मन्त्रमें स्थित समुच्चय अर्थका बोधक 'च' शब्द करके; कामादिकोंका आधाररूप आत्माको तथा आत्माके आश्रित कामादिक गुणोंको विशेषरूप करके विज्ञेय यह पूर्वोक्त वाक्यशेष दिखाता है। अर्थात् आत्मत्व, पापरहितत्व, सत्यकामादिक गुणविशिष्ट दहराकाशको ध्येयरूप करके जो यह वाक्यशेष कहता है; सो यह वाक्यशेष स्वर्गादिकोंको ही उपास्य माननेसे अनुपपन्न होगा। इस अनुपपत्तिको दूर करनेके लिये-"अथ यदिदमस्मिन्" इत्यादि वाक्योपक्रममें भी हृदयपुण्डरीक है आधार जिसका ऐसा जो अन्तर्यामी ब्रह्मरूप दहराकाश है सो दहराकाश ही स्वर्ग, पृथिवी, आदिके व सत्यकामादिक गुणोंके सहित विज्ञेय कहा है। ऐसा निश्चय होता है। अर्थात् 'तस्मिन् यदन्तः' यहां पर जो 'तत्' शब्द है सो 'यावान्वा' इत्यादिक वाक्यशेषवलसे अव्यवहित आकाशको उलङ्घन करके व्यवहित हृत्पुण्डरीकका बोधक है। अथवा 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' यहां पर आकाश शब्द भूताकाशका ही वाचक है। 'तस्मिन् यदन्तः' यह तत् शब्द अव्यवहित भूताकाशका ही परामर्शक है। परन्तु 'तस्मिन् यदन्तः' इस 'अन्तः' शब्द करके भूताकाशके अन्तर विद्यमान अन्तर्यामी चिदाकाशका ग्रहण करना। यह चिदाकाश ही मुख्य अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य है। अत एव इसी चिदाकाशका 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः' यहां पर हृदयाकाश शब्द करके परामर्श है। इन पूर्वोक्त कारणोंसे दहराकाश परमेश्वर है यह सिद्ध हुवा इति। यहां पूर्वपक्षमें भूताकाशकी उपासना फल है। सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मकी उपासना करके निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार फल है इति ॥ १४ ॥

उत्तर वाक्यशेषगत हेतुवोंसे दहराकाश परमेश्वर है इस अर्थको कह आये हैं। तिन हेतुवोंको ही अब विस्तारसे दिखाते हैं:—

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

अर्थ—१ गतिशब्दाभ्याम्, २ तथा, ३ हि, ४ दृष्टम्, ५ लिङ्गम्, ६ च। इस सूत्रमें छ पद हैं। इस हेतुसे भी दहराकाश शब्द करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना क्योंकि वाक्यशेषमें परमेश्वरके ही प्रतिपादक गति तथा शब्दरूप हेतु हैं। 'तथा हि' तैसे ही वेदमें और लोकमें 'दृष्टम्' देखा है। और इस अर्थका बोधक लिङ्ग भी है इति।

इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं—**'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति'**। अर्थ-जैसे किसीके घरमें पृथिवीसे ढकी हुई निधि होवे तो घरके पुरुष उसके उपर उपर चलते हैं। परन्तु अज्ञानवश निधिको प्राप्त होते नहीं। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजारूप जो जीव हैं सो हृदयमें स्थित ब्रह्म स्वरूप लोकको सुषुप्ति अवस्थामें प्रतिदिन प्राप्त हुये भी अर्थात् दहरस्वरूप ब्रह्मात्मरूप करके स्थित हुये भी अज्ञान करके आवृत होनेसे इस ब्रह्मरूप लोकको नहीं जानते हैं इति।

इस श्रुतिमें जो ब्रह्मलोक शब्द है तिस ब्रह्मलोक शब्दसे प्रसङ्गमें प्राप्त दहराकाशका अभिधान करके, प्रजा शब्दके वाच्य जो जीव हैं; तिन जीवोंकी प्रतिदिन तिस ब्रह्मस्वरूप लोकविषयक जो गतिका अभिधान है सो दहराकाशमें ब्रह्मरूपताको बोधन करता है। 'तथाहि' कहिये तिसी प्रकार श्रुत्यन्तरमें भी जीवोंकी, सुषुप्ति अवस्थामें प्रतिदिन ब्रह्मविषयक गति देखनेमें आती है। तहां श्रुतिः—**'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति'**। अर्थ—हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो! 'तदा' कहिये सुषुप्ति दशामें 'सता संपन्नो भवति' कहिये सद्रूप ब्रह्मके साथ यह जीव अभेदभावको प्राप्त होता है इति। **'स्वमपीतो भवति'** अपने स्वरूपको प्राप्त होता है इत्यादि। तथा लोकमें भी गाढ़ सुषुप्त जीवको कहते हैं कि—'ब्रह्मीभूतो, ब्रह्मतां गतः' इत्यादि।

इस पूर्वोक्त रीतिसे गतिरूप लिङ्गको कह करके अब शब्दरूप लिङ्गको दिखाते हैं—तथा प्रकृत दहराकाशमें प्रयुज्यमान जो 'ब्रह्मलोक' शब्द है सो भी दहरपद करके प्राप्त जो जीव तथा भूताकाश विषयक शंका है तिसको निवृत्त करता हुवा दहराकाशमें ब्रह्मत्वको बोधन करता है। क्योंकि जीव व भूताकाशमें ब्रह्मलोक शब्द प्रसिद्ध है नहीं।

शंका। ब्रह्मलोक शब्द जो है सो ब्रह्म स्वरूप लोकको नहीं बोधन करता है। क्योंकि प्रायशः ब्रह्मलोक शब्द कमलासन जो ब्रह्मा है तिस ब्रह्माके लोकको बोधन करता है; अतः दहरमें ब्रह्मलोक शब्द करके ब्रह्मत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

समाधान। यदि 'ब्रह्मणः लोको ब्रह्मलोकः' इस प्रकार षष्ठी समासका

आश्रयण करें तो ब्रह्मलोक शब्द कमलासनके लोकका बोधन करे। परन्तु यहां षष्ठी समासका आश्रयण नहीं करना। क्योंकि 'निषादस्थपतिं याजयेत्' इस न्याय करके षष्ठी समाससे कर्मधारय समास बलवान् है। यह वार्ता तो यद्यपि शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। तथापि प्रसङ्गमें षष्ठी समासका खण्डन करके कर्मधारय समासके स्थापन करनेके लिये सूत्रमें सूत्रकारने अधिक 'लिङ्गं च' इस प्रकार लिङ्गको भी कहा है। तहां लोक तथा वेदमें प्रसिद्ध जो सुषुप्ति अवस्थामें प्रतिदिन ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप गति है यही गति ब्रह्मलोक शब्दकी सामानाधिकरण्य वृत्तिके स्वीकारमें लिङ्ग है। अथवा इस गतिके अभिधानका नाम यहां लिङ्ग है। और यह जो लिङ्ग है सो प्रतिदिन कमलासनके लोकको प्राप्तिका असम्भव होनेसे षष्ठी समासकी शंकाको निवृत्त करता हुवा ब्रह्मलोक शब्द करके ब्रह्मरूप दहराकाशको ही बोधन करता है। तथा च यहां दहराकाश ब्रह्मका लोक नहीं है किन्तु दहराकाश ब्रह्म ही है। अतः 'ब्रह्म चासौ लोकश्चेति ब्रह्मलोकः' 'ब्रह्म स्वरूप ही लोक है' इस प्रकार कर्मधारय समास ही सिद्ध हुवा इति। और भगवान् भाष्यकार भी कहते हैं कि-'ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः' ब्रह्मरूप ही जो लोक है तिसका नाम यहां ब्रह्मलोक है। इस प्रकार सामानाधिकरण्य वृत्ति (कर्मधारय) करके व्युत्पाद्यमान जो ब्रह्मलोक शब्द है सो परमेश्वरको ही बोधन करता है। क्योंकि "यह जीव प्रतिदिन कार्यब्रह्मलोकरूप सत्यलोकको प्राप्त होता है" ऐसी कल्पना नहीं कर सकते हैं। अतः गति तथा शब्द रूप हेतुसे हृदयकमलरूप स्थानमें स्थित जो दहराकाश है सो परमात्मा ही है यह सिद्ध हुवा इति ॥ १५ ॥

और अत्र "सर्व जगत्का धारणरूप लिङ्गसे भी दहराकाश परमात्मा ही है" इस अर्थको दिखाते हैं—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

अर्थ—१ धृतेः, २ च, ३ महिम्नः, ४ अस्य, ५ अस्मिन्, ६ उपलब्धेः। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'धृति' कहिये सर्व जगत्का धारणात्मक महिमारूप हेतुसे भी परमेश्वर ही दहराकाश है क्योंकि यह धृतिरूप महिमा अन्य श्रुतियोंमें परमेश्वरमें ही प्रसिद्ध है इति।

शंका। "अथ य आत्मा स सेतु" इस वक्ष्यमाण श्रुतिमें जो 'अथ' शब्द है तिस अथ शब्द करके दहराकाशके प्रकरणका विच्छेद हो जानेसे इस श्रुतिमें श्रुत जो धृति है सो दहराकाशकी बोधक लिङ्ग नहीं हो सकती है।

समाधान। इस 'अथ' शब्दसे प्रकरणका विच्छेद नहीं हो सकता है क्योंकि श्रुतिने 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस मन्त्र करके दहराकाशको प्रसङ्गमें प्राप्त करके, तथा आकाशकी उपमा पूर्वक तिस दहराकाशमें सर्व जगत्का आधारत्वको प्रथम कहा है। इसके अनन्तर भूताकाशविषयक शंकाकी निवृत्तिके लिये तिस दहराकाशमें ही आत्म शब्दका प्रयोग किया है। तदनन्तर जीवविषयक शंकाकी निवृत्तिके

लिये अपहतपाप्मत्वादिक गुणोंके सम्बन्धका उपदेश करके, पुनः नहीं विच्छिन्न हुवा है प्रकरण जिस दहराकाशका तिस प्रकृत दहराकाशको ही श्रुति दिखाती है—

तहां छान्दोग्य श्रुतिः—'**अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय**'। अर्थ—प्रकारान्तर करके दहराकाशकी स्तुतिका प्रारम्भार्थक 'अथ' शब्द है। और 'आत्मा विधृतिः' इस प्रकार आत्मशब्दका विधृति शब्दके साथ सामानाधिकरण्यके होनेसे यहां विधारयिता अर्थात् विधारणका कर्ता 'विधृति' शब्दका अर्थ है। इस श्रुतिमें विधृति शब्द कर्ताका वाचक होनेसे क्तिजन्त है। परन्तु इस सूत्रमें धृति शब्द महिमाके समानाधिकरण होनेसे क्तिनन्त है। और जैसे लोकमें क्षेत्र सम्पदाके 'असंभेदाय' कहिये असंकर (अविनाश) के लिये जलके समूहको धारण करनेवाला जो पुल है सो 'सेतु' कहा जाता है। तैसे ही अध्यात्मादिक भेद करके विभिन्न जो स्वर्गादिक लोक हैं; तथा वर्णाश्रमादिक हैं तिनोंके 'असंभेदाय' कहिये अविनाशके लिये यह आत्मा सर्वके विधारणका कर्ता है व सेतु हैं। यहां असंकरका हेतु सेतु शब्दका अर्थ है। और स्थितिका हेतु विधृति शब्दका अर्थ है। अतः पुनरुक्ति भी नहीं होती है इति। यह मन्त्र पूर्वोक्त रीतिसे इस प्रकृत दहराकाशमें ही विधारण (नियमन) रूप महिमाको दिखाता है।

और यह नियमनरूप महिमा श्रुत्यन्तरमें भी परमेश्वर विषे ही देखनेमें आती है। तहां वृहदारण्यक श्रुतिः—'**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः**'। अर्थ—हे गार्गि। इस अक्षररूप परमात्माके प्रशासनरूप नियमनमें ही सूर्यचन्द्रमा विषयरूप करके धारण किये हुये स्थित हैं इति। तथा अन्यत्र भी निश्चित परमेश्वरवाक्यमें विधृतिका श्रवण होता हैं। '**एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय**' (बृ०)। अर्थ—यह परमात्मा सर्वका ईश्वर है तथा भूतोंका अधिपति है तथा भूतोंका पालक है तथा लोकोंके असम्भेदके लिये विधारयिता सेतु है इति। इस मन्त्रमें भी सम्पूर्ण जगत्का विधारणरूप महिमा परमेश्वरकी ही कही है। अतः उक्त धृतिरूप हेतुसे यह दहररूप आकाश परमेश्वर ही है यह सिद्ध हुवा इति ॥ १६ ॥

दहराकाश परमात्मा है इसमें अन्य हेतुको दिखाते हैं:—

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—१ प्रसिद्धेः, २ च,। इस सूत्रमें दो पद हैं। इस प्रसिद्धिरूप हेतुसे भी परमेश्वर ही दहराकाश है, क्योंकि आकाश शब्द परमेश्वरमें ही प्रसिद्ध है इति। तहां श्रुतिः—'**आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता**'। '**सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते**'। अर्थ—नामरूप जगत्का निर्वाह करनेवाला आकाशरूप आत्मा प्रसिद्ध है। तथा आकाशादिक सम्पूर्ण भूत चिदाकाशसे ही उत्पन्न होते हैं इति। इत्यादि मन्त्रोंमें नामरूपका निर्वाहक तथा भूताकाशादिकोंका कारणरूप,

परमात्मामें हो आकाश शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। अतः आकाश शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना जीव तथा भूताकाशका नहीं। क्योंकि कहीं भी जीवमें आकाश शब्दका प्रयोग देखनेमें नहीं आता है। और यद्यपि भूताकाशमें आकाश शब्द प्रसिद्ध है; तथापि उपमानउपमेयभावका असम्भव होनेसे भूताकाश भी ग्राह्य नहीं है यह पूर्व कह आये हैं इति ॥ १७ ॥

यदि 'एष आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिक परमेश्वरविषयक वाक्यशेषके बलसे दहराकाश परमात्मा है; तो 'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्' इत्यादि जीवविषयक वाक्यशेषके बलसे जीव भी दहराकाश होना चाहिये? ऐसी शंका करके समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं:—

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

अर्थ—१ इतरपरामर्शात्, २ सः, ३ इति, ४ चेत्, ५ न, ६ असम्भवात्। इस सूत्रमें छ पद हैं। "'इतर' कहिये ब्रह्मसे भिन्न जीवका 'अथ य एष संप्रसादः' इस वाक्यशेषमें परामर्श होनेसे 'सः' कहिये सो जीव ही दहराकाश है" ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं 'न, असम्भवात्' परमात्माके धर्मोंका जीवमें † असम्भव होनेसे जीव दहराकाश नहीं हो सकता है इति।

अब इस सूत्रके शंकासमाधानको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—

शंका। 'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच'। इस मन्त्रमें जो 'संप्रसाद' शब्द है सो सुषुप्तिका वाचक है। क्योंकि सुषुप्तिमें जीव जो है सो विषय इन्द्रियके संयोग करके जन्य भोगरूप कालुष्यको त्याग करता हुवा सम्यक् आनन्दको प्राप्त होता है। अतः जीवकी ही अवस्थाविशेष संप्रसाद है ब्रह्मकी नहीं। तथा 'संप्रसादे रत्वा चरित्वा' इस बृहदारण्यक श्रुतिमें भी, संप्रसाद शब्द सुषुप्ति अवस्था विषे ही देखनेमें आता है। अतः यहां 'संप्रसाद' शब्द संप्रसादरूप सुषुप्ति अवस्थावाले जीवको ही बोधन करेगा अन्यको नहीं। क्योंकि असङ्ग परमेश्वरका सुषुप्ति आदिकसे सम्बन्ध बने नहीं। और 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इस शरीरसे समुत्थानरूप लिङ्ग करके भी प्रकृत 'दहराकाश' शब्दसे जीव ही प्रतीत होता है। क्योंकि जैसे आकाशके आश्रित वायु आदिकोंका आकाशसे उत्थान होता है; तैसे शरीरके आश्रित जीवका ही शरीरसे उत्थान होवेगा; शरीरके अनाश्रित ब्रह्मका नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे वाक्यशेषगत संप्रसाद

† यद्यपि जीवके धर्मोंका भी परमेश्वरमें असम्भव तुल्य ही है; तथापि अन्तःकरणविशिष्ट आभासरूप जीवको मिथ्या होनेसे सर्वज्ञत्वादिकी अधिष्ठानता नहीं बन सकती है। और चिद्रूप परमेश्वरको सत्य होनेसे सुषुप्ति आदिकी अधिष्ठानता बन सकती है।

तथा समुत्थानरूप धर्म करके जीव ही दहराकाश है। यदि सिद्धान्ती कहे कि—कहीं भी जीवमें आकाश शब्द देखनेमें नहीं आता है? यह कहना असङ्गत है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था तथा समुत्थानरूप लिङ्ग करके जीवमें आकाश शब्दकी कल्पना कर सकते हैं। जैसे लोकमें परमेश्वरविषयक आकाश शब्द नहीं भी देखा है, तथापि वाक्यशेषमें परमेश्वरके अपहतपाप्मत्वादिक धर्मोंका प्रतिपादन होनेसे 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादिक स्थलमें परमेश्वरविषयक आकाश शब्दको अङ्गीकार किया है। तैसे 'अथ य एष सम्प्रसादो' इत्यादि वाक्यशेष गत लिङ्गोंसे जीवविषयक भी आकाश शब्द हो जावेगा। अतः संप्रसाद तथा उत्थानरूप लिङ्ग करके ब्रह्मसे इतर जीवका परामर्श होनेसे **'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'** यहां पर जिसका शरीरसे समुत्थान हो सकता है तिस जीवका ही 'दहराकाश' शब्द करके ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

समाधान। यह वादीका यह कहना असंगत है; क्योंकि बुद्धयादि उपाधि करके परिच्छिन्नत्वाभिमानी जो जीव है तिसकी 'यावान्वा अयमाकाशः' यह आकाश करके उपमाका असम्भव होगा। और उपाधिके धर्म पुण्यपाप व अल्पज्ञत्वादिकोंको अपनेमें माननेवाले जीवमें अपहतपाप्मत्व सत्यसङ्कल्पादिक जो दहराकाशमें श्रुत धर्म हैं तिन धर्मोंका भी असम्भव होगा। अतः जीव दहराकाश नहीं हो सकता है। और इस अर्थको पूर्व (सू० १४ में) भी विस्तारसे कह आये हैं इति।

शंका। जब पूर्व भी इस अर्थका निरूपण कर आये हो और अबी भी निरूपण करते हो, तब पुनरुक्ति दोष प्राप्त हुवा?

समाधान। दहरत्वरूप अल्पत्व श्रुतिसे दहराकाशमें जीवत्व शंकाकी निवृत्तिके लिये अपहतपाप्मत्वादिके असम्भवको 'दहर उत्तरेभ्य' इस पूर्व सूत्रमें कहा। और सम्प्रसाद व समुत्थानरूप लिङ्गको जीवका परामर्शक होनेसे पुनः दहराकाशमें जीवत्वशंकाकी निवृत्तिके लिये अपहतपाप्मत्वादिके असम्भवको "इतरपरामर्शात् स' इस सूत्रमें कहा है। अतः, अतिरिक्त शंकापरिहाररूप फलान्तरको विद्यमान होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं हो सकता है। **"शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्'** यह गौतमसूत्र है। अर्थ—अनुवादसे भिन्न स्थलमें पुनरुक्ति होती है सो दो प्रकारकी है—एक शब्दकी पुनरुक्ति, दूसरी अर्थकी पुनरुक्ति–समानानुपूर्वीवाले निष्फल पुनर्भाषणका नाम शब्दपुनरुक्ति है। समानार्थक भिन्नानुपूर्वीवाले शब्दका निष्फल पुनरभिधानका नाम अर्थपुनरुक्ति है इति। तथा च सफल पुनरभिधानका नाम पुनरुक्ति नहीं है, अतः प्रकृतमें अतिरिक्त शंकानिवृत्तिरूप फलको विद्यमान होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं बन सकता है।

शंका। 'अथ य एष संप्रसादो' इस मन्त्रमें स्थित संप्रसाद आदिक शब्दों करके जो जीवका परामर्श है तिसकी फिर क्या गति होगी।

समाधान। 'अन्यार्थश्च परामर्शः'। इस तृतीय पादके बीसवें सूत्रमें सूत्रकार स्वयं इस परामर्शकी गतिको कहेंगे। अर्थात् सम्प्रसाद मन्त्र जीव परक नहीं है किन्तु जीवके स्वापका आधाररूप जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मके ज्ञानके लिये ही इस मन्त्रमें जीवका परामर्श है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म ही दहराकाश है जीव नहीं यह सिद्ध हुवा इति।

शंका। 'अथ य एष संप्रसादो' यह मन्त्र यदि जीव परक नहीं है तो इस पूर्वोक्त श्रुतिका फिर क्या अर्थ है।

समाधान। सिद्धान्तके अनुसार 'अथ य एषः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ-'अथ' दहराकाशकी उक्तिसे अनन्तर मुक्त पुरुषों करके प्राप्य शुद्ध ब्रह्मको कहते हैं। 'य एष संप्रसादः' जो सम्यक् प्रसन्न विद्वान् विवेकी जीव है सो 'अस्माच्छरीरात्' कार्यकारणरूप सङ्घातसे 'समुत्थाय' आत्माको पृथग् करके अर्थात् तीनों शरीरोंमें आत्मत्वाभिमानको त्याग करके 'परं ज्योतिः' शरीरसे पृथग् निश्चय किया हुवा जो स्वयंज्योतिरूप पर ब्रह्म है तिसको 'उपसम्पद्य' स्वात्मरूपसे साक्षात्कार करके 'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते' प्रत्यग् अभिन्न परब्रह्मरूप जो स्वस्वरूप है तिसको प्राप्त होता है। 'एष आत्मेति होवाच' आचार्य शिष्यके प्रति कहते हैं कि-हे शिष्य! यह स्वत अपरोक्ष पूर्वोक्त ज्योतिरूप ब्रह्म तुम्हारा आत्मा है इति॥ १८॥

'असंभवात्' इस पूर्वोक्त हेतुकी असिद्धिकी शंका करके समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं:—

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु॥ १९॥

अर्थ—१ उत्तरात्, २ चेत्, ३ आविर्भूतस्वरूपः, ४ तु। इस सूत्रमें चार पद हैं।

प्रश्न—सिद्धान्तीने जो जीवविषयक उत्पन्न हुई शंकाका 'असंभवात्' इस हेतुसे निराकरण किया है, तिस शंकाको जैसे मृत प्राणीका अमृत सिञ्चनसे जीवन होता है। तैसे 'उत्तरात्' प्रजापति ब्रह्माके वाक्यरूप अमृतसे पुन उत्थानको हम करते हैं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि-जीवमें भी अपहतपाप्मत्वादिक गुणोंका सम्भव होनेसे 'असम्भवात्' यह हेतु असिद्ध है। अतः जीव ही दहराकाश है ब्रह्म नहीं। इस सूत्रमें 'चेत्' शब्द शंका का द्योतक है।

उत्तर—यह वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि 'आविर्भूतस्वरूपस्तु' प्रजापतिके वाक्यमें, अविद्यादिक उपाधिशून्य महावाक्यजन्य वृत्ति करके अभिव्यक्त अर्थात् आविर्भावको प्राप्त है स्वरूप जिसका ऐसा शुद्ध ब्रह्मरूप जीवका जो वस्तुतः स्वरूप है तिसका ग्रहण किया है सोपाधिक जीवका नहीं। अतः ब्रह्म ही दहराकाश है जीव नहीं इति।

अब इस सूत्रके शंका व समाधानको विस्तारसे दिखाते हैं—

शंका। प्रजापतिके वाक्यसे जीव ही दहराकाश रूप करके ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं, क्योंकि छान्दोग्यके अष्टमाध्यायमें दहराकाशका वर्णन करते हुये दहराकाशके ही प्रकरणमें यह उपाख्यान है कि-'य आत्मा अपहत-

पाप्मा विजरो विमृत्युर्विंशोको' 'सोऽन्वेष्टव्यः' 'स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच'।

अर्थ—'जो आत्मा सर्व पापादि दोषों करके रहित है' 'सो अन्वेषण (श्रवणमनन) करनेको योग्य है' तथा विशेषरूपसे तिस आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। 'जो तिस आत्माको शास्त्र व गुरुसे जानकर स्वयं अनुभव करता है; सो सर्व लोकोंको व सर्व कामोंको प्राप्त होता है यह प्रजापति कहते भये। अर्थात् यह वेदकी व प्रजापतिकी प्रतिज्ञा है' इति।

इस वचनको देवता व असुर श्रवण करके आपसमें विचार करने लगे कि—"तिस आत्माका हम लोग अन्वेषण करें जिस आत्माका अन्वेषण करके सर्व लोकोंको व सर्व कामोंको यह जीव प्राप्त होता है" इस प्रकार आपसमें विचार करके देवतावोंमेंसे प्रधान देवराज इन्द्र आत्मसाक्षात्कारके लिये तीनों लोकोंकी राज्यलक्ष्मीको त्यागकर प्रजापतिसे उपदेश लेनेके लिये चले। और असुरोंमेंसे विरोचन चले। मार्गमें दैवयोगसे दोनोंका संयोग हो गया। यद्यपि दोनोंकी आपसमें नकुलसर्पकी तरह शत्रुता थी तथापि दैवासुर संग्रामके छिड़ जानेपर ब्रह्मविद्यारूप प्रकृत उद्देशकी असिद्धिके भयसे शत्रुताको त्यागकर परस्पर मिलकर ही प्रजापतिके पास आये। आकर प्रजापतिकी सेवामें तत्पर होकर ब्रह्मचर्य करने लगे। बत्तीस वर्षके बाद ब्रह्माजीने इनसे पूछा कि—आप लोग किस कामके लिये यहांपर वास कर रहे हैं?

इन्द्र व विरोचन—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि आपके वचनको श्रवण करके तिस आत्माको जाननेकी इच्छासे हम आपकी सेवामें तत्पर हैं।

प्रजापति—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा'। अर्थ—जो यह 'अक्षिणि' नेत्रमें द्रष्टारूप पुरुष योगियोंको देखनेमें आता है यही सर्व पापादि रहित आत्मा है इसके विज्ञानसे ही सर्व लोकोंकी व कामोंकी प्राप्ति होती है यही अमृत और अभय भूमा ब्रह्मरूप है इति। उक्त आत्माके अन्वेषण व विजिज्ञासा की प्रतिज्ञाके अनन्तर 'य एषो' इस वाक्यको कहते हुये प्रजापति यहां अक्षिमें स्थित द्रष्टा जीवात्माका निर्देश करते हैं। अर्थात् इस मन्त्रमें सर्व इन्द्रियोंमें प्रधान नेत्रका ग्रहण होनेसे सर्व इन्द्रियजन्य दर्शनरूप जाग्रत् अवस्था करके सम्पन्न द्रष्टा आत्मा उपदिष्ट है ऐसा बोध होता है। इस प्रजापतिके वचनको श्रवण करके मलिन चित्त होनेसे इन्द्र और विरोचन छायापुरुषको आत्मा समझते भये। छायापुरुषको निश्चय करके पूछने लगेः—

इन्द्र व विरोचन—हे भगवन्! जो पुरुष जलमें दीखता है सो आत्मा है? अथवा जो दर्पणमें व खड्गादिकोंमें दीखता है सो आत्मा है? अर्थात् जितने जलादिकोंमें छायापुरुष हैं सो सर्व ही आत्मा हैं? अथवा इनोंमेंसे कोई एक आत्मा है? इस प्रश्नको श्रवण करके ब्रह्माजी विचार करने लगे कि—"अहो बड़ा आश्चर्य है यह लोग तो अत्यन्त भ्रान्त हैं। क्योंकि हमने अक्षिस्थ द्रष्टा पुरुषका उपदेश

किया है; यह लोग छायापुरुषको आत्मा निश्चय किये हैं। यदि मैं इनको सहसा कहूं कि—"यह छायापुरुष आत्मा नहीं है आपलोग भ्रान्त हैं" तो ये अपनेको पण्डित माननेवाले मेरे वचनको यथावत् ग्रहण नहीं करेंगे। अतः इनके आशयके अनुसार ही इनको तत्त्वोपदेश करना चाहिये"। इस अभिप्रायसे प्रजापति कहने लगे—**'एष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायते'** इति। अर्थ—यही आत्मा इन सर्वमें प्रतीत होता है; यह अमृत अभय ब्रह्मरूप है इति। उदशरावमें अपने आत्माको देखो फिर इस विषयमें जो आपके समझमें नहीं आवे सो पूछना।

इसके अनन्तर इन्द्र और विरोचन उदशरावमें देखकर उदशरावगत छाया-पुरुषको आत्मरूपसे निश्चय करके सन्तुष्ट हो गये, प्रजापतिसे कुछ भी प्रश्न नहीं किये।

इसके अनन्तर "ये विपरीतग्राही न होवें" इस अभिप्रायसे प्रजापति स्वयं इन्द्र व विरोचनको पूछने लगे—'किं पश्यथ इति' क्या देखते हो ?

इन्द्र व विरोचन— हे भगवन् ! जिस प्रकार दीर्घ नख लोमादिमान् यह शरीर है इसीके सदृश दीर्घ नख लोमादिमान् उदशरावगत आत्माको हम देखते हैं।

ब्रह्माजी इस वचनको श्रवण करके इनका छायापुरुषमें आत्मविभ्रमको दूर करनेकी इच्छासे "जैसे कुडयादिका प्रतिविम्ब आत्मा नहीं है; तैसे ही देहके अलङ्कारसे अलंकृत और देहके अलंकृत न होनेसे अनलंकृत और उत्पत्ति नाशादिमान् विकारी छायापुरुष भी अविकारित्वादि आत्मलक्षणहीन होनेसे आत्मा नहीं है। और छाया करनेवाले आगमापायी नख लोम व वस्त्र अलङ्कारादिक जैसे आत्मा नहीं हैं। तैसे ही यह देह भी आत्मा नहीं है किन्तु देहादिसे भिन्न आत्मा है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक करके ये लोग आत्माको निश्चय करें" इस अभिप्रायसे इन्द्र व विरोचनके प्रति बोले—

'साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति'।

अर्थ—क्षौर क्रिया करके नखलोमादि रहित सुन्दर अलंकृत होकर अच्छे वस्त्रोंको धारण करके परिष्कृत होकर उदशरावमें देखो इति।

जब प्रजापतिने इस प्रकार कहा तब इन्द्र व विरोचन सुन्दर वस्त्रोंको धारण करके और साध्वलंकृत व परिष्कृत होकर उदशरावमें देखते भये। परन्तु छायापुरुषमें आत्मबुद्धि नष्ट न हुई।

जब इस प्रकार अशेष मिथ्या विभ्रमका नाशक साधु अलङ्कारादि दृष्टान्तसे भी इन्द्रविरोचनका छायापुरुषमें आत्मत्वनिश्चय न गया—उत्पत्ति विनाशादि विकार देख करके भी कुछ भी शंका नहीं हुई, किन्तु पूर्ववत् छायामें आत्मबुद्धि दृढ़ ही रही, और छायापुरुषमें दृढ़ आत्मनिश्चयके बलसे सन्तुष्ट ही रहे, कुछ भी

जिज्ञासा इनको नहीं हुई, तब कृपालु प्रजापति स्वयं इन्द्र व विरोचनसे पुनः पूछते भये-किं पश्यथ इति।

इन्द्र व विरोचन—हे भगवन्! जिस प्रकारसे साधु अलंकृत सुवसन हम हैं इसी प्रकारसे साधु अलंकृत सुवसन यह छायापुरुषरूप आत्मा भी है।

इस उत्तरको श्रवण करके प्रजापति मनमें विचार करने लगे "अहो बड़े आश्चर्यकी वार्ता है, क्योंकि इनका विभ्रम अभीतक शान्त नहीं हुवा है। त्रैलोक्याधिपत्यरूप लक्ष्मीके स्वामी होनेपर भी, और देव व असुरोंमें प्रधान होने पर भी, और अपहतपाप्मत्व जरादिरहितत्व मरणादिविकाररहितत्वादिरूप आत्माके लक्षणको जान करके भी, और उक्त लक्षण लक्षित आत्माकी जिज्ञासासे त्रैलोक्याधिपत्य त्यागपूर्वक मेरे सदृश जगद्गुरुके समीपमें आकर बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुसेवामें तत्पर हो करके भी, और मुझसे **'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा'** इत्यादि साक्षात् इस आत्माके उपदेशको श्रवण करके भी छायापुरुषमें ही इनको आत्मत्वका निश्चय हुवा है। और यद्यपि मैंने इनके इस विपरीत निश्चयको दूर करनेके लिये उदशरावका व साध्वलङ्कारका दृष्टान्त कहा, तथापि इनका छायापुरुषमें आत्मत्वनिश्चय ज्योंका त्यों दृढ़ बना हुवा है। इससे यह निश्चय होता है कि—"इनके विवेकविज्ञानकी सामर्थ्यका प्रतिबन्धक कोई जबरदस्त पाप है जिसके सबबसे इनको आत्माका विवेक नहीं होता है। अतः पुनः मैं इनको आत्मतत्त्वका उपदेश करूं, सम्भव है कदाचित् मेरे उपदेशको श्रवण करके अमृतरूप आत्माके लक्षणकी स्मृतिद्वारा आगमापायी छायापुरुषविषयक आत्मत्वविभ्रमकी शान्ति हो जावे" ऐसा विचार करके प्रजापति बोले—**'एष आत्मेति' 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति'**। अर्थ—'यह पूर्वोक्त अक्षिका द्रष्टारूप आत्मा अपरोक्ष है' 'और यह अविनाशी है, अभय है, और यह भूमा ब्रह्मस्वरूप है' इति।

मल विक्षेप दोष अधिक होनेके कारण इन्द्र व विरोचनकी बुद्धि इस उपदेशको ग्रहण करनेमें भी समर्थ नहीं हुई। अर्थात् यह उपदेश भी शाब्दबोधजननद्वारा अविनाशित्वादिरूप आत्मलक्षणकी स्मृति करके छायापुरुषमें आत्मत्वविभ्रमकी शान्ति न कर सका। और छायापुरुषमें आत्मत्व निश्चयसे सन्तुष्ट शान्त हृदय होकर इन्द्र व विरोचन अपने अपने गृहके प्रति आगमन किया।

शंका। प्रजापतिने अकृतार्थ इन्द्रविरोचन जैसे शिष्योंको गृहके प्रति क्यों जाने दिया? पुनः उपदेश क्यों नहीं किया? यदि उपदेश ग्रहणकी योग्यता नहीं थी तो पुनः ब्रह्मचर्यादिक साधनोंमें क्यों प्रवृत्त नहीं किया? उपेक्षा क्यों करी?

समाधान। अपहतपाप्मत्वादिक आत्माके लक्षण श्रवणसे, और नेत्रादि

द्रष्टारूप आत्माकी प्रतिपादक **'य एषोऽक्षिणि'** इत्यादिक श्रुतिके श्रवणसे, उदशरावादिक दृष्टान्तरूप उपपत्तिसे संस्कृत तो ये दोनों हो हो गये हैं। यदि ये मेरे वचनको पुनः २ स्मरण करेंगे, तो प्रतिवन्ध क्षयसे अनन्तर स्वयं ही इनको आत्मविषयक विवेक हो जावेगा। और यदि ये आत्मज्ञानके योग्य होंगे तो स्वयं पुनः जिज्ञासु होकर मेरे पास आवेंगे। और यदि मैं इसवक्त इनको ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवाका उपदेश करुंगा तो इनको कष्ट होगा। जिज्ञासाके विना ब्रह्मचर्यादिक साधन भी ये न कर सकेंगे इत्यादि विचार करके कृतार्थमानी इन्द्र व विरोचनको जो प्रजापतिने उपेक्षा करी है सो उचित ही है।

परन्तु यह दोनों सम्राट् कदाचित् भोगोंमें आसक्त हो जावेंगे तो उक्त उपदेशका विस्मरण हो जावेगा। इस अभिप्रायसे कृपा पूर्वक पुनः प्रजापति तिनको जाते देखकर बोले—"यथार्थ आत्माका साक्षात्कार न करके छायापुरुष विषयक विद्याको लेकर ये इन्द्र और विरोचन जा रहे हैं। इस विद्याको इनमेंसे कोई भी (देव हो वा असुर हो) यदि ग्रहण करेंगे तो पराभवको प्राप्त होवेंगे" इति।

परन्तु इस उपदेशने भी इन्द्र व विरोचनके हृदयको स्पर्श नहीं किया। तिन दोनोंमेंसे विरोचनने यह निश्चय किया कि—"देहानुपाती होनेसे छायापुरुष आत्मा नहीं हो सकता है किन्तु छायाका मूल जो देह है यही आत्मा है।" अहा !! अब हमको प्रजापतिका आशय ठीक मालूम हुवा। इस प्रकार देहात्मनिश्चयसे सन्तुष्ट होकर असुरोंके पास आकर देहात्मवादका उपदेश करता भया।

और देवेन्द्र जो है सो किञ्चिद् विरल कल्मष होनेसे मार्गमें ही छायापुरुषमें देहानुविधायित्व व विकारित्वादि दोषोंको देखता हुवा, छायात्मामें भोग्य अर्थात् पुरुषार्थको न देखकर, समित्पाणि होकर प्रजापतिके पास पुनः वापिस आया। प्रजापतिके पुनरागमनका कारणको पूछनेपर मार्गमें जो विकारित्वादि दोष छायात्मामें देखे थे तिनको कहता भया।

प्रजापति बोले—हे इन्द्र ! 'तेरा कल्मष अभी क्षीण नहीं हुवा है पुनः बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य कर, **'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'** इसी आत्माका ही उपदेश तुमको मैं पुनः करुंगा।

इन्द्र इस वचनको श्रवण करके वत्तीस वर्ष पर्यन्त पुनः प्रजापतिके पास ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया। इसके अनन्तर—

प्रजापति पुनः तिस ही अपहतपाप्मत्वादि लक्षणवाले जाग्रत् द्रष्टाका परामर्श करके उपदेश करने लगे—**'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति।**

अर्थ—जो अपहतपाप्मत्वादि स्वरूप आत्मा प्रथम हमने तुमको कहा है और जो 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि लक्षण करके जाग्रत्का साक्षीरूपसे वर्णन किया है सो यही आत्मा स्वप्नमें वनितादि-

कोंके साथ नाना प्रकारके भोगोंको भोगता (प्रकाशता) है, यही आत्मा अमृत अभय ब्रह्मरूप है इति।

इस उपदेशको श्रवण करके इन्द्र शान्त हृदय होकर अपने गृहके प्रति आगमन करता भया। परन्तु मार्गमें ही स्वप्नमें विचरनेवाले स्थूलभावको प्राप्त और साभास वासनामय स्वप्नके शरीरको आत्मा समझकर; तिसमें भी दुःखित्वादिक नाना प्रकारके दोषोंको देखकर; पुनः प्रजापतिके पास इन्द्र आया। प्रजापतिके पूछनेपर कहने लगा—हे भगवन्! यद्यपि यह स्वप्नमें महिमाको अनुभव करनेवाला आत्मा छायापुरुषकी तरह जाग्रत् देहके धर्मोंसे धर्मवान् नहीं होता है। तथापि स्वप्नमें शोकभयादिक विविध बाधाका अनुभव करते हुये की तरह प्रतीत होता है। अतः इस आत्मामें भी मैं कुछ भोग्य (पुरुषार्थ) नहीं देखता हूं।

इस वचनको श्रवण करके प्रजापति कहने लगे—'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'। अर्थात् हे मघवन्! 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादिसे जिस आत्माको पापादिरहित रूपसे मैंने कहा है। और 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादिसे जिसको नेत्रादि जन्य ज्ञानरूप जाग्रत्के द्रष्टारूपसे कहा है। और 'य एष स्वप्ने' इत्यादिकसे जिसको स्वप्नके द्रष्टारूपसे कहा है। इसी आत्माको तुम्हारे प्रति मैं पुनः उपदेश करुंगा, पुनः और बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करो।

इस प्रजापतिके वचनको श्रवण करके पुनः ब्रह्मचर्यको इन्द्र करता भया। बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यके अनन्तर प्रजापति पुनः उपदेश करने लगे—'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा'। अर्थ—जो आत्मा अपहतपाप्मादिरूपसे दिखाया है और जो जाग्रत् व स्वप्नका साक्षी है। और जिसमें स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च विलय होनेसे समस्त एकीभूत होता है। सो यही आत्मा विषय इन्द्रियके संयोगविरह दशामें जाग्रत् व स्वप्नरूप विक्षेपके न रहनेसे विक्षेपरूप स्वप्नको नहीं देखता है। किन्तु प्रसन्न हुवा सुषुप्तिका साक्षी है यही आत्मा है इति।

यहां 'एतं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस प्रकार तिसी आत्माका पुनः २ परामर्श करके तत्तत् अवस्थाको प्राप्त जीवके स्वरूपका प्रजापतिने उपदेश किया है। और इसी आत्माके अपहतपाप्मत्वादि रूपको दिखाया है। पुनः इसी आत्माको 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' इस मन्त्रसे पुनः पुनः प्रजापतिने अमृत अभय ब्रह्मरूप दिखाया है।

परन्तु इस उपदेशको प्राप्त हो करके भी इन्द्र सन्तुष्ट नहीं हुवा; और अपने गृहके प्रति जाते हुये मार्गमें ही इस आत्मामें भी दोषोंको विचार करके पुनः वापिस आकर प्रजापतिसे कहने लगा—'नाहं खल्वयमेवं' इत्यादि। अर्थात् हे भगवन्! जैसे जाग्रत्में व स्वप्नमें यह आत्मा अपनेको व अन्य पदार्थोंको जानता है। तैसे सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुवा यह आत्मा 'अहं' इस प्रकार न अपनेको

जानता है; न किसी अन्य वस्तुको जानता है; किन्तु विनष्टकी तरह हो जाता है। इसमें भी मैं कुछ भोग्यको नहीं देखता हूं।

इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें दोषोंको देखकर जब इन्द्रने प्रजापतिसे कहा तब प्रजापति कहने लगे हे मघवन्! अभीतक भी तेरा अच्छी तरह कल्मष क्षीण नहीं हुवा है। अतः तू पाञ्च वर्ष और ब्रह्मचर्य कर—**'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'** इसी आत्माको मैं फिर तेरेको उपदेश करुंगा-ऐसा उपक्रम करके कहा—**'नो एवान्यत्रैतस्मात्'** इत्यादि। जो आत्मा पाप्मादि रहित है, जो नेत्रादिजन्य जाग्रत्का द्रष्टा है, जो स्वप्नका द्रष्टा है, और जो सुषुप्तिका द्रष्टा है, इसी आत्माका तुमको पुनः मैं उपदेश करुंगा। इस जाग्रदादिक द्रष्टासे अन्यका उपदेश नहीं करुंगा।

इस ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार इन्द्रने पाञ्च वर्ष और ब्रह्मचर्य किया। सर्व मिल करके एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य करते बीत गये। यह वार्ता शिष्टोंमें प्रसिद्ध है कि—"एक सौ एक वर्ष पर्यन्त मघवान्ने प्रजापतिके समीपमें ब्रह्मचर्य किया है" इति।

ब्रह्मचर्य समाप्तिके अनन्तर प्रजापति इन्द्रके प्रति पुनः उपदेश करने लगे—**'मघवन्! मर्त्यं वा इदं शरीरम्'** इत्यादि। अर्थात् हे मघवन्! जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति व स्थूल सूक्ष्म कारण यह समष्टि व्यष्टि सर्व शरीर विनाशी व तुच्छ हैं इत्यादि। इस प्रकार शरीरकी निन्दा करके पश्चात् प्रजापतिने **'अथ य एष संप्रसादो'** इत्यादिसे जो शुद्ध स्वरूप है तिस स्वयं ज्योति तुरीयरूप उत्तम पुरुष-पर ब्रह्मका उपदेश किया है। और कहा कि–जो जीव इस शरीरसे पृथक् होकर ब्रह्मस्वरूप प्रत्यग् आत्माका साक्षात्कार करके परमात्मास्वरूप ज्योतिको प्राप्त होता है सो उत्तम पुरुष है।

इस प्रजापतिके उपदेशका यह अभिप्राय है—जो कुछ आगमापायी सुख-दुःखादिक हैं सो सर्व ही शरीर इन्द्रिय व अन्तःकरण सम्बन्धी हैं; आत्माके सम्बन्धी नहीं हैं। परन्तु आत्मा अनादि अविद्यावासनावशसे देह इन्द्रियादिकोंमें तादात्म्याभिमान करके देहादिके तापसे तप्त होता है। और जिस समयमें यह जीवात्मा देह इन्द्रियादिकोंसे विविक्त अपहतपाप्मत्वादि लक्षण उदासीन असङ्ग परब्रह्म स्वरूप आत्माका अनुभव करता है। तिस समयमें मिथ्या देहादि सहित हुवा भी वस्तुत देहादि रहित होनेसे देहादिगत हर्षशोकादि प्रसङ्गरहित हुवा देहादिके तापसे तप्त नहीं होता है। किन्तु केवल चैतन्य आनन्दघन स्वरूपमें व्यवस्थित हुवा समस्त लोकोंको व कामोंको प्राप्त होता है। अर्थात् सम्पूर्ण सुखको प्राप्त होता है। क्योंकि यह परमानन्द स्वरूप आत्मा ही सर्व सुखरूप है। और दुःखको अविद्यानिर्मित होनेसे अविद्यारहित विद्वान्में सम्भव बने नहीं।

तथाच इस प्रकार उपाख्यानके व्यवस्थित होनेसे यह प्रतीत होता है कि— दहरवाक्यसे उत्तर ग्रन्थगत 'य एषोऽक्षिणि' इस प्रथम पर्य्यायमें, और 'य एष स्वप्ने' इस द्वितीय पर्य्यायमें, और 'तद्यत्रैतत्सुप्तः' इस तृतीय पर्य्यायमें, और 'अथ य एष सम्प्रसादो' इस चतुर्थ पर्य्यायमें अपहतपाप्मत्वादि लक्षण जीवात्माका ही श्रुतिने उपदेश किया है। क्योंकि पर ब्रह्मका अक्षिस्थान नहीं बन सकता है। और स्वप्नादि अवस्थाका सम्बन्ध भी पर ब्रह्ममें नहीं बन सकता है। और शरीरसे समुत्थान भी पर ब्रह्मका अयुक्त है। तथा च जिसकी अक्षिमें स्थिति, व स्वप्नादि अवस्था बन सकती हैं सोई अपहतपाप्मा श्रुति करके प्रतिपाद्य होगा। और जीवमें नेत्रादि सर्वका सम्भव है। अतः जीव ही अपहतपाप्मा श्रुति करके उक्त है पर ब्रह्म नहीं ऐसा निश्चय होता है।

शंका। जीवमें अपहतपाप्मत्वादि लक्षण नहीं बन सकता है; यह हम पूर्व कह आये हैं?

समाधान! प्रजापतिके यावत् प्रकरणको जीव परक होनेसे तदन्तरगत— 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाणके बलसे अपहतपाप्मत्वादि भी बन जावेगा, श्रुति क्या नहीं कर सकती है; श्रुतिको इसमें क्या भार है?

शंका। जीवको अपहतपाप्मादि लक्षण नहीं मान सकते हैं, क्योंकि श्रुत्यन्तरका विरोध होगा।

समाधान। मानान्तर विरोध नहीं हो सकता है, क्योंकि पाप्मादिक जीवमें स्वाभाविक नहीं हैं। किन्तु देह इन्द्रियादिके सम्बन्धकी भ्रान्ति प्रयुक्त हैं। जैसे वह्निप्रयुक्त धुमका वह्निके अभावसे अभाव होता है। तैसे शरीरादिक भ्रान्तिके अभावसे जीवमें पाप्मादिका अभाव सिद्ध होता है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्माने जीवको ही वर्णन किया है। अतः प्रजापतिके वाक्यसे परमेश्वरके जो अपहतपाप्मत्व, अमृतत्व, अभयत्वादिक धर्म हैं तिनोंका जीवमें सम्भव हो सकता है। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस वाक्यमें दहर शब्द करके जीवका ही कथन किया है ब्रह्मका नहीं?

समाधान। इस प्रकार यदि कोई वादी शंका करे तो तिसके प्रति सिद्धान्तीको कहना चाहिये कि—**'आविर्भूतस्वरूपस्तु'**। यह सूत्रमें जो 'तु' शब्द है सो 'उत्तराच्चेत्' इस पूर्वपक्षका निषेध करता है। अर्थात् प्रजापतिके उपदेशरूप उत्तर वाक्यसे भी जीवविषयक शंका नहीं बन सकती है। क्योंकि प्रजापतिके वाक्यमें भी आविर्भूतस्वरूप जीवकी ही विवक्षा है। अर्थात् जाग्रत् आदिक अवस्थात्रयसे शोधन करके 'आविर्भूत' कहिये अभिव्यक्त हुवा है 'स्वरूप' कहिये निज प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म स्वरूप जिस जीवका तिस जीवका नाम आविर्भूतस्वरूप है। ऐसा शुद्ध ब्रह्मरूप जीव ही तहां विवक्षित है। यहां पर यह अभिसन्धि है—पूर्वापर आलोचन करनेसे सम्पूर्ण उपनिषदोंका "शुद्ध बुद्ध मुक्त एक अद्वितीय प्रपञ्चशून्य परब्रह्म है,

और ब्रह्मसे अतिरिक्त जो कुछ भासता है सो सर्व रज्जुमें सर्पकी तरह ब्रह्मका विवर्त है" इस अर्थमें ही तात्पर्य निश्चित होता है। तथाच जीव भी अविद्याकल्पित देह इन्द्रियादि उपहित ब्रह्म ही का नाम है। अविद्यारहित शुद्ध बुद्ध ब्रह्मका नाम जीव नहीं है। एवं च अविद्याउपहित ब्रह्ममें तो अपहतपाप्मत्वादिका सम्भव बनता नहीं, किन्तु आविर्भूतस्वरूप निरूपाधिक ब्रह्ममें इनका सम्भव होता है; सो निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप ब्रह्म ही है जीव नहीं। तथाच अपहतपाप्मा विजर विमृत्युरूप करके ब्रह्म ही प्रजापतिके प्रकरणमें श्रुतिसे प्रतिपादित है, ब्रह्म ही दहराकाश है, जीव नहीं इति।

शंका। इस पूर्वोक्त रीतिसे महावाक्यजन्य ज्ञानका विषय शोधित आविर्भूतस्वरूप निरुपाधिक चिदात्मा यदि ब्रह्म ही है जीव नहीं है तो "आविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते" यह भाष्य वचन विरुद्ध होगा क्योंकि ज्ञानदशा (आविर्भूत स्वरूप)में जीवत्व है नहीं ?

समाधान। भूतपूर्व गति करके यह जीववचन है। अर्थात् तत्त्वज्ञानसे प्रथम ब्रह्मविषे अविद्या तत्कार्य अन्तःकरण प्रतिविम्बितत्वरूप जीवत्व था। इस हेतुसे ज्ञानके अनन्तर ब्रह्म स्वरूप भी आत्मा जीव कहा जाता है इति।

अब विश्व, तैजस, प्राज्ञ व तुरीयके प्रतिपादक पर्याय चतुष्टयरूप प्रजापतिके वाक्यके तात्पर्यको दिखाते हैं—'एतदुक्तं भवति' इत्यादि भा०। अर्थात् जब 'य एषोऽक्षिणि' इस वाक्यसे अक्षिमें स्थित विश्वरूप द्रष्टाको प्रजापतिने इन्द्र व विरोचनके प्रति निर्देश किया। परन्तु इन्द्र विरोचन छायापुरुषको आत्मा समझे। तब "छायापुरुष आत्मा नहीं है; तथा जन्म नाशवाला होनेसे छायाकी तरह बिम्बरूप देह भी आत्मा नहीं है" इस अर्थको बोधन करनेके लिये इन्द्र व विरोचनके प्रति ब्रह्मा कहते भये—"हे इन्द्र विरोचन! 'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य' जलपूरीत शराव रूप मृन्मय पात्रमें आत्माको देखो। और जलमें आत्माको देख कर तुम्हारे समझमें जो न आवे सो हमारे प्रति कहो" इत्यादि उदशराव ब्राह्मणसे इन्द्रको शरीरात्मभावसे व्युत्थित * करके ब्रह्माजीने कहा कि—'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि।' अर्थ—हे इन्द्र! जिस अपहतपाप्मत्वादिक गुणविशिष्ट आत्माका जाग्रत् अवस्थामें अक्षिविषे द्रष्टारूप करके अर्थात् विश्वरूपसे उपदेश किया है उसी आत्माका स्वप्न तथा सुषुप्तिमें तैजस तथा प्राज्ञरूप करके उपदेश करूंगा इति। इस प्रकार ब्रह्माजीने पुनः तिसी व्याख्येयरूप आत्माको वारम्वार आक-

* टि०—जैसे उदशरावमें, इस शरीरके उत्पत्ति विनाश धर्मवाले प्रतिबिम्ब, अविनाशित्व अविकारित्वादिक आत्मलक्षणहीन होनेसे आत्मा नहीं हैं। इसी प्रकार उत्पत्तिविनाशवाले देह इन्द्रियादिक भी अविनाशित्वादि आत्मलक्षणहीन होनेसे आत्मा नहीं हैं। इस निश्चयका नाम शरीरात्मभावका बाध व शरीरात्मभावसे व्युत्थान है।

र्षण करके स्वप्न व सुषुप्तिमें तैजस व प्राज्ञरूपसे दिखाया है। और पुनः क्रमसे स्वप्न व सुषुप्तिका उपन्यास करके 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादि मन्त्रसे तुरीय अवस्थामें भी सर्व उपाधि शून्य परमात्मारूप परज्योतिका ही वर्णन किया है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे जीवका जो पारमार्थिक स्वरूप परब्रह्म है तिस पर ब्रह्मरूप करके ही इस जीवको प्रजापतिने कथन किया है। उपाधिकृत जीवत्वविशिष्टरूप करके जीवका उपदेश नहीं किया है।

और 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य' यह जो उपसम्पत्ति (प्राप्ति)के योग्य परज्योतिका श्रवण होता है। सो ज्योति ही परब्रह्म है। सोई सर्व पाप्मादिरहित है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्रसे सो ही जीवका वास्तव स्वरूप है। उपाधिकल्पित कर्ताभोक्ता जीवका स्वरूप नहीं है।

और अविद्याके विद्यमान हुये ही जीवमें जीवत्व रहता है तथा तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान करके अविद्याकी निवृत्ति हुये जीवत्वकी निवृत्ति हो जाती है इस अन्वयव्यतिरेक करके जीवत्वमें आविद्यकत्वको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—**'यावदेव हि'** इत्यादिना। जैसे जब पर्यन्त स्थाणुरूप अधिष्ठानका ज्ञान नहीं होता है तब पर्यन्त स्थाणुमें पुरुषबुद्धि रहती है; और जब स्थाणुरूप अधिष्ठानका ज्ञान हो जाता है तब पुरुषबुद्धि निवृत्त हो जाती है। तैसे ही कूटस्थ नित्य दृग् स्वरूप आत्माको 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्मसे अभिन्नरूप करके जब पर्यन्त द्वैतरूप अविद्याको निवृत्त करता हुवा यह जीव नहीं जानता है तब पर्यन्त जीवमें जीवत्व रहता है। और जिस कालमें देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदिक संघातसे पृथग् करके श्रुति व्युत्थापन करती है। अर्थात् "देहादिक संघात तू नहीं है, संसारी तू नहीं है, किन्तु तत्त्वमसि इति श्रुति प्रमाणसे सत् चैतन्य मात्र आत्मा स्वरूप ही तू है"। इस प्रकारसे श्रुति बोधन करती है। तिसकालमें कूटस्थ नित्य दृग् स्वरूप आत्माको जानकर इस शरीरादिकोंमें आत्मत्वाभिमानको व ममताको त्याग करता हुवा सोई जीव कूटस्थ नित्य दृग् स्वयंज्योतिः स्वरूप आत्मा होता है। और सो यह जीव परमात्मा स्वरूप ही है। क्योंकि 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि शास्त्र प्रमाणसे ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष ब्रह्मरूप ही होता है। और जीवमें संसारित्वको कल्पित होनेसे इस जीवका, 'शरीरात्समुत्थाय' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य जो परमात्मा स्वरूप स्वयं ज्योति आत्मा है, जिसको प्राप्त होकर यह जीव स्वस्वरूप करके अभिनिष्पन्न होता है, सो ही पारमार्थिक स्वरूप है इति।

और अब 'समुत्थाय' तथा 'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते' इस श्रुतिका व्याख्यान करनेके लिये प्रथम पूर्वपक्षीके आक्षेपको दिखाते हैं—

शंका। 'कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य' इति भा०। अर्थ—नित्य कूटस्थरूप साक्षीका जो स्वरूप है तिसकी

अपने करके ही किस प्रकार 'अभिनिष्पत्ति' होगी । अर्थात् किस प्रकार आविर्भावरूप अभिव्यक्ति होगी किन्तु नहीं होगी इति। क्योंकि जैसे मलादिरूप द्रव्यान्तरके सम्बन्धसे अनभिव्यक्त है स्वरूप जिनोंका तथा अनभिव्यक्त है भास्वरत्व (स्वच्छत्व) रूप असाधारण धर्म जिनोंका ऐसे जो सुवर्णादिक पदार्थ हैं तिन सुवर्णादिक पदार्थोंकी, क्षार प्रक्षेपादिकों करके शोधनसे अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् मलके सङ्गवाले पदार्थोंकी, क्रिया करके मलका नाश होनेसे अभिव्यक्ति होती है। तथा जैसे सूर्यके प्रकाश करके दिनमें अभिभूत हो गया है प्रकाश जिनोंका ऐसे जो नक्षत्रादिक हैं तिनोंकी, अभिभावक प्रकाशके अभाव हुये रात्रिमें स्वरूप करके अभिव्यक्ति होती है। तैसे कूटस्थ नित्य दृक् चैतन्य स्वयं ज्योतिः स्वरूप आत्माका कोई अभिभावक है नहीं, अत आत्माके अभिभवका सम्भव बने नहीं। और आत्माको आकाशकी तरह असंग होनेसे मलका सम्बन्ध भी बने नहीं।

यदि अभिभावक मानोगे तो 'दृष्टविरोध भी होगा'। अब इस अर्थको दिखाते हैं—'दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ— 'विज्ञानघन एव' इस श्रुति करके चैतन्यमात्रका नाम आत्मा है। और चक्षु आदिक इन्द्रियजन्य पदार्थाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त जो चैतन्य है सोई चैतन्य दृष्टि श्रुति मति आदिक पदका वाच्य स्वरूप हुवा व्यवहारका अङ्ग है। यह जो दृष्टि श्रुति मति आदिक जीवका स्वरूप है सो शरीरसे असमुत्थित अर्थात् देहभावापन्न अज्ञ जीवका भी सदा सिद्ध ही दीखता है। क्योंकि सम्पूर्ण जीव देखता हुवा, श्रवण करता हुवा, मनन करता हुवा, विशेष ज्ञानवान् हुवा व्यवहार करता है। अतः अज्ञानीका भी चैतन्यस्वरूप वृत्तियोंमें अभिव्यक्त अवश्य होता है। यदि जीवके स्वरूपका अभिभव मानोगे तो व्यवहारका कारण अभिव्यक्त चैतन्यका अभाव होनेसे प्रत्यक्ष दृष्ट व्यवहारका अभाव होवेगा इति।

किञ्च यदि शरीरादिकोंसे समुत्थित अर्थात् अनवच्छिन्न परज्योतिः स्वरूप आत्माको जाननेवाले ज्ञानीका ही स्वरूप वृत्तियोंमें अभिव्यक्त होता है अज्ञानीका नहीं, तो ज्ञानसे प्रथम दृष्ट जो व्यवहार है सो विरुद्ध होवेगा। अतः 'जीवका स्वरूप सदा ही अभिव्यक्त है' ऐसा मानना पड़ेगा। यदि ऐसा मानोगे तो शरीरसे 'समुत्थान'का क्या स्वरूप है? तथा स्वरूप करके 'अभिनिष्पत्ति'का क्या स्वरूप है?

समाधान। वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यरूप जो आत्मा है सो यद्यपि सदा असङ्ग है तथापि तिस असङ्ग आत्मामें अविद्या करके किया हुवा जो मलरूप देहादिकोंका अविवेकरूप सङ्ग है तिस सङ्गको विद्यमान होनेसे विवेककी अपेक्षा करके समुत्थानादिकोंका श्रवण होता है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् विवेकविज्ञानकी उत्पत्तिसे प्रथम देह इन्द्रिय मन बुद्धि विषय वेदना हर्ष शोकादिरूप उपाधि करके जीवका जो दृष्टि आदिक ज्योतिः स्वरूप है सो अविविक्तकी तरह प्रतीत होता है। जैसे शुद्ध स्फटिकका स्वच्छत्व शुक्लत्व स्वरूप जो है सो विवेकज्ञानसे प्रथम रक्तनीलादिक उपाधि करके अवि-

विक्तकी तरह प्रतीत होता है। और प्रमाणजन्य विवेकज्ञानसे अनन्तर "रक्तनीलादिक उपाधि सहित जो स्फटिक था सो ही यह अपने शुक्ल स्वरूप करके अभिव्यक्त हुवा है तथा प्रथम भी यह स्फटिक स्वच्छ शुक्ल ही था" इस प्रकार कहा जाता है। तैसे ही देहादिक उपाधि करके अविविक्त जीवका जो 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योंतिः पुरुषः' इत्यादिक श्रुति करके सिद्ध, प्राणादिकोंसे भिन्न, 'त्वं' पदके लक्ष्यार्थका ज्ञान है सोई 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुति करके उक्त 'समुत्थान' है। और त्वं पदार्थके ज्ञानका 'ब्रह्मैवाहमस्मि' 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकार महावाक्यार्थविषयक साक्षात्काररूप जो फल (केवल आत्मस्वरूपकी अवगति) है सोई 'स्वरूपेण अभिनिष्पत्ति' है इति।

और अभिनिष्पत्ति नामक केवल आत्मस्वरूपविषयक-'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्तिरूप जो साक्षात्कार है। सो भी निखिल प्रपञ्चजालको प्रविलय करता हुवा स्वयं भी कतकरजकी तरह अथवा अतितप्त उपलमें प्रक्षिप्त जलविन्दुकी तरह विवेक ध्यानाभ्यास प्रकर्ष करके प्रतप्त चित्स्वरूपमें ही प्रलीन हो जाता है। तदनन्तर निखिल प्रपञ्चजालसे रहित त्रैकालाबाध्य स्वयं ज्योतिः स्वस्वरूप मात्रकी अभिव्यक्ति होती है। यही परंज्योतिकी उपसम्पत्ति है। यहां अभिनिष्पत्तिसे उपसम्पत्तिको उत्तरकालीन होने पर भी 'उपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' यह जो क्त्वाका प्रयोग है सो 'मुखं व्यादाय स्वपिति' की तरह गौण है।

शंका। सशरीरत्वको सत्य होनेसे शरीरसे उत्क्रान्ति (मरण) स्वरूप ही समुत्थान है, विवेकविज्ञान नहीं?

समाधान। 'तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च' इति भा०। अर्थ—जीवमें विवेक करके अशरीरत्व है, तथा अविवेक करके सशरीरत्व है इति। तहां श्रुति—**'अशरीरं शरीरेषु'**। अर्थ—समष्टि व्यष्टि सर्व अनवस्थित शरीरोंमें अशरीररूप जीव व्यवस्थित है इति। इस मन्त्रवर्णसे यह सिद्ध हुवा कि—जीवमें जो सशरीरत्व है सो अविवेक मात्र करके कल्पित है। अतः विवेकविज्ञान ही 'समुत्थान' है; उत्क्रान्ति नहीं इति।

शंका। स्वकर्म करके अर्जित शरीरमें भोगको अपरिहार्य होनेसे जीवत् दशामें ही स्वरूपका आविर्भाव किस प्रकार होगा?

समाधान। 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इति। इस स्मृतिसे अशरीर शुद्ध ब्रह्मकी तरह सशरीर जीव भी न कर्मको करता है, न कर्मफलके साथ लेपायमान होता है। अर्थात् अशरीर ब्रह्मकी तरह शरीरमें स्थित जीवमें भी वस्तुतः कर्तृत्वादिरूप विशेषका अभाव तुल्य है। वस्तुतः जीवमें इस प्रकारका कर्तृत्व भोक्तृत्वरूप बन्धके अभावका स्मरण होनेसे जीवत् अवस्थामें ही स्वरूपका आविर्भावरूप जो मुक्ति कही है सो युक्त ही है। अतः विवेकविज्ञानका अभाव

होनेसे अनाविर्भूत स्वरूप हुवा जीव विवेकविज्ञानसे आविर्भूतस्वरूप कहा जाता है। अर्थात् स्वरूपका आविर्भाव तथा अनाविर्भाव सत्य नहीं है, किन्तु विवेकाविवेकृत कल्पित है। शुद्ध असङ्ग अद्वितीय आत्मामें अन्य प्रकारका आविर्भाव तिरोभाव नहीं बन सकता है। क्योंकि चिदात्माको ही जीवका स्वरूप होनेसे अपना स्वरूप नित्य सिद्ध है इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञान तथा अज्ञान करके आविर्भाव तिरोभावके सिद्ध हुये जीव तथा परमेश्वरका जो अंश अंशीभाव करके भेदको कोई मानते हैं। सो भेद भी निवृत्त हो गया। इस अर्थको दिखाते हैं—**'एवम्'** इत्यादि भाष्यम्। जीव तथा परमेश्वरका जो भेद है सो मिथ्या अज्ञानकृत है वस्तुकृत नहीं। क्योंकि जैसे अंशादिकों करके शून्यत्वरूप असङ्गत्व आकाशमें है, तैसे ही आत्मामें भी असङ्गत्व है। अतः आत्मामें अंशादिकवस्तुकृत भेद नहीं बन सकता है। अर्थात्—**आत्मा, द्रव्यत्वव्याप्यजातिशून्यः, विभुत्वात्, व्योमवत्।** जैसे व्योमरूप दृष्टान्तमें विभुत्वरूप हेतु है और द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्वादिक जातिका अभावरूप साध्य है। तैसे आत्मारूप पक्षमें भी विभुत्वरूप हेतु है, अतः द्रव्यत्व व्याप्य जातिका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके आत्मामें एकत्वकी सिद्धि होनेसे जीवईश्वरका भेद मिथ्या है इति।

शंका। और किस हेतुसे जीवईशादि भेदमें सत्यत्व नहीं है?

समाधान। प्रजापतिके वाक्यसे भी भेदमें मिथ्यात्व होनेसे सत्यत्व नहीं बन सकता है। इस अर्थको दिखाते हैं—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि। इस श्रुतिवाक्यसे प्रजापतिने अक्षिस्थ पुरुषका उपदेश करके आगे—'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' 'यह अक्षिमें स्थित जो पुरुष है सो अमृत अभय ब्रह्मरूप है' ऐसा उपदेश किया है। तथा च जो अक्षिमें स्थित पुरुष द्रष्टारूप करके प्रतीत होता है सो यदि अमृत अभयरूप ब्रह्मसे भिन्न होवे तो "जो अक्षिस्थ द्रष्टा पुरुष है सो अमृत अभय ब्रह्मरूप है" इस प्रकारसे अभेदका बोधक सामानाधिकरण्यकी अनुपपत्ति होगी। अतः इस अनुपपत्तिकी निवृत्तिके लिये "अक्षिस्थ पुरुष तथा अमृत अभयरूप ब्रह्म एक है" ऐसा ही मानना पड़ेगा इति।

शंका। "अक्षि करके उपलक्षित जो प्रतिबिम्बरूप छाया है, तिसमें ब्रह्मदृष्टि करनी" इस अर्थको बोधन करने वाला 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' यह वाक्य है, अभेद बोधन परक नहीं है।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है। क्योंकि "जिस आत्माके ज्ञानसे कृतकृत्यता तथा सर्व कामोंकी प्राप्ति होती है, तिस आत्माको हम जानें" इस विचार करके प्रवृत्त जो इन्द्र व विरोचन हैं तिनोंके प्रति यदि ब्रह्मा अपहतपाप्मत्वादिक गुण विशिष्ट आत्माके उपदेशकी प्रतिज्ञा करके अनात्मारूप छायाके

निर्देशको करेगा तो ब्रह्मामें मिथ्यावादित्वका प्रसंग होगा। अतः "ब्रह्माने पूर्वोक्त अपहतपाप्मत्वादि गुणविशिष्ट आत्माका ही अक्षिमें स्थित द्रष्टारूप करके उपदेश किया है" ऐसा निश्चय होता है। और द्वितीय पर्यायमें भी 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति' इस मन्त्रसे प्रथम पर्याय करके निर्दिष्ट जो अक्षिमें स्थित द्रष्टा पुरुष है; तिस पुरुषरूप आत्माका ही कथन किया है द्रष्टारूप पुरुषसे भिन्नका नहीं। क्योंकि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस वचन करके ब्रह्माने इन्द्रके प्रति प्रथम उपक्रममें कहा है कि—हे इन्द्र ! पूर्वोक्त अक्षिमें स्थित द्रष्टारूप पुरुषका ही पुनः मैं तुमको उपदेश करुंगा इति।

किंच जाग्रत् आदिक अवस्थाका भेद हुये भी 'आत्मा सर्व अवस्थावोंमें अनुगत एक ही है' इस अर्थमें युक्तिको दिखाते हैं—'किं च' इत्यादि भा०। "आज मैंने स्वप्न अवस्थामें हस्तिको देखा था, अभी जाग्रत् अवस्थामें तिस हस्तिको नहीं देखता हूं"—इस प्रकार स्वप्नसे जागा हुवा पुरुष स्वप्नमें दृष्ट अर्थका ही निषेध करता है द्रष्टाका नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्था भिन्न भिन्न है, और स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थामें द्रष्टारूप आत्मा एक ही है। और जो स्वप्नका द्रष्टा है तिसकी ही जाग्रत् अवस्थामें सर्वको प्रत्यभिज्ञा भी होती है—जो मैं स्वप्नको देखता भया सोई मैं जाग्रत्को देखता हूं इति।

शंका। तृतीय पर्यायमें ब्रह्माके प्रति इन्द्रने कहा था कि—'नाह खल्वयमेवं सम्प्रति' इत्यादि। अर्थात् सुषुप्ति अवस्थामें यह जीव अपने आत्माको नहीं जानता है कि—'मैं देवदत्त हूं'; तथा आकाशादिक भूतोंको भी नहीं जानता है कि—'ये आकाशादिक हैं'; तथा 'मैं इसमें कुछ फलरूप भोग्यको नहीं देखता हूं' इत्यादि। तथा च इस इन्द्रके वचनसे सुषुप्ति अवस्थामें विज्ञाताका अभाव सिद्ध होता है।

समाधान। यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि तृतीय पर्यायमें भी 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रति' यह इन्द्रका वचन सुषुप्ति अवस्थामें विज्ञातारूप आत्माके अभावको नहीं बोधन करता है; किन्तु 'यह घट है' 'यह पट है' इस प्रकारका जो विशेषविज्ञान है तिस विशेषविज्ञानके अभावको ही बोधन करता है।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि—'सुषुप्ति अवस्थामें आत्मा विनाशको प्राप्त होता है' सो कहना भी असङ्गत है, क्योंकि 'विनाशमेवापीतो भवति' यह वचन भी विज्ञाताके विनाशको नहीं कहता है। किन्तु विशेषविज्ञानके विनाशको ही कहता है। अथवा विशेषविज्ञानके अभाव होनेसे 'विज्ञाता भी नष्टकी तरह प्रतीत होता है' इस अर्थको कहता है। विज्ञाताके विनाशका अभिप्रायवाला उक्त वचन नहीं है। अन्यथा श्रुत्यन्तरका विरोध होगा। तहां बृहदारण्यक श्रुति—'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'। अर्थ—विज्ञाता जो आत्मा है

तिसकी स्वरूपभूत जो विज्ञाति है तिसका नाश नहीं होता है, क्योंकि आत्मा अविनाशी है इति। 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इत्यादि।

शंका। चतुर्थ पर्यायमें हम कह आये हैं कि—"जो जीव शरीरसे पृथग् होकर स्वस्वरूपको प्राप्त होता है सो उत्तम पुरुष है" अतः अपहतपाप्मत्वादिक जो परमात्माके धर्म हैं तिन धर्मों करके सहित हुवा जीव ही दहराकाश है परमात्मा नहीं?

समाधान। यह भी वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि चतुर्थ पर्यायमें 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्'। इस प्रकार उपक्रम करके, आगे ब्रह्माजीने 'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्' 'हे इन्द्र! यह शरीर मृत्यु करके ग्रस्त है' इत्यादिक वचनों करके विस्तारसे शरीरादिक उपाधि सम्बन्धको खण्डन करके; पूर्व श्रुतिमें 'सम्प्रसाद' शब्द करके कथित जो जीव है तिस जीवमें 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस उत्तर श्रुतिसे ब्रह्मस्वरूपापन्नत्वको दिखाते हुये 'अमृत अभयरूप पर ब्रह्मसे भिन्न जीव नहीं है' इस अर्थको ही इन्द्रके प्रति दिखाया है। अतः परमात्मा ही दहराकाश है जीव नहीं यह सिद्ध हुवा इति।

अब एकदेशीकी व्याख्याको दूषित करनेके लिये प्रथम एकदेशीके मतको दिखाते हैं—'केचित्तु' इत्यादि भा०। कोई इस प्रकार कहते हैं कि—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इस उपक्रमवाक्यमें परमेश्वरका प्रतिपादन है। और 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि करके प्रथम पर्यायमें, अक्षिमें स्थित जीवका प्रतिपादन है अथवा छायापुरुषका प्रतिपादन है। और 'य एष स्वप्ने' इत्यादि करके द्वितीय पर्यायमें, और 'तद्यत्रैतत्सुप्तः' इत्यादि करके तृतीय पर्यायमें भी तत्तदवस्थापन्न जीवका ही प्रतिपादन है। इस प्रकार तीनों पर्यायों करके जीवके स्वरूपको दिखाकर चतुर्थ पर्यायमें परमात्माकी विवक्षा है। तथाच 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नोएवाऽन्यत्रैतस्मात्' इस वाक्यगत 'एतत्' सर्वनाम करके जीवका ग्रहण नहीं करना। क्योंकि यद्यपि जीव अव्यवहित है तथापि जीव व परमात्माके भेदको सत्य होनेसे जीवका आकर्षण करना अन्याय्य है। किन्तु 'एतम्' कहिये 'य आत्मा' इत्यादि उपक्रमगत वाक्य करके सूचित अपहतपाप्मत्वादि लक्षण परमात्माको 'ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस प्रकारसे श्रुतिवाक्यमें योजना है इति।

यह एकदेशीका मत असङ्गत है क्योंकि एकदेशीके मतमें यदि 'एतं' यह शब्द परमात्माको बोधन करेगा तो 'एतं' यह जो सन्निहित अर्थात् अव्यवहित अर्थको बोधन करनेवाली सर्वनामश्रुति है सो विप्रकृष्ट हो जावेगी। अतः सन्निहित जीव ही 'एतं' इस चतुर्थ पर्यायगत सर्वनामका अर्थ है। और द्वितीय व तृतीय पर्यायगत "एतं" श्रुतिसे भी जीव ही ग्राह्य है।

किंच जाग्रत् पर्यायमें अभिहित जो अक्षिस्थ पुरुषरूप जीव है तिसका स्वप्न व सुषुप्ति पर्यायमें 'एतं' इस सर्वनाम शब्द करके अभिधानका अभाव होनेसे द्वितीय व तृतीय पर्यायगत 'भूयः' यह श्रुति भी उपरुद्ध हो जावेगी। अर्थात् उक्त अर्थकी पुनरुक्तिमें 'भूयः' इस शब्दका प्रयोग होता है अन्य अर्थमें नहीं। और तुम्हारे मतमें भेदादि जगत्को सत्य होनेसे जाग्रत्विशिष्ट जीवसे स्वप्नादि-विशिष्ट जीव भिन्न है । अतः जाग्रत् विशिष्ट जीवका स्वप्नमें अभिधान बने नहीं।

और उपक्रमका विषय जो परमात्मा है तिसका चतुर्थ पर्यायमें ही कथन किया है, प्रथम, द्वितीय व तृतीय पर्यायमें नहीं, अतः पर्यायान्तरमें अभिहितका पर्यायान्तर-में अभिधानके न होनेसे चतुर्थ पर्यायगत 'भूयः' यह श्रुति भी बाधित हो जावेगी।

किंच पुनः २ 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस वचन करके पूर्वोक्त पुरुषरूप द्रष्टाके उपदेशकी प्रतिज्ञा करके द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ पर्यायमें यदि अन्य अन्यका उपदेश ब्रह्मा करेंगे तो ब्रह्मामें प्रतारकत्व अर्थात् मिथ्यावादित्व प्राप्त होगा। अतः 'एतं' इस वचन करके जीवका ही अनुकर्षण समीचीन है परमात्माका नहीं इति।

अब सिद्धान्ती स्वमतको दिखाते हैं—'तस्मात्' इत्यादि भा०। अर्थ—'तस्मात्' कहिये पूर्वोक्त रीतिसे वादीके व्याख्यानको असम्भव होनेसे जैसे रज्जुका द्रष्टा कल्पित सर्पादिकोंका लय करके रज्जु आदिके स्वरूपको प्राप्त होता है। तैसे अविद्या करके प्रत्युप-स्थापित जो कर्तृत्व भोक्तृत्व राग द्वेष आदिक दोष हैं तिन करके कलुषित, तथा अनेक अनर्थके सम्बन्धवाले जीवका जो अपारमार्थिक जीवत्व स्वरूप है तिस जीवत्व स्वरूपका शोधनरूप विलय करके जीवस्वरूपसे विपरीत अर्थात् पारमार्थिक अपहतपाप्मत्वादिक लक्षणवाले परमात्माके स्वरूपको तत्त्वमस्यादि जन्य ब्रह्मविद्या करके यह अधिकारी विज्ञ पुरुष प्राप्त होता है इस अर्थको ब्रह्मा प्रतिपादन करते हैं इति।

और जो अपर वादी तथा कोई वेदान्त एकदेशी संसारको सत्य मानते हुये, तथा जीव परमात्माके एकत्वका प्रतिषेध करते हुये, जीवके स्वरूपमें जीव-त्वको पारमार्थिक कहते हैं। ब्रह्मात्मैकत्व विषयक सम्यग् दर्शनके विरोधी तिन सबके मतोंको प्रतिषेध करनेके लिये, और तिनोंके प्रतिबोधके लिये इस शारीरक शास्त्रका आरम्भ किया है। जैसे मायावी पुरुष अपनी माया करके अनेक रूपोंको धारण करता है। तैसे एक ही कूटस्थ नित्य विज्ञान स्वरूप जगदाधार परमेश्वर अपनी अविद्यारूप मायाशक्ति करके अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है। वस्तुतः विज्ञान स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। अर्थात् ब्रह्म ही अविद्या करके संसारको प्राप्त होता है, 'अतः ब्रह्मसे भिन्न जीव नहीं है' यह ही शारीरक शास्त्रका अर्थ है इति।

शंका। यदि जीव व ब्रह्मका भेद सत्य न होवे; और जीव कर्ता भोक्ता न होवे; और स्वर्गादि संसार सत्य नहीं होवे; तो तदाश्रित जो कर्म व उपासना-विधि हैं सो व्यर्थ हो जावेंगी। और 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिक प्रजा-

पतिके वाक्यमें जीवकी आशंका करके 'नासम्भवात्' यह जो सूत्रकारका वचन है सो भी असङ्गत हो जावेगा। क्योंकि यह वचन अपहतपाप्मत्वादिक जो ब्रह्मके गुण हैं तिनका जीवमें असम्भवको कहता है। यदि जीव व ब्रह्मका वस्तुत अभेद सत्य होवे तो ब्रह्मके अपहतपाप्मत्वादि गुणोंका जीवमें असम्भव कथन असङ्गत होवेगा। अतः कर्ता भोक्ता जीव व ब्रह्मका भेद सत्य है?

समाधान। 'तत्रायमभिप्रायः' इत्यादि भा०। यहां पर सूत्रकारका यह अभिप्राय है कि—"जैसे असङ्ग आकाशमें तल मलिनतादिक कल्पित हैं; तैसे नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला जो कूटस्थ नित्य एक अद्वितीय असङ्ग परमात्मा है; तिस परमात्मामें जो असङ्गत्वादिक धर्मोंसे विपरीत जीवत्व व कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक धर्म हैं सो कल्पित हैं। तिन कल्पित जीवत्वादिकोंको; आत्मामें एकत्वकी प्रतिपादक युक्तियोंके सहित जीव व ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों करके और 'नेति नेति' इत्यादिक द्वैतके निषेध करनेवाले श्रुतिवाक्यों करके हम दूर कर देवेंगे" इस विचारसे परमात्मामें असंसारित्वकी सिद्धिके लिये परमात्मामें जीव पदवाच्यसे भिन्नत्वको दृढ़ करते हैं। क्योंकि परमात्मामें असंसारित्वनिश्चयके विना परमात्मासे अभिन्नत्वको कहने पर भी जीवमें संसारित्वभ्रमकी निवृत्ति न बन सकेगी। और जैसे रज्जु सर्पका अधिष्ठान जो रज्जु है सो कल्पित सर्पसे भिन्न भी हैं, परन्तु कल्पित जो सर्प है सो रज्जुरूप अधिष्ठानसे पृथग् सत्तावाला नहीं है। तैसे देहत्रितयावच्छिन्न आभासरूप जीवका अधिष्ठान परमात्मा कल्पित जीवसे भिन्न भी है, परन्तु जीवमें परमात्मासे पृथग् सत्ताका अभाव होनेसे परमात्मासे भिन्नत्वके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है। किन्तु अविद्या करके कल्पित जो लोकप्रसिद्ध जीवका भेद है तिस भेदका 'द्वा सुपर्णा' 'नासम्भवात्' इत्यादिक शास्त्र व सूत्रकार अनुवाद करते हैं। क्योंकि पूर्वापर पर्यालोचन करनेसे सम्पूर्ण वेदान्तका "जीव अविद्याउपाधिकल्पित है, और एक अद्वितीय ही आत्मतत्त्व है" इसी अर्थमें ही तात्पर्य प्रतीत होता है। जैसे सत्य रज्जुके बन्धकत्वादिक धर्मोंका आरोपित सर्पमें सम्भव नहीं बन सकता है। और कल्पित सर्प रज्जुसे भिन्न भी नहीं है। इसी प्रकार सत्य ब्रह्मके अपहतपाप्मत्वादिक धर्मोंका कल्पित जीवमें सम्भव भी नहीं बन सकता है। और समारोपित जीव ब्रह्मसे भिन्न भी नहीं है। इस पूर्वोक्त रीतिसे कल्पित भेदके सिद्ध हुये स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्वादिकोंका अनुवाद करके प्रवृत्त हुई जो कर्मविधि हैं सो भी विरोधको नहीं प्राप्त होती हैं इस प्रकार आचार्य व्यास भगवान् मानते हैं इति।

वस्तुतः वेदान्त प्रतिपाद्य जो शास्त्रका अर्थ है सो आत्माका एकत्व ही है। अत एव ब्रह्माभिन्न आत्मतत्त्वको ही सूत्रकार—'**शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्**' '**आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च**' इत्यादि सूत्रों करके दिखाते हैं। इस कहनेसे सूत्रकारने इन अपने सूत्रोंमें अभेदको नहीं कहा है यह भ्रान्ति भी निवृत्त हो गई।

शंका। यदि अद्वैत ही शास्त्रका अर्थ है तो द्वैतकी अपेक्षा करके प्रवृत्त जो विधि हैं तिनोंका विरोध होवेगा।

समाधान। विद्वान् अविद्वान्के भेदसे हम कर्मविधिविरोधके परिहारका वर्णन **'अविद्यावत्पुरुषाश्रयत्वाच्छास्त्रस्य'** इत्यादि अध्यासभाष्यके व्याख्यानमें कर आये हैं। अर्थात् अद्वैतको नहीं जाननेवाला पुरुषोके लिये द्वैतसापेक्ष कर्मविधि हैं। और अद्वैतको जाननेवाले विज्ञ पुरुषोंके लिये नहीं हैं इति॥ १६॥

शंका। यदि प्रजापतिके वाक्यसन्दर्भमें शोक भयादिविशिष्ट जीवका अनुवाद करके ब्रह्मके ही अपहतपाप्मत्वादिक धर्मोंका कथन किया है। और जीवमें उक्त धर्मोंका असम्भव होनेसे जीव दहराकाश नहीं हो सकता है, किन्तु परमात्मा ही दहराकाश है। तो इस प्रकार सिद्धान्तीके कथनसे जीवका परामर्श व्यर्थ होवेगा। अर्थात् 'अथ य एष संप्रसादः' इत्यादिक दहरवाक्यशेषमें जो सम्प्रसादरूप जीवका परामर्श किया है सो जीवका परामर्श अनर्थक हो जावेगा। क्योंकि यहां दहरवाक्यमें तुम परमात्माका ही कथन मानते हो। और जब परमात्माका ही कथन हुवा तब वाक्यभेदरूप दोषकी प्राप्तिके भयसे यह परामर्श जीवकी उपासनाका उपदेश भी नहीं बन सकेगा। तथा दहराकाशको सम्प्रसादरूप जीवसे भिन्न होनेसे प्रकृत दहराकाशके स्वरूपविशेषका उपदेशरूप भी यह परामर्श नहीं बन सकेगा इति।

ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

अन्यार्थश्च परामर्शः॥ २०॥

अर्थ—१ अन्यार्थः, २ च, ३ परामर्शः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। यह पूर्वोक्त जो जीवका परामर्श है सो जीवके स्वरूपमें पर्यवसानवाला नहीं है, किन्तु परमात्माके स्वरूपमें ही पर्यवसानवाला है। अर्थात् परमात्माकी उपासनाके लिये ही जीवका परामर्श है जीवकी उपासनाके लिये नहीं है इति।

शंका। किस प्रकार परमात्माकी उपासनाके लिये जीवका परामर्श है?

समाधान। सम्प्रसाद शब्द करके कथित जो जीव है सो जाग्रत् व्यवहारमें देह इन्द्रियरूप पञ्जरका अध्यक्ष होकर तथा जाग्रत् पदार्थोंके अनुभव जन्य संस्काररूप वासनावों करके निर्मित स्वप्नपदार्थोंका अनुभव करके श्रान्त हुवा जो नाडीमें विचरनेवाला जीव है; सो शरणकी प्राप्तिकी इच्छा करता हुवा; स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरमें आत्मत्वाभिमानको त्याग करके; सुषुप्ति अवस्थामें 'आकाश' शब्द करके कथित जो ज्योतिः स्वरूप पर ब्रह्म है तिसको विशेषविज्ञानके त्यागपूर्वक प्राप्त होता है। इस सुषुप्ति अवस्थामें यह जीव जाग्रत् स्वप्नरूप विक्षेप रहित हुवा सम्यक् प्रसन्न होता है। अतः 'सम्प्रसाद' इस नामसे कहा जाता

है। पुनः जाग्रत् व स्वप्नजनक कर्मके उदय होनेसे जाग्रत् आदिका अनुभव करता है। इसी प्रकार अनादि कालसे यह जीव जाग्रत् स्वप्न व सुषुप्तिरूप संसारचक्रमें परिभ्रमण कर रहा है। जब अनेक जन्म परम्परा करके सञ्चित पुण्यपुञ्जका उदय होता है; तब सद्गुरुका समागम होता है। और सद्गुरुकी कृपापूर्वक तत्त्वमस्यादि वेदान्तका श्रवण मनन व निदिध्यासन करके 'तत्' व 'त्वम्' पदार्थके शोधन पूर्वक इस जीवको प्राप्त होनेको योग्य जो ज्योतिःस्वरूप परं ब्रह्म है तिस ब्रह्मको प्रत्यक् साक्षीरूप करके साक्षात्कार करता हुवा प्राप्त होता है। और "जो इसको प्राप्त होनेके योग्य पर ज्योतिःस्वरूप दहराकाश है और जिस रूपसे यह निष्पन्न होता है सो यही ब्रह्मरूप आत्मा अपहतपाप्मत्वादिक गुणवाला उपास्य है" इस अर्थको बोधन करनेके लिये यहां जीवका परामर्श है। अर्थात् उपाधिकल्पित जीवमें ब्रह्मभाव उपदेश करनेको योग्य है। और जीवके परामर्शसे विना ब्रह्मभावका उपदेश बन सकता नहीं। अतः तीनों अवस्थाओंमें जीवका परामर्श किया है। तथा "जीवभावका विलयरूप जो ब्रह्मभाव है सोई जीवका पारमार्थिक स्वरूप है" इस अर्थको दिखानेके लिये भी जीवका परामर्श किया है। इस प्रकार यह जीवका परामर्श परमेश्वरवादीके मतमें भी बन सकता है इति ॥ २० ॥

किञ्च:—

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

अर्थ—१ अल्पश्रुतेः, २ इति, ३ चेत्, ४ तत्, ५ उक्तम्। इस सूत्रमें पांच पद हैं।

प्रश्न—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस श्रुतिमें श्रूयमाण जो अल्पत्व है सो सर्वगत परमात्मामें नहीं बन सकता है। और अरके अग्रभाग करके उपमित जो जीव है तिसमें अल्पत्व बन सकता है। अतः जीव ही उपास्य है परमात्मा नहीं ? यह जो वादीने पूर्व कहा है तिसका परिहार कहना चाहिये।

उत्तर—इस शंकाका परिहार 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' इस सूत्र (१ । २ । ७) में हम कह आये हैं। तिस परिहारका ही यहां अनुसन्धान कर लेना। इस अर्थको 'तदुक्तम्' पदसे व्यास भगवान् सूचन करते हैं। अर्थात् अल्प हृदयादिक उपाधि करके सर्वगत परमात्मामें भी अल्पत्व बन सकता है। अतः परमात्मा ही यहां उपास्य है जीव नहीं इति।

किञ्च 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' यह श्रुति ही आकाशकी उपमा करके दहराकाशमें अल्पत्वका खण्डन कर चुकी है। इस हेतुसे भी दहराकाश जीव नहीं हो सकता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे दहरवाक्य तथा प्रजापतिवाक्य क्रमसे सगुण तथा निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित हैं यह सिद्ध हुवा इति ॥ २१ ॥

इति दहराधिकरणं समाप्तम् ॥

अब 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इत्यादिक वाक्यके अर्थका विचारके प्रसङ्गसे 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' इस वाक्य करके उक्त जो परंज्योतिष्ट्व है तिसका साधक—'न तत्र सूर्यो भाति' इत्यादिक वाक्यका विचार करते हैं:—

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

अर्थ—अनुकृतेः, २ तस्य, ३ च। इस अधिकरणसूत्रमें तीन पद हैं। 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्र करके सर्वका भासक परज्योतिः ब्रह्म ही प्रतिपादित है। क्योंकि 'अनुकृतेः' 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह अनुकृति ब्रह्मके परिग्रहसे ही घटती है। 'अनुकृति' नाम, अनुकरणका है। अर्थात् प्रसङ्गमें प्राज्ञरूप आत्माके भानसे पश्चात् जो सूर्यादिकोंका भान है तिसका नाम 'अनुकृति' है। और 'तस्य च' कहिये 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' यह सर्व भानका हेतुत्व भी ब्रह्मके परिग्रहसे ही घटता है इति।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्ड २। १०) इस प्रकार आर्थवण उपदेश करते हैं। अर्थ—यद्यपि आदित्य सर्वका प्रकाशक है तथापि तिस स्वात्मरूप ब्रह्ममें सो भी नहीं भासता है। अर्थात् तिस ब्रह्मको प्रकाश नहीं कर सकता है। किन्तु इस आत्मरूप ब्रह्मके प्रकाशसे प्रकाशित हुवा ही आदित्य जगत्को प्रकाशता है। और चन्द्रमा तथा तारागण भी तिस ब्रह्मको नहीं प्रकाश कर सकते हैं। तथा अतिज्योतिष्ट्वरूप करके जगत्प्रसिद्ध जो विद्युत् है सो भी तिस ब्रह्मको नहीं प्रकाश कर सकती है। जब सूर्यादिक भी तिस ब्रह्मको नहीं प्रकाश कर सकते हैं तब हमारे लोगोंकी दृष्टिका विषय जो यह अग्नि बिचारा है सो किस प्रकार तिस ब्रह्मको प्रकाश कर सकेगा अर्थात् नहीं कर सकेगा। और देदीप्यमान उक्त ब्रह्मस्वरूपके विद्यमान हुये ही सम्पूर्ण सूर्यादिक प्रकाशित होते हैं। अर्थात् जैसे वह्निके तापसे तप्त हुवा लोह अन्यको तपाता है। तैसे ही स्वप्रकाश ब्रह्मरूप आत्मप्रकाशसे प्रकाशित हुये ही आदित्यादिक अन्यको प्रकाशते हैं। स्वतन्त्र प्रकाशकत्व आदित्यादिकोंमें नहीं है इति। यह श्रुति इस अनुकृतिअधिकरणका विषयवाक्य है।

'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्रमें "तत्र" यह शब्द सप्तमी विभक्त्यन्त है। तहां सप्तमी विभक्तित्व सति सप्तमी तथा विषयसप्तमी इन दोनोंमें साधारण है। अतः संशय होता है। अर्थात् सतिसप्तमी स्वीकार करके "जैसे सूर्यके विद्यमान हुये चन्द्रादिकोंका भान नहीं होता है तैसे ही जिस वस्तुके विद्यमान हुये सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है" यह अर्थ स्वीकार करना? अथवा विषयसप्तमी स्वीकार करके "जिस वस्तु विषे सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है" यह अर्थ स्वीकार करना? यह प्रथम संशय है।

और जिसके भानके पीछे सर्वका भास सामान्य रूपसे होता है, और जिसकी

भासासे यह सर्व सूर्यादि जगत् विशेष रूपसे भासता है सो क्या तेजविशेष है? अथवा प्राज्ञरूप आत्मा है? ऐसा यहां द्वितीय **संशय** होता है इति।

अथ **पूर्वपक्ष**। जैसे पूर्व दहराधिकरणमें 'एष आत्मा' इस वाक्यशेषमें आत्मशब्दका श्रवण होनेसे आकाश शब्दकी जो भूताकाशमें रूढ़िशक्ति है तिसको त्याग किया है। अर्थात् आकाश शब्द करके भूताकाशको त्याग कर परमात्माका ग्रहण किया है। तैसे ही प्रसङ्गमें सति सप्तमी को स्वीकार करके इस विभक्तिके बलसे 'न तत्र सूर्यो भाति' यहां वर्तमान अर्थवाला जो 'भाति' यह शब्द है तिसका वर्तमान अर्थको त्याग करके भविष्यत् अर्थ करना चाहिये। अर्थात् 'न भाति' इस स्थानमें 'न भास्यति' पाठ समझना। तथाच "जिस वस्तुके विद्यमान हुये सूर्यादिक भासमान न होवेंगे सो तेजविशेष उपास्य है" इस प्रकार भविष्यत् अर्थमें इस शब्दकी वृत्ति माननी। क्योंकि वर्तमानमें सूर्यादिकोंको भासमान हुये 'सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है' यह कहना विरुद्ध है इसी अर्थको भाष्य करके दिखाते हैं—

अत एव **'तेजोधातुरिति'** भा०। अर्थात् यहां उपासना करनेको योग्य तेजोधातु है अर्थात् तेजरूप वस्तुविशेष है। क्योंकि तेजरूप सूर्यादिक पदार्थोंके ही भानका प्रतिषेधरूप लिङ्गको यहां कहा है। जैसे "तेज स्वभाववाले सूर्यके भासमान हुये दिनमें तेजस्वभाववाले ही चन्द्र तारा आदिकोंका भान नहीं होता है" यह वार्ता प्रसिद्ध है। तैसे जिस तेजके विद्यमान हुये सूर्यके सहित चन्द्रतारादिक सम्पूर्ण तेजोंका भान नहीं होवेगा। सो भी तेजस्वभाववाला ही कोई उपास्य तेजविशेष निश्चित होता है।

शंका। जिसके विद्यमान हुये सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है। और जिसके भानसे अनन्तर सूर्यादिकोंका भान होता है यह कहना विरुद्ध है। अतः 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह श्रुतिप्रसिद्ध अनुभान नहीं बन सकता है इति।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि जैसे 'गच्छन्तमनुगच्छति' 'गमन करनेवाले पुरुषके पीछे दूसरा पुरुष गमन करता है' यहां समान स्वभाववालोंमें ही अनुगमनादिरूप अनुकरण देखनेमें आता है। तैसे अनुभान भी तेजोधातुके समान स्वभाववाले सूर्यादिकोंमें बन सकता है।

शंका। ऐसा कहनेसे भी पूर्वोक्त विरोधका वारण तो नहीं हुवा, किन्तु ज्योंका त्यों बना ही रहा इति।

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि यहां 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इस मन्त्रका यह अर्थ विवक्षित है कि:—जो तेजोधातुका स्वरूप व भान है तिससे सूर्यादिकोंका स्वरूप व भान निकृष्ट है। और तेजोधातुके भानसे पीछे सूर्यादिकोंका भान होता है। यह अर्थ विवक्षित नहीं है। अतः पूर्वोक्त जो

विरोधरूप दोष कहा सो नहीं बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे उपासना करनेके योग्य कोई तेजोधातुविशेष ही है यह सिद्ध हुवा इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष।** इस प्रकारका पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि—जहां मुख्य अर्थका सम्भव है तहां अमुख्य अर्थकी विवक्षा नहीं बन सकती है। अतः मुख्य अनुभानरूप लिङ्गसे स्वयंप्रकाश स्वरूप सर्वका भासक परमात्मा ही प्रसङ्गमें ग्राह्य है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:- **'प्राज्ञ एव आत्मा भवितुमर्हति'** इत्यादि। अर्थ—'न तत्र सूर्यो भाति' यहां विषयमें ही सप्तमी विभक्ति है। जिसको सूर्यादिक प्रकाश नहीं कर सकते हैं सो प्राज्ञरूप आत्मा ही यहां उपास्य है इति। क्योंकि अनुकरणरूप अनुकृति हेतु यहां विद्यमान है। और 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इस वचन करके कहा हुवा जो यह अनुभान है सो प्राज्ञके ग्रहणसे ही समीचीन होता है। यहां 'प्राज्ञ' नाम स्वप्रकाश चेतनका है। तथा 'भारूपः सत्यसंकल्पः' इत्यादिक श्रुति भी प्रकाशस्वरूप तथा सत्य संकल्पवालेको प्राज्ञरूप आत्मा ही कथन करती हैं; प्राज्ञरूप आत्मासे भिन्न किसी तेजविशेषरूप वस्तुको नहीं। क्योंकि तेजविशेषमें सत्य संकल्पादिक बने नहीं; और 'किसी तेजविशेषके पश्चात् सूर्यादिकोंका भान होता है' इस अर्थमें कोई प्रमाण भी नहीं है। सूर्यादिक तेजरूप धातुवोंको सम होनेसे स्वभानमें अन्य तेजकी अपेक्षा भी नहीं बन सकती है; जिसके भानके पीछे सूर्यादिक भासें। क्योंकि प्रदीप अपने भानमें अन्य प्रदीपकी अपेक्षा नहीं करता है।

अर्थात् **'सूर्यादयस्तेजोऽन्तरभानमनु न भान्ति, तेजस्त्वात्, प्रदीपवत्'।** जैसे दीपकरूप तेजमें तेजस्त्वरूप धर्मको विद्यमान होनेसे दूसरे तेजके भानके पीछे दीपकका भान नहीं होता है। अर्थात् दीपक अपने प्रकाशमें अन्य दीपादि तेजकी अपेक्षा नहीं करता है। तैसे सूर्यादिकोंमें भी तेजस्त्वरूप सामान्य धर्मको विद्यमान होनेसे दूसरे तेजके भानके पश्चात् सूर्यादिकोंका भान नहीं हो सकता है। अर्थात् सूर्यादिकोंको अपने भानके निमित्त अन्य तेजकी अपेक्षा नहीं है।

किञ्च पूर्वपक्षीने जो प्रथम कहा था कि—समान स्वभाव (जाति) वालोंमें ही अनुकरण देखनेमें आता है, अतः 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्र करके उपास्य सूर्यादिकोंके समान जातिवाला तेज ही मानना चाहिये ? यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि समान जातिवालोंमें ही अनुकरण होता है यह अव्यभिचरित नियम नहीं है। भिन्न स्वभावालोंमें भी अनुकरण देखा गया है। जैसे अत्यन्त संतप्त जो अयःपिण्ड है सो विजातीय अग्निका अनुकरण करता है— **'अग्निं दहन्तमनु दहति'** अर्थात् दहन करनेवाले अग्निके पीछे अयःपिण्ड दहन करता है। तथा पृथिवीका जो रज है सो विजातीय वायुके वहते हुये पश्चात् वहता है। तैसे प्राज्ञरूप आत्माके भान हुये विजातीय सूर्यादिकोंका भान हो सकता है इति।

शंका। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' तिस प्राज्ञरूप आत्माके भानके

पश्चात् ही सूर्यादिकोंका भान होता है। और 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' 'तिस प्राज्ञरूप आत्माकी दीप्ति करके सम्पूर्ण सूर्यादिकोंका भान होता है' इन दोनों पादोंके अर्थोंको समान होनेसे यहां पुनरुक्ति दोष प्रतीत होता है। अर्थात् 'अनुकृतेस्तस्य च' इस सूत्रमें प्राज्ञरूप आत्माके साधक दो हेतु हैं:—एक तो अनुकृति है, दूसरा 'तस्य' यह शब्द है। 'अनुकृतेः' यह जो अनुकृति है सो 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इस तृतीयपाद करके प्रतिपाद्य अनुभानका सूचक है। और 'तस्य' यह जो शब्द है सो 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस चतुर्थ पादका बोधक है। इस कहनेसे तृतीय व चतुर्थपाद दो हेतु सिद्ध हुये। और पूर्वोक्त रीतिसे जो अनुकृतिरूप हेतुका अर्थ है सोई 'तस्य' इस हेतुका अर्थ है अतः पुनरुक्तिदोषकी प्राप्ति हुई इति।

समाधान। 'तमेव भान्तम्' इस मन्त्रमें स्थित एवकार करके उक्त जो तिस प्राज्ञरूप आत्माके भानसे विना सम्पूर्ण सूर्यादिकोंका पृथग् भानका अभावरूप अनुभान है। अर्थात् जो प्राज्ञात्माका भान है सोई सूर्यादिकोंका भान है पृथग् नहीं। तिस अनुभानको सूत्रमें 'अनुकृति' शब्द करके कहा है। और सर्वका भासकत्वरूप अर्थको 'तस्य भासा' इत्यादि पाद करके कहा है। अतः दोनों हेतुवोंके अर्थोंको विभिन्न होनेसे पुनरुक्ति दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। और 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस मन्त्र करके कहा हुवा जो सूर्यादि पदार्थोंके भानका हेतु 'तस्य' इस तदर्थका भान है, सो भी 'तत्' शब्दका अर्थ 'प्राज्ञरूप आत्मा है' इसी अर्थको बोधन करता है।

और सूर्यादिकोंका भासकत्व जो आत्मामें कहा है सो बृहदारण्यक श्रुतिमें भी मन्त्र उपदेश करते हैं तहां श्रुति—'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'। अर्थ—जिस परमेश्वरको कार्यमात्रका परिच्छेदन करनेवाला क्षण, मुहूर्त, याम, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सरादिरूप काल भी परिच्छिन्न नहीं कर सकता है। तिस परमेश्वरको सूर्यादिक ज्योतियोंका प्रकाशक ज्योतिरूप करके तथा अमृत आयुष्रूप करके देवता उपासना करते हैं, यह श्रुति भी प्राज्ञ आत्माको ही कथन करती है इति। इत्यादि। और तेजो अन्तर करके सूर्यादिक तेज प्रकाशित होते हैं यह वार्ता अप्रसिद्ध है। तथा विरुद्ध भी है। क्योंकि दूसरे तेज करके दूसरे तेजका प्रति*घात होता है इति।

*टि०—किञ्च सूर्यादिसे भिन्न तेज उपास्य है इस मतमें सूर्यादिकसे अपकृष्ट तेज उपास्य है अथवा उत्कृष्ट उपास्य है? हीनउपासनाप्रसङ्गरूप दोषसे अपकृष्ट तेजको उपास्य नहीं कह सकते हैं। सूर्यादिसे उत्कृष्ट तेजको भी उपास्य नहीं मान सकते हैं। क्योंकि इस पक्षमें 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो 'तत्' पदार्थ है "तिसके भान करके अनुगृहीत भानवाले सूर्यादिक सर्व पदार्थ हैं" इस अर्थको कहनेवाली 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह श्रुति अनुपपन्न हो जावेगी अर्थात् उत्कृष्ट सूर्यादिक तेजसे व तद्भानसे अपकृष्ट नक्षत्रादिक तेजका व तद्भानका अनुग्रह नहीं देखा गया है, बल्कि प्रतिघात अर्थात् अभिभव देखा गया है। अतः 'न तत्र' इस मन्त्र करके पर ब्रह्म ही ज्ञेय है तेज नहीं।

और 'सर्वमिदं विभाति' यहां जो 'सर्व' शब्द है तिसका केवल सूर्यादिक तेजमात्रका वाचकत्वेन व्याख्यान किया है। अब सूर्यादिक निखिल पदार्थ-वाचकत्वेन व्याख्यान करते हैं—**'अथवा'** इत्यादि भा०। जैसे यत्किञ्चिद् रूपकी ही अभिव्यक्ति सूर्यादिनिमित्तक है यह वार्ता नहीं, किन्तु सम्पूर्ण रूप स्वरूप जगत्की अभिव्यक्ति सूर्यादिरूप ज्योतिकी सत्ता निमित्तक है। तैसे ही 'न तत्र सूर्यो भाति' इस श्लोक पठित जो सूर्यादिक हैं तिनोंका ही केवल प्राज्ञरूप आत्माके अधीन भानको 'तस्य भासा' यह मन्त्र नहीं कहता है। किन्तु 'सर्वमिदम्' इस अविशेषका श्रवण होनेसे निखिल नामरूप क्रियाकारकफलसमूहरूप प्रपञ्चकी जो भानरूप अभिव्यक्ति है सो सर्व ब्रह्मरूप ज्योतिकी सत्ता निमित्तक ही है इस अर्थको कहता है।

किञ्च 'न तत्र सूर्यो भाति' यह जो मन्त्र है सो 'तत्र' इस सर्वनामको 'आहरन्' कहिये ग्रहण करता हुवा प्रकृत वस्तुके ग्रहणको ही दिखाता है। अर्थात् **यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्'** (मु० २।२।५)। इस मन्त्र करके प्रकृत जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका परामर्शी 'तत्र' शब्द है, क्योंकि सर्वत्र 'तत्र' शब्द पूर्वोक्त अर्थका ही परामर्शक होता है।

किञ्च स्पष्ट ब्रह्मका बोधक जो 'यस्मिन् द्यौः' यह मन्त्र है सो "प्राज्ञरूप परमात्माका ही बोधक है दूसरेका बोधक क्यों नहीं" इस आकाङ्क्षाका पूरक जो 'यस्मिन् द्यौः' इस मन्त्रसे अग्रिम मन्त्र है सो ब्रह्मपरक है। तिस अग्रिम मन्त्रको दिखाते हैं— **हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।'** अर्थ—ज्योतिर्मय, तथा अन्नमयादिक कोशकी अपेक्षासे पर, तथा कोशकी तरह आत्माका आच्छादक, जो आनन्दमय कोश है तिस आनन्दमयकोशमें 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो पुच्छप्रतिष्ठारूप ब्रह्म है सोई अधिष्ठान है, तथा आगन्तुक रागद्वेषादिक मल करके रहित होनेसे विरज है, तथा निरवयव है, तथा अनादि अविद्यादि मलसे रहित है, अतः शुभ्र है। तथा ज्योतियोंका ज्योति है अर्थात् सूर्यादिकोंका साक्षीरूप है। और यह जो आत्मतत्त्व है सो ब्रह्मवित् पुरुषोंको अनुभव सिद्ध है इस आत्मतत्त्वको विवेकी पुरुष जानते भये इति।

और पर ब्रह्म ज्योतियोंका ज्योतिरूप किस प्रकार हैं? ऐसी शंकाके हुये 'न तत्र सूर्यो भाति" इस मन्त्रका उत्थान हुवा है। अतः "न तत्र सूर्यो भाति" यह मन्त्र पर ब्रह्मका ही प्रतिपादक है इति।

शंका। 'तत्र' यहांपर सति सप्तमी होनेसे जैसे सूर्यके विद्यमान हुये इतर तेजोंका अभिभव होता है। तैसे कोई तेजविशेषको विद्यमान हुये ही सूर्यादिक तेजोंका अभिभव होवेगा। अतः 'न तत्र' इस मन्त्रमें सूर्यादिका अभिभावक कोई तेजविशेष ही उपास्य है ऐसा हम कह आये हैं?

समाधान। प्राज्ञरूप आत्मा ही तेजोधातु है प्राज्ञसे भिन्न किसी तेजोधातु-विशेषका यहां सम्भव नहीं बन सकता है। यह अर्थ उपपन्न हो चुका है क्योंकि। सूर्यादिकोंका अभिभावक कोई भौतिक तेज प्रसिद्ध है नहीं। यदि किसी प्रमाणसे

ऐसा तेज सिद्ध होता तो तिसकी आशंका 'न तत्र' इस मन्त्रमें होती। और 'तत्र' यह जो शब्द है सो सर्वत्र पूर्व प्रसिद्धका ही परामर्शक है। अतः ब्रह्म विषे ही सूर्यादिक तेजके भानका निषेध बन सकता है। अर्थात् सति सप्तमी पक्षमें सूर्यादिकोंके भानका निषेध नहीं बन सकता है। क्योंकि वर्तमानमें सूर्यादिकोंका भान प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस प्रत्यक्ष सिद्ध विरोधके वारणके लिये 'न भाति' यहां पर श्रुत जो मुख्य अर्थ वर्तमानत्व है तिसको त्याग करके जिस तेजविशेषके विद्यमान हुये 'न भास्यति' 'सूर्यादिकोंका भान नहीं होवेगा' इस अश्रुत भविष्यत्त्वकी कल्पना गौरवदोष करके ग्रस्त है। इस कल्पनाकी अपेक्षासे विषय सप्तमी पक्षमें लाघव है। अर्थात्—"जिस प्राज्ञरूप आत्मा विषे सूर्यादिक नहीं प्रकाश करते हैं" इस अर्थके लाभके लिये 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्रमें 'भाति' की जगह 'भासयति' ऐसा पढ़ना। इस रीतिसे मुख्य वर्तमानत्वरूप श्रुत अर्थका त्याग नहीं होता है, किन्तु केवल णिच् प्रत्ययका अध्याहार होता है। अतः लाघव है इति।

और घटादिकोंके भासक जो सूर्यादिक प्रतीत होते हैं तिन सम्पूर्ण ज्योतियोंका भान ब्रह्मरूप ज्योतिः करके ही होता है। क्योंकि सूर्यादिक जो हैं सो अन्य करके भास्यत्वरूपसे ही ब्रह्ममें प्रतीत होते हैं। और ब्रह्मको स्वयं ज्योतिरूप होनेसे अन्य ज्योतिः करके ब्रह्मका उपलम्भ नहीं बन सकता है। अर्थात् ब्रह्ममें प्रकाश्यता है नहीं जिससे सूर्यादिक ब्रह्मका प्रकाश करें; किन्तु ब्रह्म ही अन्य सूर्यादिकोंको अभिव्यक्त करता है। और ब्रह्म अन्य सूर्यादिकों करके अभिव्यक्त नहीं होता है इति।

और आत्मामें जो स्वप्रकाशत्व है,तथा अन्य करके अभास्यत्व है, तिसमें भी श्रुतियोंको दिखाते हैं---**'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते'** । अर्थ– स्वप्न अवस्थामें सूर्य चन्द्रमा अग्नि वागादिरूप ज्योतियोंके अभाव हुये भी यह पुरुष आत्मारूप ज्योतिः करके ही व्यवहारको करता है इति। **'अगृह्यो न हि गृह्यते'** । अर्थ– ग्रहणके योग्य न होनेसे आत्मा अग्राह्य है। अर्थात् अन्य करके प्रकाशित नहीं होता है इति। इत्यादि ॥२२॥

और 'न भाति' यहां जो णिच् प्रत्ययका अध्याहार किया है तिसमें स्मृतिप्रमाणको दिखाते हैं:—

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—१ अपि, २ च, ३ स्मर्यते। इस सूत्रमें तीन पद हैं। किञ्च भगवद्गीतामें भी 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य प्राज्ञ आत्माका जैसा स्वरूप कहा है तैसा ही पूर्वोक्त स्वरूपका स्मरण किया है—**'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'** । अर्थ—जिस ज्योतिरूप ब्रह्मको प्राप्त होकर अधिकारी जन पुनरावृत्तिको नहीं प्राप्त होते हैं, तिस ब्रह्मरूप प्राज्ञको सूर्यचन्द्रमा व अग्नि आदिक नहीं प्रकाश कर सकते हैं; सोई मेरा परम धाम है इति। **'यदादित्यगतं तेजो**

जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' । अर्थ— आदित्यमें जो सम्पूर्ण जगत्को प्रकाश करनेवाला तेज है, तथा चन्द्रमामें तथा अग्नि आदिकोंमें जो तेज है; सो तेज मेरा ही जानो इति । 'न तद्भासयते' इस श्लोकसे ब्रह्म अग्राह्य (अप्रकाश्य) है यह कहा । और 'यदादित्यगतम्' इस श्लोकसे ब्रह्म' ग्राहक (प्रकाशक) है यह कहा। अर्थात् ब्रह्म स्वतःप्रकाश है यह कहा। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह अनुभानमन्त्र ब्रह्ममें समन्वित हुवा इति ॥ २३ ॥

इत्यनुकृत्यधिकरणम्* समाप्तम् ॥

इस पूर्व आधिकरणमें परमात्माको ज्योतिःस्वरूप कह आये हैं । और अग्रिम अधिकरणके 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिव' इस विषयवाक्यमें ज्योतिः करके उपमीयमान जो पुरुष है सो परमात्मासे भिन्न प्रतीत होता है ? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

अर्थ—१ शब्दात्, २ एव, ३ प्रमितः । इस सूत्रमें तीन पद हैं । 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य परमेश्वर ही है । क्योंकि "इस वाक्यके समीप जो 'ईशानो भूतभव्यस्य' यह शब्द है तिस शब्दसे अङ्गुष्ठमात्र जो पुरुष है सो परमात्मा है" ऐसा ही निश्चय (प्रमिति) होता है इति ।

अब इस सूत्रके विषयवाक्यको दिखाते हैं:—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति । ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ (क० ४ । १२) । अर्थ—अङ्गुष्ठ परिमाणवाला जो हृदयच्छिद्र है तिसके अन्तर विद्यमान जो अन्तःकरण कहा जाता है तिस अन्तःकरण उपाधिवाला जो आत्मा है सो भी अङ्गुष्ठमात्र है । अर्थात् अङ्गुष्ठ परिमाणवाला कहा जाता है । और सर्वत्र पूर्ण होनेसे पुरुषरूप है । ऐसा यह जो आत्मा है सो देहके मध्यमें स्थित है । इस रीतिसे 'त्वम्' पदके अर्थका शोधन करके शोधित जा 'त्वम्' पदका लक्ष्य अर्थ है तिसमें 'ईशानं भूतभव्यस्य' इत्यादिसे ब्रह्मत्वको दिखाते हैं— अर्थात् यह पुरुष ही भूतादि कालत्रय करके उपलक्षित जो सम्पूर्ण जगत् है तिसका नियामक है । इस आत्माके साक्षात्कारके अनन्तर अपनी व अन्य किसी देहादिकी भी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता है । वस्तुतः असङ्ग अद्वितीय आत्मतत्त्वके साक्षात्कार हुये कौन किसकी किस करके रक्षा करेगा । अर्थात् विद्वान् कृतकृत्य होता है । हे नचिकेतः ! जो तुमने पूछाथा था सो यही धर्मादि शून्य ब्रह्म है इति । तथा— अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ।

---

* इस अधिकरणका पूर्वपक्षमें तेजरूप धातुविशेषकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें निर्गुण स्वयंज्योतिः स्वरूप आत्माका ज्ञान फल है ।

एतद्वै तत् ॥ (क० ४ । १३) अर्थ—अङ्गुष्ठमात्र जो जीव है सो वास्तवसे धूमरहित ज्योतिकी तरह देदीप्यमान निर्मल प्रकाश स्वरूप है। यहां भौतिक ज्योतिकी व्यावृत्तिके लिये 'अधूमक' यह विशेषण है। और यही आत्मा भूत भविष्यत् व वर्तमानका ईश्वर है। और यही आत्मा वर्तमान कालमें प्राणियों विषे विद्यमान है। तथा यही आत्मा आगामि कालमें विद्यमान रहेगा। तथा श्रुतिमें जो 'श्वः' यह पद है सो भूतकालका उपलक्षण है। अतः यही आत्मा भूतकालमें भी विद्यमान था। और हे नचिकेतः! तुझ करके पूछा हुवा जो 'तत्' कहिये आत्मतत्त्व है सो 'एतद्वै' ब्रह्म स्वरूप यही है इति। ये दोनों मन्त्र इस प्रमिताधिकरणके विषय हैं।

अब इन मन्त्रोंमें 'अङ्गुष्ठमात्र' परिमाण शब्द करके तथा 'ईशान' शब्द करके संशयको दिखाते हैं:—जो यह विषयवाक्यमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुषका श्रवण होता है सो पुरुष "विज्ञानात्मा जीव है अथवा परमात्मा है" इस प्रकारका इन मन्त्रोंमें संशय है।

अथ पूर्वपक्ष। तहां परिमाणका उपदेश होनेसे 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' शब्द करके जीवका ही ग्रहण करना, परमात्माका नहीं यह प्राप्त हुवा। क्योंकि अन्त करके रहित है आयाम (दीर्घत्व) तथा विस्तार (महत्त्व) जिसका ऐसा जो परमात्मा है तिसमें अङ्गुष्ठमात्र परिमाणका उपदेश नहीं बन सकता है। और सोपाधिक विज्ञानात्मारूप जीवमें, अङ्गुष्ठ परिमाणवाले हृदयके साथ 'विज्ञान' शब्दकी वाच्य बुद्धिका अभेदाध्यासकी कल्पना करके किसी प्रकारसे अङ्गुष्ठमात्रत्व बन सकता है।

अब इस अर्थमें स्मृतिप्रमाणको दिखाते हैं—अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥ इति महाभा०। अर्थ—मरणसे अनन्तर यमपाशों करके बद्ध तथा कर्मके वशको प्राप्त हुवा जो अङ्गुष्ठमात्र पुरुष है तिसको सत्यवत्के शरीरसे यमराज बलसे आकर्षण करता भया इति। इस स्मृतिमें भी अङ्गुष्ठमात्र जीवका ही आकर्षण कहा है परमात्माका नहीं। क्योंकि 'हरिगुरुवशगोऽस्मिन्नस्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः'। अर्थ—मैं भी जगद्गुरु हरिके वशमें हूं स्वतन्त्र नहीं हूं, क्योंकि मेरेको नियममें रखनेके लिये विष्णु भगवान् समर्थ हैं इति। इस प्रकार स्वयं यमराजने कहा है। अतः यमराज बलसे परमेश्वरका आकर्षण नहीं कर सकता है। इस कहनेसे यह निश्चय हुवा कि—पूर्वोक्त स्मृतिमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जो है सो संसारी जीव ही है। अतः प्रसङ्गमें भी अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शब्द करके संसारी जीवका ही ग्रहण करना परमात्माका नहीं। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये।

अथ सिद्धान्तपक्ष। 'परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति' इति भा०। अर्थ—यह अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला पुरुष परमात्मा ही होनेको योग्य है। क्योंकि 'शब्दात्' श्रुतिमें 'ईशानो भूतभव्यस्य' यह शब्द है। अर्थात् 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इन मन्त्रोंमें जो निखिल प्रपञ्चका निरङ्कुश नियामकत्वरूप भूतभव्येशानत्वको अङ्गुष्ठमात्र पुरुषका

विशेषण कहा है सो परमात्मामें ही बन सकता है जीवमें नहीं। अतः, 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना जीवका नहीं इति। और प्रकरणसे भी 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' यह वाक्य ब्रह्मपरक ही है। क्योंकि नचिकेता करके पृष्ट जो प्रकृत आत्मतत्त्व है तिसका ही 'एतद्वै तत्' इस 'एतत्' शब्द करके धर्मराज अनुसन्धान करते हैं। अर्थात् नचिकेताने उपक्रममें पूछा है कि—'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद' इति। अर्थ—फल व कारक सहित यज्ञादिकरूप धर्मसे भिन्न तथा फल व कारक सहित हिंसादिरूप अधर्मसे भिन्न तथा विद्वान्की बुद्धिका विषय, कार्य कारणसे भिन्न, तथा भूतादिक कालोंसे और भूतादिक कालीन पदार्थोंसे भिन्न, ऐसा जो सर्व धर्म वर्जित अद्वितीय आत्मतत्त्वरूप वस्तु है तिस वस्तुको यदि आप जानते हैं तो हमारे प्रति कथन करें इति। यह यहां अद्वितीय ब्रह्मविषयक प्रश्न है। इस प्रश्नके उत्तररूप ही 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इत्यादिक धर्मराज उच्चरित मन्त्र हैं। यदि ये मन्त्र अद्वितीय आत्मतत्त्वको प्रतिपादन नहीं करेंगे तो इन मन्त्रोंमें उत्तरत्व ही नहीं रहेगा। क्योंकि प्रश्नके विषयका प्रतिपादक ही उत्तर होता है। अत इस उत्तरसे ब्रह्मका ही निश्चय होता है। और यदि वादी ऐसा कहे कि—'शब्दादेव प्रमितः' इस सूत्र करके उक्त शब्दरूप वाक्यसे व प्रकरणसे अङ्गुष्ठपरिमाणरूप लिङ्ग बलवान् है। अतः यहां जीवका ही निश्चय होता है। सो कहना असङ्गत है। क्योंकि अङ्गुष्ठ परिमाणरूप जो लिङ्ग है सो 'ईशानो भूतभव्यस्य' इस अभिधानश्रुति करके बाधित है। अतः अभिधानरूप श्रुतिसे सर्वका नियामक ईशानरूप परमेश्वर ही निश्चय होता है अर्थात् उक्त सूत्रमें 'शब्द' करके श्रुतिप्रमाण विवक्षित है, वाक्य नहीं इति ॥ २४ ॥

शंका। फिर सर्वगत जो परमात्मा है तिसमें अङ्गुष्ठ मात्र परिमाणका उपदेश किस प्रकार बनेगा?

अब इस शंकाके समाधानको सूत्रकार कहते हैं:—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

अर्थ—१ हृदि, २ अपेक्षया, ३ तु, ४ मनुष्याधिकारत्वात्। इस सूत्रमें चार पद हैं। जैसे वंशपर्व (अर्थात् वांसकी पोरी) की अपेक्षा करके सर्वगत आकाशमें अरत्नि मात्रत्वको कहते हैं। 'करः सकनिष्ठोऽरत्निः' अर्थात् 'कनिष्ठिकाके सहित करका नाम अरत्नि है' तैसे, यद्यपि परमात्मा सर्वगत है तथापि परमात्माका जो अङ्गुष्ठ परिमाणवाले हृदयमें अवस्थान है तिस अवस्थान (स्थिति) की अपेक्षाकरके सर्व मात्रा (परिच्छेद) शून्य परमात्मामें भी अङ्गुष्ठमात्रत्वको कह सकते हैं। क्योंकि स्वभावसे परिमाण रहित परमात्मामें उपाधिके विना अङ्गुष्ठ परिमाण उपपन्न नहीं हो सकता है। यहां हृदय करके मनुष्यके अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला मनुष्योंके हृदयका ही ग्रहण करना। क्योंकि शास्त्रमें मनुष्योंका ही अधिकार है इति।

शंका। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इन मन्त्रोंमें मुख्य अङ्गुष्ठ परिमाणवाले जीवका ही ग्रहण करना चाहिये, क्यों गौण परमात्माका ग्रहण करते हो ?

समाधान। जहां सम्भव होवे तहां मुख्यका ग्रहण युक्त है, प्रसङ्गमें श्रुतिका विरोध होनेसे मुख्य अङ्गुष्ठमात्रत्वका सम्भव नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं—**'न चान्यः परमात्मन इह ग्रहणमर्हति'** इत्यादि भा०। अर्थात् यहां परमात्मासे भिन्नके ग्रहणका असम्भव है, क्योंकि 'ईशानो भूतभव्यस्य' इस मन्त्रमें ईशानादिक शब्दोंके विरोधको कह आये हैं।

शंका। भिन्न भिन्न प्राणियोंमें जो हृदय हैं तिनोंमें समान परिमाणका अभाव होनेसे "हृदयकी अपेक्षासे भी अङ्गुष्ठ परिमाणवाला परमात्मा है" यह कहना नहीं बन सकता है। और हस्तिका जो हृदय है सो हस्तिके अङ्गुष्ठ परिमाणकी अपेक्षासे अधिक परिमाणवाला है। इसलिये भी हस्तिके हृदयमें स्थित परमात्मा विषे अङ्गुष्ठ परिमाण नहीं बन सकता है इति।

समाधान। **'मनुष्याधिकारत्वात्'** इति भाष्यम्। अर्थ—शास्त्रमें मनुष्य अधिकारी है अर्थात् शास्त्रका अधिकार मनुष्यको है इति। यद्यपि प्राणिमात्रके प्रति अविशेषरूप करके शास्त्र प्रवृत्त हुवा है। तथापि शास्त्र त्रैवर्णिक मनुष्यमें ही अधिकारको बोधन करता है। क्योंकि—**'शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वादुपनयनादिशास्त्राच्च'** इति भा०। अर्थात् 'शक्तत्वात्' मनुष्य जो हैं सो वैदिक कर्म करनेमें शक्तिवाले हैं। इस कहनेसे तिर्यक्, देवता व ऋषियोंके अधिकारको वारण किया। अर्थात् पशु आदिक तिर्यक् योनियोंकी, शास्त्रके अर्थका ज्ञानादिरूप सामग्रियोंका अभाव होनेसे वैदिक कर्ममें अशक्ति है। तथा इन्द्रादिक देवोंको, स्वदेवताक कर्ममें दीयमान द्रव्यनिष्ठ स्वत्वनिवृत्तिके असम्भवसे वस्वका उद्देश्य करके द्रव्यके त्यागका अयोग होनेसे कर्ममें अशक्ति है। तथा ऋषियोंको, आर्षेय वरणादिकोंमें अर्थात् ऋषिकर्तृक कर्ममें वरणीय वसिष्ठादि ऋष्यन्तरका अभाव होनेसे कर्ममें अशक्ति है।

और 'अर्थित्वात्' मनुष्योंको अर्थी होनेसे कर्ममें अधिकार है। इस कहनेसे निष्काम मुमुक्षु पुरुषोंका अन्तःकरणकी शुद्धिके जनक नित्यादिक कर्ममें अधिकार है काम्य कर्ममें नहीं। तथा शुद्धचित्त जो मोक्षार्थी पुरुष हैं तिनका अपने स्वरूपके अभिव्यञ्जक श्रवणादिकोंमें अधिकार है कर्ममें नहीं ऐसा जानना।

और 'अपर्युदस्तत्वात्' इस वचन करके शूद्रके अधिकारका वारण किया है। क्योंकि **'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'** 'न अवक्लृप्तः, अनवक्लृप्तः' अर्थात् जो यज्ञमें अधिकारीरूप करके सिद्ध न होवे तिसका नाम यहां अनवक्लृप्त है। इस श्रुतिमें पर्युदासरूप नकार करके शूद्रमें यज्ञके अधिकारको निषेध किया है। यहां 'पर्युदस्त' नाम शूद्रका है, और शूद्रसे भिन्न त्रैवर्णिकका नाम 'अपर्युदस्त' है।

किञ्च 'उपनयनादिशास्त्राच्च' अर्थात् 'उपनयीत तमध्यापयीत' इस शास्त्रसे भी शूद्रका वैदिक कर्ममें अधिकार नहीं है । क्योंकि शूद्रमें एकजातित्व बोधक स्मृतिके बलसे व उपनयन शास्त्रके अभावसे उपनयनका अभाव है। अतः, उपनयन प्रयुक्त द्विजातित्वका अभाव होनेसे वेदाध्ययनका अभाव है, क्योंकि वेदाध्ययनमें उपनयन अङ्ग है । और वेदाध्ययनके अभावसे वैदिक कर्ममें शूद्रका अधिकार नहीं वन सकता है ।

अब प्रसङ्गमें अपेक्षित जो न्याय (युक्ति) है जिसको जैमिनि ऋषिने षष्ठ अध्यायमें वर्णन किया है तिसको दिखाते हैं—**'वर्णितमेतदधिकारलक्षणे'** इत्यादि भा० । पूर्वमीमांसाके षष्ठ अध्यायके प्रथम पादमें शूद्रानधिकार अधिकरणमें 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिक शास्त्रको सामान्यसे सम्पूर्ण फलार्थियोंके प्रति प्रवृत्त होनेसे, तथा प्राणिमात्रको सुखार्थी होनेसे, फलवाले कर्ममें पशुआदिकोंका भी अधिकार है ? ऐसी आशंका करके पशु आदिकोंमें पूर्वोक्त रीतिसे शक्तत्वादिकोंका अभाव होनेसे स्वर्गकाम पदको सङ्कोच करके मनुष्याधिकारमें स्थापन किया । तदन्तर पुनः चारों वर्णोंके अधिकारकी शंका करके **'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः** । अर्थ—वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण अग्निका आधान (स्थापन) करे । और ग्रीष्ममें क्षत्रिय अग्निका आधान करे । और शरद् ऋतुमें वैश्य आधान करे इति । इन मन्त्रों करके त्रैवर्णिक द्विजातिमें ही अग्निके सम्बन्धका श्रवण होता है । अतः त्रैवर्णिकका ही अग्निसाध्य कर्ममें अधिकार है शूद्रका नहीं यह सिद्धान्त वर्णन किया है इति । तथा च शास्त्रमें मनुष्योंका ही अधिकार है यह सिद्ध हुवा ।

शंका । शास्त्रमें मनुष्योंका अधिकार रहो । प्रकृतमें क्या प्राप्त हुवा ?

समाधान । प्रायः करके मनुष्योंका देह सप्त विलस्ति परिमित होता है। और मनुष्योंका उचित नियत अङ्गुष्ठ परिमाणवाला ही हृदय होता है। अतः शास्त्रमें मनुष्यका अधिकार होनेसे मनुष्यके हृदयमें अवस्थानकी अपेक्षासे परमात्मामें अङ्गुष्ठपरिमाणवत्त्व वन सकता है।

शंका । परिमाणका उपदेश होनेसे तथा "सत्यवतः कायात्" इस पूर्वोक्त स्मृतिसे संसारी जीव ही अङ्गुष्ठमात्र पुरुष जाननेको योग्य है इस उक्त आक्षेपका क्या उत्तर है ?

समाधान । जैसे 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो !' यह वाक्य जीवका अनुवाद करके ब्रह्मके साथ जीवका अभेदको वोधन करता है । तैसे ही 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इत्यादि मन्त्र भी 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इस वाक्यसे संसारित्वेन वर्तमान जीवका अनुवाद करके अङ्गुष्ठमात्र संसारी जीवमें 'ईशानो भूतभव्यस्य' इत्यादिक शब्दोंसे ब्रह्मके अभेदको बोधन करते हैं । अतः प्रसङ्गमें प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है सोपाधिक जीव नहीं ।

अर्थात् वेदान्तवाक्योंकी दो प्रकारकी प्रवृत्ति है । कोई वाक्य तो परमात्माके तत्त्वस्वरूपके उपदेशक हैं—जैसे 'अस्थूलमनणु' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि । और कोई वाक्य विज्ञानात्मा जीवका पर ब्रह्मके साथ अभेदके निर्णायक हैं—जैसे 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि । और सोपाधिक जीवस्वरूपके बोधक जो 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुषः' इत्यादि वाक्य हैं सो जीवमें ब्रह्मभाव बोधनके लिये जीवका अनुवाद* करते हैं । अतः वस्तुतः विज्ञानात्मा जीवका परमात्माके साथ एकत्व (अभेद)का ही शास्त्र उपदेश करता है । और 'किसी जीवादिका स्वरूप अङ्गुष्ठमात्र है' इस अर्थमें शास्त्रका तात्पर्य नहीं है इति ।

इसी अभेदरूप अर्थको अग्रिमवाक्यशेषसे धर्मराज स्पष्ट करके दिखावेंगे—
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ अर्थ—जो अङ्गुष्ठमात्र पुरुष है सो निखिल जगत्का अन्तर आत्मा है । और सो ही सम्पूर्ण जनोंके हृदयमें सदा सन्निविष्ट (स्थित) है । तिस आत्माको, जैसे युक्तिपूर्वक मुञ्जसे इषीकाको पृथक् करते हैं । तैसे अत्यन्त बलिष्ट मन आदि इन्द्रियोंका निग्रहादिरूप धैर्य करके अपने देहादिकोंसे पृथक् निश्चय करे । तथा शरीरादिकोंसे पृथक् निश्चित जो स्वप्रकाश कूटस्थरूप आत्मा है; तिस आत्माको शुद्ध अविनाशी ब्रह्मरूप जाने । इस प्रकार श्रुति अथवा यमराज कहते हैं । यहां "अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शुद्ध अविनाशी ब्रह्म ही है" इस प्रकार अवधारणके लिये द्विरुक्ति है† इति । इस पूर्वोक्त रीतिसे 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इत्यादि मन्त्र सर्वगत परमात्माको ही बोधन करता है जीवको नहीं यह सिद्ध हुवा । यहां पूर्वपक्षमें ब्रह्मदृष्टि करके जीवकी उपासना फल है । और सिद्धान्तमें प्रत्यक् तथा ब्रह्मका ऐक्यज्ञान फल है इति ॥ २५ ॥

इति प्रमिताधिकरणम् ॥

यदि शास्त्रमें मनुष्योंको ही अधिकार मानोगे तो देवादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं होवेगा ? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

अर्थ—१ तत्, २ उपरि, ३ अपि, ४ बादरायणः, ५ संभवात् । इस सूत्रमें

---

*टि०—अर्थात् वस्तुतः जीवका जो निरवच्छिन्न तत्त्वस्वरूप परमात्मभाव है सो ही शास्त्रको वक्तव्य है । परन्तु इस निरवच्छिन्न परमात्मभावको सोपाधिक जीव स्वरूपकथनके विना नहीं कह सकते हैं । अतः सोपाधिक जीवके स्वरूपका शास्त्र अनुवाद करता है ।

† टि०—अथवा यह द्विरुक्तिः, अभेद बोधकी दृढताके लिये है । अथवा प्रकृत उपदेश समाप्त्यर्थक है । अथवा उक्त अभेदनिश्चयसे अनन्तर 'एतावदनुशासनम्' इत्यादि श्रुतिसे सर्व उपदेश समाप्त्यर्थक है ।

पांच पद हैं। मनुष्योंके उपरि जो शरीरधारी देवादिक हैं तिनोंमें भी सामर्थ्य तथा अर्थित्व व मोक्षकी इच्छाका सम्भव होनेसे शास्त्रका अधिकार है इस प्रकार बादरायण आचार्य कहते हैं इति।

शंका। इस समन्वयाध्यायमें अधिकारकी चिन्ता समीचीन नहीं है, क्योंकि समन्वयाध्यायमें वेदान्तमन्त्रोंका ब्रह्ममें समन्वयका चिन्तन ही सङ्गत है।

समाधान। मनुष्यके हृदयकी अपेक्षा करके 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' यह श्रुति है, क्योंकि "शास्त्र जो है सो मनुष्यको ही अधिकारी कहता है" ऐसा पूर्वमें हम कह आये हैं। और शक्तत्वादिक अधिकारकारणके असम्भवसे पशु आदिकोंको शास्त्रके अधिकारका असम्भव हुये भी "देवादिकोंमें शास्त्रका अधिकार है कि नहीं" इस संशयकी निवृत्तिके लिये प्रसङ्गसे देवादिकोंमें यह अधिकार-चिन्तन भी सङ्गत है। अर्थात् यहां प्रसङ्ग सङ्गति* है।

यहां पूर्व अधिकरणके जो 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इत्यादि **विषयवाक्य** हैं सो ही इस अधिकरणके **विषयवाक्य** हैं ऐसा जानना।

अब संशयको दिखाते हैं—'मनुष्योंका शास्त्रमें अधिकार है' इस उक्ति करके स्मृत जो देवादिक हैं तिनोंका 'वेदान्त श्रवणमें अधिकार है अथवा नहीं है' ऐसा **संशय** होता है।

अथ **पूर्वपक्ष।** भोगोंमें आसक्त जो देवता हैं तिनोंमें वैराग्यादिकोंका असम्भव होनेसे वेदान्त श्रवणमें अधिकार नहीं हो सकता है।

अथ सिद्धान्तपक्ष। **'बाढं मनुष्यानधिकरोति शास्त्रम्। न तु मनुष्यानेवेतीह ब्रह्मज्ञाने नियमोऽस्ति'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ-अर्धाङ्गीकारमें 'बाढम्' शब्दका प्रयोग होता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानमें मनुष्योंके अधिकारको शास्त्र जो बोधन करता है सो सत्य है; परन्तु "मनुष्योंको ही ब्रह्मज्ञानका अधिकार है अन्यको नहीं" ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि मनुष्योंके उपर जो देवादिक हैं तिनोंका भी ब्रह्मज्ञानमें अधिकारको शास्त्र बोधन करता है। इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं। क्योंकि देवतावोंमें भी अधिकारके कारण शक्तत्व अर्थित्वादिक बन सकते हैं।

शंका। भोगोंमें आसक्त जो देवता हैं तिनोंमें मोक्षार्थित्वका असम्भव होनेसे ब्रह्मज्ञानका अधिकार नहीं बन सकता है।

समाधान। विकार होनेसे मिथ्या जो स्वर्गादि विषय विभूति आदिक हैं तिनोंमें अनित्यत्व क्षय अतिशय असूयादिक दोषदृष्टि करके निरतिशय सुखरूप

---

* 'स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वम्' प्रसङ्गसङ्गतिः।

मोक्षका अर्थित्व आदिक जो अधिकारके कारण हैं सो सत्त्वप्रकृतिवाले देवतावोंमें भी वन सकते हैं।

शंका। "इन्द्राय स्वाहा" इत्यादि स्थलमें, चतुर्थी विभक्ति हैं अन्तमें जिनके ऐसे जो "इन्द्राय" इत्यादिक शब्द हैं तिन शब्दोंसे भिन्न कोई विग्रहवाली देवता नहीं हैं; और शब्दमें अर्थित्व व सामर्थ्यका अभाव होनेसे ब्रह्मज्ञानका अधिकार नहीं वन सकता है।

समाधान। देवतावोंमें सामर्थ्य व अर्थित्व भी बन सकता है; क्योंकि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण, लोकसे देवतावोंमें भी विग्रहवत्त्वका निश्चय होता है। और देवतावोंमें अपर्युदस्तत्व भी वन सकता है। क्योंकि जैसे 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' यहां शूद्रमें यज्ञादिक वैदिक अर्थके अधिकारका निषेध किया है। तैसे देवतावोंमें ब्रह्मविद्याके अधिकारका निषेध कहीं भी नहीं किया है।

शंका। देवतावोंमें विग्रहवत्ताके होनेसे प्रत्यक्ष दृष्ट सामर्थ्यके हुये भी उपनयनका अभाव होनेसे वेदका अध्ययन नहीं वन सकता है। और वेदाध्ययनके विना शास्त्रीय कर्मानुष्ठानकी सामर्थ्य नहीं वन सकती है। सामर्थ्यके अभावसे विद्याका अधिकार नहीं वन सकता है।

समाधान। देवतावोंमें उपनयनशास्त्र करके विद्याका अधिकार निवृत्त नहीं हो सकता है। क्योंकि उपनयन जो है सो वेदाध्ययनके लिये है। और देवता जो हैं सो स्वयं प्रतिभातवेद हैं। जन्मान्तरके अध्ययनके वलसे स्मरणका विषय है वेद जिनोंको तिनोंका नाम स्वयंप्रतिभातवेद है। अर्थात् बाल स्त्री आदिकोंमें प्रविष्ट देवयोनि पिशाच व गन्धर्वादिका वेदोद्घोष लोकमें व बृहदारण्यक श्रुति आदिकोंमें देखा गया है। अतः पूर्वजन्ममें अधीत जो वेदान्तशास्त्र है तिसका देवशरीरमें स्मरण होनेसे देवतावोंमें भी वेदान्तशास्त्रका विचार युक्त ही है।

किञ्च देवतावोंका तथा ऋषियोंका जो ब्रह्मविद्यामें अधिकार है तिसमें सामर्थ्य व अर्थित्वादिक कारणोंको कह चुके हैं। अब श्रुति करके प्रतिपाद्य जो गुरुकुलमें वासादिरूप लिङ्ग हैं तिन लिङ्गोंको कहते हैं—**'अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति'** इति भा०। अर्थ—देवतावोंका ब्रह्मविद्या ग्रहणके लिये ब्रह्मचर्य सहित गुरुकुलमें वासादिरूप साधनसम्पत्तिको भी श्रुति दिखाती है। अतः देवतावोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है इति। तहां श्रुतिः **'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास'** (छा०) अर्थ—ब्रह्मविद्याके लिये इन्द्र देवता ब्रह्माके समीपमें 'एकशतम्' सौ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करके वास करता भया इति। **'भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति'**

(तै०) इत्यादि । अर्थ — वरुण ऋषिका पुत्र जो भृगु ऋषि है सो भी अपने पिताके पास जाता भया, और जाकर प्रश्न करता भया कि--हे भगवन् ! मुझको ब्रह्मका उपदेश करें इति ।

और जैमिनि ऋषिने यद्यपि देवतावोंका तथा ऋषियोंका अग्निहोत्रादिक कर्मोंमें अनधिकारको कहा है । तहां जैमिनिसूत्र—'न देवानां देवतान्तराभावात्' 'न ऋषीणामार्षेयान्तराभावात्' । अर्थ — इन्द्रादिक देवताकर्तृक कर्ममें इन्द्रादिक देवान्तररूप उद्देश्यके अभाव होनेसे देवतावोंको कर्ममें अधिकार नहीं है इति । तथा भृगु आदिक ऋषिकर्तृक आर्षेय कर्ममें भृगु आदिक ऋष्यन्तरका अभाव होनेसे ऋषियुक्त कर्ममें ऋषियोंका अधिकार भी नहीं है इति । तथापि ब्रह्मविद्यामें इन्द्रादिक देवतावोंका अधिकार है । क्योंकि ब्रह्मविद्यामें अधिक्रियमाण जो इन्द्रादिक देवता हैं तिनोंका इन्द्रादिक देवतावोंको उद्देश्य करके किञ्चित्मात्र भी कर्म कर्तव्य नहीं है । तथा ब्रह्मविद्याके अधिकारी भृगु आदिक ऋषियोंको भी ब्रह्मविद्यामें समानवंशीय भृगु आदिक ऋष्यन्तर प्रयुक्त किञ्चित्मात्र भी कार्य कर्तव्य नहीं है । क्योंकि अन्य इन्द्रादिक देवता व भृगु आदिक ऋषि हैं नहीं । पूर्वकल्पीय देवता व ऋषियोंको क्षीणअधिकार होनेसे विद्यमानता बने नहीं । अतः देवतादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारको कौन वारण कर सकता है ? अर्थात् कोई भी वारण नहीं कर सकता है इति ।

किञ्च 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणाम्' । अर्थ—देवतावोंके मध्यमें तथा ऋषियोंके मध्यमें जो जो प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार करता भया सो सो ब्रह्मरूप ही होता भया इति । यह मन्त्र भी देवतादिकोंमें ब्रह्मविद्याके अधिकारको कहता है ।

शंका । यदि देवतावोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है तो देवतावोंके प्रति अङ्गुष्ठमात्रश्रुति अनुपपन्न हो जावेगी । क्योंकि देवतावोंके महान् देह होनेसे तिनका हृदय हमारे अङ्गुष्ठके बरोबर नहीं बन सकता है ।

समाधान । यद्यपि मनुष्योंके देहकी अपेक्षासे देवोंके देह महान् हैं, अतः देवोंके हृदय मनुष्योंके अङ्गुष्ठ प्रमाण नहीं बन सकते हैं । तथापि देवतावोंके हृदय देवतावोंके अङ्गुष्ठ परिमाण बन सकते हैं । अतः देवादिकोंके अधिकारमें भी 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इस श्रुतिका कोई विरोध नहीं है यह सिद्ध हुवा इति ।

यहां पूर्वपक्षमें क्रममुक्तिकी इच्छावाले पुरुषोंकी दहरादिक उपासनावोंमें अप्रवृत्तिरूप फल है । क्योंकि पूर्वपक्षमें, जब देवतावोंको ज्ञानमें अनधिकार है तब दहरादिक उपासना करके देवभावको प्राप्त हुये भी क्रममुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते हैं । और सिद्धान्तमें क्रममुक्तिकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंकी दहरादिक उपासनावोंमें प्रवृत्तिरूप फल है । क्योंकि देवतावोंको ज्ञानमें अधिकार होनेसे दहरादिक उपासना करके क्रममोक्षार्थी पुरुष देवभावको प्राप्त होकर ब्रह्मलोकादिकोंमें ज्ञानकी प्राप्ति द्वारा मोक्षको प्राप्त हो सकते हैं इति ॥ २६ ॥

शंका। सिद्धान्तीने जो मन्त्रादिकोंका प्रतीयमान विग्रहमें तात्पर्यकी कल्पना करके देवतावोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार कहा है सो असंगत है। क्योंकि अन्यार्थ परक जो मन्त्रादिक हैं तिनोंका प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंके साथ विरोध होनेसे देवताविग्रहरूप स्वार्थमें तात्पर्य नहीं बन सकता है।

समाधान। चार सूत्रों करके इस आक्षेपके परिहारको सूत्रकार दिखाते हैं—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

अर्थ—१ विरोधः, २ कर्मणि, ३ इति, ४ चेत्, ५ न, ६ अनेकप्रतिपत्तेः, ७ दर्शनात्। इस सूत्रमें सात पद हैं।

प्रश्न—यदि देवतावोंके शरीर मानोगे तो एक शरीरकी अनेक कर्मोंमें उपस्थितिके असम्भवसे कर्मकी सिद्धि नहीं हो सकेगी ?

उत्तर—श्रुति स्मृतियोंमें देवतावोंके अनेक शरीरोंकी प्रतिपत्ति (प्राप्ति) देखी गई है, अतः कर्ममें विरोध नहीं हो सकता है इति।

अब इस सूत्रके प्रश्नोत्तरोंको विस्तार करके दिखाते हैं:—

शंका। 'विरोधः कर्मणीति चेत्' यदि विग्रहवत्त्वको अङ्गीकार करके देवतावोंमें विद्याका अधिकार वर्णन करते हो तो जैसे ऋत्विक् आदिक स्वरूपसे यज्ञके सन्निहित होकर यज्ञरूप कर्मके अङ्ग होते हैं। तैसे इन्द्रादिक देवता भी स्वरूपसे ही सन्निहित होकर यज्ञके अङ्ग स्वीकार करने होवेंगे। यदि ऐसा मानोगे तो यागादिक कर्मोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण करके देवतावोंका दर्शन होना चाहिये। परन्तु इन्द्रादिकोंका स्वरूपके सन्निधानसे यागमें अङ्गभाव दीखता है नहीं। और सम्भव भी नहीं हो सकता है। क्योंकि जब एक कालमें अनेक स्थानोंमें याग हो रहे हैं तब विग्रहवाली इन्द्रादिक एक देवताकी अनेक यागोंके साथ सन्निधि उपपन्न नहीं हो सकती है। अतः योग्यानुपलब्धि करके संप्रदानरूप विग्रहवाली देवताका अभाव निश्चय होनेसे कर्ममें विरोध होगा, अर्थात् कर्मकी निष्पत्ति नहीं हो सकेगी ?

तात्पर्य यह है कि— मन्त्रके पदों करके प्रतीयमान जो अर्थ है सो प्रमाणान्तरके साथ अविरोध हुये ही अङ्गीकार करनेको योग्य है, विरोधके विद्यमान हुये नहीं। प्रसङ्गमें देवताका विग्रहवत्त्वादिक प्रमाणान्तर विरुद्ध है। अतः जैसे 'यजमानः प्रस्तरः'। अर्थ—यजमान जो है सो प्रस्तर कहिये कुशाकी मुष्टिरूप है इति। यहां स्वार्थका असम्भव होनेसे "जैसे कुशा पवित्ररूप है तैसे यजमान भी पवित्ररूप है" इस अर्थमें तात्पर्य है। तैसे मन्त्रादिकोंका व्याख्यान जानना। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह अर्थ सिद्ध हुवा कि-विग्रहका अभाव होनेसे शब्दोपहित अर्थ (मानस)

का अथवा अर्थोपहित शब्दका नाम देवता है। ऐसी देवताको अचेतन होनेसे कर्ममें तथा विद्यामें अधिकार नहीं है इति।

समाधान। यह विरोध नहीं है; क्योंकि—**अनेकप्रतिपत्तेः।** अर्थात् जैसे योगी पुरुष योगके बलसे एक कालमें अनेक स्वरूपोंको धारण करके अनेक कार्यको करता है। तैसे आजान सिद्ध देवता भी एक कालमें अनेक स्वरूपोंको धारण करके अनेक यागोंके सन्निहित होकर कर्मके अङ्ग बन सकते हैं।

शंका। किस हेतुसे तुम ऐसा निश्चय करते हो?

समाधान। **'दर्शनात्।'** दर्शनसे अर्थात् श्रुति स्मृतियोंमें देवतावोंके अनेक रूप देखनेमें आते हैं। इस अर्थमें श्रुति स्मृतिको दिखाते हैं:—तहां श्रुतिः—**'कति देवा याज्ञवल्क्य।'** अर्थ—शाकल्य पूछते हैं—हे याज्ञवल्क्य! वैश्वदेव शस्त्रमें कहे हुये देवता कितने हैं इति। इस प्रकार उपक्रम करके शाकल्य करके पृष्ट जो याज्ञवल्क्य हैं सो देवता वाचक शब्दरूप इस निवित् करके उत्तरको देते भये—**'त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रा।'** अर्थात् 'तीन हजार तीनसो छ देवता हैं'। इस प्रकार देवतावोंके निर्वचनके अनन्तर—

प्रश्न—**'कत्येव देवा याज्ञवल्क्य।'** अर्थात्—शाकल्यने पुनः पूछा कि:—हे याज्ञवल्क्य! इनमें मुख्य कितने देवता हैं इति?

उत्तर—**'त्रयस्त्रिंशत्।'** याज्ञवल्क्यने कहा कि—तेतीस देवता हैं। तहां *अष्ट वसु, †एकादश रुद्र, ‡द्वादश आदित्य, इन्द्र, तथा प्रजापति यह जो तेतीस देवता हैं। इन देवतावोंकी ही पूर्वोक्त तीन हजार तीनसौ छ देवता महिमा-रूप विभूति हैं। अर्थात् सर्व देवता इन तेतीस देवतावोंके अन्तर्भूत हैं। इस अर्थको कहनेवाली जो—**'महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः।'** यह श्रुति है सो एक ही कालमें एक एक देवताकी अनेक रूपताको दिखाती है। प्रश्न—'कत्येव देवाः।'

---

* टि०—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र इनका नाम अष्ट वसु है। क्योंकि यही प्राणियोंके कर्मफलके आश्रय देहादि कार्य करण संघातरूपसे परिणत होकर सर्व जगत्को वसाते हैं। अतः इनका नाम वसु है।

† टि०—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, एक मन, इनका नाम एकादश रुद्र है। क्योंकि ये ग्यारह ही मरणकालमें उत्क्रमण करके सम्बन्धियोंको रुलाते हैं। अतः इनका नाम रुद्र है।

‡ टि०—सम्वत्सरके बारह महिनोंका नाम द्वादश आदित्य है। क्योंकि ये पुनः पुनः परिवर्तन करते हुये प्राणियोंको कर्मफल भोगाते हुये आयुको आदान (हरण) करते हैं, अतः इनका नाम आदित्य है।

अर्थात्—हे याज्ञवल्क्य ! इनमें मुख्य देवता कितने हैं इति । याज्ञवल्क्य—षट् । अग्नि, पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ यह छ देवता मुख्य हैं । इन छ देवतावोंकी ही पूर्वोक्त तेतीस देवता विभूति हैं । अतः इन तेतीस देवतावोंका छ देवतावोंमें अन्तर्भाव है । शाकल्य—कत्येव देवाः । अर्थात् इनमें मुख्य देवता कितने हैं । याज्ञवल्क्य-त्रयः । भूर्भुवःस्वः ये तीन लोक रूप देवता मुख्य हैं । इन तीन लोकोंमें सम्पूर्ण देवता अन्तर्भूत हैं । अर्थात् अग्निका पृथिवीमें, वायुका अन्तरिक्षमें, आदित्यका द्योमें अन्तर्भावके अभिप्रायसे ये तीन देवता कहे हैं । शाकल्य—कत्येव देवाः । याज्ञवल्क्य - द्वौ । अन्न तथा प्राणरूप दो देवता मुख्य हैं । इन दोनों देवतावोंकी ही पूर्वोक्त तीनों देवता विभूतिरूप महिमा हैं । अर्थात् इन दोनोंमें तीनोंका अन्तर्भाव है । शाकल्य--कत्येव देवाः याज्ञवल्क्य--अध्यर्धः । शाकल्य-अध्यर्ध किसको कहते हैं ? याज्ञवल्क्य—ऋद्धिका हेतु होनेसे वायुका नाम अध्यर्ध है । अन्न व प्राणका वायुमें ही अन्तर्भाव है । शाकल्य--कत्येव देवाः । याज्ञवल्क्य—एकः । एक देवता ही मुख्य है जिस एक देवकी ये पूर्वोक्ति सम्पूर्ण देवता महिमारूप विभूति हैं । शाकल्य—'कतम एको देव इति'--एक देव कौन है । याज्ञवल्क्य —'प्राण इति' समष्टि प्राण है । अर्थात् प्राण सूत्रात्मारूप करके सम्पूर्ण विश्वको चेष्टा कराता है । अथवा जगज्जीवन प्राणका भी जीवनप्राण यहां ब्रह्म है । अतः यहां कारणरूप ब्रह्मका नाम हो प्राण है । तिस प्राणरूप ब्रह्ममें ही सम्पूर्ण देवतावोंका अन्तर्भाव है । इस प्रकार निर्वचन करती हुई अर्थात् सम्पूर्ण देवतावोंको प्राणके साथ एकरूपताको दिखाती हुई श्रुति एक एक देवताकी व प्राणरूप ब्रह्मकी युगपत् अनेक रूपताको दिखाती है ।

तथा स्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है । तहां स्मृति—आत्मनो वै शरीराणि, बहूनि भरतर्षभ । योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥' इत्यादिक । अर्थ—हे भरतकुलमें श्रेष्ठ ! योग बलको प्राप्त होकर योगी पुरुष अपने एक शरीरके अनेक शरीरोंको करता है तथा तिन सर्व शरीरों करके पृथिवीमें विचरता है । तहां कितनेक शरीरों करके विषयोंको प्राप्त होता है । तथा कितनेक शरीरों करके उग्र तपको करता है । और जैसे सूर्य रश्मिसमूहको अपनेमें लय कर लेता है, तैसे ही योगी पुरुष पुनः शरीरोंको अपनेमें लय कर लेता है इति ।

इस प्रकारकी जो अनेक स्मृति हैं सो जब अणिमादिक ऐश्वर्यको प्राप्त हुये योगी पुरुषोंको भी एक कालमें अनेक शरीरोंके सम्बन्धको दिखाती हैं । तब आजानसिद्ध (अर्थात् जन्मसे ही सिद्ध) देवतावोंका एक कालमें अनेक शरीरोंके साथ सम्बन्ध होता है इसमें क्या कहना है । इस पूर्वोक्त रीतिसे अनेकरूपकी प्राप्तिका सम्भव होनेसे एक एक देवता अपने अपने देहको बहुत. रूपसे विभाग करके बहुत यागोंमें अङ्गभावको प्राप्त होते हैं ।

और पूर्व जो वादीने कहा था कि —यदि विग्रहवाली देवता यागके समीपमें आकर कर्मके अङ्गभावको प्राप्त होती हैं तो देवतावोंका दर्शन होना चाहिये ? सो कहना असङ्गत है । क्योंकि अन्तरधानादिकोंकी शक्तियोंके योगसे देवता दूसरों

करके देखनेमें नहीं आते हैं। अतः देवतावोंको शरीर सहित होनेसे ब्रह्मविद्यामें अधिकार है यह सिद्ध हुवा इति।

किञ्च 'अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्' इस वाक्यकी दूसरी रीतिसे व्याख्या करके "सन्निहित देवादिकोंमें ही कर्मका अङ्गभाव है" ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि असन्निहित वस्तुमें भी युगपत् अनेक कर्मका अङ्गभाव देखनेमें आता है। इस अर्थको कहते हैं:—विग्रहवालोंकी भी कर्मोंकी अङ्गविधिमें अनेक प्रकारकी 'प्रतिपत्ति' देखनेमें आती है। अर्थात् कहीं अनेक कर्मोंमें एकको अङ्गभावकी प्राप्ति होती है, कहीं नहीं।

अब "अनेक कर्मोंविषे अङ्गभावकी प्राप्ति एकमें भी बन सकती है क्योंकि लोकमें ऐसा देखनेमें आता है" इस अर्थको स्पष्ट करनेके लिये प्रथम व्यतिरेकको दिखाते हैं—'क्वचिदेकोऽपि' इत्यादि भा०। अर्थात् किसी स्थलमें विग्रहवाला एक पुरुष अनेक क्रियारूप कर्मविषे एक कालमें अङ्गभावको नहीं प्राप्त होता है। जैसे भोजन करानेवाले बहुतसे यजमान एक ब्राह्मणको एक कालमें अनेक स्थल विषे अनेक भोजनोंको नहीं करा सकते हैं; न ब्राह्मण कर सकता है। और अब अभीष्ट अङ्गत्वके लिये अन्वयको दिखाते हैं—'क्वचिच्चेति'। कोईक स्थलमें एक भी विग्रहवाला पुरुष अनेक कर्ममें युगपत् अङ्गभावको प्राप्त होता है। जैसे अनेक पुरुषों करके क्रियमाण नमस्काररूप अनेक क्रियावोंमें नमस्कार्य एक ही ब्राह्मण अङ्गभावको प्राप्त होता है। तैसे विग्रहवाली भी एक देवताको उद्देश करके अनेक याज्ञिक पुरुष एक कालमें ही अपना अपना हवि आदिक द्रव्यका त्याग कर सकते हैं। अतः द्रव्यका त्यागरूप अनेक यागोंमें भी एक विग्रहवती देवता विषे अङ्गभाव बन सकता है। तथा च देवतावोंको विग्रहवत्त्वके हुये कर्ममें किञ्चित्मात्र भी विरोध नहीं है यह सिद्ध हुवा इति ॥ २७ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे देवादिकोंके विग्रह (शरीर) के हुये कर्ममें कोई विरोध न होवे तो न सही। किन्तु शब्दनिष्ठ प्रामाण्यमें विरोध अवश्य होवेगा। क्योंकि— 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इत्यादि जैमनिसूत्र—(१।१।५) में अनादि अर्थके सम्बन्धको अनादि होनेसे 'अनपेक्षत्वात्' इत्यादि भाष्यसे वेदमें मानान्तरानपेक्ष प्रामाण्यको स्थापन किया है। अब आप विग्रहवाली देवताको स्वीकार करते हैं। विग्रहवाली देवता यद्यपि अणिमादिक ऐश्वर्यके बलसे एक कालमें अनेक कर्म सम्बन्धि हविःको भोग सकेगी। तथापि विग्रहके सम्बन्धसे अस्मदादिकोंकी तरह जन्म-मरणवाली ही सो देवता होवेगी। अतः शब्दका अनित्य अर्थके साथ सम्बन्धको अनित्य होनेसे नित्य शब्दका नित्य अर्थके साथ नित्य सम्बन्धके प्रतीयमान होनेसे जो वैदिक शब्दमें मानान्तरानपेक्ष प्रामाण्य स्थापन किया है तिसमें मानान्तरसापेक्षत्वरूप विरोध होवेगा। अर्थात् गोत्वादिकी तरह प्रत्यभिज्ञादिक प्रमाणके न होनेसे वसुत्वादिक जाति नहीं है। अतः वसु आदिक देवतावोंके नाम आकाशादि शब्दकी तरह केवल व्यक्तिके ही वाचक हैं। व्यक्ति

यदि नित्य होती तो नित्य शब्दके साथ नित्य व्यक्तिका सम्बन्ध भी नित्य होता। वसु आदिक व्यक्तिके अनित्य होनेसे, व्यक्तिकी उत्पत्तिके पहिले व्यक्तिके न होनेसे वसु आदिक शब्द व्यक्तिरूप अपने अर्थके साथ सम्बद्ध नहीं थे। व्यक्तिके उत्पन्न होनेके अनन्तर शब्द व अर्थका सम्बन्ध पुरुषबुद्धिके अधीन उत्पन्न होवेगा। और सम्बन्ध ग्रहण पूर्वक वाक्यार्थप्रत्यय भी पुरुषबुद्धिके अधीन ही होगा। और पुरुषकी बुद्धि मानान्तरके अधीन हुवा करती है। अतः मानान्तरकी अपेक्षा होनेसे वेदमें प्रामाण्यका व्याघात होवेगा? ऐसी आशंका करके सूत्रकार समाधानको दिखाते हैं:—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्+ प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

अर्थ—१ शब्दे, २ इति, ३ चेत्, ४ न, ५ अतः, ६ प्रभवात्, ७ प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। इस सूत्रमें सात पद हैं। 'शब्दे' शब्दमें अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे शब्दनिष्ठ प्रामाण्यमें विरोध होवेगा 'इति चेन्न' ऐसा नहीं कहना। क्योंकि 'प्रत्यक्ष' कहिये श्रुति तथा 'अनुमान' कहिये स्मृति इन दोनों प्रमाणों करके निश्चित है कि—देवादिक सम्पूर्ण जगत् इस वैदिक शब्दसे ही उत्पन्न होता है, अतः कोई विरोध नहीं है इति।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रके तात्पर्यको वर्णन करते हैं—क्या शब्दमें अनित्यत्व करके सम्बन्धमें अनित्यत्वका आपादन करते हो? अथवा अर्थमें अनित्यत्व करके सम्बन्धमें अनित्यत्वका आपादन करते हो? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि—'अतः प्रभवात्' वैदिक शब्दसे ही सर्व जगत् पैदा होता है। अतः देवादि व्यक्तिका हेतुरूप करके शब्दको प्रथम ही विद्यमान होनेसे शब्दमें अनित्यत्व नहीं बन सकता है।

शंका। 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्तिका निर्धारण हो चुका है; अब यदि इस सूत्रमें शब्दसे जगत् उत्पत्ति मानोगे तो पूर्व व परका विरोध होगा।

समाधान। 'नायमप्यस्ति विरोधः' इति भा०। अर्थात् यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जगत्की उत्पत्तिके प्रति शब्द भी ब्रह्मका सहकारी कारण है। अतः शब्दमें भी जगत्कारणत्वको होनेसे पूर्व व परका विरोध नहीं है।

अब द्वितीय पक्षको लेके 'अपिच' इत्यादि भाष्य करके पूर्ववादी शंका करता है:—

शंका। यदि वैदिक शब्दसे देवादिक जगत्की उत्पत्ति मानोगे तो भी शब्दमें विरोधका परिहार किस प्रकार होगा किन्तु नहीं होगा। क्योंकि 'वसवो

+ टि०—वसुत्वादिक जाति वाचक शब्दसे वसु आदिक चिकीर्षित व्यक्तिको बुद्धिमें आकलन करके जो स्वयम्भूकर्तृक देवादि व्यक्तिको उत्पत्ति है यही देवादिकोंमें शब्दप्रभवत्व है।

रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इत्येतेऽर्थाः, अनित्याः, उत्पत्तिमत्त्वात् घटादिवत्' अर्थात् वसु आदिक जो अर्थ हैं सो उत्पत्तिवाले होनेसे अनित्य ही होवेंगे; और जब अनित्य हुये तब वसु आदिक देवतावोंके वाचक वसु आदिक वैदिक शब्दोंमें अनित्यत्वको कौन वारण करेगा ? और वसु आदिक अर्थको अनित्य होनेसे शब्दके सम्बन्धमें भी अनित्यत्व दुर्वार होगा। क्योंकि सम्बन्धिके नाशसे अनन्तर सम्बन्धकी स्थिति बने नहीं। तथा च अर्थके सम्बन्धमें भी सादित्व सिद्ध हुवा। और लोकमें भी प्रसिद्ध है कि—देवदत्तका पुत्रके हुये बादमें 'यज्ञदत्त' नाम किया जाता है। अतः शब्दमें पौरुषेय सम्बन्धकी अपेक्षा होनेसे प्रामाण्यका विरोध है यह सिद्ध हुवा इति।

समाधान। वादीने जो कहा है कि "वसु आदिक शब्दोंके विग्रहरूप अर्थोंको अनित्य होनेसे वसु आदि शब्द भी अनित्य होवेंगे, और शब्द तथा अर्थका सम्बन्ध भी अनित्य होवेगा" सो वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि उत्पत्तिवाली होनेसे गवादिक व्यक्तियोंके अनित्य हुये भी गवादिक शब्दका वाच्य अर्थ जो गोत्वादिक जातिरूप आकृति है सो उत्पत्तिरहित होनेसे नित्य है। और गवादिक शब्द तथा जातिरूप अर्थको नित्य होनेसे दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य ही है।

शंका। गवादिक व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होनेसे गवादिनिष्ठ रूपादिकी तरह गोत्वादिक जातिकी भी उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ?

समाधान। जातिको नित्य (यावत्काल स्थायि) होनेसे व्यक्तिकी तरह उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि द्रव्य गुण कर्मोंकी व्यक्ति ही उत्पन्न होती हैं। जातिकी उत्पत्ति नहीं होती है।

और गवादिक शब्दोंका व्यक्तियोंके साथ शक्तिरूप सम्बन्ध भी नहीं है। किन्तु जातिके साथ ही है। यदि व्यक्तिके साथ सम्बन्ध मानोगे तो, व्यक्तियोंको अनन्त होनेसे सम्बन्धका ग्रहण नहीं हो सकेगा। क्योंकि "सम्बन्धज्ञानमें यावत सम्बन्धीका ज्ञान कारण होता है" यह नियम है। प्रसङ्गमें सर्वज्ञ योगीसे विना अल्पज्ञ दूसरे मनुष्योंको अनन्त व्यक्तिरूप सम्बन्धीका ज्ञान नहीं बन सकता है। और गवादिक शब्दका जातिरूप अर्थके साथ सम्बन्धका ग्रहण तो बन सकता है। क्योंकि गोत्वादिक जातिरूप अर्थ एक है। इस पूर्वोक्त रीतिसे जैसे गवादिक व्यक्तियोंको उत्पद्यमान हुये भी आकृतिको नित्य होनेसे गवादिक शब्दमें कोई विरोध नहीं है। तैसे वसु आदिक देवताविग्रहके उत्पद्यमान हुये भी वसु-आदिक शब्दका अर्थ जो वसुत्वादिकरूप आकृति है तिसको नित्य होनेसे वसु-आदिक शब्दमें भी कोई विरोध नहीं है।

यहां ऐसा जानना योग्य कि-गो शब्दका शक्य अर्थ गोत्व जाति है, व्यक्ति नहीं क्योंकि 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः'। अर्थ—लक्षणावृत्ति करके व शब्दसे भिन्न करके जिस वस्तुका लाभ (ज्ञान) न हो तिस वस्तुका नाम अनन्यलभ्य है। ऐसी गोत्वादि-

रूप आकृति है। और अनादि तात्पर्यवती निरूढ़ 'अजहत्' लक्षणा करके व्यक्तिका लाभ होता है। अतः व्यक्तिमें अनन्यलभ्यत्वका अभाव होनेसे व्यक्ति शक्य अर्थ नहीं है। किन्तु गो शब्दका लक्ष्य अर्थ है इति।

शंका। वह कौन व्यक्ति हैं जिन व्यक्तियोंमें अनुगत इन्द्रत्वादिक जाति इन्द्रादिक शब्दके अर्थ हैं।

समाधान। **'आकृतिविशेषस्तु'** इत्यादि भा०। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' वज्र है हस्तमें जिसके तिसका नाम पुरन्दर कहिये इन्द्र है—इत्यादि मन्त्र व अर्थ-वादादिकोंसे देवादिकोंके विग्रहका निश्चय होता है। और निश्चित इन्द्रादिक व्यक्तियोंमें इन्द्रत्वादिक आकृतिविशेषका निश्चय करनेको योग्य है।

शंका। नित्य तथा अनेकमें समवेत जो धर्म है तिसका नाम जाति है। प्रसङ्गमें इन्द्रादिक व्यक्तियोंको एक एक होनेसे एक एक व्यक्तिवृत्ति इन्द्रत्वादिक जाति नहीं हो सकती हैं।

समाधान। अतीत अनागत इन्द्रादिक व्यक्तियोंके भेदसे इन्द्रत्वादिक जाति बन सकती हैं इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे इन्द्रादिक शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्त इन्द्रत्वादिक जाति-योंको कहकर, अब उपाधि निमित्तको कहते हैं—**'स्थानविशेषसम्बन्धनिमित्ता हि इन्द्रादिशब्दाः'** इत्यादि भा०। अर्थ—जैसे सेनापतिके स्थान (पद) पर जो पुरुष स्थित होता है सो पुरुष सेनापति कहा जाता है। यहां सेनापति शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त सेनापतिका स्थान है। तैसे इन्द्रादिक देवतावोंका स्थान जो इन्द्रादिकोंका पद हैं तिन स्थानोंमें जो जो देव स्थित होता है सो सो देवता इन्द्रादिक शब्द करके कही जाती है। यहां इन्द्रादिक शब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त स्थान है, अतः कोई दोष नहीं है इति।

और जो वादीने कहा था कि—**'जन्माद्यस्य यतः'** इस पूर्व सूत्रमें जगत् विषे ब्रह्मप्रभवत्वको कह आये हैं। और इस सूत्रमें शब्दप्रभवत्वको सूत्रकार कहते हैं। अतः पूर्वपरका विरोध होवेगा? सो यह वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि जगत्में उपादानकारणकत्वरूप ब्रह्मप्रभवत्वकी तरह शब्दप्रभव-त्वको सूत्रकार नहीं कहते हैं। किन्तु नित्य अर्थ सम्बन्धी नित्य शब्दके विद्यमान हुये, शब्दव्यवहारके योग्य जो व्यक्तिरूप अर्थकी निष्पत्ति है, सोई 'अतः प्रभवः' इस वाक्य करके व्यास भगवान् कहते हैं। अर्थात् शब्द जगत्का निमित्त कारण है; और ब्रह्म उपादान कारण है। अतः पूर्व परका विरोध नहीं हो सकता है इति।

शंका। पुनः 'शब्दसे जगत्का प्रभव होता है' यह किस प्रमाणसे ज्ञात होता है?

समाधान । 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।' अर्थात् श्रुति जो है सो स्वनिष्ठ प्रामाण्यके प्रति दूसरेकी अपेक्षा नहीं करती है, अतः श्रुतिका नाम यहां 'प्रत्यक्ष' है। और स्मृति जो है सो स्वनिष्ठ प्रामाण्यके लिये मूल श्रुतिका अनुमान करती है इसलिये स्मृतिका नाम यहां 'अनुमान' है। ये श्रुति तथा स्मृति शब्दपूर्वक सृष्टिको दिखाती हैं:-

तहां श्रुतिः—**'एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः ॥'**

अर्थ—इस श्रुतिमें एते, असृग्रम्, इन्दवः, तिरःपवित्रम्, आशवः, विश्वानि, अभिसौभगा, ये जो पद हैं तिन पदों करके क्रमसे देवता, मनुष्य, पितृ, ग्रह, स्तोत्र, शस्त्र व अन्य प्रजा-इनको स्मरण करके प्रजापति जो ब्रह्मा है सो देवादिकोंको उत्पन्न करता भया इति। अर्थात् 'एते' यह जो पद है सो सन्निहितका वाचक है। अतः चक्षुरादिक कर्णोंके अनुग्राहकरूप करके सन्निहित जो सूर्यादिक देवता हैं तिनोंका स्मारक है। और 'असृक्' जो रुधिर है तिस रुधिरप्रधान देहमें जो रमण करनेवाले मनुष्य हैं तिनोंका स्मारक 'असृग्रम्' यह पद है। तथा इन्दुमण्डलमें स्थित जो पितर हैं तिनोंका स्मारक 'इन्दु' शब्द है। पवित्र जो सोम है तिसको अपनेमें तिरोभाव करनेवाले जो ग्रह हैं तिनका स्मारक तिरःपवित्र शब्द है। और ऋचावों-को व्याप्त करनेवाले जो गीतिरूप स्तोत्र हैं तिनोंका स्मारक 'आशु' शब्द है। तथा स्तोत्रसे अनन्तर प्रयोगमें प्रवेश करनेवाले जो मन्त्रविशेषरूप शस्त्र हैं तिनोंका स्मारक 'विश्व' शब्द है। तथा सर्वत्र सौभाग्य करके युक्त जो प्रजा हैं तिनोंका स्मारक 'अभिसौभगा' शब्द है। इस पूर्वोक्त रीतिसे तत् तत् पदों करके तत् तत् देवादिकोंका स्मरण करके ब्रह्माजी शब्दपूर्वक ही सृष्टिको रचते भये इति।

इसी अर्थमें दूसरी श्रुतिको दिखाते हैं—**'स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्'** (बृ० १।२।४) इत्यादि। अर्थ—सो प्रजापति मन करके सहित वेदत्रयी वाणीरूप मिथुनको अर्थात् मन तथा वाक्रूप मिथुनको 'समभवत्' कहिये वेदत्रयरूप वाणी करके प्रकाशित जो सृष्टि है तिस सृष्टिविषयक मन करके आलोचनाको करता भया इति। इस प्रकार तहां तहां श्रुतिमें शब्दपूर्वक ही सृष्टिका श्रवण होता है इति।

अब इसी अर्थमें स्मृतिको दिखाते हैं—**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥** अर्थ—ब्रह्मा उत्पत्ति नाश रहित नित्य शब्दको प्रादुर्भाव करता भया। तथा च प्रथम दिव्य वेदमय शब्दका प्रादुर्भाव होता है पश्चात् वेदशब्दसे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है इति।

शंका। जैसे कालिदासादिकोंने कुमारसम्भवादिका निर्माण किया है; ऐसे ही क्या ब्रह्माजीने दिव्य वेदमयी वाणीका उत्सर्ग अर्थात् निर्माण किया है?

तथाच जैसे कुमारसम्भवादिकोंमें प्रमाणान्तर सापेक्षत्व है तैसे ही वेदमें भी सापेक्षत्वरूप अप्रामाण्य होगा।

समाधान। यहां आदि अन्त करके रहित जो नित्य शब्द हैं तिनोंका अन्य प्रकारका उत्सर्ग कहिये उत्पत्तिका असम्भव होनेसे "गुरुशिष्यकी परम्परा करके अध्ययनका प्रवर्तनरूप" जो संप्रदाय है सोई शब्दका उत्सर्ग है ऐसा जानना। अर्थात् स्वयम्भूमें वेदका कर्तृत्व होनेपर भी कालिदासादिकोंकी तरह स्वतन्त्रत्व नहीं है। किन्तु पूर्व पूर्व सृष्टिके अनुसार ही उत्तर उत्तर सृष्टिमें वेदकी रचना होती है।

तथा 'नामरूपे च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥' (मनु० १। २१) इत्यादि। अर्थ—सो परमात्मा सृष्टिके आदि कालमें वेदशब्दोंसे ही भूतोंके नाम तथा रूप तथा कर्मोंके प्रवर्तनको करता भया इति।

'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥' अर्थ—सृष्टिके आदिमें सो महेश्वर वेदशब्दोंसे ही सम्पूर्ण प्राणियोंके पृथक् २ नाम तथा पृथक् २ कर्मोंको तथा पृथक् २ संस्थावोंको रचता भया इति। इन स्मृतियोंमें भी शब्दपूर्वक ही सृष्टिको कहा है।

'या प्रजापतिसृष्टिः, सा शब्दपूर्विका, सृष्टित्वात्, प्रत्यक्षघटादिवत्'। अर्थ—जैसे प्रत्यक्ष घटादिरूप दृष्टान्तमें सृष्टित्वरूप यह हेतु है तथा शब्दपूर्वकत्व साध्य भी है। तैसे ही प्रजापतिकी सृष्टिरूप पक्षमें सृष्टित्व यह हेतु है। अतः शब्दपूर्वकत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके भी शब्दपूर्वक ही सृष्टि निश्चित होती है इति।

अब 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इस वाक्यके अर्थान्तरको दिखाते हैं— 'अपि च' इत्यादि भा०। जैसे "यह जीव संस्कारके बलसे उत्पत्ति करनेकी इच्छाका विषयीभूत जो यज्ञादि अर्थ है तिसका अनुष्ठान करते हुये तिस अर्थके वाचक शब्दको प्रथम स्मरण करके पश्चात् तिस अर्थ विषयक अनुष्ठानको करता है" यह हमारे लोगोंको प्रत्यक्षसिद्ध है। तैसे ही "जगत्स्रष्टा ब्रह्माके मनमें भी पूर्वकल्पीय संस्कारके बलसे सृष्टिके प्रथम वैदिक शब्द प्रादुर्भावको प्राप्त होते भये, पश्चात् वैदिक शब्दोंमें अनुगत व चिकीर्षित जो अर्थ हैं तिनोंको बुद्धिमें आकलन करके ब्रह्माजी उत्पन्न करते भये" ऐसा निश्चय होता है इति। तहां—'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत' इत्यादिक श्रुति "ब्रह्मा अपने मनमें व वाणीमें प्रादुर्भूत 'भूः' इत्यादिक शब्दोंसे भूमि आदिक लोकोंको उत्पन्न करता भया" इसी अर्थको दिखाती हैं इति।

शब्दसे जगत्की उत्पत्ति कह आये हैं। अतः, इस प्रसङ्गमें शब्दके स्वरूपको कहनेके लिये प्रथम शब्दसे जगत्की उत्पत्तिके आक्षेपको दिखाते हैं—

'किमात्मकम्' इत्यादि भा०। क्या शब्द वर्णरूप है? अथवा वर्णसे भिन्न स्फोटरूप है? तहां दोनों पक्ष नहीं बन सकते हैं। क्योंकि वर्णको अनित्य होनेसे तथा स्फोटको असत्रूप होनेसे दोनोंमें जगत्का हेतुत्व नहीं बन सकता है। फिर कैसे शब्दके अभिप्रायसे यह देवादिक सृष्टिमें शब्दप्रभवत्व कहते हो?

इस प्रकारका आक्षेपके हुये वैयाकरण द्वितीय पक्षको अङ्गीकार करता है— '*स्फोटमित्याह' इति भाष्यम्। वैयाकरण शब्दको स्फोटरूप कहता है। 'स्फुटयते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटः' अर्थात् वर्णों करके व्यङ्ग्य तथा अर्थका अभिव्यञ्जक जो गवादिक नित्य शब्द है तिसका नाम स्फोट है। इस शब्दरूप स्फोटके अभिप्रायसे ही शब्दसे जगत्की उत्पत्ति 'अतः प्रभवात्' इत्यादि करके सूत्रकारने कही है इति।

शंका। वर्णोंसे अतिरिक्त स्फोटका अनुभव नहीं है। अतः नरविषाणके तुल्य स्फोट असिद्ध है?

समाधान। 'गौः' यह एक पद है, और 'शुक्लां गामानय' यह एक वाक्य है। इस प्रकार नाना वर्णोंसे अतिरिक्त पद व वाक्यरूप स्फोटकी प्रतीति सर्वको अनुभवसिद्ध है। बलवान् बाधकको न होनेसे इस प्रतीतिको भ्रम भी नहीं कह सकते हैं।

अब वैयाकरण ही प्रथम पक्षमें दोषको दिखाता है—'वर्णपक्षे हि' इत्यादि भा०। अर्थात् अवाचक शब्दोंसे देवादिकोंका बुद्धिमें स्फुरण न होनेसे वाचक शब्दसे ही देवादिकोंका प्रभव मानना पड़ेगा। एवं च वसु आदिक देवोंके वकारादिक वर्ण वाचक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि 'वर्णका नाम शब्द है' यदि इस प्रथम पक्षको मानोगे तो वर्णोंको उत्पत्तिसे अनन्तर तृतीय क्षणमें विनाशशील होनेसे "नित्य शब्दोंसे देवादिक व्यक्तियोंकी उत्पत्ति होती है" यह वाद अनुपपन्न होगा।

शंका। 'सोऽयं गकारः' "पूर्व उच्चारण किया जो गकार था सोई यह गकार है" इस प्रत्यभिज्ञा करके वर्णमें नित्यत्वकी सिद्धि हो सकती है। अतः नित्य वर्णरूप शब्दोंसे देवादिकोंकी उत्पत्ति बन सकती है।

समाधान। उच्चारण उच्चारणके प्रति अन्यथा अन्यथा प्रतीयमान होनेसे उत्पत्ति विनाशवाले वर्ण हैं। अर्थात् 'तारो गकारः, मन्दो गकारः' इस प्रकार तारत्व मन्दत्वरूप विरुद्ध धर्मों करके प्रतीयमान जो गकार है तिस गकारके

* 'वर्ण बोधक नहीं हैं' यह कहना तो उचित ही है, परन्तु 'स्फोट बोधक नहीं है' इस मतको हम सहन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि स्फोटके अनुभवसे अनन्तर वृत्तिज्ञानवाले पुरुषको अर्थविषयक शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है।

भेदका अनुमान होता है। अतः गकार एक नहीं है। और जब एक नहीं हुवा तब परिच्छिन्न वर्ण नित्य भी नहीं होवेगा। अतः 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा गत्वरूप जातिविषयक है, गकाररूप व्यक्तिविषयक नहीं है।

आर जहां गृहके अन्तर दश पांच पुरुष अध्ययन कर रहे हैं तहां गृहके बाहर स्थित पुरुषको अध्ययनध्वनिके श्रवणसे अदृश्यमान पुरुषविशेषका भी विशेषरूप करके निश्चय होता है कि –'यह देवदत्त अध्ययन करता है' 'यह यज्ञदत्त अध्ययन करता है' इत्यादि। अर्थात् इस स्थलमें भी अन्यथात्वप्रकारक ज्ञान होता है। अतः वर्ण एक नहीं है किन्तु प्रत्युच्चारण भिन्न २ हैं, और अनित्य हैं।

शंका। तारत्व मन्दत्वादिक विरुद्ध धर्म प्रकारक जो ज्ञान है सो ध्वनिरूप उपाधिवाला होनेसे भ्रमरूप है। अतः इस भ्रमज्ञान विषे शब्दमें अनित्यत्वका साधकत्व नहीं बन सकता है। क्योंकि तारत्वादिक ध्वनिके धर्म हैं।

समाधान। वर्णविषयक जो तारत्वादिप्रकारक ज्ञान है सो मिथ्या ज्ञान नहीं है, किन्तु सत्य है। क्योंकि इस स्थलमें बाधक ज्ञानका अभाव है। अतः वर्णोंको अनित्य होनेसे वर्णोंमें जगद् हेतुत्व नहीं बन सकता है इति।

किञ्च वर्णोंसे अर्थका ज्ञान भी नहीं बन सकता है, क्योंकि व्यभिचार है। अर्थात् एक वर्णसे अर्थका बोध होता है? अथवा वर्णके समुदायसे होता है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि एक वर्णसे अर्थका ज्ञान नहीं देखा गया है न हो सकता है। और यदि एक वर्ण मात्र ही अर्थका बोधक होवे तो घरूप एक वर्णसे ही घटरूप अर्थका बोध हो ही जावेगा, टकार वर्ण व्यर्थ होवेगा। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि वर्ण जो हैं सो क्रमवाले हैं व क्षणिक हैं। अर्थात् प्रथम क्षणमें वर्ण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षणमें स्थित होता है, तृतीय क्षणमें नष्ट हो जाता है। अतः क्रमवाले वर्णोंका प्रथम समुदाय ही नहीं बन सकता है। जब समुदाय ही अप्रसिद्ध हुवा तब अप्रसिद्ध वर्णसमुदायमें अर्थको बोधकत्व भी कहना असंभव है।

शंका। यद्यपि वर्णोंको क्षणिक होनेसे 'गामानय' इत्यादिक स्थलोंमें स्वरूपसे वर्णोंका समुदाय नहीं बन सकता है। तथापि गकारादिक वर्णोंका अनुभवजन्य संस्कारद्वारा समुदाय बन सकता है। अर्थात् पूर्व पूर्व वर्णोंके अनुभवजन्य जो संस्कार हैं तिन संस्कारों करके सहित जो अन्त्य वर्णरूप शब्द है सो अर्थका बोधन करेगा।

समाधान। स्फोटवादी पूछता है कि –जो संस्कार सहित अन्त्य वर्ण अर्थको बोधन करेगा सो संस्कार; वर्ण व तदुच्चारणादि करके जन्य अपूर्वरूप है? अथवा वर्णका अनुभवजन्य भावनारूप है? तहां प्रथम पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि जैसे आग्नेयादिक याग करके जन्य अपूर्वमें प्रमाण है तैसे वर्ण करके जन्य अपूर्वमें कोई प्रमाण नहीं है। अथवा अपूर्वरूप संस्कार सहित जो शब्द है सो अज्ञात हुवा

अर्थज्ञानका हेतु है? अथवा ज्ञात हुवा अर्थज्ञानका हेतु है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि बधिर पुरुष करके अगृहीत जो उच्चरित शब्द है; तथा अगृहीत कहिये अज्ञात है शक्ति आदिक सम्बन्ध जिसका ऐसा जो गृहीत उच्चरित शब्द है; तिन शब्दोंको अर्थबोधकत्व नहीं है। और "जैसे ज्ञात हुवा धूम वन्हिरूप अर्थका बोधक होता है, तैसे ही गृहीत सङ्गतिवाला ज्ञात हुवा जो संस्कार सहित शब्द है सोई अर्थका बोधक होगा" यह जो *द्वितीय पक्ष है। सो भी नहीं बन सकता है इस अर्थको विकल्पपूर्वक दिखाते हैं—क्या प्रत्यक्ष प्रमाण करके ज्ञात हुवा संस्कारसहित शब्द अर्थका बोधक है? अथवा अनुमान प्रमाण करके ज्ञात हुवा अर्थका बोधक है? तहां प्रथम पक्ष तो बन सकता नहीं, क्योंकि संस्कारको अप्रत्यक्ष होनेसे पूर्व पूर्व वर्णके अनुभवजन्य संस्कार सहित अन्त्य वर्णरूप शब्दकी प्रत्यक्ष प्रतीति ही नहीं बन सकती है। तथा "कार्य रूप लिङ्ग करके बोधित जो संस्कार है तिस संस्कार करके सहित ज्ञात हुवा अन्त्य वर्ण अर्थका बोधन करेगा" यह जो द्वितीय पक्ष है सो भी नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रसङ्गमें अर्थज्ञान (शाब्द बोध) का नाम कार्य है? अथवा स्मरणका नाम कार्य है? तहां प्रथम पक्षमें प्रथम अर्थज्ञानके हुये तज्जन्य संस्कारका ज्ञान होवेगा, और संस्कारके ज्ञानके हुये अर्थका ज्ञान होवेगा। इस रीतिसे अन्योऽन्याश्रय व चक्रक दोष होवेगा। और द्वितीयपक्षमें पदार्थ स्मरणरूप कार्यको भी पदज्ञानके अनन्तर भावि होनेसे अन्योऽन्याश्रयादि दोष होवेगा। अतः स्मरणरूप कार्य करके भी संस्कारसहित पदका ज्ञान युक्त नहीं है।

इससे भावनारूप संस्कार पक्ष भी निरस्त हो गया, क्योंकि वर्णके अनुभवजन्य संस्कारको वर्णविषयक स्मृतिका हेतुत्व है, अर्थबोधका हेतुत्व नहीं।

शंका। केवल वर्णानुभवजन्य संस्कारको वर्णस्मरणहेतुत्व हैं और अन्त्य वर्णके साहित्यसे अर्थधीहेतुत्व है?

समाधान। अर्थज्ञानके प्रथम भावनाज्ञानका अभाव होनेसे संस्कार सहित शब्दमें अर्थज्ञानहेतुत्व नहीं बन सकता है।

शंका। संस्कारविषयक प्रत्यक्षके असम्भव हुये भी वर्णस्मरणसे संस्कारकी अनुमितिरूप ज्ञान बन सकता है। तथा च अनुमित संस्कारसहित अन्त्य शब्द अर्थज्ञानका हेतु बन सकता है।

---

* टि०—अर्थात् **'संस्कारसहितः शब्दो, ज्ञात एवार्थधीहेतुः, सम्बन्धग्रहणापेक्षबोधकत्वात्, धूमादिवत्'।** अर्थ—जैसे दृष्टान्त धूममें व्याप्तिरूप सम्बन्ध ग्रहणकी अपेक्षा करके बोधकत्वरूप हेतु है। और ज्ञात हो करके अर्थधीहेतुत्वरूप साध्य है। तैसे ही संस्कार सहित शब्दरूप पक्षमें शक्तिरूप सम्बन्ध ग्रहणकी अपेक्षा करके बोधकत्वरूप हेतु है, और ज्ञात हो करके अर्थधीहेतुत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति।

समाधान । तत्तद्वर्णविषयक क्रमशः अनुभवजन्य संस्कारजन्य क्रमिक वर्णस्मरणको अन्त्य वर्णके अनुभवजन्य संस्कारके अनन्तर भावी होनेसे तादृश स्मरण करके अनुमित संस्कारमें वर्णसाहित्य नहीं बन सकता है, क्योंकि संस्कारकी अनुमितिकालमें अन्त्य वर्ण है नहीं। यदि अन्त्य वर्णके अनुभवसे प्रथम हो तत् तत् वर्णविषयक अनुभवजन्य स्मरणसे तत् तत् वर्ण विषयक संस्कारोंकी तत् तत् अनुमिति मानें तो भी उपान्त्य वर्णानुभवजन्य स्मरण करके अनुमित संस्कारमें अन्त्य वर्णका साहित्य नहीं बन सकता है, क्योंकि उपान्त्य वर्ण विषयक संस्कारकी अनुमितिकालमें भी अन्त्य वर्ण नष्ट हो चुका है। इस पूर्वोक्त रीतिसे वर्णोंमें अर्थबोधकत्वका असम्भव होनेसे स्फोट ही शब्द है—इस प्रकार वैयाकरण कहता है—**'तस्मात्स्फोट एव शब्दः'** इत्यादि भाष्यम् ।

शंका । स्फोटमें क्या प्रमाण है ?

समाधान । 'एकं पदम्' 'एकं वाक्यम्' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे रत्नका स्वरूप वारंवार चाक्षुष प्रत्यक्ष करके स्पष्ट प्रतीत होता है, तैसे गकारादिक एक एक वर्णजन्य स्फोटविषयक जो प्रत्यय हैं तिन प्रत्ययों करके सम्पादित संस्काररूप हैं बीज जिस चित्तमें, तथा अन्त्य वर्ण करके जन्य जो ज्ञान है तिस ज्ञान करके जन्य परिपाकरूप अन्त्य संस्कार है जिस चित्तमें, ऐसा जो चित्त है तिस चित्तमें, 'एकं गौरिति पदम्' इस प्रकारका जो प्रत्यक्ष प्रत्यय होता है तिस प्रत्यक्ष ज्ञानका विषयरूप करके शीघ्र ही गवादिक पदस्फोट प्रतीत होता है।

शंका । 'एकं पदं' 'एकं वाक्यम्' यह जो ज्ञान है सो पदस्फोट तथा वाक्यस्फोटमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है किन्तु वर्णविषयक समूहालम्बनरूप स्मृति है।

समाधान । 'एकं पदम्' इत्यादिक जो एक प्रत्यय है सो वर्णविषयक स्मृतिरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि वर्णोंको अनेक होनेसे एकविषयक प्रत्ययका विषयत्व नहीं बन सकता है इति ।

अब स्फोटमें जगत् हेतुत्वको कहनेके लिये नित्यत्वको वैयाकरण कहता है—**'तस्य'** इत्यादि भा०। उच्चारण उच्चारणके प्रति गवादिक शब्दरूप स्फोट 'सोऽयं गौः शब्दः' इस प्रत्यभिज्ञाका विषय होनेसे नित्य है ।

शंका । उदात्तादिकोंके भेद विषयक प्रत्ययको विद्यमान होनेसे 'सोऽयं गौः शब्दः' 'सोई ही यह गो पद है' यह जो प्रत्यभिज्ञा है सो भ्रमरूप है। अतः गो शब्दरूप स्फोट अनित्य है।

समाधान । भेदप्रत्ययको वर्णविषयक होनेसे वर्ण अनित्य हैं गवादिक शब्द नहीं, अतः अभिधायक नित्य गवादिक शब्दरूप स्फोटसे अभिधेयरूप जो क्रियाकारक समूह अनित्य जगत् है सो उत्पन्न होता है यह वैयाकरणोंके मतको कहा इति ।

अब आचार्यसंप्रदायकी उक्तिपूर्वक सिद्धान्तको दिखाते हैं-**'वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः'** इत्यादि भा०। अर्थ--'गौः' ऐसे प्रयोगके किये हुये गकार तथा औकार तथा विसर्जनीय इनोंसे अतिरिक्त स्फोटरूप शब्दका श्रोत्र इन्द्रिय करके ग्रहण नहीं होता है; अतः उपवर्षाचार्य वर्णको ही शब्द मानते हैं इति। यदि वैयाकरण कहे कि "वर्णमें उत्पत्ति व विनाशित्वको कह आये हैं" सो कहना असङ्गत है, क्योकि 'त एव वर्णाः' 'सोई ही ये वर्ण हैं' इस प्रत्यभिज्ञासे वर्णोंमें नित्यत्वकी सिद्धि होती है।

शंका। जैसे वपनसे अनन्तर उत्पन्न केशोंमें सादृश्य दोषसे 'त एव केशाः' यह प्रत्यभिज्ञा भ्रमरूप है, तैसे सादृश्य दोषसे 'त एव वर्णाः' यह प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्तिरूप है। अतः भ्रमरूप प्रत्यभिज्ञा करके वर्णोंमें नित्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है।

समाधान। वपनानन्तर उत्पन्न केशोंमें भेदविषयक बुद्धिरूप बाधकके विद्यमान हुये केशविषयक प्रत्यभिज्ञामें भ्रमरूपत्व युक्त है। और 'त एव वर्णाः' यह जो प्रत्यभिज्ञा है सो बाधक प्रत्ययका अभाव होनेसे प्रमारूप ही है।

शंका। जैसे 'सोई यह गौ है' यह प्रत्यभिज्ञा गोत्व विषयक है, तैसे 'सोई यह वर्ण है' यह प्रत्यभिज्ञा भी गत्वादिक जातिविषयक है।

समाधान। व्यक्तिका भेद सिद्ध हुये ही प्रत्यभिज्ञा जातिविषयक होती है। जैसे "जिस जलको तुमने पान किया है तिस ही जलको मैंने भी पान किया है" यहां जलरूप व्यक्तिका भेद होनेसे यह प्रत्यभिज्ञा जलत्वरूप जातिविषयक है। तैसे ही यदि उच्चारण उच्चारणके प्रति गवादिक व्यक्तियोंकी तरह वर्णव्यक्ति भी भिन्न भिन्न प्रतीत होवें तो गत्वादिरूप आकृतिविषयक प्रत्यभिज्ञा होवे, परन्तु व्यक्तिभेदका ज्ञान है नहीं। अतः प्रति उच्चारणमें वर्णरूप व्यक्ति ही प्रत्यभिज्ञाका विषय होती है। और यह वार्ता अनुभव सिद्ध है कि "यह पुरुष दो वार गौ शब्दका उच्चारण किया है" ऐसा ज्ञान होता है। "यह पुरुष दो गौ शब्दोंका उच्चारण किया है" ऐसा ज्ञान नहीं होता है। अतः 'त एवेमे वर्णाः' यह प्रत्यभिज्ञा गकारादिक वर्णविषयक ही है, गत्वादिक जातिविषयक नहीं है।

शंका। जैसे अध्ययनध्वनिके श्रवणसे ध्वनिके भेद करके देवदत्त तथा यज्ञदत्तके भेदकी प्रतीति होती है। तैसे "वर्ण भी उच्चारणके भेद करके भिन्न भिन्न ही प्रतीत होते हैं" ऐसा हम प्रथम कह आये हैं। अर्थात् उदात्तत्वादिक विरुद्ध धर्मोंकरके व्यक्तियोंका भेद अनुमानसे सिद्ध होता है।

समाधान। पूर्वोक्त रीतिसे वर्ण विषयक प्रत्यभिज्ञाके निश्चित हुये जो वर्णोंमें वैचित्र्यबुद्धि होती है; सो कण्ठ तालु आदिक देशके साथ कोष्ठमें स्थितवायुके जो वर्णोंके अभिव्यञ्जक विचित्र संयोग तथा विभाग हैं तिन संयोग विभाग

रूप उपाधियोंसे होती है; स्वरूपनिमित्तक नहीं है। अर्थात् जैसे घटाकाश मठाकाशका भेदविषयक जो प्रत्यय है सो औपाधिक है। तैसे ही वर्णका भेद विषयक जो प्रत्यय है सो भी औपाधिक है।

और "कल्पना गौरवसे भी वर्णोंमें स्वतः भेद नहीं है" इस अर्थको अव भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं--'अपि च' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—किञ्च वर्णरूप व्यक्तियोंके भेदकी कल्पना करनेवाला जो वादी है तिसको भी प्रत्यभिज्ञाकी सिद्धिके लिये अनन्त गकारादिक व्यक्तियोंमें गत्वादिक जातियोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, तथा एक एक गत्वादिक जातिमें उपाधि करके उदात्तत्वादिक भेद प्रत्ययकी कल्पना करनी पड़ेगी। इस गौरवग्रस्त कल्पनासे; वर्णरूप व्यक्तिमें ही उपाधि प्रयुक्त भेदप्रत्ययकी, तथा स्वरूप निमित्तक प्रत्यभिज्ञाकी कल्पना करनेमें लाघव है इति।

शंका। वर्णोंका भेदविषयक प्रत्यय, बाधकका अभाव होनेसे औपाधिक नहीं बन सकता है।

समाधान। वर्णोंका भेदविषयक जो प्रत्यय है तिसका बाधक 'सोऽयं गकारः' यह प्रत्यभिज्ञा ही है।

शंका। यदि गकारादिक वर्ण प्रत्युच्चारण एक ही है तो एक कालमें उच्चारण करनेवाले बहुत पुरुषोंको विद्यमाम हुये एक ही गकार युगपत् अनेकरूप किस प्रकार होवेगा?

समाधान। उदात्तत्व, अनुदात्तत्व, स्वरितत्व, सानुनासिकत्व, निरनुनासिकत्वरूप धर्मके भेद करके एक ही गकार अनेकरूपसे एक कालमें प्रतीत होता है अर्थात् भेदप्रतीति औपाधिक है।

जो पूर्व कहा था कि "कण्ठ तालु आदिकोंके साथ जो वर्णाभिव्यञ्जक विचित्र संयोग विभाग हैं तिनोंका धर्म जो उदात्तत्वादिकरूप वैचित्र्य है सो ही व्यंग्य वर्णोंमें प्रतीत होता है" सो भी असङ्गत है। क्योंकि वायुके संयोग विभागोंको अतीन्द्रिय होनेसे संयोगादिगत वैचित्र्यका वर्णोंमें प्रत्यक्ष आरोप नहीं बन सकता है? इस अरुचिके हुये सिद्धान्ती प्रकारान्तरसे समाधानको कहते हैं—'अथवेति' इत्यादि भा०। वर्ण विषयक जो प्रत्ययका भेद है सो ध्वनिकृत है, विचित्र संयोगविभागादि कृत नहीं है अतः कोई दोष नहीं है। अर्थात् ध्वनिके जो उदात्तत्वादिक धर्म हैं सो ध्वनिके साथ अभेद अध्यास करके वर्णोंमें प्रतीत होते हैं। स्वतः वर्णोंका भेद नहीं है।

अब 'कः पुनः' इत्यादि भाष्यसे प्रश्नपूर्वक ध्वनिके स्वरूपको कहते हैं।

शंका। ध्वनिका क्या स्वरूप है?

समाधान। कोई पुरुष पढ़ता है और उस पुरुषसे दूर देशमें स्थित पुरुषके कर्णमें वर्णविवेक रहित जो शब्द प्राप्त होता है सो ध्वनि है। अर्थात्

वर्णसे भिन्न जो शब्द है सो ध्वनि है। और शब्दके समीपमें आये हुये पुरुषको वर्णोंमें, तारत्व मन्दत्वादिरूप स्वगत धर्मोंका ध्वनि ही आरोप कराती है। तथा ध्वनिके अधीन ही वर्णोंमें उदात्तत्वादिक विशेष हैं वर्णस्वरूपके अधीन नहीं हैं।

शंका। अव्यक्त जो वर्ण हैं सोई ध्वनि है, वर्णोंसे अतिरिक्त ध्वनि नहीं है।

समाधान। यदि अव्यक्त वर्णोंको ही ध्वनि कहोगे तो अवाचिक जपमें जो अव्यक्त वर्ण हैं तिन वर्णोंमें ध्वनिबुद्धि होनी चाहिये, तथा शब्दत्वमात्र करके गृह्यमाण जो दुन्दुभि आदिकका शब्द है तिसमें 'यह अव्यक्त वर्ण है' ऐसी बुद्धि होनी चाहिये; परन्तु होती नहीं। अतः हरेक उच्चारणमें वर्णोंको प्रत्यभिज्ञायमान होनेसे वर्ण भेदरहित हैं। तथा व्यक्ताव्यक्त वर्णोंसे ध्वनि भिन्न है। अर्थात् हरेक उच्चारणमें वर्णोंकी अनुवृत्ति और ध्वनिकी व्यावृत्ति अनुभवसिद्ध है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ध्वनिकृत प्रत्ययभेदके अङ्गीकार हुये उदात्तादि विषयक जो प्रत्यय हैं। तिनके आलम्बनकी उपपत्ति बन सकती है। अर्थात् उदात्तत्वादिका आश्रय ध्वनि है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो उदात्तत्वादिक प्रत्यय वर्णनिमित्तक तो हो सकते नहीं, क्योंकि वर्ण भेदरहित एक है। किन्तु संयोग विभाग निमित्तक मानने पड़ेंगे। तहां वायुके संयोगोंमें श्रावण प्रत्यक्षकी विषयता न होनेसे संयोगादिकोंमें जो उदात्तत्वादिक धर्मविशेष मानोगे सो धर्मविशेष वर्णोंमें आरोपण करनेको अशक्य होवेंगे। अतः उदात्तादि विषयक प्रत्यय निरालम्बन हो जावेंगे। इसलिये श्रावण ध्वनि ही उदात्तत्वादिक धर्मोंके वर्णमें आरोपकी उपाधि है। संयोगादिक नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि– तारत्वमन्दत्व उदात्तत्वादिक विरुद्ध धर्मवाले ध्वनियोंके भेद हुये भी ध्वनियोंमें अनुगत जो वर्ण हैं सो भेद रहित हैं इति।

अब इसी अर्थको दृढ़ करते हैं:—'अपिच' इत्यादि भा०। किञ्च स्फोटवादीको ऐसा अभिनिवेश नहीं करना चाहिये कि—"उदात्तादिकोंके भेद करके प्रत्यभिज्ञाके विषयरूप वर्णोंका भी भेद होवेगा" क्योंकि अन्यके भेदसे अभिद्यमान जो अन्य है तिसका भेद नहीं हो सकता है। जैसे खण्ड मुण्डादिक विरुद्ध गोव्यक्तियोंके भिन्न भिन्न हुये भी गोत्वजातिको भिन्न भिन्न नहीं मानते हैं, किन्तु अभिन्न एक ही मानते हैं। तैसे उदात्तत्वादिक विरुद्ध धर्म विशिष्ट ध्वनिको भिन्न भिन्न हुये भी वर्ण अभिन्न एक ही है। किञ्च जब प्रत्यक्ष वर्णोंसे ही अर्थकी प्रतीति बन सकती है तब विवादग्रस्त स्फोटकी कल्पना व्यर्थ है।

शंका। हम स्फोटकी कल्पना नहीं करते हैं किन्तु इस स्फोटका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। क्योंकि जैसे नेत्रके द्वारा दर्पणके योगसे बुद्धिमें प्रतिबिम्बका भान होता है। तैसे ही श्रोत्रद्वारा वर्णके योगसे एक एक वर्णके अनुभवजन्य संस्कार सहित बुद्धिमें सम्बन्धादिक हेत्वन्तरके विना ही 'एकं पदम्' इस स्फोटरूप पदका शीघ्र ही भान होता है।

समाधान । जिस बुद्धिमें जो अर्थ प्रतीत होता है तिस अर्थमें ही सो बुद्धि प्रमाणरूप होती है । प्रसङ्गमें एक एक वर्णके ग्रहणसे उत्तर कालमें जो 'इयमेका गौः' यह बुद्धि है सो गकारादिक समस्त वर्णविषयक ही है, वर्णोंसे अतिरिक्त स्फोट विषयक नहीं है । अतः यह बुद्धि वर्णोंमें ही प्रमाण है स्फोटमें नहीं ।

शंका । 'एकं पदम्' यह बुद्धि—"वर्णविषयक ही है स्फोट विषयक नहीं है" यह निश्चय किस प्रकार करते हो ।

समाधान । 'इयं गौः' इस बुद्धिमें गकारादिक वर्णोंका ही अनुवर्तन होता है । अर्थात् गकारादिकोंका ही भान होता है दकारादिकोंका नहीं । अतः यह बुद्धि स्फोटमें प्रमाण नहीं हो सकती है ।

शंका । पूर्वोक्त बुद्धिका विषय स्फोट ही है, और गकारादिक वर्णोंको अभिव्यञ्जक होनेसे गकारादिक वर्णोंकी अनुवृत्ति होती है ।

समाधान । यदि इस बुद्धिका विषय गकारादिक वर्णोंसे भिन्न स्फोट मानोगे तो जैसे दकारादिक इस बुद्धिसे व्यावृत्त होते हैं अर्थात् निवृत्त होते हैं, तैसे गकारादिक भी व्यावृत्त होवेंगे । परन्तु ऐसा तो होता नहीं ।

किञ्च ऐसा नियम भी नहीं है कि—"व्यङ्ग्यबुद्धिमें व्यञ्जकको अनुवृत्ति होवे" क्योंकि व्यङ्ग्य वह्निविषयक जो बुद्धि है तिस बुद्धिमें व्यञ्जक धूमकी अनुवृत्ति नहीं देखनेमें आती है । अतः 'इयं गौः' यह जो एक बुद्धि है सो गकारादिक वर्णविषयक ही समूहालम्बनरूप स्मृति है । तथा च वर्णरूप ही पद है स्फोटरूप नहीं । और वर्णसे अतिरिक्त स्फोटको माननेमें गौरव दोष भी है । अतः स्फोटरूप पद नहीं है ।

शंका । वर्णोंके अनेक होनेसे एक बुद्धिकी विषयता नहीं बन सकती है ऐसा हम पूर्व कह आये हैं ।

समाधान । अनेकोंमें भी एक बुद्धिकी विषयता बन सकती है जैसे पङ्क्तिः, वनं, सेना, दश, शतं, सहस्रम्, इत्यादिक स्थलोंमें अनेक विषयक एक बुद्धि देखनेमें आती है । तैसे ही 'गौरित्येकं पदम्' यह जो अनेक वर्णविषयक बुद्धि है सो भी एक अर्थरूप अवच्छेदकके अधीन है । अर्थात् 'एकार्थे शक्तमेकं पदम्' 'वाक्यार्थरूप एकस्मिन् प्रधानार्थे तात्पर्यवदेकं वाक्यम्' यहां एक अर्थके सम्बन्धसे एकत्वका उपचार होता है इति ।

शंका । वर्णोंके साम्य हुये भी पदका भेदविषयक दर्शनके होनेसे स्फोटरूप पदका अङ्गीकार अवश्य करना चाहिये; क्योंकि यदि सामस्त्यरूप करके वर्ण ही एक बुद्धिकी विषयताको प्राप्त हुये पद होवेंगे तो 'जारा, राजा, कपिः, पिकः' यहां 'जारा' तथा 'कपिः' इन वर्णोंको ही 'राजा' 'पिकः' इस ज्ञानमें प्रतीयमान होनेसे पदभेदविषयक प्रतीति नहीं होवेगी ।

समाधान। जैसे "यह पिपीलिकाकी पङ्क्ति है" इस बुद्धिके क्रमानुरोधिनी पिपीलिका ही विषय हैं, केवल पिपीलिका नहीं; तैसे वर्णोंके अविशेष हुये भी क्रमानुरोधी वर्ण ही पदबुद्धिके विषय हैं। अतः क्रमविशेषकृत पदविशेषकी प्रतीतिमें कोई विरोध नहीं है।

शंका। नित्य व व्यापक वर्णोंमें "इतनी संख्यावाले और इस क्रमवाले वर्णोंका यह पद, इस अर्थका बोधक है" इत्यादि विशेषबुद्धि कैसे बन सकेगी। क्योंकि निरवयव व विभु वर्णोंमें क्रम व संख्यादि विवेक बने नहीं ?

समाधान। 'वृद्धव्यवहारे' इत्यादि भा०। अर्थात्—'यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादकाः। वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ॥' 'घटमानय' 'इयं गौ वर्तते' इत्यादिक व्युत्पत्तिकालीन वृद्धव्यवहारमें; उच्चारणक्रमसे जन्य उपलब्धिक्रमको उपलभ्यमान वर्णोंमें आरोप करके, घवर्णके उत्तर अकार तदुत्तर टकार इस क्रमवाले, तथा इतनी संख्यावाले, तथा इस अर्थमें शक्तिवाले, इस प्रकार गृहीत है क्रम, संख्या, सम्बन्ध जिनोंके ऐसे जो वर्ण हैं; सो श्रोता पुरुषकी प्रवृत्तिकालमें भी एक एक वर्णके ग्रहणसे अनन्तर समस्त वर्णविषयक जो बुद्धि है तिस बुद्धिमें तैसे ही भासमान हुये, अर्थात् स्मृतिमें आरूढ़ हुये, तत् तत् अर्थको नियमसे बोधन कर सकते हैं इति।

अब स्थायिवर्णवादकी समाप्तिको दिखाते हैं—'इति वर्णवादिनः' इत्यादि भा०। इस प्रकारसे वर्णवादीके मतमें वर्णोंमें अर्थबोधकत्वकी कल्पनाका लाघव है। और स्फोटवादीके मतमें दृष्टकी हानि तथा अदृष्टकी कल्पना होगी। अर्थात् दृष्ट जो वर्णोंमें अर्थका बोधकत्व है तिसकी हानि; तथा क्रम करके गृह्यमाण जो वर्ण हैं सो स्फोटके व्यञ्जक हैं, और व्यङ्ग्य जो स्फोट है सो अर्थका बोधक है, इस प्रकारकी जो अदृष्ट स्फोटकी कल्पना है; सो गौरवग्रस्त है इति।

अब वर्णोंको अनित्य मानके भी प्रौढिवाद करके स्फोटका खण्डन करते हैं—'अथापि' इत्यादि भा०। अर्थात् यदि प्रति उच्चारणमें वर्णोंकी उत्पत्ति व नाशका अनुभव होनेसे वर्ण भिन्न भिन्न व अनित्य ही होवेंगे, तो 'सोऽयं गकारः' इत्यादिक प्रत्यभिज्ञाका आलम्बनरूप करके गत्वादिक सामान्यका अङ्गीकार अवश्य करना पड़ेगा। अतः जो वर्णोंमें अर्थप्रतिपादनकी प्रक्रिया कही है; सोई गत्वादिक सामान्योंमें सञ्चार करनेको योग्य है। अर्थात् नित्य तथा क्रमविशेषवाले तथा गृहीत सङ्गतिवाले अर्थके बोधक जो क्लृप्त सामान्य हैं, तिन सामान्योंमें ही पूर्वोक्त प्रक्रियाका सञ्चार करनेको योग्य है; अक्लृप्त स्फोटकी कल्पना करनेको योग्य नहीं है इति।

पूर्वोक्त रीतिसे वर्णोंमें स्थायित्व तथा वाचकत्वके सिद्ध हुये फलित अर्थको कहते हैं—'ततश्च' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—देवतादिकोंके वाचक नित्य वर्णरूप शब्दोंसे ही

देवादिक विग्रहोंकी उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हुवा इसमें कोई विरोध नहीं है इति॥ २८॥

अब पूर्व जगत्में जो शब्दजन्यत्वको कहा है तिस शब्दजन्यत्वका आश्रयण करके शब्दमें नित्यत्वको दिखाते हैं:—

अत एव च नित्यत्वम्॥ २६॥

अर्थ—१ अतः, २ एव, ३ च, ४ नित्यत्वम्। इस सूत्रमें चार पद हैं। नियत आकृतिवाले देवादिक जगत्का वेदशब्द करके प्रभव होनेसे वेदशब्द नित्य अर्थात् यावत् काल स्थायी है इति।

शंका। पूर्वमीमांसामें ही वेदशब्दविषे नित्यत्वको सिद्ध होनेसे यहां वेदमें नित्यत्वका साधन अयुक्त है।

समाधान। पूर्वमीमांसामें वेदके स्वतन्त्र कर्ताका स्मरण न होने आदिक हेतुवोंसे वेदमें नित्यत्वके सिद्ध हुये भी "देवादिक व्यक्तियोंकी उत्पत्तिका अङ्गीकार होनेसे देवादिकोंके वाचक इन्द्रादिक शब्दोंको सृष्टि भी अवश्य माननी होगी, अतः वेदमें नित्यत्व नहीं बन सकता है" इस विरोधकी आशंकाको 'अतः प्रभवात्' इस सूत्रसे दूर करके नित्य आकृतिवाचक वैदिकशब्दोंसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है इस प्रकार सिद्ध कर आये हैं। अब पूर्वमीमांसा करके सिद्ध जो वेदमें नित्यत्व है तिस नित्यत्वको अनुमान करके यह सूत्र दृढ़ करता है। तहां अनुमान—'वेदोऽवान्तरप्रलयावस्थायी, जगद्धेतुत्वात्, ईश्वरवत्'। अर्थ—जैसे ईश्वररूप दृष्टान्तमें जगत्का हेतुत्वरूप हेतु है, और अवान्तर प्रलयमें अवस्थायित्वरूप साध्य है। तैसे वेदरूप पक्षमें जगत्का हेतुत्वरूप हेतु है। अतः प्रलयकालमें अवस्थायित्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति।

इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं—'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्'। अर्थ—पूर्व सुकृत पुण्यकर्म करके वेदके लाभकी योग्यताको प्राप्त हुये जो याज्ञिक पुरुष हैं सो ऋषियोंमें स्थित जो वेदवाणी है तिसको प्राप्त होते भये इति। इस प्रकार यह श्रुति भी अवान्तर कल्पके आदिमें ऋषियों विषे विद्यमान ही वेदवाणीकी उपलब्धिको दिखाती है।

और इसी अर्थको व्यास भगवान् भी कहते हैं—'युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा'। अर्थ—अवान्तर प्रलयके अन्तर स्थित जो इतिहासों करके सहित वेद हैं तिन वेदोंको ब्रह्मा करके आज्ञाको प्राप्त हुये महर्षि लोग सृष्टिके आदिमें तप करके प्राप्त होते भये इति॥ २६॥

पूर्व कहा कि—नित्य आकृतिका वाचक शब्द नित्य है, तथा दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य है, और अवान्तर प्रलयमें शब्द रहता है। यह कहना यद्यपि सत्य है

तथापि महाप्रलयमें जातिरूप आकृतिका भी अभाव होनेसे शब्द तथा शब्दका सम्बन्ध अनित्य ही होवेगा? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥३०॥

अर्थ—१ समाननामरूपत्वात्, २ च, ३ आवृत्तौ, ४ अपि, ५ अविरोधः, ६ दर्शनात्, ७ स्मृतेः, ८ च। इस सूत्रमें आठ पद हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादिक श्रुतिसे, तथा 'शर्वयन्ते प्रसूतानाम्' इत्यादिक स्मृतिसे, आवृत्तिमें अर्थात् वारम्वार महाप्रलय तथा महासृष्टिमें भी देवादिक जगत्को समान नामरूपवाला ही होनेसे नित्य शब्द-निष्ठ प्रामाण्यमें कोई विरोध नहीं है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—

शंका। जैसा उत्पत्ति विनाशवाली गवादिक व्यक्तियोंका वर्तमानकालमें अविच्छिन्न प्रवाह दीखता है, ऐसा ही उत्पत्तिविनाशवाले देवमनुष्य पशु आदिक सम्पूर्ण व्यक्तियोंका ही अविच्छिन्न प्रवाह यदि निरन्तर सदा बना ही रहे तो "यह अभिधान है" "यह अभिधेय है" और "यह अभिधाता है" "यह अध्यापक है" "यह अध्येता है" इस व्यवहारका विच्छेद न होनेसे सम्बन्धमें नित्यत्व करके शब्दनिष्ठ अप्रामाण्य रूप विरोधका परिहार हो सकता है। परन्तु जब "सम्पूर्ण जगत्का नामरूप करके रहित निर्लेप प्रलय होता है, अर्थात् स्थूल सूक्ष्म नामरूप व संस्कार प्रलय-में कुछ भी शेष नहीं रहता है, तथा सृष्टिकालमें अभिनव जगत् उत्पन्न होता है" इस अर्थको श्रुति स्मृति आदिक कथन करते हैं, तब विरोधका परिहार नहीं हो सकता है। अर्थात् निर्लेप प्रलयमें शक्ति आदिक सम्बन्धका नाश होनेसे पुनः सृष्टिमें किसी पुरुषकी बुद्धि करके "इस अर्थका यह शब्द वाचक है" इत्यादि सङ्केत मानना होगा। यदि ऐसा मानोगे तो पुरुष बुद्धिकी अपेक्षा होनेसे वेदमें निरपेक्ष प्रामाण्य सिद्ध न होगा। तथा अध्यापकरूप आश्रयका नाश होनेसे अध्यापकके आश्रित जो वेद है तिसका भी नाश होवेगा। अतः वेदमें अनित्यत्व-की प्राप्ति होगी इति।

समाधान। 'तत्रेदमभिधीयते' इत्यादि भा०। महाप्रलयमें भी नामरूप रहित निर्लेप प्रलय असिद्ध है; क्योंकि सत्कार्यवादका अङ्गीकार है। अर्थात् महाप्रलयमें यद्यपि अन्तःकरणादिक स्थूलरूपसे विद्यमान नहीं हैं; तथापि सूक्ष्मरूप वासना करके अनिर्वचनीय अविद्यामें विद्यमान हो हैं। तथाच अन्तःकरणादि सम्पूर्ण संसारको संस्कार रूप करके विद्यमान होनेसे जो अनभिव्यक्त शब्द तथा अर्थ तथा सम्बन्ध हैं तिनोंको ही पुनः सृष्टिकालमें अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् जैसे कूर्मके शरीरमें छिपे हुये कूर्मके अङ्ग कूर्मकी देहसे निकलते हैं। अथवा जैसे वर्षाकालके अन्तमें मृद्भावको प्राप्त सूक्ष्म मण्डूकके शरीर मण्डूकवासना करके वासित होनेसे निबिड मेघवर्षणसे स्थूलभावको प्राप्त हुये पुनः मण्डूकभावको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार पूर्व वासना वशसे ईश्वर इच्छा करके सम्पूर्ण जगत्

पूर्वकल्पके सदृश नामरूपवाला ही उत्पन्न होता है। अतः शब्दादिकोंमें अनित्यत्व नहीं बन सकता है। तथा अभिव्यक्त पदार्थोंको पूर्वकल्पके समान नामरूपवाले होनेसे किसी पुरुष करके सङ्केत भी कर्तव्य नहीं है। क्योंकि विषम सृष्टिमें सङ्केतकी अपेक्षा हो सकती है समान सृष्टिमें नहीं।

शंका। सर्व सृष्टिसे प्रथम जो सृष्टि है तिस सृष्टिमें किसीने सङ्केत किया होगा?

समाधान। महासर्ग तथा महाप्रलयकी प्रवृत्ति हुये भी संसार प्रवाहरूपसे अनादि हो स्वीकर्तव्य है। और आचार्य भगवान् भी 'उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' इस सूत्र करके संसारमें अनादित्वका प्रतिपादन करेंगे। तथा संसारमें अनादित्व उपपन्न भी हो सकता है और श्रुति स्मृतियोंमें देखनेमें भी आता है।

शंका। संसार अनादि रहो तथा अनादि संसारमें शब्दार्थ सम्बन्ध भी अनादि रहो, तथापि महाप्रलयका व्यवधान होनेसे पूर्वकल्पीय पदार्थोंका अस्मरण हुये सृष्टिके आदिकालमें वेदका अर्थविषयक व्यवहार किस प्रकार होगा?

समाधान। अनादि संसारमें जैसे सुषुप्ति तथा जाग्रत् विषे जगत्का लय तथा उत्पत्तिका श्रवण हुये भी शब्द तथा अर्थ तथा सम्बन्धका स्मरण होनेसे पूर्व प्रबोधकी तरह उत्तर प्रबोधमें भी व्यवहार देखनेमें आता है इसमें कोई विरोध नहीं है। तैसे कल्पान्तरकी उत्पत्ति तथा प्रलयके हुये भी सृष्टिके आदि कालमें पूर्वकल्पीय शब्दादिकोंका स्मरण होनेसे वैदिक व लौकिक व्यवहार बन सकता है।

इस प्रलय प्रभवरूप अर्थमें कौषीतकि श्रुतिको दिखाते हैं—**"यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति"** इत्यादि। अर्थ—जिस कालमें सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुवा यह जीव किसी स्वप्नको नहीं देखता है तिस सुषुप्ति कालमें यह जीव इस प्राणरूप परमात्मामें ही अभेदको प्राप्त होता है। तथा सम्पूर्ण नामों करके सहित वाक् इन्द्रिय भी प्राणरूप आत्मामें ही लयभावको प्राप्त होती है। तथा सर्व रूपों करके सहित चक्षु भी, तथा सम्पूर्ण शब्दों करके सहित श्रोत्र भी, तथा सर्व ध्यानों करके सहित मन भी, प्राणरूप परमात्मामें ही लयभावको प्राप्त होते हैं। और जब जाग्रत् अवस्थाको यह जीव प्राप्त होता है, तब जैसे प्रज्वलित अग्निसे विस्फुलिङ्ग सर्व दिशावोंमें प्राप्त होते हैं। तैसे इस आत्मासे ही सम्पूर्ण इन्द्रियरूप प्राण अपने २ गोलकरूप स्थानोंको प्राप्त होते हैं। तथा इन्द्रियरूप प्राणोंसे अनन्तर सूर्यादिक देवता प्रादुर्भावको प्राप्त होते हैं। तथा देवतावोंसे लोक उत्पन्न होते हैं इति*।

---

* टि०—वस्तुतः स्वप्नकी तरह कल्पितकी अज्ञात सत्ताके न होनेसे "अन्यथा दर्शनका नाम सृष्टि, और अदर्शनका नाम लय" यह दृष्टिसृष्टि पक्ष श्रुतिमें अभिप्रेत है।

शंका । इस श्रुतिमें प्रलय प्रभवका श्रवण रहो । परन्तु सुषुप्ति कालमें सर्व प्राणियोंकी युगपत् सुषुप्ति नहीं होती है; किन्तु अन्य कोई पुरुष जागते भी रहते हैं । तथाच अन्य सर्व पुरुषोंके व्यवहारका उच्छेद नहीं होता है । और संस्कारनाशक मरण व विप्रकृष्ट कालका व्यवधान न होनेसे स्वयं भी सुप्तोत्थित पुरुषको व्युत्थान कालमें पूर्व जाग्रत् व्यवहारकी स्मृति पूर्वक शब्द व अर्थ व सम्बन्धका व्यवहार बन सकता है । अतः दृष्टान्तमें कोई विरोध नहीं है । परन्तु यह सुषुप्तिरूप दृष्टान्त सिद्धान्तमें विषम है । क्योंकि जैसे संस्कारनाशक मरण व अति अधिक कालके व्यवधान होनेसे जन्मान्तरके व्यवहारका स्मरण नहीं होता है; तैसे ही महाप्रलयमें सम्पूर्ण व्यवहारका अभाव होनेसे कल्पान्तरके व्यवहारका स्मरण भी नहीं हो सकता है ।

समाधान । 'नैष दोषः' इत्यादि भा० । अर्थ--यह पूर्वोक्त वैषम्यरूप दोष नहीं बन सकता है; क्योंकि महाप्रलयमें सम्पूर्ण व्यवहारके उच्छेद हुये भी परमेश्वरके अनुग्रहसे हिरण्यगर्भादिरूप ईश्वरोंको कल्पान्तरके व्यवहारका स्मरण हो सकता है इति ।

शंका । जैसे अस्मदादिकोंको संसारी होनेसे पूर्वकल्पके व्यवहारका अनुसन्धान नहीं बन सकता हैं, तैसे हिरण्यगर्भादिकोंको भी संसारी होनेसे पूर्वकल्पके व्यवहारका अनुसन्धान नहीं बन सकता है ।

समाधान । यद्यपि प्राकृत प्राणी जो हैं सो जन्मान्तरके व्यवहारका अनुसन्धान करते हुये नहीं देखनेमें आते हैं, तथापि हिरण्यगर्भादिकोंको ऐसा नहीं मानना चाहिये । क्योंकि ज्ञानादिकोंमें निकर्षकी तरह उत्कर्ष भी अङ्गीकार करनेके योग्य है । जैसे प्राणित्वके अविशेष हुये भी मनुष्योंसे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणियोंमें ज्ञान ऐश्वर्य आदिकोंका निकर्ष नीचे २ अधिक २ देखनेमें आता है। अर्थात् मनुष्योंके ज्ञान ऐश्वर्यकी अपेक्षासे पशुओंका ज्ञान ऐश्वर्य निकृष्ट है । इसी प्रकार आगे भी स्तम्ब पर्यन्त जानना । तथा मनुष्यसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त उत्तर उत्तर प्राणियोंमें भी पूर्व पूर्वकी अपेक्षासे ज्ञान ऐश्वर्यादिकोंमें उत्कर्ष उत्तरोत्तर अधिक २ देखनेमें आता है। अतः श्रुति स्मृतियोंमें अनेकवार श्रूयमाण निकर्ष उत्कर्षका निषेध नहीं कर सकते हैं । इस पूर्वोक्त रीतिसे हिरण्यगर्भादिकोंमें ज्ञानादिकोंका उत्कर्ष होनेसे महाप्रलयके अनन्तर कल्पमें भी पूर्वकल्पके व्यवहारका अनुसन्धान बन सकता है । इति ।

शंका । पूर्वकल्पके हिरण्यगर्भादिक ईश्वरोंको उत्तर सृष्टिमें मुक्त हो जानेसे इस कल्पमें अनुसन्धान करनेवाला कौन है ?

समाधान । अतीत कल्पमें अनुष्ठित हैं प्रकृष्ट ज्ञान कर्म जिनोंके ऐसे जो परमेश्वरके अनुग्रह करके अनुगृहीत तथा इस कल्पके आदिमें हिरण्यगर्भादिरूप करके प्रादुर्भावको प्राप्त हुये ईश्वर हैं तिनोंमें ही ज्ञानके उत्कर्षसे सुप्त प्रतिबुद्ध पुरुषकी तरह कल्पान्तरके व्यवहारका अनुसन्धान बन सकता है । इस कहनेसे यह सिद्ध

हुवा कि पूर्वकल्पमें मुक्त जो हिरण्यगर्भादिक हैं तिनोंसे भिन्न ही हिरण्यगर्भादिक इस कल्पके आदिमें अनुसन्धान करनेवाले हैं। अर्थात् अवशिष्ट जीवसमुदायमें जिस जीवका सर्वोत्कृष्ट ज्ञान व कर्म होता है। सो ही सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भ होता है। इसी तरह विराट् आदिकी उत्पत्ति भी अधिकारके अनुसार ही होती है।

और अब परमेश्वर करके अनुगृहीत हिरण्यगर्भादिकोंमें ज्ञानादिके अतिशयकी प्रतिपादक श्रुति स्मृतियोंको दिखाते हैं—तहां श्रुतिः-'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'। श्वे०। अर्थ—जो परमात्मा कल्पके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है। तथा जो तिस ब्रह्माकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव करता है। तिस प्रत्यक् स्वरूप, तथा महावाक्यजन्य बुद्धिमें प्रकाशमान, तथा अभय स्थान अर्थात् निश्रेयसरूप परमात्माकी शरणको मैं मुमुक्षु प्राप्त होता हूं इति।

केवल एक हिरण्यगर्भमें ही ज्ञानका अतिशय है सो वार्ता नहीं है; किन्तु शाखावोंके द्रष्टा बहुतसे ऋषियोंमें भी ज्ञानका अतिशय है; इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं—'स्मरन्ति च' इत्यादि भा०। अर्थ—शौनकादि ऋषियोंने स्मृतिमें कहा है कि—दाशतय्य रूप ऋचावोंको मधुच्छन्द प्रभृति ऋषियोंने देखा है इति। दशमण्डलरूप अवयववाला जो ऋग्वेद है तिस ऋग्वेदमें स्थित जो ऋचा हैं तिनोंका नाम दाशतय्य है। तथा बोधायनादिक ऋषियोंने भी प्रत्येक वेदके काण्ड, सूक्त व मन्त्रोंके द्रष्टावोंका स्मरण किया है इति।

और श्रुति भी ऋषि आदिकोंके ज्ञानपूर्वक ही मन्त्र करके अनुष्ठानको दिखाती हुई मन्त्रके द्रष्टा ऋषियोंमें ज्ञानके अतिशयको दिखाती है—तहां श्रुतिः—'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्तं वा प्रतिपद्यते' इत्युपक्रम्य 'तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यात्।' अर्थ—अविदित है 'आर्षेय' कहिये ऋषिसम्बन्ध, तथा 'छन्दः' कहिये गायत्री आदिक, 'दैवत' कहिये अग्नि आदिक, 'ब्राह्मण' कहिये विनियोग जिसका ऐसा जो मन्त्र है तिस मन्त्र करके जो पुरुष यजन करता है, तथा अध्यापन करता है, सो पुरुष स्थावरभावको अथवा नरकको प्राप्त होता है। ऐसा उपक्रम करके आगे कहा है कि-अतः मन्त्र मन्त्रमें इन ऋषि सम्बन्धादिकोंको अवश्य जाने इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि—ज्ञानादिकोंमें अतिशयवाले हिरण्यगर्भादिकोंको ही कल्पान्तरमें स्थित वेदका स्मरण करके व्यवहारका प्रवर्तक होनेसे वेदमें अनादित्व तथा अनपेक्ष प्रामाण्य अविरुद्ध है इति।

अब समान नामरूपत्वके प्रपञ्चको दिखाते हैं—'प्राणिनां च सुखप्राप्तये धर्मो विधीयते। दुःखपरिहाराय चाधर्मः प्रतिषिध्यते।' इत्यादि भा०। अर्थ—प्राणियोंके सुखके लिये वेद धर्मका विधान करता है। तथा दुःखकी निवृत्तिके लिये अधर्मका प्रतिषेध करता है इति। इस कहनेसे यह बोधन किया कि—ऐहिक तथा

आमुष्मिक सुख तथा सुखका साधनविषयक ही राग होता है। और दुःख तथा दुःखका साधनविषयक ही द्वेष होता है। इनसे विलक्षण विषयक नहीं। और सुख तथा सुखके साधनविषयक राग करके जन्य जो सुकृत कर्म हैं तिन करके जन्य दृष्ट सुख तथा दृष्ट सुखके साधन पशु आदिकोंके समान ही सुख तथा सुखके साधन पशु आदिक प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार दुःख तथा दुखके साधनविषयक द्वेष करके जन्य जो अधर्म है तिस करके जन्य दृष्ट दुःख तथा दृष्ट दुःखके साधनोंके समान ही दुःख तथा दुःखके साधन प्राप्त होते हैं। अतः धर्माधर्मका फलरूप जो उत्तर उत्तर सृष्टि है सो पूर्व पूर्व सृष्टिके सदृश ही उत्पन्न होती है इति।

तहां स्मृतिः—'तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः।' इत्यादि। अर्थ—प्राणियोंके मध्यमें जो २ प्राणी पूर्व सृष्टिके विषे जिन जिन कर्मोंको प्राप्त होते हैं; उत्तर उत्तर सृष्टिमें भी वारम्वार सृज्यमान हुये सो २ प्राणी तत् २ जातीय कर्मको ही प्राप्त होते हैं इति। अर्थात् हिंसा, क्रूरता, अधर्म, अनृत आदिकोंकी भावना करके भावित जो प्राणी हैं सो हिंसा-दिकोंमें ही प्रवृत्त होते हैं। और अहिंसा, मृदुता, धर्म, सत्य आदिकोंकी भावना करके भावित जो प्राणी हैं सो अहिंसादिकोंमें ही प्रवृत्त होते हैं। और संस्कारके वशसे ही पुण्य तथा पाप अच्छा लगता है इति।

कर्म करके सृष्टिमें सादृश्यको कहकर अब स्वउपादानमें लीन जो कार्य हैं तिन कार्योंके संस्काररूप शक्तिके बलसे भी सादृश्यको कहते हैं—'प्रलीयमानमपि' इत्यादि भा०। अर्थ—प्रलयमें स्थूल सूक्ष्म निखिल जगत्के विलय होने पर भी जगत्की सूक्ष्म संस्काररूप शक्ति कूर्मके अङ्गोंकी तरह प्रकृतिमय होकर प्रकृतिमें रहती है इति। तथा च प्रलयकालमें जब यह सम्पूर्ण जगत् प्रलयको प्राप्त होता है तब संस्काररूप जगत्की शक्तिका विलय नहीं होता है, किन्तु शक्ति शेष रह जाती है। और सृष्टिकालमें पुनः शक्तिमूलक ही यह जगत् उत्पन्न होता है। यदि संस्काररूप शक्तिका भी प्रलय मानें तो जगत्में जो वैचित्र्य है तिसमें आकस्मि-कत्वका प्रसङ्ग होगा। अर्थात् कारण विना ही कार्यमें वैचित्र्य मानना होगा।

शंका। जगत्में वैचित्र्यके कारण संस्कारोंसे भिन्न शक्तियोंको मानना चाहिये।

समाधान। अविद्यारूप उपादान कारणमें लीन कार्य स्वरूप संस्कारसे भिन्न अनेक शक्तियोंकी कल्पना नहीं कर सकते हैं। क्योंकि ऐसी कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है तथा गौरव भी है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे कार्यके संस्कारोंको सिद्ध हुये फलित अर्थको शंकापूर्वक दिखाते हैं—

शंका। हिरण्यगर्भादिकोंको कल्पान्तरके व्यवहारकी स्मृति रहो। परन्तु

"प्रलयमें संस्कारशेष रहते है" इसमें कोई दृष्टान्त नहीं है। अत इस सृष्टिको अपूर्व होनेसे इस सृष्टिमें पूर्व सृष्टिके वेद नहीं हैं, किन्तु अन्य ही हैं। और इनके अर्थ भी अन्य ही हैं। एवं वर्णाश्रमके धर्म भी अन्य ही हैं। और धर्मसे दुःख होता है। और अधर्मसे सुख होता है। और दुःख इष्ट है सुख अनिष्ट है। तथा च कल्पान्तरके व्यवहारका अनुसन्धान अकिञ्चित्कर है। अतः पूर्व कल्पके व्यवहारका उच्छेद हो जानेसे, और पूर्व कल्पके विसदृश सृष्टिके प्रादुर्भाव होनेसे, शब्द व अर्थका सम्बन्ध व वेद अनित्य ही हैं।

समाधान। 'ततश्च' इत्यादि भा०। जैसे सुषुप्तिसे उठे हुये पुरुषका पूर्व चक्षुके सजातीय ही चक्षु उत्पन्न होता है, तथा रूपत्व जातिवाले रूपको ही ग्रहण करता है रसादिकोंको नहीं; तैसे ही वारम्वार उद्भवको प्राप्त होनेवाले जो भूरादिक लोकोंका प्रवाह है, तथा देव, तिर्यङ्, मनुष्यादिक प्राणिसमूहका प्रवाह है; तथा वर्णाश्रमधर्मफलोंकी व्यवस्था है, तिनों विषे अनादि संसारमें नियतत्व ही जाननेको योग्य है। अर्थात् भोग्य जो लोक हैं, भोगका आश्रय जो प्राणियोंका समूह है, तथा भोगके हेतु जो कर्म हैं, सो सर्व संस्कारके बलसे पूर्व सृष्टिके तुल्य ही होते हैं यह नियम है।

यदि वादी कहे कि "पूर्व जो चक्षुका दृष्टान्त कहा है सो असिद्ध है" सो कहना बने नहीं, क्योंकि सर्गसर्गके प्रति इन्द्रिय विषय सम्बन्धादिविषयक व्यवहारमें अन्यथात्वकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) करनेको अशक्य है। अर्थात् किसी सृष्टिमें भी षष्ठ ज्ञानेन्द्रिय नहीं है। और छठा ज्ञान इन्द्रियका असाधारण विषय भी नहीं है। और जो सुखादिक हैं सो भी मनके असाधारण विषय नहीं हैं। किन्तु साक्षी करके वेद्य हैं। पूर्व २ सर्गके समान नामरूप सामर्थ्यादिवाले ही उत्तर २ सर्गमें पदार्थ होते हैं। क्योंकि कदाचित् भी किसीको दुःख इष्ट नहीं हो सकता है। एवं सुख अनिष्ट नहीं हो सकता है। और धर्म व अधर्मकी शक्तिका विपर्यय भी नहीं हो सकता है। मृत्पिण्डसे पट नहीं हो सकता है। तन्तुसे घट नहीं हो सकता है। अन्यथा वस्तुसामर्थ्यकी अव्यवस्था होनेसे सर्व वस्तु सर्वसे होनी चाहिये। पिपासुकी भी दहनसे पिपासा शान्त होनी चाहिये। एवं शीत जलसे भी शीतार्तकी शीतार्तिकी निवृत्ति होनी चाहिये। अतः सृष्ट्यन्तरमें भी ब्रह्महत्यादिक अनर्थके ही हेतु होते हैं। और यज्ञदानादिक अर्थके ही हेतु होते हैं। जो वेद पूर्व सृष्टिमें थे वही इस कल्पमें भी हैं। वही इनके अर्थ हैं। और वर्णाश्रमके धर्म भी वही हैं। अतः सर्व कल्पोंको तुल्य व्यवहारवाला होनेसे तथा हिरण्यगर्भादिक ईश्वरोंमें कल्पान्तरीय व्यवहारके अनुसन्धानका सामर्थ्य होनेसे प्रति सृष्टिमें समान नामरूपवाले ही व्यवह्रियमाण व्यक्तिविशेष प्रादुर्भावको प्राप्त होते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि प्रतिसर्गमें जगत्को समान नामरूपवाला होनेसे वारम्वार महासर्ग तथा महाप्रलयरूप आवृत्तिके स्वीकारमें भी शब्दनिष्ठ प्रामाण्यमें कोई विरोध नहीं है इति।

और प्रतिसृष्टिमें समान नामरूपताको श्रुति तथा स्मृति भी दिखाती हैं— 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरीक्षमथो स्वः'। अर्थ—जैसा पूर्व कल्पमें सूर्य चन्द्रमा आदिक जगत् था तैसा ही इस कल्पमें भी परमेश्वर करता भया इति। 'अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्याम्' 'स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्'। अर्थ—यहां भविष्यद् दृष्टि करके अग्नि शब्दका अर्थ यजमान जानना, यजमानरूप अग्नि ऐसी कामना करता भया कि—हम देवोंके मध्यमें अन्नादरूप अर्थात् अग्नि स्वरूप होवें; पश्चात् सोई यजमानरूप अग्नि कृत्तिका नक्षत्रके अभिमानी अग्नि देवको उद्देश्य करके आठ कपालोंमें पकी हुई हविका हवन करता भया। अथवा अष्ट हैं कपाल कहिये अवयव जिसका ऐसा जो पुरोडाश है तिसको हवन करता भया इति। यह श्रुति नक्षत्रइष्टि विधिमें हवनको करनेवाला जो यजमानरूप अग्नि है तथा जिस अग्निको हवि दी गयी है, इन दोनों अग्नियोंमें समान नामरूपताको दिखाती है। इसी प्रकार—'मित्रो वा अकामयत चन्द्रमा वा अकामयत' इत्यादिक श्रुति भी पूर्व उत्तर सृष्टिके समान नामरूपतामें उदाहरण देनेको योग्य हैं।

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥ अर्थ—पूर्वकल्पमें जो २ ऋषियोंके नाम रहे, तथा जो २ वेदविषयक साक्षात्काररूप दृष्टि रही, तिनोंको ही ब्रह्मा प्रलयके अन्तमें अर्थात् सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न किये हुये ऋषियोंके प्रति देता है इति।

और—यथर्तुष्वर्तुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु॥ अर्थ—जैसे इससृष्टिमें जो २ वसन्त ऋतुके लिङ्ग नवपल्लवादिक हैं तथा अन्य ऋतुवोंके भिन्न भिन्न अनेक लिङ्ग हैं सो २ ही घटीयन्त्रकी तरह आवृत्तिबोधक श्रुति स्मृतियों विषे भी देखनेमें आते हैं। अर्थात् 'युगादिषु' उत्तर २ सृष्टिमें भी पूर्व २ सृष्टिके तुल्य ही नवपल्लवादिक 'भाव' पदार्थ होते हैं इति।

और—'यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥' अर्थ—पूर्व कल्पमें जो २ इन्द्रियादिकोंके अभिमानी सूर्यादिक देव रहे सो २ नामरूप करके, वर्तमानमें विद्यमान देवोंके तुल्य ही रहे। तथा इस वक्त विद्यमान जो देव हैं सो भी पूर्व देवोंके तुल्य ही हैं इति। इत्यादिक पूर्वोक्त स्मृतियोंसे भी नामरूप करके समान ही सृष्टि सिद्ध होती है इति॥ ३०॥

पूर्व ग्रन्थसे देवतावोंके उत्पत्ति विनाशवाले शरीरोंके स्वीकार पक्षमें, और पुनः २ सर्ग व प्रलयके स्वीकार पक्षमें, कर्ममें व शब्दमें विरोधकी शंका करके समाधान कर आये हैं। अब 'तदुपर्यपि' इस सूत्रमें "देवादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार

है" यह जो प्रतिज्ञा करी थी इस प्रतिज्ञात प्रकृत विषयमें ही पुनः 'मध्वादि' इत्यादि दो सूत्रोंसे आक्षेप करके 'भावं तु' इस सूत्रसे समाधिको दिखाते हैं:—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमनिः ॥ ३१ ॥

अर्थ—१ मध्वादिषु, २ असम्भवात्, ३ अनधिकारम्, ४ जैमिनिः। इस सूत्रमें चार पद हैं। जैमिनि ऋषि "देवादिकोंको मधु आदिक विद्यामें अधिकारका असम्भव होनेसे ब्रह्मविद्यामें भी अधिकार नहीं है" ऐसा मानते हैं इति। अर्थात् 'ब्रह्मविद्या, देवान् नाधिकरोति, विद्यात्वात्, मध्वादिविद्यावत्'। अर्थ स्पष्ट है।

अब इस सूत्रके तात्पर्यका वर्णन करते हैं—'ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे' इत्यादि भा०। यदि ब्रह्मविद्यामें देवादिकोंका अधिकार मानोगे तो मधु आदिक विद्यामें भी अधिकार मानना पड़ेगा। क्योंकि विद्यात्वरूप धर्म दोनोंमें समान है। और यदि सिद्धान्ती कहे कि–"मधुविद्यामें भी देवतावोंका अधिकार रहो" तो यह कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्मविद्यामें देवता व ऋषियोंके अधिकारको कहनेवाला सिद्धान्ती प्रष्टव्य है—क्या सामान्यतः सर्व ब्रह्मविद्यावोंमें सर्वका अधिकार है? अथवा यथासम्भव किसी २ विद्यामें किसी २ का अधिकार है? प्रथम पक्षमें मध्वादिक विद्यामें सर्वके अधिकारका असम्भव है।

शंका। असम्भव कैसे है?

समाधान। 'असौ वा आदित्यो देवमधु' इति (छा० ३।१।१)। अर्थ—यह जो आदित्य है सो देवतावोंके मोदका हेतु होनेसे मधुकी तरह मधुरूप है इति। इस आदित्यकी उपासनाको मधुरूपसे अध्यास करके मनुष्य ही कर सकते हैं। अत इस उपासनामें मनुष्यका ही अधिकार है देवतावोंका नहीं। यदि देवतादिकोंका भी अधिकार मानोगे तो आदित्यरूप उपासक अपनेसे भिन्न किस आदित्यकी उपासना करेगा? अर्थात् एक वस्तुमें उपास्य उपासकभाव तथा ज्ञातृज्ञेयभाव तथा प्राप्यप्रापकभाव नहीं बन सकता है इति।

शंका। आदित्यसे भिन्न जो वसु आदिक देवता हैं तिनोंका मधुरूप करके आदित्यकी उपासनामें अधिकार बन सकता है।

समाधान। वसु आदिक देवतावोंको भी ध्येयरूप तथा प्राप्यरूप होनेसे इस उपासनामें अधिकार नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं—'पुनश्चादित्यव्यपाश्रयाणि पञ्च रोहितादीन्यमृतान्युपक्रम्य' इत्यादि भाष्यम्। अब इस भाष्यके भावार्थको दिखाते हैं—'असौ वा आदित्यो देवमधु'। यह छान्दोग्य श्रुति आदित्यको देवतावोंके मोदका हेतु होनेसे व कर्मफलात्मक अमृतरूप मधुका आश्रय होनेसे देवमधुरूपसे वर्णन करती है।

और—'तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः'। इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध भ्रामर मधुकी सादृश्य इस देवमधुमें वर्णन करती है—

अर्थात् तिस आदित्यरूप मधुका द्युलोक ही तिरश्चीन वंश है। अर्थात् "अपूपका आधाररूप तिरछा काष्ठ है" इस प्रकार चिन्तन करे। और आदित्यरूप मधुके रहनेका स्थान 'अन्तरिक्षम्' आकाश अपूप (छत्ता) है। और वेद विहित कर्मरूप पुष्प हैं। और कर्मफलात्मक अमृतरूप मधुके साधन जो हवनीय सोम आज्य पयः आदि द्रव्यविशेष हैं; सो अग्निद्वारा अमृतभावको प्राप्त हुये मकरन्द हैं। और लोहित, शुक्ल, कृष्ण, पर कृष्ण, व 'मध्ये क्षोभत इव' इन शब्दोंसे उक्त पांच कर्मफलात्मक अमृतरूप मधु हैं। और लोहितादिक पांच जो आदित्यकी रश्मिरूप नाडी हैं सो मधु अपूपके छिद्र हैं। और वेदके जो मन्त्र हैं सो भ्रमर हैं। और आदित्यकी रश्मियोंमें स्थित जो भूमिसे आकृष्ट आप हैं, सो मन्त्ररूप भ्रमरोंके पुत्र हैं। क्योंकि मधु नाडियोंके अन्तरगत ही प्रसिद्ध भ्रमरोंके पुत्र होते हैं। और जैसे लोकप्रसिद्ध भ्रमर पुष्पोंसे मकरन्दको आहरण करके छिद्रोंद्वारा स्व स्व स्थानको प्राप्त करते हैं तैसे ही मन्त्र स्वरूप भ्रमर भी कर्मरूप पुष्पोंसे अमृतभावको प्राप्त सोमादिरूप मकरन्दको लोहितादि रश्मिरूप छिद्रोंद्वारा आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। और तिस मधु अमृतको देखकर वसु आदिक देवता तृप्त होते हैं इति।

अर्थात् ऋग्वेदके मन्त्ररूप जो भ्रमर हैं सो ऋग्वेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे कर्म करके सिद्ध जो अमृतरूप मकरन्द है तिसको लाकर पूर्वदिशामें आदित्यरूप मधुकी जो लोहितरश्मिरूप नाडी हैं तिन नाडीरूप छिद्रों करके आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। और तिस अमृत करके वसुदेवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा यजुर्वेदके मन्त्ररूप जो भ्रमर हैं सो यजुर्वेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे अग्निमें हवन किया हुवा अमृतभावको प्राप्त सोमादिरूप मकरन्दको दक्षिण दिशामें वर्तमान आदित्यके आश्रित शुक्लरश्मिरूप छिद्रोंद्वारा आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर रुद्र देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा सामवेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे अमृत भावापन्न सोमादिरूप मकरन्दको सामवेदके मन्त्रस्तोत्र रूप भ्रमर पश्चिम दिशामें स्थित कृष्णरश्मिरूप छिद्रों करके आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर आदित्य देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा अर्वथण वेद विहित कर्मरूप पुष्पोंसे अमृतभावापन्न सोमादिक मकरन्दको अथर्वण वेद विहित मन्त्ररूप भ्रमर उत्तर दिशामें वर्तमान अतिकृष्ण रश्मिरूप छिद्रों करके आदित्यमण्डलको प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर मरुत् देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

तथा प्रणवरूप कुसुमसे उपासनारूप भ्रमर उर्ध्व देशमें स्थित गोप्यनामा रश्मिरूप छिद्रों द्वारा अपूर्वरूप मकरन्दको आदित्यण्डलमें प्राप्त करते हैं। तिस अमृतको देखकर साध्यनामक देवता तृप्तिको प्राप्त होते हैं।

इस पूर्वोक्त रीतिसे आदित्यके आश्रित पांच लोहित शुक्लादिक मधुरूप अमृतोंका उपक्रम करके "वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् व साध्य ये पांच देवगण तत्तत् अमृतोंसे तृप्त होते हैं" ऐसा उपदेश किया है। तदनन्तर 'स य एतदेवममृतं वेद' इत्यादिसे वसु आदिक देवतावोंके जीवनरूप अमृतको जाननेवाले पुरुषोंको वसु आदिकोंकी महिमाकी प्राप्तिको दिखाया है। प्रसङ्गमें यदि वसु आदिक देवतावोंको उपासक मानोगे तो वसु आदिक देवता अपनेसे भिन्न किन अमृतोपजीवी वसु आदिकोंको जानेंगे? तथा किन वसु आदिकोंकी प्राप्तिकी इच्छा करेंगे? और किन वसु आदिकोंकी महिमाको प्राप्त होंगे? क्योंकि उपास्य-उपासकभाव भेदमें होता है। वर्तमान वसु आदिदेवतावोंसे भिन्न वसु आदिक कोई हैं नहीं। पूर्वके वसु आदिकोंका इस कल्पमें अधिकार क्षीण हो चुका है। अतः वसु आदिक देवतावोंका इस आदित्यरूपमधुविद्यामें अधिकार नहीं बन सकता है।

और इसी प्रकार छान्दोग्य (३।१८।१) श्रुतिमें अध्यात्म मनरूप ब्रह्मके वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र रूप चार पादोंको कहकर अधिदैव आकाशरूप ब्रह्मके "अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः" ये उपासनाके लिये चार पाद कहे हैं। जैसे गोके पाद गोसे वियुक्त नहीं होते हैं, किन्तु गोके अन्तर्भूत ही होते हैं। तैसे ही आकाशरूप ब्रह्मके अग्नि आदिक पाद भी आकाशसे वियुक्त नहीं होते हैं, किन्तु आकाशके अन्तरगत ही हैं। और आकाशको सर्वगतत्व तथा रूपादिरहितत्व रूप धर्म करके समान होनेसे अग्नि आदिक चार पादवाला आकाश ब्रह्मरूप करके उपास्य है। और मनरूप ब्रह्मके पादरूप वागादिकोंके क्रमसे, आकाशरूप ब्रह्मके पादरूप अग्नि आदिक देवता कहे हैं। और इस रीतिसे उपासना करनेवालेको कीर्ति, यश व ब्रह्मवर्चस फल कहा है। तथा च वर्तमान अग्नि आदिकोंसे भिन्न अग्नि आदिकोंको न होनेसे इस ब्रह्मविद्यामें भी अग्निआदिक देवतावोंका अधिकार नहीं बन सकता है।

तथा 'वायुर्वाव सम्वर्गः' (छान्दो० ४।३।१) यहां सम्वर्ग गुणवाला अर्थात् अग्नि आदिकोंको ग्रास करनेवाला वायुदेवता उपास्य है।

तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छान्दो० ३।१९।१) यहां आदित्य ब्रह्मरूप करके उपास्य है। और रजत कपालरूप पृथिवी व सुवर्ण कपालरूप द्युके मध्यवर्ती सूर्यकी अभिव्यक्तिके समय ही विस्तीर्ण रववाले नाना शब्दादिक होते भये। इसीलिये इस समयमें भी आदित्यके उदय व अस्तके समय नाना प्रकारके स्तुति आदिक शब्द होते हैं। जो विद्वान् इस प्रकारसे आदित्य ब्रह्मकी उपासना

करता है तिस विद्वान्के लिये शीघ्र ही पापके स्पर्शसे शून्य साधुघोष प्राप्त होते हैं । इत्यादिक श्रुतियोंमें जिन २ देवतावोंकी उपासना विधान करी हैं तिन २ देवतावोंका तिन २ उपासनावोंमें अधिकार नहीं बन सकता है ।

तथा 'इमावेव गौतमभरद्वाजावयमेव गौतमोऽयं भरद्वाजः' (बृह० २।२।४) यहां दो कर्ण, दो नेत्र, दो नासिका, एक वाक्, इन सप्त इन्द्रियोंमें सप्त ऋषियोंका ध्यान कर्तव्यत्वेन विहित है । इस ध्यानका सम्पूर्ण अन्न व सर्वात्तृत्व फल कहा है । यहां श्रुति विषे दक्षिण कर्णमें गौतम ऋषिकी, वाम कर्णमें भरद्वाजकी, दक्षिण नेत्रमें विश्वामित्रकी, वाम नेत्रमें जमदग्निकी, दक्षिण नासिकामें वसिष्ठकी, वाम नासिकामें कश्यपकी, वाक् इन्द्रियमें अत्रि ऋषिकी उपासना कही है । इत्यादिक ऋषिसम्बन्धिनी उपासनावोंमें भी तिन ही गौतम आदिक ऋषियोंका अधिकार नहीं बन सकता है । क्योंकि यहां गौतमादिक ऋषि ही ध्येय हैं । अभेदमें ध्यातृध्येयभाव बने नहीं इति ॥ ३१ ॥

शंका । "अथवा यथासम्भव किसी २ विद्यामें किसी २ का अधिकार है" इस द्वितीय पक्षमें देवादिकोंका ब्रह्मविद्यामें अनधिकार किस कारणसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान । शरीररूप विग्रहका अभाव होनेसे देवादिकोंको किसीमें भी अधिकार नहीं है इस अर्थको मीमांसक दिखाता है:—

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—१ ज्योतिषि, २ भावात्, ३ च । इस सूत्रमें तीन पद हैं । जो यह द्यु स्थानमें ज्योतिर्मण्डल रात्रिदिन पुनः २ भ्रमण करता हुवा जगत्को प्रकाश करता है तिस ज्योतिर्मण्डलमें सर्व जन आदित्य, चन्द्र, शुक्र, मङ्गल, आदिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं यह वार्ता लोकमें प्रसिद्ध है । तथा मधुविद्याके वाक्यशेषमें भी प्रसिद्ध है—'पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेतेति' अर्थात् आदित्य पूर्व दिशामें उदय होता है और पश्चिम दिशामें अस्तभावको प्राप्त होता है । तथा च ज्योतिरूप मण्डलमें ही आदित्यादिक शब्दोंको विद्यमान होनेसे विग्रहवान् देवता कोई नहीं है यह सिद्ध हुवा इति ।

जो सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—'ज्योतिःपिण्डका ही अधिकार रहो' सो कहना असङ्गत है । क्योंकि ज्योतिर्मण्डलका हृदयादिक विग्रहके साथ तथा चेतनत्वके साथ और चेतनके धर्म अर्थित्वादिकोंके साथ सम्बन्धका निश्चय नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ज्योतिर्मण्डल मृदादिकोंकी तरह अचेतन है । इससे अग्नि आदिकोंका भी व्याख्यान हो चुका । अर्थात् अग्नि आदिक शब्दोंके वाच्य अर्थ भी अचेतन ही हैं । इस पूर्वोक्त रीतिसे अचेतन ज्योतिर्मण्डलादिकोंमें किसी विषयक अधिकार नहीं बन सकता है इति ।

शंका। मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण तथा लोकसे देवादिकोंके विग्रहका निश्चय होनेसे अनधिकाररूप दोष नहीं है ?

समाधान। सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि देवोंके विग्रहमें पूर्वोक्त कोई भी प्रमाण नहीं बन सकते हैं। तहां प्रथम लोकप्रमाण तो नहीं बन सकता है,क्योंकि विशेष विचारके विना प्रत्यक्षादिक प्रमाणों करके प्रसिद्ध जो अर्थ है सोई अर्थ लोकसे प्रसिद्ध कहा जाता है। अतः लोक कोई स्वतन्त्र पृथक् प्रमाण नहीं है। और देवतावोंके विग्रहमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंके मध्यमेंसे कोई भी प्रमाण नहीं है। तथा इतिहास पुराणादिकोंको भी पौरुषेय होनेसे प्रमाणान्तररूप मूलकी अपेक्षा होगी, अतः प्रमाणरूप नहीं हैं। और अर्थवाद जो हैं सो भी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यत्ववाले होनेसे स्तुतिरूप अर्थवाले हुये विधिवाक्यके अर्थसे भिन्न स्वार्थमें प्रमाणरूप नहीं हैं। अतः अज्ञात देवादिकोंके विग्रहमें प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं। तथा व्रीह्यादिकोंकी तरह कर्ममें श्रुति लिङ्गादिकों करके विनियुक्त जो मन्त्र हैं; तिनोंका भी दृष्टद्वारा उपकारके सम्भव हुये अदृष्ट कल्पनाका अयोग होनेसे प्रयोगसमवेत अर्थविषयक स्मृतिमें ही तात्पर्य है। अज्ञात देवादिकोंके विग्रहमें अथवा अन्य किसी भी अर्थमें तात्पर्य नहीं है। अतः मन्त्र भी विग्रहमें प्रमाणरूप नहीं हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे देवादिकोंका किसी विद्यामें भी अधिकार नहीं है यह सिद्ध हुवा ऐसा पूर्वमीमांसक कहते हैं इति ॥३२॥

इन दो सूत्रों करके प्राप्त जो यह पूर्वपक्ष है इसको अब सूत्रकार खण्डन करते हैं—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

अर्थ—१ भावम्, २ तु, ३ बादरायणः, ४ अस्ति, ५ हि। इस सूत्रमें पांच पद हैं। पूर्वपक्षका निरास 'तु' शब्दका अर्थ है। बादरायण आचार्य जो हैं सो देवादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारको मानते हैं। यद्यपि वसु आदिक देवतादिकों करके व्यामिश्रित जो मधु आदिक विद्या हैं तिनोंमें वसु आदिक देवतादिकोंके अधिकारका सम्भव नहीं है। तथापि शुद्ध ब्रह्मविद्यामें देवतादिकोंका अधिकार बन सकता है। क्योंकि अधिकारके प्रयोजक जो अर्थित्व सामर्थ्यादिक हैं सो देवतादिकोंमें भी विद्यमान हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—किञ्च "मधु आदिक विद्यावोंमें देवतादिकोंके अधिकारका असम्भव है, अतः ब्रह्मविद्यामें भी अधिकारका असम्भव है; क्योंकि विद्यात्वरूप हेतु दोनोंमें समान है" ऐसा प्रथम वादीने जो कहा है सो सर्वथा असङ्गत है। क्योंकि बृहस्पतियागमें तथा राजसूययागमें कर्मत्वरूप धर्मको समान होनेसे भी "जिसमें जिसके अधिकारका सम्भव है तिसमें तिसका अधिकार है" इस न्याय करके जैसे ब्राह्मणको राजसूय यागमें अधिकारका अभाव हुये भी बृहस्पति यागमें अधिकार है। और क्षत्रियको बृहस्पतिसवमें

अधिकारका असम्भव हुये भी राजसूयमें अधिकार है। तैसे तुल्य न्याय करके देवतादिकोंका मधु आदिक विद्यावोंमें अधिकारके अभाव हुये भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार बन सकता है। यदि ऐसा न्याय न मानोगे तो कर्म उपासनादिकोंमें किसीका भी अधिकार सिद्ध नहीं हो सकेगा। तथा च "क्वचित् अधिकारका असम्भव है, एतावता जहां अधिकारका सम्भव है तहां भी अधिकार नहीं है" यह कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्राह्मणादिक सर्व मनुष्योंका भी सर्व राजसूयादिक कर्मोंमें अधिकारका सम्भव नहीं बन सकता है। अतः तहांपर जो न्याय व्यवस्थापक होगा तिस ही न्यायसे प्रकृतमें भी व्यवस्था होवेगी इति।

अब ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें स्थित देवतादिकोंके अधिकारकी सूचक श्रुतिको दिखाते हैं—**'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणामिति'** (बृह० १।४।११) अर्थ—देवतावोंके मध्यमें तथा ऋषियोंके मध्यमें तथा मनुष्योंके मध्यमें जो जो तिस ब्रह्मको जानते भये सो सो सर्व ही ब्रह्मरूप होते भये इति।

और "देवतावोंको ब्रह्मविद्यामें अधिकार है" इसमें लिङ्गको भी दिखाते हैं— **'ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्'** इति (छा० ८।७।२)। अर्थ—इन्द्रादिक देवता परस्पर विचार करते भये कि—तिस आत्माको हम लोग ढूढें, जिस आत्माको ढूढनेसे सम्पूर्ण लोकोंकी तथा सम्पूर्ण कामोंकी प्राप्ति होती है। तथा विरोचनादिक असुर भी इसी प्रकार विचार करते भये। पश्चात् इन्द्र तथा विरोचन दोनों ब्रह्मविद्याको देनेवाले प्रजापतिके समीप जाते भये इति। इस प्रसङ्गसे भी निश्चय होता है कि—देवतादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। यदि नहीं होता तो ब्रह्मविद्याके निमित्त देवराज तथा असुरराज प्रजापति गुरुके समीप नहीं जाते।

तथा मोक्षधर्ममें गन्धर्वने याज्ञवल्क्यके प्रति पूछा है कि— अमृतरूप ब्रह्म कौन है ? पश्चात् याज्ञवल्क्यने अमृतरूप ब्रह्मका उपदेश किया है। यह विश्वावसु गन्धर्व व याज्ञवल्क्यका स्मृतिप्रसिद्ध संवाद, और प्रह्लाद व अजगरादिके सम्वाद भी देवतादिकोंको ब्रह्मविद्याके अधिकारमें लिङ्ग हैं। उक्त लिङ्गोंसे गन्धर्व व असुरादिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारसिद्ध होता है।

शंका। वादीने जो पूर्व कहा था कि—"आदित्यादिक शब्दोंका प्रयोग ज्योतिर्मण्डलमें होता है, अतः आदित्यादिक शब्दोंका वाच्य अर्थ अचेतन ज्योतिर्मण्डलमें ब्रह्मविद्याका अधिकार नहीं बन सकता है" तिसका क्या समाधान है ?

समाधान। जैसे शास्त्रशून्य जो मनुष्य हैं सो इन्द्रियोंके गोलकोंमें ही चक्षु आदिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं, परन्तु शास्त्रज्ञ जो मनुष्य हैं सो गोलकोंसे अतिरिक्त इन्द्रियोंको स्वीकार करते हैं। तैसे आदित्यादिक शब्दोंका ज्योतिर्मण्डलमें प्रयोगके हुये भी विग्रहवाली देवता स्वीकार करनेको योग्य है।

इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं—'अत्र ब्रूमः-ज्योतिरादिविषयाः' इत्यादि भाष्यम् । अर्थात् ज्योतिर्मण्डलविषयक जो अदित्यादिक देवतावोंके वाचक शब्द हैं सो भी चेतनावाले तथा ऐश्वर्यादिकों करके सम्पन्न तत् तत् विग्रह-वाले देवतावोंको ही बोधन करते हैं। क्योंकि मन्त्रों तथा अर्थवादोंमें व इतिहास पुराणादिकोंमें आदित्यादिक देवतावों विषे चेतनत्वरूप करके ही व्यवहार देखनेमें आता है। अर्थात् देवता जो हैं सो ऐश्वर्यबलके योगसे ज्योतिर्मण्डलादिरूप करके स्थित होनेको समर्थ हैं। तथा यथेष्ट तत् तत् अनेक विग्रहको ग्रहण करनेमें भी समर्थ हैं।

और अब "विविध विग्रहरूप करके इन्द्रादि देवविषयक व्यवहारका श्रवण होता है" इस अर्थको दिखाते हैं—'तथा हि श्रूयते सुब्रह्मण्यार्थवादे' इत्यादि भा०। अर्थ—उद्गातृगणमें स्थित ऋत्विक्विशेषका नाम सुब्रह्मण्य है। तत्सम्बन्धी जो 'इन्द्र, आगच्छ' इत्यादिक अर्थवाद है तिस अर्थवादमें कहा है कि—इन्द्र जो है सो मेधातिथि नामक काण्वायन ऋषिको मेषरूपको धारण करके ले जाता भया। तथा आदित्य जो है सो मनुष्य शरीरको धारण करके कुन्तीके पास प्राप्त होता भया इत्यादिक महाभारतमें भी श्रवण होता है इति।

किञ्च "आदित्यादिक जो देव हैं सो मृत्तिकाकी तरह अचेतन हैं" यह जो पूर्ववादीका कहना है सो भी असङ्गत है। क्योंकि सर्वत्र पदार्थोंमें जड़ तथा चेतन भेदसे अंशद्वय रहते हैं। अत एव 'मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्' इत्यादिक व्यव-हार शास्त्रविषे देखनेमें आता है। इस रीतिसे अचेतन मृत्तिकादिकोंमें भी चेतनरूप अधिष्ठाताको शास्त्रकार अङ्गीकार करते हैं। इसी प्रकार मन्त्र अर्थवाद व इतिहास पुराणादि प्रामाण्यबलसे आदित्यादिकोंमें भी दो दो अंश हैं। एक तो ज्योतिर्मण्डलरूप अचेतन अंशका स्वीकार है। दूसरा ज्योतिर्मण्डलका अधिष्ठाता देवतारूप चेतन अंश है। यह हम कह आये हैं।

शंका। जैसे 'विषं भुंक्ष्व' इस वाक्यको शत्रुके गृहमें भोजनकी निवृत्तिरूप अन्यअर्थपरत्व होनेसे पदशक्तिवृत्ति करके प्रतीयमान विषभक्षणरूप स्वार्थपरत्व नहीं है। तैसे 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादिक मन्त्र व अर्थवादादिकोंको भी स्तुति निन्दादि रूप अन्यअर्थपरत्व होनेसे पदकी शक्तिवृत्ति करके प्रतीयमान विग्रहरूप स्वार्थपरत्व नहीं बन सकता है।

समाधान। वस्तुके सद्भावमें वस्तुविषयक प्रत्यय कारण है तथा वस्तुके असद्भावमें अप्रत्यय कारण है। अन्यार्थत्व अथवा अनन्यार्थत्व नहीं। क्योंकि अन्य अर्थके लिये प्रस्थित अर्थात् जाता हुवा जो पुरुष है सो भी मार्गमें पड़े हुये जो तृणादिक हैं तिनविषयक अस्तित्वज्ञानको प्राप्त होता है।

शंका। यह दृष्टान्त विषम है; क्योंकि तहां तृणादिविषयक प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान है। तिस प्रत्यक्ष प्रमाण करके तृणादिकोंमें अस्तित्व प्रकारक

ज्ञानको पुरुष प्राप्त होता है। और प्रसङ्गमें विधिवाक्यके साथ एकवाक्यत्व-वाला होनेसे स्तुत्यर्थक अर्थवादमें स्तुतिरूप अर्थसे भिन्न विग्रहादिक विषयक प्रवृत्ति निश्चय करनेको अशक्य है। अर्थात् अर्थवादोंमें "यह विधि प्रशस्त है" ऐसा ही ज्ञान होता है, विग्रहादिक विषयक ज्ञान होता नहीं। जो सिद्धान्ती कहे कि—महावाक्यके घटक जो अवान्तर वाक्य हैं सो पृथक् विग्रह रूप अर्थको बोधन करेंगे? सो भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि—'न सुरां पिबेत्' यहां नञ्वाले महावाक्यमें पदत्रयके सम्बन्धसे सुरापानका प्रतिषेधरूप एक ही अर्थ प्रतीत होता है। पुनः 'सुरां पिबेत्' इस प्रकार पद द्वयके सम्बन्धसे सुरापानकी विधि भी प्रतीत होवे यह वार्ता नहीं है। यदि 'सुरां पिबेत्' इस अवान्तर वाक्यको भी पृथक् अर्थका बोधकत्व मानोगे तो सुरापानकी विधि भी सिद्ध होनी चाहिये। परन्तु होती तो नहीं। अतः "अवान्तर वाक्य पृथक् विग्रहादिकोंका बोधक नहीं हो सकता है" ऐसा ही मानना पड़ेगा।

समाधान। 'न सुरां पिबेत्' यह दृष्टान्त विषम है। सुरापानके प्रतिषेधमें पदान्वयको एक होनेसे अवान्तर वाक्यार्थका जो अग्रहण है सो युक्त ही है। परन्तु विधिको संकीर्तन करके पठित अर्थवादोंमें ऐसा नहीं है। क्योंकि 'न सुरां पिबेत्' इस दृष्टान्तमें पदैकवाक्यता है। और सिद्धान्तमें जो अर्थवाद हैं तिनमें वाक्यैकवाक्यता है। दृष्टान्तमें नञ्रूप एक पदका जब 'सुरां पिबेत्' इस पदद्वयके साथ सम्बन्ध होता है तब पदैकवाक्यता कही जाती है। और सुरापानका निषेधरूप एक अर्थको ही 'न सुरां पिबेत्' यह वाक्य बोधन करता है। और पदद्वयसे सुरापानरूप पृथक् अर्थको नहीं बोधन करता है। यदि बोधन करेगा तो सुरापानका विधान होनेसे निषेधकी अनुपपत्ति होगी। और अर्थवाद जो हैं सो प्रथम स्वगत पदों करके देवता विग्रहादिरूप भूत अर्थविषयक ज्ञानको उत्पन्न करके अनन्तर "इस अर्थवादका क्या प्रयोजन है" इस किमर्थ आकाङ्क्षाके बलसे विधिकी स्तुतिद्वारा विधिवाक्यके साथ वाक्यैकवाक्यताको प्राप्त होते हैं। अतः, अर्थवादमें अवान्तरवाक्यके अर्थ विग्रहादिकोंका अनुभव होता है।

इस अर्थको अब स्पष्ट करके दिखाते हैं—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूति-कामः'। अर्थ—विभूतिकी कामनावाला जो पुरुष है सो वायु देवताक श्वेत पशुका आल-म्भन करे इति। यहां विधिवाक्यमें स्थित जो वायव्य आदिक पद हैं तिनोंका जैसे विधिके साथ साक्षात् सम्बन्ध है। अर्थात्-'वायव्यमालभेत, श्वेतमालभेत, भूतिकाम आलभेत इति। तैसे—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति'। इत्यादिक अर्थवादमें स्थित पदोंका विधिके साथ सम्बन्ध नहीं है। अर्थात्-'वायुर्वा आलभेत, क्षेपिष्ठा देवता वा आलभेत' इस प्रकार वायु आदिक पदोंका 'आलभेत' इस विधिके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है। किन्तु 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादिक जो अर्थवाद हैं सो स्वगत पदों करके—

"शीघ्र गमन स्वभाववाला वायु देवता है। अतः यजमानको शीघ्र ही विभूतिको प्राप्त करता है" इस प्रकार अवान्तर विग्रहादिरूप देवताविषयक ज्ञानको उत्पन्न करके अनन्तर—'विशिष्टदैवत्यमिदं कर्म' अर्थात् "यह जो वायव्य कर्म है सो शीघ्र फलको देनेवाला अति उत्तम वायु देवतावाला है" इस प्रकार यथेष्ट विधिकी स्तुति करते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे वाक्यैकवाक्यतावाले अर्थवादोंमें अवान्तर वाक्यार्थ देवताविग्रहादिकोंका ज्ञान होता है। और 'न सुरां पिबेत्' इस दृष्टान्तमें पदैकवाक्यता है, इसलिये अवान्तर वाक्यका अर्थ जो सुरापान है तिसका बोध नहीं होता है। अतः विषम दृष्टान्त है यह सिद्ध हुवा इति।

शंका। उक्त रीतिसे सर्वत्र अर्थवादोंमें स्वार्थका ग्रहण होना चाहिये परन्तु होता तो नहीं। क्योंकि—'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि स्थलमें आदित्य तथा यूपादिका परस्पर अभेदरूप जो अर्थ है सो बाधित है।

समाधान। अर्थवाद तीन* प्रकारका है—अनुवाद, तथा गुणवाद तथा भूतार्थवाद। तहां—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' 'अग्नि शीतकी औषध है' इत्यादिक स्थलमें प्रत्यक्ष प्रमाणान्तरका विषय जो अग्नि आदिक अवान्तर वाक्यका अर्थ है तिसका अनुवाद करके यह अर्थवाद प्रवृत्त होता है अतः इस अर्थवादका नाम अनुवाद है।

तथा 'आदित्यो यूपः' इस स्थलमें प्रत्यक्षादिक प्रमाणान्तरसे यूपमें आदित्यका अभेद विरुद्ध है। इसलिये यूपमें जो आदित्यका तेजस्वित्वरूप गुण है तिस गुण करके यह अर्थवाद प्रवृत्त होता है। अतः इस अर्थवादका नाम गुणवाद है।

और जहां दोनों नहीं हैं अर्थात् मानान्तरका संवाद भी नहीं है तथा मानान्तरका विसंवाद कहिये विरोध भी नहीं है तहां अर्थात्—'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि स्थलमें—"प्रमाणान्तरका अभाव होनेसे क्या यह गुणवादरूप अर्थवाद है अथवा प्रमाणान्तरका अविरोध होनेसे भूतार्थवाद है" ऐसे संशयके हुये सिद्धान्ती कहता है कि—'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि स्थलमें प्रतीतिशरण पुरुषोंको विद्यमानवाद अर्थात् भूतार्थवाद ही आश्रयण करनेको योग्य है। अर्थात् जिस अर्थवादमें मानान्तरका संवाद तथा विसंवाद नहीं हैं सो अर्थवाद स्वार्थमें प्रमाणरूप होता है। क्योंकि अर्थकी सिद्धिमें प्रतीति ही शरण है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' यह जो अर्थवाद है सो इन्द्र देवताके विग्रहको बोधन करता है।

इससे मन्त्रका भी व्याख्यान हो चुका। अर्थात् मन्त्र भी मानान्तरका संवाद तथा विसंवादका अभाव होनेसे स्वार्थमें प्रमाणरूप हैं। अतः विग्रहादिकोंके बोधक हैं।

---

* टि०—विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा स्मृतः॥

किञ्च इन्द्रादिक देवता सम्बन्धि हविष्को विधान करनेवाले जो विधिवाक्य हैं सो भी इन्द्रादिक देवतावोंके स्वरूपकी अपेक्षा करते हैं। अतः "मन्त्र तथा अर्थवादादि देवताविग्रहको बोधन करते हैं" ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा।

शंका। क्लेशात्मक कर्ममें फलसे विना विधि अनुपपन्न है। अतः 'यन्न दुःखेन संभिन्नम्' इत्यादिक अर्थवाद करके सिद्ध जो स्वर्ग है तिसमें विधिप्रमाण रहो। विग्रहसे विना विधिमें क्या अनुपपत्ति है?

समाधान। यदि विग्रहको नहीं मानोगे तो स्वरूप करके रहित इन्द्रादिक देवतावोंका चित्तमें आरोप नहीं कर सकते हैं। और चित्तमें अनारूढ़ तिस २ देवताके प्रति हविका प्रदान भी करनेको अशक्य है। अतः विधिकी अनुपपत्ति होनेसे स्वर्गकी तरह विग्रहको भी अवश्य मानना चाहिये।

किञ्च चित्तमें आरोहके लिये देवताविग्रहको अवश्य ही मानना पड़ेगा। यदि न मानोगे तो जिस देवताको उद्देश करके हविका त्याग करोगे; तिस देवताका चित्तमें अनारोह होनेसे त्यागकी अनुपपत्ति होगी; अतः देवताविग्रह अवश्य स्वीकार्य है। इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं—**'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्।'** अर्थ—जिस देवताको उद्देश्य करके हवि गृहीत होवे तिस देवताका 'वषट्' इस शब्दका उच्चारण करते हुये मन करके ध्यान करे इति।

किञ्च वरादिप्रदात्री सुप्रसन्न विग्रहवाली देवताको त्याग करके "शब्दमात्रका नाम देवता है" यह जो मीमांसककी भक्ति है सो अयुक्त है इस अर्थको दिखाते हैं—**'न च शब्दमात्रमर्थस्वरूपं सम्भवति'** इत्यादि भा०। अर्थ—शब्दमात्र ही अर्थका स्वरूप नहीं हो सकता है। क्योंकि शब्द तथा अर्थका भेद है। अतः शब्द-प्रमाणवादी पुरुषको मन्त्रोंमें तथा अर्थवादोंमें इन्द्रादिक देवतावोंका यादृश स्वरूप निश्चित है तादृश स्वरूपका खण्डन करना युक्त नहीं है इति।

और "केवल मन्त्र व अर्थवादों करके ही देवतावोंके विग्रह सिद्ध हैं" यही वार्ता नहीं है। किन्तु इतिहास पुराणादिकों करके भी सिद्ध हैं। अब इस अर्थको भी भाष्यकार कहते हैं—**'इतिहासपुराणमपि'** इत्यादि भा०। अर्थ—इतिहास तथा पुराण भी मन्त्र व अर्थवाद मूलक होनेसे प्रमाणरूप हुये पूर्वोक्त रीतिसे देवताविग्रहादिको सिद्ध करनेमें समर्थ हैं इति।

किञ्च देवतावोंके विग्रहमें प्रत्यक्षादिक प्रमाण भी हैं। यद्यपि हमारे लोगोंको देवतावोंके विग्रहका प्रत्यक्ष नहीं भी है; तथापि चिरन्तन व्यासादिकोंको प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि इतिहासादिकोंमें लिखा है कि—देवतावोंके साथ व्यासादिक प्रत्यक्ष व्यवहारको करते थे इति।

जो पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि—"जैसे इस काल विषे हमारे लोगोंमें देवतावोंके साथ व्यवहार करनेकी सामर्थ्य नहीं है। तैसे ही पूर्व काल विषे व्यासादिकोंमें

भी देवतावोंके साथ व्यवहार करनेकी सामर्थ्य नहीं होवेगी" सो वादी जगत्के वैचित्र्यको निषेध करेगा। अर्थात् "सर्वं, घटाभिन्नं, वस्तुत्वात्, घटवत् ।" जैसे घटमें वस्तुत्व है अतः घटमें घटका अभेद है। तैसे सम्पूर्ण जगत्में वस्तुत्वरूप हेतु है अतः सम्पूर्ण जगत् घटरूप ही है घटसे विलक्षण नहीं" इस प्रकार जगत्के वैचित्र्यका अभावको कहेगा। और "जैसे इस कालमें सार्वभौम क्षत्रिय राजा नहीं है। तैसे ही पूर्वकालमें भी सार्वभौम क्षत्रिय राजा नहीं था" ऐसा भी वादी कह सकेगा। और यदि ऐसा ही मानोगे तो शास्त्रमें जो राजसूयादिक विधि कही हैं सो उपरुद्ध हो जावेंगी। और "जैसे इस कालमें वर्णाश्रम धर्मकी प्रायः अव्यवस्था है। तैसे ही पूर्वकालमें भी धर्मकी अव्यवस्था थी" ऐसी प्रतिज्ञा भी आप कर सकते हो, क्योंकि आप निरङ्कुश बुद्धिवाले हो। परन्तु ऐसा माननेसे राजसूयादिकोंका बोधक शास्त्र तथा कृत युगादिकोंके धर्मोंकी व्यवस्थाके प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ होवेंगे। अतः तुम्हारेको ऐसा अवश्य कहना होगा कि—"धर्मके उत्कर्षके वशसे चिरन्तन व्यासादिक देवतावोंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते भये" यही वार्ता युक्त है।

किञ्च योगसूत्रके बलसे भी देवादिकोंके प्रत्यक्षकी सिद्धि होती है—तहां सूत्रम्—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः'। अर्थ—मन्त्रके जपरूप स्वाध्यायसे इष्ट देवता समीपमें प्राप्त होते हैं। तथा सम्भाषणादिक भी करते हैं इति। इत्यादि। और अणिमादिक ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फलवाला स्मृत्यादिकोंमें प्रसिद्ध जो योग है सो साहस मात्र करके खण्डन करनेको भी अशक्य है।

तथा श्रुति भी योगके माहात्म्यको वर्णन करती है—'पृथिव्यपतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥' (श्वे० २।१२)।

अर्थ—पादके तलसे लेकर जानु पर्यन्त पृथिवीकी, तथा जानुसे लेकर नाभि पर्यन्त जलकी, तथा नाभिसे लेकर ग्रीवा पर्यन्त तेजकी, तथा ग्रीवासे लेकर केशोंके प्ररोह पर्यन्त वायुकी, तथा केशोंके प्ररोहसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त आकाशकी धारणा करके संयमके बलसे पांचो भूतोंके वशमें करनेसे अणिमादिक योगगुणकी प्रवृत्ति होती है। और दिव्य तेजोमय देहकी भी प्राप्ति होती है। इसके अनन्तर तिस योगी पुरुषको रोग तथा जरा व मृत्यु स्पर्श नहीं करते हैं इति।

किञ्च मन्त्र तथा ब्राह्मणरूप वेदको साक्षात्कार करनेवाले ऋषियोंकी सामर्थ्यको अपने लोगोंकी सामर्थ्यके समान जानना भी युक्त नहीं है। अतः व्यासादि प्रणीत इतिहास पुराण समूल ही हैं इति।

और जो चित्रकारों करके रचित देवादिक विग्रहोंको लोकमें प्रसिद्धि है सो भी देवादिक विग्रहके सम्भव हुये निरालम्बन निश्चय करनेको अयुक्त है।

अब देवता अधिकरणको समाप्त करते हैं—'तस्मात्' इत्यादि भाष्यम्। इस पूर्वोक्त रीतिसे मन्त्रादिकों करके तथा मन्त्रादि मूलक इतिहास पुराणादिकों करके देवतादिकोंके विग्रहका निश्चय होता है। तथा देवतावोंमें भी अर्थित्वादिकोंका सम्भव होनेसे युक्ति व शास्त्रके बलसे ब्रह्मविद्यामें अधिकार सिद्ध हुवा। और देवादिकोंके विग्रह स्वीकार करनेसे ही क्रममुक्तिका प्रतिपादक शास्त्र भी समीचीन होता है। अन्यथा "अहंग्रह उपासनादि करके ब्रह्मलोकादिकोंकी प्राप्ति होती है। तहां दिव्य देवादि शरीरोंमें ब्रह्म साक्षात्कारद्वारा मुक्तिकी प्राप्ति होती है" इस प्रकार क्रममुक्तिको प्रतिपादन करनेवाली अनेक श्रुतिस्मृतियोंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी ॥ ३३ ॥

इति देवताधिकरणम् ॥

जैसे ब्रह्मविद्यामें मनुष्योंके अधिकारका नियमको खण्डन करके देवतावोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकारको कह आये हैं। तैसे ही द्विजाति मात्रके अधिकारका नियमको खण्डन करके 'शूद्रको भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है' ऐसा मानना चाहिये? इस शंकाको निवृत्त करनेके लिये सूत्रकार इस अधिकरणको दिखाते हैं:—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥३४॥

अर्थ—१ शुक्, २ अस्य, ३ तदनादरश्रवणात्, ४ तदाद्रवणात्, ५ सूच्यते, ६ हि। इस सूत्रमें छ पद हैं। जानश्रुति राजाको हंसोंके अनादर वाक्योंके श्रवणसे जो शोक उत्पन्न होता भया सोई शोक रैक्व ऋषिने 'शूद्र' शब्दसे सूचित किया है। अर्थात् 'शुचा दुद्रुवे' 'शोक करके जानश्रुति रैक्वके पास प्राप्त हुवा है' इसलिये जानश्रुतिको रैक्वने शूद्र शब्दसे कहा है। तथा च प्रकृत शूद्र शब्द यौगिक है रूढ़ जातिवाचक नहीं है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरण* रचनाको दिखाते हैं:—'वेदान्तविचार' इस अधिकरणका विषय है।

और शूद्रमें अर्थित्वादिकोंका सम्भव तथा असम्भव करके "शूद्रको वेदान्तविचारमें अधिकार है, अथवा नहीं है" ऐसा यहां सन्देह है।

---

* पूर्व अधिकरणमें, ब्रह्मविद्यामें देवादिकोंके अधिकारकी सिद्धिके लिये मन्त्रादिकोंका विग्रहादिरूप भूतअर्थमें समन्वयकी उक्ति करके वेदान्तोंका भूत (सिद्ध) अर्थ ब्रह्ममें समन्वय दृढ़ किया है। और इस अधिकरणमें भी 'हारेत्वा शूद्र' इस श्रुतिमें स्थित शूद्र शब्दका क्षत्रियमें समन्वयकी उक्ति करके समन्वयको ही दृढ़ करते हैं। अतः प्रासङ्गिक इन दोनों अधिकरणोंका इस समन्वयाध्यायमें अन्तर्भाव है।

अथ पूर्वपक्ष। तहां शूद्रको भी वेदान्तविचारमें अधिकार होगा यह प्राप्त हुवा। क्योंकि शूद्रमें भी अर्थित्व सामर्थ्यादिक बन सकते हैं। किञ्च 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' (तै० सं० ७।१।१।६) इस श्रुतिमें जैसे 'सामर्थ्य न होनेसे शूद्र यज्ञमें अनधिकारी है', ऐसा श्रवण होता है। तैसे 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' 'शूद्र विद्यामें अनधिकारी है' ऐसा निषेधका श्रवण होता नहीं। अतः शूद्रको भी विद्यामें अधिकार है।

और जो शूद्रको कर्ममें अनधिकारका कारण अनग्नित्वको कहा है सो अनग्नित्वरूप लिङ्ग भी विद्यामें अधिकारको दूर नहीं कर सकता है। क्योंकि "आहवनीयादिक अग्नि करके रहित पुरुष विद्याको नहीं प्राप्त हो सकता है" यह कहना असङ्गत है।

किञ्च "शूद्रके अधिकारका साधक, विद्यार्थी पुरुषमें शूद्र शब्दका प्रयोगरूप लिङ्ग भी देखनेमें आता है, इस कारणसे भी शूद्रमें विद्याका अधिकार है" इस अर्थको अब दिखाते हैं—'भवति च लिङ्गम् शूद्राधिकारस्योपोद्बलकम्' इत्यादि भा०। छान्दोग्यके चतुर्थ अध्यायमें स्थित—'वायुर्वाव संवर्गः' इत्यादिक संवर्गविद्यामें लिखा है कि—जानश्रुति राजाने, छ सौ गायों करके सहित रथको रैक्व ऋषिके आगे निवेदन करके कहा कि—"हे भगवन्! मेरेको विद्याका उपदेश करें।" पश्चात् रैक्व ऋषि बोले—'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु।' अर्थ—पत्नी करके रहित कन्यार्थी रैक्व ऋषिने खेदके साथ कहा कि—हे शूद्र! सुवर्णमय हार करके सहित गमन करनेवाला जो यह रथ है, सो गावों करके सहित यह रथ तुम्हारेको ही रहे; अर्थात् तू अपने पास ही रख इति। तथा च 'हारेत्वा शूद्र' इस श्रुतिमें शूद्र शब्दका, श्रवण करनेकी इच्छावाले जानश्रुति विद्यार्थीमें प्रयोग होनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि—शूद्रका भी वेदविद्यामें अधिकार है इति।

किञ्च "शूद्रयोनिसे उत्पन्न हुये भी जो विदुरादिक हैं सो भी ब्रह्मविद्या करके सम्पन्न हैं" ऐसा शास्त्रमें श्रवण होता है। अतः इस पूर्वोक्त रीतिसे शूद्रको भी वेदान्तविचारमें अधिकार सिद्ध होता है इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है—'न शूद्रस्याधिकारः' इत्यादि भा०। शूद्रमें वेदाध्ययनका अभाव होनेसे विद्यामें अधिकार नहीं बन सकता है। किञ्च अध्ययनविधि करके संस्कृत जो वेद है तिस वेद करके उत्पन्न जो वेदार्थ विषयक आपातज्ञान अर्थात् सामान्य ज्ञानरूप शास्त्रीय सामर्थ्य है तिस सामर्थ्यवाले पुरुषको ही वेदार्थके विचारमें अधिकार है। शूद्रमें वेदाध्ययनजन्य सामान्य ज्ञानरूप शास्त्रीय सामर्थ्यका अभाव होनेसे वेदार्थके विचारमें अधिकार नहीं हो सकता है।

क्योंकि वेदाध्ययनका प्रयोजक जो उपनयन है सो शूद्रमें है नहीं, किन्तु तीन वर्णोंमें ही है । अतः निरुक्त सामर्थ्यके न होनेसे केवल लौकिक अर्थित्व ही अधिकारका कारण नहीं हो सकता है। और सेवादिरूप केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधिकारका कारण नहीं हो सकती है। क्योंकि शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय सामर्थ्यकी भी अपेक्षा अवश्य रहती है। और शूद्रमें वेदाध्ययनका निराकरण होनेसे ही शास्त्रीय सामर्थ्यका निराकरण हो चुका है। अतः शूद्रको वेदविद्यामें व फलपर्यन्त विद्याके साधन श्रवणादि विधियोंमें अधिकार नहीं है।

किञ्च शूद्रमें अध्ययनविधि करके लभ्य अध्ययनके अधीन वेदार्थ ज्ञानवत्त्वरूप सामर्थ्यके न होनेसे 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः' यह वचन जैसे शूद्रका यज्ञमें अनधिकारको बोधन करता है। तैसे ही विद्यामें भी अनधिकारको द्योतन करता है । क्योंकि शूद्रमें वेदार्थज्ञानवत्त्वरूप उक्त सामर्थ्याभावरूप न्याय तुल्य है । अर्थात् 'शूद्रो यज्ञे' इस श्रुतिमें यज्ञपद वेदार्थका उपलक्षण है।

किञ्च पूर्वपक्षीने जो कहा था कि—"संवर्गविद्यामें जो शूद्र शब्दका श्रवणरूप लिङ्ग है सो शूद्रमें विद्याके आधिकारको बोधन करता है" यह कहना भी असङ्गत है। क्योंकि वेदार्थज्ञानवत्त्वरूप सामर्थ्यका अभावात्मक जो असामर्थ्यरूप न्याय है तिस करके शूद्रमें अर्थित्वादिकोंके सम्भवरूप न्यायको खण्डित होनेसे शूद्रशब्दका जो श्रवण है सो लिङ्ग नहीं है। यदि शूद्रमें अर्थित्वादिकोंका सम्भव होता तो अधिकाररूप अर्थका द्योतक शूद्र शब्दका श्रवणरूप लिङ्ग होता, परन्तु ऐसा है नहीं।

शंका । 'निषादस्थपतिं याजयेत्' यहां जैसे निषाद शब्दसे निषादको वैदिक इष्टिमें अधिकार है, तैसे शूद्र शब्दसे शूद्रको विद्यामें भी अधिकार मानना चाहिये।

समाधान । निषादके दृष्टान्तसे भी केवल संवर्गविद्यामें ही शूद्र शब्दका श्रवण होनेसे एक संवर्गविद्यामें ही कथञ्चित् शूद्रको अधिकार हो सकता है सर्व विद्यावोंमें नहीं। और वास्तवसे विचार करके देखें तो पूर्वोक्त दृष्टान्त करके शूद्रको संवर्गविद्यामें भी अधिकार सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि निषाद शब्दको विधिवाक्यमें स्थित होनेसे निषाद शब्द निषादरूप अधिकारीका समर्पक होसकता है। और यह जो प्रकृत शूद्र शब्द है सो अर्थवादवाक्यमें स्थित है। अतः किसी भी विद्यामें शूद्रके अधिकारको बोधन करनेके लिये समर्थ नहीं होसकता है । अर्थात् इस शूद्र शब्दमें अर्थवादस्थत्व होनेसे विधिअन्वयके योग्य, और विधिसे अविरुद्ध, अर्थका समर्पकत्व प्रतीत होता है। और शूद्र जातिको वैदिक विद्याकी विधिमें योग्यता है नहीं। इसलिये इस शूद्र शब्दका अर्थ शूद्रजाति नहीं कह सकते हैं।

शंका । शूद्र जातिको वैदिक विधिमें योग्यता न होनेसे अर्थवादगत शूद्र शब्द क्या अनर्थक है?

समाधान ! अनर्थक नहीं है, क्योंकि प्रकृत विधिके अधिकारीमें ही इस 'शूद्र' शब्दकी योजना कर सकते हैं।

शंका। फिर 'हारेत्वा शूद्र' इस श्रुतिमें श्रुत जो शूद्र शब्द है तिसका क्या अर्थ है?

समाधान। छान्दोग्यमें यह उपाख्यान है कि-किसी समयमें जानश्रुति नामक एक राजा 'पौत्रायण' अर्थात् 'जनश्रुतके पुत्रका पौत्र' श्रद्धापूर्वक बहुत दान देनेवाला बहुत पक्व अन्नको तैय्यार कराके अतिथियोंको प्रेमपूर्वक तृप्त करनेवाला था।

"सर्व तरफसे अतिथि लोग आकर मेरे यहां अन्नपानादिसे तृप्त होवें" इस अभिप्रायसे तिस राजाने जहां तहां प्रत्येक तीर्थोंमें और प्रत्येक ग्राम व नगरादिकोंमें अतिथियोंके आरामके लिये अत्यन्त सुन्दर सुन्दर अनेक धर्मशालावोंका व विविध अन्नपान करके परिपूर्ण क्षेत्रोंका प्रबन्ध करा रखा था।

ऐसे दानवीर राजाके गुणगणोंकी कीर्ति तिस समय दिङ्मण्डलमें भ्रमण करती भई। एक समय ग्रीष्म ऋतुकी रात्रिमें जानश्रुति राजा महलके छतके उपर शयन कर रहा था। उस समय राजाके अन्नदानादिक गुणगणों करके संतोषको प्राप्त जो देव व ऋषि हैं सो राजाके हितके लिये हंसरूपको धारण करके मालाके समान लम्बायमान होकर आकाशमार्गसे चलते भये। जब राजाके समीप पहुंचे तब पिछला हंस अग्रसर हंसके प्रति कहता भया "हे २ भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! इस जानश्रुति राजाका तेज स्वर्ग पर्यन्त व्याप्त हो रहा है तिसको तू क्या नहीं देखता है? यदि इसके तेजको तू उलङ्घन करेगा तो वह तेज तुम्हारेको दग्ध कर देगा। अतः, आगे नहीं जाना" इस प्रकार पिछले हंसके वचनको श्रवण करके अगला हंस बोलता भया कि—'कंवर एनमेतत्सन्तं सयुग्वानमिव रैक्वमात्थ'। छा०४।१।३।

अर्थ—'कंवर' यहां 'कं, उ, अरे' ऐसा पदच्छेद करना। 'उ' शब्दका अर्थ वितर्क है। 'कं' पदका अर्थ आक्षेप है। अरे पश्चात्गामी हंस ! क्या विद्या करके हीन जो यह विद्यमान निकृष्ट राजा है इस विचारेको तू दो बैलों करके चलनेवाली गाड़ीके सहित स्थित रैक्व ऋषिकी तरह कहता है? तिस पुण्यात्मा ब्रह्मनिष्ठ भगवान् रैक्व ऋषिके धर्ममें सम्पूर्ण प्रजाके पुण्यका अन्तर्भाव होता है। रैक्वके पुण्यकी तुलना किसीके पुण्यसे नहीं हो सकती है। जिस तत्त्वको रैक्व जानता है तिस तत्त्वको जो जानता है तिसके पुण्यमें भी सर्वके पुण्यका अन्तर्भाव होता है। अर्थात् अपरोक्ष ज्ञानवान् ब्रह्मनिष्ठ रैक्व ऋषिका तेज दुरतिक्रम है विद्याहीन इस अनात्मज्ञ राजाका तेज दुरतिक्रम नहीं हो सकता है। यहां ऋषियोंका यह अभिप्राय है कि "इन उक्त हमारे वचनोंसे राजा शकटरूप लिङ्ग करके रैक्व ऋषिको जानकर तथा रैक्व ऋषिके शरणमें प्राप्त होकर अपरोक्ष विद्यावान् हो जायगा" इति। 'कंवर' इत्यादिक हंसोंके वचनसे अपने अनादरको और रैक्वके उत्कर्षकी पराकाष्ठाको श्रवण करके अत्यन्त विषादयुक्त हुवा पुनः २ उच्छ्वास निःश्वासको लेता हुवा निद्राके विना ही राजा किसी तरह रात्रिको व्यतीत करता भया।

प्रातःसमय निशा अवसानकी सूचक बन्दारुवृन्दों करके प्रारब्ध विविध प्रकारसे अपनी स्तुतिको और अनेक प्रकारके माङ्गलिक वाद्यनिर्घोषोंको श्रवण करके शय्यामें स्थित हुवा ही राजा सहसा क्षत्ता (यन्ता) को बुलाकर स्तुति व वाद्यनिर्घोषोंको बन्द कराकर आज्ञा करता भया कि– हे वयस्य ! रैक्व नामक ब्रह्मविद् सयुग्वा (गाड़ीवाला) कोई तपस्वी ऋषि है जिसके पुण्यमें सम्पूर्ण प्रजाके पुण्यका अन्तर्भाव है, तिसका खोज करके आवो ।

तब क्षत्ता ग्राम व नगरादिकोंमें खोज करके राजाके पास वापिस आकर रैक्व ऋषिके न मिलनेका समाचार कहता भया ।

राजा—अरे ! जहां ब्राह्मणकी खोज होती है तहांसे खोज करके आवो । अर्थात् अनेक वन, पर्वत, निकुञ्ज, पवित्र नदीतीरादि विविक्त प्रदेशोंमें खोज करके खबर दो ।

तब क्षत्ता पुनः बड़े प्रयत्नसे तहां २ अनेक प्रदेशोंमें खोज करता भया । क्वचित् अत्यन्त एकान्त प्रदेशमें शकटके नीचे खुजली करते हुये एक ब्राह्मणको देखता भया । तिसको देखकर 'यही रैक्व होगा' ऐसा विचार करके विनय पूर्वक पूछता भया ।

क्षत्ता—हे भगवन् ! सयुग्वा रैक्व आप ही हैं क्या ?

रैक्व—'अहं ह्यरे' 'अरे मैं ही हूं' इति ।

इसके अनन्तर शकटरूप लक्षणसे और वचनसे रैक्वभावका निश्चय करके और वार्तालापसे धनकी और गृहस्थपनेकी इच्छाका अनुमान करके राजाके पास आकर क्षत्ता सर्व समाचारोंको निवेदन करता भया ।

समाचारके मिलते ही राजा छैसौ गाय, और एक हार, और एक अश्वतरीरथ (खच्चरों करके युक्तरथ)को भेटके लिये लेकर शीघ्र ही रैक्व ऋषिके पास गया । जाकर विधिवत् पूजन व भेटको समर्पण करके नम्रतापूर्वक राजा बोला– हे भगवन् ! रैक्व ! ये छै सौ गाय, और यह हार, व रथको भेटमें स्वीकार कीजिये । और जिस देवताकी आप उपासना करते हैं तिस देवताका उपदेश मेरेको दीजिये ।

इस प्रकार कहनेवाले राजाके प्रति आटोप व स्पृहापूर्वक रैक्व बोला— **'अह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति ।'** अर्थ—खिन्न होकर रैक्व कहने लगा–हे शूद्र ! गायोंके सहित व हारके सहित 'इत्वा' कहिये गमनशील यह रथ तेरे पास ही रहो । अर्थात् गृहस्थाश्रमके लिये अपर्याप्त इस अल्प धनको मैं स्वीकार नहीं करता इति ।

पुनः राजा एक सहस्र गाय, हार व रथ और अपनी एक कन्याको भेटके लिये लेजाकर रैक्वके प्रति निवेदन करता हुवा बोला–हे रैक्व ! इन सहस्र गायोंको व हार व रथको और इस मेरी कन्याको आप अपने गृहस्थाश्रमके लिये स्वीकार कीजिये । और जिस ग्राममें आप विराजमान हैं इस ग्रामको भी भेटमें स्वीकार कीजिये । हे भगवन् ! मुझको उपदेश कीजिये ।

इसके अनन्तर सर्व धनको स्वीकार करके राजाके प्रति संवर्गविद्याका उपदेश ऋषि करता भया इति ।

इस उपाख्यानमें 'हारेत्वा शूद्र' यह शूद्र शब्द जातिका वाचक रूढ़ नहीं है, किन्तु यौगिक है। अर्थात् 'कंवर' इत्यादिक हंसोंके वचनसे अपने अनादरको श्रवण करके राजा जानश्रुतिको जो शोक उत्पन्न हुवा है । तिस शोकको रैक्व ऋषि अपनेमें सर्वज्ञत्वको दिखानेकी इच्छासे राजाके प्रति इस 'शूद्र' शब्द करके सूचन करता है। क्योंकि जातिशूद्रको वैदिक विद्यामें अधिकार न होनेसे पूर्वापरकी पर्यालोचना करके इस प्रकरणमें यही अर्थ निश्चित होता है।

शंका । हंसोंसे अनादर वचनको श्रवण करके राजामें जो शोक उत्पन्न हुवा तिस शोकको 'शूद्र' शब्द करके रैक्वने किस प्रकार सूचन किया ?

समाधान । **'तदाद्रवणात्'** इति भा० । अर्थ—राजा शोकको प्राप्त हुवा है इसलिये राजामें शूद्र शब्दका प्रयोग रैक्वने किया है । अथवा शोकरूप कर्ता करके राजा रैक्व ऋपिको प्राप्त हुवा है इसलिये शूद्र शब्दका प्रयोग रैक्वने किया है । अथवा शोकरूप करण करके राजा रैक्व ऋपिको प्राप्त हुवा है इसलिये प्रयोग किया है इति । इस रीतिसे शूद्र शब्दके अवयवार्थका सम्भव होनेसे तथा शूद्रत्व जातिविशिष्ट शूद्ररूप रूढ़ि अर्थका असम्भव होनेसे, ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है। यह अर्थ जानश्रुति राजाकी इस आख्यायिकामें प्रसिद्ध है इति ॥ ३४ ॥

अब "श्रुतिमें जो शूद्र शब्द है सो यौगिक है रूढ़ नहीं" इस अर्थमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं:—

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

अर्थ—१ क्षत्रियत्वगतेः, २ च, ३ उत्तरत्र, ४ चैत्ररथेन, ५ लिङ्गात् । इस सूत्रमें पांच पद हैं । इस हेतुसे भी जानश्रुति राजा जातिशूद्र नहीं है, क्योंकि यदि प्रकरणका विचार करें तो 'उत्तरत्र' कहिये संवर्गविद्याके वाक्यशेपमें 'चैत्ररथेन लिङ्गात्' कहिये चित्ररथ राजाके वंशमें उत्पन्न होनेसे निश्चित क्षत्रिय जातिवाला जो अभिप्रतारी नामक राजा है तिसके साथ संदिग्ध क्षत्रिय जातिवाले राजा जानश्रुतिका एक ही संवर्गविद्यामें साहचर्य्यरूप लिङ्ग होनेसे 'क्षत्रियत्वगतेः' कहिये जानश्रुति राजामें क्षत्रियत्वका निश्चय होता है इति ।

शंका । क्षत्रिय अभिप्रतारी राजाके साथ जानश्रुतिके साहचर्यका बोधक वह संवर्गविद्याका वाक्यशेष कौन है ?

समाधान । जब अग्नि शान्त होती है तब वायुमें ही लीन होती है । और जब सूर्य अस्त होता है तब वायुमें ही लीन होता है। और जब चन्द्रमा अस्त होता है तब वायुमें ही लीन होता है। और जब जल सूखता है तब वायुमें ही

लीन होता है। इसलिये 'संवृक्ते' इति संवर्गः— इस व्युत्पत्तिसे वायुका नाम अधिदेव संवर्ग है।

और जब वाक् लीन होती है तब प्राणमें ही लीन होती है। और जब चक्षु लीन होता है तब प्राणमें ही लीन होता है। और जब श्रोत्र लीन होता है तब प्राणमें ही लीन होता है। और जब मन लीन होता है तब प्राणमें ही लीन होता है। इसलिये 'संवृक्ते' इति संवर्गः-इस व्युत्पत्तिसे प्राणका नाम भी अध्यात्म संवर्ग है।

तथा च अध्यात्म अधिभूत अधिदेवरूप निखिल प्रपञ्चको संवर्गत्वगुणविशिष्ट प्राण व वायुरूपसे चिन्तन करके; पुनः संवर्गरूप हिरण्यगर्भमें 'संवर्गोऽहं' इस प्रकारका जो अभेद निश्चय है तिसका नाम संवर्गविद्या है।

इस संवर्गविद्याकी स्तुतिके लिये ही उत्तरत्र संवर्गविद्याके वाक्यशेषरूप अर्थवादमें चैत्ररथि अभिप्रतारी क्षत्रियका संकीर्तन है—**'अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतु'** रित्यादि (छा० ४।३।४)। अर्थ—'अथ' शब्द संवर्गविद्याकी उक्तिके अनन्तर संवर्गविद्याकी स्तुतिके लिये अर्थवादके आरम्भका बोधक है। 'ह'का अर्थ अर्थवादरूप ऐतिह्य (आख्यायिका) है। एक समय कपिगोत्रवाला शौनक ऋषि और कक्षसेनका पुत्र काक्षसेनि अभिप्रतारी नामक राजा भोजनके लिये बैठे थे। और सूपकार परोस रहे थे। उसी समय एक संवर्गविद्याका अभिमानी ब्रह्मचारी भिक्षा मांगनेके लिये आया, उस ब्रह्मचारीको विद्याका अभिमानी समझकर "देखें यह क्या कहेगा" इस विचारसे परीक्षा करनेके लिये शौनक व राजा भिक्षा नहीं देते भये।

ब्रह्मचारी-हे कापेय! चार महात्मावोंको अर्थात् 'अग्नि आदिक और वागादिक' को अकेला जो भक्षण करता है और जगत्का जो गोपा है सो कौन है? हे अभिप्रतारिन्! जो प्रजापति है तिसको अविवेकी मनुष्य नहीं जानते हैं। जिसके लिये यह अन्न पकता है तिसको ही नहीं दिया है। इस कहनेसे ब्रह्मचारीने अपनेमें संवर्गरूपता बोधन करी है।

शौनक-हे ब्रह्मचारिन्! जिस प्रजापतिको तू कहता है यह प्रजापति सर्व स्थावर-जङ्गमका आत्मा है, देवतावोंको व सर्व प्रजाको भक्षण करके पुनः २ उत्पन्न करता है, और अभग्नदंष्ट्र है, सर्वज्ञ है, इत्यादि अनेक रूपसे इसको हम जानते हैं—**'वयं*ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे'**। अर्थ-यहां 'आ इदम्' ऐसा च्छेद है। 'हे ब्रह्मचारिन्! हम इसकी अच्छी तरहसे उपासना करते हैं इति।

इस आख्यायिकारूप अर्थवादसे प्रसिद्ध याजक जो कापेय शौनक ऋषि है तिसके साथ अभिप्रतारी राजाका योग प्रतीत होता है। इस योगसे अभिप्रतारी राजा याज्य प्रतीत होता है। और ब्रह्मचारीके

*टि०-"हे ब्रह्मचारिन्! इस परिच्छिन्नकी हम उपासना नहीं करते हैं अर्थात् हम तो निरवच्छिन्न परब्रह्मके उपासक हैं" ऐसा अर्थ भी कोई करते हैं।

भिक्षा मांगनेसे राजामें अशूद्रत्वका निश्चय होता है । क्योंकि ब्रह्मचारी जो है सो शूद्रसे भिक्षा नहीं मांग सकता है । और कापेय शौनक ऋषिके योगसे अभिप्रतारी राजामें चैत्ररथित्व व क्षत्रियत्वका भी निश्चय होता है । क्योंकि चित्ररथ राजाका कपिगोत्रोत्पन्न ऋषियोंके साथ योग छान्दोग्य श्रुतिमें ही निश्चित होता है । तहां ताण्डय ब्राह्मण—'एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्।' अर्थ—इस छान्दोग्यमें प्रसिद्ध द्विरात्र नामक यज्ञ करके चित्ररथ राजाको कापेय ऋषि यजन कराते भये इति।

शंका। चित्ररथमें कापेयका योगके हुये भी अभिप्रतारी राजामें चैत्ररथित्व किस प्रकार होगा?

समाधान। समान वंशवालोंके प्रायः करके समान वंशवाले ही याजक होते हैं। अर्थात् चित्ररथ राजाका याजक कापेय है। और अभिप्रतारी राजाका भी याजक कापेय है। अतः, अभिप्रतारी राजामें चैत्ररथित्वका निश्चय होता है। और—'तस्माच्चैत्ररथिर्नामैकः क्षत्रपतिरजायत' इस वचन करके चैत्ररथिमें क्षत्रपतित्वका निश्चय होनेसे क्षत्रियत्वका निश्चय होता है।

और क्षत्रिय जो अभिप्रतारी है तिसके साथ एक संवर्गविद्यामें जो राजा जानश्रुतिका संकीर्तन है सो जानश्रुति राजामें भी क्षत्रियत्वको सूचन करता है। क्योंकि समानोंके ही प्रायः करके समभिव्याहार होते हैं। किञ्च युधिष्ठिरादिकोंकी तरह अत्यन्त दानी राजा जानश्रुतिमें रैक्व ऋषिको अन्वेषण करनेके लिये सारथिको भेजनेसे, तथा ऐश्वर्यके योगसे, भी क्षत्रियत्वका निश्चय होता है। अतः शूद्रको वेदार्थके विचारसे उत्पन्न होनेवाली ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है इति ॥ ३५ ॥

अब 'शूद्रको वेदार्थविचारमें अधिकार नहीं है' इस अर्थमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

अर्थ—१ संस्कारपरामर्शात्, २ तदभावाभिलापात्, ३ च। इस सूत्रमें तीन पद हैं। विद्याग्रहणका अङ्गरूप जो उपनयनरूप संस्कार है तिसका प्रायः सर्वत्र जहां २ विद्याका उपदेश है तहां २ परामर्श होनेसे, तथा शूद्रमें उपनयन संस्कारके अभावका अभिधान होनेसे भी शूद्रको ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है इति।

वैदिक अर्थके विचारसे उत्पन्न होनेवाली विद्याके अधिकारमें निमित्त जो वेदाध्ययन व उपनयन है तिसके न होनेसे शूद्रको वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं है यह अर्थ पूर्व कहा। और अब जहां २ वैदिक विद्याके उपदेशके प्रदेश हैं तहां २ शिष्योंमें उपनयन संस्कार, व वेदाध्ययन, व ऋषित्व व द्विजातित्वादिक ही

देखनेमें आते हैं, शूद्रत्व देखनेमें नहीं आता है। इस कारणसे भी शूद्रका वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं।

शंका। वह विद्याके प्रदेश कौन २ हैं जिनमें उपनयन संस्कारादिक देखनेमें आते हैं?

समाधान। शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—'तं होपनिन्ये।' अर्थ-आचार्य जो है सो शिष्यके उपनयनरूप संस्कारको करता भया इति। इस श्रुतिमें उपनयन देखनेमें आता है।

और छान्दोग्यके सप्तम अध्यायमें लिखा है—'अधीहि भगव इति होपससाद'। अर्थ—'हे भगवन्! मेरेको विद्याका उपदेश करें।' इस पूर्वोक्त मन्त्रका उच्चारण करता हुवा नारद ऋषि सनत्कुमारके शरणको प्राप्त होता भया इति। इस श्रुतिमें वेदाध्ययन व ऋषित्व देखनेमें आता है।

और प्रश्नोपनिषत्में लिखा है—'ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः' इत्यादि। अर्थ—वेदोंके पारङ्गत तथा सगुण ब्रह्ममें निष्ठावाले तथा निर्गुण ब्रह्मका अन्वेषण करनेवाले जो भारद्वाजादिक षट ऋषि हैं सो "हमारे जिज्ञासित सर्व अर्थको ये पिप्पलाद ऋषि कहेंगे" ऐसा निश्चय करके समित्पाणि होकर भगवान् पिप्पलाद गुरुके शरणको प्राप्त होते भये। पश्चात् पिप्पलाद ऋषि तिन ऋषियोंको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश करते भये इति। इस श्रुतिमें भी वेदाध्ययनादिक देखनेमें आते हैं इत्यादि।

शंका। छान्दोग्यके पञ्चम अध्यायमें स्थित वैश्वानर विद्यामें अनुपनीत पुरुषोंको भी ब्रह्मका उपदेश श्रवण होता है—'तान्हानुपनीयैवैतदुवाच।' (छा० ५।११।७)। अर्थात् उद्दालकादिक ऋषियोंको उपनयनके विना ही अश्वपति कैकेय राजाने वैश्वानर स्वरूप आत्माका उपदेश किया है। अतः उपनयनशून्य शूद्रका भी वैदिक विद्यामें अधिकार बन सकता है।

समाधान। शूद्रको वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं है; क्योंकि इस वैश्वानर विद्यामें यह प्रसङ्ग है—एक समय प्राचीनशाल आदिक पांच ऋषि आपसमें मिलकर "को न आत्मा किं ब्रह्म" ऐसा विचार करते भये। जब स्वयं निर्णय न कर सके तब उद्दालकके पास आये। परन्तु उद्दालकने इनमें महाश्रोत्रियत्वका निश्चय करके मनमें विचार किया कि-"मैं इनके सर्व प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ न हो सकुंगा, अतः इनको कैकेय राजाके पास ले चलूं" ऐसा विचार करके उद्दालक तिन सर्व ऋषियोंको कैकेय राजाके पास लेजाकर राजासे कहता भया कि-"हे राजन्! इस समयमें जिस वैश्वानर आत्माको आप जानते हैं व स्मरण करते हैं तिस वैश्वानर आत्माको ही हमारे लोगोंके प्रति उपदेश करें" तब राजाने कहा कि—"हम कल प्रातःकाल उपदेश करेंगे"। उद्दालकादिक ऋषि जान गये कि—"हमलोग समित्पाणि होकर नहीं आये हैं इसलिये राजाने इस समय हमको उपदेश नहीं किया है"। पुनः

दूसरे दिन प्रातःसमय उद्दालकादिक ऋषि समिधोंको हाथोंमें लेकर अर्थात् समित्पाणि होकर राजाके पास आये। और राजा तिन ऋषियोंको उपनयनके विना ही वैश्वानर विद्याका उपदेश करता भया इति। अर्थात् इस प्रसङ्गकी पर्यालोचना करनेसे वैश्वानर विद्याके अधिकारी प्राचीनशाल आदिक ऋषियोंमें उपनयनसंस्कार निश्चित है।

शंका। इन ऋषियोंके उपनयनसंस्कारमें क्या प्रमाण है?

समाधान। 'ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमांसांचक्रुः'। अर्थ--सो ये बड़े २ गृह व धर्मशाला व पाठशालावाले और अत्यन्त वेदाध्ययनवाले प्रसिद्ध प्राचीनशाल आदि पांचो ऋषि मिलकर ब्रह्मका विचार करते भये इति।

और 'प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियाः।' अर्थ—बड़ी २ शालावाले व महाश्रोत्रिय ये जो प्राचीनशाल आदिक ऋषि हैं ये मुझको पूछेंगे, परन्तु मैं इनके सर्व प्रश्नोंका उत्तर देनेमें समर्थ न हो सकूंगा इत्यादि विचारको उद्दालक ऋषि करता भया इति। इत्यादिक छान्दोग्य श्रुति प्राचीनशाल आदिक ऋषियोंके वेदाध्ययन प्रयोजक उपनयनसंस्कारमें प्रमाण है। और उपनयनके विना वेदाध्ययन व महाश्रोत्रियत्व बने नहीं। अतः ऋषियोंमें महा श्रोत्रियत्वकी अनुपपत्ति भी उपनयनमें प्रमाण है। और 'तान्हानुपनीयैव' इस श्रुतिसे भी ऋषियोंमें उपनयनकी प्राप्ति ही सूचित होती है। क्योंकि प्राप्तिपूर्वक ही प्रतिषेध होता है। अर्थात् इन ऋषियोंका उपनयनादि संस्कार प्रथम ही हो गया था।

अथवा राजा क्षत्रिय था और ऋषि ब्राह्मण थे, अतः "उत्तम जातिवाले ब्राह्मणका उपनयन न्यून जातिवाले क्षत्रियको कर्तव्य नहीं है" इस मर्यादाको बोधन करनेके लिये 'तान्हानुपनीय' इस श्रुतिमें कहा कि—'राजाने उपनयन नहीं करके ही विद्याका उपदेश किया है'। वस्तुत उपनयन दो प्रकारका है। एक वेदाध्ययनके लिये विधिपूर्वक यज्ञोपवीतादि धारणरूप है। दूसरा ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये उपसदनरूप है। यह उपसदन भी दो प्रकारका है। एक तो विद्यार्थीका आचार्यके समीप गमनरूप है। और दूसरा आचार्यकर्तृक शिष्यत्वेन स्वीकार व स्वसमीपमें चिर अवस्थानकी अथवा स्वपादसेवादिकी अनुमतिरूप है।

तहां महाश्रोत्रियत्वरूप लिङ्गसे प्रकृत ऋषियोंमें यज्ञोपवीत धारणरूप उपनयन सिद्ध है। तथाच इस प्रथम उपनयनका निषेध 'तान्हानुपनीय' इस श्रुतिसे करना व्यर्थ है। और उपनीतमें पुनः यज्ञोपवीतादि धारणारूप उपनयनकी प्रसक्ति भी है नहीं। और विद्यार्थीका आचार्यके समीप गमनरूप उपसदन नामक उपनयन भी ऋषियोंमें वर्तमान ही है तिसका निषेध भी नहीं बन सकता है।

अतः 'तान्हानुपनीय' इस श्रुतिमें परिशेषसे आचार्यकर्तृक शिष्यत्वेन स्वीकारादिरूप उपनयनका ही यह प्रतिषेध है। अर्थात् "उत्तम वर्ण व विद्यादि करके

युक्त शिष्यको हीनवर्णवाले गुरुने स्वसमीपमें चिरकाल वास व सेवादिके विना ही विद्या देनी चाहिये" इस आचारकी ज्ञापक 'तान्हानुपनीय' यह श्रुति है।

और बृहदारण्यकके द्वितीय अध्यायमें भी 'प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयात्' इत्यादि श्रुतिवचनसे क्षत्रिय राजा अजातशत्रुने भी गार्ग्यके प्रति क्षत्रिय व ब्राह्मणका आचार्य व शिष्यभावको विरुद्ध बतलाकर शिष्यत्वेन स्वीकारादिरूप उपनयनके विना ही उपदेश किया है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे उपनयनसंस्कार व वेदाध्ययन गुरुशुश्रूषादिकवाले पुरुषको ही विद्याग्रहणमें अधिकार है। और शूद्रमें उपनयनसंस्कारादिकोंका अभाव कहा है। अतः शूद्रको विद्यामें अधिकार नहीं है।

शंका। शूद्रके उपनयनरूप संस्काराभावमें क्या प्रमाण है?

समाधान। 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' (मनु० १०।४)। इस स्मृतिसे शूद्र चौथा वर्ण है तथा एकजाति (उपनयनरूप द्वितीय जन्म रहित) है ऐसा सिद्ध होता है।

और—न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।' (मनु० १०।१२६) अर्थ—यद्यपि अहिंसा सत्यादिक धर्मोंको सार्ववर्णिक होनेसे हिंसा अनृतादिकसे पातक शूद्रमें अवश्य होता है। तथापि शूद्रको अभक्ष्य लशुनादिभक्षणसे किञ्चिन् मात्र भी पातक नहीं होता है। तथा उपनयनरूप संस्कारके योग्य भी शूद्र नहीं है इति। इत्यादि स्मृति शूद्रके उपनयनसंस्काराभावमें प्रमाण हैं॥ ३६॥

अब 'शूद्रको विद्यामें अधिकार नहीं है' इस अर्थमें अन्य हेतुको सूत्रकार दिखाते हैं।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

अर्थ—१ तदभावनिर्धारणे, १ च, ३ प्रवृत्तेः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। सत्यकाम नामक शिष्यमें सत्यवचनसे शूद्रत्वके अभावका निश्चय हुये ही जो गौतम ऋषिकी सत्यकामके उपनयनादिकोंमें प्रवृत्ति है सो यह प्रवृत्ति भी शूद्रके अनधिकारमें लिङ्ग है इति। छान्दोग्यके चौथे अध्यायमें यह प्रसङ्ग है कि—सत्यकामने अपनी मातासे पूछा कि—हे मातः! मेरा गोत्र (वंश) कौन है? क्योंकि मैं ब्रह्मचर्यधारणपूर्वक विद्याके लिये आचार्यके समीप जाना चाहता हूं।

तब माता बोली कि—"हे तात! मैं पतिकी सेवामें ही अत्यन्त दत्तचित्त रहती थी। इसलिये तुम्हारे गोत्रको नहीं जानती हूं, योवन अवस्थामें मैंने तुझको पाया था, तभी तुम्हारे पिताके मृत हो जानेसे मैं अनाथ हो गयी थी। 'जबाला मेरा नाम है, और सत्यकाम तुम्हारा नाम है' इतना मात्र मैं जानती हूं; सो तू यही आचार्यके पास जाकर कहना"। इसके अनन्तर सत्यकाम जब गुरु-

कुलमें गौतम ऋषिके पास गया और अपने ब्रह्मचर्यादिकके लिये प्रार्थना किया। तब गौतम ऋषिने पूछा कि—हे सोम्य! तुम्हारा गोत्र कौन है?

सत्यकामने कहा कि—हे भगवन्! मैं अपने गोत्रको नहीं जानता हूं तथा मेरी माता भी नहीं जानती है। मैंने मातासे पूछा था, परन्तु मेरी माताने कहा कि—"हे तात! मैं पतिकी सेवामें ही अत्यन्त दत्तचित्त रहती थी इसलिये तुम्हारे गोत्रको नहीं जानती हूं। यौवन अवस्थामें मैंने तुझको पाया था, तभी तुम्हारे पिताके मृत हो जानेसे मैं अनाथ हो गई थी। जबाला मेरा नाम है, और सत्यकाम तुम्हारा नाम है, इतना मात्र मैं जानती हूं; सो तू यही आचार्यके पास जाकर कहना"। सो हे भगवन्! मेरा नाम सत्यकाम है तथा मेरी माताका नाम जबाला है।

इस वचनको श्रवणके अनन्तर "यह अब्राह्मण नहीं है, क्योंकि अब्राह्मणका ऐसा कोमल व सरल वचन नहीं हो सकता है, अतः इस सत्यकाममें शूद्रत्वकी संभावना नहीं है" ऐसा निश्चय करके गौतम ऋषिने कहा कि—हे सत्यकाम! तू द्विजाति है, क्योंकि 'न सत्यादगाः' 'तुमने सत्यका त्याग नहीं किया है'। अतः 'उप त्वा नेष्ये' तुम्हारे उपनयनको हम अवश्य करेंगे। हे सोम्य! उपनयनके लिये समिधाको ले आवो। इस प्रकार गौतम ऋषि उपनयन तथा विद्याका उपदेश करनेके लिये प्रवृत्त होते भये इति। इस पूर्वोक्त श्रुतिसिद्ध प्रवृत्तिरूप लिङ्ग करके भी शूद्रमें विद्याका अधिकार नहीं है यह सिद्ध हुवा इति॥ ३७॥

अब "स्मृति करके भी श्रवणादिकोंका निषेध होनेसे शूद्रको विद्यामें अधिकार नहीं है" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

अर्थ—१ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, २ स्मृतेः, ३ च। इस सूत्रमें तीन पद हैं। इस स्मृतिरूप हेतुसे भी शूद्रको वेदके श्रवणका व वेदाध्ययनका और वेदार्थके ज्ञानका तथा वेदार्थके अनुष्ठानका निषेध होनेसे वैदिक विद्यामें अधिकार नहीं हो सकता है इति।

शंका। शूद्रको वेदके श्रवणादिकोंका निषेध करनेवाली स्मृति कौन है?

समाधान। 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्।' अर्थ—प्रमादसे वेदको श्रवण करनेवाला जो शूद्र है तिस शूद्रके श्रोत्रमें सीसा तथा लाखको तपा करके भर देवे यह प्रायश्चित्त कर्तव्य है इति।

और—'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्।' अर्थ—यह जो शूद्र है सो संचारशील पैरोंवाला श्मशान है। अतः शूद्रके समीप अध्ययन नहीं करना चाहिये इति। और इन स्मृतियोंसे शूद्रमें वेदाध्ययनका भी निषेध

हो चुका। क्योंकि जिसके समीपमें वेदाध्ययन ही कर्तव्य नहीं है सो आचार्य करके उच्चारण किया हुवा वेदको श्रवण न करके किस प्रकार अध्ययन कर सकता है?

और इसी विषयमें अन्य स्मृतिके अर्थको दिखाते हैं—'भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः' इति। अर्थ—यदि शूद्र वेदका उच्चारण करे तो शूद्रकी जिह्वाका च्छेदन करना चाहिये। यदि शरीरके उपर वेदका धारण करे तो उसके शरीरका भेदन करना चाहिये इति। यह भी प्रायश्चित्त स्मृतिमें कहा है। अतः शूद्रको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है। और जब शूद्रको वेदाध्ययनका निषेध हुवा। तब वेदार्थके ज्ञानका तथा वेदार्थके अनुष्ठानका भी निषेध अर्थात् हो चुका। क्योंकि अध्ययनादिके विना ज्ञान व अनुष्ठान बने नहीं।

और—'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति। 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्।' इति च। 'शूद्रको वेदार्थका ज्ञान न देवे'। और 'द्विजातिको वेदाध्ययन, इज्या, व दानमें अधिकार है' इति। इत्यादिक स्मृति वचनोंसे भी शूद्रको वैदिक विद्यादिकमें अधिकार नहीं है। परन्तु 'दानञ्च दद्यात् शूद्रोऽपि' इत्यादिक स्मृतिके बलसे दानादिकका निषेध नहीं है। दानादि सत्कर्मोंको शूद्र भी कर सकता है।

शंका। वेदश्रवणादिकमें दण्डके विधान होनेसे शूद्रको वेदाध्ययनादिका निषेध होनेपर भी; जैसे वेदाध्ययनरहित मैत्रेयी आदिक स्त्रियोंमें विद्वानोंके द्वारा वैदिक विद्याका उपदेश व विद्या प्रसिद्ध है। तैसे ही शूद्रोंको भी वैदिक विद्याका अधिकार अवश्य होना चाहिये। किञ्च ईश्वर सर्व जगत्का पिता है, और शूद्र भी ईश्वरकी प्रजा हैं; और शूद्रोंके कल्याणके निमित्त भी ईश्वरको उपदेश कर्तव्य है। अतः शूद्रका वैदिक विद्यामें अधिकार अवश्य होना चाहिये। और सर्वथा यदि शूद्रमें ब्रह्मविद्याका अधिकार न होवे तो विदुरादिकोंमें भी ब्रह्मविद्याका श्रवण नहीं होना चाहिये।

समाधान। 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इत्यादि शास्त्रके बलसे राजसूयादि यज्ञोंमें जैसे ब्राह्मणादिका अधिकार नहीं है। तैसे ही वेदविद्यामें भी शूद्रका अधिकार सिद्ध नहीं हो सकता है। और विदुर, धर्मव्याध आदिक शूद्रोंमें जो ज्ञानकी उत्पत्ति कही है सो पूर्वकृत संस्कारके बलसे बन सकती है। क्योंकि विदुरादिकोंने पूर्व जन्ममें वेदाध्ययनादिक ज्ञानकी सामग्रीको सम्पादन किया था। परन्तु किसी प्रतिबन्धसे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुये प्रतिबन्धके निवृत्त होनेसे ज्ञानको प्राप्त होकर मुक्त हो गये। तिनकी ब्रह्मविद्याका व मुक्तिरूप फलप्राप्तिका प्रतिषेध कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि ज्ञानमें मुक्तिकी कारणता नियत है।

शंका। यद्यपि सिद्ध विदुरादिकोंकी जो व्यवस्था कही है सो सत्य है, तथापि जो साधक शूद्र हैं तिनोंको ज्ञानकी प्राप्ति किस प्रकार होगी?

समाधान। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इत्यादिक वचनों करके इतिहास-पुराणादिकोंके श्रवणमें चारों वर्णोंका अधिकार है। अतः सत् शूद्र जो है सो इतिहासपुराणादिकोंका श्रवण करके ब्रह्मविद्यादिको सम्पादन कर सकता है। वैध उपनयनका ही शूद्रको निषेध है। गुरूपसदनादिरूप लौकिक संस्कारका निषेध नहीं है। इस पूर्वोक्त रीतिसे वेदके अर्थको विचार करके उत्पन्न होनेवाली ब्रह्मविद्यामें द्विजातिका ही अधिकार है शूद्रका नहीं यह सिद्ध हुवा इति॥ ३८॥

इति अपशूद्राधिकरणम्॥

'शब्दादेव प्रमितः' इत्यादि तृतीय पादके सप्तम प्रमिताधिकरणमें 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इस कठ श्रुतिका विचार करते हुये 'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्' इस सूत्रसे शास्त्रमें मनुष्यका अधिकार होनेसे मनुष्यके हृदयकी अपेक्षासे सर्वगत परमात्मामें भी अङ्गुष्ठमात्रत्वकी उपपत्ति कही। इस अधिकारके प्रसङ्गसे 'तदुपर्यपि बादरायणः' इत्यादि आठ सूत्रोंसे अष्टम देवताधिकरणमें देवतावोंमें भी वेदविद्याके अधिकारका वर्णन किया। पुनः प्रसङ्गसे 'शुगस्य तदनादर' इत्यादि पांच सूत्रोंसे नवम अपशूद्राधिकरणमें शूद्रको वेदविद्याके अधिकारका निषेध किया। अब प्रासङ्गिक अधिकारका विचार समाप्त हो गया है। अतः प्रकृत जो कठवाक्यका विचार है तिसको ही सूत्रकार प्रवृत्त करते हैं:—

कम्पनात्* ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। सम्पूर्ण जगत्की चेष्टारूप कम्पनलिङ्गसे 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें स्थित 'प्राण' शब्द करके चैतन्यरूप ब्रह्मका ही ग्रहण करना वायुका नहीं इति।

---

* टि०—शंका। 'अत एव प्राणः' इस अधिकरणसूत्रके विषयवाक्यमें कह आये हैं कि—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति। अर्थ—ये सम्पूर्ण भूत प्राणमें ही लयभावको प्राप्त होते हैं तथा प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं इत्यादि इति। जैसे तहां सर्व भूतोंका लयादिरूप लिङ्ग करके ब्रह्मरूप प्राणमें श्रुतिका समन्वयको दिखाया है। तैसे यहां भी सर्व जगत्की चेष्टा तथा भयहेतुत्वरूप ब्रह्मके लिङ्गको विद्यमान होनेसे प्राणरूप ब्रह्ममें ही इस श्रुतिका समन्वय हो सकता है। अर्थात् 'अत एव प्राणः' इस अधिकरण करके ही 'कम्पनात्' यह अधिकरणसूत्र गतार्थ है। इस कारणसे यहां पूर्वपक्षका अवसर ही नहीं बन सकता है। अतः यह अधिकरण व्यर्थ है?

समाधान। यह किसीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इत्यादि वाक्यमें ब्रह्मका स्पष्ट लिङ्ग नहीं है। अतः निर्णयके लिये 'कम्पनात्' इस अधिकरणकी रचना बन सकती है। अथवा 'अत एव प्राणः' इस प्राणाधिकरणका ही यह कम्पनाधिकरण प्रपञ्च है।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥' (क० २।६।२) यह मन्त्र इस सूत्रका विषय है।

अर्थ—यह सम्पूर्ण जगत् जिस प्राणसे उत्पन्न होता है; तथा जिस प्राणरूप चिदात्मा प्रेरकके हुये ही चेष्टा करता है; सो प्राणरूप कारण ब्रह्म ही है। और इस ब्रह्मसे सूर्यादिक भी भयको प्राप्त होते हैं, अतः यह ब्रह्म महत् भयरूप है। और ब्रह्ममें जो भयहेतुत्व है तिसमें दृष्टान्तको दिखाते हैं। जैसे 'उद्यत' कहिये उठाया हुवा वज्र भयका हेतु होता है। तैसे ब्रह्म भी अनीति युक्त जीवोंको भयका हेतु है। और जो प्राणी इस प्राणरूप निर्विशेष ब्रह्मको जानते हैं सो मुक्त हो जाते हैं इति।

शंका। इस सूत्रमें 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इस वाक्यका उदाहरण किस प्रकार दिया है?

समाधान। इस सूत्रमें 'एजृ कम्पने' एजृ धातुका अर्थ जो कम्पन है तिसका कथन है। अत 'एजति' पदयुक्त वाक्यका उदाहरण दिया है इति।

इस विषयवाक्यमें प्राणके आश्रित सर्व जगत् चेष्टा करता है यह प्रतीत होता है। और 'उद्यत वज्र' शब्द करके उक्त महद् भयका कारण कुछ प्रतीत होता है। तथा तिसके ज्ञानसे मुक्ति होती है ऐसा श्रवण होता है। अत यहां प्राण शब्द करके पञ्च वृत्तिवाले वायुका ग्रहण करना अथवा सर्व जगत्को कम्पाने-वाले ब्रह्मका ग्रहण करना यह संशय होता है।

तहां विशेषकी प्रतिपत्ति (निश्चय) न होनेसे 'यह प्राण कौन है' और 'सो भयानक वज्र क्या है' ऐसी जिज्ञासा होती है।

अथ पूर्वपक्ष। 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें विचार करने पर प्राण शब्द करके चेष्टाजनक प्राणवायुकी ही प्रतीति होती है।

शंका। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' यह वाक्य जैसे जीवका अनुवादक है, तैसे ही 'यदिदं किञ्च' यह वाक्य भी प्राणका अनुवादक क्यों न हो?

समाधान। 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः' इस वाक्यमें जैसे जीवका ब्रह्मके साथ मुख्य ऐक्यज्ञानके लिये जीवका अनुवाद किया है। तैसे यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इस वाक्यमें प्राणका ब्रह्मके साथ मुख्य ऐक्यज्ञानके लिये प्राणका अनुवाद नहीं बन सकता है। क्योंकि कल्पित जो प्राण है तिसका ब्रह्मके साथ ऐक्यज्ञान नहीं बन सकता है। अतः यह वाक्य प्राणकी उपासनाका ही बोधक है।

इस अर्थमें भाष्यको दिखाते हैं—'प्रसिद्धेः पञ्चवृत्तिर्वायुः प्राणः' इत्यादि भा०। अर्थ—'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें प्राण, व्यान, अपान, समान,

उदान, इस भेद करके पञ्चवृत्तिवाला प्रवृत्तिका हेतु जो वायु है सो ही प्राण है। क्योंकि लोकमें यह वार्ता प्रसिद्ध है इति। और वज्र अशनिका नाम है; अशनि वायुका परिणाम विशेष है। यह वार्ता भी शास्त्रमें प्रसिद्ध है। अतः यह सर्व वायुके माहात्म्यका संकीर्तन है।

शंका। वायुके माहात्म्यका संकीर्तन किस प्रकार है।

समाधान। यह दृश्यमान जो सम्पूर्ण जगत् है सो प्राण शब्दका वाच्य जो पञ्च वृत्तिवाला वायु है तिस वायुमें स्थितिको प्राप्त होकर वायुरूप निमित्तके हुये ही चेष्टा करता है। और वायु निमित्तक ही महा भयानक वज्रका उद्यमन व निपातन होता है। और बाह्य वायु ही धूम, ज्योतिः, सलिल करके युक्त हुवा मेघरूपसे परिणत होकर विद्युत्, स्तनयित्नु, वृष्टि व अशनिरूपसे परिणत होता है। यह परिणामवेत्तावोंका कथन है। और वायुकी उपासनारूप ज्ञानसे ही 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' यह आपेक्षिक अमृतभावकी उपपत्ति भी बन सकती है। और जैसे 'य एतद्विदुः' इस मन्त्रमें वायुके ज्ञानसे अमृतत्व कहा है। तैसे ही अन्य श्रुतिमें भी वायुके ज्ञानसे मोक्ष कहा है। तहां श्रुतिः— 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद।' बृ०। अर्थ— वायु ही व्यष्टिरूप है तथा वायु ही समष्टिरूप है इस प्रकार जो पुरुष जानता है सो अपमृत्युरूप संसारदुःखको तर जाता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यमें स्पष्ट ब्रह्मके लिङ्गको न होनेसे प्राण शब्द करके वायुका ही ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। इस पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है— 'ब्रह्मैवेदमिह प्रतिपत्तव्यम्' इत्यादि भा०। यहां विद्वदनुभवसिद्ध ब्रह्म ही जाननेको योग्य है। अर्थात् प्राण शब्द करके 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वम्' इत्यादि वाक्यमें ब्रह्मका ही ग्रहण करना, पञ्च वृत्तिवाले वायुका नहीं। क्योंकि—'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस वाक्यके पूर्व तथा उत्तर ग्रन्थकी आलोचना करनेसे पूर्व तथा उत्तर ग्रन्थभागमें ब्रह्म ही निर्दिश्यमान प्रतीत होता है। मध्यमें स्थित इस वाक्यमें ही अकस्मात् पञ्च वृत्तिवाले वायुके निर्देशको हम किस प्रकार जान सकते हैं अर्थात् नहीं जान सकते हैं।

तहां पूर्ववाक्यको दिखाते हैं—तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ (क० २।६।१) अर्थ— यह जो स्वप्रकाश चिद्रूप पुरुष है सो इन्द्रियोंके सो जानेपर भी काम्यमान स्त्री पुत्र पशु आदिकोंको रचता हुवा जागता ही रहता है। अर्थात् इस द्रष्टाकी दृष्टिका लोप कभी नहीं होता है। तथा च जाग्रत् व स्वप्नादिरूप निखिल संसारवृक्षका मूल व द्रष्टारूप करके वर्णित जो पुरुष है सोई पुरुष 'शुक्रं' कहिये सर्व उपाधि करके रहित शुद्ध है। तथा स्वयंप्रकाश है। तथा व्यापक ब्रह्मस्वरूप है। तथा उक्त आत्मतत्त्व ही 'अमृत' कहिये मोक्षरूप

शास्त्रमें कहा है। तिस ब्रह्ममें ही सम्पूर्ण पृथिव्यादिक स्थावर तथा सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं। कोई पदार्थ भी ब्रह्म स्वरूपको 'नात्येति' कहिये ब्रह्मरूपताको अतिक्रमण करके अन्यभावको नहीं प्राप्त हो सकता है इति।

इस मन्त्र करके निर्दिष्ट जो ब्रह्म है सोई ब्रह्म 'यदिदंकिञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति' इस मन्त्रमें सर्वलोकाश्रयत्वकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे व पूर्व मन्त्रके सन्निधानसे निर्दिष्ट है ऐसा निश्चय होता है। और परमात्मामें ही इस प्राण शब्दका प्रयोग अन्य श्रुतियोंमें भी किया है, क्योंकि—'प्राणस्य प्राणम्' (बृ० ४।४।१८) 'परमात्मा प्राणका भी प्राण है' ऐसा प्रयोग देखा गया है इति। और वायु आदिक सर्व जगत्की यह चेष्टाकारयितृत्व भी परमात्मामें ही बन सकता है वायु मात्रमें नहीं। तहां श्रुतिः—'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' (क० ५।५) अर्थ—प्राण तथा अपान करके कोई प्राणी नहीं जीते हैं। किन्तु 'इतरेण' कहिये तिस परमात्मा करके ही सर्व जीवनको प्राप्त होते हैं। जिस परमात्माके आश्रित ये प्राण तथा अपान हैं इति। इन पूर्वोक्त वचनोंसे वायु करके सहित निखिल प्रपञ्चका कम्पन करानेवाला परमात्मा ही है वायु नहीं यह सूत्रका अर्थ सिद्ध हुवा इति।

अब उत्तर ग्रन्थको दिखाते हैं—भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ (क० २।६।३) इत्यादि। अर्थ—इस परमात्माके भयसे ही अग्नि तथा सूर्य तपता है, इन्द्र वृष्टिको करता है, वायु चलता है, तथा पञ्चम यमराज भी प्राणियोंके भोग समाप्त हुये प्राणहरणके लिये धावन करता है इति। इस उत्तरमन्त्रमें भी ब्रह्मका ही निर्देश करेंगे वायुका नहीं, क्योंकि "जिस ब्रह्मका 'महद्भयम्' 'वज्रमुद्यतम्' इत्यादि करके 'यदिदं किञ्च' इस पूर्व मन्त्रमें निर्देश किया है। तिस ब्रह्मका ही; वायुके सहित सर्व जगत्को भयहेतुत्वका अभिधान होनेसे, और ब्रह्म प्रतिपादक मन्त्रका सन्निधान होनेसे, और भयहेतुत्वकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे, 'भयादस्याग्निस्तपति' इस उत्तर मन्त्रमें भी निर्देश किया है" यह निश्चय होता है।

शंका। ब्रह्ममें वज्र शब्दका प्रयोग किस प्रकार बन सकता है?

समाधान। भयहेतुत्वरूप गुण करके अर्थात् गौणीवृत्ति करके ब्रह्ममें वज्र शब्दका प्रयोग बन सकता है। और इन्द्रादि राजाके हाथमें उठाये हुये वज्रको देखकर; जैसे "यदि इस राजाके शासनको हम नहीं पालन करेंगे तो यह उद्यत वज्र मेरे शिरके उपर पड़ेगा" ऐसा भय करके प्रजा नियमसे राजाके शासनमें प्रवृत्त होती है। तैसे ही यह अग्नि वायु सूर्यादिक सम्पूर्ण जगत् भी ब्रह्मसे भयको प्राप्त हुवा, नियम करके अपने अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है, अतः भयानक वज्रकी उपमा ब्रह्मकी दी है इति।

इसी प्रकार अन्य श्रुतिमें भी ब्रह्मको भयका हेतु कहा है—भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

(तै० २।८।१)। अर्थ पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसार ही जानना। **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य॥** (तै०) अर्थ-जब यह जीव इस अद्वितीय स्वप्रकाश ब्रह्ममें उपास्योपासकभाव ज्ञातृज्ञेयभावादिरूप अल्प भी अन्तर (भेददृष्टि) को करता है; तब इसको ब्रह्म ही भयका हेतु होता है। अर्थात् अभेददृष्टि करके रहित 'ब्रह्म उपास्य है मैं उपासक हूं' इस प्रकार जाननेवालेको भी ब्रह्मतत्त्व ही भयका हेतु होता है इत्यादि इति। और विषयवाक्यमें अमृतत्वरूप फलके श्रवणसे भी प्राण शब्द करके परमात्माका ही निश्चय होता है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। तहां श्रुतिः—**'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** अर्थ—ब्रह्मका साक्षात्कार करके ही संसारदुःखरूप मृत्युको तरता है। मोक्षरूप अमृतके लिये 'नान्यः पन्था' कहिये दूसरा मार्ग व उपाय नहीं है इति। और वादीने जो कहा था कि-'वायु ही व्यष्टि है, वायु समष्टि है' इस प्रकार जो जानता है सो अपमृत्युको तर जाता है ? सो भी असङ्गत है। क्योंकि यह जो वायुकी उपासनारूप ज्ञानसे अमृतत्व कहीं बृहदारण्यादिकमें कहा है सो आपेक्षिक है मुख्य नहीं है। क्योंकि तहां बृहदारण्यकके ही पञ्चम अध्यायमें 'वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः' इत्यादिसे वायुकी उपासनाके प्रकरणको समाप्त करके पुनः वायुरूप सूत्रात्माके कथनसे अनन्तर 'अथ हैनमुषस्तः पप्रच्छ' इत्यादिसे ज्ञेय परमात्मारूप अन्तर्यामीको कहकर परमात्मासे भिन्न सर्व वायु आदिकोंको 'अतोऽन्यदार्तम्' इस मन्त्र करके विनाशी कहा है। और मुख्यके सम्भव हुये अमुख्यकी कल्पना बने नहीं।

और प्रकरणसे भी 'यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति' इस मन्त्रमें ब्रह्मका ही निश्चय होता है क्योंकि—**'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत्पश्यसि तद्वद॥'** (क० २।१४) अर्थ—यज्ञादिक धर्मसे तथा शास्त्र अविहित हिंसादिक अधर्मसे तथा कार्य कारणसे तथा भूतादिक कालसे तथा तिन कालोंमें होनेवाले पदार्थोंसे भिन्न परिच्छेदशून्य स्वतःप्रकाश जो वस्तु है तिस आत्मतत्त्वरूप वस्तुको यदि आप जानते हो तो मेरे प्रति कथन करो इति। इस प्रकार नचिकेताने धर्मराजके प्रति पूछा है। इसी प्रश्नका उत्तररूप ही 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' यहांसे लेकर समस्त कठोपनिषत् है। अतः 'यदिदं किञ्च' इत्यादि कठमन्त्रका ज्ञेय ब्रह्ममें ही समन्वय सिद्ध हुवा। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'यदिदं किञ्च' इस मन्त्रमें प्राण शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना पञ्च वृत्तिवाले वायुका नहीं यह सिद्ध हुवा इति। यहां पूर्वपक्षमें प्राणकी उपासना फल है; और सिद्धान्तमें ब्रह्मका ज्ञान फल है इति॥ ३९॥

इति कम्पनाधिकरणम्॥

प्रकरण करके अनुगृहीत ब्रह्मके वोधक कम्पनादिक बहुत लिङ्गोंका विरोध होनेसे पूर्व अधिकरणमें 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वम्' इस मन्त्रमें स्थित प्राण

श्रुतिको मुख्य अर्थ वायुका त्याग करके ब्रह्मपरत्व जैसे किया है। तैसे ही इस अग्रिम अधिकरणमें भी प्रकरण करके अनुगृहीत 'स उत्तमः पुरुषः' इस श्रुति करके 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' इस मन्त्रमें स्थित ज्योतिः शब्दका मुख्य अर्थ जो सूर्यादिक तेज है तिसके बाधको सूत्रकार दिखाते हैं:—

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

अर्थ—इस सूत्रमें दो पद हैं। १ ज्योतिः, २ दर्शनात्। 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्' इस वाक्यमें स्थित 'ज्योतिः' शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना, क्योंकि इस प्रकरणमें तिस ब्रह्मकी ही वक्तव्यरूप करके अनुवृत्ति देखनेमें आती है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं-छान्दोग्यमें ऐसा श्रवण होता है- **'एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।'** यह इस सूत्रका विषयवाक्य है।

अर्थ—जैसे शिरपाणि आदिरूप शरीर करके रहित जो वायु, अभ्र, व विद्युतादिक हैं सो वर्षावसान कालमें आकाशभावापन्न हुये वर्षाकालमें आदित्यके तेजको प्राप्त हो करके अपने २ वायु आदिक रूपसे निष्पन्न होते हैं। तैसे ही वस्तुतः शरीर रहित यह जो 'संप्रसाद' जीव है सो भी अविद्यादशामें देहात्मभावापन्न हुवा ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके उपदेश करके अर्थात् "तू प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप है, देहादिकोंसे तथा देहादिकोंके धर्मोंसे रहित है" इस प्रकारके उपदेशको प्राप्त हो करके इस शरीरसे 'उत्थाय' कहिये देहाभिमानको त्यागकर परमात्मरूप ज्योतिको प्राप्त हो करके स्वतःप्रकाश परज्योतिरूप अपने स्वरूपसे निष्पन्न होता है इति।

तहां संशयको दिखाते हैं-'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' इस वाक्यमें 'ज्योतिः' शब्द जो है सो चक्षुका विषय तथा तमको नाश करनेवाला सूर्यादिक तेजविषयक है अथवा पर ब्रह्मविषयक है इति।

वस्तुतः यहां ज्योतिः शब्दका अर्थ क्या प्राप्त हुवा ऐसी जिज्ञासाके हुये—

जैसे पूर्व अधिकरणमें ब्रह्म प्रकरणका अनुग्राहक जो 'यदिदंकिञ्च जगत्सर्वम्' इस श्रुतिमें स्थित 'सर्वं' शब्दके संकोचका अभाव है तिसके बलसे प्राणश्रुतिका ब्रह्ममें समन्वय किया है। तैसे यहां 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इस प्रकरणका अनुग्राहक कोई देखनेमें नहीं आता है। अतः प्रति उदाहरण करके अर्थात् व्यतिरेकी दृष्टान्तके बलसे पूर्वपक्षी पूर्वपक्षको दिखाता है—**'प्रसिद्धमेव तेजो ज्योतिःशब्दमिति'** इत्यादि भा०। अर्थ—ज्योतिः शब्द जो है सो प्रसिद्ध सूर्यादिक तेजविषयक ही है। क्योंकि ज्योतिः शब्द तेजमें ही रूढ़ है। अतः यहां ज्योतिः शब्द करके प्रसिद्ध सूर्यादिक तेजका ही ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

शंका। 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इस अधिकरणमें ज्योतिः शब्दकी ब्रह्ममें वृत्ति कह ही आये हैं, अतः यहां पूर्वपक्ष नहीं बन सकता है?

समाधान। यह कहना असंगत है, क्योंकि जैसे—'यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इस वचनमें, प्रकृत ब्रह्मका परामर्शक 'यत्' शब्दके साथ ज्योतिः शब्दका सामानाधिकरण्य होनेसे, और द्युसम्बन्धरूप लिङ्ग करके ब्रह्मकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे, ज्योतिः शब्द जो है सो अपना मुख्य अर्थ जो तेज है तिसको त्याग करके ब्रह्ममें वर्तता है। तैसे यहां ज्योतिः शब्दका मुख्य अर्थके त्यागमें कोई हेतु देखनेमें नहीं आता है, अतः पूर्वपक्ष समीचीन है इति।

शंका। 'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' इस वाक्यमें भी 'परं ज्योतिः' यह जो ज्योतिमें 'परत्व' विशेषण है तिसकी, और स्वरूपाभिनिष्पत्तिकी, और उत्तम-पुरुषत्वकी आदित्यादि तेजरूप ज्योतिःपक्षमें उपपत्ति न होनेसे ज्योतिः शब्दका प्रसिद्ध तेज अर्थ नहीं बन सकता है।

समाधान। प्रकृत ज्योतिः शब्दका आदित्यरूप तेज ही अर्थ मानना चाहिये। क्योंकि जैसे छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके नाड़ी खण्डमें—'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते'। अर्थ—प्रारब्ध कर्मके क्षयसे अनन्तर जिस कालमें यह जीव शरीरसे उत्क्रमण करता है तिस कालमें नाड़ियोंमें फैली हुई रश्मियोंके द्वारा ऊर्ध्व गमन करके अर्चिरादि मार्गमें स्थित ब्रह्मलोकका द्वाररूप आदित्यको प्राप्त होता है इति। इत्यादि मन्त्र करके मुमुक्षुको आदित्यकी प्राप्ति कही है।

तैसे ही 'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' यह मन्त्र भी छान्दोग्यके अष्टम अध्यायका ही है। अत इस मन्त्रमें स्थित 'सम्प्रसाद' पदका अर्थ जो जीव है सो भी शरीरको त्याग करके परज्योतिरूप आदित्यको ही प्राप्त होता है। पश्चात् आदित्यद्वारा ब्रह्मलोकमें प्राप्त होकर तत्त्वज्ञान द्वारा स्वस्वरूपको प्राप्त होता है। अतः 'परं ज्योतिः' यह 'परत्व' विशेषण भी, अर्चि, अह, व शुक्लपक्षादिकी अपेक्षासे आदित्यमें बन सकता है। क्योंकि अर्चिरादिकी अपेक्षासे आदित्य पर है। और 'स्वरूपाभिनिष्पत्ति' और 'उत्तमपुरुषत्व' इन दोनों विशेषणोंकी भी उपपत्ति बन सकती है। क्योंकि ब्रह्मलोकद्वारा ज्ञात आत्मामें भी स्वरूपकी अभिनिष्पत्ति व उत्तमपुरुषत्व विद्यमान ही है। अतः प्रसिद्ध सूर्यरूप तेज ही ज्योतिः शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। इस प्रकारके पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि—'परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्दम्' इत्यादि भा०। अर्थ—'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' इस मन्त्रमें स्थित ज्योतिः शब्दका अर्थ परब्रह्म ही है सूर्यादिक तेज नहीं। क्योंकि इस प्रकरणमें सर्वत्र ब्रह्मका ही दर्शन होता है। अर्थात् इस प्रकरणमें ब्रह्मकी ही वक्तव्यरूप करके अनुवृत्ति देखनेमें आती है इति। और जिस वस्तुकी उपक्रममें प्रतिज्ञा होती है, और जिस वस्तुका मध्यमें अनुसन्धानरूप परामर्श होता है; और जिस वस्तुका अन्तमें उपसंहार होता है; सो ही प्रधान प्रकरणका अर्थ होता है। और

इनके मध्यगत जितने वाक्य होते हैं तिन सर्वका प्रकरण करके प्रतिपाद्य वस्तु परत्वेन ही समन्वय होता है। यह शास्त्रकी मर्यादा है।

तथाच छान्दोग्यके अष्टम अध्यायमें पञ्चदश खण्ड हैं, और दो प्रकरण हैं। प्रथम प्रकरणरूप छै खण्डोंमें दहरविद्याका प्रतिपादन है। और द्वितीय प्रकरणमें—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि सप्तम खण्डसे लेकर ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त शरीररहित निर्गुण आत्माका ही प्रतिपादन है। अतः द्वितीय प्रकरणमें स्थित—'एष सम्प्रसादोऽस्मात्' यह मन्त्र भी निर्गुण ब्रह्मका ही प्रतिपादक है।

शंका। इस द्वितीय प्रकरणके उपक्रममें निर्गुण ब्रह्मविषयक प्रतिज्ञावाक्य कौन है? और परामर्शवाक्य व उपसंहारवाक्य कौन है?

समाधान। इस प्रकरणके आदिमें—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि मन्त्रसे अपहतपाप्मत्वादिक गुणवाले ब्रह्मकी अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्यरूप करके प्रतिज्ञाकी प्रतीति होती है।

और 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस वचनसे प्रजापतिने इन्द्रके प्रति पूर्वोक्त पाप्मादिरहित आत्माका ही तीन वार मध्यमें परामर्श करके उपदेश किया है।

और 'स उत्तमः पुरुषः' इस वचनसे अन्तमें निर्गुण परमात्माका ही उपसंहार किया है। क्योंकि—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इत्यादि स्मृतिसे परमात्मा ही उत्तम पुरुष है।

और 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'। अर्थ—शरीरादिकोंमें आत्मत्व भ्रम करके रहित जो विद्यमान ब्रह्मनिष्ठ पुरुष है तिसको सुख दुःखादिक स्पर्श नहीं करते हैं इति। इस श्रुतिमें कहा हुवा जो अशरीरत्वरूप फल है, तिस फलरूप लिङ्गके श्रवणसे भी परज्योतिः ब्रह्म स्वरूप ही है सूर्यादिक नहीं। क्योंकि ब्रह्मप्राप्तिसे अन्यत्र सूर्यादिक ज्योतिकी प्राप्तिसे अशरीरतारूप फल बने नहीं। और इस ज्योतिवित् पुरुषमें अशरीरतारूप फलके लिये ही—'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इस वचन करके ज्योतिःसंपत्तिका कथन किया है। और ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्मवित् पुरुषमें अशरीरत्व बन सकता है।

शंका। मुमुक्षुको सूर्यकी प्राप्ति द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर तत्त्वज्ञानसे अशरीरता बन सकती है अतः परज्योतिः शब्दका अर्थ सूर्य कह सकते हैं।

समाधान। यहां परज्योतिः शब्दका अर्थ सूर्य नहीं हो सकता है। क्योंकि इस परज्योतिको ही 'स उत्तमः पुरुषः' इस अग्रिम वाक्यसे उत्तम पुरुषरूप कहा है। अतः ज्योतिमें ही अशरीरत्वका निश्चय होनेसे परज्योतिः शब्द करके ब्रह्म ही

ग्राह्य है आदित्य नहीं। तथाच पूर्वोक्त प्रतिज्ञा, और परामर्श और उपसंहार और फल रूप लिङ्गसे इस प्रकरणमें ब्रह्मकी ही अनुवृत्ति देखी गई है। अतः परज्योतिः शब्दका अर्थ ब्रह्म ही है आदित्यादिक तेज नहीं है।

और जो वादीने कहा था कि—जैसे छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके नाड़ी खण्डमें मुमुक्षुको आदित्यकी प्राप्ति कही है। तैसे ही द्वितीयप्रकरणके 'एष सम्प्रसादो' इस मन्त्रमें भी मुमुक्षु परज्योतिरूप आदित्यको ही प्राप्त होता है इत्यादि।

सो कहना असङ्गत है क्योंकि नाड़ीखण्डमें जो दहरोपासक पुरुषको आदित्यकी प्राप्ति कही है, सो आत्यन्तिक मोक्ष नहीं कहा है; किन्तु आदित्य प्राप्तिद्वारा कार्यब्रह्मलोककी प्राप्ति कही है। क्योंकि तहां—'शरीरादुत्क्रामत्यथै-तैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' यह गति और उत्क्रान्तिका सम्बन्ध है। और आत्यन्तिक मोक्षमें गति तथा उत्क्रान्ति नहीं होती है। इस अर्थको चतुर्थाध्यायके 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' इत्यादि सूत्रमें कहेंगे। और आदित्यकी प्राप्तिमें गति तथा उत्क्रान्ति होती है। भाव यह है कि—'एष संप्रसादो' इत्यादि मन्त्र छान्दोग्यके अष्टमाध्यायके प्रथम दहरविद्याप्रकरणमें भी है। और 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि निर्गुण ब्रह्मप्रतिपादक द्वितीयप्रकरण में भी है। तहां दहरविद्यागत नाड़ीखण्डमें जो दहरोपासकको सूर्यकी प्राप्ति कही है; सो आत्यन्तिक मोक्ष नहीं है। अतः दहरप्रकरणमें स्थित—'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इस वाक्यमें परज्योतिः शब्द करके सूर्यकी उक्ति युक्त है। परन्तु प्रजापतिके वाक्यों करके प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म-विद्यामें अर्चिरादि मार्गमें स्थित सूर्यकी प्राप्तिका अभाव होनेसे यहां निर्गुण ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें स्थित 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इस वाक्यका "परज्योतिः" स्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करके तिस परज्योतिको ही प्राप्त होता है" ऐसा ही अर्थ जानना इति। यहां पूर्वपक्षमें सूर्यको उपासना करके ब्रह्मलोकद्वारा क्रममुक्ति फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञानसे साक्षात् मुक्ति फल है इति ॥४०॥

इति ज्योतिरधिकरणम् ॥

पूर्व अधिकरणमें उपक्रमसे और प्रकरणसे अनुगृहीत जो 'उत्तमः पुरुषः' इत्यादिक श्रुति स्मृति हैं तिन करके 'परं ज्योतिः' इस वाक्यमें स्थित 'ज्योतिः' शब्दका सूर्यादिक तेजमें बाधको कह आये हैं। अब 'नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादि अग्रिम विषयवाक्यमें स्थित नामरूपनिर्वाहकर्तृत्वादिक लिङ्ग करके अनुगृहीत जो ब्रह्म तथा आत्म श्रुति हैं तिन करके भूताकाशमें आकाशश्रुतिके बाधको सूत्रकार दिखाते हैं—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

अर्थ—१ आकाशः, २ अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'आकाशो

वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इस वाक्यमें स्थित 'आकाश' शब्द करके भूताकाशका ग्रहण नहीं करना। किन्तु परमात्माका ही ग्रहण करना। क्योंकि सम्पूर्ण नामरूपका निर्वाहक होनेसे आकाशादिक नामरूप जगत्से भिन्न करके इस आकाशको श्रुतिमें कथन किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—**'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा'** (अ ८।१४)। यह मन्त्र छान्दोग्यमें श्रवण होता है। यह मन्त्र इस अधिकरणका विषय वाक्य है। अर्थ—'नाम' कहिये श्रुतिमें प्रसिद्ध जो आकाश है; सो नामरूप जगत्का निर्वाह करनेवाला है। और जिसके अन्दर निखिल नामरूप जगत् है सो आकाश ब्रह्म है। और सो ब्रह्म अमृतरूप है तथा आत्मस्वरूप है इति।

इस श्रुतिमें जो 'आकाश' शब्द है सो प्रसिद्ध भूताकाशका ही बोधक है अथवा पर ब्रह्मका बोधक है इस प्रकारका यहां संशय होता है।

अथ **पूर्वपक्ष**। विचार करने पर आकाश शब्दको भूताकाशमें रूढ होनेसे आकाश शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण युक्त है।

शंका। प्रसिद्धिके बलसे आकाश शब्दका भूताकाश अर्थ मानना अनुचित है। क्योंकि भूताकाशमें यावत् नामरूपका निर्वाहकत्व नहीं बन सकता है?

समाधान। आकाश शब्दसे भूतकाशका ग्रहण करना ही उचित है; क्योंकि भूताकाशमें भी अवकाशके दानद्वारा नामरूप जगत्के निर्वाहकी योजना कर सकते हैं। यद्यपि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रमें सर्वोत्पादकत्वादि ब्रह्मलिङ्गके दर्शनसे आकाश शब्द करके परमात्माका ग्रहण किया है। तथापि तहां जैसे सर्वोत्पादकत्वादि ब्रह्मके लिङ्गोंका स्पष्ट दर्शन है। तैसे 'आकाशो वै नाम' यहां पर जगत्कर्तृत्वादिक स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गका श्रवण न होनेसे आकाश शब्द करके ब्रह्मका ग्रहण नहीं हो सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे आकाश शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण करना इति?

इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये अब सिद्धान्तको कहते हैं:—

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। **'परमेव ब्रह्म'** इत्यादि भा०। अर्थात् यहां आकाश शब्द करके परब्रह्मका ही ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि ब्रह्ममें ही अर्थान्तरत्वादिका व्यपदेश बन सकता है। अर्थात् **'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म।'** अर्थ—'ते' कहिये नामरूप जिसके मध्यमें हैं अथवा सम्पूर्ण नामरूपका जो अन्तर्यामी है सो आकाश ब्रह्म है इति। यह श्रुति नामरूप जगत्से भिन्न अन्तर्यामी ब्रह्मको ही आकाशरूपसे वर्णन करती है। और ब्रह्मसे भिन्न कोई भी वस्तु नामरूप जगत्से भिन्न नहीं हो सकती है। क्योंकि आकाशादिक सम्पूर्ण जगत् नामरूपका ही विकार है।

किञ्च 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें आकाशको नामरूपका निर्वाहक कहा है। और भूताकाश विकाररूप होनेसे नामरूपके अन्तर्गत है। यद्यपि पवनादिका निर्वाहक आकाश है। तथापि स्वनिर्वाहकत्व आकाशमें नहीं बन सकता है। क्योंकि सुशिक्षित हुवा भी नटका बालक अपने शिरमें चढ़कर नहीं नाच सकता है।

शंका। 'नामरूपयोर्निर्वहिता' इस श्रुतिमें भूताकाशसे भिन्न नामरूकाप निर्वाहक भूताकाश ही प्रतिपाद्य क्यों न हो?

समाधान। सङ्कोचके विना ही सम्पूर्ण नामरूपका स्वतन्त्र निर्वाहकत्व ब्रह्ममें ही बन सकता है। अतः भूताकाश भिन्नत्वरूप संङ्कोच अनुचित है। और नामरूपका जो निरङ्कुश निर्वहण है अर्थात् स्वतन्त्र निर्वाहकत्व है सो ब्रह्मसे भिन्न परतन्त्र भूताकाशादिक किसी भी वस्तुमें नहीं बन सकता है। क्योंकि—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।' अर्थ—चिन्मात्ररूप मैं परमात्मा इस कालमें 'अनेन' कहिये बुद्धिमें स्थित तथा पूर्व सृष्टिमें अनुभूत 'जीवेन' कहिये प्राणके धारणका हेतु,'आत्मना' कहिये सद्रूप करके अर्थात् जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बकी तरह बुद्धिमें स्थित इस स्वस्वरूप जीव करके 'अनुप्रविश्य' कहिये देहाभिमानवाला होकरके 'नामरूपे' कहिये सूक्ष्म पिण्डरूप नामरूपको 'व्याकरवाणि' कहिये यह अमुक नामवाला है इत्यादि व्यवहारके योग्य स्थूलरूपसे करुं। यह भूत सृष्टिके अनन्तरभावी ईशका संकल्प है इति। इत्यादि मन्त्रोंमें नामरूप जगत्का कर्तृत्व ब्रह्ममें ही श्रवण होता है। तथा च नामरूपके अन्तःपाती भूताकाशमें निखिल नामरूपका कर्तृत्वादिरूप निर्वहण नहीं बन सकता है। अतः आकाश करके भूताकाशका ग्रहण नहीं हो सकता है।

शंका। यह नामादिकोंका जो कर्तृत्व है सो ब्रह्मका लिङ्ग नहीं है किन्तु जीवका ही है। क्योंकि यह श्रुति जीवमें ही नामादिकोंके निर्वाहकर्तृत्वको स्पष्ट कहती है।

समाधान। यद्यपि यह श्रुति जीवमें नामरूपके निर्वाहकर्तृत्वको कहती है यह वार्ता सत्य है; तथापि जीवमें जो नामादिकोंके निर्वाह कर्तृत्वको श्रुति कहती है सो ब्रह्मके साथ अभेद विवक्षा करके कहती है साक्षात् नहीं, क्योंकि जीवमें साक्षात् जगत्का कर्तृत्व व जगत्का निर्वाहकर्तृत्व नहीं बन सकता है। और जो वादीने कहा था कि—'आकाशो वै नाम' यहां पर ब्रह्मका स्पष्ट लिङ्ग नहीं है? सो भी कहना असङ्गत है। क्योंकि नामरूपका स्वतन्त्र निर्वाहकत्व जो श्रुतिमें कहा है इस कथनसे ही जगत् स्रष्टृत्वादिक स्पष्ट ब्रह्मका लिङ्ग भी कथित हो चुका। और "तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" इत्यादिक जो श्रुति है सो भी ब्रह्मकी बोधक स्पष्ट लिङ्ग है।

शंका। जब यहां ब्रह्मके बोधक स्पष्ट लिङ्ग हैं तब 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्र करके वर्णित अर्थका ही इस सूत्रमें पुनः वर्णन होनेसे पुनरुक्ति दोष होवेगा।

समाधान। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्रके अर्थका ही साधक यह विचार है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं हो सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'आकाशो वै नाम' इस श्रुतिमें आकाश शब्दकरके ब्रह्म ही ग्राह्य है भूताकाश नहीं यह सिद्ध हुवा इति। यहां पूर्वपक्षमें अमृतत्वादिकरूप करके आकाशकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है इति ॥ ४१ ॥

इति अर्थान्तरत्वाधिकरणम् ॥

पूर्व अधिकरणमें, जगत्निर्वाहकर्तृत्वादिक ब्रह्मके लिङ्गोंसे अनुगृहीत 'तद्ब्रह्म स आत्मा' इत्यादि श्रुतिकरके भूताकाशमें 'आकाशो वै' इस श्रुतिके बाधको कह आये हैं। अब अग्रिम अधिकरणमें ब्रह्मके लिङ्गों करके जीवके लिङ्गोंके बाधको दिखाते हैं:—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

अर्थ—१ सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः, २ भेदेन। इस सूत्रमें दो पद हैं। और पूर्व सूत्रसे 'व्यपदेशात्' इस पदकी अनुवृत्ति करनी। तथाच बृहदारण्यकमें 'कतम आत्मेति' इत्यादि जनकके प्रश्नके अनन्तर याज्ञवल्क्यके उत्तररूप ग्रन्थमें सुषुप्तिमें तथा उत्क्रान्तिमें संसारी जीवसे भिन्न करके परमात्माका कथन किया है। अतः 'कतम आत्मेति' इस जनकके प्रश्न वाक्यमें स्थित आत्मा शब्द करके भी परमात्मा ही प्रष्टव्य व प्रतिपादनीय है संसारी जीव नहीं इति।

अब यहां अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ०४।३।७)। यह मन्त्र इस अधिकरणका विषयवाक्य है।

अर्थ—अहं बुद्धिके विषय देह इन्द्रिय प्राणादिकोंके मध्यमें कोई एक आत्मा है अथवा देहादिकोंसे अतिरिक्त आत्मा है इस प्रकार राजा जनकके प्रश्नके अनन्तर याज्ञवल्क्य कहते हैं—इस प्राणादिक संघातके भीतर हृदयमें जो यह विज्ञानरूप बुद्धिका साक्षी अन्तर्यामी ज्योतिः स्वरूप परिपूर्ण पुरुष है सो यही आत्मा है। इस मन्त्रके 'प्राणेषु, हृदि' इन दोनों स्थलोंमें जो यह सप्तमी विभक्ति है तिसका अर्थ 'व्यतिरेक' है अर्थात् भिन्नत्व है। इन दोनों पदों करके "प्राणोंसे तथा हृदय उपलक्षित बुद्धिसे आत्मा भिन्न है" यह बोधन किया। और 'अन्तर्' शब्द करके 'बुद्धिवृत्तिसे भिन्न आत्मा है' तथा 'ज्योतिः' शब्द करके 'अज्ञानसे भिन्न आत्मा है' यह बोधन किया है इति।

बृहदारण्यकके षष्ठ प्रपाठकमें 'कतम आत्मेति' ऐसा उपक्रम करके बहुत विस्तारसे आत्माका विचार किया है। यहां 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि उपक्रम वाक्यमें स्थित विज्ञानमयादि शब्दोंसे तथा 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' इत्यादि उपसंहार वाक्यमें स्थित सर्वेशानादि शब्दोंसे संशय होता है कि—'कतम आत्मेति' इत्यादि जो यह

विषयवाक्य है सो क्या संसारी जीवके स्वरूप मात्रका प्रतिपादक है अथवा जीवका अनुवाद करके असंसारी परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादक है इति।

'वस्तुतः यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये अब पूर्वपक्षको दिखाते हैं:—

अथ पूर्वपक्ष। 'संसारिस्वरूपमात्रविषयमेव' इत्यादि भा०। अर्थात् 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्य संसारी जीवके स्वरूपका ही प्रतिपादक है। क्योंकि 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि उपक्रम वाक्यमें 'विज्ञानमयः' इत्यादिसे विज्ञानरूप बुद्धि सम्बन्धादिक शारीर जीवके ही लिङ्ग देखनेमें आते हैं। तथा— 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादि उपसंहार वाक्यमें भी जीवके लिङ्गका त्याग नहीं किया है किन्तु विज्ञानमयत्वादिक संसारी जीवके ही लिङ्ग देखनेमें आते हैं।

शंका। यदि उपक्रम उपसंहार करके 'कतम आत्मेति' इत्यादि ग्रन्थ जीवका ही प्रतिपादक होवे तो उपसंहार वाक्यमें स्थित 'महानजः' इत्यादि श्रुतिका विरोध होवेगा ?

समाधान। यद्यपि निरपेक्ष व्यापकत्वरूप महत्त्व और सर्वथा जन्माभावरूप अजत्व जीवमें नहीं बन सकता है, तथापि आपेक्षिक महत्त्व और अजत्व जीवमें भी बन सकता है। तथा मध्यमें भी जाग्रत् आदिक अवस्थाका उपन्यास करके जीवके प्रतिपादनका ही प्रपञ्च किया है। अतः यहां जीवरूप आत्मा ही प्रतिपाद्य है। असंसारी परमात्मा नहीं इति।

इस प्रकारके पूर्वपक्षको प्राप्त हुये अब भाष्यकार सिद्धान्तको कहते हैं:—

अथ सिद्धान्तपक्ष। 'परमेश्वरोपदेशपरमेवेदं वाक्यम्' इत्यादि भा०। अर्थात् परमेश्वरका उपदेश ही 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्य करता है केवल जीवका अनुवाद मात्र नहीं करता है। क्योंकि यदि इस वाक्यको केवल जीवका स्तावक ही मानें, तो अग्रिम वाक्य करके सुषुप्तिमें और उत्क्रान्तिमें जो जीवसे भिन्न ईश्वरका व्यपदेश किया है सो (उपदेश) असङ्गत हो जावेगा।

शंका। तहां सुषुप्तिमें जीवसे भिन्न परमेश्वरका उपदेश करनेवाला मन्त्र कौन है ?

समाधान। 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमिति' (बृ० ४।३।२१)। अर्थ—कार्यकारणरूप उपाधिमें प्रविष्ट जो यह क्षेत्रज्ञरूप पुरुष है सो सुषुप्ति अवस्थामें उपाधिके विलय हुये स्वाभाविक अविद्याका साक्षीरूप प्राज्ञके साथ अत्यन्त एकरूप होनेसे बाह्य पदार्थोंको तथा आन्तर पदार्थोंको कुछ भी नहीं जानता है इति। इस मन्त्रमें जीवसे भिन्न करके परमात्माका कथन किया है।

और जीवको वेदिता होनेसे इस मन्त्रमें जो 'पुरुष' शब्द है सो जीवका वाचक है। क्योंकि जीवमें बाह्य तथा आन्तर वेदनकी प्रसक्ति हुये ही 'न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' इस वचन करके निषेध बन सकता है। और परमात्माको सर्वज्ञत्वरूप प्रज्ञाके साथ नित्य अवियोग होनेसे प्राज्ञ शब्द परमेश्वरका बोधक है।

शंका। यहां पुरुष शब्द करके शरीरका ग्रहण और प्राज्ञ शब्द करके जीवका ग्रहण क्यों न हो?

समाधान। "इस मन्त्रमें पुरुष शब्द करके शरीरका ग्रहण करना तथा प्राज्ञ शब्द करके जीवका ग्रहण करना" यह कहना असङ्गत है। क्योंकि यदि शरीरमें वेदनकी प्रसक्ति होती तो 'न बाह्यम्' इत्यादि निषेधवचनकी शरीरमें उपपत्ति होती। और जीवमें सर्वज्ञत्वरूप नित्य प्रज्ञाके सम्बन्धकी उपपत्ति न होनेसे प्राज्ञ* शब्दसे जीवका ग्रहण भी नहीं बन सकता है।

---

* अर्थात् प्राज्ञ शब्द निरपेक्षप्रज्ञाप्रकर्षवालेमें निरूढ़ है। ऐसा ईश्वर ही है। क्योंकि निरपेक्ष प्रज्ञाका प्रकर्ष सर्वज्ञ ईश्वरसे अन्यमें बने नहीं, अतः प्राज्ञ शब्द करके अज्ञ जीवका ग्रहण नहीं हो सकता है।

शंका। सुषुप्ति अवस्थावाले आत्माका नाम प्राज्ञ है। "सुषुप्तिमें मुझको कुछ भी ज्ञान नहीं था" इस अनुभवके बलसे प्राज्ञमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती है। किञ्च यदि सुषुप्तिमें आत्मा सर्वज्ञ होवे तो जाग्रदादिकी अपेक्षासे निद्रा ही उत्तम होवेगी। तथा च **'निद्रया ह्रियते नक्तम्'** इत्यादि शास्त्रका और अनुभवका विरोध होवेगा।

समाधान। सुषुप्ति अवस्थामें जीवात्मा ज्ञान शून्य है? अथवा परमात्मा अज्ञ है? प्रथम पक्षमें, कार्य (स्थूल सूक्ष्म) रूप जीवकी उपाधिके विलय हो जानेसे ज्ञानशून्यता बन सकती है। द्वितीय पक्षमें, माण्डूक्यमें प्राज्ञ-निरूपणके अनन्तर **'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः'** इत्यादि श्रुतियोंका विरोध होगा। और अविद्यारूप ईश्वरकी उपाधिको विद्यमान होनेसे जीवकी सुषुप्ति दशामें भी चित्प्रतिबिम्बित अविद्यावृत्तियोंके द्वारा ईश्वरमें सर्व संसारका ज्ञान बन सकता है।

शंका। **'सुषुप्तिकाले सकले विलीने'** इत्यादि श्रुतिसे सुषुप्ति दशामें संसार ही नहीं है, अतः सुषुप्तिमें ईश्वर सर्वज्ञ है' यह कहना असङ्गत है।

समाधान। सुषुप्तिमें सुप्त जीवोंके संसारका अभाव होने पर भी सम्पूर्ण संसारका अभाव नहीं बन सकता है। और 'सुषुप्तिकाले' यह श्रुति भी सुप्त जीवके संसारका ही विलयको बोधन करती है। और विलय अवस्थापन्न संसारको भी ईश्वर जानता है। अतः प्राज्ञ सदा सर्वज्ञ है। अर्थात् विलीन उपाधिवाले एक जीवका नाम ही प्राज्ञ नहीं है; किन्तु अविद्योपाधिक चेतनका नाम प्राज्ञ है।

शंका । उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न परमेश्वरका उपदेश करनेवाला मन्त्र कौन है ?

समाधान । तथा उत्क्रान्तिमें भी—'**अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्ज्जन् याति**' (वृ० ४।३।३५)। यह मन्त्र जीवसे भिन्न करके परमात्माको कहता है। अर्थ—जैसे गमनकालमें भार करके आक्रान्त जो शकट है सो शकटवाले पुरुष करके अधिष्ठित हुवा नाना प्रकारके शब्दोंको करता हुवा जाता है। तैसे ही मरणकालमें विद्या कर्मादिक भार करके आक्रान्त जो इस स्थूल शरीरमें रहनेवाला साभास लिङ्ग शरीररूप शारीर आत्मा है सो भी स्वचिदाभासद्वारा स्वयं ज्योतिः स्वरूप प्राज्ञरूप आत्मा करके अधिष्ठित हुवा और अनेक प्रकारकी वेदना करके पीड़ित होकर हिक्कादिक शब्दोंको करता हुवा जाता है इति। इस मन्त्रमें भी शरीरका स्वामी होनेसे 'शारीर' नाम जीवका है। तथा 'प्राज्ञ' नाम तिस परमात्माका ही है। अतः "सुषुप्ति तथा उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न करके प्राज्ञरूप परमेश्वरका कथन होनेसे 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ करके परमात्मा ही विवक्षित है" ऐसा निश्चय होता है इति।

और जो प्रथम वादीने कहा था कि—यहां आदि, अन्त व मध्यमें जीवके लिङ्ग देखनेमें आते हैं अतः 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यको जीवपरत्व ही है ? सो भी कहना असङ्गत है। क्योंकि उपक्रममें जो—'**योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु**' यह मन्त्र है तिसमें संसारी जीव विवक्षित नहीं है। किन्तु संसारी जीवके स्वरूपका अनुवाद करके पर ब्रह्मके साथ इस जीवकी एकता विवक्षित है।

तथा '**अपूर्वे वाक्यतात्पर्यम्**' इस न्याय करके भी अपूर्व परमात्मामें ही मन्त्रका तात्पर्य है। अतः यहां परमात्मा ही प्रतिपादनीय है। अर्थात् ज्ञात तथा अज्ञात ये दोनों जहां प्राप्त होवें तहां ज्ञातका अनुवाद करके अज्ञात ही प्रतिपादनीय होता है। प्रसङ्गमें जीव ज्ञात है तथा परमात्मा अज्ञात है, अतः जीवके स्वरूपका अनुवाद करके प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म ही प्रतिपादनीय है।

शंका । यहां जीवका अनुवाद करके परमात्माका प्रदिपादन नहीं बन सकता है। क्योंकि इस प्रकरणमें संसारी जीवका ही प्रायः निरूपण दीखता है। जीवके धर्मोंका अपवाद नहीं दीखता है।

समाधान । "यहां जीवके धर्मोंका अपवाद नहीं दीखता है" यह कहना असङ्गत है। क्योंकि '**ध्यायतीव लेलायतीव**' अर्थात् ध्यान करती हुई बुद्धिको

इस अविद्यावच्छिन्न प्राज्ञमें ही, सुषुप्ति दशामें अनन्त जीव एकीभावको प्राप्त होते हैं। और अनन्त जीव जाग्रदादिक अवस्थावोंमें भ्रमण करते हैं। यद्यपि सुषुप्ति दशामें जीवका प्राज्ञके साथ अभेद होनेसे जीवमें भी सर्वज्ञत्वकी शंका बन सकती है। तथापि ईशभावापन्न जीवको सर्वज्ञ होने पर भी जीवत्व दशामें सर्वज्ञता कदापि बने नहीं।

'मैं ध्यान करता हूं' इस प्रकार आत्मा ध्यानकर्ताकी तरह प्रतीत होता है । तथा चलती हुई बुद्धिको आत्मा चलते हुयेकी तरह प्रतीत होता है। वस्तुतः न आत्मा ध्यान करता है न चलता है। इत्यादिक जो उत्तर ग्रन्थकी प्रवृत्ति है सो आत्मामें संसारीके सर्व धर्मोंका निषेध करती हुई स्पष्ट प्रतीत होती है इति।

तथा उपसंहारमें भी "उपक्रमके अनुसार ही उपसंहार किया है" इस अर्थको दिखाते हैं—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इति। अर्थ—याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे जनक! प्राणादिक संघातके मध्यमें जो यह विज्ञानमय संसारी प्रतीत होता है "सो यह वस्तुतः महान् अज आत्मा परमेश्वर ही है" ऐसा हमने प्रतिपादन किया है इति। इस सिद्धान्तपक्षमें निरपेक्ष व्यापकत्व व परिच्छेद शून्यत्वरूप महत्त्व, और सर्वथा जन्माभावरूप अजत्व ही 'महानजः' इस श्रुतिका अर्थ है। अमुख्य अर्थ नहीं मानना पड़ता है। और जो पुरुष ऐसा मानता है कि—"मध्यमें जाग्रत् आदिक अवस्थाका कथन किया है अतः यहां संसारीका ही स्वरूप विवक्षित है" सो पुरुष पूर्व दिशाको भेजा हुवा भी पश्चिम दिशाको जावेगा। अर्थात् जैसे पूर्व दिशामें भेजे हुये पुरुषको पश्चिम दिशामें जाना अनुचित है। तैसे ही परमात्माके उपदेशको जीवका उपदेश समझना अनुचित है।

भाव यह है कि—इस प्रकरणमें जाग्रदादिक अवस्था और अवस्थाविशिष्ट आभासरूप संसारी जीव प्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु सर्वानुस्यूत चिन्मात्र ही प्रतिपाद्य है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था विशिष्ट संसारी जीव अवस्थान्तरवाला नहीं हो सकता है। अतः अवस्थावोंका उपन्यास जीवका लिङ्ग नहीं है किन्तु "त्वं पदार्थकी शुद्धिद्वारा जीव ब्रह्मकी एकता परक है" अब इसी अर्थको दिखाते हैं—'न बुद्धान्ताद्यवस्थोपन्यासेनावस्थावत्त्वं संसारित्वं वा विवक्षति' इत्यादि भा०। अर्थ—जाग्रत् आदिक अवस्थाका उपन्यास करके आत्मामें अवस्थावत्त्व तथा संसारित्व विवक्षित नहीं है, किन्तु अवस्थारहितत्व तथा असंसारित्व ही विवक्षित है इति।

शंका। इस अर्थको तुम किस प्रकार जानते हो ?

समाधान। बृहदारण्यकमें स्थित जनक और याज्ञवल्क्यके पुनः २ प्रश्न और उत्तरसे इस अर्थको हम जानते हैं। क्योंकि राजा जनक याज्ञवल्क्यके प्रति वारम्वार प्रश्न करते हैं कि—'अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि'। अर्थ—कामादिकोंके विवेकसे अनन्तर मोक्षके लिये ही आप मुझको उपदेश करें इति। तथा याज्ञवल्क्य भी 'अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः'। अर्थ—सर्व अवस्थावोंके धर्मों करके आत्मा स्पर्श रहित है। और यह पुरुष असङ्ग है। क्योंकि जाग्रदादिक अवस्था व इनके धर्म व्यभिचारी हैं। सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न नहीं हैं, जाग्रदादिमें सुषुप्ति नहीं है। अतः यह सर्व प्रपञ्च मिथ्या है। और यह साक्षी पुरुष सर्वत्र अनुस्यूत है; अतः सत्य है असङ्ग है इति। इस प्रकार पदपदमें जनकके प्रति कहते हैं। और आगे भी याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं -हे राजा जनक! यह आत्मा

पुण्यपापादिके सम्बन्धसे रहित है। और पुण्यपापादिक सर्व हृदयमें स्थित अन्तःकरणके धर्म हैं। क्योंकि सुषुप्ति आदिकमें अन्तःकरणके न रहनेसे आत्मा सर्व शोकोंको तर जाता है इत्यादि। अतः 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ 'असंसारीके स्वरूपका ही प्रतिपादक है' ऐसा ही निश्चय करनेको योग्य है इति ॥ ४२ ॥

'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ "जीव ब्रह्मकी एकताका ही प्रतिपादक है" इस अर्थमें सूत्रकार अन्य हेतुको दिखाते हैं—

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। "सर्वस्य वशी" इत्यादिक श्रुतिमें स्थित 'पतिः' 'ईशानः' 'वशी' इत्यादिक शब्दोंसे भी 'कतम आत्मेति' इत्यादिक वाक्यसमूह परमेश्वरका ही प्रतिपादक है इति। इस हेतुसे भी "असंसारी ब्रह्म प्रतिपादनपरक ही 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ है" यह निश्चय करना चाहिये। क्योंकि इस वाक्यसन्दर्भमें पत्यादिक शब्द असंसारी ब्रह्म स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाले और संसारी स्वभावको निषेध करनेवाले विद्यमान हैं।

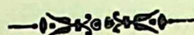
शंका। कौन २ शब्द असंसारी ब्रह्मस्वरूपके प्रतिपादक हैं? और कौन २ शब्द संसारी स्वभावके निषेधक हैं?

समाधान। "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः" इत्यादि अनेक शब्द असंसारी ब्रह्मस्वरूपके प्रतिपादक हैं। और "न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्" "स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्जते" इत्यादिक अनेक शब्द संसारी स्वभावके प्रतिषेधक हैं। तथा च "असंसारी परमेश्वर ही इस जनक और याज्ञवल्क्यके प्रश्नोत्तररूप 'कतम आत्मेति' इत्यादि वाक्यसन्दर्भ करके प्रतिपाद्य है" यह निश्चय है। अतः शोधित 'तत्' और 'त्वम्' अर्थकी एकतामें ही बृहदारण्यकके षष्ठाध्यायका समन्वय है। यह सिद्ध हुवा इति। इस अधिकरणका पूर्वपक्षमें कर्मकर्ता जीवकी स्तुतिरूप फल है। और सिद्धान्तमें जीवका अनुवाद करके शोधित 'तत्' और 'त्वम्' अर्थकी एकताका निश्चय फल है ॥ ४३ ॥

इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीविद्घनानन्दगिरिपूज्यपादशिष्यगोविन्दानन्दगिरिविरचितायां सूत्रभाष्यार्थप्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादकास्पष्टश्रुतिसमन्वयाख्यस्तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ।



श्रीगणेशाय नमः । श्रीगुरवे नमः । श्रीशंकराचार्य्येभ्यो नमः ॥

पूर्व जैसे प्रसिद्ध जीवविषयक लिङ्गका अप्रसिद्ध ब्रह्मविषयक लिङ्ग करके बाधको कह आये हैं; तैसे यहां प्रकरण करके प्राप्त जो श्रौत क्रम है तिस करके, श्रौत क्रमके सदृश जो स्मार्त क्रम है तिसके बाधको शंकापूर्वक सूत्रकार दिखाते हैं—अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि मन्त्रगत आत्मा, शरीर, बुद्धि यह श्रौत क्रम है । इसीके तुल्य महत्, अव्यक्त, पुरुष यह सांख्यीय स्मार्त क्रम है । तहां श्रौत क्रम करके स्मार्त क्रमके बाधको कहिये 'अव्यक्त' शब्द करके प्रधानके ग्रहणको न करके शरीरके ग्रहणके सूत्रकार दिखाते हैं:—

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

अर्थ—१ आनुमानिकम्, २ अपि, ३ एकेपाम्, ४ इति, ५ चेत्, ६ न, ७ शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः, ८ दर्शयति, ९ च । इस सूत्रमें नव पद हैं ।

शंका । किसी २ शाखामें प्रधानके प्रतिपादक जो शब्दाभास हैं तिनके बलसे प्रधानको वैदिक माननेवाले कपिलादिके मतमें 'कार्यतस्तदुपलब्धेः' 'अर्थात् महदादि कार्यकी उपलब्धिसे कारणरूप प्रधानकी अनुमिति होती है' इत्यादि कार्यलिङ्गक अनुमान करके सिद्ध जो प्रधान है सो प्रधान भी जगत्का कारण हो सकता है ?

समाधान । प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि जैसे 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च । बुद्धिं तु' इस वाक्यमें आत्मा तथा बुद्धिके मध्य स्थानमें शरीरको रथके सदृश करके कथन किया है । तैसे ही 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः' । इस वाक्यमें बुद्धि तथा पुरुषके मध्य स्थानमें अव्यक्तको कथन किया है । अतः प्रसिद्ध रथकी तरह रूपकालङ्कारकी रचनाके लिये विन्यस्त शरीरका ही 'अव्यक्त' शब्द करके ग्रहण करना चाहिये, प्रधानका नहीं । और जब प्रधानका ग्रहण नहीं हुवा तब प्रधान अवैदिक हुवा । अतः अवैदिक प्रधान जगत्का कारण नहीं हो सकता है । तथा इसी अर्थको 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि श्रुति भी दिखाती है इति ।

अब इस पादके आनुमानिकादि तीन अधिकरणोंकी 'ईक्षति' अधिकरणके साथ 'उपपाद्यउपपादकभाव' संगतिको दिखानेके लिये प्रथम अतीत ग्रन्थके अर्थको अनुवाद करके दिखाते हैं—तहां प्रथम पादके प्रथम सूत्रमें ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके 'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्र करके 'जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्मका लक्षण कहा, तदनन्तर इस लक्षणकी प्रधानादिकोंमें अतिव्याप्तिकी शंका

करके तिस शंकाका 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे प्रधानादिकोंको अप्रमाणिक कहकर परिहार किया है। और 'गतिसामान्यात्' इस सूत्र करके सम्पूर्ण वेदान्तोंमें चेतननिष्ठ कारणताऽवगतिकी समानता कही। और 'श्रुतत्वाच्च' इस सूत्रसे लेकर तृतीय पादकी समाप्ति पर्यन्त "सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्म कारणवादमें ही अवगतिकी समानता है; प्रधानादिकारणवादमें नहीं है" इस अर्थका भी विस्तारसे प्रतिपादन कर आये हैं इति ।

शंका । पुनः अब अवशिष्ट क्या है? जिसके लिये उत्तर ग्रन्थका आरम्भ करते हैं। जो सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—जब तक **'महतः परमव्यक्तम्'** इत्यादिक श्रुति स्मृतियोंका, कपिलादिकोंको जगत्कारणत्वेन अभिमत जो प्रधानादिक हैं तिनमें समन्वयका खण्डन न किया जावेगा; तब तक ब्रह्मलक्षणमें व्यभिचारकी शंका बनी रहेगी। अत उत्तर ग्रन्थका आरम्भ सफल है। सो कहना असङ्गत है। क्योंकि—'महतः परमव्यक्तम्' इत्यादिक जो वाक्य हैं सो प्रधाननिष्ठ जगत्के कारणत्वको नहीं कहते हैं; किन्तु प्रधानादिकोंके सद्भावमात्रको कहते हैं। तथा च प्रधानादिकोंके सद्भावमात्रसे ब्रह्मके लक्षणकी किञ्चित् मात्र भी हानि नहीं हो सकती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे उत्तर ग्रन्थका आरम्भ व्यर्थ है इति।

समाधान। यद्यपि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र करके ब्रह्मविषयक जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्मका जो "जगत्की उत्पत्तिस्थितिलयका कारणत्वरूप" लक्षण कहा है सो प्रधानादिकोंमें समान है? ऐसी आशंका करके तिस शंकाका 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे प्रधानादिकोंको अप्रामाणिक कहकर परिहार कर आये हैं। और जैसे सम्पूर्ण चक्षु एक रूपविषयक ज्ञानके हेतु हैं। तैसे 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिक सम्पूर्ण वेदान्तवाक्य जगत् कारण एक ब्रह्मविषयक ज्ञानके ही हेतु हैं। इस प्रकारसे "सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्मकारणवादमें ही अवगतिकी समानता है। प्रधानादि कारणवादमें नहीं है" इस अर्थका भी विस्तारसे 'गतिसामान्यात्' इत्यादि पूर्वग्रन्थ करके निरूपण कर आये हैं।

तथापि अभी यहां यह आशंका अवशेष है कि—"जो प्रधानमें अशब्दत्व को कहा है सो असिद्ध है; क्योंकि किसी किसी शाखामें प्रधाननिष्ठ कारणत्वके समर्पक आभासरूप शब्दोंका श्रवण होता है। अतः 'महान् परम ऋषि कपिलादिकोंने जो प्रधानमें जगत्का कारणत्व स्वीकार किया है सो वैदिक ही है" ऐसा निश्चय होता है। अतः जब तक प्रधानादिमें जगत्के कारणत्वके प्रतिपादक जो शब्द हैं तिन शब्दोंमें अन्य अर्थपरताको प्रतिपादन नहीं करेंगे। तब तक सर्वज्ञ ब्रह्ममें प्रतिपादित जो 'जगत्का कारणत्वरूप' लक्षण है सो व्याकुल होगा। अतः तिन शब्दोंमें अन्य अर्थपरत्वको दिखानेके लिये अग्रिम ग्रन्थसमूह प्रवृत्त होता है, अतः व्यर्थ नहीं है।

अर्थात्—'महतः परमव्यक्तम्' 'अजामेकाम्' इत्यादिक जो श्रुतिवाक्य हैं सो प्रधानके सद्भावमात्रको प्रतिपादन नहीं करते हैं। किन्तु प्रधानमें जगत्के कारणत्वको प्रतिपादन करते हैं। तहां 'महतः परम्' यहां जो 'पर' शब्द है सो 'अव्यवहित पूर्वकालवृत्तित्व' रूप कारणत्वको कहता है। तथा 'अजाम्' इत्यादिक जो श्रुति हैं सो प्रधानमें जगत्कारणत्वको अति स्पष्ट रूपसे विधान करती हैं। ऐसे निश्चयवाले जो कपिलादिक हैं तिनके मतसे ब्रह्मका लक्षण जो जगत्का कारणत्व है तिसका प्रधानमें व्यभिचार हुवा। तिस व्यभिचाररूप दोषकी निवृत्तिके लिये उत्तर ग्रन्थका आरम्भ सफल है व्यर्थ नहीं इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—**'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः'** (क० १।३।११)। इस मन्त्रमें स्थित जो 'अव्यक्त' पद है सो, इस सूत्रका **विषय** है।

सांख्य स्मृतिमें 'अव्यक्त' शब्द स्वतन्त्र प्रधानका वाचक प्रसिद्ध है। और **'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु'** इस प्रकृत श्रुतिसे **'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः'** इस श्रुतिमें बुद्धि और आत्माके मध्यवर्ति होनेसे 'अव्यक्त' पदसे शरीर प्रतीत होता है। अतः यहां "अव्यक्त पद प्रधान परक है अथवा शरीर परक है" ऐसा **संशय** होता है।

अब "पूर्व बृहदारण्यकके षष्ठाध्यायको जैसे अप्रसिद्ध ब्रह्मपरता दिखाई है। तैसे ही यहां भी अव्यक्त पदको अप्रसिद्ध प्रधानपरता ही माननी चाहिये" इस प्रकार वादी पूर्वपक्षको दिखाता है—

अथ **पूर्वपक्ष**। **'आनुमानिकम्'**इत्यादि भा०। अर्थात्-'कायतस्तदुपलब्धेः' इत्यादि अनुमान करके निरूपित जो प्रधान है सो भी किसी २ शाखावालोंको वेद करके प्रतिपाद्य प्रतीत होता है-तहां कठ श्रुतिः—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः' इति। यहां सांख्यवादी कहता है कि—सांख्यीयस्मृतिमें जो महत् तथा अव्यक्त तथा पुरुष जिस नामवाले तथा जिस क्रमवाले प्रसिद्ध हैं सोई महत् और अव्यक्त और पुरुष इस कठ श्रुतिमें प्रत्यभिज्ञाके विषय हैं अतः यहां 'महतः परम्' इत्यादि श्रुतिमें 'अव्यक्त' पदसे सांख्य स्मृतिमें प्रसिद्ध प्रधानका ही कथन है। क्योंकि **"सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्"** इत्यादि सांख्य स्मृतिमें 'अव्यक्त' पद प्रधानमें ही रूढ़ है।

तथा शब्दादिकों करके रहित होनेसे 'न व्यक्तं अव्यक्तम्' इस व्युत्पत्तिका भी सम्भव हो सकता है। अतः प्रधानको वैदिक शब्द प्रमाणवाला होनेसे अशब्दत्व नहीं बन सकता है। तथाच पूर्वोक्त श्रुति करके, तथा सांख्यीय स्मृति करके, तथा **'यद्रूपं तज्जड़प्रकृतिकम्'** 'जो परिच्छिन्न होता है सो जड़ प्रकृति-

वाला होता है' इस युक्ति करके पूर्वोक्त स्वतन्त्र प्रधान ही जगत्का कारण है यह सिद्ध हुवा इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। इस पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि— **'नैतदेवम्'** इत्यादि भा०। अर्थात् सांख्य स्मृति करके प्रसिद्ध जो महत् और अव्यक्त हैं तिनके केवल सद्भावको कहनेवाला **'महतः परमव्यक्तम्'** यह काठक वाक्य नहीं है। क्योंकि जैसा त्रिगुणात्मक जगत्का स्वतन्त्र कारण प्रधान स्मृतिमें प्रसिद्ध है तैसे प्रधानकी यहां पूर्वोक्त श्रुतिमें प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। किन्तु केवल अव्यक्त शब्दमात्रकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है।

शंका 'अव्यक्त' शब्दकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे अर्थकी प्रत्यभिज्ञा भी अवश्य माननी चाहिये।

समाधान। अर्थकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है; क्योंकि यौगिक शब्दसे नियामकके विना अर्थविशेषका बोध नहीं हो सकता है। और 'अव्यक्त' शब्दको 'न व्यक्तम् अव्यक्तम्' इस व्युत्पत्ति करके यौगिक होनेसे प्रधानसे भिन्न सूक्ष्म तथा दुर्लक्ष्य वस्तुमें भी प्रयोगकर सकते हैं। अतः 'अव्यक्त' शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है।

शंका। 'अव्यक्त' शब्द प्रधानमें रूढ़ है। अतः रूढ़िवृत्ति करके प्रधानका बोध हो सकता है।

समाधान। 'लौकिकी रूढि है' अथवा 'स्मार्त रूढि है'? तहां "प्रसिद्ध जो लौकिकी रूढि है सो ही वैदिक अर्थके निर्णयका हेतु है" यह वार्ता शास्त्रमें प्रसिद्ध है— **'य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चैषामर्थाः'**।

अर्थ—जैसे प्रसिद्ध रूढिवाले जो गवादिक लौकिक शब्द हैं, सोई वैदिक शब्द हैं। और जो लौकिक गवादिक शब्दोंके अर्थ सास्नादिवाले गवादिक व्यक्ति हैं, सोई वैदिक गवादिक शब्दोंके अर्थ हैं इति। और लोकमें जैसे गवादिक शब्द गवादिक व्यक्तिमें रूढ हैं तैसे 'अव्यक्त' शब्द किसीमें भी रूढ नहीं हैं" इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं—**'न चायं कस्मिंश्चिद्रूढः'** इति भा०। अर्थ—यह 'अव्यक्त' शब्द लोकमें किसी अर्थमें भी रूढ नहीं है इति।

तथा द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि जो प्रधानवादियोंकी रूढि है सो तिनोंकी ही सङ्केतरूप परिभाषा है। ऐसी पौरुषेयी परिभाषा अनादि वैदिक अर्थके निरूपणमें कारणभावको नहीं प्राप्त हो सकती है। अतः 'अव्यक्त' शब्दकी रूढिवृत्तिसे प्रधानकी प्रतीति नहीं हो सकती है। और योग-वृत्ति तो जैसे प्रधानमें है तैसे प्रधानसे भिन्नमें भी तुल्य है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'अव्यक्त' श्रुतिको अन्यथासिद्ध होनेसे 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें जो

'अव्यक्त' शब्द है सो शरीरगोचर ही है। और जिस प्रकार अव्यक्त शब्दको शरीरगोचरत्व बन सकता है तिस प्रकारको आगे दिखावेगें।

शंका। 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें स्मार्त क्रमकी प्रत्यभिज्ञा करके क्रमिक महदादि अर्थ भी स्मार्त ही होना चाहिये?

समाधान। जहां पूर्व क्रम विषयीभूत अर्थके स्थानमें विरुद्ध अर्थकी प्रत्यभिज्ञा होती है। तहां क्रममात्रकी समानतासे समान अर्थ विषयक ज्ञान नहीं होता है। जैसे अश्वके स्थानमें अश्वसे विरुद्ध गौको देखता हुवा बुद्धिमान् पुरुष 'यह अश्व है' ऐसा निश्चय नहीं करता है। तैसे श्रुतिस्थ क्रममें 'अव्यक्त' शब्दको देख करके स्मार्त प्रधानरूप अर्थसे विरुद्ध शरीररूप अर्थको जानता हुवा बुद्धिमान् पुरुष प्रधानविषयक ज्ञानको नहीं प्राप्त होता है।

शंका। प्रसङ्गमें विरुद्ध अर्थका ज्ञान ही नहीं होता है?

समाधान। प्रकरण करके प्रधानसे विरुद्ध शरीरज्ञानको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'प्रकरण'** इत्यादि भा०। अर्थ—प्रकरणके विचार करनेसे 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें सांख्यवादी करके कल्पित प्रधानकी प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि 'शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः' अर्थात् प्रकरणके अनुसार—**'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।'** इत्यादि श्रुतिमें स्थित रथरूपक कल्पनामें विन्यस्त (प्रक्षिप्त) जो शरीर है; सो ही 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें अव्यक्त शब्द करके गृहीत होता है। अतः अव्यक्त पद करके शरीरका ही ग्रहण होता है इति।

शंका। 'महतः परमव्यक्तम्' इस मन्त्रमें 'अव्यक्त शब्दसे शरीरका ही ग्रहण होता है' इसमें क्या नियामक हैं?

समाधान। **'प्रकरणात्परिशेषाच्च'** इति भा०। अर्थात् प्रकरण और परिशेष नियामक है। अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं—अतीत अनन्तर ग्रन्थसे आत्मा तथा शरीरादिकोंमें रथी तथा रथादिकरूपक क्लृप्तिको अर्थात् रथादि सादृश्य कल्पनाको धर्मराज दिखाते हैं—**'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥'** (क० १।३।३।४) अर्थ—धर्मराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—हे नचिकेतः! इस जीवात्माको तू रथी जान। तथा इस जीवके भोग और मोक्षका साधन जो यह शरीर है इस शरीरको रथ जान। तथा बुद्धिको सारथी जान। तथा मनको 'प्रग्रह' कहिये अश्वोंकी रशना जान। और रथ रूपक कल्पनामें कुशल जो पुरुष हैं सो इन्द्रियोंको अश्व कहते हैं। और शब्द स्पर्शरूप रसादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अश्वोंके विचरनेके मार्गरूपसे वर्णन करते हैं। अर्थात् जैसे अश्व अपने २ मार्गको अवलम्बन करके चलते हैं तैसे इन्द्रियरूप अश्व भी अपने २ विषयरूप

मार्गको अवलम्बन करके चलते हैं । प्रश्न—स्वतः चैतन्यरूप आत्मामें भोगका सम्भव होनेसे शरीरादिरूप रथादिकोंका क्या प्रयोजन है ? उत्तर—देह इन्द्रिय मनादि कल्पना करके युक्त आत्माको ही पण्डित लोग भोक्ता कहते हैं स्वतः नहीं । क्योंकि आत्मा स्वतः असङ्ग है इति ।

अर्थात् जैसे लोकमें किसी पुरुषका रथ होता है; तहां जिस पुरुषके रथका सारथी विवेकहीन होता है; और घोड़े कुमार्गगामी होते हैं; और अश्व और अश्वोंकी रशनाको सारथी अपने वशमें नहीं रख सकता है; तिस रथी पुरुषको सो सारथी ठीक अभिलषित स्थानमें नहीं पहुंचा सकता है । किन्तु सारथी आदिके अव्यवस्थित होनेसे इस रथमें स्थित रथीका जीवन संकटमय हो जाता है ।

और जिस रथी पुरुषका सारथी विवेकी होता है और अश्व और अश्वोंकी रशनाको वशमें रख सकता है । तिस रथी पुरुषको सो विवेकी सारथी ठीक अभिलषित स्थानमें पहुंचा सकता है ।

तैसे ही जिस पुरुषका बुद्धिरूपी सारथी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें विवेकहीन होता है । और इन्द्रियरूप अश्व कुमार्गगामी होते हैं । और इन्द्रियरूप अश्वोंको और अश्वोंकी रशनारूप मनको जो सारथी अपने वशमें नहीं रख सकता है । तिस रथी पुरुषको सो विवेकहीन सारथी वैष्णवपदको नहीं प्राप्त करा सकता है । किन्तु बुद्धि आदिके अव्यवस्थित होनेसे इस रथी जीवका जीवन संकटमय हो जाता है । पुनः पुनः जन्ममरणरूप संसारको ही प्राप्त होता है ।

और जिस रथी पुरुषका बुद्धिरूपी सारथी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें विवेकी होता है । और इन्द्रियरूप अश्वोंको और अश्वोंकी लगामरूप मनको वशमें रख सकता है । तिस रथी पुरुषको सो विवेकी सारथी संसार अध्वके पार तिस वैष्णवपदको प्राप्त करा सकता है जिस विष्णुके पदको प्राप्त होकर यह जीव पुनः २ जन्ममरणरूप संसारको नहीं प्राप्त होता है ।

इस प्रकार शरीरादिकोंमें रथादि रूपकको कल्पना करके संसारगति और संसार अध्वके पार विष्णुके पदको दिखानेके अनन्तर "संसारअध्वके पार सो विष्णुका परम पद क्या है" ऐसी नचिकेताकी आकांक्षाके हुये पूर्वोक्त प्रकृत जो इन्द्रियादिक हैं तिनोंसे ही पररूप करके संसारमार्गका पार पर ब्रह्मरूप विष्णुके परम पदको धर्मराज स्पष्ट करके दिखाते हैं– 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ (१।३।१०,११) अर्थ—इन्द्रियोंसे विषयरूप अर्थ पर (श्रेष्ठ) हैं । अर्थोंसे मन पर है । मनसे बुद्धि पर है । और बुद्धिसे महानात्मा जीव पर है । जीवसे अव्यक्त पर है । अव्यक्तसे पुरुष पर है । और पुरुषसे परे कुछ नहीं है । पुरुष ही सर्वकी काष्ठा अवधि और परा गति है इति.। तथा च इस मन्त्रमें परिशेषसे अव्यक्त शब्द करके शरीरका ही ग्रहण प्राप्त है ।

शंका । यद्यपि प्रसङ्गमें परिशेषसे शरीर प्राप्त है, तथापि सांख्य स्मृतिके बलसे 'महतः परमव्यक्तम्' इस मन्त्रमें जो 'अव्यक्त' शब्द है तिस करके प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये।

समाधान । 'तत्र य एव' इत्यादि भा०। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि मन्त्रसे जो पूर्व रथरूपककी कल्पनामें इन्द्रियादिक अश्वादि भाव करके प्रकृत हैं। तिन इन्द्रियादिकोंका ही 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि मन्त्रमें ग्रहण है। यदि प्रकृत इन्द्रियादिकोंका ग्रहण न करेंगे तो प्रकृतकी हानि और अप्रकृतकी कल्पनारूप दोष होगा। अतः इस दोषपरिहारके लिये अव्यक्त शब्द करके प्रकृत शरीरका ही ग्रहण करना चाहिये, और अप्रकृत प्रधानका ग्रहण नहीं करना चाहिये।

इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रकरणको शोधन करके अब शरीरमें परिशेषताको दिखाते हैं—'तत्र' इत्यादि भा०। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि पूर्व मन्त्रमें और 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि इस उत्तर मन्त्रमें इन्द्रिय मन व बुद्धि यह शब्द तो समान ही हैं। और पूर्व मन्त्रमें 'विषय' शब्द है। और इस मन्त्रमें 'अर्थ' शब्द है। इस प्रकार शब्दोंका भेद है अर्थका नहीं। क्योंकि पूर्व मन्त्रमें भी इन्द्रियरूप अश्वोंके गोचरत्वरूप करके अर्थ स्वरूप शब्दादिक ही 'विषय' शब्दसे निर्दिष्ट हैं।

शंका । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इस वाक्यमें जो इन्द्रियोंसे अर्थोंको पर कहा है सो असङ्गत है। क्योंकि इन्द्रियोंको ही स्थूल शब्दादि विषयोंकी अपेक्षासे आन्तरता व सूक्ष्मता प्रसिद्ध है?

समाधान । यहां आन्तर व सूक्ष्म 'पर' शब्दका अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु 'पर' शब्दसे प्रधानता विवक्षित है।

शंका । विषयोंमें इन्द्रियोंसे प्रधानता भी किस तरह हो सकती है क्योंकि लोकमें रूपादिकी अपेक्षासे नेत्रादिकोंमें ही प्रधानता प्रसिद्ध है?

समाधान । श्रुतिमें घ्राण, जिह्वा, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त, त्वक्, इन आठ इन्द्रियोंको ग्रह कहा है। क्योंकि पुरुषपशुको ये इन्द्रिय अपने वशमें करती हैं; इसलिये इन इन्द्रियोंका नाम ग्रह है। अर्थात् नदीनिमग्न पुरुषको जैसे कदाचित् ग्राह अपने वशमें कर लेता है। तैसे ही संसारनदीनिमग्न पुरुषको इन्द्रिय वशमें करती हैं। अतः इन्द्रियोंका नाम ग्रह है। परन्तु ये इन्द्रिय भी गन्ध, रस, नाम, रूप, शब्द, काम, कर्म, स्पर्शादि विषय सम्बन्धके विना स्वतः इस पुरुषपशुको अपने वशमें नहीं कर सकती हैं। अतः इन गन्धादिक आठोंको श्रुतिमें अतिग्रह कहा है। क्योंकि पुरुषपशुको वशमें करनेवाली जो इन्द्रिय हैं तिन

इन्द्रियोंको भी वश करनेवाले गन्धादिक विषय हैं। अतः श्रुतिप्रसिद्धिसे गन्धादिक अर्थ इन्द्रियोंसे प्रधान हैं।

शंका। यदि घ्राणादि ग्रहोंसे गन्धादि अतिग्रह श्रेष्ठ हैं तो मनरूप ग्रहको अतिग्रहरूप अर्थोंसे पर कहना विरुद्ध है।

समाधान। यद्यपि ग्रहपना मन और इन्द्रियोंमें तुल्य है। तथापि मन गन्धादि अर्थोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि विषयोंका और इन्द्रियोंका सम्पूर्ण व्यवहार मनके अधीन है। और मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है क्योंकि मनका व्यापार बुद्धिके अधीन है; और बुद्धिको आश्रयण करके ही भोग्यसमूह भोक्ताको प्राप्त होता है। और बुद्धिसे श्रेष्ठ महान् आत्मा है। यही आत्मा 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस मन्त्रमें रथीरूप करके कहा है। क्योंकि श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। तथा भोगकी सामग्रीरूप बुद्धि आदिकसे भोक्तामें परत्वकी उपपत्ति भी बन सकती है। और भोक्ताको बुद्धिका स्वामी होनेसे महान् कहना भी बन सकता है।

शंका। जब 'महत्' शब्द आत्माका वाचक हुवा तब 'महतः परमव्यक्तम्' ऐसा नहीं कहना चाहिये, किन्तु 'आत्मनः परमव्यक्तम्' ऐसा कहना चाहिये। और चिद्रूप जीवात्मासे जड़ अव्यक्त श्रेष्ठ भी नहीं हो सकता है।

समाधान। अथवा—'बुद्धेरात्मा महान् परः' इस वाक्यमें प्रथम शरीरी हिरण्यगर्भकी जो समष्टि बुद्धि है सो ही 'महान्' शब्दसे और 'आत्मा' शब्दसे विवक्षित है। क्योंकि सो समष्टि बुद्धि सम्पूर्ण व्यष्टि बुद्धियोंकी परा प्रतिष्ठा है। और '**मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः। प्रज्ञा संविच्चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते॥**' अर्थ—संकल्पविकल्परूप मननशक्ति करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिका नाम मन हैं। तथा व्यष्टि मनोंमें समष्टिरूप करके व्याप्त होनेसे महान् नाम है। तथा संकल्प विकल्परूप शक्ति करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें संदेहात्मत्वकी प्राप्ति होती है तिसकी निवृत्तिके लिये मति कहा। तथा महत्त्ववाली होनेसे ब्रह्मा नाम है। तथा भोग्य समूहका आश्रय होनेसे पूर्नाम है। तथा निश्चयात्मक होनेसे बुद्धि नाम है। तथा कीर्ति शक्तिवाली होनेसे ख्याति नाम है। तथा नियमन शक्तिवाली होनेसे ईश्वर नाम है। तथा लोकमें सर्वोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रज्ञा नाम है। तथा पदार्थोंकी अभिव्यञ्जक होनेसे संवित् नाम है। तथा चैतन्यप्रधान होनेसे चिति नाम है। तथा ज्ञात सर्व अर्थका अनुसंधान शक्तिवाली होनेसे स्मृति नाम है। और 'परिपठ्यते' यह जो पद है सो सर्वत्र विद्वानोंमें प्रसिद्धिका बोधक है इति। यह स्मृति हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें प्रमाण है।

किञ्च ईश्वरके अनुग्रहके बलसे हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें वेदके आविर्भावको कहनेवाली श्रुति भी हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें प्रमाण है। तहां श्रुतिः—'**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये** (श्वे०-६।८) अर्थ—जो परमात्मा सृष्टिके आदि कालमें हिरण्यगर्भको

उत्पन्न करता है। तथा जो परमात्मा तिस हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें वेदोंका आविर्भाव करता है। और जो इस अपने बुद्धि मन आदिक संघातका प्रकाश स्वरूप है। तिस देवकी मैं मुमुक्षु शरण हूं इति।

शंका। जैसे पूर्व प्रकरणमें अनुक्त अथवा अप्रकृत हिरण्यगर्भकी बुद्धिको 'आत्मा महान् परः' इस वचन करके कथन करते हो तैसे 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि पूर्व मन्त्रमें अनुक्त तथा अप्रकृत प्रधानको भी अव्यक्त शब्द करके कहना चाहिये?

समाधान। 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्रमें जो बुद्धिका ग्रहण है तिस बुद्धि करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिका भी ग्रहण है। अतः हिरण्यगर्भकी बुद्धि अप्रकृत नहीं है। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्रमें व्यष्टिबुद्धिके साथ अभेद करके समष्टिबुद्धिका प्रतिपादन किया है। और इस मन्त्रमें 'बुद्धेरात्मा महान् परः' इस वचन करके हिरण्यगर्भकी बुद्धिमें परत्वको दिखानेके लिये व्यष्टिबुद्धिसे भिन्न करके समष्टिबुद्धिका पृथक् प्रतिपादन किया है। क्योंकि हम लोगोंकी बुद्धियोंकी अपेक्षासे तिस हिरण्यगर्भकी समष्टिबुद्धिमें परत्वकी उपपत्ति हो सकती है। अतः अप्रकृत प्रधानका ग्रहण 'अव्यक्त' शब्दसे नहीं हो सकता है।

शंका। इस पक्षमें 'महानात्मा' इस श्रुतिसे यदि समष्टिबुद्धिका ही ग्रहण है। तो 'आत्मानं रथिनम्' इस पूर्वमन्त्रसे प्रकृत जो रथी भोक्ता आत्मा है तिसका ग्रहण भी यहां नहीं हुवा। तथाच रथीका जैसे 'इन्द्रियेभ्यः पराः' इत्यादि मन्त्रमें कथन नहीं किया है। तैसे रथका भी कथन नहीं किया है। अतः रथी तथा रथ ये दोनों अवशिष्ट रहे?

समाधान। ऐसी शंकाके हुये भाष्यकार कहते हैं—**एतस्मिंस्तु पक्षे'** इत्यादि भा०। अर्थात् 'अथवा' इस पक्षमें अन्तिम परमात्मारूप पर पुरुषका ग्रहण करके ही रथीरूप आत्माका ग्रहण जाननेको योग्य है। क्योंकि जैसे समारोपित जो प्रतिबिम्ब है सो परमार्थ करके बिम्बसे भिन्न नहीं है। तैसे ही परमात्मासे भिन्न विज्ञानात्मा भी नहीं है। अर्थात् परमार्थसे परमात्मा तथा आत्माका अभेद होनेसे पर पुरुषको ही इस मन्त्रमें रथीरूप करके कथन किया है। सो इस पूर्वोक्त रीतिसे इस पक्षमें भी एक शरीर ही परिशिष्ट रहता है।

और अब प्रकरण तथा परिशेष करके प्रतिपाद्य जो एक शरीररूप रथ अवशिष्ट है तिसको 'अव्यक्त' शब्द करके दिखाते हैं—**'आत्मानं रथिनं विद्धि'** इस पूर्व मन्त्र करके रथरूपक कल्पनामें दिखाये हुये आत्मादिकोंके मध्यमें शरीरसे भिन्न जो इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि और रथी प्रकृत हैं। तिनको ही विष्णुके परम पदको सर्व श्रेष्ठ रूपसे स्पष्ट दिखानेकी इच्छा करके 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इस उत्तर मन्त्रमें अनुक्रमसे ग्रहण करती हुई यह कठ श्रुति "परिशिष्ट अन्तिम अव्यक्त शब्द करके परिशिष्ट जो प्रकृत शरीररूप रथ है तिसको ही दिखाती है" यह निश्चय होता है।

शंका। यहां शरीरादिकोंमें रथादिरूपक कल्पनाका प्रयोजन क्या विवक्षित है?

समाधान। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय तथा सुख दुःखका अनुभवरूप वेदना करके संयुक्त जो अविद्यावाला भोक्ता है तिसकी, शरीरादिकोंमें रथादिरूपककी कल्पना करके जो संसारगति तथा मोक्षगतिका निरूपण है; इस करके यहां प्रसङ्गमें प्रत्यग् आत्मारूप जीवकी ब्रह्मरूप करके जो अवगति (साक्षात्कार) है सोई प्रयोजनरूप करके विवक्षित है।

और जीवमें जो ब्रह्मत्व है, सो आगमसे भिन्न मानान्तर करके सिद्ध नहीं है, किन्तु आगम करके ही सिद्ध है। अतः आगमको धर्मराज दिखाते हैं— **'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥' (क० १।३।१२)** अर्थ—सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित जो यह आत्मा है सो गूढ़ है अर्थात् अविद्या करके आच्छादित है। अतः प्रकाशित नहीं होता है अर्थात् जाननेमें नहीं आता है। **प्रश्न**—जब आत्माका प्रकाश नहीं हुवा तब आत्मा अप्रकाश स्वभाववाला हुवा? **उत्तर**—श्रवणादिकोंके परिपाकसे जन्य जो 'ब्रह्मैवाहमस्मि' यह बुद्धि है तिसका नाम 'अग्र्या' है तथा सूक्ष्म (दुर्लक्ष) ब्रह्मविषयक होनेसे 'सूक्ष्मा' है। ऐसी अग्र्य सूक्ष्म बुद्धिसे सूक्ष्मदर्शी पुरुष करके देखनेमें आता है। अर्थात् सूक्ष्म ब्रह्मनिष्ठ पुरुषको ही पूर्वोक्त बुद्धि करके आत्माका दर्शन होता है। बहिर्मुख पुरुषको नहीं इति।

इस श्रुतिसे विष्णुके परम पदमें दुर्गमत्वको कह करके अब इस विष्णुके परम पदके निश्चयके लिये अनन्तर मन्त्र करके योगको धर्मराज दिखाते हैं— **यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥** यह मन्त्र ब्रह्माभिन्न आत्मविषयक साक्षात्कारके साधन योगको विधान करता है। अर्थ—इस मन्त्रसे यह अर्थ उक्त होता है— प्राज्ञ जो विवेकी पुरुष है सो वाणीको मनमें निरोध करे अर्थात् वागादिक बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारको त्याग करके मनोमात्र करके स्थित होवे। और विषयवासनायुक्त बहिर्मुख मनमें भी संकल्पादिकोंका सम्भव होनेसे एकरस ब्रह्मात्माका ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः मनमें संकल्पादिकरूप दोषदृष्टि करके श्रुतिमें ज्ञान शब्द करके कथित निश्चयात्मक बुद्धिमें मनको धारण करे। अर्थात् सम्पूर्ण संकल्प विकल्पोंको त्यागकर निश्चयरूप बुद्धिमात्र करके स्थित होवे। और बुद्धिकी भी विषयमें प्रवृत्तिके हुये ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है अतः तिस बुद्धिको भी विषयोंसे विमुख करके भोक्तारूप महान् आत्मामें निरोध करे। अथवा विवेकाभ्याससे व्यष्टि बुद्धिको सूक्ष्म करके समष्टि बुद्धिमें विलय करे। अर्थात् समष्टि बुद्धिमात्ररूप करके स्थित होवे। और महान् आत्माको ब्रह्मसे पृथक् अवस्थित हुये ऐक्यज्ञान नहीं बन सकता है, अतः भोक्तारूप महानात्माको शान्त आत्मामें कहिये अविद्यादि प्रपञ्चरूप उपद्रव शून्य प्रकरण करके प्रतिपाद्य जो पूर्ण तथा सर्वोत्कृष्ट परत्वकी अवधिरूप तथा परा गतिरूप स्वयं ज्योतिः स्वरूप पुरुष है तिस पर पुरुषमें स्थापन करे। अर्थात् 'यह प्राज्ञरूप परात्मा मैं हूँ' इस प्रकार अभेदरूप करके स्थित होवे इति। सो इस पूर्वोक्त रीतिसे पूर्व तथा अपर

वाक्योंकी आलोचनाके करनेसे प्रसङ्गमें "सांख्यवादी करके कल्पितप्रधानका अवकाश नहीं है" यह सिद्ध हुवा इति ॥ १ ॥

अब देहमें अव्यक्त शब्दकी प्रवृत्तियोग्यत्वको सूत्रकार दिखाते हैं—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

अर्थ—१ सूक्ष्मम्, २ तु, ३ तदर्हत्वात् । इस सूत्रमें तीन पद हैं । प्रसङ्गमें 'महतः परमव्यक्तम्' इस वाक्यमें अव्यक्त शब्दसे जगत्की बीज अवस्थारूप 'सूक्ष्म' कारण शरीर ही विवक्षित है, क्योंकि सूक्ष्म वस्तुमें ही अव्यक्त शब्दकी योग्यता है इति । अब इस सूत्रके अभिप्रायको वर्णन करते हैं—'उक्तम्' इत्यादि भा० । अर्थात् पूर्व सूत्रमें प्रकरण तथा परिशेष करके "अव्यक्त शब्दका अर्थ शरीर है प्रधान नहीं" ऐसा कह आये हैं । अब इस अर्थमें शंका को दिखाते हैं—

शंका । शरीरके बोधनमें अव्यक्त शब्दकी योग्यता कैसे है ? क्योंकि यह शरीर स्थूल होनेसे नेत्रादि करके अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है, और जो अस्पष्ट वस्तु होतो है सो ही अव्यक्त शब्दकी वाच्य होती है ।

समाधान । **'शरीरं रथमेव तु'** इस श्रुतिमें शरीर शब्दसे सूक्ष्म (कारण) शरीर विवक्षित है । क्योंकि अति सूक्ष्म (कारण) शरीर ही अव्यक्त शब्दके योग्य है । यद्यपि यह जो स्थूल शरीर है सो स्वयं अव्यक्त शब्दका वाच्य नहीं हो सकता है । तथापि स्थूल शरीके आरम्भक जो भूत सूक्ष्म हैं सो अव्यक्त शब्दके योग्य हैं । अतः शरीरको भी अव्यक्त कह सकते हैं ।

और **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋ० सं०) । अर्थ—गौका विकार जो दुग्ध है तिस करके सोमको मिश्रित करे इति । यहां जैसे गौरूप प्रकृतिका वाचक जो 'गो' शब्द है तिसका गौका विकार दुग्धमें प्रयोग देखनेमें आता है । तैसे ही प्रकृतिका और विकारका अभेद होनेसे प्रकृतिका वाचक जो 'अव्यक्त' शब्द है तिसका शरीररूप विकारमें प्रयोग बन सकता है । तहां श्रुतिः **'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्'** अर्थ—सृष्टिसे पूर्वकालमें सो यह सम्पूर्ण जगत् अव्याकृत स्वरूप ही था । अर्थात् यह जो परोक्ष व अपरोक्ष व्याकृत भिन्न भिन्न नामरूप जगत् है सो सृष्टिसे पूर्वकालमें व्याकृत नामरूपको परित्याग करके बीज शक्ति अवस्था (संस्कार) रूपको प्राप्त होता भया इति । यह श्रुति "शरीर अव्यक्त शब्दके योग्य है" इस अर्थको दिखाती है । इस पूर्वोक्त रीतिसे स्थूल शरीर भी अव्यक्त शब्दके योग्य है यह सिद्ध हुवा इति ॥ २ ॥

'तद्धेदम्' इस उक्त श्रुति करके प्रधानकी भी सिद्धि हो सकती है । अतः 'अव्यक्त' शब्द करके प्रधानका ही स्वीकार करना चाहिये, कारण

शरीररूप मायाका स्वीकार निष्फल है? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधानको दिखाते हैं:—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—१ तदधीनत्वात्, २ अर्थवत्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'तद्धेदम्' इत्यादि श्रुतिमें स्थित 'अव्याकृत' शब्द करके और 'अव्यक्त' शब्द करके मायाका ही स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्त अव्यक्तरूप माया परमात्माके अधीन होनेसे अर्थवाली है। अर्थात् माया ब्रह्ममें जगत् स्रष्टृत्वकी सिद्धिकी सहकारी कारण है। अतः सार्थक है। और स्वतन्त्र प्रधानका स्वीकार निष्फल है इति।

अब 'अत्राह' इत्यादि भाष्यसे अपसिद्धान्तकी शंकाका उत्तररूप करके सूत्रके व्याख्यानको दिखाते हैं—

शंका। यदि इस जगत्की जो अनभिव्यक्त नामरूपवाली बीजात्मक प्रागवस्था है तिसमें अव्यक्त शब्दकी योग्यता स्वीकार करी जावे; और कारण-रूपसे ही शरीरमें भी अव्यक्त शब्दकी योग्यताकी प्रतिज्ञा करी जावे। तो इस प्रकार माननेसे; वही सांख्य परिकल्पित प्रधानकारणवाद प्राप्त होवेगा। क्योंकि सांख्यवादी भी इस जगत्की प्रागवस्थाको ही प्रधानरूपसे स्वीकार करते हैं।

यह जो सुखदुःखमोहात्मक जगत् है सो सुखदुःखमोहात्मक कारणसे ही उत्पन्न होनेको योग्य है। क्योंकि कारणरूप ही कार्य होता है। जो सुखात्मकता है यही सत्त्व है। जो दुःखात्मकता है यही रज है। और जो मोहात्मकता है यही तम है। सत्त्वरजतमकी कारण अवस्थाका नाम ही प्रधान है। यह सांख्यका मत है।

समाधान। जगत्की कारण अवस्थारूप मायाके स्वीकारसे प्रधान कारणवादकी आपत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि माया वेदान्तसिद्धान्तमें अनित्य है। अनिर्वचनीय व मिथ्या है। और परतन्त्र है। और सांख्यवादमें प्रधान नित्य है। निर्वचनीय व सत्य है। और स्वतन्त्र है।

तथा च यदि हम किसी स्वतन्त्र प्रागवस्थाको जगत्की कारण मानें तो प्रधानकारणवादकी प्रसक्ति हमारे मतमें आवे। सो जगत्की कोई भी नामरूपात्मक प्रागवस्था वेदान्तसिद्धान्तमें स्वतन्त्र है नहीं। किन्तु इस जगत्की प्रागवस्था-रूप मायाको हम परमेश्वरके अधीन मानते हैं स्वतन्त्र नहीं।

शंका। परमेश्वरसे ही जगत्की रचना बन जावेगी, पुनः मायाकी क्या जरूरत है अर्थात् माया निरर्थक है?

समाधान। माया अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। क्योंकि प्राग-वस्थारूप मायाशक्तिके विना केवल निर्गुण निष्क्रिय पुरुषमें सृष्टि सिद्ध नहीं हो सकती है। शक्तिरहित निष्कल निष्क्रिय पुरुषरूप परमेश्वरकी प्रवृत्ति नहीं बन

सकती है। क्योंकि शक्तिरहित पुरुषकी प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती है। अतः अविद्याशक्ति सार्थक है।

अब "बन्धमोक्षकी व्यवस्थाके लिये भी बीजशक्तिरूप अविद्याको अवश्य मानना चाहिये" इस अर्थको दिखाते हैं– तहां—

शंका। यदि ब्रह्ममें स्थित जो अविद्या है तिस करके जगत् उत्पन्न होता है ऐसा कहोगे तो मुक्त पुरुषोंकी पुनः उत्पत्तिका प्रसङ्ग होगा। क्योंकि बद्धमुक्त साधारण सत्य प्रधानकी तरह परमेश्वरकी शक्तिरूप अविद्या सदा विद्यमान ही रहेगी। और यदि अविद्याका विद्या करके नाश मानोगे तो मूलाविद्याका नाश होनेसे समस्त संसारका उच्छेद हो जावेगा इति।

समाधान। मुक्त पुरुषोंके बन्धकी पुनः उत्पत्ति नहीं बन सकती है। क्योंकि विद्या करके बीजशक्तिरूप अविद्या नष्ट हो गई है इति। यहां यह अभिप्राय है कि—हम प्रधानकी तरह सर्व जीवोंमें एक ही अविद्या नहीं मानते हैं। किन्तु जीव जीवके प्रति अविद्याका भेद मानते हैं। अतः जिस २ जीवमें विद्या उत्पन्न होती है; तिस २ जीवकी अविद्या निवृत्त हो जाती है; जीवान्तरकी नहीं। क्योंकि व्यधिकरण विद्या तथा अविद्याका परस्पर विरोध नहीं है। यदि हम एक ही अविद्या मानें तो सम्पूर्ण संसारके उच्छेदका प्रसङ्गरूप दोष होवे। और यह दोष प्रधानवादीके मतमें तो अवश्य प्राप्त होता है। क्योंकि प्रधानवादी प्रधानको एक मानता है; जब एक प्रधानका नाश होगा तब सर्व संसारका उच्छेद हो जावेगा। यदि विद्यासे प्रधानका नाश नहीं मानोगे तो प्रधानको विद्यमान होनेसे तुम्हारे मतमें अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। अर्थात् किसीका भी मोक्ष नहीं हो सकेगा। और यदि तुम ऐसा कहो कि—प्रधानको एक हुये भी अविवेक ख्यातिरूप अविद्याके सत्त्व हुये जीवको बन्ध है। तथा विवेक ख्यातिरूप विद्या करके अविवेक ख्यातिरूप अविद्याकी निवृत्ति होनेसे मोक्ष है। तो अविद्याके सत्त्व तथा असत्त्व करके ही बन्धमोक्षकी उपपत्ति हो गई। पुनः प्रधानका स्वीकार करना व्यर्थ है इति। और यहां ऐसा जानना चाहिये कि— यद्यपि अविद्या नाना है, तथापि अविद्यात्वरूप करके 'अविद्या एक है' ऐसा व्यवहार होता है। अतः 'अव्यक्तम्' 'अव्याकृतम्' 'तरन्त्यविद्याम्' 'मायां तु' इत्यादिक श्रुतिमें एक वचन कहा है।

शंका। पूर्वोक्त रीतिसे जब अविद्या ही जगत्का कारण है, तब ब्रह्मरूप ईश्वरका स्वीकार करना व्यर्थ है।

समाधान। अचेतन जो अविद्या है सो चेतनरूप अधिष्ठानसे विना प्रपञ्च विभ्रमरूप कार्य करनेको असमर्थ है। क्योंकि रज्जु आदिकी अविद्याको अधिष्ठान-रूप रज्जु आदिके विना सर्पादि विभ्रमकी सामर्थ्य अप्रसिद्ध है। अतः अविद्याका अधिष्ठानरूप करके चेतनरूप ईश्वरका अङ्गीकार करना उचित है।

'परमेश्वराश्रया' इत्यादि भाष्यसे भाष्यकार भगवान्ने भी—"अव्यक्त शब्द करके निर्देश्य जो अविद्यारूप बीजशक्ति है सो परमेश्वरके आश्रित है तथा मायामयी है" इस अर्थको कहा है। अर्थात् जैसे लोकमें मायावी पुरुषके अधीन लौकिक माया होती है। तैसे ही परमेश्वरके अधीन यह अलौकिक माया है। और आधारतासम्बन्ध करके जीवके आश्रित जो अविद्यारूप माया है सो ब्रह्मको विषय करती है। अतः विषयता सम्बन्ध करके परमेश्वरके आश्रित कही जाती है। और ब्रह्मसे भिन्न करके तथा अभिन्न करके निरूपण करनेको अशक्य है। अतः इस प्रागवस्थारूप बीजशक्तिका नाम 'अव्यक्त' व 'अव्याकृत' है। तथा विद्या करके निवृत्त होनेसे 'अविद्या' व 'अज्ञान' कही जाती है। तथा विचित्र २ कार्योंकी माता होनेसे अथवा दुरुन्नीत होनेसे 'माया' कही जाती है। और कार्यकी अपेक्षा करके प्रधान होनेसे इसीका नाम 'प्रधान' है। मूल होनेसे 'प्रकृति' है। सृष्टिकी रचनादिकोंमें परमेश्वरकी सहकारी होनेसे 'शक्ति' है। तथाच इन अव्यक्तादिक शब्दोंका अर्थ एक ही है भिन्न भिन्न नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे बन्धमोक्षकी व्यवस्था भी उपपन्न हो चुकी इति।

और यही अविद्या मायामयी 'महासुषुप्ति' कही जाती है। क्योंकि इसी अविद्यामें स्वरूपके प्रतिबोधसे रहित हुये संसारी जीव अनादि कालसे सो रहे हैं। सो यही पूर्वोक्त अव्यक्त कहीं २ 'आकाश' शब्द करके निर्दिष्ट है—तहां श्रुतिः—'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति। अर्थ—सम्पूर्ण जगत् तो आकाशमें ओत प्रोत है; आकाश किसमें ओत प्रोत है? इस गार्गीके प्रश्नके अनन्तर याज्ञवल्क्य कहते हैं—हे गार्गि! इस अक्षररूप परमात्मामें ही आकाश ओतप्रोत है। यहां भूताकाशका हेतु होनेसे अव्यक्तको आकाश कहा है इति।

और कहीं २ इसी अव्यक्तको 'अक्षर' शब्द करके कहा है—तहां श्रुतिः—'अक्षरात्परतः परः'। अर्थ—सो परमात्मा महत्से पर जो अक्षर है तिस अक्षरसे भी पर है। यहां, ज्ञानसे विना नाशको नहीं प्राप्त होनेसे अव्यक्तको अक्षर कहा है इति।

और किसी २ मन्त्रवर्णसे इसी अव्यक्तको माया शब्द करके सूचन किया है—तहां श्रुतिः—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'। श्वे०। अर्थ—अव्यक्तरूप मायाको यह मुमुक्षु प्रकृति जाने तथा मायावालेको महेश्वर जाने इति। वस्तुतः विचार करें तो 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें माया ही अव्यक्त शब्द करके कही है। क्योंकि सद्रूप करके अथवा असद्रूप करके अनिर्वाच्य होनेसे मायामें अव्यक्त शब्दकी योग्यता वन सकती है।

शंका। महत्से अव्यक्त पर कैसे है?

समाधान । महत्तत्त्वरूप बुद्धिको अव्यक्तका कार्य होनेसे महत्से अव्यक्त पर है। अतः 'महतः परमव्यक्तम्' यह कहा । और प्रसङ्गमें यदि महत् शब्द करके समष्टि बुद्धिका ग्रहण करें तो भी समष्टि बुद्धिका हेतु होनेसे अव्यक्तमें परत्व है। और यदि जीवका ग्रहण करें तो भी जैसे अमात्यादिकोंकी अपेक्षासे राजामें परत्व है। तैसे प्रतिबिम्बरूप जीवको भी अव्यक्तरूप उपाधिके अधीन होनेसे अव्यक्तमें जीवसे परत्व है। अतः 'महतः परमव्यक्तम्' यह कथन उचित ही है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अविद्या ही अव्यक्त है । और अविद्या करके ही जीवमें निरन्तर सर्व संसारव्यवहार वर्तता है ।

शंका । कारण शरीररूप अव्यक्तमें महत्से परत्वके हुये भी स्थूल शरीरमें परत्व किस प्रकार होगा ?

समाधान । अव्यक्तगत जो महत्से परत्व है तिसको ही अव्यक्त तथा शरीरके अभेदोपचारसे अव्यक्तके विकार शरीरमें कल्पना करते हैं । अतः स्थूल शरीरमें भी महत्से परत्व बन सकता है इति ।

शंका । इन्द्रियादिकोंमें भी अव्यक्तके साथ अभेद होनेसे अव्यक्तत्व तथा परत्व मानना चाहिये ।

समाधान । यद्यपि स्थूल शरीरकी तरह इन्द्रियादिकोंमें भी अव्यक्त-विकारत्वका अविशेष है। तथापि अभेद्के उपचारसे शरीरका ही अव्यक्त शब्द करके ग्रहण करते हैं; इन्द्रियादिकोंका नहीं । क्योंकि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि उत्तर श्रुतिमें इन्द्रियादिक शब्दों करके ही इन्द्रियादिक गृहीत हैं । और इस उत्तर श्रुतिमें केवल शरीरको ही परिशिष्ट होनेसे भी अव्यक्त शब्द करके शरीरका ही ग्रहण होता है ।

अब वृत्तिकारके मतसे पूर्वोक्त दो सूत्रोंके व्याख्यानको दिखाते हैं:— **'अन्ये तु वर्णयन्ति'** इत्यादि भा० । अर्थात् शरीर दो प्रकारका है—एक जो यह देखनेमें आता है इसका नाम स्थूल शरीर है। और दूसरे सूक्ष्म शरीरको तृतीय अध्यायके प्रथम पादके 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणा-भ्याम्' इस प्रथम सूत्रमें कहेंगे। और 'आत्मानं रथिनम्' इस पूर्व मन्त्रमें ये दोनों शरीर ही सामान्यतः रथरूपसे कथन किये हैं। और 'इन्द्रियेभ्यः पराः' इस उत्तर मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्द करके केवल सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सूक्ष्म शरीर ही अव्यक्त शब्दके योग्य है।

शंका । महान् जो जीव है तिस जीवसे परत्व सूक्ष्म शरीरमें किस प्रकार बन सकता है ?

समाधान । 'तदधीनत्वादर्थवत्' इस सूत्रमें 'अर्थवत्' यह शब्द दृष्टान्तका वाचक है। जैसे इन्द्रियोंका व्यापार अर्थोंके अधीन है; अतः अर्थोंमें इन्द्रियोंसे

परत्व है। तैसे जीवमें बन्ध मोक्ष व्यवहार सूक्ष्म शरीरके अधीन है; अतः सूक्ष्म शरीरमें जीवसे परत्व है इति।

अब इस पूर्वोक्त वृत्तिकारके व्याख्यानको सिद्धान्ती दूषित करते हैं:— 'तैस्त्वेतत्' इत्यादि भा०। अर्थात् 'आत्मानं रथिनं विद्धि' इस पूर्व मन्त्रमें अविशेषरूप करके शरीरद्वयको रथरूपक कल्पनामें कथित होनेसे दोनों शरीरोंमें ही प्रकृतत्व तथा परिशिष्टत्व समान है। जब दोनों शरीरमें प्रकृतत्व तथा परिशिष्टत्व समान हुवा तब किस कारणसे अव्यक्त शब्द करके सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करते हो स्थूल शरीरका नहीं—सो कारण तुम्हारेको कहना चाहिये।

शंका। हम आम्नातके अर्थको जाननेके लिये समर्थ हैं, परन्तु आम्नातके अर्थमें पर्यनुयोग (किन्तु) करनेको समर्थ नहीं हैं। अर्थात् प्रसङ्गमें आम्नात कहिये कथित जो उत्तर मन्त्रमें 'अव्यक्त' पद है सो सूक्ष्म वस्तुको ही प्रतिपादन कर सकता है; सूक्ष्म शरीरसे भिन्न स्थूल शरीरको नहीं। क्योंकि स्थूल शरीर व्यक्त है। अतः हम 'अव्यक्त' शब्द करके सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करते हैं स्थूल शरीरका नहीं।

समाधान। यह कहना असङ्गत है। क्योंकि वाक्यार्थ विषयक जो ज्ञान होता है सो एकवाक्यताके अधीन होता है। और **'आत्मानं रथिनं विद्धि'** यह पूर्व पठित वाक्य, तथा **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः'** यह उत्तर पठित वाक्य, एकार्थप्रतिपादकत्वरूप एकवाक्यतासे विना किसी अर्थको प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं। यदि करेंगे तो 'शरीर' शब्दसे रूढिवृत्ति करके प्रकृत जो स्थूल शरीर है तिसका त्याग होगा। और अप्रकृत जो सूक्ष्म भूत हैं तिनका अव्यक्त पद करके ग्रहण होगा। इस प्रकृतहानि तथा अप्रकृतप्रक्रियाका प्रसङ्गरूप दोषकी निवृत्तिके लिये इनकी अवश्य एकवाक्यता माननी पड़ेगी।

और आकाङ्क्षासे विना एकवाक्यताकी सिद्धि नहीं वन सकती है। अतः "प्रकृत 'शरीरं रथमेव तु' इस शरीरद्वयका ग्रहण 'इन्द्रियेभ्यः पराः' इस मन्त्रमें किस पद करके है? और अव्यक्त शब्द करके क्या ग्राह्य है?" इस प्रकारकी आकाङ्क्षाद्वय करके पूर्व उत्तर वाक्योंमें एकवाक्यताके सम्भव हुये शरीर शब्द करके प्रकृत दोनों ही शरीर ग्राह्यरूप करके आकाङ्क्षाके विषय समान हैं। तहां यदि आकाङ्क्षाके अनुसार अन्वय स्वीकार नहीं करोगे, किन्तु 'अव्यक्त' शब्द करके केवल सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करोगे स्थूल शरीरका नहीं, तो एकवाक्यता ही बाधित होती है। एकवाक्यताका बाध होनेसे अव्यक्त शब्द करके आम्नात अर्थका बोध कहांसे होगा? अर्थात् नहीं होगा।

और जब 'शरीरं रथमेव तु' इस वाक्यमें शरीर शब्द करके एक स्थूल शरीरका ही ग्रहण करते हैं तथा अव्यक्त शब्द करके भी प्रकृत स्थूल शरीरका ही

ग्रहण करते हैं सूक्ष्म शरीरका नहीं। तब एकवाक्यताके सम्भव हुये अव्यक्त शब्द करके प्रकृत स्थूल शरीरका बोध हो सकता है इति।

शंका। सूक्ष्म शरीरमें अनात्मत्वनिश्चयरूप शुद्धिके लिये **'शरीरं रथमेव तु'** इस श्रुतिमें सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण है। और सूक्ष्म शरीर ही आकाङ्क्षाका विषय है, स्थूल शरीर नहीं। क्योंकि सूक्ष्म शरीर आत्माके अत्यन्त सन्निकृष्ट है; और आत्मासे अत्यन्त अभिन्न प्रतीत होता है। अतः दुःशोध है। अर्थात् आत्मासे पृथक् निश्चय करनेको अशक्य है। अतः अव्यक्त शब्द करके भी सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण करना चाहिये, स्थूल शरीरका नहीं। क्योंकि स्थूल शरीर नाना २ दोषों करके दूषित प्रत्यक्ष सिद्ध है। अत्यन्त घृणाका विषय हैं। अर्थात् लशुनादिकोंकी तरह मल मूत्रादिकों करके अत्यन्त दुर्गन्धित होनेसे वैराग्यका विषय है। अतः स्थूल शरीरका आत्मासे पृथग् निश्चयरूप शोधन अत्यन्त सुलभ है।

समाधान। इस प्रकारसे वृत्तिकारोंको मानना योग्य नहीं है। इस अर्थको दिखाते हैं—**'यतो नैवेह शोधनं कस्यचिद्विवक्ष्यते'** इत्यादि भा०। अर्थ—प्रसङ्गमें यहां किसीका शोधन विवक्षित नहीं है। क्योंकि 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इत्यादि मन्त्रमें शोधनका विधायि कोई विधिपद नहीं है। 'सो विष्णुका परम पद क्या है' इस जिज्ञासाकी निवृत्तिके लिये अनन्तर निर्दिष्ट विष्णुका परम पद ही यहां विवक्षित है इति। क्योंकि इन्द्रियोंसे अर्थ पर हैं, तथा अर्थोंसे मन पर है, इस प्रकार कहते हुये अव्यक्तसे अनन्तर—**'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः'** इस वचन करके विष्णुके परम पदको ही परत्वकी अवधि व परा गतिरूप करके श्रुति कहती है। अतः परम पदके दर्शनके लिये प्रकृत स्थूल शरीर ही अव्यक्त पद करके ग्राह्य है।

वस्तुतः 'तदन्तरप्रतिपत्तौ' इस सूत्रमें जिन करके सम्परिष्वक्त हुवा यह साभास लिङ्ग शरीररूप जीव परलोकके लिये रंहण करता है। जिनका परिणाम भावी स्थूल देह है। तिन हविरादिकी सूक्ष्म अवस्थारूप व धर्माधर्मरूप पञ्चीकृत पञ्चभूतोंके सूक्ष्म अवयवोंका नाम ही सूक्ष्मशरीर है। यह सूक्ष्मशरीर लिङ्गशरीरके अन्तर्गत ही है। इस सूक्ष्म शरीरका इन्द्रियादिकोंके ग्रहणसे ही ग्रहण हो चुका है। अतः यह सूक्ष्म शरीर अव्यक्त पद तथा शरीरपद करके पृथग् ग्रहण करनेके योग्य नहीं है। किन्तु परिशेषसे अविद्यारूप कारण शरीर और स्थूल शरीर ही—**'शरीरं रथमेव तु'** इस श्रुतिमें शरीर पदसे, और—**'महतः परमव्यक्तम्'** इस श्रुतिमें अव्यक्त पदसे ग्रहण करनेके योग्य हैं।

शंका। जैसे अविद्यारूप कारण शरीरको और स्थूल शरीरको परिशेषके बलसे अव्यक्त पद करके ग्रहण करते हो तैसे ही पञ्च प्राण भी परिशिष्ट हैं, और चिदात्मा भी परिशिष्ट है। अतः प्राण और चिदात्माका भी अव्यक्त पदसे ग्रहण होना चाहिये।

समाधान । 'यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः' (छा० ८।१२।३) अर्थ—जैसे रथके आकर्षणके लिये अश्व नियुक्त होता है। तैसे ही रथ स्थानीय इस शरीरमें अश्वस्थानीय प्राण नियुक्त है इति। इस श्रुतिके बलसे इन्द्रिय पद प्राणोंका भी उपलक्षण है। अतः अश्व स्थानीय ही प्राण है। अथवा एक ही अन्तःकरण ज्ञानशक्तिके प्रधान होनेसे—'बुद्धि' कहा जाता है। और क्रियाशक्तिके प्रधान होनेसे—'प्राण' कहा जाता है। अतः बुद्धि पद प्राणका भी उपलक्षण है। अर्थात् उभयशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण सारथि है। और प्राप्य जो विष्णुका परम पदरूप पुरुष है जिससे परे कुछ नहीं है जो परत्वकी अवधि है। और जो परा गति है। सो ही चिदात्मा है। अतः परिशेषसे कारण शरीर और स्थूल शरीरका ही अव्यक्त शब्द करके ग्रहण योग्य है।

अब वृत्तिकारके मतको अङ्गीकार करके भी भाष्यकार भगवान् कहते हैं— 'सर्वथापि' इत्यादि भा०। अर्थात् सिद्धान्तमें-"शरीर पदसे और अव्यक्त पदसे परिशिष्ट कारण शरीर और स्थूल शरीरका ही ग्रहण योग्य है" यह अर्थ कहा। और यदि वृत्तिकारकी रीतिसे सूक्ष्म शरीरका शोधन ही प्रकृतमें विवक्षित होवे तो रहो; तो भी-"अव्यक्त शब्द करके सूक्ष्म शरीरका ही ग्रहण है" इस मतको स्वीकार कर लेनेसे भी सिद्धान्तमें हमारी किञ्चित् मात्र भी हानि नहीं है। क्योंकि वृत्तिकारकी रीतिसे भी हमारेको अभीष्ट जो आनुमानिक प्रधानका खण्डन है तिसकी उपपत्ति बन सकती है। अर्थात् अव्यक्त शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं कर सकते हैं इति ॥ ३ ॥

अब "वैदिक अव्यक्त शब्द प्रधानका वाचक नहीं है" इस अर्थमें सूत्रकार अन्य हेतुको दिखाते हैं:—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

अर्थ—ज्ञेयत्वावचनात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। सांख्य शास्त्रमें प्रधानसे भिन्न पुरुषको जाननेके लिये और विभूतिके लिये प्रधानको ज्ञेय व उपास्य माना है। और वेदमें—'प्रधानको जानना चाहिये' अथवा 'प्रधानकी उपासना करनी चाहिये' ऐसा वचन है नहीं। अतः प्रधान वैदिक अव्यक्त शब्दका अर्थ नहीं बन सकता है इति।

अब 'ज्ञेयत्वेन' इत्यादि भाष्यके अनुसार इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—

शंका। 'गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यम्।' "सत्त्वादिक गुणरूप प्रधानसे पुरुषका 'अन्तर' कहिये जो भेद है तिस भेदके ज्ञानसे मोक्ष होता है" अर्थात् सांख्यमतमें 'त्रिगुणात्मक प्रधानसे मैं भिन्न हूं' इस प्रकारका जो प्रधान प्रतियोगिक भेदवाले आत्माका ज्ञान है इसी ज्ञान करके मोक्ष होता है। और सांख्यवादी इसी ज्ञानको संसारदुःखका निवर्तक मानते हैं। और सत्त्वादिक गुण स्वरूप प्रधानके ज्ञानसे विना प्रधानसे भिन्न आत्माका ज्ञान नहीं हो सकता है।

क्योंकि भेदज्ञानमें प्रतियोगीका ज्ञान कारण होता है। इस रीतिसे कहनेवाले सांख्य लोग कहीं २ प्रधानको ज्ञेय मानते हैं। और स्मृतियोंमें उल्लेख करते हैं।

और केवल भेदका प्रतियोगित्वरूप करके ही प्रधानको ज्ञेय नहीं मानते हैं। किन्तु प्रधानकी उपासना करके अणिमादिक ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये उपास्यत्वरूप करके भी प्रधानको कहीं २ ज्ञेय मानते हैं। क्योंकि अज्ञातकी उपासना नहीं बन सकती है।

और 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुति करके भी अव्यक्त पदजन्य ज्ञान-विषयत्वरूप ज्ञेयत्व प्रधानमें विद्यमान ही है। अतः 'ज्ञेयत्वावचनाच्च' यह सूत्र असङ्गत है।

समाधान। 'न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते' इति भाष्यम्। अर्थात् 'महतः परमव्यक्तम्' इस मन्त्रमें अव्यक्तको ज्ञेयरूप करके नहीं कहा है, किन्तु अव्यक्त शब्दमात्रको कहा है। और 'अव्यक्तं ज्ञातव्यम्' अथवा 'उपासितव्यम्' इस प्रकारका ज्ञेयत्व तथा उपास्यत्वका विधायक कोई विधिवाक्य भी यहां नहीं है। अतः सूत्रको असङ्गत कहना असङ्गत है।

शंका। विधिके अभाव हुये भी अव्यक्त पदजन्य ज्ञानगम्यत्वरूप ज्ञेयत्व प्रधानमें बन सकता है। क्योंकि ज्ञानविषयताशून्यमें शब्दप्रयोग ही नहीं बन सकता है।

समाधान। उपदेशसे विना जो पदार्थका ज्ञान है सो सफल नहीं होता है। अतः अव्यक्त पदजन्य ज्ञानको अनुपदिष्ट होनेसे सफलता नहीं बन सकती है। अर्थात् शब्दका जिस अर्थमें तात्पर्य होता है तिसका ही शब्दज्ञान सफल होता है। प्रकृतमें सर्वसे परे विष्णुका परम पदरूप पुरुष ही तात्पर्यका विषय है। अतः 'प्रधानका ज्ञान पुरुषार्थ है' इस अर्थका प्रतिपादन कोई नहीं कर सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रधानमें तात्पर्यगम्यत्वरूप ज्ञेयत्वका अभाव होनेसे अव्यक्त शब्द करके प्रधानको श्रुति बोधन नहीं करती है।

शंका। प्रधानकी तरह शरीरमें भी तात्पर्यविषयत्वरूप ज्ञेयत्वको न होनेसे श्रुति बोधन नहीं कर सकती है। अतः अव्यक्त शब्द करके शरीरका ग्रहण किस प्रकार होगा ?

समाधान। हमारे मतमें तो जो एक वैष्णव पद ज्ञेय है तिस परम पदको दिखानेके लिये रथरूपककी कल्पनामें उपयोगी जो शरीरादिक हैं तिनोंका अनुसरण करके अव्यक्त शब्दसे शरीरका कथन किया है इसमें कोई दोष नहीं इति ॥ ४ ॥

प्रधानमें ज्ञेयत्वका जो अवचन है सो असिद्ध है ? इस प्रकारकी शंकापूर्वक परिहारको सूत्रकार दिखाते हैं—

वदतीतिचेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्॥ ५॥

अर्थ—१ वदति, २ इति, ३ चेत्, ४ न, ५ प्राज्ञः, ६ हि, ७ प्रकरणात्। इस सूत्रमें सात पद हैं। प्रश्न—प्रधानमें 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि श्रुति ज्ञेयताको कहती है। अतः प्रधान ज्ञेय नहीं है यह कहना असङ्गत है। उत्तर—यह प्रश्न नहीं बन सकता है। क्योंकि उक्त श्रुति भी प्रकरणके बलसे परमेश्वरको ही कहती है इति।

अब उक्त प्रश्नोत्तरको स्पष्ट करके दिखाते हैं:-सांख्यवादी कहता है कि-प्रधानमें ज्ञेयत्वका अवचन कहिये वचनका अभाव असिद्ध है। क्योंकि 'महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुतिके उत्तर वाक्यशेषमें यहां अव्यक्त शब्द करके कथित जो प्रधान है, तिसमें ज्ञेयत्वका बोधक वचन विद्यमान है। तहां वाक्यशेष श्रुतिः-'अश-ब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतःपरं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥' (क०२।३।१५) अर्थ—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादि करके रहित नित्य निर्विकार आदि अन्तसे रहित महत्तत्त्वसे पर निश्चल जो तत्त्व है, तिस तत्त्वको 'निचाय्य' कहिये साक्षात्कार करके जन्ममरणसंसाररूप मृत्युमुखसे मुक्त होता है इति। सांख्य स्मृतिमें शब्दादि गुणों करके रहित महत्से पर प्रधानका जैसा स्वरूप निरूपण किया है। तैसा ही शब्दादि हीन तत्त्वका इस मन्त्रमें 'निचाय्य' रूप करके निर्देश किया है। अतः इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य प्रधान ही है। तथा सो ही प्रधान 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें अव्यक्त शब्द करके निर्दिष्ट है ऐसा प्रतीत होता है।

अब पूर्वोक्त सांख्यवादीके कथनको सिद्धान्ती खण्डन करता है—'अत्र ब्रूमः' इत्यादि भा०। अर्थात् 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि मन्त्रमें ज्ञेयरूप करके प्रधान निर्दिष्ट नहीं है। किन्तु प्राज्ञरूप परमात्मा ही ज्ञेयरूप करके निर्दिष्ट है। ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि 'प्रकरणात्' प्राज्ञरूप परमात्माका ही यहां महां प्रकरण चला आता है। तहां श्रुतिः—'पुरुषान्न परम् किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः' (क०) यहां परमात्माका ही निर्देश किया है। तथा 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते' (क०) 'परमात्माका ज्ञान दुःसाध्य है' इस अर्थका बोधक इस मन्त्र करके भी परमात्मामें ही ज्ञेयत्वकी आकाङ्क्षा होती है। तथा 'यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञः' (क०) इस मन्त्र करके भी परमात्माके ज्ञानके लिये ही वागादिक इन्द्रियोंके संयमको विधान किया है। और परमात्माके ज्ञानसे ही मृत्युमुखसे मोक्षफलका श्रवण होता है।

और प्रधानमात्रके ज्ञानसे मृत्युमुखसे मोक्ष सांख्यवादी भी नहीं मानते हैं। किन्तु "चेतनरूप आत्माके ज्ञानसे ही मृत्युमुखसे मोक्ष होता है" यह सांख्योंका सिद्धान्त है। और सम्पूर्ण वेदान्तमें प्राज्ञरूप परमात्मा विषे ही

अशब्दादिक धर्मोंका कथन किया है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे "प्रधानमें ज्ञेयत्व तथा 'अव्यक्त' शब्द करके निर्दिष्टत्व नहीं वन सकता है" यह सिद्ध हुवा इति ॥५॥

किञ्च "इस कठवल्लीमें प्रधानविषयक प्रश्न तथा उत्तरका अभाव होनेसे भी अव्यक्त शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

अर्थ—१ त्रयाणाम्, २ एव, ३ च, ४ एवम्, ५ उपन्यासः, ६ प्रश्नः, ७ च। इस सूत्रमें सात पद हैं। इस कठवल्लीमें नचिकेताने धर्मराजसे तीन वर मांगे हैं। प्रथम वरसे पिताकी प्रसन्नता माँगी है। द्वितीय वरसे अग्निविद्या माँगी है। और तृतीय वरसे आत्मविद्या माँगी है। और धर्मराजने तीन ही वर दिये हैं। इन तीन वरोंके ही प्रश्न और उत्तर इस ग्रन्थकी समाप्ति पर्यन्त देखनेमें आते हैं। और प्रधानविषयक न तो इस ग्रन्थमें प्रश्न है, न उत्तर है। अतः इस कठवल्लीमें प्रधानका प्रतिपादन नहीं बन सकता है इति।

अव इस सूत्रके तात्पर्यको 'इतश्च' इत्यादि भाष्यसे भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—जिस कारणसे इस कठवल्ली ग्रन्थमें प्रायः अग्नि, जीव, परमात्मा, इन तीन पदार्थोंका ही वरप्रदानके सामर्थ्यसे वक्तव्यरूप करके उपन्यास देखनेमें आता है। अर्थात् तीन पदार्थविषयक ही प्रश्न तथा प्रतिवचन देखनेमें आते हैं अन्य विषयक नहीं। अत इस ग्रन्थमें न प्रधान ज्ञेय है। और न 'महतः परमव्यक्तम्' इस श्रुतिमें स्थित 'अव्यक्त' शब्दका वाच्य है।

अव तीनों प्रश्नोंको 'तत्र तावत्' इत्यादि भाष्यसे क्रम करके दिखाते हैं— तहां प्रथम प्रश्नको कहते हैं—'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्'। अर्थ—नचिकेता कहता है—हे मृत्यो ! वरको देनेवाले जो आप हो सो स्वर्गका हेतुरूप जिस अग्निको 'अध्येपि' कहिये स्मरण करते हो तिस अग्निविद्याको श्रद्धालु जो मैं हूं तिस मेरे प्रति आप कथन करें इति। यह अग्निविषयक प्रश्न है।

और—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'। अर्थ—मनुष्यके मृत हुये ऐसा संदेह होता है कि "देहादिक संघातसे आत्मा भिन्न है अथवा नहीं है"। क्योंकि आस्तिक जो वैदिक पुरुष हैं सो "देहादिक संघातसे व्यतिरिक्त देहान्तर सम्बन्धी आत्मा है" इस प्रकार कहते हैं। तथा नास्तिक जो पुरुष हैं सो "देहादिक संघातसे भिन्न आत्मा नहीं है" इस प्रकार कहते हैं। आप गुरु करके उपदिष्ट हुवा मैं जिस प्रकार इस संदिग्ध आत्मतत्त्वको जानसकुं तिस प्रकार आप कहें। वरोंके मध्यमें यह जो आत्मज्ञानरूप वर है सो अन्तिम है इति। यह प्रश्न जीवविषयक है।

तथा—'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र

भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥' अर्थ—धर्मादिकोंसे विलक्षण परिच्छेदशून्य जिस वस्तुको आप जानते हो तिस वस्तुको मेरे लिये कथन करें इति। यह परमेश्वर-विषयक प्रश्न है।

अब क्रमसे उत्तरोंको दिखाते हैं—**'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा'** इति। अर्थ—पृथिवी आदिक लोकोंका हेतु जो विराट् है तिस विराट् रूप करके उपास्य होनेसे अग्निका नाम लोकादि है। तिस लोकादि स्वरूप अग्निको यमराज नचिकेताके प्रति कहते भये। तथा कुण्डमें जिस स्वरूपवाली और जितनी संख्यावाली इष्टका उपयोगी होती हैं तथा जिस प्रकारसे अग्निका स्थापनादिक होता है तिस सर्व प्रकारको धर्मराज कहते भये इति। यह अग्निविषयक प्रश्नका उत्तर है।

'हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥' अर्थ—धर्मराज कहते हैं-हे नचिकेतः! अब इस गोप्य तथा सनातनरूप ब्रह्मको मैं तुम्हारे प्रति कथन करता हूं। और 'येयं प्रेते' इस वचन करके जो आत्मविषयक संदेहको कहा था तिस संदेहको दूर करनेके लिये धर्मराज कहते हैं-हे नचिकेतः! आत्मा जो देही है सो मरणको प्राप्त होकरके जिस प्रकार संसरणको प्राप्त होता है तिसको तू श्रवण कर-कोईक देहाभिमानी जो अज्ञानी जीव हैं सो मरणको प्राप्त होकर अन्य शरीरको ग्रहण करनेके लिये शुक्ररूप करके स्त्रीकी योनिमें प्रवेश करते हैं। तथा दूसरे जो अत्यन्त पापिष्ट जीव हैं सो मरणसे अनन्तर वृक्षादिकरूप स्थाणुभावको प्राप्त होते हैं। अर्थात् इस जन्ममें जैसा २ विहित तथा प्रतिपिद्ध कर्मको किया है। तथा जैसी २ विहित व प्रतिपिद्ध उपासना करी है। तिस २ कर्म तथा उपासनाके अनुसार योनिको प्राप्त होते हैं इति। यह 'व्यवहित' अविद्या करके आच्छादित जीवविषयक प्रश्नका उत्तर है।

और—**'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'**। अर्थ—'विपश्चित्' कहिये विद्वान् नित्य चैतन्यरूप आत्मा न उत्पन्न होता है न नष्ट होता है। यहां उत्पत्ति तथा नाशरूप विकारोंके निषेधसे मध्यके चारों विकारोंका भी निषेध जानना इति। इत्यादिक मन्त्रों करके बहुत विस्तारसे परमेश्वरविषयक प्रश्नका उत्तर है। इस पूर्वोक्त रीतिसे विवेचन करनेपर इस कठोपनिषत्में अग्निविद्यादिविषयक तीन ही प्रश्न हैं। प्रधानविषयक प्रश्न है नहीं। अत इस ग्रन्थमें प्रधानविषयक प्रश्नके न होनेसे उत्तरमें भी प्रधान उपन्यासके योग्य नहीं है।

शंका। येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीति' इस वचन करके जो यह आत्मविषयक प्रश्न किया है क्या तिस प्रश्नका ही यह **'अन्यत्र धर्मात्'** इस वचन करके पुनः आकर्षण करते हो? अथवा पूर्वोक्त प्रश्नसे अपूर्व अन्य ही इस प्रश्नको उत्थापन करते हो? यदि ऐसा कहो कि— इससे क्या होवेगा?

तहां 'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें जो प्रश्न किया है तिस प्रश्नका ही 'अन्यत्र

धर्मात्' इस मन्त्रमें भी यदि आकर्षण करोगे तो दोनों प्रश्नोंको एक आत्मविषयक होनेसे अग्निविषयक तथा आत्मविषयक दो प्रश्न ही सिद्ध होवेंगे। अतः 'सूत्रमें तीन प्रश्न हैं" यह कहना असङ्गत होगा। यदि ऐसा कहो कि—'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें जो जीवविषयक प्रश्न है तिस प्रश्नसे भिन्न अपूर्व प्रश्नको हम 'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि मन्त्रमें कहते हैं तो जैसे वरप्रदानके विना अपूर्व प्रश्नकी कल्पना करनेमें तुम्हारेको कोई दोष नहीं है। तैसे प्रश्नके विना ही प्रधानके उपन्यासकी कल्पनामें भी कोई दोष नहीं होवेगा इति।

समाधान। 'नैवं वयमिह वरप्रदानव्यतिरेकेण प्रश्नं कञ्चित्कल्पयामः' इत्यादि भा०। अर्थात् वाक्यके उपक्रमकी सामर्थ्यसे वरप्रदानके विना हम किसी प्रश्नकी कल्पना नहीं करते हैं। जिस कल्पना करके प्रधानकी सिद्धि होवे। क्योंकि वरप्रदानको उपक्रम करके मृत्यु और नचिकेताका संवादरूप जो वाक्योंकी प्रवृत्ति है सो ही कठवल्ली उपनिषत्की समाप्ति पर्यन्त देखनेमें आती है। अर्थात् 'येयं प्रेते' और 'अन्यत्र धर्मात्' इन दोनों मन्त्रोंमें आत्मविषयक एक ही प्रश्न है।

शंका। यदि इन दोनों मन्त्रोंमें एक ही प्रश्न है तो इस ग्रन्थमें दो ही प्रश्न हुये ?

समाधान। दो प्रश्न नहीं होते हैं किन्तु तीन ही प्रश्न हैं। क्योंकि यमराजके पास पिता करके भेजा हुवा जब नचिकेता पहुंचा है तब तिसके प्रति मृत्युने तीन वर दिये हैं। और नचिकेताने तीनों वरोंके मध्यमें प्रथम वर करके पिताकी प्रसन्नता मांगी है। तथा द्वितीय वर करके अग्निविद्या मांगी है। और तृतीय वर करके आत्मविद्या मांगी है।

शंका। द्वितीय वर करके जीवविद्या, तृतीय वर करके ब्रह्मविद्या, इस प्रकार प्रश्नका भेद क्यों न होवे ?

समाधान। 'येयं प्रेते' इस उपक्रम करके 'वराणामेष वरस्तृतीयः' यहां आत्मविद्यामें तृतीयत्वकी उक्तिरूप लिङ्गसे आत्मविद्या ही तृतीय वर है। ब्रह्मविद्या पृथक् नहीं है।

इस प्रकार उपक्रमवाक्यको विद्यमान होनेसे–प्रश्नान्तर अर्थात् चतुर्थ प्रश्न युक्त नहीं है; इस अर्थको अब कहते हैं—'तत्र' इत्यादि भा०। यदि 'अन्यत्र धर्मात्' इस मन्त्रमें जीव प्रश्नसे भिन्न अपूर्व प्रश्नके उत्थापनको कहें तो वरप्रदानसे विना ही प्रश्नकी कल्पना होनेसे उपक्रमवाक्यका बाध होवेगा। अर्थात् उपक्रम-वाक्यमें तीन प्रश्न हैं, अब चार होवेंगे।

शंका। जीव व परमेश्वररूप प्रष्टव्यके भेदसे 'अन्यत्र धर्मात्' यह प्रश्न अपूर्व ही होनेको योग्य है। अतः प्रश्नका भेद अवश्य मानना पड़ेगा। क्योंकि 'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें देहादिक संघातसे भिन्न करके आत्मामें अस्तित्व तथा

नास्तित्वके संशयको दिखाया है। अतः यह जीवविषयक ही प्रश्न है। और जीव जो है सो धर्मादिकोंका आश्रय है। अतः 'अन्यत्र धर्मात्' इस मन्त्रमें जीवविषयक प्रश्न नहीं बन सकता है। किन्तु धर्मादिकों करके रहित होनेसे परमात्मारूप प्राज्ञविषयक ही यह प्रश्न है। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रश्नका भेद बन सकता है।

किञ्च केवल प्रष्टव्यके भेदसे ही प्रश्नका भेद नहीं है। किन्तु प्रश्नवाक्योंमें सादृश्यका अभाव होनेसे भी प्रश्नका भेद है। इस अर्थको अब भाष्यसे दिखाते हैं—**'प्रश्नच्छाया च न समाना लक्ष्यते'** इत्यादि भा०। अर्थ—प्रश्नोंका सादृश्य भी दोनों मन्त्रों विषे नहीं देखनेमें आता है। क्योंकि 'येयं प्रेते' यह पूर्व मन्त्र जो है सो अस्तित्व तथा नास्तित्वविषयक है। और 'अन्यत्र धर्मात्' यह उत्तर मन्त्र जो है सो धर्मादिकों करके रहित वस्तुविषयक है। अतः पूर्व मन्त्र करके प्रतिपाद्य अर्थकी उत्तर मन्त्रमें प्रत्यभिज्ञा न होनेसे प्रश्नका भेद सिद्ध होता है। अतः 'येयं प्रेते' इस पूर्व प्रश्नका 'अन्यत्र धर्मात्' इस उत्तर मन्त्रमें अनुकर्षण नहीं है इति।

समाधान। प्रष्टव्यके भेदसे वादीने जो प्रश्नका भेद कहा है सो असङ्गत है। क्योंकि प्रसङ्गमें प्रष्टव्यका भेद नहीं है। वादी जो ऐसा कहे कि—"विरुद्धधर्माक्रान्त होनेसे पूर्व मन्त्रके अर्थका उत्तर मन्त्रमें अनुकर्षण नहीं हो सकता है, इस अर्थको समीपमें ही कह आये हैं, अतः प्रष्टव्यका भेद अवश्य है" सो वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि जीव तथा प्राज्ञरूप परमात्माको हम एक ही मानते हैं। और प्रष्टव्यके भेदसे प्रश्नका भेद तब हो सकता है जब प्राज्ञसे भिन्न जीव होवे। परन्तु प्राज्ञसे भिन्न जीव है नहीं। क्योंकि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ' इत्यादिक अन्य श्रुति अभेदको ही कहती हैं। किञ्च ब्रह्मप्रश्नके उत्तरमें जन्मादिकोंका निषेध करके जीवके स्वरूपको कथन करते हुये यमराज—"इस कठ श्रुतिमें भी जीव परमात्माके अभेदको ही सूचन करते हैं" इस अर्थको अब भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'इह'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् इस कठोपनिषत्में भी—**'अन्यत्र धर्मात्'** इस ब्रह्मविषयक प्रश्नका **'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'** यह जो जन्ममरणादिकोंका निषेध करके उपपादित जीवविषयक प्रतिवचन है सो भी जीव ब्रह्मके अभेदको ही दिखाता है।

शंका। जन्ममरणादिकोंके निषेध करनेवाले—'न जायते' इत्यादिक वाक्य जीवके बोधक पदोंको न होनेसे जीव व ब्रह्मके अभेदको प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

समाधान। जन्मादिकोंके प्राप्त हुये ही निषेध युक्त होता है। और जन्ममरणका शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे शारीर जो जीव है तिसमें ही अविद्या करके जन्ममरणादिकोंकी प्राप्ति है परमेश्वरमें नहीं। अतः जन्ममरणादिकोंका

निषेध करके जीवके स्वरूपको ब्रह्मसे अभिन्न करके प्रतिपादन करनेवाले जो 'न जायते' इत्यादि उत्तर वाक्य हैं सो जीव परमात्माके अभेदके ही बोधक हैं।

किञ्च 'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥' (क० २।४।४)। अर्थ— स्वप्न अवस्थाको तथा जाग्रत् अवस्थाको जिस साक्षीरूप चैतन्य करके प्रमाता देखता है तिस महान् तथा विभुरूप आत्माको मनन करके धीर जो पुरुष है सो शोकको नहीं प्राप्त होता है इति। यह मन्त्र स्वप्न तथा जाग्रत्को देखनेवाला महान् विभु जो जीव है तिस जीवके स्वरूपको मनन करके, अर्थात् 'मैं महान् विभु आत्मा स्वरूप हूं' इस प्रकारके साक्षात्कारसे शोकके विच्छेदको दिखाता हुवा "प्राज्ञसे जीव अन्य नहीं है" इस अर्थको दिखाता है। क्योंकि "प्राज्ञके साक्षात्कारसे ही शोकका विच्छेद होता है" यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

किञ्च अभेदको कहकर आगे जो भेदकी निन्दा इस कठश्रुतिमें करी है इससे भी 'अभेद ही सत्य है, यह निश्चय होता है। इस अर्थको 'तथाग्रे' इत्यादि भाष्यसे भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (क० २।४।१०)। अर्थ— जो चैतन्य इस देहमें है सोई चैतन्य सूर्य्यादिकोंमें है। सूर्य्यादिकोंमें जो चैतन्य है सोई इस देहमें है। और अखण्ड एकरस अद्वितीय इस ब्रह्ममें जो पुरुष नानाकी तरह देखता है सो पुरुष मरणसे मरणको प्राप्त होता है। अर्थात् पुनः २ जन्म मरणरूप संसारभयसे मुक्त नहीं होता है इति। यह मन्त्र जीव तथा प्राज्ञकी भेददृष्टिको अपवाद करता है।

किञ्च नचिकेताके जीवविषयक अस्तित्व तथा नास्तित्व प्रश्नसे अनन्तर यमराजने 'अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व' 'हे नचिकेतः! आत्मविद्यासे अन्य पुत्रादिकरूप वरको तू मांग' इससे आरम्भ करके सौ सौ वर्षकी आयुवाले पुत्र-पौत्रादि नाना विषय भोग्यरूप कामों करके नचिकेताको लोभायमान किया भी; परन्तु नचिकेता विषयभोगको तुच्छ समझ करके आत्मविद्यासे जब चलायमान न हुवा अर्थात् अन्य वरको स्वीकार नहीं किया। तव यमराजने प्रसन्न होकर नचिकेताके प्रति अभ्युदय (स्वर्ग) व निःश्रेयस (मोक्ष) के विभागको दिखा करके तथा मोक्षकी हेतु तत्त्वधीरूप विद्या तथा स्वर्गादिकोंकी हेतु कर्मरूप अविद्याके विभागको दिखा करके कहा कि—"हे नचिकेतः! मैं तुम्हारेको विद्याकी इच्छा-वाला मानता हूं। क्योंकि तुमको सौ २ वर्षकी आयुवाले पुत्रपौत्रादिक और दिव्य अप्सरादिक और साम्राज्य व चिरजीवनादिक बहुतसे विषय भी लोलुप नहीं कर सके" इस प्रकार नचिकेताकी प्रशंसाको करते हुये और नचिकेताके प्रश्नकी भी प्रशंसाको करते हुये पुनः धर्मराज कहते भयेः—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधि-

गमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ अर्थ—हे नचिकेतः! जिस आत्माको तू जाननेकी इच्छा करता है, तिस प्रकाशरूप आत्माको, आत्मामें चित्तका समाधानरूप जो अध्यात्मयोग (निदिध्यासन) है, तिस करके 'मत्वा' कहिये साक्षात्कार करके धीर व बुद्धिमान् पुरुष हर्षशोकको त्याग करता है अर्थात् हर्षशोक करके रहित होता है। यह देवरूप आत्मा कैसा है–'दुर्दर्शम्' कहिये असंयत चित्तवाले पुरुषों करके साक्षात्कार करनेको अशक्य है। तथा 'गूढम्' कहिये माया व मायाकार्य करके आवृत्त है। तथा 'अनुप्रविष्टम्' कहिये कार्यसमूहको उत्पन्न करके पश्चात् तिस कार्यमें स्वयं प्रविष्ट है। तथा 'गुहाहितम्' कहिये बुद्धिमें उपलभ्यमान होनेसे बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है। तथा 'गह्वरेष्ठम्' कहिये रागद्वेषरूप अनर्थों करके आयासका जनक जो कार्यकरणका संघात है इसमें स्थित है। तथा 'पुराणम्' कहिये सनातन है इति। यह मन्त्र जो धर्मराजने कहा है इस करके भी जीव तथा प्राज्ञरूप परमात्माका 'अभेद ही विवक्षित है' ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि यदि जीवसे परमेश्वर भिन्न होता तो जीवगोचर प्रश्नका परमेश्वरगोचर यह उत्तर किस प्रकार संगत होवेगा।

किञ्च प्रशंसाकी अनुपपत्ति भी, 'येयं प्रेते' व 'अन्यत्र धर्मात्' इन दोनों प्रश्नोंकी, और प्रष्टव्य जीव व ब्रह्मकी, एकताको ही बोधन करती है। इस अर्थको अब भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं– **'यत्प्रश्ननिमित्तां च'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् जिस प्रश्नके निमित्त नचिकेता मृत्युसे महती प्रशंसाको प्राप्त हुवा है। यदि तिस आत्मविद्याविषयक प्रश्नको त्याग करके प्रशंसाके अनन्तर अन्य ही प्रश्नका उपक्षेप करेगा तो सो सर्व प्रशंसाका प्रसारण अयुक्त हो जावेगा। अतः प्रष्टव्यके भेदका अभाव होनेसे 'येयं प्रेते' इस प्रश्नका ही 'अन्यत्र धर्मात्' इस मन्त्रमें अनुकर्षण जानना।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि—दोनों मन्त्रोंमें सादृश्यका अभाव होनेसे प्रश्नका भेद है? सो दूषण भी नहीं बन सकता है। क्योंकि 'येयं प्रेते' इस पूर्व मन्त्रमें पूछे हुये आत्मतत्त्वके विशेषको ही पुनः 'अन्यत्र धर्मात्' इस उत्तर मन्त्रमें नचिकेताने पूछा है। पूर्व मन्त्रमें देहादिकोंसे भिन्न आत्माके अस्तित्वको पूछा है। और उत्तर मन्त्रमें तिसी आत्माके असंसारी स्वरूपको पूछा है।

शंका। धर्मादिकोंका आश्रय जो जीव है सो ब्रह्म किस प्रकार हो सकता है?

समाधान। यद्यपि जीव व ब्रह्मका सदा ही अभेद है, तथापि यावत् काल पर्यन्त अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती है तावत् काल पर्यन्त जीवमें धर्मादिकोंका आश्रयत्व तथा जीवत्व निवृत्त नहीं होता है। और जब तत्त्वसाक्षात्कार करके धर्मादिकोंका आश्रयत्व तथा जीवत्व निवृत्त हो जाता है तब 'प्राज्ञरूप ब्रह्म ही जीव है' इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति बोधन करती हैं।

शंका। अविद्याके नाशसे अनन्तर जीवमें ब्रह्मत्वको यदि मानोगे तो जीवमें ब्रह्मत्व आगन्तुक होगा, तथा विनाशी होगा।

समाधान । अविद्याकालमें और अविद्याके अभावकालमें वस्तुमें कुछ विशेषता नहीं होती है। जैसे अन्धकारमें पड़ी हुई रज्जुको सर्प माननेवाला जो पुरुष है सो भ्रमज्ञानके विषय सर्पसे भयभीत हुवा तथा कम्पायमान हुवा भागता है। तिस पुरुषको जब दूसरा कोई पुरुष कहे कि "तुम भयको मत प्राप्त होवो, यह सर्प नहीं है किन्तु रज्जु है" तब इस वचनको सुनकर सो पुरुष सर्पकृत भयको तथा कम्पको तथा पलायनको त्याग करता है। यहां अहिबुद्धिकालमें तथा अहिबुद्धिके अपगमकालमें रज्जुका स्वरूप ज्योंका त्यों ही है। रज्जुमें कुछ विशेषता नहीं होती है।

तैसे अविद्याकालमें तथा अविद्याकी निवृत्तिकालमें आत्मा विषे कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् सदा एकरस जन्ममरणादि रहित स्वस्वरूप ब्रह्ममें भ्रान्तिसे जन्ममरणादि मानता हुवा यह जीव दुःखी होता है। गुरुके उपदेशसे जन्ममरणादि रहित आत्माको ब्रह्मरूपसे निश्चय करके जीवत्वादिक दुःखसे रहित होता है। अतः आत्मनिष्ठ ब्रह्मत्वमें आगन्तुकत्व तथा विनाशित्व रूप दोष नहीं हो सकता है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे जीवमें स्वाभाविक ब्रह्मत्वके सिद्ध हुये "ब्रह्म प्रश्नका जो उत्तर है सोई जीव प्रश्नका उत्तर भी बन सकता है" इस अर्थको अब दिखाते हैं—जीव व ब्रह्मका अभेद होनेसे 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादिक जो 'अन्यत्र धर्मात्' इस ब्रह्मविषयक प्रश्नका उत्तर है सो भी जीवविषयक अस्तित्व प्रश्नका उत्तर बन सकता है।

शंका । जीवब्रह्मको एक मानोगे तो 'त्रयाणाम्' इस सूत्रकी उपपत्ति किस प्रकार होगी ?

समाधान । वस्तुतः जीव व ब्रह्मको एक होनेपर भी अविद्या करके कल्पित जो जीव तथा प्राज्ञका भेद है तिस भेदकी अपेक्षा करके सूत्रकी योजना कर सकते हैं। क्योंकि आत्मविषयक प्रश्नको एक हुये भी 'येयं प्रेते' इस मन्त्रमें "प्रयाणअवस्थाविशिष्ट देहसे आत्मा भिन्न है वा नहीं" इस प्रकार आत्मा विषे केवल अस्तित्वका संशय होनेसे, और 'येयं प्रेते' इस प्रश्नका उत्तररूप 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः' इत्यादि मन्त्र करके मरणके अनन्तर अस्तित्वका निर्धारण होने पर भी आत्मामें कर्तृत्वादिक संसार स्वभावकी निवृत्ति न होनेसे; 'येयं प्रेते' "यह पूर्व प्रश्न जीवविषयक है" ऐसी उत्प्रेक्षा होती है। और 'अन्यत्र धर्मात्' इस उत्तर मन्त्रमें धर्मादि परिच्छेदशून्य तत्त्वका संकीर्तन होनेसे 'अन्यत्र धर्मात्' 'यह उत्तर पर्यायरूप प्रश्न परमेश्वरविषयक है' ऐसी उत्प्रेक्षा होती है। अतः सूत्रके व्याख्यानमें जो अग्नि तथा जीव तथा परमात्माकी कल्पना करी है सो भी युक्त ही है।

शंका। परमेश्वरविषयक प्रश्नकी तरह प्रधानविषयक प्रश्नादिककी भी कल्पना क्यों न की जाय ?

समाधान। जीव व ब्रह्मका वस्तुत अभेद होनेसे परमेश्वरविषयक प्रश्नका तृतीय वरमें अन्तर्भाव बन सकता है। और प्रधानकी कल्पनामें तो वरप्रदान तथा प्रश्न व प्रतिवचन कुछ भी नहीं है। क्योंकि प्रधानको अनात्मरूप होनेसे तृतीय वरके अन्तर्गत नहीं कर सकते हैं। अतः परमेश्वरविषयक प्रश्नका दृष्टान्त विषम है इति ॥ ६ ॥

"श्रौताव्यक्तशब्दः, न सांख्यासाधारणतत्त्वगोचरः, वैदिकशब्दत्वात्, महच्छब्दवत्।"

अर्थ—जैसे 'बुद्धेरात्मा महान् परः' यहां 'महत्' शब्दरूप दृष्टान्तमें वैदिक शब्दत्वरूप हेतु है; और सांख्यवादीके मतमें जो असाधारण तत्त्व प्रधान है तिस प्रधानगोचरत्वका अभावरूप साध्य भी है। तैसे श्रौत अव्यक्त शब्दरूप पक्षमें वैदिक शब्दत्वरूप हेतु है; अतः असाधारण प्रधान गोचरत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमानको अब सूत्रकार दिखाते हैं:—

महद्वच ॥ ७ ॥

अर्थ—१ महद्वत्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'महद्वत्' कहिये 'महत् शब्दवत्' यह दृष्टान्त है। और चकार करके पक्षादिकोंका ग्रहण करना इति। अर्थात् सांख्यवादी लोग सत्त्वप्रधान प्रकृतिका प्रथम परिणाम सत्ता* मात्ररूप बुद्धिमें ही केवल 'महत्' शब्दका प्रयोग करते हैं। परन्तु वैदिक 'महत्' शब्दका प्रयोग केवल बुद्धिमें ही नहीं है। क्योंकि 'बुद्धेरात्मा महान् परः' इत्यादिक श्रुतियोंमें महत् शब्दके समानाधिकरण आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। और 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' इत्यादिक श्रुतियोंमें महत्तत्त्वके ज्ञानसे शोकनाशरूप मोक्षफलका कथन किया है। और 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इत्यादिक श्रुतियोंमें प्रकृति शब्द वाच्य तमसे पर महत्तत्त्वका श्रवण होता है। इत्यादिक हेतुवोंसे जैसे महत् शब्द जो वैदिक है सो सांख्योंकी अभिमत बुद्धिको व प्रधानको अभिधान नहीं करता है, किन्तु आत्माका अभिधान करता है। तैसे ही वैदिक जो अव्यक्त शब्द है सो भी प्रधानका अभिधान नहीं करता है, किन्तु स्थूल शरीरके कारण सूक्ष्म भूतोंका अथवा अविद्याका अभिधान करता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे आनुमानिक जो प्रधान है तिस प्रधानमें वैदिक शब्दप्रतिपाद्यत्वका अभाव होनेसे जगत्कारणत्वका अभाव भी सिद्ध

*टि०—यहां पर भावप्रत्यय स्वरूपमात्रार्थक है। अर्थात् 'सत्ता' शब्दका अर्थ "सत्" ही है।

हो चुका। और यहां पूर्वपक्षमें प्रधानको भी वैदिक शब्द करके प्रतिपाद्य होनेसे वेदान्तवाक्योंका ब्रह्ममें ही समन्वयके नियमकी असिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें नियमकी सिद्धि फल है इति ॥ ७ ॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम् ॥

कारणका वाचक अव्यक्त शब्द करके शरीररूप कार्य लक्ष्य है ऐसा पूर्व कह आये हैं। अब "धर्मके वाचक रोहितादिक पदों करके तेज, जल, पृथिवी, यह तीनों धर्मी लक्ष्य हैं" ऐसा अङ्गीकार करके सूत्रकार कहते हैं:—

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

अर्थ—१ चमसवत्, २ अविशेषात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। जैसे 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस मन्त्रमें नियम करके ऐसा निरूपण नहीं कर सकते हैं कि—जिसका नीचे बिल होवे, तथा ऊपरसे गोलाई होवे, ऐसा चमस नामवाला यज्ञपात्र ही होता है। क्योंकि यथाकथञ्चित् गिरिगुहादिकोंमें भी अर्वाग्बिलत्वादिकोंकी उपपत्ति बन सकती है। तैसे 'अजामेकाम्' इस मन्त्रमें भी 'अजा' पद करके नियमसे प्रधानका ही ग्रहण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि विशेष निश्चयरूप अवधारणके कारणका अभाव होनेसे अजा पद करके मायादिकोंका भी ग्रहण बन सकता है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—तहां—'अजामेकां रोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृज्यमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' (श्वे० ४।५) यह मन्त्र इस सूत्रका विषयवाक्य है।

अजा शब्दका गौणीवृत्ति करके प्रधानमें, तथा तेज, अप्, अन्नमें तथा मायामें, योग होनेसे; अजा शब्द प्रधान पर है। अथवा तेज, अप्, अन्नरूप अवान्तर प्रकृति पर है। अथवा मायारूप परम प्रकृतिपर है। इस प्रकारका यहां **संशय** होता है।

अथ पूर्वपक्षः। 'पुनरपि प्रधानवाद्यशब्दत्वं प्रधानस्यासिद्धमित्याह' इति भा०। अर्थ—प्रधानवादी पुनः कहता है—प्रधानमें वैदिक शब्द करके अप्रतिपाद्यत्व असिद्ध है इति।

शंका। प्रधानमें अशब्दत्वको पूर्व सिद्ध कर आये हैं; पुनः प्रधानमें जो अशब्दत्वका खण्डन करना है सो अयुक्त है।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'अजामेकाम्' यह मन्त्रवर्णरूप प्रमाण प्रधाननिष्ठ वैदिकत्वमें विद्यमान है। यद्यपि—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः' इस मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्दमात्र करके प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा

स्पष्ट नहीं बन सकती है। तथापि अजामन्त्रमें त्रिगुणत्वरूप करके प्रधानकी प्रत्यभिज्ञा बन सकती है। अतः 'अजामेकाम्' इस मन्त्रमें प्रधानपरत्व ही है।

शंका। प्रधानको रूपादिकों करके रहित होनेसे अजामन्त्र करके प्रतिपाद्यत्व नहीं बन सकता है?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। इस अर्थको दिखाते हैं— **'अत्र हि'** इत्यादि भा०। अर्थात् 'अजाम्' इस मन्त्रमें रोहित शुक्ल कृष्ण शब्द करके तीनों गुणोंका ग्रहण होता है। क्योंकि रञ्जनात्मक होनेसे रोहित नाम रजोगुणका है। तथा प्रकाशात्मक होनेसे शुक्ल नाम सत्त्वगुणका है। तथा आवरणात्मक होनेसे कृष्ण नाम तमोगुणका है।

शंका। अनात्मामें स्थित रोहितादिके वाचक शब्दों करके रज सत्त्व आदिक गुणोंके लाभ हुये भी प्रधानका लाभ किस प्रकार होगा?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रधानके जो रज आदिक अवयव हैं; तिनोंके धर्म जो रञ्जकत्वादिक हैं; तिन रञ्जकत्वादिक निमित्तों करके रोहितादिक शब्द प्रधानको ही कहते हैं। अर्थात् गुणरूप अवयवोंके साथ अभेद होनेसे प्रधानका भी लाभ बन सकता है। अतः 'अजा' मन्त्रमें स्वतन्त्र प्रधानरूप प्रकृतिका नाम ही लोहितशुक्लकृष्णा है। अब प्रधानमें अजा शब्दको घटाते हैं—**'न जायत इति अजा स्यात्'** इत्यादि भा०। अर्थ—जो उत्पन्न न होवे तिसका नाम अजा है। क्योंकि "मूल प्रकृति जो है सो विकृति नहीं है" यह शास्त्रका सिद्धान्त है। अतः प्रधानका नाम अजा है।

शंका। **'रूढिर्योगमपहरति'** 'रूढ़िवृत्ति जो है सो योगवृत्तिको हरण करती है' इस न्याय करके; अजा शब्द करके योगवृत्तिसे प्रधानका लाभ नहीं हो सकता है। क्योंकि अजा शब्द छागामें रूढ़ है।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना यद्यपि सत्य है। तथापि यहां आत्मविद्याके प्रकरणमें रूढ़िवृत्तिका असम्भव होनेसे योगवृत्तिका ही आश्रयण करना योग्य है। अत अजा शब्दका अर्थ प्रकृति ही है।

और **'सा*च बह्वीः' प्रजास्त्रैगुण्यान्विता जनयति'** इत्यादि भा०। अर्थात् अजारूप जो त्रिगुणात्मक प्रकृति है सो त्रैगुण्यविशिष्ट स्वसदृश ही सुखदुःखमोहा-

*टि०—अब 'अजाम्' इत्यादि मन्त्रमें, अजा शब्द करके प्रकृतिरूप अर्थका प्रतिपादन होनेसे; और पुरुषभेदरूप लिङ्गसे; प्रधानकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है। 'बह्वीः प्रजाः' इत्यादि वाक्यशेषके बलसे भी अजामन्त्र प्रधानपरक ही है। इस अर्थको 'सा च' इत्यादि भाष्यसे पूर्ववादी दिखाता है।

त्मक देव मनुष्य पशु पक्षी आदिक नाना प्रकारकी सम्पूर्ण प्रजावोंको उत्पन्न करती है। मूलप्रकृतिको सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक होनेसे प्रकृतिका सम्पूर्ण कार्य भी सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक ही हैं।

अर्थात् मैत्र नामक पुरुषकी स्त्रियोंके मध्यमें नर्मदा नामकी जो स्त्री है तिसमें मैत्रको सुख होता है। क्योंकि मैत्रके प्रति नर्मदाका सत्त्वरूपसे प्रादुर्भाव हुवा है। और सपत्नियोंको दुःख होता है। क्योंकि सपत्नियोंके प्रति नर्मदाका रजरूपसे प्रादुर्भाव हुवा है। नर्मदा स्त्रीकी कामनावाले चैत्रको तिसकी अप्राप्तिसे मोहरूप विषाद होता है। क्योंकि 'चैत्रके प्रति नर्मदाका तमरूपसे उद्भव हुवा है। इस नर्मदाने सर्व पदार्थोंका व्याख्यान कर दिया है। इस रीतिसे महदादिरूप सम्पूर्ण प्रजा सुखदुःखमोहरूप त्रिगुणात्मक ही है।

और एक 'अज' पुरुष इस प्रकृतिका सेवन करता हुवा व प्रेम करता हुवा 'अनुशेते' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृतिको अविवेकसे अहंता, ममता, वा परता करके आश्रयण करता हुवा 'मैं सुखी हूं' "मैं दुःखी हूं" तथा "मैं मूढ़ हूं" 'यह मेरा है' और 'यह पराया हैं' इस प्रकार अविवेकज्ञान करके जन्ममरणरूप संसारको प्राप्त होता है।

और उत्पन्नविवेकज्ञानवाला जो दूसरा विरक्त 'अज' पुरुष है सो 'भुक्तभोगाम्' कहिये किया है शब्दादिक विषयविषयक ज्ञानरूप भोग और गुण-पुरुषकी अन्यताविषयक ख्यातिरूप अपवर्ग जिसने, ऐसी जो यह प्रकृति है तिसको त्याग करता है। अर्थात् मुक्त होता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सांख्यके मतमें जो प्रधानादिकोंकी कल्पना हैं सो श्रुतिमूलक ही है यह सिद्ध हुवा इति।

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये भाष्यकार भगवान् कहते हैं—**'नानेन मन्त्रेण'** इत्यादि भा०। अर्थात् 'अजामेकाम्' इस मन्त्र करके सांख्यवादमें श्रुतिमूलकत्व आश्रयण करनेको अशक्य है। अर्थात् यह मन्त्र स्वतन्त्ररूपसे किसी भी वादको समर्थन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि सर्वत्र यथाकथञ्चित् कल्पना करके अजात्वके सम्पादनकी उपपत्ति वन सकती है। और प्रसङ्गमें विशेष करके निश्चयके कारणका अभाव होनेसे 'अजा' मन्त्र करके 'सांख्यवाद ही अभिप्रेत है' ऐसा नहीं कह सकते हैं। जैसे 'अर्वाग्विलश्चमसः' इस मन्त्रमें "नीचे जिसके विल हो, ऊपर गोल हो, सो चमस नामवाला यागका पात्र ही है" ऐसा स्वतन्त्ररूपसे निरूपण नहीं कर सकते हैं। क्योंकि अन्य पदार्थोंमें भी यथाकथञ्चिद् ऐसी कल्पनाकी उपपत्ति बन सकती है। तैसे अजामन्त्रमें भी विनिगमकके विना विशेषका निर्धारण नहीं कर सकते हैं। अतः यहां इस मन्त्रमें भी 'प्रधान ही अजा शब्द करके अभिप्रेत है' ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रधानमें वैदिक शब्द करके प्रतिपाद्यत्वका अभाव सिद्ध हुवा इति ॥ ८ ॥

शंका। बृहदारण्यकके द्वितीय अध्यायमें—'यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद।' इस मन्त्रसे प्राणकी शिशुरूप करके उपासना कही है। इस प्राणरूप शिशुका 'आधान' अर्थात् आधाररूपसे शरीरको कहा है। और 'प्रत्याधान' अर्थात् विशेष करके स्थितिका स्थानरूपसे शिरको कहा है। और 'स्थूणा' अर्थात् खूंटा कील बन्धनस्थानरूपसे अन्नपान जनित शक्तिको वर्णन किया है। और 'दाम' अर्थात् रस्सी; वत्सकी तरह प्राणशिशुके बन्धनका साधनरूपसे अन्नको वर्णन किया है। और इस उपासनाका— 'सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धि' यह इन्द्रियविजयफल कहा है।

और इसके अनन्तर प्राणकी सप्त उपासनारूप उपनिषत् बतलाई हैं। अर्थात् १ चक्षुगत लोहित रेखावोंके द्वारा प्राणमें रुद्र अनुगत है। २ और अक्षिगत जलके द्वारा पर्जन्य देवता अनुगत है। ३ और द्रुक् शक्तिके द्वारा इस प्राणमें आदित्य अनुगत है। ४ और चक्षुगत कृष्णरूपके द्वारा अग्नि देवता अनुगत है। ५ और चक्षुगत शुक्लरूपके द्वारा इन्द्र देवता अनुगत है। ६ और चक्षुके नीचेके पटलके द्वारा पृथिवी अनुगत है। ७ और उत्तर पटलके द्वारा इस प्राणमें स्वर्ग अनुगत है। ऐसी चिन्तारूप उपासनाका 'नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद' यह अक्षय अन्नकी प्राप्तिरूप फल वर्णन किया है।

पुन अनन्तरमें ही 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इस मन्त्रसे चमसका वर्णन किया है। इस मन्त्रमें 'यह चमस क्या है' ऐसी आकाङ्क्षाके हुये-तहां जैसे अर्वाग्बिल मन्त्रके वाक्यशेषरूप 'इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमसः' इत्यादि मन्त्रके बलसे "प्रकृतमें प्राणका प्रत्याधानरूप शिरका नाम चमस है" ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि सोमके रखनेका जो यज्ञपात्र है तिसका नाम चमस है। तिसके सदृश ही शिर है। तथा च यहां वाक्यशेषके बलसे 'चमस' शब्द शिरका बोधक है। तैसे यहां 'अजामेकाम्' इस मन्त्रमें 'अजा' शब्द करके क्या निश्चय करनेको योग्य है? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:-

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ६ ॥

अर्थ—१ ज्योतिरुपक्रमा, २ तु, ३ तथा, ४ हि, ५ अधीयते, ६ एके। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि मन्त्र करके प्रतिपाद्य और परमेश्वरसे उत्पन्न 'ज्योतिरुपक्रमा' कहिये ज्योतिः प्रमुखा अर्थात् जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्जरूप चतुर्विध भूतग्रामकी प्रकृतिरूप जो तेजोऽबन्नरूप भूतत्रयी है। यही प्रकृतमें अजा शब्द करके जाननेको योग्य है। और इस सूत्रमें 'तु' शब्द अवधारणार्थक है। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं-भूतत्रयी स्वरूप ही यह अजा जाननेको योग्य है। सत्त्वादिक गुणत्रय स्वरूप प्रधान नहीं। क्योंकि छान्दोग्य शाखावाले भूतत्रयीको ही लोहित शुक्ल कृष्णरूपसे अध्ययन

करते हैं। अत अजा शब्द लोहितादि विशिष्ट भूतत्रयी स्वरूप भौतिक प्रकृतिको ही कहता है इति।

शंका। सांख्य स्मृति करके उक्त गुणत्रय स्वरूप जो स्वतन्त्र प्रधान है सो ही अजा शब्द करके ग्राह्य क्यों न हो।

समाधान। छान्दोग्य शाखावाले कोईक तेज, अप, अन्नकी परमेश्वरसे उत्पत्तिको कहकरके तिन तेज आदिकोंकी ही रोहितादिक स्वरूपताको कथन करते हैं—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥' 'यदादित्यस्य' 'यच्चन्द्रमसः' इत्यादि। अर्थ-स्थूल भौतिक अग्निमें जो लाल रूप है, सो सूक्ष्म भूतात्मक तेजका रूप है। और जो शुक्ल रूप है, सो जलका है। और जो कृष्णरूप है, सो पृथिवीका है। तथा च ऐसे निश्चयसे अग्निमेंसे अग्नित्व निवृत्त हो गया। क्योंकि अग्निरूप विकार वाग्विलास स्वरूप नाममात्र ही है। केवल सूक्ष्म भूतत्रयी स्वरूप व लोहितशुक्लकृष्ण स्वरूप तीन रूप ही सत्य हैं। इसी प्रकार आदित्य और चन्द्रमा और विद्युतादिक निखिल प्रपञ्चमें केवल तीन रूप ही सत्य हैं। आदित्यादिक निखिल जगत् वाग्विलास स्वरूप नाममात्र ही है अर्थात् भ्रममात्र ही है इति। इस श्रुतिमें स्थित रोहितादिक शब्दों करके कही हुई जो सूक्ष्म भूतत्रयी है और जो लोहितशुक्लकृष्णात्मक निखिल विकारकी प्रकृति है। और विकारकी अपेक्षासे जो सत्य कही जाती है। सो यही प्रकृति अजामन्त्रमें 'रोहितशुक्लकृष्णाम्' इस पदश्रुति करके प्रत्यभिज्ञाकी विषय होती है प्रधान नहीं। क्योंकि 'अजामेकाम्' इत्यादि मन्त्रमें जैसे स्थावरजङ्गमकी प्रकृतिरूप अजामें लोहितशुक्लकृष्णरूपता सुनी गई है। तैसे ही 'यदग्ने रोहितम्' इस मन्त्रमें स्थावरजङ्गमकी प्रकृतिरूप सूक्ष्म भूतत्रयी व रूपत्रयीमें भी रो(लो)हित शुक्लकृष्णरूपता सुनी गई है इति। अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—

शंका। रोहितादिक शब्दोंका प्रधानमें समन्वयको हम प्रथम कह आये हैं?

समाधान। 'रोहितादीनाञ्च शब्दानां रूपविशेषेषु मुख्यत्वात्' इत्यादि भा०। अर्थ—लोहित शुक्ल कृष्णात्मक भूतत्रयी व रूपत्रयीमें मुख्य होनेसे रोहितादिक शब्द तेज आदिकोंको ही बोधन करते हैं। और सत्त्वादिक गुणोंमें गौण होनेसे गुणात्मक प्रधानको बोधन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि मुख्य अर्थके सम्भव हुये रञ्जनादिक गुणयोगसे रोहितादिक शब्दोंका प्रधानमें उपचार नहीं बन सकता है इति।

शंका। छान्दोग्यरूप शाखान्तरमें स्थित 'यदग्ने रोहितं रूपं' इत्यादिक मन्त्र करके श्वेताश्वतर शाखान्तरमें स्थित अजामन्त्रका निर्णय किस प्रकार होगा?

समाधान। 'असंदिग्धेन च संदिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते'। अर्थ—असंदिग्ध है अर्थ जिसका ऐसा जो मन्त्र है तिस मन्त्र करके, संदिग्ध है अर्थ जिसका

ऐसा जो मन्त्र है तिस मन्त्रका, निगमन कहिये योजना न्याय्य है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं इति। प्रसङ्गमें असंदिग्धार्थक 'यदग्ने रोहितं रूपं' इत्यादिक जो मन्त्र हैं तिन मन्त्रों करके संदिग्धार्थक जो 'रोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादिक मन्त्र है तिसकी योजना करनी। क्योंकि "सर्व शाखावोंमें एक ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है" यह शास्त्रका सिद्धान्त है। इस पूर्वोक्त रीतिसे रोहित शुक्ल कृष्ण शब्दका अर्थ तेज, अप्, अन्न रूप भूतत्रयी ही सिद्ध होता है इति।

और जैसे 'यदग्ने रोहितं रूपं' इस शाखान्तरीय वाक्यके बलसे अजा मन्त्रमें प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। तैसे ही श्वेताश्वतर उपनिषत्में भी पूर्वापरकी पर्यालोचना करनेसे अजामन्त्रमें स्वतन्त्र प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषत्में —'ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म' इत्यादि उपक्रम करके विचार किया है कि— क्या केवल शुद्ध ब्रह्म जगत्का कारण है? अथवा शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न जगत्का कारण है? अथवा उपकरण-विशिष्ट ब्रह्म जगत्का कारण है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि निर्विकार शुद्ध ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। तथा द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न केवल जड़ पदार्थसे जगत्की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। शेष तृतीय पक्ष अङ्गीकार करनेको योग्य है। क्योंकि इस प्रकार ब्रह्मवादी पुरुष विचार करके पुनः 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'। अर्थ—सो ब्रह्मवादी पुरुष ध्यानयोग करके परमात्मामें अनुप्रविष्ट होकर सत्त्वादिक स्वगुणों करके विशिष्ट तथा ब्रह्ममें अभेदरूप करके अध्यस्त जो परतन्त्र शक्तिरूप माया है तिस मायाको उपकरण (सहाय) रूप करके देखते भये इति। इस श्वेताश्वतरके वाक्योपक्रममें समस्त जगत्की विधान करने-वाली परमेश्वराधीन शक्तिका ही निश्चय होता है।

तथा 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इस वाक्यशेषमें भी परमेश्वरकी मायारूप प्रकृतिको ही जगत्की कारण कहा है।

तथा—'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः'। अर्थ—जो योनि योनिके प्रति एक अधिष्ठानरूप करके स्थित है सो ही परमात्मा है इति।

शंका। जगत्की योनिरूप मायाशक्तिको एक होनेसे 'योनिं योनिम्' यह वीप्सा नहीं बन सकती है?

समाधान। यहां मायाको एक हुये भी जीवकी उपाधि अविद्याशक्तिरूप जो मायाके अंश हैं सो नाना हैं। ये ही सूक्ष्म स्थूल संघातकी योनि हैं। अतः 'योनिं योनिम्' यह बहुत्व निर्देशरूप वीप्सा भी बन सकती है।

इस मन्त्र करके भी परमेश्वरके आश्रित तिस परतन्त्र मायाका ही निश्चय

होता है। अतः "अजामन्त्र करके स्वतन्त्र कोई प्रधानरूप प्रकृतिको कथन किया है" ऐसा नहीं कह सकते हैं।

और प्रकरणसे भी यही निश्चय होता है कि-अव्याकृत नामरूपवाली तथा नामरूपकी प्रागवस्था जो मायारूप दैवी शक्ति है तिसको ही यह पूर्वोक्त अजामन्त्र कहता है इति। यहां भाष्यमें स्थित-'अव्याकृतनामरूपा' यह जो पद है सो-'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' इत्यादि श्रुत्यन्तरकी प्रसिद्धिको कहता है।

शंका। मायामें रोहितादिकरूपवत्त्वकी उपपत्ति किस प्रकार होगी?

समाधान। मायाके विकाररूप जो तेज अप् पृथिवी हैं; सो लोहित शुक्ल कृष्ण हैं। इसलिये मायाको भी लोहित शुक्ल कृष्णा कहते हैं। अर्थात् मायाको विश्वरूप होनेसे लोहित शुक्ल कृष्णरूप कह सकते हैं ॥ ९ ॥

यहां—"छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार तेज, अप्, अन्नरूप अवान्तर प्रकृति अजामन्त्रका अर्थ है। अथवा श्वेताश्वतरोपनिषित्को पूर्वापर पर्यालोचन करनेसे प्रकरणके अनुसार अजामन्त्र परमेश्वर करके अधिष्ठित परम प्रकृतिरूप मायाशक्तिको ही कहता है" इस अर्थको पूर्व सूत्रमें कह आये हैं।

तहां सांख्यवादी पुनः शंका करता है कि—तेज, अप्, अन्नको प्रसिद्ध अजासे विलक्षण होनेसे त्रैरूप्यकी समता मात्रसे अजा शब्द करके किस प्रकार जाननेके लिये समर्थ हो सकते हैं। किन्तु नहीं हो सकते हैं। अर्थात् क्या तेज, अप्, अन्नमें अजा शब्द रूढ़ है? अथवा यौगिक है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि तेज आदिकोंमें अजात्व जातिके न होनेसे अजा शब्दकी प्रसिद्धि नहीं है। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि यौगिक पक्षमें अजाशब्दकी प्रवृत्तिका निमित्त जन्माभाव है। और तेज, अप्, अन्नकी उत्पत्तिका श्रवण होता है। अतः तेज आदिकोंमें जन्माभाव निमित्तक जो अजा शब्दका प्रयोग है सो नहीं बन सकता है। अतः अजा शब्दका प्रयोग भूतत्रयीमें विरुद्ध है इति? ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार उत्तरको कहते हैं:—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

अर्थ—१ कल्पनोपदेशात्, २ च, ३ मध्वादिवत्, ४ अविरोधः। इस सूत्रमें चार पद हैं। जैसे मधु प्रिय है, तैसे ही आदित्य भी प्रिय है; अतः मधुरूपककी क्लृप्ति करके आदित्यको देवमधु जैसे श्रुतिमें कहा है। अर्थात् मधुके प्रियत्वरूपसादृश्यकी कल्पना करके आदित्यमें मधु शब्दका प्रयोग जैसे होता है। तैसे ही प्रसङ्गमें भी अजारूपककी क्लृप्ति है। अर्थात् लोक प्रसिद्ध अजाके सादृश्यकी कल्पना करके तेज, अप्, अन्नमें भी गौणीवृत्ति करके अजा शब्दका प्रयोग बन सकता है। अतः कोई विरोध नहीं है इति।

अब भाष्यकार भगवान् इस सूत्रके अभिप्रायको—'नायम्' इत्यादि भाष्यसे दिखाते हैं—अर्थात् अजामन्त्रमें स्थित जो 'अजा' शब्द है, सो अजात्व जाति

निमित्तक नहीं है। अर्थात् भूतत्रयीमें रूढ नहीं है। तथा—'न जायत इति अजा' इस रीतिसे यौगिक भी नहीं है।

शंका। यदि अजा शब्द रूढ तथा यौगिक नहीं है, तो तेज, अप्, अन्नरूप अवान्तर प्रकृतिमें किस प्रकार वर्तता है ?

समाधान। तेज आदिकोंमें रूपककल्पना करके अजा शब्दका उपदेश है। अर्थात् चराचरके कारणरूप जो तेज आदिक हैं तिनोंकी अजारूपकक्लृप्तिके उपदेशको यह अजामन्त्र करता है। अब इस रूपकक्लृप्तिके उपदेशको दृष्टान्त करके स्पष्ट करते हैं-जैसे लोकमें कोई यदृच्छा करके जो कदाचित् रोहित शुक्ल कृष्ण वर्णवाली 'अजा' बकरी होवे और अपने सदृश बहुतसी बकरीरूप प्रजावोंको उत्पन्न करनेवाली होवे। तिस अजाको एक अज बकरा सेवन करता हुवा वा प्रेम करता हुवा भोगता है। और दूसरा अज भोग करके तिस अजाको त्याग करता है। तैसे ही सूक्ष्म तेज, अप्, अन्नरूप जो स्थूल भूतोंकी यह प्रकृति है सो भी तीन वर्णवाली है और स्वसदृश बहुत चराचररूप विकार समूहको उत्पन्न करती है। तथा सो प्रकृति अविवेकी पुरुषों करके भोगी जाती है। तथा विवेकी पुरुष करके त्याग करी जाती है। अतः सूक्ष्म भूतत्रयी प्रसिद्ध 'अजा' बकरीके सदृश कही है।

शंका। "एक क्षेत्रज्ञ अजाका सेवन करता है, दूसरा क्षेत्रज्ञ त्याग करता है" इस वचन करके सिद्धान्तीको भी जीवोंका परस्पर भेद ही पारमार्थिक इष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है।

समाधान। सो वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि—**'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'** यह श्रुति जीवोंके पारमार्थिक भेदको प्रतिपादन करनेकी इच्छासे नहीं प्रवृत्त हुई है। किन्तु बन्धमोक्षकी व्यवस्थाको प्रतिपादन करनेकी इच्छासे प्रवृत्त हुई है। अर्थात् लोकमें प्रसिद्ध जो जीवोंका परस्पर भेद है; तिस भेदका अनुवाद करके "भोगसे बन्ध, और त्यागसे मोक्ष होता है" इस प्रकार बन्ध मोक्षकी व्यवस्थाको प्रतिपादन करती है। क्योंकि भेद जो है सो मिथ्या अज्ञानरूप उपाधि करके कल्पित है। अतः भेद पारमार्थिक नहीं हो सकता है। तहां श्रुतिः—**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'** अर्थ—एक जो प्रकाशरूप देव है सो ही सर्वभूतोंमें आवृत्त हो रहा है, और सर्व व्यापक है, तथा सर्वभूतोंका अन्तर आत्मारूप है इति। **'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन'** अर्थ—'आत्मा सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य है' और 'इस आत्मामें नाना कुछ भी नहीं है' इत्यादि इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे भेदको कल्पित होनेसे अजामन्त्रमें प्रधानवादकी प्रत्यभिज्ञा नहीं बन सकती है।

अब 'मध्वादिवत्' इस दृष्टान्तको स्पष्ट करके दिखाते हैं-जैसे मधुसे भिन्न जो आदित्य है; तिसमें मधुत्वकी कल्पना श्रुतिमें करी है। तथा धेनुसे भिन्न जो वाणी है; तिसमें धेनुत्वकी कल्पना श्रुतिमें करी है। तथा अग्निसे भिन्न जो द्युलोकादिक हैं; तिनोंमें अग्नित्वकी कल्पना करी है। और रथादिकसे भिन्न जो शरीरादिक हैं; तिनमें रथादिकी कल्पना श्रुतिमें करी है। तैसे ही अजासे भिन्न जो तेज, अप् अन्नरूप भूतत्रयी है; तिसमें अजात्वकी कल्पना 'अजामेकाम्' इत्यादिक श्रुतिमें करी है। अतः तेज आदिकोंमें भी जो अजाशब्दका प्रयोग है सो विरुद्ध नहीं है इति। यहां पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें समन्वयकी असिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें ब्रह्ममें समन्वयकी सिद्धि फल है इति॥ १०॥

इति चमसाधिकरणं समाप्तम्।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११॥

अर्थ—१ न, २ संख्योपसंग्रहात्, ३ अपि, ४ नानाभावात, ५ अतिरेकात्, ६ च। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यादि मन्त्रमें पञ्चविंशति संख्याका उपसंग्रह होनेसे भी प्रधानादिकोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि यहां ये पञ्चविंशति तत्त्व नाना हैं। अर्थात् यहां प्रत्येक पञ्चकमें साधारण इतर पञ्चकोंसे व्यावृत अनुगमक कोई धर्म है नहीं। और आत्माका व आकाशका आधिक्य भी इस मन्त्रमें श्रवण होता है इति।

'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥' (बृ० ४।४।१७) अर्थ—जिसमें पञ्च पञ्चजन और आकाश स्थित है; तिस ही अमृत स्वरूपको मैं आत्मा मानता हूं। इसलिये अमृत ब्रह्म स्वरूपको जाननेवाला मैं अमृत अविनाशीरूप हूं इति। यह मन्त्र इस सूत्रका विषय है।

"यह मन्त्र सांख्यस्मृति प्रतिपाद्य—२५ तत्त्वोंका प्रतिपादक है; अथवा अन्य अर्थका प्रतिपादक है" यह यहां सन्देह है।

यहां पर पूर्वोक्त प्रकारसे अजा मन्त्र करके सांख्यवादीके अभिमत तत्त्वोंकी सिद्धि नहीं भी हुई तो भी इस मन्त्र करके सांख्यवादी पुनः पूर्वपक्ष करता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें 'पञ्च पञ्चजनाः' यह पञ्च संख्याविषयक दूसरी पञ्च संख्या सुनी जाती है। क्योंकि दो वार पञ्च शब्दका प्रयोग देखा गया है। सो ये पञ्च पञ्चक मिलकर पचीस हुये। पञ्चविंशति संख्या करके जितने संख्येयोंकी आकाङ्क्षा होती है। उतने ही तत्त्वोंका सांख्य स्मृतिमें वर्णन किया है।

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' (सांख्य का० ३)। अर्थ--मूल प्रकृति प्रधानका नाम है, यह किसीकी विकृति (कार्य) नहीं है; किन्तु सर्वकी प्रकृति (कारण) ही है। और महद्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्रा, ये सात प्रकृति भी हैं विकृति भी हैं। क्योंकि महत्तत्त्व मूल प्रकृतिकी विकृति है; और अहङ्कार आदिकी प्रकृति है। और अहङ्कार महत्तत्त्वकी विकृति है; और सो ही अहङ्कार तमःप्रधान हुवा पञ्च तन्मात्रावों (सूक्ष्म भूत) की प्रकृति है। और सत्त्व प्रधान हुवा एकादश इन्द्रियोंकी प्रकृति है। और तन्मात्रा अहङ्कारकी विकृति हैं; पञ्च स्थूल भूतोंकी प्रकृति हैं। पञ्च स्थूल भूत, और एकादश इन्द्रिय, यह १६ विकार ही हैं, प्रकृति किसीकी नहीं हैं। यद्यपि पृथिवी आदिकोंमें देह घटादिकी कारणता है; तथापि देह घटादिक पृथिवी आदिकसे तत्त्वान्तर नहीं हैं इसलिये पृथिवी आदिक प्रकृति नहीं हैं। 'तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वं' 'तत्त्वान्तरके उपादानका नाम प्रकृति है'। यह प्रकृतिका लक्षण यहां विवक्षित है। केवल उपादान मात्रको प्रकृति नहीं माना है। पुरुष कूटस्थ नित्य अपरिणामी है; न किसीकी प्रकृति है न विकृति है इति। इसलिये सांख्य-प्रसिद्ध इन पञ्चविंशति तत्त्वोंका श्रुतिप्रसिद्ध पञ्चविंशति संख्या करके उपसंग्रह होनेसेः सांख्यवादमें श्रुतिकी प्रमाणता सिद्ध होगई।

शंका। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें सांख्यशास्त्रप्रसिद्ध तत्त्वोंका ग्रहण नहीं है। क्योंकि यहां यदि सांख्यप्रसिद्ध २५ तत्त्वोंका ग्रहण होता तो इस मन्त्रमें 'यस्मिन्' पदसे आत्माको तत्त्वोंके आधाररूपसे कहा है; और 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' यह आकाशकी आधारता आत्मामें जुदी कही है। इस-लिये पञ्चविंशति तत्त्वोंमेंसे आत्मा और आकाशको अलग निकल जानेसे त्रयोविंशतिजनाः' ऐसा पाठ होना चाहिये था, 'पञ्च पञ्चजनाः' ऐसा पाठ असङ्गत हो जायगा।

समाधान। आकाश और आत्माके पृथग् होनेपर भी प्रकृतिके सत्त्व, रज, और तम तीन भाग समझकर "पञ्च पञ्चजनाः" यह पाठ बन सकता है।

शंका। ऐसा माननेसे आत्मा और आकाशको मिलाकर २७ तत्त्व हो गये "पञ्चविंशति तत्त्व हैं" इस सिद्धान्तका व्याकोप होगा।

समाधान। सत्त्व, रज, तमको मूल प्रकृति मात्र होनेसे सिद्धान्तकी हानि नहीं होती है। यदि तीन गुणोंकी पृथग् विवक्षा हो तो २७ तत्त्व कह देनेमें भी कोई विरोध होता नहीं। इसलिये श्रुतिमूलक सांख्य स्मृति अप्रमाण नहीं है।

अथ सिद्धान्तपक्ष। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पञ्चविंशति संख्याका उपसंग्रह (ग्रहण) होनेसे भी प्रधानादिकोंमें श्रुति प्रमाणताकी आशा नहीं करनी। क्योंकि 'नानाभावात्' अर्थात् ये पञ्चविंशति तत्त्व नाना हैं; अर्थात् इन पच्चीस तत्त्वोंके प्रत्येक पञ्चकमें रहनेवाला इतर पञ्चकसे व्यावृत्त कोई साधारण

धर्म नहीं है, जिससे पञ्चविंशति संख्याके अवान्तर अन्य पञ्च पञ्च संख्याका निवेश हो सके। क्योंकि पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा मनमें कोई एक अनुगत धर्म, क्रिया, अथवा जाति व गुण व सम्बन्ध नहीं है; जो इतरसे व्यावृत्त हो। इसी तरह अन्य पञ्चकोंमें भी जानना। यद्यपि पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंमें असाधारण धर्म ज्ञानेन्द्रियत्व है। और पञ्च कर्मेन्द्रियोंमें कर्मेन्द्रियत्व है। और पञ्च तन्मात्रावोंमें स्थूलप्रकृतित्व है। तथापि 'यस्मिन्' पदसे आत्माको पञ्चविंशति तत्त्वोंका आधाररूपसे पृथग् वर्णन किया है। और आकाशको भी पञ्चजनोंसे पृथग् कहा है। अतः पञ्चविंशतिसंख्यापूर्तिके लिये सत्त्व, रज, तम, महत्तत्त्व, और अहङ्कारको एक पञ्चक कहना होगा। और मनको अन्य चार वायुआदिक तत्त्वोंमें मिलाकर अन्य पञ्चक कहना होगा। तथा च इन दोनों पञ्चकोंमें इतर पञ्चक व्यावृत्त कोई धर्म अनुगमक है नहीं। एक अनुगत अवच्छेदकरूप धर्मके विना नाना पदार्थोंमें द्वित्वादिक संख्याका निवेश नहीं देखा गया है।

शंका। **'पञ्च सप्त च वर्षाणि न ववर्ष शतक्रतुः'।** अर्थ—१२ वर्ष पर्यन्त इन्द्रने वर्षा नहीं करी इति। यहां पर जैसे वर्षाकालके ज्ञाता पुरुष अवान्तर संख्यासे बारह वर्षकी अनावृष्टिका कथन करते हैं। तैसे ही 'पञ्च पञ्च' इस अवान्तर संख्या करके पञ्चविंशति संख्याका बोध हो जावेगा।

समाधान। सो भी नहीं बन सकता है। क्योंकि इस पक्षमें लक्षणापत्तिरूप दोष होगा। दो वार उच्चारित पञ्च शब्दकी पांच पञ्चकोंमें लक्षणा माननी पड़ेगी; तब पञ्चविंशति संख्याका लाभ होगा। नहीं तो 'पञ्च सप्त वर्षाणि' यहांपर जैसे बारह वर्षका बोध हुवा है। तैसे ही दश संख्याविशिष्ट जनोंका ही बोध होगा।

वस्तुतः 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' यहांपर, पर 'पञ्च' शब्द 'जन' शब्दके साथ समस्त है—**'पारिभाषिकेण स्वरेणैकपदत्वनिश्चयात्'।** यह भाष्य है। अर्थ—ब्राह्मणभव स्वरसे समासका निश्चय होनेसे पञ्चजन शब्द समस्त है। अर्थात् यहां 'जन' शब्द अन्त उदात्त है; यह स्वर 'समासस्य' इस सूत्र करके समासमें ही होता है। 'भाषा' शब्दकी ब्राह्मण भागमें, 'प्रवचन' शब्दकी मन्त्र भागमें वैदिकोंकी रूढ़ि है इति। **'पञ्चानां त्वा पञ्चजनानाम्'** (तै० १।६।२।२)। ऐसा तैत्तरीय श्रुतिमें प्रयोग देखा गया है। इसलिये 'पञ्चजनाः' यहां एक पद (समास), एक स्वर, व एक विभक्तिका ही निर्णय होता है।

शंका। समास मान लेनेसे क्या हो जायगा?

समाधान। समास होनेसे पञ्च पञ्च यह वीप्सा नहीं बन सकती है। और 'पञ्च पञ्च' इस प्रकार पञ्चक द्वयका भी यहां ग्रहण नहीं बन सकता

है। अन्यथा पञ्चक द्वयको मिलाकर दश जनोंका ही लाभ होगा। और पर पञ्च संख्याकी पूर्व पञ्च संख्या विशेषण भी नहीं बन सकती है; जिससे पञ्च पञ्चकका लाभ होवे। क्योंकि विशेषणको प्रधानके साथ सम्बन्धकी आकाङ्क्षा होनेसे उपसर्जनके साथ सम्बन्ध (अन्वय) इष्ट नहीं है।

शंका। जैसे 'पञ्च पञ्चपूल्यः' यहांपर पञ्चविंशति पूलीका भान होता हैं। तैसे ही पञ्च संख्या विशिष्ट जनोंका पुनः पञ्च संख्या विशेषण होनेसे पञ्चविंशतिका लाभ हो जावेगा।

समाधान। 'पञ्चपूली' शब्दमें पञ्च संख्या समुदायि पञ्च पूलियोंकी अवच्छेदक (व्यावर्तक) है। समास गम्य समुदायकी अवच्छेदक नहीं है। अतः 'कितने समुदाय हैं' ऐसी आकाङ्क्षा होती है। तिसकी निवृत्तिके लिये 'पञ्चपूल्यः' का विशेषण पुनः 'पञ्च' कहना उचित है। पञ्च पूलियोंका समाहार (समुदाय) यह 'पञ्चपूल्यः' शब्दका अर्थ है। पञ्चजन शब्दमें 'सप्तर्षिः' 'दक्षिणाग्निः' शब्दको तरह कर्मधारय समास है। 'पञ्चपूल्यः' की तरह समाहार नहीं है। पञ्चजन घटक पञ्च संख्या जनोंकी व्यावर्तक है। पञ्च संख्यासे ही जनोंका भेद भास गया है। समुदायका समाससे भान है नहीं। अतः 'कितने समुदाय हैं' यह आकङ्क्षा नहीं होनेसे; 'पञ्च पञ्चजनाः' इस पञ्च संख्याको पञ्चजनका विशेषण करके पञ्चविंशति संख्याका लाभ नहीं हो सकता है।

शंका। पञ्चसंख्याविशिष्ट जनोंका विशेषण पञ्च संख्या मत रहो; परन्तु पञ्चजन घटक पञ्च संख्याका विशेषण पञ्च क्यों न होजाय। क्योंकि जैसे 'जन' पञ्च संख्या करके अवच्छिन्न हैं, तैसे जनका विशेषण पञ्च संख्या किसी करके अवच्छिन्न है नहीं ?

समाधान। अनवच्छिन्न होनेसे यदि यह पञ्च संख्या विशेषण होगी तो पञ्चसंख्याकी ही होगी। इस पक्षमें दोष कह आये हैं—'**उपसर्जनस्य विशेषणेनासंयोगात्**'। अर्थ—उपसर्जनका विशेषणके साथ अन्वय नहीं होता है इति। अतः '**पञ्च पञ्चजनाः**' यहांपर पञ्चविंशति तत्त्व अभिप्रेत नहीं हैं।

और आत्मा व आकाशका निर्देश अधिक होनेसे भी, '**यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः**' इस मन्त्रका पञ्चविंशति तत्त्वोंके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है। अर्थात् पञ्च संख्या पञ्चसंख्याकी विशेषण होनेपर भी 'यस्मिन् पञ्च' यह मन्त्र सांख्यप्रतिपाद्य पञ्चविंशति तत्त्वोंका प्रतिपादक नहीं बन सकता है। क्योंकि आत्मा और आकाशसे पञ्चविंशति संख्यावाले तत्त्वोंका मन्त्रमें पृथग् ग्रहण किया है। और आत्माको तत्त्वोंकी प्रतिष्ठाके प्रति आधाररूपसे निर्देश किया है।

शंका। 'यस्मिन् पञ्च' इस मन्त्रमें "तत्त्वोंका आधाररूपसे आत्मा निर्दिष्ट है" यह निश्चय कैसे हो सकता है।

समाधान। 'यस्मिन् पञ्च' इस मन्त्रमें आधाररूपसे आत्मा ही निर्दिष्ट है। क्योंकि 'यस्मिन्' इस सप्तमी विभक्ति करके निर्दिष्ट जो पञ्च पञ्चजनका व आकाशका आधार है; तिसका ही 'तमेव मन्य आत्मानम्' इस मन्त्रभाग करके आत्मरूपसे अनुकर्षण किया है।

और यदि 'यस्मिन् पञ्च' यह मन्त्र सांख्यप्रतिपाद्य तत्त्वोंका प्रतिपादक होवे तो आत्मा चेतन पुरुष है; सो भी सांख्य मतमें पञ्चविंशति तत्त्वोंके अन्तर्गत ही है। इसलिये एक ही आत्मामें आधेयपना और आधारपना कहना युक्त नहीं होवेगा।

यदि मूल प्रकृतिसे सत्त्वरजतमकी विवक्षा करके आत्मा और आकाशको तत्त्वोंके अन्तर्गत नहीं मानोगे तो सिद्धान्तका व्याकोप होगा। यदि आत्मा और आकाशको भी तत्त्व स्वरूप मानोगे तो सिद्धान्तसे विरुद्ध तत्त्वोंकी संख्याका आधिक्य होवेगा। अर्थात् २७ सप्तविंशति तत्त्वोंकी प्रसक्ति होवेगी।

यदि प्रकृतिके अवान्तर भेद सत्त्व रज तमको तत्त्वान्तर न मानोगे तो पञ्चविंशति तत्त्वोंके अन्तर्गत आत्माको सर्व तत्त्वोंका आधाररूपसे कह कर शेष चौवीस तत्त्वोंका ही आधेयरूपसे वर्णन करना उचित होगा। पञ्चविंशति तत्त्वोंकी और छव्वीसवां आकाशकी पृथग् पृथग् आधेयता वर्णन करनी अनुचित होगी। तैसे ही 'आकाशश्च प्रतिष्ठितः' इस वाक्यसे पञ्चविंशति तत्त्वोंके अन्तर्गत आकाशका भी पृथक् ग्रहण न्याय्य नहीं है। और यदि आकाशको पञ्चविंशति तत्त्वोंसे पृथग् मानोगे तो; इस पक्षमें तत्त्वोंकी संख्याका आधिक्यप्रसङ्गरूप दूषण† कह आये हैं। और 'यस्मिन् पञ्च' इस मन्त्रमें केवल पञ्चविंशति संख्यामात्रके श्रवणसे अश्रुत सांख्यप्रतिपाद्य तत्त्वोंके

---

† शंका। सत्त्व रज तमकी पृथग् गणनासे तत्त्वोंकी २७ सप्तविंशति संख्या इष्ट ही है। अतः यह अतिप्रसङ्ग दूषण नहीं है।

समाधान। तत्त्वोंके आधिक्यको इष्ट करने पर भी तत्त्वोंसे आकाशकी पृथग् उक्ति व्यर्थ होगी। और–'यस्मिन्' यह आत्मामें तत्त्वोंकी आधारताका वर्णन भी विरुद्ध होगा। क्योंकि सांख्यमतमें महत्तत्त्वादिक तत्त्वोंका आधार स्वतन्त्र प्रधान ही है। और असङ्ग पुरुष तत्त्वोंका आधार है नहीं। और सांख्यमतमें जगत्को सत्य होनेसे जगत्में मिथ्यात्वके बोधक–'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्यशेषका विरोध होगा। अतः 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रसे सांख्यवादकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

उपसंग्रहकी प्रतीति भी कैसे हो सकती है। अर्थात् किसी प्रकारसे भी नहीं बन सकती है। और जन शब्दकी तत्त्वोंमें रूढ़ि भी नहीं है। अन्य अर्थके ग्रहण करनेसे भी संख्याकी उपपत्ति हो सकती है।

शंका। तो फिर 'पञ्च पञ्चजनाः' यहां पर क्या अर्थ है?

समाधान। 'दिक् संख्ये संज्ञायाम्' इस विशेष सूत्रसे संज्ञामें ही पञ्च शब्दका जन शब्दके साथ समास है। तथा च 'पञ्चजन' यह शब्द रूढ है। रूढिके अभिप्रायसे ही यहां पर कोई क प्रसिद्ध पञ्चजन विवक्षित हैं। सांख्य तत्त्वोंके अभिप्रायसे नहीं। 'सो पञ्चजन कितने हैं' ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर पुनः पञ्च कहा है। अर्थात् 'जो कोई पञ्चजन हैं सो पांच ही हैं' यह 'पञ्च पञ्चजनाः' इस शब्दका अर्थ है। जैसे 'सप्त सप्तर्षयः' शब्दका 'सप्त ऋषि सात ही हैं' यह अर्थ है इति ॥११॥

पुनः कौन सो पञ्चजन हैं? इसका उत्तर सूत्रकार स्वयं कहते हैं:—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

अर्थ—१ प्राणादयः, २ वाक्यशेषात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि वाक्यशेषके बलसे पञ्चजन शब्द करके प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, और मनका ग्रहण करना इति।

अर्थात् **'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः'**। इस मन्त्रसे उत्तर मन्त्रमें ब्रह्म स्वरूपके निरूपणके लिये प्राण आदिक पांचोंका निर्देश किया है—**'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः'** इति माध्यन्दिन० श्रु०। अर्थ—प्राणका प्राण, नेत्रका नेत्र, श्रोत्रका श्रोत्र, अन्नका अन्न, मनका मन, ब्रह्मका स्वरूप जो जानते हैं सो सनातन सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मको जानते हैं। अर्थात् प्राण आदिका जीवन हेतु सत्य स्वरूप ब्रह्म है इति। सो ये ही सन्निधानके बलसे वाक्यशेषगत प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न, और मन; 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रमें पञ्चजन शब्द करके विवक्षित हैं।

शंका। 'जायन्त इति जनाः' इस व्युत्पत्ति करके कार्य मात्रका वाचक जन शब्द है। अथवा जन शब्द मनुष्योंमें प्रसिद्ध है। प्राण आदिक पञ्च पञ्चजन शब्दके अर्थ कैसे हो सकते हैं?

समाधान। तत्त्वोंमें जन शब्द (पञ्चजन शब्द) का प्रयोग कैसे हुआ? यह भी प्रश्न हो सकता है। प्रसिद्धिका अतिक्रम (त्याग) उभय पक्षमें समान ही है। इसलिये वाक्यशेषके बलसे पञ्चजन शब्द करके प्राण आदिकोंका ही ग्रहण उचित है। और जनसम्बन्धसे भी प्राण आदिकोंमें जन शब्दका प्रयोग बन सकता है।

'ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः' (छा० ३।१३।६)। अथ—हृदय पुर वासी ब्रह्मके द्वारपाल होनेसे सो ये प्राणादिक पञ्च ब्रह्मपुरुष कहे जाते हैं। क्योंकि हृदयरूप पुरके पांच द्वार हैं। पूर्व छिद्ररूप द्वार प्राण करके अधिष्ठित है। और दक्षिण छिद्र व्यान करके अधिष्ठित है। और पश्चिम द्वार अपान करके अधिष्ठित है। और उत्तर द्वार समान करके अधिष्ठित है। और ऊर्ध्व द्वार उदान करके अधिष्ठित है इति। इस छान्दोग्य श्रुतिमें जन वाचक पुरुष शब्दका प्रयोग भी प्राणादिकोंमें प्रसिद्ध है।

'प्राणो ह पिता प्राणो ह माता' (छा० ७।१५।१)। इत्यादि ब्राह्मणमें जन वाचक पितादि शब्दका प्रयोग भी प्राणमें प्रसिद्ध है। और समासके बलसे भी पञ्चजन शब्दको प्राणादिकोंमें रूढ माननेमें कोई विरोध नहीं है।

शंका। जो रूढ शब्द होता है सो लोकमें प्रसिद्ध होता है। पञ्चजन शब्दकी प्राणादिकोंमें लौकिक प्रसिद्धि है नहीं। इसलिये पञ्चजन शब्दकी प्राणादिकमें रूढिका आश्रयण कैसे कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते हैं?

समाधान। उद्भिदादि शब्दकी तरह पञ्चजन शब्दकी भी रूढि आश्रयण कर सकते हैं। क्योंकि "प्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दके समीपमें अप्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दका जहां प्रयोग होता है। तहां प्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दका जो अर्थ होता है, सो ही अर्थ समीप उच्चरित अप्रसिद्ध अर्थवाचक शब्दका भी होता है" यह नियम है।

जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यहां पर "उद्भिद् पद कर्मनाम है; व विधेय गुण समर्पक है" यह संशय है। उद्भिद् शब्द खनित्र (फडुवा) आदिमें प्रसिद्ध होनेसे; और याग वाचक 'यजेत' शब्दके प्रयोगसे ही कर्मका लाभ हो जानेसे, ज्योतिष्टोममें गुणविधि है। यह यहां पूर्वपक्ष है। ज्योतिष्टोम अप्रकृत हैं, अतः गुणविधि नहीं हो सकती है। किन्तु सन्निहित 'यजेत' के प्रयोगबलसे 'उद्भिद्' यागका नाम है। यह सिद्धान्त है। और 'यूपं च्छिनत्ति' यहांपर 'च्छिनत्ति' शब्दके योगसे यूप शब्द करके दारुविशेष प्रतीत होता है। और 'वेदिं करोति' यहांपर 'करोति' शब्दके योगसे 'वेदि' शब्दका अर्थ संस्कार-योग्य स्थण्डिलविशेष स्वीकार किया है।

तैसे ही यह 'पञ्चजन' शब्द भी 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इस सूत्र करके समस्त होनेसे किसीकी संज्ञा प्रतीत होता है। संज्ञीकी आकाङ्क्षा होनेपर सन्निहित वाक्यशेषके बलसे "पञ्चजन शब्द प्राण आदिकोंमें रूढ है" यह निश्चय होता है।

और देव, पितर, गन्धर्व, असुर, राक्षस, पञ्चजन शब्दका अर्थ है। ऐसा एक मत है।

चार वर्ण पांचवा निषाद* पञ्चजन शब्दका अर्थ है। ऐसा अन्य किसीने वर्णन किया है।

*टि०—शूद्रामें ब्राह्मणसे पैदा हुवा निषाद कहा जाता है।

कहीं पर प्रजामें पञ्चजन शब्दका प्रयोग देखा गया है—'यत्पाञ्चजन्यया विशा' (ऋ० सं० ८।५३।७) इस मन्त्रमें पाञ्चजन्य शब्दका अर्थ मनुष्यरूप प्रजा किया है। इस श्रुतिके अनुसार पञ्चजन शब्द करके प्रजामात्रका अथवा देव पितर आदिका ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है।

और वस्तुतः पञ्च प्राण, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च भूत, अविद्या स्मिता राग द्वेषाभिनिवेशरूप पञ्च क्लेश, इन पच्चीसोंका यहां 'पञ्च पञ्चजन' शब्द करके ग्रहण करना उचित है। 'जायन्त इति जनाः' इस योग-वृत्तिका भी इस पक्षमें सम्भव हो सकता है। क्योंकि कर्मेन्द्रिय आदिक सर्व उत्पत्तिवाले ही हैं। 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिर-विद्या'! यह योगसूत्र है। अर्थ—अनित्यमें नित्यबुद्धि, अशुचिमें शुचिबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि, अनात्मामें आत्मबुद्धि, अविद्या है इति। यह कार्याविद्या भी बुद्धिरूप होनेसे कार्यरूप ही है। इस पक्षमें आकाश शब्द करके मूलाविद्याका ग्रहण उचित है। क्योंकि कारणरूप अविद्या ही आधेय कुक्षिमें शेष रह गई है 'आकाशे तदोतश्च प्रोतञ्चेति' (वृ० ३।८।४)। इस श्रुति विषे मूलाविद्यामें भी आकाश शब्दका प्रयोग देखा गया है। मूलाविद्याको आत्मामें प्रतिष्ठित होनेसे अविद्यामें स्थित पञ्चविंशति संख्यक प्राणादिक भी आत्मामें ही वस्तुतः प्रतिष्ठित हैं। और जन शब्द वाच्यसे अजन्य मूलाविद्याका पृथग् करना भी इस पक्षमें सङ्गत होता है। इस पक्षमें 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इत्यादि श्रुतिका "कार्य कारणका आधार ब्रह्म आत्मा ही है" यह अर्थ सिद्धान्तानुसारी सिद्ध होता है। 'तत्परिग्र-हेऽपि न कश्चिद्विरोधः' इति भाष्यम्। अर्थ—पञ्च पञ्चजन शब्द करके पञ्चविंशति संख्यक प्राणादि कार्यवर्गके ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है इति।

शंका। यदि पञ्चजन शब्द करके देवादिकोंके ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है तो आचार्यने पञ्चजन शब्दसे प्राणादिका ग्रहण क्यों किया है?

समाधान। सांख्य अभिमत पञ्चविंशति तत्त्वोंका ग्रहण 'पञ्च पञ्चजनाः' इस श्रुति करके नहीं होसकता है। क्योंकि सांख्यमतमें प्रधान स्वतन्त्र है; बुद्धि आदिक अन्य तत्त्व प्रधानके आश्रित हैं। पुरुष असङ्ग है। प्रधानादिकोंको पुरुषके आश्रित माननेसे पुरुषमें असङ्गताकी, प्रधानमें स्वतन्त्रताकी हानि होगी। इस अभिप्रायसे आचार्यने 'प्राणादयो वाक्यशेषात्' इस सूत्र करके प्राण आदिकोंको पञ्चजन शब्दका अर्थ कहा है इति॥ १२॥

शंका। माध्यन्दिन शाखामें अन्नको प्राण आदिकोंमें ग्रहण किया है। इसलिये माध्यन्दिन शाखावालोंके मतमें प्राण आदिक पञ्चजन शब्दके अर्थ हो सकते हैं। परन्तु काण्व शाखावालोंके मतमें प्राणादिक पञ्चजन शब्दके अर्थ

कैसे हो सकते हैं; क्योंकि काण्व शाखामें अन्नको प्राणादिप्रतिपादक 'प्राणस्य प्राणमुत' इत्यादि मन्त्रमें ग्रहण किया नहीं ?

अतः सूत्रकार इस शंकाके समाधानको स्वयं कहते हैं:—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

अर्थ—१ ज्योतिषा, २ एकेषाम्, ३ असति, ४ अन्ने । इस सूत्रमें चार पद हैं। काण्व शाखावालोंके मतसे 'प्राणस्य प्राणमुत' इस मन्त्रमें अन्नका ग्रहण न होनेपर भी ज्योति करके पञ्च संख्याकी पूर्ति हो जावेगी। क्योंकि काण्वशाखावाले भी 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रके पूर्वमन्त्रमें ब्रह्म स्वरूप निरूपणके वास्ते ही ज्योतिको पढ़ते हैं–'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इति ।

शंका । 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' इस मन्त्रसे पूर्वमन्त्रमें माध्यन्दिन शाखा व काण्वशाखा दोनोंमें ही ज्योतिका पाठ तुल्य है। अतः दोनोंके मतसे ही उत्तर मन्त्रमें ज्योतिका ग्रहण होना चाहिये। काण्वशाखावालोंके मतमें ही समान मन्त्रगत पञ्च संख्या करके ज्योतिका ग्रहण क्यों होता है ?

समाधान । 'अपेक्षाभेदात्' इति भाष्यम्। अर्थात् माध्यन्दिन शाखा-वालोंके मतमें 'प्राणस्य प्राणम्' इस मन्त्रमें अन्नका ग्रहण होनेसे पञ्चजनका लाभ हो जाता है; इसलिये पूर्व मन्त्र पठित इस ज्योतिकी अपेक्षा नहीं होती है। और काण्वशाखावालोंके मतमें अन्नका ग्रहण उक्त मन्त्रमें है नहीं। अतः पञ्चजन-का लाभ न होनेसे "प्राणादिक पञ्चजनोंमें पांचवां कौन है" ऐसी अपेक्षा होती है। इसलिये अपेक्षाभेदसे एक ही मन्त्रमें सूर्यादिरूप ज्योतिका ग्रहण और अग्रहण है। जैसे एक ही अतिरात्रमें वचनभेदसे शोडषीपात्रका ग्रहण व अग्रहण होता है; तैसे ही प्रकृतमें जानना। सो इस प्रकारसे सांख्य अभिमत प्रधानमें कोई श्रुति प्रमाण नहीं है। स्मृति और युक्ति करके भी "सांख्य अभिमत तत्त्वों-की प्रसिद्धि नहीं हो सकती है" इस वार्ताको आगे प्रतिपादन करेंगे। यहां भी पूर्वपक्षमें ब्रह्ममें समन्वयकी असिद्धि फल है। और सिद्धान्तमें समन्वयकी सिद्धि फल है ॥ १३ ॥

इति संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

अर्थ—१ कारणत्वेन, २ च, ३ आकाशादिषु, ४ यथाव्यपदिष्टोक्तेः। इस सूत्रमें चार पद हैं। कार्यविषयक क्रमाक्रमका विगान होनेपर भी कारणविषयक श्रुतियोंमें कोई विगान (विरोध) नहीं है। क्योंकि सत्य सर्वज्ञ सर्वशक्ति एक अद्वितीय ब्रह्मका जैसे एक वेदान्तमें कारणरूपसे निर्देश किया है ऐसे ही सर्व वेदान्तोंमें समान ही कारणका निरूपण किया है इति ।

सम्पूर्ण जगत्कारण बोधक वाक्य इस सूत्रके विषय हैं।

'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्र करके 'जगज्जन्मादिकारणत्व' ब्रह्मका लक्षण कहा। 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि सूत्र करके सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंकी गतिसामान्यका विषय ब्रह्मको प्रतिपादन किया। 'आनुमानिकमपि' इत्यादि सूत्र करके प्रधानमें वेद करके अप्रतिपाद्यपनाको सिद्ध किया।

तहां वादियोंका विवाद होनेसे "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यादि जगत्कारणवादिवाक्य "ब्रह्ममें प्रमाण हैं वा नहीं" यह 'सन्देह' होता है।

तहां पूर्ववादी यह पूर्वपक्ष करता है—

अथ पूर्वपक्ष। सिद्धान्तीने जो—'जगत्के जन्मादिका कारणत्व' ब्रह्मका लक्षण कहा है सो नहीं बन सकता है। और सर्व वेदान्तवाक्योंकी ब्रह्मविषयक गति (तात्पर्य) सामान्यका भी निश्चय नहीं कर सकते हैं। क्योंकि कार्य व कारणवादि वाक्योंका परस्पर विरोध देखा गया है। प्रत्येक उपनिषदोंमें कहीं किसी क्रमसे कहीं किसी क्रमसे, कहीं क्रमके विना ही, सृष्टिका प्रतिपादन किया है।

अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं—कहीं पर 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१) 'आत्मासे आकाश पैदा हुवा' इत्यादि वाक्योंमें आत्मासे प्रथम आकाशकी उत्पत्ति कह करके आकाशकी उत्पत्तिके क्रमसे सृष्टिका कथन किया है।

और कहीं पर—'तत्तेजो असृजत' (छा० ६।२।३)। 'सो सद्रूप ब्रह्म तेजको रचता भया' इत्यादि वाक्योंमें सद्रूप ब्रह्मसे तेजकी उत्पत्तिको प्रथम कह करके तेजकी उत्पत्तिक्रमसे सृष्टिका कथन किया है।

और कहीं पर—'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्' (प्र० ६।४)। अर्थ—सो षोडशकल पुरुष प्राणको प्रथम रचता भया, प्राणसे श्रद्धाको रचता भया इति। इत्यादि वाक्य करके प्राण आदिक विलक्षण क्रमसे सृष्टिका कथन किया है।

और कहीं पर—'स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः॥' (ऐ० उ० १।१।२)। अर्थ—सो आत्मा इन लोकोंको रचता भया; लोकोंका विभाग करके वेद स्वयं दिखाता है—अम्भ-स्वर्गादि सत्यलोक पर्यन्त, मरीची-अन्तरिक्ष, मरम्-पृथिवी, आपः-बाकी बचे हुये पाताल पर्यन्त सप्तलोक इति। इत्यादि वाक्य करके विना क्रमसे सृष्टिको कहकर पुनः लोकोंके क्रमका अभिधान किया है।

और कहीं पर असत्से सृष्टिकी उत्पत्ति कही है। जैसे— 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' (तै० २।७)। अर्थ—यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असत् स्वरूप ही था। तिस असत्से सत् स्वरूप जगत् पैदा हुवा है इति।

और—'असदेवेद*मग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्' (छा० ३।१९।१)। अर्थ—यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असद् ही था, पुनः सो सद्रूप होता भया इत्यादि इति।

और कहीं पर असद्वादका निराकरण करके सत्से सृष्टिउत्पत्तिकी प्रतिज्ञा करी है--जैसे-'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्। अर्थ--यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असत् ही था ऐसा कोई कहते हैं इति। इस प्रकार उपक्रम करके आगे कहा है-'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।२)। अर्थ—हे प्रिय! यह असत्से सृष्टिका विधान कैसे बन सकता है? असत्से सत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसलिये एक अद्वितीय सत् ही उत्पत्तिके पहिले था यह सिद्धान्त है इति।

और कहीं पर स्वतः ही जगत्की उत्पत्ति कही है--जैसे-- 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृ० १।४।७)। अर्थ—उत्पत्तिके पहिले यह जगत् अव्याकृत था। सो अनभिव्यक्त नामरूपवाला जगत् ही नाम रूप करके सृष्टि दशामें व्याकृत (अभिव्यक्त) हुवा है इति।

इस प्रकारसे कार्य व कारणके प्रतिपादक वेदवाक्योंमें अनेक विवाद हैं। वस्तुप्रतिपादनमें विकल्पका भी असम्भव है। अतः वेदान्तवाक्यों करके ब्रह्ममें जगत्की कारणताका निश्चय नहीं हो सकता है। किन्तु स्मृति और युक्तिके बलसे ही कारणान्तर प्रधानादिका स्वीकार करना न्याय्य है इति।

यहां पर—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि कारणविषयक वाक्योंका—'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि कारणविषयक वाक्योंके साथ विरोध है। और 'तद्धेदं तर्हि' इत्यादि स्वयंकर्तृक सृष्टिवाक्योंका—और अन्यकर्तृक सृष्टिवाक्योंका भी परस्पर विरोध है। और सृष्टिके क्रम अक्रम विक्रम बोधक वाक्योंका विरोध भी स्पष्ट ही है। और सृष्टिरूप कार्यसे कारणरूप ब्रह्मका निश्चय करना है। सृष्टिविषयक विवादसे 'सृष्टिकारणत्व' रूप ब्रह्मके लक्षणमें भी विवाद होता है। लक्षणमें विवादसे लक्ष्य ब्रह्ममें भी विवाद सिद्ध होता है। अतः ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका समन्वय सिद्ध नहीं हो सकता है। और गतिसामान्यकी विषयता भी ब्रह्ममें सिद्ध नहीं हो सकती है। इसलिये कर्मके अङ्ग देवता वा कर्ताके प्रतिपादक होनेसे सम्पूर्ण वेदान्त गौण हैं। वा अविवक्षित अर्थवाले हैं। वा जपमात्रके उपयोगी हैं। यह अर्थ पूर्वपक्षीके मतसे सिद्ध हुवा।

अब इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती समाधान करते हैं—

---

*यह जगत् उत्पत्तिके पहिले असत् ही था। प्रश्न—क्या शून्यरूप ही था? उत्तर—नहीं, किन्तु सद्रूप ब्रह्म ही होता भया सो ब्रह्म ही जगत् रूपसे प्रतीत हुवा है इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। 'न स्रष्टरि किञ्चिद् विगानमस्ति' इत्यादि भा०। अर्थ-हर एक वेदान्तमें आकाशादि कार्यगत क्रम अक्रम आदिका विरोध होनेपर भी स्रष्टामें कुछ भी विगान नहीं है इति। क्योंकि-'यथा व्यपदिष्टोक्ते' अर्थात् जिस प्रकारसे एक वेदान्तमें सर्वज्ञ, सर्वशक्ति,सर्वेश्वर, सर्वात्मा, एक अद्वितीय परमेश्वरको जगत्का कारण कहा है। तैसे ही अन्य वेदान्तोंमें भी जगत्के कारणको कहा है। अब इसी विषयको श्रुतिके उदाहरणोंको देकर स्पष्ट करते हैं:—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) यहां पर ज्ञानशब्द करके; और आगे इसी प्रकरणमें कारणविषयक 'सोऽकामयत' इस वचन करके; जगत्कारण ब्रह्मरूप आत्माको चेतनरूपसे निरूपण किया है। "ब्रह्मको किसी करके प्रयोज्य न होनेसे कारण ब्रह्म स्वतन्त्र ईश्वर है" इस अर्थको श्रुतिने कहा है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' अर्थ—तिस 'सत्यं ज्ञानं' इत्यादि मन्त्रप्रतिपाद्य इस अपरोक्ष आत्मासे आकाश उत्पन्न हुवा इति। और आगे तिसी कारणविषयक आत्मशब्दके प्रयोगसे "ब्रह्म ही अन्नमय आदिक कोशपरम्पराके अन्तःप्रविष्ट होनेसे सर्वका अन्तर्यामी प्रत्यगात्मा है" इस अर्थका निर्धारण किया है। 'बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६)। अर्थ—प्रजारूप करके मैं ही बहुत होवों इति। यहां पर 'बहु स्यां' इस आत्मविषयक बहुभवनके कथनसे प्रजारूप कार्यका व कारणका अभेद कहा है। और अर्थसे ईश्वर 'सर्वात्मक है' यह सूचन किया है। तैसे ही 'इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च' अर्थ—जो कुछ कार्य है इस सर्वको आत्मा रचता भया इति। यहां पर समस्त जगत्की सृष्टिका निर्देश करनेसे सृष्टिके पहिले स्रष्टाको अद्वितीय कहा है।

जिस प्रकारसे यहां तैत्तिरीय श्रुतिमें सत्य ज्ञानादि लक्षणवाले ब्रह्मको जगत्का कारणरूपसे निश्चय किया है। इसी प्रकारसे अन्यत्र भी सत्य ज्ञानादि लक्षणवाला ब्रह्म ही कारणरूपसे निश्चित होता है:—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत॥' (छा० ६।२।३)। अर्थ—'हे प्रिय! यह संसार उत्पत्तिके पहिले सत्य एक अद्वितीयरूप ही था' 'सो ईक्षण करता भया' 'मैं प्रजारूपसे बहुत होऊं' 'सो तेजको रचता भया' इति। इस श्रुतिसे भी कारणमें सत्यपना, एक अद्वितीयपना, चेतनपना, कार्य व कारणका अभेद ही सिद्ध होता है।

तथा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० १।१।१)। अर्थ—यह जगत् उत्पत्तिके पहिले एक अद्वितीय आत्मरूप ही होता भया; आत्मासे अन्य कुछ भी नहीं था। सो आत्मा ही 'मैं लोकोंकी रचना करूं' ऐसा संकल्प करता भया इति। इस श्रुतिमें भी कारणमें आत्मपना, अद्वितीयपना, चेतनपना, सर्वलोककर्तृपना स्पष्ट है। इसी प्रकारसे

कारण निरूपण करनेवाले सम्पूर्ण वाक्योंका प्रत्येक वेदान्तमें कोई विरोध नहीं है। अतः 'ब्रह्म ही जगत्का कारण है' यह निश्चय है।

केवल कार्यविषयक विरोध अवश्य देखा गया है—कहीं पर आकाशकी प्रथम सृष्टि कही है; कहीं पर तेजकी प्रथम सृष्टि कही है इत्यादि। परन्तु इस कार्यविषयक विरोध करके "अविरुद्ध सर्ववेदान्तोंमें भासमान कारण ब्रह्मकी अविवक्षा होनेको योग्य है" ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि कार्यविषयक विरोधसे कारणकी असिद्धि नहीं हो सकती है। अन्यथा पुत्रके मरणसे पिताका भी मरण होना चाहिये।

शंका। जैसे पुत्रकी सम्पत्तिसे पिता भी सम्पत्तिवाला कहा जाता है। तैसे ही कार्यविषयक विरुद्ध वाक्योंसे कार्यकी असिद्धिकी तरह कारण ब्रह्मकी भी असिद्धि हो जावेगी।

समाधान। वस्तुतः ब्रह्म केवल कारणत्वेन ही वेदान्तप्रतिपाद्य नहीं हैं। किन्तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि रूपसे ब्रह्मका प्रतिपादन है। सत्य ज्ञान अनन्तताको उपपादन करनेके लिये ही जगत्कारणताका अध्यारोप किया है।

अकल्पित वस्तुकी प्रतिपत्तिके लिये कल्पित वस्तुमें विगानदोष कहीं भी नहीं होता है। जैसे तात्त्विक अरुधन्तीकी प्रतिपत्तिके लिये तत्तत्पुरुषों करके अरुधन्तीके समीपवर्ति पूर्वोत्तर नक्षत्रोमें जो कल्पित स्थूल अरुधन्तीविषयक विगान है सो दोष नहीं होता है। और जैसे रेखागवयन्यायसे नित्य शब्दकी प्रतिपत्तिके लिये नाना व्याकरणोंका जो परस्पर भिन्न २ कल्पित प्रकृति प्रत्ययादि विषयक विगान हैं सो दोष नहीं होता है। तैसे ही ब्रह्मकी प्रतिपत्तिके लिये कल्पित सृष्टि विषयक विगान भी दोष नहीं है।

वस्तुतः सृष्टिक्रममें भी विगान नहीं है; किसी भी श्रुतिका कुछ भी विरोध नहीं है। इस अर्थका अब उपपादन करते हैं—जैसे अनेक शिल्पक्रियामें कुशल जो देवदत्त है सो प्रथम चक्रको बनाता है। पुनः चक्रसे कुम्भको बनाता है। पश्चात् कुम्भसे जलको लाता है। उदकसे आटा गूंदकर पिण्ड बनाता है। पश्चात् पिण्ड करके घृतपूर्ण पकान्नको सिद्ध करता है। यहां पर देवदत्तको चक्रादि सर्व कार्यके प्रति कारण होनेसे; 'देवदत्तसे चक्रादिक हुये' यह भी कह सकते हैं। "देवदत्तसे चक्र, चक्रसे कुम्भ, कुम्भसे जलाहरण हुवा" यह भी कह सकते हैं। और "देवदत्तसे जलाहरण जलाहरणसे पिण्ड हुवा" यह भी कह सकते हैं। यहां क्रम अक्रम विक्रम कहनेमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि देवदत्त सर्व कार्यमें कर्तृत्वेन अनुस्यूत है।

तैसे ही प्रकृतमें भी यद्यपि आकाशादि क्रमसे ही सृष्टि है; तो भी आकाश, वायु, अनल, आदिकोंके प्रति साक्षात् परमेश्वरको ही कर्ता होनेसे "परमेश्वरसे आकाशकी उत्पत्ति हुई, आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई" इत्यादि भी कह सकते

हैं। "परमेश्वरसे तेज हुवा, तेजसे आप हुये" यह भी कह सकते हैं। परमेश्वरसे ये सर्व लोक हुये इत्यादि भी कह सकते हैं। यहां क्रम अक्रम व विरुद्ध क्रम कहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है।

यदि परमेश्वरसे तेज, तेजसे वायु, वायुसे आकाशकी उत्पत्तिको कहीं पर वेद कहता; तो विरोध होता। ऐसा वेदमें कहीं कहा नहीं; अतः किसी श्रुतिका विवाद नहीं हैं। अत एव आचार्य कार्यविषयक श्रुतिविवादका भी समाधान 'न वियदश्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१) इत्यादि ग्रन्थसे स्वयं करेंगे॥ सृष्टि वाक्योंका सृष्टिमें तात्पर्यको स्वीकार करके कार्यमें विगानकी समाधि कही। "वस्तुतः सृष्टिवाक्योंका भी सृष्टिमें तात्पर्य है नहीं" अब इस अर्थको दिखाते हैं— **'भवेदपि कार्यस्य विगानमप्रतिपाद्यत्वात्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ-सृष्टिविषयक विगान होना योग्य भी है; क्योंकि सृष्टि वेद करके प्रतिपाद्य है नहीं। किन्तु अद्वितीय ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है इति।

शंका। फिर सृष्टिको अन्यथा २ जो श्रुति कहती हैं इसका क्या प्रयोजन है?

समाधान। सृष्टिका वेदोंमें जो अन्यथा २ कथन है सो—"स्वप्न सृष्टिमें जैसे उत्पत्तिके क्रमका नियम नहीं है। तैसे ही इस जाग्रत् प्रपञ्चमें भी उत्पत्तिके क्रमका नियम नहीं है। किन्तु स्वप्न प्रपञ्चकी तरह निखिल प्रपञ्च भ्रममात्र है। इस सृष्ट्यादि प्रपञ्चके प्रतिपादनमें वेदका तात्पर्य है नहीं। किन्तु अद्वितीय असङ्ग ब्रह्मके प्रतिपादनमें ही वेदका तात्पर्य है" इस अर्थका ज्ञापक है।

आत्माके प्रतिपादनके लिये ही सृष्टिका प्रतिपादन है। स्वतन्त्र सृष्टि आदि प्रपञ्चका प्रतिपादन इष्ट नहीं है। क्योंकि सृष्टि आदिके विज्ञानसे कोई पुरुषार्थ देखा सुना नहीं गया है। और सृष्टिविज्ञानसे पुरुषार्थकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि तहां २ उपक्रमउपसंहारादिक लिङ्गों करके सर्व उपनिषदोंमें; ब्रह्मविषयक वाक्योंके साथ ही सृष्टिवाक्योंकी एकवाक्यता देखी गई है।

और **अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ।** (छा० ६।८।४)। अर्थ— हे प्रिय! अन्न (पृथिवी) रूप कार्य करके जलरूप कारणका अन्वेषण कर, जलसे तेजरूप कारणका निश्चय कर। तेजसे सत्रूप कारणका निश्चय कर इति। इस श्रुति करके समस्त भूविकारोंका भूमिमें, भूमिका जलमें, जलका तेजमें, तेजका सत् आत्मामें लय बतला कर; सृष्टि आदि प्रपञ्चको ब्रह्मज्ञानमें साधनपना दिखलाया है।

और मृत्तिका आदिक दृष्टान्तों करके, कार्य व कारणका अभेद कहनेके लिये; सृष्टिकी उत्पत्ति आदिक प्रपञ्चका श्रवण कराया है। सृष्टिके प्रतिपादनमें वेदका तात्पर्य नहीं है। यह निश्चय होता है। तथाच गौड़पादकारिका—

मृल्लोहविस्फुल्लिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा । उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ॥ अर्थ—मृत्तिका, लोह, विस्फुल्लिङ्गादि दृष्टान्तों करके जो अन्यथा २ सृष्टिका वर्णन वेदमें किया है; सो ब्रह्मज्ञानके अवतारका उपायमात्र है; भेद कुछ भी नहीं है । अर्थात् सृष्टिप्रतिपादनमें वेदका तात्पर्य नहीं है इति। यह सम्प्रदायवेत्ताओंका वचन है।

और फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम् । अर्थ—फलवाले वाक्यादिकोंकी सन्निधिमें फलशून्य वाक्यादिक फलवाले वाक्यादिकोंके अङ्ग होते हैं इति । इस न्यायसे सृष्टिका विज्ञान, कारणब्रह्मविज्ञानका अङ्ग है । क्योंकि सृष्टिके विज्ञानसे कुछ भी फल सुना नहीं गया है । और ब्रह्मविज्ञानका फल सुना गया है— 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१)। अर्थ—ब्रह्मवित् परम पुरुषार्थको प्राप्त होता है इति। 'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) । अर्थ—आत्मवित् पुरुष दुःखरूप संसारको तर जाता है इति। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (श्वे०३।८)। अर्थ—तिस जगदधिष्ठान ब्रह्मको अपने आत्मरूपसे जान करके ही यह पुरुष मृत्युको उलङ्घन करता है। अर्थात् मरणादिरहित हो जाता है इति। इत्यादिक अनेक श्रुतियोंमें ब्रह्मविज्ञानसे परम पुरुषार्थ कहा है। और ब्रह्मविज्ञानसे विद्वान्को परमानन्दकी प्राप्ति, शोककी निवृत्ति, व मृत्युका अतिक्रमणरूप फल प्रत्यक्षसे भी सिद्ध है। क्योंकि जिस समय—'तत्त्वमसि' वाक्यार्थके विचारसे असंसारी आत्माका अपरोक्ष अनुभव होता है, उसी समय संसारकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १४ ॥

शंका। कार्यविषयक विगानका समाधान आपने किया है। और जो कारणविषयक विगान—'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।' इत्यादि दिखलाया है। तिसका क्या परिहार है तिसका परिहार करना चाहिये?

समाधान। इस शंकाका परिहार सूत्रकारने स्वयं किया है:—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें 'समाकर्षात्' यह एक ही पद है । 'समाकर्ष' नाम अनुकर्षण अर्थात् अनुवृत्तिका है। अनुकर्षण यहां अर्थका विवक्षित है । तथा च सत्यरूप ब्रह्मकी ही 'असद्वा' इस मन्त्रमें अनुवृत्ति होनेसे स्वरूपशून्य 'असत्' पदका अर्थ नहीं है इति ।

'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस तैत्तिरीय श्रुतिमें स्वरूप रहित असत्को कारणरूपसे श्रवण नहीं कराया है। क्योंकि—असन्नेव स भवति । असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः । अर्थ – जो ब्रह्मको असत् जानता है सो असत् ही होता है। जो ब्रह्मको सत् जानता है इसको ज्ञानी होनेसे विद्वान् लोग सन्त जानते हैं इति। इस मन्त्र करके तैत्तिरीयमें असद्वादका निराकरण किया है।

और 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र करके ब्रह्मको सत्य स्वरूप कहकर इसी ब्रह्मरूप आत्मासे आकाशादि क्रम करके ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति कही है।

और इस सत्य स्वरूप ब्रह्मको ही अन्नमयादि कोशपरम्परा करके पुच्छ प्रतिष्ठा सर्वान्तर्यामी व प्रत्यगात्मा स्वरूप करके निर्धारण किया है। पुनः 'सोऽकामयत' इस वाक्यसे तिस ही प्रकृत ब्रह्मआत्माका समाकर्षण (अनुवर्तन) करके यावत् सृष्टिकी तिस ब्रह्मसे ही उत्पत्तिका श्रवण कराया है। और सृष्टिमें पुनः ब्रह्मका ही अनुप्रवेश कहा है।

इसके अनन्तर 'तत्सत्यमित्याचक्षते' अर्थ—'सो ब्रह्म सत्य है' ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं इति। इस वाक्यसे सत्यरूपसे ब्रह्मका ही उपसंहार किया है। पुनः 'तदप्येष श्लोको भवति' अर्थ—तिस प्रकृत ब्रह्ममें यह मन्त्र भी प्रमाण है इति। इस वाक्यसे तिस ही प्रकृत ब्रह्मविषयक मन्त्रको कहनेकी प्रतिज्ञा करके 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस मन्त्रको पढ़ा है। यदि निरात्मक असत्की ही इस मन्त्रमें विवक्षा होती तो अन्यका समाकर्षण व अन्यविषयक प्रतिज्ञा करके अन्यका उदाहरण करनेसे वाक्य असम्बद्ध हो जावेगा।

शंका। फिर सिद्धान्तमतसे असत् शब्दका क्या अर्थ है?

समाधान। घटः सन्, उदकं सत्, इत्यादि स्थलमें नामरूप व्याकृत वस्तुविषयक प्रायः सत् शब्द प्रसिद्ध है। उत्पत्तिके पूर्व व्याकृत वस्तु है नहीं, अतः व्याकरणके अभावकी अपेक्षा करके सत् ही ब्रह्म 'असत्की तरह था' इस प्रकार गुणवृत्तिसे असत् शब्द करके कहा है। अनभिव्यक्ति यहां पर गुण है।

अथवा—"यह जगत् उत्पत्तिसे पूर्व असत् कहिये अनभिव्यक्त था, 'ततः' कहिये तिस प्रकृत सत् ब्रह्मकी सत्ता स्फूर्तिसे ही सत् (अभिव्यक्त) होता भया" यह 'असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत' इस मन्त्रका अर्थ है। इस पक्षमें मन्त्रगत 'ततः' शब्दसे ब्रह्मका समाकर्षण होनेसे असद्वादकी शंका ही नहीं हो सकती है।

अत एव 'असद्वा' इस मन्त्रमें स्थित अनभिव्यक्त नामरूपवाले ब्रह्मका ही 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इस वाक्यघटक 'तत्' शब्दसे समाकर्षण करके 'रसो वै सः' इस उत्तर वाक्यसे रस (सार) रूप कहकर 'एष ह्येवानन्दयाति' अर्थ—यह रस आनन्दरूप ब्रह्म ही अपने आनन्दलेश करके जगत्को आनन्दवाला करता है इति। इस वाक्य करके प्रकृत ब्रह्ममें ही जगदानन्दहेतुता कही है।

अत एव 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्' इत्यादि मन्त्रसे दृश्यशून्य निराधार प्रकृत आनन्द स्वरूप आत्मामें भेदरहित अभय प्रतिष्ठावालेको अभय; और जन्मान्तरीय उपास्यउपासकभावादिरूप भेददृष्टिसे वात, सूर्य, अग्नि, आदिकोंको भीषा (भय)

कहकर **'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा'** इत्यादि ग्रन्थसे "यावज्जीव राशिका आनन्द प्रकृत ब्रह्मानन्दका लेशमात्र है" इस अर्थका उपपादन किया है। इसी प्रकारसे **'स यश्चायं पुरुषे ।। यश्चासावादित्ये ।। स एकः ।।'** अर्थ—इस पुरुषमें और चकारसे अधोलोकवर्ति यावज्जीवराशिमें; तथा आदित्यमण्डलमें; और 'च'से ऊर्ध्वलोकवर्ति यावज्जीवराशिमें अन्तरात्मा एक ही है इति। इस मन्त्र करके प्रकृत ब्रह्ममें सर्वान्तर्यामिताका प्रतिपादन असत् कारणवादमें अत्यन्त असंगत होगा। अतः असत्कारणवाद अत्यन्त असत् है। तथाच समस्त तैत्तिरीयोपनिषत्का "सत्य ज्ञानादि स्वरूप ब्रह्म ही जगत्का कारण हैं, असत् नहीं है" इस अर्थके प्रतिपादनमें ही पर्य्यवसान है यह सिद्ध हुवा।

और यही योजना **'असदेवेदमग्र आसीत्'** (३।१९।६) इस छान्दोग्यमें भी है। क्योंकि छान्दोग्यमें भी **'तत्सदासीत्'** इस वाक्यशेषघटक 'तत्' शब्द करके पूर्व वाक्यगत असत् ब्रह्मका समाकर्षण किया। और **'असदेव'** इस पूर्व मन्त्रमें अत्यन्त असत् स्वरूप अत्यन्ताभावको यदि 'असत्' शब्दसे कहें तो **'तत्सदासीत्'** यहां पर किसका समाकर्षण होगा? क्योंकि अत्यन्त असत्का समाकर्षण बने नहीं। और कथञ्चित् समाकर्षण मानने पर भी असत्को **'सदासीत्'** यह सत् कहना भी असंगत होगा।

तद्धैक आहु रसदेवेदमग्र आसीत् (छा० ६।२।१) अर्थ—'यह जगत् उत्पत्तिसे पहिले असत् ही था' ऐसा कोई कहते हैं इति। यहां पर श्रुत्यन्तरके अभिप्रायसे यह एकीय मतका उपन्यास नहीं है। अर्थात् 'तद्धैक आहुः' इस मन्त्रका "किसी शाखावाले कारणको असत् कहते हैं" यह अर्थ नहीं है किन्तु "वेदबाह्य लोग कारणको असत् कहते हैं" यह अर्थ है। क्योंकि क्रियामें विकल्प होता है सिद्ध वस्तुमें विकल्प नहीं होता है। क्रियामें भी स्वरूपमें विकल्प नहीं होता है, किन्तु प्रकारमें विकल्प होता है। अतः श्रुतिसिद्ध सत्पक्षकी दृढ़ताके वास्ते यह मन्दमति परिकल्पित असत्पक्षका उपन्यास करके खण्डन किया है। यह निश्चय कर्तव्य है।

'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' (१।४।७) इस बृहदारण्यक श्रुतिमें भी निरध्यक्ष अर्थात् असाक्षिक जगत्का व्याकरण नहीं कहा है। क्योंकि—**'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः'** अर्थ—इस शरीरमें शिरसे लेकर नखाग्र पर्य्यन्त सो यह आत्मा प्रविष्ट है इति। इस उत्तर ग्रन्थमें व्याकृत कार्यमें अनुप्रवेशशील अध्यक्ष आत्माका समाकर्षण किया है। और अध्यक्षशून्य जगत्का व्याकरण माननेमें 'स एष इह प्रविष्टः' इस अनन्तर ग्रन्थवर्त्ती प्रकृत अर्थका वाचक 'स' इस सर्वनाम करके कार्यानुप्रवेशित्वेन किसका समाकर्षण होगा?

और कार्यानुप्रविष्टमें चेतनत्वके श्रवणसे भी चेतन आत्माका ही यह शरीरमें प्रवेश युक्त है—'पश्यँश्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रं मन्वानो मनः' । अर्थ—रूपदर्शन निमित्तसे शरीरमें प्रविष्ट आत्माका नाम 'चक्षुः' अर्थात् द्रष्टा है । और श्रवणरूप निमित्तसे 'श्रोत्रं' अर्थात् श्रोता है । और मननरूप निमित्तसे इस आत्माका नाम 'मनः' अर्थात् मन्ता है इति । असत्का प्रवेश बने नहीं ।

और जैसे इस समयमें भी नाम रूपसे व्याकृत (अभिव्यक्त) घटादिरूप जगत् कुलालादि अध्यक्षके विना पैदा नहीं होता है। इसी प्रकार आदि सर्गमें भी "अध्यक्षके विना नामरूपात्मक जगत्की उत्पत्ति नहीं बन सकती है" यह निश्चय होता है। क्योंकि दृष्टविपरीत कल्पनामें कोई प्रमाण नहीं है।

'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (६।३।२)। अर्थ—मैं इस जीवरूप आत्मा करके कार्यके अन्तरमें प्रविष्ट होकर नामरूपका व्याकरण करूँ। यह ईशका संकल्प है इति। इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें भी अध्यक्षके विना जगत्की व्याक्रिया नहीं दिखाई है।

'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' यहां पर कर्मकर्तामें लकार है । कर्ता परमेश्वरके रहनेपर भी सुकरताकी अपेक्षा करके कर्तृव्यापारकी अविवक्षा है। अथवा कर्ममें लकार है; कर्ताका अर्थसे आक्षेप है। दोनों ही पक्षमें लकार कर्ताका प्रतिक्षेपक नहीं है; किन्तु उपस्थापक है। क्योंकि 'लूयते केदारः स्वयमेव' वा 'लूयते केदारः' यहां पर लकारसे लविता देवदत्तादि कर्ताका प्रतिक्षेप नहीं होता है। किन्तु कर्ताकी उपस्थिति ही होती है।

अथवा 'व्याक्रियत' यह लकार कर्ममें ही है। अत एव यहां 'गम्यते ग्रामः' की तरह कर्ताका आक्षेप नियमसे होता है। और कर्मकर्तामें लकारसे कर्ताके आक्षेपका नियम नहीं है। क्योंकि 'भिद्यते कुसूलेन' यहां पर अजीर्ण कुसूलभेदनमें वातवृष्ट्यादि निमित्त होनेपर भी, चिरकालकृतजीर्ण कुसूलके गिरनेमें कोई दूसरा कर्ता नहीं है। यह अर्थ महाभाष्यमें लिखा है।

शंका। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इस श्रुतिसे "जगत्की उत्पत्तिके पूर्व अव्याकृत जो ईश्वर है तिसका ही सृष्टि-दशामें परिणाम हुवा है" यह मालूम होता है। तथाच जगदाकार परिणममान ईश्वरसे अन्य कर्ताका अत्यन्ताभाव होनेसे कर्मकर्तामें ही लकार मानना उचित है। कर्ममें लकारको, नियमसे कर्ताका आक्षेपक होनेसे; कर्ममें लकार मानना असङ्गत है।

समाधान। जगद्बीज सूक्ष्मनामरूपात्मक मायाविशिष्ट चिद्रूप ईश्वर है। परिणामवादी मायाका परिणाम मानता है। वा चिदंशका परिणाम मानता है। अथवा विशेषण विशेष्य उभय अंशका परिणाम वादीको इष्ट है ? अन्तिम और मध्यम पक्षमें चिद्रूपका परिणाम होनेसे दुग्धादिकी तरह चेतन

स्वरूप ईश्वरमें विनाशित्वकी प्राप्ति होगी। प्रथम पक्षमें विशेषणरूप मायाका परिणाम होनेपर भी, जगदाकार परिणममान मायाकी स्थिति व स्फूर्तिका साधक चिद्रूप परमेश्वरके विद्यमान होनेसे कर्ममें ही लकार मानना उचित है।

वस्तुतः कर्मकर्तामें ही लकार मानना समुचित है। क्योंकि सिद्धान्तमें विवर्तवादका स्वीकार है। चिदात्माका विवर्त ही निखिल अनात्म वस्तु है; अन्य कोई कर्ता है नहीं। कर्ममें लकार माननेसे कर्ताका आक्षेपरूप गौरव होगा। चिद्भिन्न कर्ताके असम्भवसे आक्षेपका भी असम्भव होगा। कर्ममें लकार— 'नियमसे कर्ताका उपस्थापक है' इस नियमका भङ्ग होगा। कर्मकर्ता स्थलमें कर्ताके आक्षेपका नियम न होनेसे कर्ताका आक्षेपरूप गौरव नहीं है।

शंका। 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' अर्थ— सो ब्रह्म ही नामरूप करके विवर्तरूप होता भया इति। इत्यादि स्थलमें 'व्याक्रियत' यह यदि कर्मकर्तामें लकार है; तो यहां विवर्तमान चिदात्मासे अन्य कर्ता अवश्य होना चाहिये। अन्य कर्ताके न होनेसे कर्मकर्तामें लकार मानना असङ्गत है। क्योंकि 'भिद्यते कुसूलेन' इत्यादि जीर्ण कुसूलादिरूप कर्मकर्तास्थलमें भी भेदनकर्ता कर्मसे अन्य अवश्य है। प्रत्यक्षादि प्रमाणसे उपलब्ध न होने पर भी ईश्वर ही कर्ता है। "ईश्वर इच्छा विना तृण भी नहीं हिल सकता है" यह वार्ता यक्षके सम्वादसे अथवा कार्यमात्रके प्रति ईश्वरको कारणता होनेसे वेदसिद्ध है।

समाधान। 'कर्म कर्ता स्थलमें कर्ता होना चाहिये' यह नियम है। कर्मसे भिन्न कर्ताका नियम सिद्धान्तमें नहीं है। क्योंकि "क्रिया कर्म कर्ता सर्वरूप ईश्वर ही है" यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अन्यथा कर्ममें लकार मानने पर भी यह दोष तुल्य है। यह समाकर्ष सूत्रका तात्पर्य्यार्थ है।

शंका। समन्वयाध्यायमें विरोधाविरोधकी चिन्ता करना असङ्गत है। इसी चिन्ताके वास्ते ही विरोधपरिहाराध्याय है। अत इस अधिकरणका इस प्रथमाध्यायमें निरूपण करना असङ्गत है।

समाधान। नाना शाखावर्ती अथवा एक ही शाखागत तत्तद्वाक्यविचारसे वाक्यार्थके अवगमका पर्यवसान होनेपर प्रत्यक्षादि मानान्तर विरोध होनेसे वाक्यार्थकी अवगतिमें अप्रामाण्यकी शंकाके अनन्तर अविरोधव्युत्पादनद्वारा प्रामाण्यका व्यवस्थापन करना विरोधपरिहाराध्यायका अर्थ है। श्रुतियोंका परस्पर विरोधपरिहार द्वितियाध्यायका अर्थ नहीं है।

शंका। यदि प्रत्यक्षादि मानान्तर विरोधपरिहार ही द्वितीयाध्यायका अर्थ है; तो द्वितीय अध्यायके तृतीय वियत्पादमें श्रुतियोंकी परस्पर विरोधपरिहार-चिन्ता असङ्गत होगी?

समाधान। यद्यपि श्रुतियोंका परस्पर विरोधपरिहार द्वितीयाध्यायका

अर्थ नहीं है। तथापि तहांपर सृष्टिविषयक वाक्योंका परस्पर विरोधपरिहारका जो प्रतिपादन किया है सो प्रासङ्गिक है। लक्षणार्थ (अध्यायार्थ) नहीं है। यह वार्ता भामतीमें प्रतिपादन करी है।

शंका । जैसे सांख्य वैशेषिकादि दर्शनोंका मानान्तरविरोधसे वा परस्पर विरोधसे बाध प्रतिपादन किया है। तैसे प्रत्यक्षादि मानान्तरविरोधसे तथा परस्पर विरोधसे व सृष्टिविषयक श्रुतियोंके विगानसे वेदान्तदर्शनका तत्प्रतिपाद्य प्रक्रिया व विषयका भी बाध होना चाहिये।

समाधान । यद्यपि मानान्तरविरोधसे और परस्पर विरोधसे सांख्यादि दर्शनोंका, और तत्प्रतिपाद्य प्रक्रियादि द्वैतका, बाध दृढ़ होनेपर प्रत्यक्षादि मानान्तर विरोधसे अथवा सृष्टिविषयक श्रुतिविगानसे वेदान्तशास्त्रका और तत्प्रतिपाद्य प्रक्रियाप्रपञ्चका बाध भी मुमुक्षुको इष्ट ही है। क्योंकि अनिर्वचनीय वादीकी कहीं भी ममता सिद्ध नहीं हो सकती है। सर्व प्रपञ्चबाधके अनन्तर बाधका अवधि निरावरण साक्षी स्वतः सिद्ध है। इस अर्थविषयक यह खण्डनका श्लोक है—**'बाधे दृढेऽन्यसाम्यात्किमन्यदपि बाध्यताम् । क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम् ॥'**

तथापि "वादी करके उद्भावित दोषका उद्धार पुनः २ सिद्धान्तीको कर्तव्य है" इस शिक्षाके वास्ते श्रुतियोंकी परस्पर विरोधपरिहारचिन्ता द्वितीयाध्यायमें करी है। अत एव कल्पतरुः—**'परैरुद्भावितो दोष उद्धर्तव्यः स्वदर्शने । इति शिक्षार्थमत्रत्यचिन्तां तत्राकरोन्मुनिः ॥'**

'श्रुत्यर्थविषयकव्यवसायात्मकज्ञाने सति मानान्तरप्रयुक्तविरोधपरिहारत्वम्; द्वितीयाध्यायस्य लक्षणम्' । अर्थ—वेदार्थविषयक प्रमामें प्रत्यक्षादि मानान्तरप्राप्त विरोधका परिहारपना, द्वितीय अध्यायका लक्षण है इति । प्रथम अध्यायमें अतिव्याप्ति परिहारके लिये मानान्तरप्रयुक्तत्व विरोधका विशेषण है। तर्क ग्रन्थोंमें अतिव्याप्तिवारणके लिये सत्यन्त विशेषण है । पूर्वमीमांसा आदिक तर्कग्रन्थजन्य ज्ञान; वस्तुत बाधित अनात्मविषयक होनेसे व्यवसायात्मक नहीं है। अत एव गीता—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।'** अर्थ—कृष्णभगवान् कहते हैं—हे अर्जुन ! प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक प्रमाका नाम व्यवसायात्मक बुद्धि है, सो केवल एक वेदसे ही होती है इति।

शंका । जब व्यवसायात्मक बुद्धि एक ही है तो श्रुत्यर्थविषयकत्व बुद्धिका विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि यदि नाना व्यवसायात्मक ज्ञान होते तो इतर व्यावर्तक होनेसे विशेषण सार्थक होता। जैसे घट नाना हैं इसलिये नील विशेषण सार्थक होता है।

समाधान । श्रुत्यर्थविषयकत्व विशेषण ज्ञानमें व्यवसायात्मकत्वका उपपादक है। लक्षणमें प्रविष्ट न होनेपर भी क्षति नहीं है। अर्थात् उपलक्षण है। "श्रुतियोंका परस्पर विरोधपरिहार" प्रथमाध्ययका स्वरूप है। अहमर्थ प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक प्रमाके साधनकलापका प्रतिपादक तीसरा अध्याय है। प्रमाके फलका प्रतिपादक चौथा अध्याय है। यह इस अधिकरणका तात्पर्य है ॥१५॥

इति कारणत्वाधिकरणम् ॥

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें स्थित 'एतत्' शब्दको जगद्वाचक होनेसे बालाकि व अजातशत्रुके सम्वादमें ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है इति। कौषीतकि ब्राह्मण गत बालाकि व अजातशत्रुके सम्वादमें श्रवण होता है—

'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः'

इत्यादि बालाकि व अजातशत्रुका सम्वादरूप वाक्यसन्दर्भ इस सूत्रका विषय है।

किसी कालमें एक गर्ग गोत्रका विद्याभारसे गर्वित बालाकि नामका ब्राह्मण अजातशत्रु नामक काशीराजके पास जाकर—'ब्रह्म ते ब्रवाणि' अर्थात् 'मैं तुमको ब्रह्मका उपदेश करता हूं' इस वाक्यको कहता भया।

राजा बोले हे ब्रह्मन्! 'जनक बड़ा दाता और श्रोता है' ऐसा समझकर प्रायः लोग जनकके पास ही जाया करते हैं। तुमने यह मेरेमें भी सम्भावना करी है। मेरे पास उपदेशके लिये आये। अतः १ सहस्र गौ आपको मैंने दिये; उपदेश कीजिये।

तिसके बाद बालाकिने आदित्याभिमानी देवताका तथा चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जलादि अभिमानी अनेक देवता पुरुषोंका उपदेश राजाको किया। परन्तु राजा सर्व देवतावोंके स्वरूपको और उपासनाके प्रकारको अच्छी तरह जानता था इसलिये राजाने कहा कि—"इन सर्व देवतावोंको व उनासनाप्रकार मैं अच्छी तरह जानता हूं; इससे अधिक यदि आप जानते हो तो उपदेश कीजिये"। गार्ग्य चुप हो गया।

राजा—क्यों इतना ही जानते हो? गार्ग्य—इतना ही जानता हूं।

राजा—इतने ज्ञानसे ब्रह्म विदित नहीं हो सकता है; तुमने मिथ्या ही मुझसे कहा 'ब्रह्म ते ब्रवाणि'। यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः' (कौषी० ४।१८) अर्थ—हे बालाके! जो इन पूर्वोक्त देवतावोंका कर्ता है जिसका यह जगत् कर्म है अर्थात् कार्य है सो जाननेको योग्य है इति।

गार्ग्य—'उप त्वायानीति' अर्थात् मैं आपसे उपदेश लेना चाहता हूं।

राजा—यह प्रतिलोम (विपरीत) है। "जो ब्राह्मण गुरुस्थानीय होकर

क्षत्रियसे शिष्य बनकर उपदेश लेवे" तुम गुरु ही रहो, 'त्वा ज्ञपयिष्यामि' अर्थात् मैं तुमको ब्रह्म उपदेश करुंगा। तदनन्तर गार्ग्यका हाथ पकड़कर राजा उठे और सुप्त पुरुषके पास आये। सुप्त पुरुषको हे वृहत्! हे पाण्डरवास! इत्यादिक देवतावोंके नामसे पुकारने लगे। उत्थान न होनेके बाद हाथसे पीष २ कर उठाया तब सुप्त पुरुष उठा। और राजा गार्ग्यके प्रति कहने लगे—'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत् य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदगादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः'। अर्थ—जिस कालमें यह पुरुष सुप्त था तिस समय कहां था? किस स्वरूपमें व स्वभावमें स्थित था? प्रबोधकालमें कहांसे यह आया है? गार्ग्य इन प्रश्नोंका उत्तर न दे सका इति।

तदनन्तर गार्ग्यको स्वयं राजाने सुप्त पुरुषका हृदयाकाशमें शयन बतलाया है। और तिस सुप्त पुरुषसे ही ऊर्णनाभिकी तरह और अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह सर्व सृष्टिकी उत्पत्तिका उपदेश किया है। यह सम्वाद वृहदारण्यकमें और कौषीतकि ब्राह्मणमें लिखा है।

कौषीतकि ब्राह्मणवर्ती बालाकि अजातशत्रुके सम्वादमें—'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः' (कौ० ४।१८) इस वाक्यमें "वेदितव्यत्वेन जीवका उपदेश है वा मुख्य प्राणका उपदेश है? अथवा परमात्माका उपदेश है?" यह यहां संशय है।

'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें 'कर्म शब्द यौगिक है वा रूढ़ है' यह संशय; अथवा उक्त सम्वादमें अनेक धर्मोंकी प्रतीति; इस संशयमें कारण है। 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस उपक्रमसे ब्रह्मोपदेश मालूम पड़ता है। और सुप्त जीवसे सृष्टिकथनरूप उपसंहार करके जीवका उपदेश मालूम होता है। और—'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते' (वृ० ३।४।६)। अर्थ—सो प्राण ब्रह्म है और 'त्यद्' परोक्ष व अमूर्तरूप है। इस प्रकार सम्प्रदायवेत्ता कहते हैं इति। इत्यादि स्थलमें ब्रह्म शब्दका प्रयोग प्राणमें होनेसे प्राणका उपदेश मालूम पड़ता है।

"वस्तुगतिसे यहां किसका उपदेश प्राप्त हुवा" ऐसी जिज्ञासाके हुये--

अथ पूर्वपक्ष। 'यस्य वैतत्कर्म' इस श्रवणसे प्राणका उपदेश यहां पर होनेको योग्य है, क्योंकि 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्य करके प्रतिपाद्य जो चेष्टारूप कर्म है तिसका आश्रय प्राण ही है। और--'अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' अर्थ—जाग्रत् व स्वप्न जनक कर्मकी उपरतिके अनन्तर सुषुप्ति कालमें प्राणमें ही सर्व एकीभाव हो जाता है इति। इस वाक्यशेषमें भी प्राण शब्दका ही दर्शन है। और प्राण शब्द मुख्य प्राणमें ही प्रसिद्ध है।

शंका । इस सम्वादमें आदित्यादि देवतावोंका कर्ता वेदितव्येन उपदिष्ट है; और प्राणमें देवताकर्तृत्वका असम्भव है; अतः प्राणविषयक उपदेश नहीं बन सकता है।

समाधान । इस शंकाका भी अवसर नहीं है; क्योंकि बालाकिने जो प्रथम 'आदित्ये पुरुषः' 'चन्द्रमसि पुरुषः' इत्येवमादिक इन आदित्यादिक पुरुषोंका निर्देश किया है। प्राणकी अवस्थाविशेषरूप तिन सर्व देवतावोंका भी प्राण कर्ता हो सकता है। **'कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते'** इस श्रुतिमें 'एक देव कौन है' इस शाकल्यके प्रश्नका उत्तर याज्ञवल्क्यने 'प्राण इति' इस वाक्यसे प्राणको ही कहा है। इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें सर्व देवतावों-को प्राणकी अवस्थाविशेषपना प्रसिद्ध है।

अथवा जीव ही इस प्रकरणमें जाननेको योग्य है। जीवका ही उपदेशक यह सम्वाद है। धर्म अधर्मरूप कर्मका आश्रय जीव भी है। इसलिये "निर्व-चनाशक्य जगद्रचनाका हेतु धर्म अधर्मरूप कर्म जिसका है सो जीव जाननेको योग्य है" इस अर्थका बोधक—**'यस्य वैतत्कर्म'** इस वाक्यकी भी सङ्गति हो सकती है। और भोक्ता होनेसे भोगके साधन इन देवतावोंका कर्ता भी धर्माधर्मरूप अदृष्टद्वारा जीव बन सकता है।

और वाक्यशेषगत जीवके लिङ्गोंसे भी जीव ही द्रष्टव्य मालूम पड़ता है। क्योंकि वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट जो आदित्यादि देवतावोंका कर्ता है; तिसके दर्शनके निमित्त शिष्यभावसे प्राप्त बालाकिके प्रति बोधनकी इच्छावाला जो राजा अजातशत्रु है सो बालाकि सहित सुप्त पुरुषके पास आकर हे बृहत्! हे पाण्ड-रवास! इत्यादि शब्दोंसे सुप्त पुरुषको पुकारता भया; तदनन्तर इन शब्दोंको न सुन-नेसे प्राणादिकोंमें भोक्तृत्वाभावको ज्ञापन करके लकड़ीसे अथवा हाथसे सुप्त पुरुषको उठाकर "इस शरीरमें प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त जीव ही भोक्ता है" इस अर्थको बोधन करता है।

शंका । बृहत् इत्यादि शब्दके अश्रवणसे प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त भोक्ता है" यह कैसे मालूम पड़ सकता है?

समाधान । यदि प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त कर्ता भोक्ता न होता तो प्राण जाग्रत् होनेसे सुप्तदशामें भी स्वविषय शब्दभोगको अवश्य ग्रहण करता। जैसे तृणादि भोग्य सम्बन्धी अग्नि तृणका अवश्य ग्रहण करता है। तैसे ही प्राण बृहत् इत्यादि शब्दोंको अवश्य श्रवण करता।

शंका । कदाचित् स्वनामके प्रयोगको देवदत्त भी श्रवण नहीं करता है; एतावता देवदत्त जैसे अभोक्ता नहीं हो सकता है। तद्वत् बृहत् आदिक शब्दके न सुननेसे प्राणको अभोक्ता नहीं कह सकते हैं।

समाधान। देवदत्त और प्राणमें सुप्तत्व असुप्तत्वका विशेष है। देवदत्त सुप्त है; प्राण असुप्त है। अतः प्राणको जाग्रत् होनेसे शब्दकी प्रतिपत्ति अवश्य होनी चाहिये।

शंका। कदाचित् अतिह्रस्व उच्चारणको व्यापारयुक्त जाग्रत् देवदत्त भी नहीं श्रवण कर सकता है। दीर्घ व प्लुत शब्दको कदाचित् व्यापाररहित सुप्त देवदत्त भी श्रवण कर लेता है। अत वृहत् आदिक शब्दके अश्रवणसे प्राण व्यतिरिक्त भोक्ता है यह निर्णय नहीं हो सकता है।

समाधान। यादृश साधारण शब्दप्रयोगको जाग्रत् व्यापार युक्त पुरुष श्रवण कर सकता है। और श्वास प्रश्वासरूप व्यापार करके सहित प्राणविशिष्ट संघातकी प्रत्यक्षता दशामें यादृश शब्दप्रयोगसे बालाकिको 'इस संघातमें भोक्ता सुप्त है' ऐसी बुद्धिकी उत्पत्ति हो सकती है। तादृश शब्दप्रयोगके अग्रहणसे प्राणादि संघातसे व्यतिरिक्त भोक्ताका निर्णय हो सकता है।

शंका। सुषुप्ति दशामें सम्पूर्ण करणोंके लय हो जानेसे जीवकी तरह प्राण भी शब्दादिका अभोक्ता बन सकता है। और जाग्रत्में करण द्वारा जीवकी तरह प्राण देवता भी भोक्त्री बन सकती हैं।

समाधान। सुखदुःखान्यतर साक्षात्करका नाम भोग है; सुख वा दुःखविषयक साभासवृत्तिरूप सो साक्षात्कार है। तादृश साभासवृत्तिका आश्रय भोक्ता है। अधिष्ठानत्व व प्रकाशकत्वरूप आश्रयत्व है। तथाच प्राणमें स्वयं अध्यस्तत्व जड़त्व व दृश्यत्व होनेसे अधिष्ठानत्वका बाध है। एवं प्रकाशकत्वका भी बाध है। चित्प्रकाशरूप जीवके विना प्राणादि प्रपञ्चकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है।

और—'**आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**' इति श्रुतिः। अर्थ—देह इन्द्रिय मन करके युक्त आत्माको मनीषी विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं इति। इत्यादि श्रुतिसे—'**कर्ता भोक्ता महेश्वरः**' इत्यादि स्मृतिसे और उक्त युक्तिसे प्राण भोक्ता नहीं हो सकता है।

इसी प्रकारसे आदित्यादिक देवता भी इस शरीरमें भोक्त्री नहीं है; क्योंकि देवतावोंको भी जाग्रत् और सर्वज्ञ होनेसे अवश्य अपने २ नामात्मक शब्द प्रयोगका श्रवण होना चाहिये। अतः प्राणादि देवतावोंसे अतिरिक्त विज्ञानमय जीवात्मा ही इस शरीरमें द्रष्टव्य है। इस अर्थको ही राजा बोधन करते हैं।

इसी प्रकार अग्रिम वाक्यशेषगत जीवलिङ्गसे भी जीवात्मा ही इस सम्वादमें वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट मालूम होता है—जैसे श्रेष्ठी प्रधान पुरुष स्वभोगोपकरण भृत्यादिकों करके भोगोंको भोक्ता है। और भृत्यादिक अपने स्वामी प्रधान पुरुषकी शरीर धनादि रक्षा सेवारूप पालनकर्मको करते हैं। इसी प्रकार यह प्रज्ञात्मा ज़ीव भी आदित्यादि देवतावों करके अनुगृहीत हुवा विषयोंको भोक्ता

है। आदित्यादिक देवता भी आलोकवृष्टिप्रदानादिद्वारा जीवात्माके भोगमें अनुग्राहक होते हैं। भोक्तृत्वविशिष्ट जीवविषयक इस दृष्टान्त दार्ष्टान्त करके भोक्तृत्वरूप अर्थप्रकाशन सामर्थ्य लिङ्गसे भी यहां जीवात्माका ही वेदितव्यत्वेन उपदेश सिद्ध होता है।

और वास्तवमें ब्रह्मसे अभेद समझकर जीवको ब्रह्म कहा है। प्राणधारक होनेसे प्राण शब्द करके जीवका व्यवहार किया है। इसलिये जीवात्मा ही इस सम्वादमें वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट है। अथवा प्राण वेदितव्य है। परन्तु परमेश्वर-बोधक लिङ्गोंके न होनेसे परमेश्वर वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट नहीं हो सकता है इति।

इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये अब भाष्यकार भगवान् सिद्धान्तको कहते हैं-

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। जैसे कोई मणिज्ञानका अभिमानी काचको मणि बतलावे, तदनन्तर परपुरुष—'**काचोऽयं न मणिस्तल्लक्षणायोगात्**' अर्थात् "मणिके लक्षणका अभाव होनेसे यह मणि नहीं है किन्तु काच है" इस वाक्यको कहकर आत्मतत्त्वका लक्षण करने लगे तो सो आत्मतत्त्वका कथन असम्बद्ध होता है। क्योंकि अमणिमें मणि अभिधानकी तरह अनात्मामें आत्मत्वका कथन भी पूर्ववत् मिथ्या ही है। अतः उत्तरवादीको मणितत्त्वका ही स्वरूप व लक्षण कहना चाहिये। इसीसे उत्तरवादीकी विशेषता सिद्ध होगी।

इसी प्रकारसे दृप्त अब्रह्मवादी बालाकिकी अपेक्षा करके राजा अजातशत्रुकी विशेषता व सत्यवक्तृता ब्रह्मतत्त्वके कथनसे ही सिद्ध हो सकती है। यदि अजातशत्रु भी प्राणदेवता वा जीवके ही स्वरूपको बोधन करेंगे तो विशेषताकी सिद्धि नहीं होगी। अब्रह्मवादिता वा मिथ्यावादिता बालाकिके समान ही होगी। अतः उपक्रमसामर्थ्यसे आदित्यादि देवतावोंका कर्ता परमेश्वर ही राजाने वेदितव्य-रूपसे कहा है।

क्योंकि इस प्रकरणमें प्रथम '**ब्रह्म ते ब्रवाणि**' ऐसा उपक्रम प्रारम्भ करके बालाकि अजातशत्रुके साथ सम्वाद करने लगा। और ब्रह्मभिन्न आदि-त्यादिक कितनेक देवतावोंका उपदेश करके सो बालाकि तुष्णीं (मौन) हो गया। तदनन्तर '**मृषा वै खलु मा सम्वदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणि**' अर्थ—'तिस बालाकि-के प्रति राजा अजातशत्रु बोले हे बालाके! 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' यह बात हमसे मिथ्या ही तुमने कही इति। इस वाक्यसे मिथ्या ब्रह्मवादी बालाकिके कथनका खण्डन करके आदित्यादि देवतावोंसे भिन्न व तिनके कर्ताको वेदितव्यत्वेन राजाने उपदेश किया है। यदि राजा भी ब्रह्मतत्त्वका उपदेश न करें अर्थात् राजा करके उपदिष्ट देवतावोंका कर्ता भी ब्रह्म न होवे तो उपक्रमका बाध होगा। अतः राजाने जिस तत्त्वका उपदेश किया है सो यह परमेश्वर ही होनेको योग्य है। और आदित्यादिक देवतावोंका कर्ता भी परमेश्वरसे अन्य स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। क्योंकि किसी भी जीवको देवतावोंके रचनेकी सामर्थ्य है नहीं। और अदृष्ट

द्वारा भी स्वतन्त्र परमेश्वरके विना जीव कुछ नहीं कर सकता है। परिस्पन्दरूप अथवा धर्माधर्मरूप कर्मका निर्देश भी 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें नहीं है। क्योंकि परिस्पन्दरूप अथवा धर्माधर्मरूप कर्म प्रकृत नहीं है। धर्मत्वादिरूपसे शब्दप्रतिपाद्य भी नहीं है। और आदित्यादिक पुरुषोंका भी 'यस्य वैतत्कर्म' इस शब्दसे निर्देश नहीं बन सकता है। क्योंकि—'**एतेषां पुरुषाणां कर्ता**' इस वाक्यसे ही तिनका निर्देश हो चुका है, पुनर्निर्देशसे पुनरुक्ति दोष होगा।

शंका। प्रकृत और सन्निहित होनेसे आदित्यादिक पुरुषोंका ही '**यस्य वैतत्कर्म**' इस वाक्यमें परामर्श मानना चाहिये।

समाधान। पुरुषोंको बहुत होनेसे और पुलिङ्ग होनेसे 'यस्य वैतत्' इस वाक्यमें परामर्श नहीं हो सकता है। किन्तु 'एतत्कर्म' यहांपर एकत्वविशिष्ट नपुंसक वस्तुका यह निर्देश है।

शंका। पुरुषविषयक कृतिका अथवा उत्पत्तिरूप क्रियाफलका यह निर्देश होना चाहिये। "देवतापुरुषोंकी उत्पत्तिके अनुकूल प्रयत्नरूप अद्भुत कर्म जिसका है; सो वेदितव्य है" इस अर्थमें स्वारस्य भी है।

समाधान। 'पुरुषाणां कर्ता' इस वाक्यमें स्थित कर्तृ शब्दसे ही कृति और क्रियाफलका ग्रहण हो चुका है। क्योंकि भावनारूप कृतिके विना कर्ता नहीं हो सकता है। फलके विना कृति नहीं हो सकती है। और जगत्के एक देशरूप पुरुषनिरूपित कर्तृत्वके बोधनमें विशेष स्वारस्य भी नहीं है। पुनर्निर्देशमें पुनरुक्ति भी होगी।

अतः परिशेषसे और प्रकरणादिरूप संकोचकके न होनेसे 'यस्य वैतत्कर्म' इस वाक्यमें प्रत्यक्ष सन्निहित जगत्का सर्वनाम 'एतत्' शब्द करके निर्देश है। और कर्म शब्द भी—'**क्रियते इति कर्म**' इस योगवृत्तिसे जगत्रूप कार्यका वाचक है।

शंका। 'एतत्कर्म' इस शब्दसे सम्पूर्ण जगत्का भी ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि जगत् अप्रकृत है। और जगत्त्वेन कर्म शब्द करके अप्रतिपाद्य भी है।

समाधान। यद्यपि यह वार्ता सत्य है कि—जगत्में भी अप्रकृतत्व व असंशब्दितत्व तुल्य है। तथापि "विशेषका ग्रहण न होनेसे वा सन्निहित होनेसे 'एतत्' सर्ववाचक सर्वनाम करके यहां सर्व जगत्का ही यह निर्देश है" यह निश्चय होता है। और किसी विशेष पदार्थका निर्देश यह नहीं है। क्योंकि यहां जगत् एकदेशरूप विशेष पदार्थ कोई सन्निहित व प्रकृत है नहीं। और पूर्व—'**यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता**' इस वाक्यमें जगत्के एक देशविशेष देवतावोंको ब्रह्मका कार्य कह ही चुके हैं। इसलिये यहां "अविशेषित सम्पूर्ण जगत्का ही उपादान है"

यह निश्चय होता है। अर्थात्—'यस्य वैतत्कर्म' यहांपर यह अर्थ फलित होता है—"हे बालाके ! जो तत्त्व जगत्के एक देशरूप इन आदित्यादि पुरुषोंका कर्ता है; और इस विशेषसे क्या ? अर्थात् आदित्यादि पुरुषोंका ही नहीं, बल्कि जिसका अविशेषित सम्पूर्ण जगत् ही कार्य है; सो तत्त्व जाननेके योग्य है" इस अर्थमें स्वारस्य भी है । एकदेशमात्रनिरूपित कर्तृत्वभ्रान्तिकी व्यावृत्ति 'वा' शब्दका अर्थ है।

शंका । 'एतत्कर्म' इस शब्द करके यदि सम्पूर्ण जगत्का ग्रहण है तो ब्रह्मनिष्ठ आदित्यादि देवतानिरूपित कर्तृत्वका पृथग् ग्रहण करना व्यर्थ है। क्योंकि सम्पूर्ण जगत्के अन्तर्गत पुरुषोंका ग्रहण भी-'एतत्कर्म' इस शब्द करके हो ही जावेगा ?

समाधान । बालाकिने ब्रह्मबुद्धिसे जिन पुरुषोंका कीर्तन किया है तिनमें ब्रह्मत्वाभावको बोधन करनेके लिये देवतानिरूपित कर्तृत्वरूप विशेषका पृथक् ग्रहण है। इस रीतिसे—'ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय' करके सामान्य विशेषरूप जगत्का जो कर्ता है सो ही वेदितव्य है यह अर्थ फलित हुवा ।

ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय—'ब्राह्मणा भोजयितव्याः परिव्राजकाश्च' अर्थ—ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये । और संन्यासियोंको भी भोजन कराना चाहिये इति। इस वाक्यमें जैसे 'ब्राह्मण' शब्द परिव्राजकभिन्न ब्राह्मणविषयक है । तैसे ही प्रकृत 'कर्म' शब्द पुरुषभिन्न जगद् वाची है। अथवा ब्राह्मण कहनेसे परिव्राजकका ग्रहण होनेपर भी विशेष प्रतिपत्तिरूप प्रयोजनवश जैसे परिव्राजक शब्दका पृथग् ग्रहण है। तैसे ही कर्म शब्द करके पुरुषग्रहण होनेपर भी आदित्यादि पुरुषनिष्ठ अब्रह्मत्वख्यापनरूप प्रयोजनविशेषसे देवतानिरूपित कर्तृत्वका पृथग् ग्रहण श्रुतिमें किया है ।

शंका । जगत्का कर्ता वेदितव्य रहो; इससे प्रकृतमें क्या आया ?

समाधान । 'परमेश्वर ही सर्व जगत्का कर्ता है' यह वेदान्तकी मर्यादा है; अतः परमेश्वर ही इस सम्वादमें द्रष्टव्य है इति ॥ १६ ॥

पूर्व ग्रन्थसे 'इस सम्वादमें ब्रह्म ही वेदितव्य है' यह सिद्धान्त कहा। अब पूर्वपक्षके बीजको अनुवाद करके दूषित करते हैं—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

अर्थ—१ जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्, २ न, ३ इति, ४ चेत्, ५ तत्, ६ व्याख्यातम् । इस सूत्रमें छ पद हैं । "जीवलिङ्गसे और मुख्य प्राणलिङ्गसे ब्रह्मका ग्रहण इस सम्वादमें नहीं है" ऐसी शंका यदि पूर्ववादी करे तो, सो ठीक नहीं है । क्योंकि तिस शंकाका उत्तर पूर्वकर आये हैं इति ।

शंका । वाक्यशेषगत भोक्तृत्वरूप जीवलिङ्गसे व कर्माश्रयत्वादि प्राणलिङ्गसे, जीव अथवा प्राण ही इस सम्वादमें वेदितव्य है; ब्रह्ममें भोक्तृत्व और कर्माश्रयत्वके अभावसे ब्रह्मका ग्रहण अयुक्त है। यह जो हमने पूर्व कहा तिसका परिहार करना चाहिये ?

समाधान । इस शंकाका परिहार--'नोपासात्रैविध्यात्' (ब्र० सू० १।१।३१) इस सूत्रमें हमकर आये हैं। क्योंकि लिङ्गबलसे जीव और प्राणके ग्रहण करनेपर ब्रह्मलिङ्गसे ब्रह्मका भी ग्रहण अवश्य करना होगा। तथाच यहां तीन प्रकारकी उपासना प्राप्त होगी। जीवकी उपासना। मुख्य प्राणकी उपासना। और ब्रह्मकी उपासना। न्यायसे एक वाक्यमें इन तीन उपासनावोंकी सङ्गति अयुक्त है। क्योंकि उपक्रम और उपसंहारसे—"यह बालाकि और अजातशत्रुका सम्वादरूप वाक्यसन्दर्भ परब्रह्मविषयक ही है" यह निश्चय होता है। तहां 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' इस ब्रह्मविषयक उपक्रमको प्रथम ही हम दिखला आये हैं।

और निरतिशय फलके श्रवणसे उपसंहार भी ब्रह्मविषयक ही दीखता है— **'सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद ।'** सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करके सम्पूर्ण जीवोंमें श्रेष्ठ होता है। स्वाराज्य (परतन्त्रत्वाभाव) आधिपत्य (स्वतन्त्रता)को प्राप्त होता है। जो देवतादि जगत्के कर्ता पुरुषको जानता है इति।

इस श्रौत उपसंहारसे भी बालाकि अजातशत्रुके सम्वादमें "ब्रह्म ही वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट है" यह निश्चय होता है। जीव और प्राणविषयक उपासना पक्षमें इस ब्रह्मविषयक उपक्रमका और सर्व पापकी निवृत्ति व स्वाराज्यरूप निरतिशय फलकी प्राप्तिबोधक उपसंहारका विरोध स्पष्ट है। क्योंकि ब्रह्मज्ञान विना जीव वा प्राणकी उपासनासे सर्व पापकी निवृत्तिका और निरङ्कुश स्वाराज्यप्राप्तिका असम्भव है।

शंका । प्रतर्दनाधिकरणमें; उपक्रम और उपसंहारको ब्रह्मविषयक होनेसे और वाक्यभेदके भयसे जीवलिङ्ग और प्राणलिङ्गको भी ब्रह्मपरताका निश्चय किया है। यही विषय इस अधिकरणका भी आपके मतसे सिद्ध होता है। अतः इस अधिकरणकी पृथग् रचना व्यर्थ है। क्योंकि प्रतर्दनाधिकरणके निर्णयन्यायसे यह अधिकरण भी गतार्थ है।

समाधान । 'यस्य वैतत्कर्म' 'यह वाक्य ब्रह्मविषयक है' यह निर्धारण प्रतर्दनाधिकरणमें नहीं किया है। इसलिये प्रतर्दनाधिकरणके निर्णयन्यायसे इस अधिकरणकी गतार्थता नहीं हो सकती है। अतः कर्माश्रयत्वका निष्क्रिय ब्रह्ममें असम्भव होनेसे जीव वा प्राणविषयक आशंका पुनः उत्पन्न होती है। इसकी निवृत्तिके लिये जगद्वाचित्वाधिकरणकी पृथग् रचना सफल है व्यर्थ नहीं है।

विषय सहित इन्द्रियोंका और संकल्पित विकल्पित विषय सहित मन आदि निखिल प्रपञ्चका प्राणमें ही एकीभाव होता है।

और जगद्बीज नामरूपावच्छिन्न चिद्रूप प्राणके प्राण इस आत्मासे ही पुनः अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह सम्पूर्ण करणगोलक पैदा होते हैं। तिनमें सम्पूर्ण मन आदिक करणरूप प्राणोंकी प्रतिष्ठा होती है। मन आदि करके अवच्छिन्न चिदात्मासे आदित्यादि देवताओंकी उत्पत्ति होती है। देवोंसे लोकोंकी उत्पत्ति होती है।

और काष्ठमें अग्निकी तरह, क्षुरधानमें क्षुरकी तरह, सर्वत्र नख रोम पर्य्यन्त इस देहादि प्रपञ्चमें यह प्राज्ञ आत्मा प्रविष्ट है। इस प्राज्ञ आत्मासे ही इन देवतापुरुषोंका उपजीवन होता है। जैसे श्रेष्ठी प्रधान पुरुष भृत्यादि करके उपार्जित धनादिकोंको भोगता है। और भृत्यादिक प्रधान पुरुष करके दिये हुये धनादिकोंको भोगते हैं। इसी प्रकारसे यह प्राज्ञ आत्मा आदित्यादि पुरुषों करके उपार्जित सुखदुःखको भोगता है। अर्थात् प्रकाशता है। और आदित्यादिक देवता व मनुष्य पशु पक्षी यावज्जीवराशि सत्य प्रकाश आनन्दरूप अन्तरात्माकी सत्तास्फूर्तिसे प्राप्त भोगोंको भोगते हैं, अर्थात् अनुभव करते हैं।

जब तक इन्द्रने इस अन्तरात्माको नहीं जाना। तब तक असुरोंसे पराजित हुवा दुःखी रहा। जब इस सर्वात्माको आत्मारूपसे जाना तब सर्व असुरोंको जीतकर सर्वभूतोंमें श्रेष्ठ हुवा। स्वाराज्य और आधिपत्यको प्राप्त हुवा। इसी तरहसे वर्तमानमें भी यह जीव इस आत्माको जानकर सर्वभूतोंमें श्रेष्ठ होता है। और सर्वभूतोंका आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है। यह कौषीतकि ब्राह्मणगत काशीराजकृत उत्तर वाक्यका अर्थ है।

अर्थात्—जीवके शयनका स्थान ब्रह्म ही है। और ब्रह्ममें ही यह जीव स्वापकालमें एकीभावको प्राप्त होता है। और व्युत्थानरूप आगमनका अपादान अवधि भी ब्रह्म ही है। यह उत्तर वाक्यका निर्णय है।

और सुषुप्तिमें परब्रह्मके साथ ही जीवका एकीभाव होता है; परब्रह्मसे ही प्राणादिक सम्पूर्ण जगत् पैदा होता है। यह सर्व वेदान्तकी मर्य्यादा है। अतः "इस जीवके प्रोद्भूतभ्रमाभावरूप व स्वस्थतारूप स्वापका जो अधिकरण है; और जहांपर उपाधिजनित विशेषविज्ञानरूप जाग्रत् स्वप्न करके रहित यह जीव होता है; और स्वाप भ्रंशरूप आगमनका जो अवधि है; सो ही परमात्मा इस सम्वादमें वेदितव्यत्वेन उपदिष्ट है" यह निश्चय होता है।

केवल कौषीतकि ब्राह्मणगत प्रश्नोत्तरसे ही यह निर्णय नहीं होता है किन्तु वाजसनेयी शाखावाले भी इसी बालाकि अजातशत्रुके सम्वादगत प्रश्न व उत्तरमें विज्ञानमय शब्दसे जीवका स्पष्ट उपदेश करके पुनः जीवसे व्यतिरिक्त परमात्माका उपदेश करते हैं।

वाजसनेयी सम्वादगत प्रश्न—"य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्

कुत एतदगात्" (बृ० २।१।१६)। अर्थ—जो यह विज्ञानमय पुरुष जीव है; सो यह सुपुप्ति अवस्थामें कहां जाता है? और किसरूपसे अवस्थित होता है? और व्युत्थित अवस्थामें यह जीव कहांसे आता है? अर्थात् इस विज्ञानमय जीवके शयनका व भवनका अधिकरण व व्युत्थानरूप आगमनका अवधि कौन है इति।

उत्तर—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इत्यादि। अर्थ—जो यह हृदयके अन्तर्वर्ती आकाश है सो ही जीवके शयन व भवनका आश्रय है, और व्युत्थानका अवधि है इति।

शंका। इस प्रश्नके उत्तरमें तो शयनका आश्रय आकाश बतलाया है, ब्रह्म शयनका अधिकरण कैसे बन सकता है?

समाधान। 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'; 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'आकाशस्तल्लिङ्गात्।' इत्यादि श्रुति स्मृतियोंमें 'आकाश' शब्दका परमात्मामें प्रयोग प्रसिद्ध है। अत इस उत्तर वाक्यमें भी आकाश शब्द ब्रह्मका ही बोधक है। क्योंकि भूतभौतिक विलयरूप सुषुप्ति अवस्थामें जीवका आधार भूताकाश नहीं बन सकता है, तिस अवस्थामें आकाशका विलय हो चुका है। और 'सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' इस मन्त्रमें अन्तःकरणादिरूप उपाधिके व्युच्चरणसे चिदाभासरूप आत्मावोंके व्युच्चरण (उत्पत्ति) का उपदेश करते हुये वाजसनेयीशाखावाले भी परमात्माको ही आभासादि प्रपञ्चका कारणरूपसे उपदेश करते हैं यह निश्चय होता है। क्योंकि चिदाभासोंका अन्यसे व्युच्चरण नहीं बन सकता है। अतः "अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह जीवादि संसार व्युच्चरणका कारण परमात्मा ही है" यह इस अधिकरणका निश्चय है।

और इस सम्वादमें सुषुप्त पुरुषके व्युत्थापन द्वारा प्राणादि संघातसे व्यतिरिक्त जीवको दिखलाकर पुनः प्रश्नोत्तरद्वारा जीवसे व्यतिरिक्त जगद्भ्रमके अधिष्ठानरूप ब्रह्मका जो उपदेश है सो जीवनिराकरणवत् प्राणनिराकरणका भी अभ्युच्चय है अर्थात् हेत्वन्तर है। अर्थात् जीवनिराकरणकी तरह प्राणनिराकरणपक्षमें भी इस सूत्रकी योजना समझनी।

शंका। परमात्मासे जीवात्मा भिन्न है? किं अभिन्न है? द्वितीयपक्षमें—'अन्यार्थं तु जैमिनिः' यह भेदवचन असङ्गत होगा। प्रथमपक्षमें यदि अत्यन्त भेद है; तो भी जैसे घटदर्शन पटदर्शनका हेतु नहीं बन सकता है। तैसे ही जीवदर्शन भी ब्रह्मदर्शनका हेतु नहीं बन सकता है। औपाधिक भेद पक्षमें अज्ञान उपाधि है? वा अन्तःकरण? अज्ञान पक्षमें जीवके गमन आगमनका असम्भव होगा। क्योंकि परिणामादि क्रियाका अज्ञानमें संभव होने पर भी गमन आगमन क्रिया अज्ञानमें है नहीं। व्यापक चिदात्मा भी क्रियाशून्य है। अतः विशिष्ट जीवका भी गमनादिका असम्भव होगा। और

'कुत एतदगात्' यह प्रश्न भी व्यर्थ होगा। अन्तःकरण पक्षमें उपाधिगमनागमनसे जीवके गमनादिका सम्भव होने पर भी अजातशत्रुको सुप्त पुरुषकी देहका भान विवर्तवादमें नहीं बन सकता है। क्योंकि 'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः स्वस्वरूपमेति'। अर्थ—सुषुप्तिकालमें देहादि सकल प्रपञ्चका विलय होता है; तमः करके अभिभूत चित्स्वरूपमें जीवका एकीभाव होता है इति। इस श्रुतिरूप प्रमाणसे सुप्त पुरुषका देहादि निखिल प्रपञ्च विलीन हो चुका है। और विक्षेप कालमें भी अपनी २ भ्रान्तिके विषयका साक्षात्कार अपने २ को ही होता है। परको परभ्रान्तिका विषय भासता नहीं।

यद्यपि सुप्त परपुरुषीय देहगत प्राणकी श्वास प्रश्वास क्रिया अपने सर्वके अनुभव सिद्ध है। क्योंकि "यह देवदत्तका प्राणप्रचारविशिष्ट देह है" इस प्रत्यक्षका अपलाप कोई नहीं कर सकता है। तथापि—'सैवेयं दीपकलिका' अर्थात् 'सो ही यह दीपकी कलिका है' यहांपर जैसे सादृश्यरूप उपाधिसे पूर्वोत्तरवर्ती दीपकलिकावोंका अभेदभ्रम होता है, क्योंकि पूर्वकालीन दीपकलिका (ज्योतिः) इस समय है नहीं। तैसे ही सादृश्यदोषसे सुप्त पुरुषकी पूर्वकालीन भ्रान्तिके विषय देहका और स्वभ्रान्तिके विषय देहका अभेदभ्रम बन सकता है। अतः सुप्त पुरुषीय श्वास प्रश्वास क्रियाका "यह देवदत्तका प्राणप्रचारविशिष्ट देह है" इत्यादि अनुभव भ्रममात्र है। क्योंकि अन्यकी भ्रान्तिके विषयका अन्यको भान नहीं हो सकता है।

अन्यथा जहांपर दो पुरुषोंको रज्जुमें सर्पभ्राति हुई हो, अनन्तर एक पुरुषको अधिष्ठान साक्षात्कार हुवा हो। तहांपर द्वितीयपुरुषकी भ्रान्तिका विषय सर्प रज्जुसाक्षात्कारवान् पुरुषको भी भासना चाहिये। परन्तु भासता है नहीं। यहां यद्यपि प्रथम पुरुषकी भ्रान्तिका विषय सर्प नष्ट हो गया है। तथापि द्वितीय पुरुषकी भ्रान्तिका विषय सर्प विद्यमान है।

तथा च जैसे एक ही रज्जुमें अनेक पुरुषोंको कदाचित् नाना सर्पभ्रान्ति होती है। तैसे ही एक ही आत्मामें नाना जीवोंको नाना प्रपञ्चकी भ्रान्ति है। देवदत्तका प्रपञ्च भिन्न है। यज्ञदत्तका प्रपञ्च भिन्न है। देवदत्तके शयनकालमें देवदत्तका निखिल प्रपञ्च लीन हो जाता है। यज्ञदत्तका प्रपञ्च ही यज्ञदत्तको भासता है। यह विवर्तवादका सिद्धान्त है। और सुप्त पुरुषकी देहादि निखिल सृष्टिका तिस कालमें विलय होजानेसे भी अजातशत्रुको सुप्तकी देहका भान नहीं हो सकता है। अतः अजातशत्रुकी भ्रान्तिके विषय देहमें यष्टिघात करके परपुरुषके व्युत्थानसे प्राणव्यतिरिक्त भोक्ताका निश्चय असम्भावित है। अजातशत्रुकी भ्रान्तिके विषय सुप्त देहसे अन्य सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। अतः यष्टिघातसे व्युत्थानका भी असम्भव है।

समाधान। "पर भ्रान्तिके विषयका परको प्रत्यक्ष नहीं होता है"

इस सिद्धान्तपक्षमें भी परभ्रान्तिके विषयके साथ परभ्रान्तिके विषयका सम्बन्ध अवश्य है। "जिस सर्पको तुम देखते हो तिसको ही मैं भी देख रहा हूं" इत्यादि अनुभवके बलसे-जहां एक ही कालमें एक ही रज्जुमें अनेक पुरुषोंको अनेक सर्पोंकी भ्रान्ति होती है; तहां रज्जुमें तिन पुरुषोंकी सर्पभ्रान्तिके विषय सर्पोंका परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध है।

शंका। तादात्म्यसम्बन्ध स्वका स्वमें होता है। जैसे घटमें जो घटका सम्बन्ध है सो तादात्म्य है। और घटमें पटका अथवा दूसरे घटका तादात्म्य सम्बन्ध है नहीं। तैसे एकपुरुषीय सर्पादिभ्रान्तिके विषयका द्वितीय पुरुषकी भ्रान्तिके विषय सर्पादिकसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं बन सकता है।

समाधान। यद्यपि अकल्पित दो पदार्थोंका परस्पर तादात्म्यसम्बन्ध नहीं बन सकता है। तथापि समानदेशीय समानकालीन समान आकृतिवाले कल्पित पदार्थोंका परस्पर तादात्म्य अनुभवसिद्ध है। "अन्यथा जिस सर्पको तुम देखते हो तिसको ही मैं भी देख रहा हूं" इस अनुभवकी उपपत्ति न बन सकेगी। इसी प्रकारसे सभाके मध्यमें स्थित शतशः पुरुषोंकी भ्रान्तिके विषय शतशः स्तम्भोंका भी परस्पर तादात्म्य है। क्योंकि कल्पित पदार्थोंमें परस्पर स्थान-निरोधकत्वके न होनेसे तादात्म्यका सम्भव है। "जिस स्तम्भको तुम देख रहे हो उसीको मैं भी देखता हूं" यह अभेदज्ञान भ्रान्ति मात्र है। तादात्म्यरूप सादृश्य-दोषसे जन्य है। क्योंकि "परकी भ्रान्तिका विषय अन्यको भासता नहीं" यह अनुभव पूर्व दिखला आये हैं।

शंका। पर भ्रान्तिके विद्यमान विषयका वर्तमान पर भ्रान्तिके विषयसे सम्बन्ध होनेपर भी जाग्रत् पुरुषीय भ्रान्तिके विषयका सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिसे कोई सम्बन्ध बने नहीं। अतः अजातशत्रुकी भ्रान्तिके विषय यष्टिघातादिका सम्बन्धी देहके साथ विलीन सुप्तपुरुषीय देहादिके सम्बन्धका सम्भव बने नहीं। तथा च अजातशत्रुकृत यष्टिघात सम्बन्धी प्रत्यक्ष देहका और सुप्त पुरुषका सम्बन्ध न होनेसे यष्टिघातसे व्युत्थानका असम्भव होगा। व्युत्थानके असम्भवसे प्राणादिक संघातसे व्यतिरिक्त जीवरूप भोक्ताके परामर्शका असम्भव होगा। जीवपरामर्शके असम्भवसे जीवपरामर्शद्वारा ब्रह्मबोधका असम्भव स्पष्ट है। ब्रह्मबोधके असम्भवसे ब्रह्मके बोधका जनक जीवके परामर्शका बोधक 'अन्यार्थं तु जैमिनिः' इत्यादि सूत्रकी रचना व्यर्थ है।

समाधान। सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिसे भी जाग्रत् पुरुषीय भ्रान्तिके विषयका—**'स्वतादात्म्यवत्तादात्म्य'** अथवा **'स्वाधिष्ठानाधिष्ठितत्व'** रूप सम्बन्ध बन सकता है। तथा च अजातशत्रुकी प्रत्यक्ष भ्रान्तिके विषय देहका तादात्म्य अजातशत्रुके मूलाज्ञानसे है। और मूलाज्ञानका तादात्म्य सुप्त पुरुषके मूलाज्ञानसे है। सुप्त पुरुषके मूलाज्ञानमें ही सुप्त पुरुषके देहादिका विलय हुवा

है। अतः सुप्त पुरुषकी विलीन सृष्टिके साथ जाग्रत् पुरुषकी सृष्टिका उक्त सम्बन्ध बन सकता है।

अथवा द्वितीय सम्बन्ध है–स्व कहिये जाग्रत् भ्रान्तिका विषय यष्टिघातवाला देह, इस देहके अधिष्ठान आत्मामें ही परपुरुषीय अविद्यादिक प्रपञ्चकी कल्पना है। तथा च यष्टिघातसे प्रत्यक्ष देहमें क्षोभद्वारा मूलाज्ञानमें क्षोभ होगा। अजातशत्रुके मूलाज्ञानद्वारा सुप्त पुरुषके मूलाज्ञानमें क्षोभसे व्युत्थानका सम्भव हो सकता है।

शंका। ब्रह्मसाक्षात्कारवाले अजातशत्रुका मूलाज्ञान है नहीं। क्योंकि "ज्ञानी पुरुषका मूलाज्ञान, ज्ञानकी उत्पत्तिक्षणमें ही नष्ट हो जाता है" यह वेदका सिद्धान्त है। तथा च उक्त सम्बन्धका असम्भव है।

समाधान। यद्यपि "ज्ञानप्राप्तिक्षणमें ही विद्वानका मूलाज्ञान नष्ट हो जाता है" यह वार्ता सत्य है। तथापि प्रारब्धरूप प्रतिबन्धके बलसे ज्ञानीकी लेशाविद्याका नाश नहीं होता है। अत एव विद्वान्‌का भी सुषुप्ति आदिक व्यवहार अनुभव सिद्ध है। तथा च विद्वान्‌की लेशाविद्या*के विद्यमान होनेसे उक्त सम्बन्ध बन सकता है। तथा च व्युत्थानके सम्भवसे अग्रिम असम्भवकी परम्पराका भी असम्भव है। एवं च सूत्ररचना व्यर्थ नहीं है। तथा च चन्द्रप्रतिबिम्बदर्शनसे बिम्बरूप चन्द्रदर्शनकी तरह चित्प्रतिबिम्बरूप जीवके दर्शनसे चिद्रूप ब्रह्म दर्शनकी बोधक सूत्रकी रचना सार्थक है। तथा च "शुद्ध अद्वितीय असङ्ग आत्माका बोधक ही बालाकि ब्राह्मण है" यह अर्थ सिद्ध हुवा। अतएव बालाकि ब्राह्मणमें आदित्यादिक देवतावोंके कारण ब्रह्मका उपदेश करके अग्रिम दो ब्राह्मणोंमें देवतोपासनादि जगत्के निरूपणके अनन्तर; अन्तमें 'अथात आदेशो नेति नेति' इस वाक्यसे अध्यारोपित दृश्यमात्रका निषेध करके निर्विशेष ब्रह्मका आदेश (उपदेश) किया है॥ १८॥

इति जगद्वाचित्वाधिकरणम् समाप्तम्।

वाक्यान्वयात्॥ १९॥

अर्थ—इस सूत्रमें 'वाक्यान्वयात्' यह एक ही पद है। मैत्रेयी ब्राह्मणमें परमात्मा ही प्रतिपाद्य है जीवात्मा प्रतिपाद्य नहीं है। क्योंकि परमात्मामें ही याज्ञवल्क्यका और मैत्रेयीका सम्वादरूप वाक्यका अन्वय अर्थात् तात्पर्य है इति।

---

* यह देहादिसृष्टि, जिस अविद्या अंशका परिणाम है। तिस अविद्या अंशका नाम लेशाविद्या है। इस अविद्या अंशमें ही देहादि सृष्टिका तादात्म्य है। अतः "ज्ञानीकी मूलाविद्याके नाश हो जानेसे ज्ञानीकी देहादि सृष्टिकी भी स्थिति नहीं बन सकती है"? इस शंकाका भी अवसर नहीं होता है।

बृहदारण्यकके मैत्रेयी ब्राह्मणमें यह सम्वाद है कि संन्यासग्रहणकी इच्छावाले याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी ज्येष्ठ भार्य्या ब्रह्मवादिनी मैत्रेयीके प्रति – "हे मैत्रेयि! मैं इस गृहस्थाश्रमको त्यागकर संन्यास आश्रम ग्रहण करनेवाला हूं। इसलिये इस कात्यायनीका और तेरा धनविभागसे परस्पर विभाग कर देता हूं" इस वाक्यको कहते भये।

मैत्रेयी—हे भगवन्! वित्तसे परिपूर्ण समस्त पृथिवी भी यदि मुझे मिल जाय तो क्या मेरा अमृतत्व (मोक्ष) होगा?

याज्ञवल्क्य—जैसे भोगसाधनसम्पन्न प्राणीका जीवन सुखसे होता है। इसी प्रकार तेरा भी जीवन वित्तसे होगा, मोक्षकी आशा वित्तसे नहीं है।

मैत्रेयी—जिससे अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती है उस वित्तसे मुझे क्या करना है। हे भगवन्! जो अमृतत्वका साधन ब्रह्मज्ञान है। तिसका ही मुझे उपदेश कीजिये।

याज्ञवल्क्य—तू पूर्व भी मुझे प्रिय थी-अब भी मेरे अनुकूल ही भाषण करती है। आ, पासमें बैठ, तुझको मैं अमृतत्वकी साधन ब्रह्मविद्याका उपदेश करता हूं। समाहित चित्त होकर श्रवण कर ध्यान कर।

इस पतिके वचनको सुनकर जब मैत्रेयी सावधान होकर पासमें श्रवण करनेके लिये बैठी तब याज्ञवल्क्यजीने "न वा अरे पत्युः कामाय"। इत्यादि ग्रन्थसे "पतिजायापुत्रवित्तादिक सम्पूर्ण पदार्थ जिस आत्माके लिये प्रिय होते हैं, सो ही आत्मा मुख्य प्रिय है। अतः पतिजायादिकसे विरक्त होकर आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य, मन्तव्य व निदिध्यासितव्य है इस आत्माके श्रवण मनन व निदिध्यासन करके आत्माका दर्शन होता है। और आत्मदर्शनसे यह सर्व जगत् विदित होता है" यह उपदेश किया है।

अन्यके दर्शनसे अन्यका दर्शन कैसे हो सकता है? इस शंकाके परिहार वास्ते "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद" इत्यादि वाक्यसे "भेददर्शीको भेदका दर्शन तिरस्कारका हेतु होता है; भेददर्शन मिथ्या है, सर्वरूप आत्मा ही है" ऐसा अभेदका उपदेश किया है।

तदन्तर इसी अभेदको समर्थनके वास्ते दुन्दुभि, शंख व वीणारूप तीन दृष्टान्त कहे हैं। आत्मासे ही जगत्की उत्पत्ति कही है। आत्मामें ही जगत्का लय कहा है। और सैंधवखिल्य (लवणखण्ड) दृष्टान्तसे समुद्रप्रक्षिप्त लवणखण्डकी तरह ब्रह्मलीन जीवका पुनरनुत्थान कहा है। और मुक्त दशामें संज्ञाका अभाव कहा है। और अग्रिम ग्रन्थसे प्रश्नपूर्वक संज्ञाभावका ही, अविद्यामूलक द्वैतदर्शनके प्रतिपादन द्वारा, उपपादन किया है। यह सम्वाद बृहदारण्यकके चतुर्थाध्यायमें और षष्ठाध्यायमें है।

'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्यादि वाक्यघटित उक्त सम्पूर्ण सम्वाद 'वाक्यान्वयात्' इस सूत्रका विषय है।

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ॥" (बृ० ४।५।६)। अर्थ—पतिजायापुत्रवित्तादिक सम्पूर्ण अनात्म वस्तु पतिजायादिके लिये प्रिय नहीं हैं। किन्तु आत्माके लिये ही पतिजायादिक प्रिय होते हैं। अर्थात् आत्मामें ही मुख्य प्रेम है। पतिजायादिकोंमें आत्माके सम्बन्धसे प्रीति है। सम्बन्धके तारतम्यसे प्रेमका तारतम्य है। तथा च परम प्रिय आनन्दरूप आत्माका प्रत्यक्ष करना चाहिये। आत्मा ही गुरु व शास्त्र द्वारा श्रोतव्य है। और युक्ति करके मन्तव्य है। अनात्मविषयक वृत्तितिरस्कार-पूर्वक प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक वृत्तिप्रवाहरूप निदिध्यासन करके अनात्म प्रत्ययतिरस्कारद्वारा शास्त्र व गुरुजन्य अनुभवकी एवं युक्तिजन्य अनुभवकी स्वानुभवके साथ एकवाक्यता करके ब्रह्माभिन्नात्माको स्वसम्वेद्य करना चाहिये। अरे मैत्रेयि! आत्माके दर्शनसे व श्रवणसे मननसे व निदिध्यासनसे जब प्रत्यगभिन्न ब्रह्मका साक्षात्कार होता है तब अविदित वस्तु कुछ नहीं रहती है, किन्तु आत्माके ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुका ज्ञान हो जाता है इति।

इस वाक्यमें यह संशय है—क्या विज्ञानात्मा जीवका ही यह द्रष्टव्य श्रोतव्यत्वादिरूपसे उपदेश है। अथवा परमात्माका उपदेश है।

शंका। इस संशयका हेतु क्या है?

समाधान। पतिजायादि भोग्यके सम्बन्धसे और पतिजायादिक जिसके वास्ते प्रिय हैं तिस भोक्तृविषयक उपक्रमसे विज्ञानात्मा जीवका उपदेश मालूम पड़ता है। तथा आत्मविज्ञान करके सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके श्रवणसे परमात्माका उपदेश प्रतीत होता है। तथा च अनेक धर्मोपपत्ति करके जन्य यह संशय है।

"वस्तुतः किसका उपदेश यहां प्राप्त हुवा" ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ **पूर्वपक्ष।** उपक्रमसामर्थ्यसे विज्ञानात्मा जीवका ही यह उपदेश है। क्योंकि "पतिजायापुत्रवित्तादिक सर्व भोग्य जगत् अपने आत्माके ही वास्ते प्रिय है" इस प्रकार पतिजायादिविषयक प्रीति करके 'संसूचित' अनुमित जो यह पतिजायादिविषयक प्रीतिका कर्ता भोक्ता आत्मा है। इस आत्माका उपक्रम करके अनन्तर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिक दर्शन श्रवणादिका उपदेश अन्य किस आत्माका हो सकता है?

और मध्यमें 'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।' अर्थ—'इदम्' यह प्रत्यग् 'महत्' अपरिमित 'अनन्त' परिच्छेदशून्य 'अपार' सर्वगत ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म ही; जीवरूपसे

कार्यकारणरूप उपाधि द्वारा जन्मादि विकारका अनुभव करके; आत्मसाक्षात्कारके अनन्तर उपाधिनाशसे नष्ट होता है। अर्थात् चिदात्माका प्रतिबिम्बरूप खिल्यभावका अभाव होता है। 'प्रेत्यं' कार्यकारणरूप उपाधिनाशके अनन्तर संज्ञा नहीं रहती है इति। यह श्रुति भी 'आत्मनस्तु कामाय' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिसे प्रकृत महान् सिद्धस्वरूप द्रष्टव्य आत्माका ही देहादिक भूतोंसे विज्ञानात्मरूप करके समुत्थानको कहती हुई जीवात्मामें ही द्रष्टव्यत्वको दिखाती है।

और अन्तमें 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' "अरे मैत्रेयि! विज्ञाता ज्ञानकर्ताको कोई किस साधनसे जान सकेगा" इस उपसंहार श्रुतिसे भी यहां ज्ञानकर्ता जीव ही द्रष्टव्य प्रतीत होता है। अर्थात् विज्ञानकर्ताके वाचक विज्ञाता शब्दसे उपसंहार करते हुये याज्ञवल्क्य ऋषि "विज्ञाता विज्ञानात्माका ही इस प्रकरणमें उपदेश है" इस अर्थको दिखाते हैं। क्योंकि ब्रह्ममें कर्तृत्वादिक धर्म हैं नहीं।

शंका। जीवज्ञानसे सर्वविज्ञानका असम्भव होगा। तथाच आत्मज्ञानसे सर्वज्ञानकी प्रतिज्ञा भङ्ग होगी; अतः यहां ब्रह्म ही द्रष्टव्य मानना चाहिये।

समाधान। आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा औपचारिक (गौण) है। भोक्ताके ज्ञानसे भोग्यका ज्ञान हो ही गया। क्योंकि "समस्त भोग्य भोक्ताके ही वास्ते है" यह अभिप्राय है। तथाच यहां पूर्वपक्षकी रीतिसे जीव ही द्रष्टव्य उपास्य सिद्ध हुवा। इस तरह पूर्वपक्षके प्राप्त हुये--

अथ सिद्धान्तपक्ष। परमात्माका ही यह उपदेश है, क्योंकि यहां समस्त वाक्यसन्दर्भका पूर्वापर विचार करनेसे अन्वय (तात्पर्य) ब्रह्ममें ही प्रतीत होता है।

शंका। जीवविषयक उपक्रम उपसंहार और मध्यमें परामर्शके बलसे वाक्यके तात्पर्य्यका विषय ब्रह्म कैसे हो सकता है।

समाधान। अब "समस्त मैत्रेयीब्राह्मण ज्ञेय ब्रह्ममें ही समन्वित है" इस अर्थको उपपादन करते हैं—'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' अर्थात् 'मोक्षकी आशा वित्तसे नहीं है' इस वाक्यको याज्ञवल्क्यसे श्रवण करके 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्याम् यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' अर्थ—जिस वित्तसे अमृतत्वकी आशा नहीं है तिस वित्तसे मुझे क्या करना है। हे भगवन्! अमृतत्वका साधन जो आप जानते हो सो ही मेरे वास्ते उपदेश कीजिये इति। इस प्रकार अमृतत्वकी आशावाली मैत्रेयीके प्रति याज्ञवल्क्य इस आत्मविज्ञानका उपदेश करते हैं। अतः परमात्माका ही यह उपदेश है। क्योंकि "परमात्माके विज्ञानसे विना अमृतत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है" इस अर्थको समस्त श्रुतिस्मृतिवाद कहते हैं। इसी प्रकार आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा भी विना परम कारण परमा-

त्माके विज्ञानसे मुख्य सिद्ध नहीं हो सकती है। और 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इस श्रुतिमें आत्म विज्ञानसे सर्वविज्ञानके उपचारका आश्रयण भी नहीं कर सकते हैं। क्योंकि आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके अनन्तर ग्रन्थसे तिस ही प्रतिज्ञाका उपपादन किया है—'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादि। अर्थ—जो पुरुष ब्रह्मक्षत्रादिक जगत्को आत्मासे अन्यत्र स्वतन्त्र सत्तावाला देखता है तिस मिथ्यादर्शीको सो मिथ्या दृष्टिका विषय ब्रह्मक्षत्रादिक जगत् तिरस्कार करता है इति।

शंका। भाष्यमें ब्रह्मक्षत्र शब्द करके ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व जातिका ग्रहण करा है सो असङ्गत है। क्योंकि जातिको जड़ होनेसे चेतनका तिरस्कार-कर्तृपना बने नहीं।

समाधान। भेददृष्टिसे ब्राह्मणत्वादिक अभिमान होता है, देहसम्बन्धी पदार्थोंमें ममता होती है। और पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि होती है। इष्टानिष्ट बुद्धिसे इष्टमें राग और अनिष्टमें द्वेष होता है। रागसे प्रवृत्ति और द्वेषसे निवृत्ति होती है। प्रवृत्ति निवृत्तिसे धर्माधर्म होता है; धर्माधर्मसे शरीर होता है। शरीरसे तिरस्कारादि दुःख होता है। अतः ब्राह्मणादिक भेददृष्टिको तिरस्कारका हेतु होनेसे भाष्य सङ्गत ही है।

इस प्रकारसे निन्दाद्वारा भेददृष्टिका अपवाद करके 'इदं सर्वं यदयमात्मा' अर्थात् "यह जो सर्व जगत् है सो सर्व इस आत्माका स्वरूप ही है" इस वाक्यसे सर्व जगत्का आत्मासे अभेदका उपदेश किया है।

शंका। जैसे घटके ज्ञानसे पटका ज्ञान नहीं हो सकता है। तैसे ही आत्माके ज्ञानसे जगत्का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अन्यके ज्ञानसे अन्यका ज्ञान अप्रसिद्ध है। और धूमके ज्ञानसे वह्निका ज्ञान जैसे होता है; तैसे ही आत्माके ज्ञानसे जगत्के ज्ञानकी शंका भी नहीं बन सकती है। क्योंकि व्याप्यके ज्ञानसे व्यापकका ज्ञान व्याप्तिके बलसे बन सकता है। आत्माके ज्ञानसे जगत्का ज्ञान बने नहीं। आत्मा जगत्का व्याप्य नहीं है, किन्तु व्यापक है। व्यापकके ज्ञानसे व्याप्यका ज्ञान बने नहीं।

समाधान। "जिसके ज्ञान विना जिसका ज्ञान नहीं हो सकता है सो तिससे अभिन्न होता है" यह नियम है। जैसे रज्जुके भान विना रज्जुसर्पका भान नहीं हो सकता है। और शुक्तिके भान विना रजतका ज्ञान नहीं हो सकता है। एवं मृत्तिकाके भानसे विना तत्कार्य घटादिका भान नहीं हो सकता है। तैसे ही आत्माके भान विना जगत्का भी भान नहीं हो सकता है। अतः जगत् आत्मासे अभिन्न है।

एवं दुन्दुभि शंख वीणा रूप तीन दृष्टान्तों करके अध्यस्त और अधिष्ठानके

अभेदको ही श्रुति भगवती दृढ़ करती है—'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' इत्यादि। अर्थ—वीरादि रस संयुक्त शब्दका नाम दुन्दुभ्याघात है। जिस प्रकारसे दुन्दुभि (भेरी) को हनन करने पर दुन्दुभिसे निकले हुये शब्दविशेषोंको दुन्दुभिशब्दसामान्यके ग्रहण विना विशेषरूपसे पुरुष ग्रहण नहीं कर सकता है। दुन्दुभिशब्दसामान्यके ग्रहणसे "यह दुन्दुभि शब्द है" इस प्रकारसे शब्दविशेषका ग्रहण होता है इति।

अर्थात् जिसके ज्ञान विना जिसका ग्रहण नहीं होता है सो तिससे अभिन्न होता है। सामान्यके ज्ञान विना विशेषका ज्ञान नहीं होता है। अतः सामान्य विशेषका अभेद है। दुन्दुभिशब्दसामान्यके ज्ञान विना दुन्दुभिशब्दविशेषका ज्ञान होता नहीं। अतः दुन्दुभिशब्दसामान्य ही दुन्दुभिशब्दविशेष है भिन्न नहीं। इसी प्रकारसे अधिष्ठानके ज्ञान विना किसी अध्यस्त वस्तुका ज्ञान होता नहीं। अतः सर्व अनात्मवस्तु अधिष्ठान आत्मासे भिन्न है नहीं। जैसे शब्दसामान्यमें शब्दविशेषका अन्तर्भाव है। तैसे ही सत्तारूप चित्सामान्यमें नामरूपका अन्तर्भाव है। यह उक्त दृष्टान्तका तात्पर्यार्थ है इति।

शंका। 'स यथा दुन्दुभेः' इस श्रुतिका उक्त अर्थसे अन्य अक्लिष्ट अर्थका वर्णन हो सकता है। अतः अधिष्ठान और अध्यस्तका अभेद प्रतिपादनके अनुकूल उक्त अर्थका वर्णन असङ्गत है। तथाच उक्त श्रुतिका यह अर्थ है। अर्थ—दुन्दुभिके बजाने पर दुन्दुभिसे 'बहिर्निःसृत' (बाहर निकले हुये) शब्दोंको कोई निरुद्ध नहीं कर सकता है। और दुन्दुभिके निरोधसे अथवा दुन्दुभिको बजानेवालेके निरोधसे दुन्दुभिके शब्दोंका निग्रह हो सकता है इति।

समाधान। इस उक्त अर्थसे अन्य अक्लिष्टतर अथका वर्णन भी हो सकता है। अक्लिष्टतर अर्थ—दुन्दुभिके बजाने पर बाह्य जो दुन्दुभिके शब्दोंसे अभिभूत मनुष्यादिकोंके शब्द हैं। तिनका ग्रहण नहीं हो सकता है। और दुन्दुभिके निरोधसे अथवा दुन्दुभि बजानेवालेके निरोधसे मानुषादि शब्दोंका ग्रहण हो सकता है इति। इस पक्षमें बाह्य शब्द भी सफल होता है। और 'दुन्दुभिसे बहिर्निःसृत' इस आर्थिक अर्थके वर्णनमें बाह्य शब्द निष्फल होता है। क्योंकि दुन्दुभिके शब्दोंमें दुन्दुभिसे बहिर्निःसरण स्वाभाविक है। अतः वाक्यार्थता नहीं बन सकती है। अनन्यलभ्य ही शब्दका अर्थ होता है। यदि वादी कहे कि—उक्त 'अक्लिष्टतर' अर्थ प्रकृतके असङ्गत है। तो यह दोष वादीके मतमें भी तुल्य है। क्योंकि पूर्ववादी करके उक्त 'अक्लिष्ट' अर्थकी भी प्रकृतमें सङ्गति है नहीं।

शंका। 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि। अर्थ—दुन्दुभिहननकी अनुवृत्तिसे दुन्दुभिशब्दकी तरह इन्द्रियव्यापारकी अनुवृत्तिसे बाह्यार्थ विषयक प्रत्ययका निरोध नहीं हो सकता है। अतः आत्मदर्शनार्थीने आत्मदर्शन विरोधी बाह्यार्थ-

विषयक प्रत्ययका इन्द्रियनिरोधसे अथवा इन्द्रियविजृम्भण हेतु मनके निरोधसे निरोध करना चाहिये इति। इस श्रुतिका यह अर्थ प्रकृतके उपयोगी है।

समाधान। **'स यथा दुन्दुभेः'** इत्यादि। अर्थ—दुन्दुभिशब्दरूप प्रतिबन्धसे मानुषादि शब्दोंका ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः मानुषादि शब्दोंके ग्रहणके लिये दुन्दुभिके निरोधकी जिस प्रकारसे अपेक्षा होती है। इसी प्रकारसे सूक्ष्म शरीरके व्यापाररूप प्रतिबन्धसे आत्माका ग्रहण नहीं हो सकता है। अतः आत्माके दर्शनके लिये सूक्ष्म शरीरके व्यापारनिरोधकी अपेक्षा होती है इति। प्रकृतका उपयोगी यह अर्थ भी इस श्रुतिका हो सकता है।

वस्तुतः **'इदं सर्वं यदयमात्मा'** इस अव्यवहित पूर्ववाक्यसे प्रकृत अभेदरूप अर्थकी उपपत्तिके लिये दार्ष्टान्तकी कल्पना करके तदनुकूल दृष्टान्तपरत्वेन उक्त श्रुतिका सिद्धान्तभाष्यके अनुसार "अध्यस्त और अधिष्ठानके अभेदका बोधक" अर्थका वर्णन प्रथम ही कर आये हैं। इसी प्रकार शंख व वीणा दृष्टान्तका तात्पर्य्य भी अभेदमें ही है।

शंका। 'आत्मासे जगत्का अभेद है' अथवा 'जगत्से आत्माका अभेद है'? प्रथम पक्षमें आत्माकी तरह जगत्में भी नित्यत्व अविकारित्वादिक होना चाहिये। और अन्तिम पक्षमें जगत्की तरह आत्मामें भी विनाशित्व व मिथ्यात्व होना चाहिये।

समाधान। मृगतृष्णाजलसे मरुभूमिका अभेद होनेपर भी मृगतृष्णाजलगत मिथ्यात्वादिक करके जैसे अधिष्ठान मरुभूमि सम्बद्ध नहीं होती है। अन्यथा अधिष्ठानभूमिमें आर्द्रपना (गीलापना) होना चाहिये। एवं अधिष्ठान मरुभूमिसे जलका अभेद होनेपर भी अधिष्ठानगत मरुभूमित्व जैसे मृगतृष्णाजलमें नहीं आता है। तैसे ही अध्यस्त जगत्का और अधिष्ठान आत्माका अभेद होनेपर भी जगद्गत मिथ्यात्व विकारित्वादिकी आत्मामें, और आत्मगत सत्यत्व अविकारित्वादिकी जगत्में, प्राप्तिकी शंका व्यर्थ है। तथा च रज्जुसर्पकी तरह आत्मासे पृथक् जगत्की सत्ता स्फुर्तिका अभाव होनेसे आत्माके ज्ञानसे जगत्के तत्त्वका ज्ञान हो ही गया। क्योंकि जैसे कल्पित सर्पका अधिष्ठान रज्जु ही वास्तव स्वरूप है। तैसे ही कल्पित प्रपञ्चका भी अधिष्ठान आत्मा ही वास्तव स्वरूप है।

शंका। अधिष्ठानके अज्ञात होनेपर भी अध्यस्त रजतका ज्ञान देखा गया है। अतः "अधिष्ठानके ज्ञानसे विना अध्यस्तका ज्ञान नहीं होता है" इस सर्वाभेदसाधक नियमका व्यभिचार है। और जैसे अध्यस्त रजतके प्रत्यक्षकालमें अधिष्ठान शुक्तिका प्रत्यक्ष नहीं होता है। तैसे ही जगत्के प्रत्यक्षकालमें आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता है। और जैसे अधिष्ठान शुक्तिके प्रत्यक्ष कालमें रजतभ्रम नहीं होता है। तैसे ही आत्माके प्रत्यक्षकालमें जगद्भ्रम भी नहीं होता है।

यह विद्वान्के अनुभव सिद्ध है। अतः आत्माके ज्ञानसे सर्वके ज्ञानकी सम्भावना नहीं हो सकती है।

समाधान। "अधिष्ठानके ज्ञान विना अध्यस्तका ज्ञान नहीं होता है" इस नियमका व्यभिचारकथन असंगत है। क्योंकि शुक्तिकादि अधिष्ठानकी सर्वथा अज्ञात दशामें रजतादिक भ्रम नहीं होता है। 'यह है' यह अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान भ्रमकालमें भी अवश्य रहता है। अतः उक्त नियमका व्यभिचार नहीं है। इसी प्रकारसे यद्यपि प्रपञ्च भ्रमकालमें अधिष्ठानका विशेष रूपसे ज्ञान नहीं भी है, तथापि आत्माकी 'अहमस्मि' 'मैं हूं' इत्यादि सामान्य प्रतीतिके विना प्रपञ्चभ्रमका असम्भव है।

और जैसे शुक्तिकादि अधिष्ठानके विशेषरूपसे अपरोक्ष कालमें यद्यपि अध्यस्त रजतादिके मिथ्या स्वरूपका ज्ञान नहीं भी है। तथापि वास्तवमें अधिष्ठान शुक्ति आदिक ही अध्यस्त रजतादिका तत्त्वस्वरूप है; अतः शुक्तिज्ञान ही रजततत्त्वका ज्ञान है। तैसे ही आत्माके साक्षात्कार कालमें जगत्के कल्पित स्वरूपका भान न होनेपर भी आत्माका साक्षात्कार ही जगत्के वास्तविक तत्त्वस्वरूपका साक्षात्कार है। क्योंकि जगत्का वास्तव स्वरूप आत्मा ही है। जैसे शुक्तिरजतका वास्तव स्वरूप शुक्ति ही है तद्वत्। और प्रपञ्चके मिथ्या अंशका भान परम पुरुषार्थके अनुपयोगी होनेसे जिज्ञासुको अपेक्षित है नहीं। आत्माके भानसे मिथ्या द्वैतके भानमें वेदका तात्पर्य भी नहीं है। किन्तु द्वैताभावमें ही तात्पर्य है— 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर द्वैत नहीं है।

इसी प्रकारसे छान्दोग्यषष्ठप्रपाठकके आदिमें विद्याभिमानसे स्तब्ध श्वेतकेतुके प्रति उद्दालक ऋषिने कहा है कि—हे श्वेतकेतो! 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति'। अर्थ—जिससे अश्रुत श्रुत होता है, अमत मत होता है, अविज्ञात विज्ञात होता है, तिस उपदेशको तुमने अपने गुरुसे प्राप्त किया है? इति। इस प्रश्नद्वारा उद्दालक ऋषिने एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके अवतरणको करके; पुनः—'कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति' अर्थात् हे भगवन्! किस प्रकारसे सो आदेश होता है? इस श्वेतकेतुके प्रश्नके अनन्तर मृत्तिका सुवर्ण लोहरूप तीन दृष्टान्तों करके कारणविज्ञानसे कार्यविज्ञानका लोकमें अनुभवको दिखलाकर; पुनः—'सदेव सोम्य' इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ करके सद्ब्रह्मसे सर्व जगत्की उत्पत्ति स्थिति व लयनिरूपणके अनन्तर—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'। अर्थ—सर्व जगत्की उत्पत्तिका जो कारण है, स्थिति दशामें जो जगत्का अन्तर्यामी है, अन्तमें जिसमें सर्व जगत्का विलय होता है, सो सद्ब्रह्म आत्मा तू ही है इति। इत्यादिक ग्रन्थसे अनेक शंका समाधान पूर्वक नौवार निष्प्रपञ्च सद्ब्रह्मके उपदेशसे उक्त प्रतिज्ञाका ही उपपादन किया है।

और मुण्डकोपनिषत्के आदिमें भी 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ।' अर्थ—हे भगवन् ! किसके विज्ञानसे यह सब जगत् विज्ञात होता है इति। इस वाक्य करके एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी जिज्ञासाका अवतरण करके—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

अर्थ—जो 'तत्' पदका लक्ष्य है। और जो दृश्यशून्य है। अग्राह्य है। गोत्रप्रवरादि रहित है। और जो वर्ण आश्रमादि रहित है। चक्षुश्रोत्रादि रहित है। और नित्य है। निरपेक्ष व्यापक है। दुर्लक्ष्य व विकारशून्य है। और जो भूतादि भ्रमका कारण है। तिसको धीर अर्थात् विषयतृष्णाके अभिभव करनेमें समर्थ जो पुरुष हैं; सो आत्मासे अभिन्न स्वरूप करके साक्षात् करते हैं इति। इत्यादि समस्त ग्रन्थ करके कार्यकारणके अभेद समर्थनद्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्मविज्ञानसे ही एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानविषयक जिज्ञासाका समाधान किया है।

जैसे एक अद्वितीय रज्जुमें-सर्पादि नाना भ्रमवाले अज्ञ पुरुषोंके प्रति रज्जु साक्षात्कारवान् पुरुषका 'रज्जौ विदिते सर्वं विदितं भवति' अर्थात् 'रज्जुज्ञानसे सर्वज्ञान होता है' यह वाक्य है। तैसे ही एक अद्वितीय आत्मामें अविद्यादि नाना भ्रान्तिवाले अज्ञ जीवोंके प्रति आत्मज्ञानवान् सर्वज्ञ ईश्वरका 'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' यह वाक्य है। अर्थात् यह वाक्य प्रपञ्चविषयक ज्ञानके लिये प्रयत्नको शिथिल करता हुवा "अधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिमित्त प्रयत्नबाहुल्यके लिये उत्साह कर्तव्य है" इस अर्थको बोधन करता है। अधिष्ठान रज्जुज्ञानके अनन्तर अध्यस्त सर्पादिका तत्त्व जैसे ज्ञात होता है। तैसे ही अधिष्ठान प्रत्यगात्मविषयक साक्षात्कारके अनन्तर अध्यस्त जगत्का तत्त्वज्ञान होता है। जैसे रज्जुज्ञानसे सर्पादि भयकी निवृत्ति और ज्ञानप्रयुक्त तृप्ति होती है। तैसे ही आत्मज्ञानसे जन्ममरणादि भयकी निवृत्ति और ज्ञानप्रयुक्त निरतिशय तृप्ति विद्वान्के अनुभवसिद्ध है।

केवल स्थिति कालमें ही नामरूप प्रपञ्च चिदात्मासे अभिन्न नहीं है; किन्तु "उत्पत्तिके पूर्व भी नामरूपको चिद्रूप करके अवस्थित होनेसे और आत्माको जगद्विभ्रमका उपादान होनेसे नामरूप विभ्रम आत्मस्वरूप ही है, रज्जुसर्पवत्" इस अर्थको श्रुति भगवती दृष्टान्तसे सिद्ध करती है—

'स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः' इत्यादि।

अर्थ—अरे मैत्रेयि ! गीली लकड़ियों करके प्रज्वलित अग्निसे जिस प्रकार धूम विस्फुलिङ्गादिक पैदा होते हैं। इसी प्रकार अनायास करके आत्मासे ऋग्वेदादिक जगत् पैदा

होता है। यहांपर धूमग्रहण विस्फुलिङ्गादिका उपलक्षण है इति। इत्यादिक वाक्य करके अनायाससे निखिल जगत्की उत्पत्तिका कारण प्रकृत आत्माको बतलाती हुई श्रुति भगवती प्रपञ्चमें मिथ्यात्व बोधन द्वारा "रज्जुसर्पकी तरह जगद्विभ्रम अधिष्ठान आत्मासे अतिरिक्त नहीं है" इस अर्थको बोधन करती है। और निखिल जगत्का हेतु जो यह प्रकृत आत्मा है सो परमात्मा ही है इस अर्थको भी बोधन करती है।

आत्मा जगत्का उपादान है; इसलिये ही जगत् आत्मासे अभिन्न है सो वार्ता नहीं है। किन्तु "प्रलय समयमें भी विषयोंके सहित, इन्द्रियोंके सहित, अन्तःकरणके सहित, निखिल प्रपञ्चके लयका एक अयन आधार भी अनन्तर अबाह्य परिपूर्ण प्रज्ञानघन आत्मा ही है" इस अर्थको एकायनप्रक्रियामें भी व्याख्यान करती हुई श्रुति भगवती आत्मासे जगत्का अभेद, और इस प्रकृत आत्मामें परमात्मपना, बोधन करती है। जिस वस्तुकी उत्पत्ति स्थिति व लयका जो कारण होता है सो वस्तु तिसका स्वरूप ही होती है। जैसे मृत्तिकासे उत्पन्न हुवा मृत्तिकामें स्थित हुवा मृत्तिकामें लीन हुवा घट मृत्तिका स्वरूप ही है। इसी प्रकार आत्मासे उत्पन्न हुवा, आत्मामें स्थित हुवा, आत्मामें ही लीन हुवा, जगत् आत्माका स्वरूप ही है। अतः जीवसे समस्त जगत्की उत्पत्ति आदिके असम्भव होनेसे "मैत्रेयी ब्राह्मणमें उपदिष्ट आत्मा परमात्मा ही है। और परमात्माका ही यह 'द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतिसे दर्शन श्रवणादिका उपदेश है" ऐसा प्रतीत होता है इति॥ १९॥

शंका। पतिजायापुत्रवित्तादिक अद्वितीय शुद्ध परमात्माको प्रिय नहीं हो सकते हैं। और मैत्रेयी ब्राह्मणमें पतिजायादिकोंमें प्रीतिवाले कर्ता भोक्ता जीवात्माका उपक्रम है। अत यहां परमात्माका उपदेश नहीं बन सकता है। किन्तु विज्ञानात्मा जीवका ही यह दर्शन श्रवणादिका उपदेश है?

समाधान। इस शंकाका समाधान सूत्रकार आचार्यदेशीयके मतसे करते हैं:-

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः॥ २०॥

अर्थ—१ प्रतिज्ञासिद्धेः, २ लिङ्गम्, ३ आश्मरथ्यः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। मैत्रेयी ब्राह्मणमें जो भोक्तृविषयक उपक्रम है सो प्रतिज्ञासिद्धिका लिङ्ग है-यह आश्मरथ्य आचार्यका मत है इति। जैसे वह्निके विकार विस्फुलिङ्गादिक अग्निसे अत्यन्त भिन्न भी नहीं हैं। अन्यथा विस्फुलिङ्गादिकोंमें अग्नित्व नहीं रहना चाहिये। और विस्फुलिङ्गोंसे दाह प्रकाश भी नहीं होना चाहिये। और अत्यन्त अभिन्न भी नहीं हैं। अन्यथा वह्निकी तरह परस्पर व्यावृत्तिका अभावप्रसङ्ग होगा। तैसे ही ब्रह्मविकार जीवात्मा भी ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न भी नहीं है। अन्यथा चिद्रूपत्वाभावप्रसङ्ग होगा। और अत्यन्त अभेद पक्षमें ब्रह्मकी तरह परस्पर व्यावृ-

त्तिका अभाव प्रसङ्ग होगा। और सर्वज्ञ ब्रह्मके प्रति उपदेश भी व्यर्थ होगा। अतः परमात्मासे जीवात्माका कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानना चाहिये।

तथा च यहांपर यह जो प्रतिज्ञा है—'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति। तिस प्रतिज्ञासिद्धिके वास्ते अभेद अंशका अनुसन्धान करके, पतिजायादिविषयक प्रीतिसे अनुमित भोक्तृ जीवविषयक उपक्रम पूर्वक यह आत्मविषयक द्रष्टव्यत्वादिका संकीर्तन है। अर्थात् इस मैत्रेयी ब्राह्मणमें पतिजायादिविषयक प्रीतिवाले भोक्ता जीवात्माका जो यह "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादि उपक्रम करके द्रष्टव्यत्व श्रोतव्यत्वादिका संकीर्तन है। सो यह आत्मविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाकी सिद्धिका सूचक लिङ्ग है। अर्थात् यदि जीवात्मा परमात्मासे वस्तुतः अन्य होता तो परमात्माके ज्ञान होनेपर भी जीवात्माका ज्ञान न होनेसे एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका भङ्ग होगा। अतः प्रतिज्ञासिद्धिके लिये जीवात्मा परमात्माके अभेद अंशको लेकर श्रुतिमें उपक्रम किया है। यह एकदेशी आश्मरथ्य आचार्यदेशीयका मत है। आचार्यपनेमें थोड़ी कसर जिसमें हो तिसका नाम आचार्यदेशीय है॥ २०॥

पुनः अन्य आचार्यदेशीयके मतसे सूत्रकार समाधान करते हैं—

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

अर्थ—१ उत्क्रमिष्यतः; २ एवंभावात्, ३ इति, ४ औडुलोमिः। इस सूत्रमें चार पद हैं। ज्ञानसे उपाधित्यागके अनन्तर जीवको 'एवंभावात्' कहिये ब्रह्मरूप होनेसे ब्रह्मोपदेशके प्रकरणमें जीवका उपक्रम श्रुतिमें किया है। यह औडुलोमिका मत है इति।

अर्थात् यद्यपि संसारदशामें यह विज्ञानात्मा व्यष्टि देहादि उपाधि करके कलुषित है। और समष्टि उपाधिवाले परमेश्वरसे भिन्न है। तथापि जीव और परमात्माका केवल संसारदशामें भेद है; और मुक्तिदशामें अभेद है। क्योंकि देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदिक संघातरूप उपाधिके सम्पर्कसे कलुषितपनेको ज्ञान ध्यानादि साधनोंके अनुष्ठानसे क्षालन करके ज्ञानद्वारा देहादि संघातरूप उपाधिसे समुत्थित जीवकी परमात्मासे एकताकी उपपत्ति बन सकती है। अतः उपाधि त्यागके अनन्तर जीवात्माका परमात्मासे भविष्यद् अभेदको समझकर परमात्माके प्रकरणमें भोक्ता जीवका यह उपक्रम किया है। भेदाभेदमें छान्दोग्य श्रुति प्रमाण है। श्रुतिः—'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८।१३।३)। अर्थ– सम्यक् प्रसन्नताको जहांपर जीव प्राप्त होता है ऐसा आनन्द स्वरूप परम प्रिय आत्माका नाम 'सम्प्रसाद' है। यह ही शुद्ध आत्मा उपाधिनिमित्तसे 'समुत्थाय' अर्थात् जीवभावको प्राप्त होकर, ज्ञान ध्यानादि साधनाभ्याससे आनन्दस्वरूपके साक्षात्कारद्वारा उपाधिविनिर्मुक्त

हुवा शुद्ध परज्योतिको प्राप्त होकर, ब्रह्मरूप स्वस्वरूपसे निष्पन्न होता है इति। इस श्रुतिसे संसारदशामें भेद, और मुक्तिदशामें अविद्याके नष्ट हो जानेसे अभेद स्पष्ट प्रतीत होता है। क्योंकि सर्वथा अभेद पक्षमें ज्ञान ध्यानादि साधनाभ्यास व्यर्थ होगा।

शंका। 'अविद्या, नाशरहिता, अनादित्वात्, आत्मवत्।' अर्थ—जैसे दृष्टान्त आत्मामें अनादित्व हेतु है; और नाशरहितत्व साध्य भी है। तैसे पक्षरूप अविद्यामें अनादित्व हेतु है; अतः नाशरहितत्व साध्य भी अवश्य मानना चाहिये इति। प्रागभावके अस्वीकर पक्षमें अनादित्व हेतुके व्यभिचारकी शंका भी नहीं बन सकती है। स्वीकारपक्षमें अनादित्वविशिष्ट भावत्व हेतु करनेसे व्यभिचारका वारण हो सकता है।

समाधान। वृद्ध वैशेषिक मतके अनुसार अनादि अणुश्यामतानाशकी तरह अविद्यानाश बन सकता है। और गौतम सूत्रमें भी अनादि संसारकी निवृत्तिमें प्रागभावनिवृत्तिको दृष्टान्त देकर प्रागभावके अस्वीकारपक्षकी शंकाका उद्भावन करके अनादि भावनिवृत्तिमें 'अणुश्यामतानित्यत्ववद्वेति' इस सूत्र करके पाकप्रयुक्त परमाणुश्यामतानिवृत्तिका दृष्टान्त दिया है। सांख्य व योग मतमें अनादि अविवेकनिवृत्तिकी तरह अनादि अविद्याका नाश विद्वान्के अनुभव सिद्ध है। अथवा अनादित्वविशिष्टभावत्व हेतु सोपाधिक है। क्योंकि उक्त अनुमानमें अपरिच्छिन्नत्वादिक उपाधि हैं।

शंका। "मुक्तिके पूर्व अविद्यादिक संसारका भेद और मुक्तिमें अभेद" इस सिद्धान्तपक्षसे औडुलोमिके मतमें विशेषताके न होनेसे सिद्धान्तमतसे इस मतका भेद सिद्ध नहीं हो सकता है। तथाच औडुलोमिमें आचार्यदेशीयत्व अर्थात् कुछ न्यूनताविशिष्ट आचार्यत्वका कथन असङ्गत है।

समाधान। सिद्धान्तमें मुक्तिसे प्रथम; जीवभेदादिक प्रपञ्च भ्रान्तिमात्र मिथ्या तुच्छ है। औडुलोमिके मतमें सत्य है। इसलिये सिद्धान्तसे इस मतका भेद है। और सिद्धान्तमें नामरूप उपाधिके धर्म हैं; इस मतमें जीवके ही धर्म हैं। 'नामरूप जीवके धर्म हैं' इसमें औडुलोमि नदीनिदर्शनवाली श्रुतिको प्रमाण देता है। श्रुतिः—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥' इति। अर्थ—जैसे लोकमें गंगादिक नदी वहती हुई अपने २ नामरूपको त्याग करके समुद्रमें अभेदभावको प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार विद्वान् जीव भी अपने नामरूपको त्याग करके पर दिव्य ज्योतिस्वरूप पुरुषको प्राप्त होता है इति। जैसे लोकमें गंगादिक नदी स्वाश्रित स्वाभाविक अपने नामरूपको त्यागकर, समुद्रमें मिलती हैं। तैसे ही विद्वान् जीव भी स्वाभाविक ही अपने नामरूपको त्यागकर परसे पर पुरुषको प्राप्त होता है। यही अर्थ

दृष्टान्त दार्ष्टान्तकी समताके लिये इस मुण्डक श्रुतिमें प्रतीत होता है। यह औडुलोमिका अभिप्राय है ॥ २१ ॥

दोनों आचार्यदेशियोंके मतसे भोक्ता जीवके उपक्रमकी शंकाके समाधानको कहकर अब आचार्य काशकृत्स्नके मतसे सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

अर्थ—१ अवस्थितेः, २ इति, ३ काशकृत्स्नः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। इस परमात्माको ही इस जीवरूप करके अवस्थित होनेसे परमात्माके दर्शनादिके प्रकरणमें स्थूलदर्शी लोकप्रतीतिकी सरलताके लिये अभिन्न रूपसे यह जीवात्माका उपक्रम युक्त ही है। यह काशकृत्स्न आचार्यका मत है इति।

अभेदमें श्रुति प्रमाण है। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।' मैं इस जीवरूप आत्मा करके देहादि प्रपञ्चमें प्रविष्ट होकर नाम रूपका व्याकरण (अभिव्यक्ति) करूं। सृष्टि उत्पत्तिके अनन्तर प्रवेशविषयक यह ईश्वरका संकल्प है इति। इत्यादि ब्राह्मणभाग देहादिकोंमें प्रविष्ट हुये परमात्माको ही जीवभावसे अवस्थित दिखलाता है। 'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' (तै०)। अर्थ—सर्व नामरूप सृष्टिको करके वाग् व्यवहारका कर्ता जो धीर (धीका प्रेरक) आत्मा है सो ही ब्रह्मका स्वरूप है इति। इत्यादिक मन्त्रभाग भी जीवब्रह्मके अभेदमें प्रमाण है।

शंका। आकाशादि प्रपञ्चकी तरह जीव भी परमात्माका विकार क्यों न मान लिया जाय।

समाधान। यदि तेज आदिक सृष्टिमें जीवकी भी पृथग् सृष्टि श्रुत होती तो परमात्मासे अन्य और परमात्माके विकार जीवको कह सकते थे; परन्तु जीवकी सृष्टि श्रुत है नहीं। शास्त्रमें जहां कहीं जीवकी उत्पत्ति प्रतीत होती है; सो भी उपाधिको उत्पत्तिका चिद्रूप जीवमें आरोपमात्र है। क्योंकि जीवका स्वरूप 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदसे निर्विकार सद्ब्रह्मरूप ही है।

"अविकृत परमेश्वर ही जीवका स्वरूप है। परमात्मासे भिन्न जीव नहीं है" यह काशकृत्स्न आचार्यका मत है। परिणामवादी आश्मरथ्यके मतमें यद्यपि जीवका परमात्मासे अभेद अभिप्रेत है। तथापि सूत्रमें 'प्रतिज्ञासिद्धेः' इस सापेक्षत्वके अभिधानसे; अर्थात् "प्रतिज्ञासिद्धिके लिये अभेदका उपक्रम है" ऐसा कहनेसे "जीव ईशमें भी किञ्चित् कार्यकारणभाव अभिप्रेत है" ऐसा निश्चय होता है। तथा च अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह परमात्मासे जीवकी उत्पत्तिके श्रवणसे जीव व ब्रह्मका भेद भी तात्त्विक है। अतः भेद अंशको लेकर कार्यका-

रणभावादिक व्यवहार है। और अभेद अंशको लेकर 'तत्त्वमसि' इत्यादिक व्यवहार है। तथा एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा आदिक व्यवहार है। और औडुलोमिके पक्षमें संसारदशाकी अपेक्षासे भेद, और मोक्षदशाकी अपेक्षासे अभेद है। यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इनमें काशकृत्स्नका मत श्रुति अनुसारी है। यह निश्चय होता है। क्योंकि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिक श्रुतियोंसे जो अभेदरूप अर्थ प्रतिपादन करनेको इष्ट है तिस अर्थके अनुसार ही यह मत है।

शंका। काशकृत्स्नका मत श्रुति अनुसारी नहीं हो सकता है; क्योंकि अत्यन्त अभेद पक्षमें कार्यकारणभावादि भेदप्रपञ्चविषयक प्रत्यक्षका अपलाप होगा।

समाधान। सिद्धान्तमें वास्तव अभेद ही है, कार्यकारणभावादिक भेद-प्रपञ्च अविद्याविलासमात्र है। जैसे रज्जुसाक्षात्कारसे सर्पभ्रमकी निवृत्ति होती है। और जैसे व्याधकुलमें परिपालित राजकुमारमें म्लेच्छभावकी आप्त-उपदेशजन्य राजकुमारत्वसाक्षात्कारसे निवृत्ति होती है। तैसे ही देहादि परिच्छिन्नचिद्ब्रह्म स्वरूपमें जीवभावकी, 'तत्त्वमसि' इत्यादि उपदेशके श्रवणमननिदिध्यासन परिपाकसे उत्पन्न हुई प्रत्यगभिन्न तत्त्वसाक्षात्काररूप विद्या करके, अत्यन्त निवृत्ति होती है। मृद्घटकी तरह ब्रह्म व जगत्के कार्यकारणभावपक्षमें ब्रह्मसाक्षात्कारसे जगत्की निवृत्ति नहीं बन सकती है। क्योंकि मृत्तिकाके साक्षात्कारसे घटादिका नाश नहीं देखा गया है।

शंका। सुवर्णतत्त्वसाक्षात्कारसे तत्कार्य कुण्डलादिकोंमें; मृत्तिकास्वरूप-साक्षात्कारसे घटादिकोंमें; जिस प्रकार मिथ्यात्व निश्चय होता है। इसी प्रकार परिणामपक्षमें भी ब्रह्मसाक्षात्कारसे जीवत्व ईश्वरत्वादिक प्रपञ्चमें मिथ्यात्व निश्चय हो सकता है। अतः मृद् घटकी तरह ही कार्यकारणभाव स्वीकार करना उचित है। मिथ्यात्वनिश्चयके होनेपर भी दण्डादिकके उपनिपात विना जैसे घटादि आकारका नाश नहीं होता है। इसी प्रकार प्रारब्धक्षयरूप निमित्तके उपनिपात विना देहादि आकारका नाश भी नहीं बन सकता है।

समाधान। परिणामवादमें मृत्तिका और घटका परस्पर भेदाभेद तात्त्विक है। विवर्तवादमें ब्रह्म और जगत्का अभेदमात्र तात्त्विक है, भेद मिथ्या अविद्या-विलसित है। अतः अधिष्ठानसाक्षात्कारसे मिथ्या भेदकी निवृत्ति बन सकती है। परिणामवादमें अधिष्ठान समसत्ताक सत्य वस्तुकी निवृत्ति नहीं बन सकती है। मृद्की तरह परिणामी होनेसे ब्रह्ममें विनाशित्वादिक दोषोंकी भी प्राप्ति होगी। और परिणामवादी आश्मरथ्य व औडुलोमिके मतमें भेदको सत्य होनेसे **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** यह आक्षेप असङ्गत हो जावेगा। और काशकृत्स्नके मतसे अत्यन्त अभेद होनेके कारण 'केन' यह आक्षेप युक्त होता है। रज्जु-सर्पकी तरह विवर्तपक्षका सिद्धान्तमें स्वीकार है। मृद् घटकी तरह परिणाम-

वादी आश्मरथ्यादिका मत अवैदिक है। अद्वितीय असङ्ग आत्मतत्त्वविषयक अविद्याविलास ही जगद्विभ्रम है। इसीलिये तिस जीवतत्त्वसाक्षात्कारसे प्रपञ्च-विभ्रमकी निवृत्तिरूप अमृतत्वकी भी सिद्धि होती है। यदि जीवको ब्रह्मका विकाररूप स्वीकार किया जाय तो विकृतिरूप जीवको प्रकृतिरूप ब्रह्ममें लीन हो जानेके अनन्तर जीवके विनाशका प्रसङ्ग होगा। और ब्रह्मज्ञानसे अमरभावकी प्राप्तिरूप मोक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिये जीव ब्रह्मका विकार नहीं है। किन्तु जैसे घटादिक उपाधिसे आकाशमें घटाकाशत्वादिककी कल्पना होती है। तैसे ही अविद्या उपाधिसे शुद्ध ब्रह्ममें जीवत्वादिकी कल्पना मात्र है। वास्तवमें ब्रह्म स्वरूप ही जीव है। स्वरूपसे जीवमें किसी नामरूपका सम्भव नहीं है। इसलिये उपाधिगत नामरूपका ही जीवमें उपचार होता है।

शंका। 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' इत्यादिक श्रुतियोंमें जीवकी उत्पत्ति स्पष्ट ही कही है। अतः जीव ब्रह्म नहीं हो सकता है।

समाधान। अत एव कहीं २ पर अग्निविस्फुलिङ्गकी तरह जो जीवकी उत्पत्ति आदिका वेदने श्रवण कराया है सो भी 'उपाधिगत उत्पत्तिनाशादिका ही कथन है' ऐसा ही निश्चय करना योग्य है।

और 'न वा अरे पत्युः कामाय' इत्यादि भोक्ता जीवका उपक्रमरूप जो पूर्वपक्षका प्रथम बीज था तिसका इस त्रिसूत्रीसे निरास करके; अब 'इदं महद्भूत-मनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' इत्यादि मध्य निर्देशरूप जो पूर्वपक्षका द्वितीय बीज है। तिसका भी इन्हीं तीन सूत्रोंसे निरास करते हैं।

'आत्मनस्तु कामाय' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिसे प्रकृत महान् सिद्ध स्वरूप द्रष्टव्य आत्माका ही 'विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय' इत्यादि मन्त्रमें भूतोंसे जीवरूप करके समुत्थानको दिखाता हुवा वेद जीवात्मामें ही यह द्रष्टव्यत्व श्रोतव्यत्वादिकोंको दिखाता है। यह जो पूर्व, पूर्वपक्षका 'जीवभाव करके भूतोंसे समुत्थानरूप' द्वितीय बीज कहा था तिसके खण्डनमें भी इसी त्रिसूत्रीकी योजना करनी चाहिये।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥

इस मैत्रेयी ब्राह्मणमें 'आत्मनि विदिते सर्वं विदितं भवति' इत्यादि शास्त्रसे यह एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करी है। और 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादि शास्त्रसे आत्माके स्वरूपको दिखलाकर उक्त प्रतिज्ञाका ही उपपादन किया है। और एक आत्मासे ही निखिल नाम रूप कर्म प्रपञ्चकी उत्पत्ति और

एक आत्मामें ही निखिल प्रपञ्चका लय दिखलाकर भी इस प्रतिज्ञाका ही उपपादन किया है। और दुन्दुभि आदिक दृष्टान्तों करके कार्यकारणका अभेद प्रतिपादन द्वारा भी इस ही प्रतिज्ञाका समर्थन किया है। और **'विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय'** यह जो प्रकृत महान् सिद्ध स्वरूप द्रष्टव्य आत्माका कार्यकारणरूप भूत निमित्तसे समुत्थान (जीवभाव) कहा है। सो यह भी तिस ही प्रतिज्ञासिद्धिका सूचक लिङ्ग है। यह आश्मरथ्यका मत है। अभेद होनेसे ही एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा घट सकती है। यदि एकान्तिक भेद ही सत्य होता तो एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा असङ्गत होती। परन्तु भेदाभेदवादमें अभेद पक्षका अनुसन्धान करके उक्त प्रतिज्ञाकी उपपत्ति बन सकती है। अतः इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिके लिये ही प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका भूतोंसे जीवभावरूप समुत्थान कहा है। यह आश्मरथ्य आचार्यदेशीयका अभिप्राय है इति।

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः॥

ज्ञानध्यानादि सामर्थ्यसम्पत्तिसे स्वरूपका साक्षात्कार करके उपाधित्यागके अनन्तर मुक्तिदशामें जीवका ब्रह्मके साथ भावी अभेद होनेसे "प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका ही यह उपाधिनिमित्तसे समुत्थान (जीवभाव) का वर्णन किया है" यह औडुलोमि आचार्यका मत है।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥

इस प्रकृत द्रष्टव्य परमात्माको ही इस जीवभाव करके भी अवस्थित होनेसे; प्रकृत परमात्माका ही उपाधिनिमित्तसे समुत्थानरूप जीवभावके उपदेशद्वारा यह अभेदवर्णन युक्तियुक्त ही है। यह काशकृत्स्न आचार्यका सिद्धान्त है।

शंका। **'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति'** (बृ०) अर्थ—यह प्रकृत द्रष्टव्य आत्मा ही पञ्चभूतरूप उपाधिसे जीवभावको प्राप्त होकर ज्ञानसे उपाधिनाशके अनन्तर नाशको प्राप्त होता है; प्रेत्य (मुक्तिमें) संज्ञा नहीं रहती है इति। इस श्रुतिसे मुक्तिमें जीवके नाशका अभिधान स्पष्ट मालूम होता है। अतः जीवब्रह्मके अभेदमें 'एतेभ्यो भूतेभ्यः' इत्यादि उक्त श्रुतिका तात्पर्य्य कैसे बन सकता है?

समाधान। यह दोष नहीं बन सकता है; क्योंकि मुक्तिदशामें विशेषविज्ञानके अभावका बोधक **'न प्रेत्य संज्ञास्ति'** यह श्रुतिवाक्य है। आत्माके उच्छेदमें उक्त वाक्यका तात्पर्य्य नहीं है। क्योंकि **'अत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्ति'** अर्थात्—'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्य करके, मुक्तिमें आत्माका नाश मालूम होता है। आत्माके नाश होजानेसे ज्ञानसे अमृतत्त्वकी प्राप्ति कैसे

हो सकती है। हे भगवन्! इस वाक्यसे मुझको मोह (सन्देह) प्राप्त हो गया है? इस प्रकार मैत्रेयीकी शंकाका उत्थापन करके, श्रुति भगवती स्वयं ही इस वाक्यके तात्पर्य्यार्थको वर्णन करती है:—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति' इति। अर्थ—अरे मैत्रेयि! मैं मोहयुक्त वाक्य नहीं कहा हूं। यह आत्मा अविनाशी है। उच्छेदरहित है। मुक्तिमें देह इन्द्रियादिक मात्रा (परिच्छेद) का ही विनाश होता है इति। यहांपर यह अर्थ उक्त होता है—कूटस्थ नित्य ही विज्ञानमूर्ति स्वयंज्योतिःस्वरूप यह आत्मा है; इसके उच्छेदकी शंका नहीं बन सकती है। किन्तु अविद्याकृत भूतभौतिक मात्राका असंसर्ग इस आत्मामें विद्या करके होता है। और अविद्यादि संसर्गके नाशसे अविद्यादि संसर्गसे जन्य जो विशेषविज्ञान है तिसका अभाव होता है। इसलिये 'मुक्तिमें विशेषविज्ञान नहीं होता है' यही 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस श्रुतिमें कहा है।

शंका। मैत्रेयी ब्राह्मणके अन्तमें प्रकृत द्रष्टव्य आत्माका ही 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इस विज्ञानकर्त्ताके वाचक वचनसे उपसंहार किया है। अतः इस मैत्रेयी ब्राह्मणका विषय जीव ही द्रष्टव्य है यह जो पूर्व हमने कहा था सो क्यों न मान लिया जाय?

समाधान। इस उपसंहारगत आत्मनिष्ठ विज्ञानकर्तृत्व निर्देशरूप तृतीय पूर्वपक्षके बीजका निरास भी तृतीय काशकृत्स्न आचार्यके मतसे ही समझना चाहिये। अर्थात् काशकृत्स्नके मतसे ब्रह्म और जीवका अत्यन्त अभेद होनेसे, ब्रह्म ही जीवरूप करके अवस्थित है। अतः उपसंहारमें स्थित जो विज्ञानकर्तृत्वेन जीवका निर्देश है; सो भी ब्रह्मका ही निर्देश है। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' 'येन सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' इस उपसंहार श्रुतिमें कहा हुवा जो सर्वका विज्ञाता है सो जीव हो भी नहीं सकता है। अर्थात् याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि—अरे मैत्रेयि! सर्वके विज्ञाताको अन्य किस करके जानेगा; दूसरा विज्ञाता कोई है नहीं इति। सर्वके द्रष्टाका दूसरा द्रष्टा बने नहीं। द्रष्टाको अन्य द्रष्टासे दृश्य माननेमें अनवस्थादिक दोष होवेंगे। द्रष्टामें भी मिथ्यात्वका प्रसङ्ग होगा। अतः सर्व प्रकारसे सर्वका द्रष्टा जीव नहीं बन सकता है। किन्तु सामान्य विशेषरूपसे सर्वको जाननेवाला सर्वज्ञ सर्ववित् परमेश्वर ही मैत्रेयी ब्राह्मणमें द्रष्टव्य है। यह उक्त उपसंहार श्रुतिका तात्पर्य्यार्थ है।

शंका। पतिजायादिक जिसके लिये प्रिय हैं, पतिजायादिका जो भोक्ता है; तिस ही प्रकृत जीवात्माका विज्ञानकर्तृत्वेन उपसंहारमें निर्देश क्यों न मान लिया जाय?

समाधान। मैत्रेयी ब्राह्मणका पूर्वापर विचार करनेसे द्वितीयजीवत्वादिक धर्मशून्य अद्वितीय परमात्माके प्रतिपादनमें ही तात्पर्य निश्चित होता है। क्योंकि

उपसंहारमें भी 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्यसे मुक्तिमें संज्ञाके अभावकी प्रतिज्ञा करके **'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति'** । अर्थ—जिस अवस्थामें द्वैतकी तरह भास होता है। तिस समय अन्य अन्यको देखता है इति। इत्यादि ग्रन्थसे अविद्याकालमें मिथ्या द्वैतभावापन्न आत्मकर्तृक दर्शनादिक विशेषविज्ञानका प्रपञ्च दिखलाकर **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'** । अर्थ—जिस अवस्थामें तत्त्वसाक्षात्कारके अनन्तर इस जिज्ञासुको सर्व आत्मा ही हो गया। तिस अवस्थामें कौन कर्ता किस करण करके किस विषयको देखेगा इति। इत्यादि वाक्यसे विद्यादशामें आत्मामें दर्शनादि विशेषविज्ञानके अभावका निरूपण किया है।

पुनः अविद्यादिक विषयके अभावकालमें भी आत्माको जानना चाहिये? ऐसी आशंका करके 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इस वाक्यसे विशेषविज्ञानके अभावका उपपादन किया है। अतः 'विज्ञातारमरे' इत्यादि वाक्यको विशेषविज्ञानके अभावका उपपादक होनेसे प्रपञ्चविभ्रमका अधिष्ठान अद्वितीय विज्ञान स्वरूप अविद्यादिविषयशून्य प्रकृत द्रष्टव्य सत्य आत्मा ही भूतपूर्व*गतिसे कर्तृवाचक तृच् करके निर्दिष्ट है। और उपक्रममें भी अविद्याकालीन भोक्तृत्वकी अपेक्षासे ही अविद्याविलास पतिजायादिविषयक प्रीतिकर्तृत्वेन निर्देश किया है यह निश्चय है।

शंका। आश्मरथ्य और औडुलोमिके मतोंको स्वीकार न करके केवल काशकृत्स्नके ही मतको स्वीकार क्यों करते हो?

समाधान। काशकृत्स्नके मतमें श्रुत्यनुसारित्व प्रथम दिखा आये हैं। क्योंकि काशकृत्स्न आचार्यने वास्तविक अभेदको स्वीकार किया है। और वास्तविक अभेद ही श्रुतिका अर्थ है। इसलिये अविद्या करके प्रत्युपस्थापित नामरूप रचित देहादि उपाधि करके ही जीव व परमात्माका कल्पित भेद है। वास्तविक भेद नहीं है। यही अर्थ सम्पूर्ण वेदान्तवादियोंको स्वीकार करना चाहिये।

शंका। "वास्तविक अभेद श्रुतियोंका अर्थ है" यह कैसे निर्णय हो सकता है?

समाधान। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' अर्थ—उद्दालक ऋषि अपने पुत्रसे कहते हैं–हे प्रिय! हे श्वेतकेतो! सृष्टिके पहिले यह सम्पूर्ण जगत् सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य सत्य स्वरूप ही था इति। और **'आत्मैवेदं सर्वम्'**। अर्थ—यह सम्पूर्ण आत्मा ही है इति। इत्यादि छान्दोग्य श्रुति अभेदको ही प्रतिपादन करती है।

---

* अर्थात् यद्यपि कैवल्यदशामें आत्मामें कर्तृत्व नहीं है। तथापि कैवल्यकी अपेक्षासे भूतकालमें स्थित बन्धकालीन काल्पनिक कर्तृत्वको लेकर 'विज्ञातारम्' इस श्रुतिमें अद्वितीय आत्माको ही विज्ञानका कर्तारूपसे कहा है।

और 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'। अर्थ--यह सम्पूर्ण ब्रह्म ही है इति। इत्यादिक मुण्डक श्रुति भी अभेदको ही प्रतिपादन करती है।

और 'इदं सर्वं यदयमात्मा'। अर्थ--जो यह सर्व है सो सम्पूर्ण आत्मा ही है इति। और 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ'। अर्थ—इस द्रष्टा श्रोतासे अन्य कोई द्रष्टाश्रोता नहीं है इति। इत्यादिक बृहदारण्यक श्रुति भी अभेदको ही प्रतिपादन करती हैं।

और 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'। अर्थ-भगवान् कहते हैं कि-'यह सर्व वासुदेव ही है' ऐसा जाननेवालेका नाम महात्मा है। ऐसा महात्माका मिलना दुर्लभ है इति। और 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'। अर्थ—हे अर्जुन! सर्व देहोंमें द्रष्टा मुझको हीं जान इति। और 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्'। अर्थ—विनाशशीलसर्वभूतोंमें स्थित एकरस अविनाशी परमेश्वरको जो आत्मारूपसे देखता है, सो ही देखता है। अर्थात् और सर्व अन्धे हैं इति। इत्यादि गीतादि स्मृतियोंमें भी अभेदका ही वर्णन किया है।

और 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुः'। अर्थ—'द्रष्टा ब्रह्म अन्य है और मैं अन्य हूं' इस प्रकारसे जो जानता है सो नहीं जानता है। किन्तु पशुकी तरह अज्ञ है इति। और 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'। अर्थ—इस आत्मामें जो पुरुष नानाकी तरह देखता है, सो भेददृष्टि पुरुष मृत्युसे भी मृत्युको प्राप्त होता है। अर्थात् पुनः पुनः जन्ममरणको प्राप्त होता है इति। इत्यादि बृहदारण्यकमें भेद-दर्शनके अपवादसे भी अभेदका ही निर्णय होता है।

और 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म'। अर्थ—सो श्रुति प्रतिपाद्य यह आत्मा महान् है। उत्पत्तिमरणादि विकारोंसे रहित है। और अमृत अभयरूप है इति। इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति भी आत्मामें सर्वविकारके निषेध करती हुई अभेदको ही वर्णन करती है।

और भेदाभेदवादी आश्मरथ्यके मतमें, और मोक्षदशामें अभेदवादी औडुलोमिके मतमें, अत्यन्त अभेद प्रतिपादक—'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति स्मृति; और द्वैतदर्शनकी निन्दा; और 'स एष नेति नेति' इत्यादि करके सर्वभेदादि दृश्यप्रपञ्चका प्रतिषेध; और 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादिक अभेदरूप एकत्वदर्शनकी स्तुतिकी असंगति स्पष्ट है।

शंका। संसारदशामें प्रत्यक्ष देह इन्द्रियादि प्रयुक्त भेद और मोक्षदशामें अभेद; अथवा सर्वदा भेदाभेदपक्षमें और क्या दोष है?

समाधान। भेदाभेदका परस्पर विरोध होनेसे भेदाभेदविषयक प्रमा

नहीं बन सकती है। तथा च 'अहं ब्रह्मास्मि' यह निर्वाध ज्ञान न हो सकेगा। क्योंकि भेदविषयक प्रमादशामें अभेदविषयक भ्रान्ति, और अभेदविषयक प्रमादशामें भेदविषयक भ्रान्ति अवश्य होगी। तथा च प्रमासे भ्रान्तिका बाध अवश्य होगा। अतः भेदाभेदविषयक निरपवाद (बाधशून्य) ज्ञान नहीं बन सकता है। अथवा विशेषाग्रहदशामें अन्यतर (भेदाभेदमेंसे किसी एक) विषयक संशय हो जायगा। अतः सुनिश्चितार्थत्वकी भी अनुपपत्ति होगी।

शंका। निर्वाध ज्ञान न होनेसे क्या क्षति होगी?

समाधान। मुक्तिका असम्भव हो जावेगा। क्योंकि "बाधसे रहित आत्मविषयक विज्ञान ही सर्व आकाङ्क्षाओंका निवर्तक है। और मोक्षका हेतु है" यह वेदान्तका निश्चय है। और **'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** इत्यादि श्रुतिने भी निःसन्देह सुनिश्चित अर्थविषयक वेदान्तविज्ञान ही मुक्तिका हेतु कहा है।

यदि भेदाभेदका परस्पर अविरोध स्वीकार हो तो एकको कल्पित स्वीकार करना पड़ेगा। "भेद कल्पित है और अभेद परमार्थ सत्य है" इस सिद्धान्तपक्षका ही स्वीकार करना पड़ेगा। और अभेदको कल्पित नहीं मान सकते हैं; क्योंकि अभेद सिद्धान्तमें ब्रह्मरूप है। ब्रह्ममें मिथ्यात्वप्रसङ्ग होगा। इष्टापत्ति नहीं बन सकती है। अन्यथा निरधिष्ठान भेदभ्रमकी अनुपपत्ति होगी। परिच्छिन्न वस्तुमें सत्यपनेका व निरधिष्ठानपनेका बाध है। अत एव **'अन्यथा च मुमुक्षूणां निरपवादविज्ञानानुपपत्तेः'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—अन्यथा भेदाभेद स्वीकार पक्षमें मुमुक्षुवोंको बाधशून्य ज्ञानकी अनुपपत्ति होगी इत्यादि इति। और **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** अर्थ—गुरु व शास्त्रके उपदेशके पश्चात् एकत्व (अभेद) विषयक अपरोक्ष ज्ञान अवस्थामें क्या शोक है? और क्या मोह है? अर्थात् शोक मोहका लेश भी नहीं है इति। यह ईशावास्य श्रुति भी एकत्वनिश्चयसे ही शोक मोहकी निवृत्तिरूप मोक्षको कहती है। **'एकत्वानेकत्वेऽनुपश्यतः'** ऐसी कोई श्रुति स्मृति है नहीं।

और—'अहं ब्रह्मास्मि' इस अबाधित अभेदनिश्चयसे ही शोक मोहकी निवृत्ति होती है। इस अर्थको—**'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'** इत्यादि स्थितप्रज्ञके लक्षणोंको कहनेवाली गीता स्मृति भी कहती है। क्योंकि अभेद पक्षमें ही बुद्धिकी स्थिरता बन सकती है; भेदाभेद पक्षमें स्थितप्रज्ञत्व बने नहीं।

शंका। **जीवपरमात्मानौ, स्वतो भिन्नौ, अपर्यायनामवत्त्वात् विलक्षणरूपवत्त्वाच्च, स्तम्भकुम्भवत्॥** अर्थ—जैसे स्तम्भ व कुम्भरूप दृष्टान्तमें अपर्यायनामवत्ता व विलक्षणरूपवत्त्व हेतु है। और स्वाभाविक भेदवत्तारूप साध्य है। तैसे ही जीव और परमात्मामें भी अपर्यायनामवत्त्व और विलक्षणरूपवत्त्व हेतु है। क्योंकि

जीवका रूप अविद्याकल्पित है। और परमात्माका रूप अविद्याशून्य स्वतःप्रकाश चिन्मात्र है। तथा च स्वाभाविक भेदवत्तारूप साध्य भी मानना चाहिये इति।

समाधान। 'स्थिते च क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वे सम्यग्दर्शने' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—पूर्वोक्त श्रुति स्मृतियोंके बलसे 'क्षेत्रज्ञ' जीव व परमात्माके एकत्व-प्रमितिके स्थित होने पर 'क्षेत्रज्ञः' 'परमात्मा' इस प्रकार नाममात्रके भेदसे 'यह क्षेत्रज्ञ परमात्मासे भिन्न है' और 'यह परमात्मा क्षेत्रज्ञसे भिन्न है' इत्यादिक आत्माके भेदका निर्बन्ध अर्थात् आग्रह व हठ निरर्थक है। क्योंकि एक ही यह परमात्मा नामरूपमात्र उपाधिके भेदसे, व कल्पित जीवत्व ईशत्वरूप शब्दकी प्रवृत्तिनिमित्तके भेदसे, अनेक नामोंसे कहा जाता है, और अनेक रूपोंसे भासता है इति। अर्थात् पूर्वोक्त स्वाभाविक भेदको सिद्ध करनेवाला अनुमान पूर्वोक्त श्रुति स्मृतियोंसे बाधित है।

शंका। क्षेत्रज्ञ और परमात्माका यदि अत्यन्त अभेद है तो 'क्षेत्रज्ञः' 'परमात्मा' यह व्यवहारभेद और बुद्धिभेद कैसे होगा। और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मामें संसारिताकी उपपत्ति कैसे होगी। अविद्याकल्पित नामरूप उपाधिके बलसे संसारिता कहना भी असङ्गत है। क्योंकि जीवकी अविद्यासे संसार है? अथवा परमात्माकी अविद्यासे संसार है? जीवको नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म स्वरूप होनेसे अविद्यावत्ता अत्यन्ताभेदवादीके मतमें बने नहीं। स्वयं ज्योतिःस्वरूप परमात्मामें भी; सूर्यमें तमकी तरह अविद्याका असम्भव है इसलिये संसारित्व असंसारित्व व अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्वादिरूप विरुद्ध धर्मसंसर्गसे; और बुद्धिव्यपदेशभेदसे; जीव और ईश्वरका भेद भी सत्य ही है?

समाधान। 'भेदाभेदका एकत्र समावेश नहीं हो सकता है' यह हम प्रथम कह आये हैं। द्वैतदर्शनकी निन्दाके बलसे, और अभेददर्शनकी स्तुतिके बलसे, और पूर्वापर विचारसे अत्यन्त अभेदके प्रतिपादक ही सम्पूर्ण वेदान्त प्रतीत होते हैं। जैसे नाना जलपूरित घट, मणिक व कृपाणादि गत प्रतिबिम्बोंसे सूर्य्यादि बिम्बका वस्तुत अभेद होनेपर भी घटादिक उपाधिके भेदसे बिम्ब प्रतिबिम्बका अथवा प्रतिबिम्बोंका परस्पर भेद व्यवहार होता है। इसी प्रकार शुद्धस्वभाव परमात्मासे जीवोंका अत्यन्त अभेद होने पर भी अनिर्वचनीय अनादि अविद्या उपाधिके भेदसे 'क्षेत्रज्ञः' 'परमात्मा' 'जीव अल्पज्ञ है' 'परमात्मा सर्वज्ञ है' इत्यादिक बुद्धिभेद और व्यवहारभेद होता है। अत एव **'आत्मभेदविषयको निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्यात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयते'** इति भाष्यम्। अर्थ पूर्वोक्त हो है। अविद्या यद्यपि चित्स्वरूप आत्मामें साक्षात् नहीं है। तथापि चित्प्रतिबिम्ब जीवद्वारा है। प्रचण्ड प्रकाश सूर्यमें उलूक परिकल्पित तमकी तरह स्वयंज्योतिः स्वभावमें भी मिथ्या अविद्याका सम्भव हो सकता है।

शंका। जीवाश्रित अविद्या माननेमें अन्योन्याश्रय दोष होगा। क्योंकि

अविद्याके अधीन हो जीवभावकी सिद्धि है। और जीवाधीन जीवाश्रित अविद्याकी सिद्धिके माननेपर उक्त दोष स्पष्ट है।

समाधान। बीजाङ्कुरकी तरह संसारको अनादि होनेसे उक्त दोष नहीं बन सकता है।

और जीव ईश्वरके विभागको अनादि होनेसे ही, "सर्गके आदिमें जीवसृष्टिके न होनेसे ईश्वर किनको उद्देश्य करके व्यर्थ सृष्टिकी रचना करता है? और अपने आत्माको विविध दुःखज्वालाजटिल संसारमें जीवभावसे क्यों पटकता है?" इत्यादिक शंकावोंका भी अवकाश नहीं है। अतः 'जीवः' 'ईश्वरः' यह नाममात्रका ही भेद है वास्तवमें भेद नहीं है।

शंका। यदि जीव और ब्रह्मका भेद नहीं है तो जीवका अपरोक्ष होनेसे ब्रह्मका भी अपरोक्ष होना चाहिये। तथा च **'निहितं गुहायाम्'** इत्यादिक आवृत ब्रह्मस्वरूपका बोधक शास्त्र असङ्गत होगा। और उपदेश व्यर्थ होगा।

समाधान। जैसे बिम्बकी घट, मणिक व कृपाणादिक गुहा होती हैं। तैसे ही ब्रह्मकी भी प्रतिजीव भिन्न २ अविद्या व पञ्चकोश गुहा हैं। जैसे प्रतिबिम्बके भासनेपर तदभिन्न भी बिम्ब गुह्य है। तैसे ही जीवोंके भासनेपर तदभिन्न भी ब्रह्म गुह्य है।

शंका। बिम्ब प्रतिबिम्बका दृष्टान्त विषम है। क्योंकि जिस पुरुषको सूर्यादिकका प्रतिबिम्ब दीखता है सो पुरुष यदि बिम्बकी तरफ दृष्टि करे तो सूर्यादिक बिम्बका भास हो जाता है, प्रकृतमें ऐसा है नहीं।

समाधान। दृष्टान्त विषम नहीं है; क्योंकि प्रकृतमें प्रतिबिम्बरूप जीवका बिम्बरूप ब्रह्म भी श्रवणमननिदिध्यासनके परिपाकसहित महावाक्यजन्य 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप दृष्टिद्वारा प्रत्यक्ष होता ही है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्'** अर्थ—जो पुरुष सत्य ज्ञान अनन्त रूप ब्रह्मको गुहामें निहित (अन्दर स्थित) जानता है सो पुरुष सर्व कामोंको प्राप्त होता है इति। इस वाक्यसे किसी एक पर्वतादिकी दरीरूप गुफाका अधिकार करके ब्रह्मको 'निहित' नहीं कहा है, किन्तु यावत् समष्टि व्यष्टि पञ्चकोश रूपी गुहाका वर्णन तैत्तिरीयमें स्पष्ट है। अतः प्रतिदेहमें विराजमान श्रोता मन्ता प्राणधारक जीवात्मा अन्तर्यामी परमात्मा ही है।

शंका। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस पूर्व मन्त्रमें ब्रह्मका उपदेश है। और- **'यो वेद निहितं गुहायाम्'** यह ब्रह्मसे अन्य जीवका उपदेश है। इसीलिये अग्रिम ग्रन्थसे जीवकी उपाधिरूप पञ्चकोशोंका निरूपण किया है। और इसीलिये पञ्चकोशोंके निरूपणके अन्तमें **'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'** इस वाक्य करके मन्त्र

प्रतिपाद्य ब्रह्मको आनन्दमय कोशकी अथवा पञ्चकोशोंकी पुच्छ प्रतिष्ठा आधाररूपसे वर्णन किया है।

समाधान। ब्रह्मसे अन्य गुहामें निहित नहीं है; किन्तु सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप प्रकृत ब्रह्मकी ही गुहामें स्थितिका उपदेश है। इसीलिये **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** अर्थ—'तत्' कहिये सत्य ज्ञान स्वरूप ब्रह्म ही आकाशादि जगत्को रच करके स्वयं ही जगत् रूपी गुहामें प्रविष्ट होता भया इति। इस अग्रिम तैत्तिरीय श्रुतिमें जगत्स्रष्टाका ही प्रवेशका श्रवण है। जो आश्मरथ्यादि लोग अभेदको स्वीकार नहीं करते हैं। और व्यर्थ भेदविषयक निर्बन्धको करते हैं। सो वेदान्तार्थ ब्रह्माभिन्न आत्मस्वरूपका बाध करते हुये अर्थात् अभेदको स्वीकार न करते हुये मोक्षका द्वाररूप सम्यग् आत्माके अनुभवका ही बाध करते हैं।

और परिणामवादमें ब्रह्मके एकदेशका परिणाम जगत् है? अथवा सर्व ब्रह्मका परिणाम जगत् है? प्रथम पक्षमें ब्रह्मको सावयव होनेसे अनित्यताका प्रसङ्ग होगा। और अन्त्यपक्षमें परिणामके अनन्तर ब्रह्मके अभावका प्रसङ्ग होगा। और ब्रह्मको कार्य व अनित्य होनेसे ब्रह्माश्रित मोक्ष भी परिणामरूप अनित्य ही होगा। यदि च ब्रह्म भिन्न होनेपर भी मोक्षमें नित्यत्व मानें तो व्याघात होगा। क्योंकि ब्रह्मभिन्नमें नित्यत्वका अभाव अनेक श्रुति स्मृतियोंसे सिद्ध है।

शंका। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः' इत्यादि श्रुतिनिदर्शनके बलसे समुद्र व नदीकी तरह "मोक्षदशामें अभेद, संसारदशामें जीव ईश्वरका भेद" स्वीकार करना उचित है। व्यवहार दशामें प्रत्यक्ष भासमान जीव ईश्वरके भेदका अपलाप नहीं हो सकता है।

समाधान। मोक्षमें नदीसमुद्रके अभेदकी तरह जीवईशका अभेदवादी औडुलोमि प्रष्टव्य है। पटभिन्न घट जैसे किसी तरह पट नहीं हो सकता है। तैसें ही अत्यन्त भिन्न जीव ब्रह्म कैसे हो जायगा? यदि नदीसमुद्रका दृष्टान्त कहें तो असङ्गत है। क्योंकि नदीका स्वरूप औडुलोमिको क्या अभिमत है—क्या अवयवी नदी है? वा जलपरमाणुवोंका समुदाय नदी है? अथवा जलपरमाणुवोंका परस्पर संयोगरूप आकारविशेष नदी शब्दका अर्थ है? प्रथम और तृतीय पक्षमें समुद्रप्रवेशादिसे नदीनाशकी तरह, मोक्षमें जीवके स्वरूपका अभाव प्राप्त होगा। द्वितीय पक्षमें नदीका समुद्रमें प्रवेश हो जानेपर भी नदीपरमाणुवोंका व समुद्रपरमाणुवोंका पूर्वकी तरह परस्पर भेद विद्यमान ही है। तथा च इस नदीके दृष्टान्तसे मोक्षमें भी जीवका भेद ही रहेगा, मोक्षदशामें अभेदका कथन असङ्गत होगा।

अत एव **'स यथा सैंधवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत' 'एवं वा अरे'** (बृ० २।१२) अर्थ—जैसे समुद्रजलमें प्रक्षिप्त लवणका खिल्य (खण्ड)

जलरूप ही हो जाता है। ऐसे ही आनन्द स्वरूप ब्रह्मसमुद्रमें ज्ञानध्यानादि करके निमग्न जीव भी ब्रह्मरूप ही हो जाता है इति। जैसे विलयके अनन्तर लवणका घनीभाव अशक्य और असम्भावित है। तैसे ही मोक्षके अनन्तर ब्रह्मभावापन्न जीवका भी पुनर्जीवभाव असम्भावित है। सैंधवखिल्यका समुद्रके साथ अभेदकी तरह 'जीवका ब्रह्मके साथ अभेद' मोक्षका स्वरूप है।

यथा लवणकी पुत्तिका अन्त गई थी लेन।
सिन्धुरूपमें सो मिली लौट कहे को बैन॥

यह भी मोक्षका स्वरूपवर्णन असङ्गत है। क्योंकि विलयके अनन्तर भी लवणके परमाणुवोंका जलपरमाणुवोंके साथ परस्पर भेदकी विद्यमानताकी तरह जीव व ब्रह्मके भेदमें भी विद्यमानताका निरास अशक्य होगा। अतः जीव ब्रह्मका भेद कल्पनामात्र है।

शंका। नदीकी तरह अथवा सैंधवखिल्यकी तरह जीवका स्वरूप सावयव नहीं है, किन्तु चिद्रूप परब्रह्मका अंश जीव है। अत एव गीता—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' इत्यादि। निष्कल श्रुति विरोधसे सांशत्व ब्रह्ममें नहीं वन सकता है यह कथन असङ्गत है। क्योंकि 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' यहां पर कला शब्द करके अवयवकी विवक्षा है। 'ब्रह्म अवयवरहित है' यह 'निष्कल' श्रुतिका अर्थ है। अंश नाम भागका है। नभका कर्णनेमिमण्डलावच्छिन्न शब्दश्रवणयोग्य नभरूप श्रोत्रकी तरह; और वायुका शरीरावच्छिन्न पञ्चवृत्तिवाले प्राणकी तरह; ब्रह्मका भाग सत्य व कूटस्थ ही जीवका स्वरूप है। यही काशकृत्स्न आचार्यको भी अभिमत है। निरवच्छिन्न ब्रह्म स्वरूप जीव नहीं है।

समाधान। नभका अंश वा भाग नभ नहीं बन सकता है। कर्णनेमिअवच्छिन्न नभको यदि नभका अंश मानें तो भी कर्णनेमि व तिसके संयोगकी सत्ता होनेपर आकाशमें अंश (श्रोत्र) के व्यवहारका, और न होने पर व्यवहारके अभावका, अनुभव होनेसे; कर्णनेमि अथवा तत्संयोगको ही अंश कहना होगा। परन्तु कर्णनेमिमण्डलको भी अत्यन्त भिन्न होनेसे नभका अंश नहीं कह सकते हैं। अन्यथा घट भी पटका अंश होना चाहिये।

यद्यपि मण्डलसंयोगका नभके साथ तादात्म्य होनेसे नभसे अत्यन्त भेद नहीं है। तथापि मण्डलसंयोगको भी नभका अंश नहीं कह सकते हैं। अन्यथा 'संयोग व्याप्यवृत्ति है' इस पक्षमें नभको सर्वत्र होनेसे मण्डलसंयोगकी भी सर्वत्र प्रतीति होनी चाहिये। निरवयववृत्ति संयोगमें अव्याप्यवृत्तिताका असम्भव है।

यद्यपि मण्डलसंयोग व्याप्यवृत्ति ही है। तथापि संयोगप्रत्यक्षमें प्रतिसम्बन्धी प्रत्यक्षको हेतुता होनेसे, सर्वत्र संयोगका प्रत्यक्ष नहीं होता है? यह

भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि प्रतिसम्बन्धी प्रत्यक्षके अभावसे संयोग-प्रत्यक्षके अभाव होनेपर भी; शब्द श्रवणके योग्य मण्डलसंयोगकी व्याप्तिको सर्वत्र विद्यमान होनेसे सर्वत्र शब्दका श्रवण होना चाहिये।

और अत्यन्त अभिन्न भी अंशको नहीं कह सकते हैं। क्योंकि अत्यन्त अभेदमें अंशांशिभाव बने नहीं। विरोध होनेसे भिन्नाभिन्न भी अंश नहीं बन सकता है। अतः अविद्यापरिकल्पित ही नभका अंश स्वीकार करना चाहिये यही युक्त है।

शंका। कल्पित पदार्थका कल्पना मात्र ही जीवन होनेसे कल्पनाके अभाव-कालमें असत् श्रोत्रसे शब्दका श्रवणरूप कार्य नहीं होना चाहिये। क्योंकि कल्पनाके अभावकालमें रज्जुसर्पसे भयकम्पादिक नहीं देखा है।

समाधान। शब्दके श्रवणकालमें श्रोत्रकी कल्पना अवश्य है। क्योंकि कारणके विना कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यद्यपि श्रवणलिङ्गक अनुमान-जन्य श्रोत्रकी कल्पना श्रवणके उत्तरभावी है। तथापि पूर्व पूर्व शब्दश्रवणलिङ्गक अनुमानजन्य अनुमितिरूप कल्पनासिद्ध श्रोत्रसे उत्तरोत्तर शब्दश्रवणरूप कार्यकी सिद्धि बन सकती है। श्रोत्रकल्पनारूप स्थूलवृत्तिके अभावकालमें भी संस्काररूप सूक्ष्म श्रोत्रकल्पनाकी अनुवृत्ति बन सकती है। तथा च श्रोत्रविषयक भ्रम व तत्सं-स्कार ही श्रोत्रकी सत्ता है। वास्तव स्वतन्त्र श्रोत्रकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार यावत् प्रपञ्चकी स्वरूप सत्ता है नहीं। किन्तु 'भ्रम तत्संस्कार ही' आकाशादि प्रपञ्चकी सत्ता है। पूर्व पूर्व भ्रम व तत्संस्कारसे उत्तरोत्तर प्रपञ्चकी कल्पना है। भ्रमकल्पित वियदादिक ही सृष्टि आदिक वाक्योंके विषय हैं। अविद्यादिक भेद-प्रपञ्च केवल भ्रममात्र है। **'एकमेवाद्वितीयम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति' 'स एष नेति नेति'** इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे अविद्यादिशून्य आत्मतत्त्व ही परमार्थ सत्य है। आत्मासे व्यतिरिक्त अविद्यादि कुछ है नहीं।

वस्तुतः अविद्यामें प्रमाणके अभाव होनेसे तन्मूलक प्रपञ्चमें भी प्रमाणका असत्त्व है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे अविद्या नहीं दीखती है। गोमहिषादिकी तरह अविद्याको किसीने नहीं देखा है। क्योंकि शब्दादि विषय ही प्रत्यक्ष करके भासते हैं। एवं अनुमान भी वास्तव अविद्याको सिद्ध करनेमें असमर्थ है। शब्दसे भी अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। प्रत्यक्षादिके अगोचर होनेसे लौकिक शब्दगोचरता भी बने नहीं। **'तत्तु समन्वयात्'** इत्यादि सूत्रप्रामाण्यसे वैदिक शब्दप्रतिपाद्यता भी ब्रह्मभिन्न अविद्यादिकमें बने नहीं। अविद्याके सदृश अन्य पदार्थके असम्भवसे उपमानविषयता भी अविद्यामें बने नहीं। अद्वैत मतमें उप-पाद्यका अभाव होनेसे अर्थापत्तिका भी सम्भव नहीं है। अभावमात्र गोचर होनेसे अनुपलब्धिकी गोचरता भी भावरूप अविद्यामें बने नहीं।

शंका। 'अहं अज्ञ' इत्यादिक प्रत्यक्ष प्रमाणसे अविद्या सिद्ध है। एवं सुखदुःखमोहात्मक विचित्र जगद्रूप कार्यलिङ्गक अनुमानसे भी अविद्याकी सिद्धि बन सकती है। **'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'** इत्यादि आगम प्रमाणसे भी अविद्याकी सिद्धि स्पष्ट है। **'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'** इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे अविद्या, माया, प्रकृति, अज्ञान यह पर्य्याय शब्द हैं। एवं अलौकिक नटराजकी मायाको लौकिक नटकी मायाके सदृश होनेसे उपमान प्रमाणकी विषयता भी स्पष्ट है। देहादिक विचित्र रचनाको कारणके विना अनुपपन्न होनेसे अर्थापत्ति प्रमाणका भी सम्भव बन सकता है। अद्वितीय शुद्ध आत्मामें कारणताके असम्भवसे अन्यथा उपपत्ति भी बने नहीं। और अविद्याको ज्ञानाभावरूपता पक्षमें **'आत्मज्ञानं यदि मयि स्यात् तदोपलभ्येत नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति'** अर्थ—आत्मज्ञान मेरेमें यदि होता तो उपलब्ध होता; प्रतीत नहीं होता है, अतः 'ज्ञानाभावरूपाज्ञानवानहम्' इस अनुपलब्धिजन्य साक्षात्कारकी विषयता भी अज्ञानमें बन सकती है इति।

अत एव—**वदन्त्यवच्छेदकरूपिणीमिमां स्वरूपसम्बन्धविशेष एव वा। परामिमामाहुः परे विपश्चितः प्रतीतिसिद्धां प्रतियोगितामिव ॥** अर्थ—इस अविद्याको कोई आत्मामें प्रपञ्चकी कारणतावच्छेदकरूप कहते हैं। कोई स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप कहते हैं। और अनुभवसिद्ध प्रतियोगितादिककी तरह अतिरिक्त पदार्थ ही इस अविद्याको कोई कहते हैं इति। तथा च सर्व प्रमाणसिद्ध अविद्याको सत्य होनेसे तन्मूलक प्रपञ्च भी सत्य ही है।

समाधान। 'अहं अज्ञः' इत्यादिक प्रत्यक्षसे अविद्याकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुमें जिज्ञासा सन्देह और विवाद नहीं होता है। प्रत्यक्षसिद्ध महिषादिकोंमें किसीका सन्देह विवाद है नहीं। एवं प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुविषयक विशेष जिज्ञासाका भी असम्भव स्पष्ट है।

शंका। प्रत्यक्षसिद्ध शब्दमें नित्यत्वेन अनित्यत्वेन जिज्ञासा, सन्देह व विवाद मीमांसक तार्किकादिकोंमें जैसे देखा गया है; तैसे ही प्रत्यक्षसिद्ध अविद्यामें भी जिज्ञासादिका सम्भव बन सकता है?

समाधान। जिस रूपसे जिसका प्रत्यक्ष होता है तिस रूपसे तिस पदार्थमें जिज्ञासादिक नहीं होते हैं। जैसे गोत्वादिकरूपसे प्रत्यक्षसिद्ध गोमें जिज्ञासादिका अभाव अनुभवसिद्ध है। प्रत्यक्ष गोमें 'गो कौन है' ऐसी जिज्ञासा, 'गो है कि नहीं' ऐसा सन्देह और विवाद विवेकियोंको असिद्ध है। तथाच 'अहमज्ञः' 'अज्ञानवानहम्' इस प्रतीतिमें अज्ञानत्वेन अज्ञानका यदि प्रत्यक्ष हो तो 'अज्ञान कौन है' यह जिज्ञासा, 'अज्ञान है कि नहीं' यह सन्देह, और विवाद विवेकियोंको नहीं होना चाहिये।

शंका। मन्द अन्धकारमें 'अयं सर्पः' इस प्रतीति करके सिद्ध सर्पविषयक जिज्ञासा, सन्देह व विवादकी तरह 'अहमज्ञः' इस प्रतीति करके सिद्ध अज्ञानमें भी जिज्ञासादिका सम्भव हो सकता है।

समाधान। 'अयं सर्पः' यह प्रतीति प्रमा है? वा भ्रम है? प्रमारूप 'अयं सर्पः' इस प्रत्यक्ष स्थलमें जिज्ञासादिक हैं नहीं। अतः 'अहमज्ञः' इस प्रतीतिको प्रमारूप प्रत्यक्ष स्वीकार पक्षमें अज्ञानमें भी जिज्ञासादिक बने नहीं। भ्रमरूपता पक्षमें 'अहमज्ञः' यह प्रत्यक्ष भी भ्रम ही होगा। अब इस अर्थको अनुमानसे स्पष्ट करते हैं—**'अहमज्ञः' इति प्रत्यक्षप्रतीतिः, भ्रमरूपा, जिज्ञासासन्देहविवादगोचरगोचरत्वात्, 'अयं सर्पः' इति भ्रमवत्।** **अर्थ**—जैसे दृष्टान्तरूप 'अयं सर्पः' इस भ्रमरूप प्रत्यक्ष प्रतीतिमें जिज्ञासासन्देहविवादगोचरगोचरत्वरूप हेतु है। और भ्रमरूपत्व-साध्य भी है। और जिस प्रत्यक्ष प्रतीतिमें भ्रमरूपता नहीं है उसमें जिज्ञासासन्देहविवाद-विषयविषयकत्व भी नहीं है, 'अयं सर्पः' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमावत् इति। इत्यादि अनुमान करके 'अहमज्ञः' इत्यादि प्रत्यक्ष भ्रमरूप सिद्ध हुवा।

और सुखदुःखमोहात्मक जगद्रूप कार्यलिङ्गक अनुमानसे भी अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। क्योंकि **'प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वात्'।** **अर्थ**—जहां २ दृश्यत्व जड़त्व परिच्छिन्नत्व है तहां २ मिथ्यात्व है। शुक्तिरजतवत् स्वप्नप्रपञ्चवत्। जो दृश्यजड़परिच्छिन्न नहीं है सो मिथ्या भी नहीं है। ब्रह्मवत्। यह जगत् भी दृश्यजड़परिच्छिन्न है तस्मात् मिथ्या है इति। इत्यादि अनुमानसे; और 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे; जगत्में मिथ्यात्वका निश्चय होनेसे; मिथ्या कार्यलिङ्गक अनुमानसे जन्य अनुमिति भी भ्रमरूप ही होवेगी। वाष्पमें धूमभ्रमके अनन्तर जायमान अग्निकी अनुमितिसे जैसे अग्निकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार आत्मामें कार्यप्रपञ्चभ्रमके अनन्तर जायमान कारणकी अनुमितिसे भी वस्तुतः कारणरूप अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। मिथ्या कार्यभ्रमसे मिथ्या कारणभ्रमके होनेपर भी; वस्तुतः कार्यकारणभावके अभावसे अविद्याकी सिद्धि दुर्घट है।

शंका। जैसे पर्वतमें वाष्परूप धूमके निश्चयसे जन्य वह्निकी अनुमितिके अनन्तर प्रवृत्त पुरुषको कदाचित् पर्वतमें वास्तव अग्निकी उपलब्धि हो जाती है। इसी प्रकार आत्मामें भी वास्तव अविद्याकी उपलब्धि बन सकती है।

समाधान। वस्तुतः वह्निमत्पर्वतमें कदाचित् उक्त प्रकारके सम्भव होनेपर भी, अनुमान प्रमाणसे उक्त स्थलमें अग्निकी सिद्धि नहीं होती है। किन्तु भ्रान्तिरूप अनुमितिके अनन्तर प्रवृत्तपुरुषीयप्रत्यक्ष प्रमाणसे ही अग्निकी सिद्धि होती है। इसीलिये बाधकालमें उक्त अनुमितिसे वह्निकी सिद्धि नहीं होती है। इसी प्रकारसे जबतक कोई प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यामें सिद्ध नहीं होगा; तबतक

अविद्याकी सिद्धि दुर्घट है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इत्यादिक श्रुतिविरोधसे भी आत्मव्यतिरिक्त अविद्यादिकी सिद्धि नहीं बन सकती है। 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (जै० सू० १।३।३) अर्थ—जैमिनि ऋषि कहते हैं कि श्रुत्यादि प्रमाणान्तरके विरोध होनेपर अनुमानसे अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है। किन्तु विरोधाभाव होनेसे अनुमान अर्थका साधक होता है इति। अत एव आगम प्रमाणसे भी अविद्याकी सिद्धि नहीं बन सकती है। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादिक शास्त्र भी 'नेति नेति' इत्यादि कार्यकारणनिषेधरूप अपवादशास्त्रका विषय जो निषेध है। तिसके प्रतियोगीका समर्पक है। अर्थात् अनुवादक है।

शंका। प्रमाणान्तर प्राप्तका अनुवाद होता है। जैसे श्रुतिप्रतिपादित अर्थका स्मृति अनुवाद करती हैं। अविद्याको प्रमाणान्तर करके अप्राप्त होनेसे 'मायां तु प्रकृतिम्' इत्यादिक शास्त्रको अनुवादकता नहीं बन सकती है। और प्रमाणान्तरप्राप्तिके स्वीकार पक्षमें प्रमाणके विद्यमान होनेसे अविद्यामें अप्रमाणिकत्वकी असिद्धि होगी। और 'मायां तु' इत्यादि वेदवाक्योंमें अनुवादकत्वेन अप्रमाणता होगी।

समाधान। 'प्राप्तका अनुवाद होता है' यह नियम है। प्रमाणसे प्राप्तिका नियम नहीं है। क्योंकि रज्जुसर्पस्थलमें भ्रान्त पुरुषके प्रति 'यं सर्पं पश्यसि नासौ सर्पः' अर्थात् 'तू जिसको सर्प समझता है सो सर्प नहीं है' यह अधिष्ठानसाक्षात्कारवाले पुरुषका वाक्य जैसे प्रत्यक्षभ्रान्तिसिद्ध सर्पका अनुवाद करके असत्त्वका विधान करता है। इसी प्रकार वेद भगवान् भी सांख्यवादी करके जगत्कारणरूपसे परिकल्पित अनुमानाभासजन्य भ्रान्ति करके सिद्ध माया प्रकृतिका 'मायां तु प्रकृतिम्' इत्यादि वाक्यसे अनुवाद करके 'नेति नेति' इत्यादि वाक्योंसे अत्यन्त असत्त्वको बोधन करता है। अनुवादद्वारा परम तात्पर्यकी विषयताको परब्रह्ममें होनेसे उक्त वाक्यकी अप्रामाण्य शंका भी नहीं बन सकती है।

इसी प्रकार 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि उत्पत्ति, स्थिति, व लयके प्रतिपादक शास्त्रका, और तिस २ प्रक्रियाके प्रतिपादक शास्त्रका, और शमादि साधनोंका, परस्पर कार्यकारणभावके प्रतिपादक शास्त्रका भी परम तात्पर्यका विषय परब्रह्म ही है। अत ब्रह्म आत्मामें ही प्रमाण है। अविद्या, विद्यमान लौकिक भ्रान्तिसिद्ध उत्पत्ति आदिक पदार्थोंमें भी ज्ञानके पूर्व २ व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्त्वको लेकर अवान्तर तात्पर्यकी विषयताको विद्यमान होनेसे शास्त्र प्रमाण कहा जाता है। परन्तु मुख्य प्रामाण्य ब्रह्ममें ही है।

इसी प्रकार अविद्यासे विद्यमान कार्यकारणभावको लेकर कर्ता, कर्म व

फलादिका प्रतिपादक कर्मकाण्डका, और अविद्याप्राप्त उपास्यउपासकभावको लेकर उपासना, तथा तिस २ फलादिका प्रतिपादक उपासनाकाण्डका; भी परम तात्पर्य-का विषय पर ब्रह्म ही है। अन्तःकरणगत मलविक्षेपकी निवृत्तिके लिये कर्म और उपासनामें भी अवान्तर तात्पर्यके होनेसे; कर्म और उपासनामें प्रमाण कहा जाता है। तथाच 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'तत्तु समन्वयात्' इत्यादि शास्त्रसे निखिल वेदका मुख्य प्रामाण्य निरवच्छिन्न शुद्ध अद्वितीयात्मामें ही हैं। अत एव प्रत्यक्षादि मानान्तरसिद्ध अर्थका अनुवादक लौकिक शब्द भी अविद्यामें प्रमाण नहीं बन सकता है।

इसी प्रकार लौकिक नटमायाको उपमान करके महामायाकी सिद्धि भी अशक्य है। महामायाकी सिद्धिके विना लौकिक नटमायाकी सिद्धि ही नहीं बन सकती है। क्योंकि महामायाजन्य ही लौकिक नटमाया है। महामायाकी सिद्धिसे लौकिक मायाकी सिद्धि, और लौकिक मायाके उपमानसे महामायाकी सिद्धि माननेमें अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है।

शंका। लौकिक मायादिक प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, प्रत्यक्ष सिद्धिमें विवाद बने नहीं; तथा च प्रत्यक्षसिद्ध लौकिक मायाके उपमानसे महामायाकी सिद्धि बन सकती है। अतः परस्पराश्रय दोष असङ्गत है।

समाधान। यद्यपि यह वार्ता सत्य है, लौकिक मायादिक प्रत्यक्षसिद्ध हैं; तथापि "यह प्रत्यक्ष प्रमाण है वा प्रमाणाभास है" यही परीक्षा प्रकृतमें प्रस्तुत है। तथाच महामायाकी सिद्धिके विना निखिल मायिक अनात्म वस्तुकी असिद्धि होनेसे लौकिक माया स्वतः असिद्ध हुई। स्वमाताकी माता नहीं बन सकती है।

शंका। लौकिक माया करके महामायाकी उत्पत्ति मत होवे। परन्तु अनुमापकत्वरूप साधकता लौकिक मायामें बन सकती है। एवं उपमानजन्य ज्ञान-विषयता अथवा देहादि प्रपञ्चकी विचित्र रचनानुपपत्तिसे जन्य ज्ञानविषयता भी अज्ञानमें बन सकती है।

समाधान। अनुमान व उपमानउपमेयभावको और प्रपञ्चरचनानुपपत्तिको मायिक होनेसे मायासाधकत्व नहीं बन सकता है। और मायाको अभावरूपताके अनङ्गीकारसे अनुपलब्धि आदिक यावत् प्रमाणादिक मायिक पदार्थोंसे मायाकी उत्पत्ति, ज्ञप्ति व स्थिति रूप सिद्धि नहीं बन सकती है। माया और तत्कार्यका अभेद होनेसे स्वको स्वसाधकता बने नहीं। और मायासाधकत्वेन अभिमत लक्षणप्रमाणको भी स्वसिद्धिमें लक्षणप्रमाणकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थादिक दोष होवेंगे।

किञ्च मिथ्याप्रपञ्चरचनानुपपत्ति आदिकसे यदि कारणकी कल्पना होगी तो स्वसदृश ही कारणकी कल्पना होगी। तथा च मिथ्या परिच्छिन्न परतन्त्र

विनाशी कारणकी ही सिद्धि होगी। सत्य विभु स्वतन्त्र अविनाशी प्रधानकी सिद्धिको किसी प्रकारसे भी सांख्य दुर्मति नहीं कर सकेगा। एवं च वर्तमान भ्रमकल्पनाका मूल संस्कारको अवश्य क्लृप्त होनेसे तद्भिन्न अविद्यामें कोई प्रमाण है नहीं।

शंका। भ्रम व भ्रमके संस्कारोंकी स्वतन्त्र स्वरूपसत्ता है? वा नहीं? प्रथम पक्षमें भ्रम व भ्रमके संस्कारोंकी तरह विषयकी भी स्वतन्त्र स्वरूपसत्ता माननी चाहिये। द्वितीय पक्षमें भ्रमस्वरूपकी भी असिद्धि होनेसे व्यवहारका व्याघात होगा।

समाधान। भ्रमविषयक भ्रमान्तर ही भ्रमविषयक व्यवहारका प्रयोजक है। अर्थात् उत्तर २ भ्रमविषयकभ्रम ही पूर्व २ भ्रमकी सत्ता है। भ्रमविषयक भ्रमके अभावकालमें भी स्वसमानविषयक पूर्व २ भ्रम ही उत्तर २ भ्रमकी सत्ता है। पूर्व २ भ्रमको विद्यमान न होनेपर भी तिसके संस्कार विद्यमान हैं। और संस्कारविषयक व्यवहारमें भी शब्दजन्य अथवा अनुमानजन्य संस्कारविषयक भ्रम हेतु है। भ्रमाभावकालमें भी संस्कारविषयक संस्कारकी अनुवृत्ति विद्यमान है। तत्त्वज्ञान व तत्संस्कारचक्रके विना भ्रम व तत्संस्काररूप अविद्यानक्रका अत्यन्त उच्छेद् वने नहीं।

शंका। "उत्तरोत्तर भ्रमविषयकभ्रम ही पूर्व पूर्व भ्रमकी सत्ता है" इस पक्षमें ऊर्ध्वगामिनी अनवस्था होगी। कहीं विश्रान्ति स्वीकार करनेपर अन्त्यकी असिद्धिसे पूर्व पूर्व प्रवाहकी असत्त्वापत्ति होगी। तथा च सर्व प्रमाण प्रमेय रूप संसारकी असिद्धि हो जायगी।

समाधान। स्वतःसिद्ध अद्वैत आत्मवादीको संसारकी असिद्धि इष्ट ही है। तीन चार कोटिसे आगे ज्ञानधाराका अननुसरण (अस्वीकार) होनेसे अनवस्थाका भी परिहार हो सकता है। और विद्यमान प्रपञ्चभ्रमके हेतु यदि संस्कार हैं तो संस्कारोंका हेतु कौन है? पूर्व भ्रमको यदि संस्कारोंका हेतु कहैं तो इस क्रमसे अधोगामिनी अनवस्था होगी। सर्वसे प्रथम संस्कारमें हेतुधाराकी विश्रान्ति मान करके व्यवस्था करनेमें भी तादृश संस्कारकी उत्पत्तिका प्रश्न विद्यमान ही रहेगा। यदि भ्रम व तत्संस्कारप्रवाहको बीजाङ्कुरकी तरह अनादि मानें तो भी प्रवाह अनादि नहीं बन सकता है। क्योंकी तत्तद्व्यक्तिसे प्रवाह कोई अतिरिक्त वस्तु है नहीं। एक एक व्यक्तिमें अनादिताका बाध है। इत्यादिक अनुपपत्ति कार्यकारणभाव व अंशांशिभावादि प्रपञ्चमें असम्भाव्यत्वरूप मिथ्यात्व व मायामयत्वको सूचन करती हैं। क्योंकि अनुपपद्यमानत्व ही मायाका लक्षण हैं। और सत्य अंशवादीके मतमें सत्य अंशांशिभावका ज्ञानसे नाश नहीं हो सकेगा। तथा च ज्ञानसाध्य मोक्षकी असिद्धि होगी।

शंका। कर्मसाध्य अथवा उपासनासाध्य मोक्ष क्यों न मान लिया जाय?

कर्मोपासनाजन्य मोक्षको कृतक होनेसे अनित्यत्वकी आपत्ति नहीं बन सकती है। अन्यथा सिद्धान्तपक्षमें भी मोक्षको ज्ञानसाध्य होनेसे अनित्यत्वापत्ति तुल्य होगी। किञ्च कर्मसाध्य मोक्षको बन्धध्वंसरूप होनेसे प्रतियोगीउन्मज्जनके भयसे ध्वंसका ध्वंस बने नहीं। तथाच कृतक होनेपर भी मोक्षमें अनित्यत्वकी आपत्तिका असम्भव है।

समाधान। 'न्यायेन च न संगच्छन्ते' इति भाष्यम्। अर्थात् 'यज्जन्यं तदनित्यं' इस न्याय करके कृतकमें नित्यत्व बाधित है। सिद्धान्तमें नित्य निरवच्छिन्न अनावृत चिदानन्द स्वरूप ही मोक्ष हैं। मोक्षमें जन्यत्वका स्वीकार है नहीं। एतादृश आत्मस्वरूपविषयक वृत्तिजननमें ही शास्त्र चरितार्थ हो जाता है। अनवच्छिन्नचिदानन्दका आविर्भाव ही वृत्तिका फल है। बन्धध्वंस वृत्तिका फल नहीं है। अन्यथा ध्वंसके ध्वंस होनेपर ध्वस्तकी पुनरावृत्ति हो जायगी। तथा च पुनरावृत्तिनिषेधक श्रुतिका विरोध होगा। भयसे प्रमाणप्राप्त अनित्यत्वका अभाव बने नहीं।

शंका। ध्वंसके ध्वंसको प्रतियोगिरूपताके अनङ्गीकारसे प्रतियोगिका उन्मज्जन नहीं बन सकता है। अथवा मोक्षदशामें कारणसामग्रीके अभावसे ध्वंसका ध्वंस नहीं बन सकता है।

समाधान। 'अभावविरहात्मत्वं वस्तुनः प्रतियोगिता'। अर्थात्—'अभावका अभाव प्रतियोगिरूप होता है' इस वचनका विरोध होगा। ध्वंसनित्यत्ववादी द्वैतभक्तके मतमें मोक्षमें द्वितीयके विद्यमान होनेसे नाशसामग्रीका अभाव अशक्य होगा। ध्वंसधाराकी आपत्ति होगी। अनुभवविरुद्ध अप्रामाणिक अनन्त ध्वंसोंकी कल्पना प्राप्त होगी।

अथवा—'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'। अर्थ—कल्पित वस्तुका जो ध्वंस है; सो अधिष्ठानमात्र ही है; अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है। क्योंकि बाधके उत्तर अधिष्ठानमात्र ही अवशिष्ट रहता है। रज्जुमें सर्पभ्रमबाधके अनन्तर 'अत्र सर्पो नष्टः' ऐसी प्रतीति नहीं होती है इति। इस सिद्धान्तके अनुसार कल्पितनाशको अधिष्ठानरूप भी मान सकते हैं।

वस्तुतः भावाभावका अभेदके असम्भव होनेसे बन्धध्वंसका स्वीकार ही अनुचित है। किन्तु—'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिक शास्त्रसे बन्धका अत्यन्ताभाव है।

अत एव गौडपादकारिका—'प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः। मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥' अर्थ—यदि प्रपञ्च विद्यमान होता तो ध्वंसकी सम्भावना होती। अर्थात् अविद्यमान पदार्थका ध्वंस नहीं बन सकता है। मायामात्र ही द्वैत है। वस्तुतः द्वितीय वस्तु है नहीं, अद्वैत ही परमार्थ है इति। और 'आकाशो रूपं

नास्ति' इत्यादिक स्थलमें भी सप्तम्यन्तार्थवृत्ति नञर्थमें अत्यन्ताभावत्व ही देखा गया है।

शंका। आकाशमें रहनेवाला रूपात्यन्ताभावका प्रतियोगी रूप जैसे पृथिवी आदिकोंमें प्रसिद्ध है। ऐसे ही यदि आत्मासे अन्यत्र कहीं प्रपञ्च प्रसिद्ध होता। तो आत्मामें प्रपञ्चके अत्यन्ताभावको कह सकते। परन्तु वेदान्त सिद्धान्तमें आत्मासे अन्यत्र कहीं प्रपञ्च है नहीं। अतः प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव आत्मामें नहीं बन सकता है ?

समाधान। 'नेदं रजतम्' इत्यादि स्थलमें अत्यन्त असत् रजतप्रतियोगिक शुक्त्यनुयोगिक तादात्म्यके निषेधकी तरह अत्यन्त असत्प्रतियोगिक बन्धात्यन्ताभावका ज्ञापक शास्त्र है। अत्यन्त असत्प्रतियोगिक अत्यन्ताभावको अत्यन्त असत् होनेसे द्वैतापत्ति भी नहीं होती है। तथा च वास्तव भागरूप वा अवयवरूप अथवा अंशरूप जीवका स्वरूप नहीं है। किन्तु अद्वितीय निरवच्छिन्न अनावृत आनन्द स्वरूप ही जीव है। स्वरूपमें ही जीवत्व अंशत्व ईशत्वादिक निखिल द्वैताभास अध्यस्त है। अत्यन्त असत् है। अत्यन्त असत् शुक्तिरजतके तादात्म्यकी तरह व्यवहारोपपादकता भी अत्यन्त असत्में बन सकती है। तथा च सर्व वेदान्तका समन्वय सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य ब्रह्मात्मामें सिद्ध हुवा ॥ २२ ॥ इति वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

अर्थ – १ प्रकृतिः, २ च, ३ प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। 'तदैक्षत' इत्यादि श्रुतिके बलसे जैसे निमित्त कारण ब्रह्म है। तैसे ही उपादान कारण भी ब्रह्म ही है। अन्यथा एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका, और कार्यकारणके अभेदके बोधन करनेवाले मृत्पिण्डादिक दृष्टान्तोंका बाध होगा इति।

शंका। जगज्जन्मादि लक्षण करके लक्षित ब्रह्ममें सम्पूर्ण वेदान्तोंका समन्वय निरूपण कर दिया है। अतः समन्वयाध्ययन समाप्त हो गया है। अब अवशेष क्या रह गया है। जिसके वास्ते प्रकृत्यधिकरणका आरम्भ है अर्थात् यह अधिकरण व्यर्थ है ?

समाधान। यद्यपि 'जगत्कारण ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय कह चुके हैं' यह वार्ता सत्य है। तथापि "जैसे अभ्युदयका हेतु धर्म जिज्ञास्य है। इसी प्रकार मोक्षका हेतु ब्रह्म भी जिज्ञास्य है" यह प्रथम पादके प्रथम सूत्रमें कह आये हैं। जिज्ञास्य ब्रह्म कौन है ? इस जिज्ञासाकी शान्तिके लिये 'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्र करके जगत्कारणत्व ब्रह्मका लक्षण कहा है। लोकमें कारणत्व दो प्रकारका देखा गया है। एक निमित्तत्वरूप और दूसरा उपादानत्वरूप। ब्रह्म निमित्त कारण है ? अथवा उपादान कारण है ? अथवा उभयरूप है ?

यदि ब्रह्ममें निमित्त कारणत्वका ही स्वीकार हो तो,जगत्का उपादान स्वीकृत है? वा नहीं? स्वीकार पक्षमें सांख्यस्मृतिसिद्ध प्रधानका ही स्वीकार करना पड़ेगा। तथा च **'जन्माद्यस्य यतः'** यह ब्रह्मका लक्षण प्रधानमें अतिव्याप्त हो गया। अस्वीकार पक्ष असङ्गत है क्योंकि–**'यत्र भावत्वे सति कार्यत्वं तत्र सोपादान-कत्वम्'**। अर्थ—जो भावकार्य है सो उपादानवाला है जैसे घटादिक इति। इस नियमके बलसे भावकार्य गगनादिकोंका उपादान अवश्य मानना पड़ेगा। और उपादान कारणका अधिष्ठाता ही निमित्त होता है। जैसे घटोपादान मृत्पिण्डका अधिष्ठाता कुलाल है तद्वत्। उपादानके अस्वीकार पक्षमें निमित्तकी भी असिद्धि होगी। तथा च 'जन्माद्यस्य यतः' इस कारणत्वरूप लक्षणका असम्भव होगा।

और यदि ब्रह्म जगत्का उपादान कारण ही केवल माना जाय, निमित्त अन्य माना जाय तो भी–ब्रह्मलक्षण कारणत्वकी अन्यमें अतिव्याप्ति होगी। ब्रह्ममें परतन्त्रता जड़ता परिणामित्व परिच्छिन्नत्वादिकी आपत्ति होगी। ब्रह्मसे अन्य निमित्तका निरूपण अशक्य होगा।

और निमित्तोपादान उभयरूपतापक्ष निर्दोष है। क्योंकि इस पक्षमें प्रधानके अस्वीकारसे और ब्रह्मसे अन्य निमित्तके अस्वीकारसे अतिव्याप्ति दोष नहीं होता है। और परतन्त्रत्वादिकी आपत्ति भी सर्व स्वरूप स्वतन्त्र ब्रह्ममें नहीं आती है। अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूप लक्षणको अद्वितीयत्व स्वतन्त्रत्व निरवच्छिन्नत्वादिका व्याघातक न होनेसे लक्ष्यमें अव्याप्तिरूप दोष भी नहीं है। लक्ष्य व्याघातक लक्षणका, लक्ष्यवृत्तिताके सम्भव होनेपर भी समन्वय बने नहीं। यदि लक्ष्यका समर्पक ब्रह्म शब्द करके उपस्थित 'वस्तुपरिच्छेदशून्यत्व' रूप लक्ष्यके आकारसे विरुद्ध आकारका उपस्थापक कारणत्वरूप लक्षण होता; तो लक्ष्यवृत्ति-ताके सम्भव होनेपर भी लक्ष्यके आकारका विरोधी होनेसे अव्याप्ति दोष करके दुष्ट ही होता।

इस अधिकरणको सिद्धवत् करके ही जन्मादि सूत्रमें उभयकारणत्वका व्यवहार है। यद्यपि तिसके अनन्तर ही इस अधिकरणका आरम्भ करना था। तथापि ब्रह्ममें निर्णीत तात्पर्य्यवाले वेदान्तों करके; अग्रिम निमित्तत्वमात्रके साधक अनुमानवृन्दके बाधकी सुकरताके लिये समन्वयके अन्तमें प्रकृत्यधिकरणका लेख है। अप्रदर्शित विषयमें समन्वय प्रदर्शनके असम्भवसे कारणता मात्रका ही जन्मादि सूत्रमें निरूपण है। कारणतासामान्यविचारके अनन्तर "अवशिष्ट विशेष विचार अवश्य कर्तव्य है" यही यहां अवशेष है। अतः प्रकृत्यधिकरण व्यर्थ नहीं है।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुति करके और 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि स्मृति करके प्रतिपाद्य 'जगत्कारणत्व' इस सूत्रका विषय है।

सो यह ब्रह्मनिष्ठजगत्कारणत्वरूप लक्षण, क्या जैसे घटरुचकादिकोंका उपादानकारणत्व मृत्सुवर्णादिकोंमें है; तैसे ही उपादानत्वरूप है? अथवा जैसे कुलालसुवर्णकारादिकोंमें निमित्तकारणत्व है; तैसे ही ब्रह्ममें भी जगत्कारणत्व निमित्तत्वरूप ही है? दोनोंमेंसे किसी एक पक्षको स्वीकार करनेमें भी कारणत्व-लक्षणका ब्रह्ममें समन्वय समान ही है। अतः संशय होता है कि-ब्रह्ममें पुनः जगत्कारणत्वका क्या स्वरूप है? अर्थात् ईक्षितृत्व श्रुतिसे और एकविज्ञान करके सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञासे 'ब्रह्म निमित्त ही है अथवा उपादान भी है' यह यहां संशय होता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'ईक्षापूर्वककर्तृत्वं प्रभुत्वमसरूपता निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित् ॥' अर्थ—ईक्षापूर्वककर्तृत्व व प्रभुत्व और कार्यविलक्षणत्व निमित्तकारणोंमें ही रहता है। उपादानमें कभी भी नहीं रहता है इति।

तहां ईक्षापूर्वक कर्तृत्वके श्रवण होनेसे ब्रह्म केवल निमित्त कारण ही होगा यह प्रतीत होता है। क्योंकि 'स ईक्षाञ्चक्रे' 'सः प्राणमसृजत' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें ईक्षापूर्वक कर्तृत्वका ही निश्चय होता है। और ईक्षापूर्वक कर्तृत्व कुलालादिक निमित्त कारणोंमें ही देखा गया है। तथा च 'ब्रह्म, न प्रकृतिः, कर्तृत्वात्, कुलालवत् ॥' अर्थात् जो जिसका कर्ता होता है सो तिसका प्रकृति नहीं होता है; जैसे घटका कर्ता कुलाल। ब्रह्म भी जगत्का कर्ता है; अतः प्रकृति नहीं हो सकता है। और अनेक कारकपूर्वक ही क्रियाके फलकी सिद्धि लोकमें देखी गई है। सो ही न्याय आदि कर्तामें भी घटाना चाहिये। अतः एक अद्वितीय कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

और ईश्वरत्वप्रसिद्धिसे भी ब्रह्म निमित्त कारण ही मानना चाहिये। क्योंकि 'ब्रह्म, न प्रकृतिः, ईश्वरत्वात्, राजादिवत्'। राजा वैवस्वतादिक ईश्वरोंको जगत्पालनादिकमें निमित्तकारणता ही केवल देखी गई है। तद्वत् ईश्वरोंके ईश्वरमें भी निमित्त कारणताका ही निश्चय करना युक्त है।

और असरूपता अर्थात् सादृश्यके अभावसे भी ब्रह्म उपादान नहीं बन सकता है। यह कार्यजगत् सावयव अशुद्ध अचेतन दीखता है। इसका कारण भी ऐसा ही होना चाहिये। क्योंकि कार्यकारणका सादृश्य देखा गया है। ब्रह्मका ऐसा स्वरूप है नहीं। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' (श्वे० ६।१९) इत्यादिक श्रुतियोंसे अवयवरहित क्रियारहित शान्त दोषरहित अञ्जन सदृश तमरूप अविद्या रहित-ब्रह्मका स्वरूप निश्चित होता है। अतः परिशेषसे अर्थात् प्रसक्त ब्रह्मके प्रतिषेधसे अन्यत्र प्रसक्तिके अभावसे सांख्यस्मृति करके प्रसिद्ध प्रधान ही जगत्का उपादान कारण स्वीकार करना चाहिये। और 'जगत्, सुखदुःखमोहात्मककारणपूर्वकम्, सुखदुःखमोहात्मकत्वात्, यन्नैवं

तन्नैवं यथा पुरुषः' । अर्थ—जैसे दृष्टान्त पुरुषमें सुखदुःखमोहात्मक कारणपूर्वकत्वरूप साध्य नहीं है । और सुखदुःखमोहात्मकत्वरूप हेतु भी नहीं है । और जगत्रूप पक्षमें सुखदुःखमोहात्मकत्वरूप हेतु है । अतः सुखदुःखमोहात्मक कारणपूर्वकत्व साध्य भी होना चाहिये इति । इस अनुमान करके भी सुखदुःखमोहात्मक अशुद्ध्यादिक गुणवाला प्रधान ही जगत्का उपादान कारण मानना चाहिये । ब्रह्मकारणत्वश्रुतिका केवल निमित्तत्व मात्रमें ही पर्यवसान मानना उचित है। आगमका कारणताबोधमात्रमें पर्यवसान होनेसे अनुमानकृत कारणताविशेषनियमनका प्रतिक्षेप आगम नहीं कर सकता है इति । और 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः' इत्यादि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिक दृष्टान्त परमात्माकी प्रधानताका सूचन करते हैं। जैसे एक सोमशर्म्माके ज्ञानसे स्थालीपुलाकन्याय करके सर्व कठ ज्ञात होते हैं तद्वत् । अतः प्रतिज्ञाको मुख्य मान करके जो पूर्वाधिकरणमें जीव-परत्वका निषेध किया है सो असङ्गत हैं। क्योंकि निमित्ति और उपादानके भिन्न २ होनेसे प्रतिज्ञामें गौणपना अवश्य मानना पड़ेगा । और ब्रह्मज्ञानके अनन्तर आकाशादिकोंमें मृत्पिण्ड सुवर्ण लोहादि ज्ञानके अनन्तर घटकटकादिकोंमें सन्देह विपर्ययके अनुभवसे; उपादानप्रमासे उपादेयकी प्रमा नहीं बन सकती है। अतः मुख्य वृत्तिके असम्भवसे अवश्य सिद्धान्तीको भी एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा गौण ही माननी चाहिये। इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहते हैं—

अथ सिद्धान्तपक्ष । ब्रह्म ही प्रकृति (उपादान कारण) है, ब्रह्म ही निमित्त है; केवल निमित्त कारण ही ब्रह्म नहीं है । क्योंकि यदि उपादानकारण ब्रह्मको स्वीकार न करें तो प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका उपरोध (बाध वा संकोच) होगा । और ब्रह्ममें उपादानता माननेसे वैदिक प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका बाध नहीं होता है । अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—

'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।२)। अर्थ—विद्याके अभिमानसे स्तब्ध श्वेतकेतु पुत्रके प्रति पिता उद्दालक ऋषि कहते हैं—हे श्वेतकेतो ! क्या तुमने तिस आदेश (वस्तु) को अपने गुरुसे पूछा था ? जिसके विज्ञानसे अश्रुत वस्तु श्रुत हो जाती है। और मनन न करी हुई वस्तु भी मनन करी हुई हो जाती है । और अविज्ञात वस्तु भी विज्ञात हो जाती है इति। यह प्रतिज्ञा है। इस प्रतिज्ञासे "एकके विज्ञानसे अन्य सर्व पदार्थोंका अविज्ञातोंका भी विज्ञान होता है" यह प्रतीत होता है। सो यह एक वस्तुके विज्ञानसे सर्व वस्तुका विज्ञान उपादान कारणके विज्ञानसे ही बन सकता है। क्योंकि उपादेयो-पादानका अभेद होनेसे सर्व जगत्का उपादान ब्रह्मात्माके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान बन सकता है। निमित्त कारणसे कार्यका अभेद है नहीं। क्योंकि लोकमें तक्षादिकको मकानादिकसे भिन्न देखा गया है ।

और 'कथं भगवः स आदेशो भवति' ? इस श्वेतकेतुके प्रश्नके अनन्तर

उद्दालक ऋषि दृष्टान्त कहते हैं--'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'। अर्थ—हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे सर्व मृत्तिकाका विकार ज्ञात होता है। वाणीका विषय नाममात्र ही विकार है। केवल मृत्तिका ही सत्य है इति। यह दृष्टान्त है। मृद्विकारमें 'मृत्तिका मात्र सत्य है' यह कारणप्रमाका स्वरूप है। "वाणीका विषय नाममात्र ही विकार है" यह कार्यप्रमाका स्वरूप है। उक्त कारणज्ञानके अनन्तर उक्त कार्यका ज्ञान अनुभवसिद्ध है। अतः उक्त प्रतिज्ञाका उपपादक यह दृष्टान्त भी उपादान-विषयक ही श्रवण होता है। इसी प्रकार 'यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्'। अर्थ—हे सोम्य ! जैसे एक सुवर्णपिण्डके ज्ञानसे तत्कार्य कुण्डलादि सर्वका ज्ञान होता है विकार नाममात्र हो है वस्तुत नहीं है इति। इसी प्रकार 'यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्'। अर्थ— 'नखनिकृन्तन' शब्द काले लोहका बोधक है। हे सोम्य ! जैसे एक लोहपिण्डके ज्ञानसे तिसके सर्व कार्यका ज्ञान हो जाता है। विकार नाममात्र ही है। ऐसे ही एक सद्ब्रह्मके ज्ञानसे तिसका कार्य सम्पूर्ण विकार जगत्का ज्ञान हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् नाममात्र ही है, वस्तुतः नहीं है इति। ये दृष्टान्त भी उपादानविषयक ही श्रवण होते हैं।

इसी प्रकार मुण्डकमें भी 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मुण्ड० १।१।२) अर्थ—शौनक ऋषि विधिपूर्वक अङ्गिरा ऋषिके पास जाकर जिज्ञासा करते हैं-हे भगवन् ! किसके ज्ञानसे यह सर्व जगत् ज्ञात होता है इति। यह वचन प्रतिज्ञा-का ज्ञापक है। अथवा यह 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादि श्रौत प्रतिज्ञा विषय विष-यक शौनककी जिज्ञासा है। 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति'। (मु० १।१।७) अर्थात् जैसे पृथिवीसे धान्य गोधूमादिक औषधि पदा होती हैं। जैसे विद्यमान करचरणादिमत्पुरुषसे केशलोम पैदा होते हैं। और जैसे ऊर्णनाभिसे तन्तुवोंके जाल पैदा होते हैं। तैसे ही अक्षर अविनाशी ब्रह्मसे सर्व जगत् पैदा होता है। ये दृष्टान्त हैं।

इसी प्रकार बृहदारण्यकमें भी याज्ञवल्क्य मैत्रेयीको उपदेश करते हैं— 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्'। यह आत्मज्ञानसे सर्वज्ञानकी प्रतिज्ञा है। 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि श्रुतिमें दुन्दुभि, शंख, वीणा यह तीन दृष्टान्त हैं। दुन्दुभि आदिक शब्दसामान्यमें जैसे तत्तत् शब्दविशेषका अन्तर्भाव है। तैसे ही सच्चिदात्मस्वरूप सामान्यमें अविद्यादि विशेषका अन्तर्भाव है। यह दृष्टान्तोंका भाव है। इसी प्रकारसे यथा सम्भव हरेक वेदान्तमें स्थित प्रतिज्ञा और दृष्टान्तोंका ब्रह्मउपादानतामें ही तात्पर्य है यह निश्चय करना योग्य है।

शंका। विकारका उपादान निर्विकार ब्रह्म नहीं हो सकता है। किन्तु

विकारी प्रधान ही जगद्विकारका उपादान है। कुलालादिकी तरह चेतन केवल निमित्त मात्र ही है। और प्रतिज्ञा और दृष्टान्त 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादिकी तरह गौण हैं ?

समाधान । 'न मुख्ये सम्भवत्यर्थे जघन्या वृत्तिरिष्यते । न चानुमानिकं युक्तमागमेनापवादितम् ॥' अर्थ—प्रतिज्ञा दृष्टान्तोंकी मुख्य वृत्तिताके सम्भवसे जघन्य (गौण) वृत्तिका स्वीकार नहीं हो सकता है। अनुमानगम्य प्रधान जगत्का उपादान नहीं बन सकता है। क्योंकि 'नेह नानास्ति' यह वैदिक बाध है इति।

शंका । 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिक छान्दोग्यके दृष्टान्तोंकी, और **'यथा पृथिव्यामोषधयः'** इत्यादिक मुण्डकके दृष्टान्तोंकी परिणामवादमें सङ्गति ठीक बैठती है। अतः परिणामी प्रधान ही उपादान मानना चाहिये। ब्रह्म परिणामी उपादान नहीं हो सकता है। अतः द्वैतवादमें ही वेदान्तोंका तात्पर्य प्रतीत होता है।

समाधान । 'सर्वे हि तावद्वेदान्ताः पौर्वापर्य्येण वीक्षिताः । ऐकान्तिकाद्वैतपरा द्वैतमात्रनिषेधतः ॥' अर्थ—सम्पूर्ण वेदान्त पूर्वापर विचारसे सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य अद्वितीय आत्मतत्त्वके ही प्रतिपादक हैं। क्योंकि अध्यारोप अपवादद्वारा द्वैतनिषेधमें ही शास्त्रका तात्पर्य है इति। मृद्घटादिका परस्पर कार्यकारणभावके प्रतिपादक दृष्टान्तोंका विवर्तवादमें ही तात्पर्य पूर्वाचार्य्योंने प्रतिपादन किया है। परिणामवादमें प्रतिज्ञा दृष्टान्तका उपरोध ज्योंका त्यों रहेगा। अतः विवर्तवाद होनेसे "अधिष्ठानसे व्यतिरिक्त कार्य कुछ नहीं है" इस अर्थमें ही सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य है। इस अर्थको अब स्पष्ट करके दिखाते हैं—जैसे शुक्तिरजतमें 'इदं रजतं सत्' इत्यादिक प्रतीतियोंमें शुक्तिकाका सद्रूपसे तादात्म्य भासता है। तैसे ही वियदादिकोंमें भी 'इदं वियत् सत्' 'सन् घटः' 'सन् प्रपञ्चः' इत्यादि प्रतीतियोंमें ब्रह्मका सद्रूपसे तादात्म्य भासता है। अतः सद्रूपसे ब्रह्मका ज्ञान, सद्रूपसे प्रपञ्चतत्त्वविषयक भी है ही। इसी प्रकार मृत्पिण्ड, सुवर्ण, लोहरूप उपादानका तादात्म्य 'मृद् घटः' 'सुवर्णं कुण्डलम्' 'कार्ष्णायसं खनित्रम्' इत्यादिक प्रतीतियोंमें घटादि कार्यसे भासता है। अतः तत्तत्कार्यानुविद्ध मृदादिरूपसे मृत्पिण्डादिका ज्ञान तत्तद्रूपसे तत्तत्कार्यविषयक भी अवश्य ही है।

अर्थात् मृत्कार्य घटादिक विकारोंमें मृत्तिकार्थीको मृत्तिकाका, व सुवर्णकार्य कुण्डलादि विकारोंमें सुवर्णार्थीको सुवर्णका, अपरोक्ष ज्ञान होनेपर 'वाणीके विषय घटकुण्डलादिक नाममात्र ही है" 'मिथ्या है" 'असत् तुच्छ रूप है" 'मृत्तिका व सुवर्णके सिवाय मृत्तिकाके व सुवर्णके कार्य घटादिक कुछ नहीं है" इत्यादि ज्ञान जैसे होता है। तैसे ही ब्रह्मविषयक साक्षात्कार होनेपर तत्कार्य वियदादिक जगत् 'नाममात्र ही है' 'अनिर्वचनीय है' 'असत् तुच्छ रूप है' 'ब्रह्मात्माके सिवाय जगत् कुछ नहीं है' यह निर्बाध ज्ञान अनुभवसिद्ध है।

शंका। मृत्पिण्ड घटका कारण नहीं बन सकता है। क्योंकि पिण्ड स्वयं कार्यविशेष है; और पिण्डका आकार भी घटमें नहीं आता है। और एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे निखिल मृण्मयका ज्ञान होना भी असम्भव है। तथा च पिण्ड निमित्तमात्र है, मृत्तिका ही उपादान कारण है। अतः मृत्पिण्डदृष्टान्तको उपादानविषयक न होनेसे दार्ष्टान्तमें भी उपादानविषयता नहीं बन सकती है।

समाधान। 'मृत्पिण्ड एव घटः कृतः' ऐसा अबाधित व्यवहार होनेसे मृत्पिण्ड घटका उपादान ही है। और कार्यविशेष कटकादिक कार्यविशेष कुण्डलादिके उपादान देखे गये हैं। और मृत्पिण्डका मृण्मयत्वादि आकारकी अनुवृत्ति भी घटादि कार्यमें विद्यमान ही है। उपादानगत यावत् आकारकी अनुवृत्तिका नियम नहीं है। क्योंकि क्षीरादिके कार्य दधि आदिकोंमें व्यभिचार है। तत् तत् मृत्पिण्डके ज्ञानसे तत्तत्कार्य घटादिका ज्ञान होता ही है। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्' इत्यादिक स्थलमें 'सर्व' शब्द तत्तत् यावत् कार्यपरक है। निखिल कार्यपरक नहीं है। अथवा एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे भी मृत्तिकात्वेन निखिल मृद्विकारका ज्ञान होता ही है। क्योंकि घटादिकारण एक मृत्पिण्डके ज्ञानसे अनन्तर भी "जो मृत्तिकाका विकार होगा सो मृत्तिका ही होगा" यह ज्ञान अनुभवसिद्ध है। अतः मृत्पिण्ड उपादानकारणतामें ही दृष्टान्त है। इस रीतिसे दार्ष्टान्तवाक्य भी उपादानपरक ही है।

और प्रतिज्ञादिके उपरोधसे ब्रह्ममें प्रकृतित्वको कहकर अब पञ्चमी श्रुतिसे भी ब्रह्म ही प्रकृति है इस अर्थको दिखाते हैं:—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' यहांपर 'यतः' यह पञ्चमी विभक्ति भी 'जनिकर्तुः प्रकृतिः'। अर्थ—जायमानकी प्रकृति (उपादानकारण) की अपादान संज्ञा होती है इति। इस पाणिनीयके विशेषशास्त्रसे प्रकृतिलक्षण अपादानमें ही है। क्योंकि 'अपादाने पञ्चमी' इस सूत्रसे अपादानमें पञ्चमी विभक्ति होती है। अतः प्रतिज्ञा दृष्टान्त मुख्य अर्थक ही हैं गौण नहीं हैं। क्योंकि एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानपरत्वेन ही प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका प्रतिपादन है। उपादान ज्ञानसे ही उपादेयका ज्ञान बन सकता है। केवल निमित्त कारण, कार्यसे अत्यन्त भिन्न होता है। तिसके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान बने नहीं। और ब्रह्मका अधिष्ठाता अन्य कोई न होनेसे ब्रह्मसे अन्य जगत्का निमित्त कारण भी नहीं बन सकता है। किन्तु ब्रह्म ही जगत्का निमित्त कारण स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मसे अन्य यदि जगत्का निमित्त कारण माना जाय तो भी प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका बाध ज्योंका त्यों रहेगा। और ब्रह्मज्ञानसे कार्यरूप जगत्का ज्ञान होनेपर भी निमित्त कारणके शेष रह जानेसे सर्वज्ञानकी अनुपपत्ति होगी। जैसे लोकमें मृत् सुवर्णादिक उपादान कारण, कुलाल सुवर्णकारादिक अधिष्ठाताकी अपेक्षा करके घटादि कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। तैसे जगत्की प्रकृति परब्रह्मको स्वभिन्न अधिष्ठाताकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि जगत्की

उत्पत्तिके पूर्व सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य केवल एक ब्रह्म ही था यह शास्त्रका निश्चय है। और अधिष्ठाताका अभाव भी प्रतिज्ञादृष्टान्तके अनुपरोधसे ही उक्त समझना चाहिये। क्योंकि उपादानसे अन्य अधिष्ठाताके स्वीकार करनेपर पुनः एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानका असम्भव होनेसे प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका उपरोध ज्योंका त्यों ही रहेगा। वस्तुतः सर्वनियामकका अन्य नियामक बने नहीं। अन्यथा अनवस्थादिक दोष होवेंगे। सर्वस्वतन्त्रत्वका व्याघात होगा। परतन्त्रत्वकी आपत्ति होगी। अतः अन्य अधिष्ठाताके न होनेसे आत्मा ही कर्ता निमित्त कारण है। और अन्य उपादानके न होनेसे आत्मा ही प्रकृति है यह सूत्रका तात्पर्य्यार्थ है इति ॥ २३ ॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

अर्थ—१ अभिध्योपदेशात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। अनागत वस्तु-विषयक इच्छा व सङ्कल्पका नाम अभिध्या है। 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादिक अभिध्याका उपदेश भी आत्मामें कर्तृत्वको व प्रकृतित्वको बोधन करता है। तहां अभिध्यानपूर्वक स्वतन्त्र प्रवृत्तिसे ब्रह्म कर्ता प्रतीत होता है। क्योंकि इच्छाकर्ता ही कुलालादिक कार्यका कर्ता निमित्त देखा गया है। और 'बहु स्यां' इस बहु-भवनसङ्कल्पको प्रत्यगात्मविषयक होनेसे कार्यके साथ कारणका अभेद भासता है। अतः आत्मा ही जगत्का उपादान प्रतीत होता है। क्योंकि उपादान कारणका ही कार्यके साथ अभेद होता है। और कार्याभिन्न उपादानमें ही इच्छाकर्तृत्व होनेसे निमित्त और उपादानका भी अभेद सिद्ध होता है इति ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

अर्थ—१ साक्षात्, २ च, ३ उभयाम्नानात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। यह भी प्रकृतित्वकी सिद्धिमें अन्य हेतु है। इस हेतुसे भी ब्रह्म उपादान कारण है क्योंकि साक्षात् ब्रह्मरूप कारणसे ही जगत्की उत्पत्तिको कहकर ब्रह्ममें ही जगत्के लयको श्रुति प्रतिपादन करती है इति।

'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' (छा० १।९।१) अर्थ—यह सर्व भूत 'आकाशादेव' कहिये आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं और आत्मामें ही लीन होते हैं इति। और जिससे जो उत्पन्न होता है, जिसमें जो विलीन होता है; सो ही तिसका उपादान होता है। जैसे लोकमें व्रीहि यवादिक पृथिवीसे ही पैदा होते हैं; और पृथिवीमें ही लीन होते हैं। और व्रीहि यवादिक अन्नकी पृथिवी ही प्रकृति देखी गई है। तैसे ही आत्मासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयरूप उभयके आम्नान (कथन)से आत्मा ही जगत्का उपादान कारण है। 'आकाशादेव' इस श्रौत अवधारणसे प्रतिपादित अन्योपादानके अभावको 'साक्षात्' पद करके सूत्रकारने प्रतिपादन किया है। अर्थात् आत्मा

आकाशका उपादान है, और आकाश वायुका, वायु तेजका उपादान है, इत्यादि प्रक्रिया इष्ट नहीं है। किन्तु आत्मा आकाशका उपादान है, आकाशावच्छिन्न आत्मा ही वायुका उपादान है, वायुविशिष्ट आत्मा ही तेजका उपादान है, इत्यादि प्रक्रिया ही इष्ट है। क्योंकि विवर्तको विवर्तान्तरकी उपादानता सम्भवे नहीं। और कार्यका विलय भी उपादानसे अन्यत्र नहीं देखा गया है इति ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

अथ—१ आत्मकृतेः, २ परिणामात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'आत्मकृतेः' यहां 'आत्मा' का और 'कृति' का आश्रयाश्रयिभाव व विषयविषयिभाव सम्बन्ध है। इस हेतुसे भी ब्रह्म ही जगत्की प्रकृति और निमित्त कारण है। क्योंकि ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्तिके बोधक 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि प्रक्रियावाक्योंमें आत्मसमवेतकृतिका विषय भी आत्मा ही कहा है। और आत्मा ही स्वयं जगद्रूपसे परिणत हुवा है इति। अर्थात् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' यह तैत्तिरीय वाक्य 'आत्मानम्' यह कृतिविषयत्वेन आत्मामें कर्मत्वको दिखाता है। और 'स्वयमकुरुत' यह कृतिसमवायित्वेन आत्मामें कर्तृत्व (निमित्तत्व) को दिखाता है। और यहां कार्य और कारणका अभेद होनेसे आत्मा ही उपादानरूपसे भासता है।

शंका। कृतिका आश्रय कर्ता सिद्ध होता है। विषय कर्मसाध्य होता है। तथा च पूर्व सिद्धरूपसे वर्तमान, और कर्तृत्वेन व्यवस्थित, आत्मामें कार्यत्वरूप कर्मत्वको कैसे सम्पादन कर सकते हैं। क्योंकि एक आत्मामें उभयपना विरुद्ध है?

समाधान। 'परिणामात्' परिणामसे एक ही आत्मामें सिद्धपना व साध्यपना बन सकता है। क्योंकि यद्यपि आत्मा स्वरूपसे पूर्वसिद्ध भी है; तथापि अविद्या-बलसे, वियदादि विशेषरूपसे अपनी आत्माको परिणत करता है। जैसे मृत्तिकामें साध्यघटके अभेद होनेसे कृतिविषयताका विरोध नहीं है। अर्थात् जैसे एक ही कृतिविषयता साध्यघटमें और सिद्ध मृत्तिकामें रहती है। ऐसे ही एक ही आत्मता सिद्धरूप उपादानमें और साध्यस्वरूप उपादेयमें रहती है। अथवा सिद्धरूप कर्तामें और साध्य स्वरूप कार्यमें रहती है। तथा च "तत्पद वाच्य आत्मा स्वयं ही सिद्ध स्वरूप अपनी आत्माको साध्य जगत्रूपसे परिणत करता भया" यह 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इस वाक्यका अर्थ है। अत आत्मा ही कृतिका विषय है। आत्मा ही कृतिका आश्रय है। अर्थात् सर्व स्वरूप आत्मा ही है। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुति भी इस अर्थको ही दिखाती हैं। और विकाररूपसे परिणाम मृत्तिका सुवर्णादि प्रकृतिका लोकमें देखा गया है। तथाच पूर्वसिद्धका भी अनिर्वचनीय परिणाम होता है। भेदका निर्वचन अशक्य होनेसे अभिन्नकी तरह भासता है। अतः सिद्धमें भी साध्यताका भास होता है। और आत्मामें स्वयंत्व विशेषणसे निमित्तान्तरनिरपेक्षत्व भी प्रतीत होता है।

अथवा "परिणामात्" यह पृथक् सूत्र है। तिसका यह अर्थ है—इस

हेतुसे भी ब्रह्म ही प्रकृति है, क्योंकि मूर्तत्वादिरूप करके परिणामके साथ ब्रह्मका सामानाधिकरण्य श्रुतिस्मृतियोंमें प्रतिपादन किया है—'सच्च त्यच्चाभवत्' 'निरुक्तं चानिरुक्तं च' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वमिति' इत्यादि। 'सत्' शब्द मूर्तका वाचक है; 'त्यत्' शब्द अमूर्तका वाचक है। अथवा स्थूल सूक्ष्म सत् व त्यत् शब्दका अर्थ है। अर्थात् 'देवदत्तो व्याघ्रोऽभवत्' 'देवदत्त योगमाया-बलसे व्याघ्र हुवा' इस वाक्यकी तरह 'ब्रह्म सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादि वाक्यका अर्थ है। द्रव्यत्वादि सामान्यरूपसे पृथिवीत्वादि विशेषरूपसे निर्वाच्य 'निरुक्त' शब्दका अर्थ है। और तत्तद्रूप करके सर्वथा अनिर्वाच्य 'अनिरुक्त' शब्दका अर्थ है। अथवा सत्त्वेन निर्वाच्य 'निरुक्त' शब्दका अर्थ है। सत्त्वेन असत्त्वेन अनिर्वाच्य 'अनिरुक्त' शब्दका अर्थ है। प्रपञ्चकी प्रत्यक्ष प्रतीतिके होनेसे असत्त्वेन निर्वचन नहीं बन सकता है। बाध होनेसे सत्त्वेन निर्वचन भी नहीं बन सकता है। इस सूत्रमें 'परिणाम' शब्द कार्यमात्र परक है; सत्य कार्यात्मक परिणाम परक नहीं है। क्योंकि सिद्धान्तमें परिणामवादका स्वीकार नहीं है। किन्तु विवर्तवादका स्वीकार है। और यहां भी 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें विवर्त-वादको कहेंगे। अतः अनिर्वचनीयवाद ही सिद्धान्त है।

शंका। वास्तवमें अनिर्वचनीय ब्रह्मको ही कहना चाहिये। क्योंकि निर्वचनके अयोग्यका नाम अनिर्वचनीय है। सर्वथा निर्वचनके अयोग्य अद्वितीय ब्रह्म ही है। क्योंकि शब्दप्रवृत्तिनिमित्तके अभावसे किसीरूप करके भी ब्रह्मका निर्वचन बने नहीं। अत एव 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनि-लयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति' अर्थ— जिस समय यह अधिकारी पुरुष दृश्यशून्य शरीरशून्य निर्वचनशून्य निराधार ब्रह्ममें अभय प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है तिस समय ही सो पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है इति। इस तैत्तिरीय श्रुति करके शुद्ध ज्ञेय ब्रह्मको ही अनिरुक्त (अनिर्वचनीय) कहा है। द्रव्यादिकोंका सामान्य विशेषरूप करके निर्वचनके शक्य होनेसे मुख्य अनिर्वचनीयता बने नहीं। यदि सत्त्वेन असत्त्वेन निर्वचनके अयोग्य होनेसे प्रपञ्चमें अनिर्वचनीयत्वका व्यवहार माना जाय, तो शुद्ध ब्रह्ममें भी निर्वाच्यत्वका अभाव होनेसे अनिर्वचनीयतालक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। ब्रह्मका सत्त्वेन निर्वचन मानना भी 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादि वेदसे विरुद्ध है।

समाधान। लक्ष्यलक्षणव्यवहारको अविद्यादशामें होनेसे 'त्रिकालाबा-ध्यत्व' रूप सत्त्वका ब्रह्ममें स्वीकार है। और *तुच्छत्वरूप असत्त्वका मनुष्य-शृङ्गादिकोंमें स्वीकार है। एतदुभयरूप सत्त्वासत्त्व करके प्रपञ्चको अविद्यमान होनेसे 'सत्त्वेन असत्त्वेन उभयरूपेण वा निर्वचनायोग्यत्व' रूप अनिर्वचनीयत्व प्रपञ्चमें ही है, ब्रह्ममें नहीं। क्योंकि 'बाध्यत्वे सति प्रतीत्यर्हत्व' स्वरूप अनि-

*टि०—क्वचिदपि सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम् तुच्छत्वम्। जिसकी कहीं भी सत्त्वेन प्रतीति न होवे तिसका नाम 'तुच्छ' है।

र्वचनीयत्वकी अविनाशी स्वतःप्रकाश शुद्ध ब्रह्ममें सिद्धि बने नहीं। अन्यथा बाध्यत्वकी आपत्ति होगी; अनिर्वचनीयत्वरूप अशुद्धिसे शुद्धत्वका व्याघात होगा। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिक व्यवहार भी अविद्यादशामें ही है। अविद्यादशाके विना कोई भी नामरूप ब्रह्ममें बने नहीं। अनिर्वचनीयताका भी अनिर्वचनीयतात्वेन निर्वचन शक्य होनेपर भी सत्त्वेन असत्त्वेन निर्वचन अशक्य है। तथा च उक्तरूप सत्त्वासत्त्व करके निखिल जगत् अनिर्वचनीय है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

'वक्तुमशक्यत्वे गुरव उपास्यन्तां येभ्यो निरुक्तयः शिक्ष्यन्ते' अर्थ—निर्वचनकी सामर्थ्य नहीं है तो गुरु लोगोंकी उपासना कीजिये, जिनसे निरुक्तिकी शिक्षा प्राप्त होगी इति। यह उपालम्भ तब शोभित होवे, जब मेयस्वभावानुगामिनी अनिर्वचनीयताको न कहें; वक्तृदोषप्रयुक्त अनिर्वचनीयत्वको कहें। यदि कोई गुरु निर्वचन कर्ता मिल सके तो उपासना की जाय। इत्यादि खण्डनमें कही हुई समाधिसे मनको समाहित कर लेना ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

अर्थ—१ योनिः, २ च, ३ हि, ४ गीयते। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस हेतुसे भी ब्रह्म ही जगत्का उपादान है क्योंकि ब्रह्मको उपनिषदोंमें योनि कहा है इति।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ (मु० ३।१।३)। अर्थ—यह 'पश्य' कहिये द्रष्टा पुरुष जिस समयमें ज्योतिःस्वरूप जगत्कर्ता ईश्वर ब्रह्म जगद्योनिको आत्मरूपसे देखता है। तिस ही समयमें 'मैं ही जगद्योनि हूं' इस ज्ञानसे पापपुण्यरूप मलको धोकर तम रहित परम सम ब्रह्मको प्राप्त होता है इति। और 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० १।१।६)। अर्थ—जो भूतयोनि है तिसको धीर पुरुष आत्मरूपसे अपरोक्ष करते हैं इति। और 'योनि' शब्द लोकमें उपादान कारणका वाचक देखा गया है—'पृथिवी योनिरोषधिवनस्पतीनाम्' पृथिवी औषधि वनस्पतियोंकी योनि उपादान प्रसिद्ध है।

शंका। उपादानसे भिन्न जो स्त्रीयोनि है तिसमें योनि शब्द प्रसिद्ध है। अतः योनि शब्दसे ब्रह्ममें उपादानता सिद्ध नहीं हो सकती है।

समाधान। स्त्रीयोनिको भी अवयवद्वारा गर्भके प्रति उपादानकारणता बन सकती है। यहांपर 'अवयव' शब्द योनिप्रभव शोणित परक है। यद्यपि 'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि' (ऋ० सं०) अर्थ—हे इन्द्र! आपके बैठनेके लिये मैंने स्थान बनाया है इति। इस वाक्यमें स्थानका वाचक 'योनि' शब्द देखा गया है। और स्त्रीयोनिमें भी योनि शब्द निमित्तका वाचक ही प्रतीत होता है। तथापि 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' इत्यादिक वाक्यशेषके बलसे प्रकृतमें प्रकृति ही योनि शब्दका अर्थ गृहीत होता है। तथाच पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्ममें उपादानता प्रसिद्ध है।

शंका। 'ईश्वरो, जगतो निमित्तकारणमेव, ईक्षापूर्वकजगत्कर्तृत्वात्, कुम्भकर्तृकुलालवत्'। अर्थ—ईक्षापूर्वक कर्तृत्व कुलालादिक निमित्त कारणोंमें ही देखा गया है। और उपादान कारणोंमें नहीं देखा गया है। अतः ईक्षापूर्वक जगत्कर्ता ब्रह्म भी निमित्त कारण ही होना चाहिये इत्यादि इति।

समाधान। यह जो वादीने कहा है इसके प्रति हम कहते हैं - इस अनुमानमें आश्रयासिद्धि दूषण है; क्योंकि "या २ कृतिः सा २ शरीरजन्या" इत्यादि व्याप्तिके विरोधसे नित्य कृतिमान् ईश्वरकी सिद्धि अनुमानसे वा प्रत्यक्षसे नहीं बन सकती है। और वैदिक ईश्वरको पक्ष करके अनुपादानत्वरूप साध्यकी सिद्धिमें 'बहु स्याम्' इत्यादिक वैदिक बाध है। अतः केवल तर्करूप अनुमानगम्य यह अर्थ नहीं है, किन्तु शब्दगम्य है। अतः शब्द प्रमाणसे जैसा जगत्कारण प्रतीत होता है ऐसा ही स्वीकार करना उचित है। और शब्द आत्माको प्रकृति ही प्रतिपादन करता है यह पूर्व सिद्ध कर आये हैं।

शंका। प्रकृतिविकृतिभाव सदृशमें देखा गया है; जैसे जड़त्वादिकरूपसे घटसदृश मृत्तिका घटकी प्रकृति है। निष्कल निष्क्रिय ब्रह्ममें जगत्से अत्यन्त विलक्षणता श्रुति करके सिद्ध है। अतः ब्रह्म जगत्की प्रकृति नहीं बन सकता है।

समाधान। 'पुनश्चैतत्सर्वं विस्तरेण प्रतिवक्ष्यामः' इति भाष्यम्। अर्थ—'न विलक्षणत्वात्' (२-१-४) इत्यादि सूत्र व्याख्यानके समयमें पुनः इन सर्व शंकावोंका समाधान विस्तारसे किया जावेगा इति।

शंका। 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' इत्यादिक शास्त्रसे ब्रह्म और जगत्का प्रकृतिविकृतिभावमें वेदका तात्पर्य वर्णन करनेसे परिणामी ब्रह्ममें दुग्धादिकी तरह अनित्यत्व परिच्छिन्नत्वादिकी प्राप्ति होवेगी।

समाधान। यहां प्रकृति शब्द विवर्तोपादानत्वका बोधक है। क्योंकि विवर्तवाद ही वेदका सिद्धान्त है—

'येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। तेनेपितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ श्वे० ॥

अर्थ—जिस व्यापक आत्मा करके यह सर्व जगत् सदा हि आवृत है। जो सर्वका द्रष्टा है। और जो कालका भी काल है। जिसमें तीनों गुण अध्यस्त हैं। और जो सर्वज्ञ है। तिस परमेश्वरका ही 'कर्म' पञ्चभूतात्मक यह निखिल जगत् विवर्त है। विवर्ताधिष्ठान ही उपास्य है व ज्ञेय है। स्वातन्त्र्यका बोधक 'इपितं' पद है इति। इत्यादि वेद विवर्तवादमें प्रमाण है। सम्पूर्ण कार्य विवर्तरूप होनेसे अधिष्ठान स्वरूप ही है। अधिष्ठानसे व्यतिरिक्त कार्यके अभावमें वेदका तात्पर्य सिद्ध होता है।

'यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यश्च तस्य सन्। विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः॥' अर्थ—जो वस्तु जिसके आदि और अन्तमें शेष रहता है सो ही मध्यमें भी

सत्य है। विकार केवल नाममात्र है, व्यवहारके वास्ते है। जैसे तैजस विकारोंमें तेज (सुवर्णादि) है। पार्थिव विकारोंमें पृथिवी है। इसी प्रकार आत्मविकार प्रपञ्चमें आत्मा ही सत्य है इति।

शंका। 'पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः' इत्यादि श्रुतिनिर्देशसे, 'योनिश्च' 'परिणामात्' इत्यादि सूत्रनिर्देशसे, 'परिणामस्तु स्यात्' इत्यादिक छान्दोग्य वाक्यकार ब्रह्मनन्दीके व्याख्यानसे, परिणामवाद वृद्धसम्मत प्रतीत होता है।

समाधान। निष्पाद्य होनेसे प्रपञ्चको असत् नहीं कह सकते हैं। अत एव सत् भी नहीं कह सकते हैं। अन्यथा निष्पत्त्यनुकूल व्यापार अनर्थक होवेगा। अतः व्यवहारमात्र विकार सदसद् विलक्षण अनिर्वचनीय है। परिणाम विकार इत्यादिक श्रौतस्मार्त शब्द मिथ्या परिणाम विकारके अभिप्रायसे ही हैं। क्योंकि निष्कल निष्क्रिय ब्रह्मका एकदेशेन अथवा सर्वात्मना परिणाम नहीं बन सकता है। परिणाम माननेमें निष्कल निष्क्रिय श्रुतिका विरोध होगा। ब्रह्ममें विनाशित्वादिकी प्राप्ति होगी। अतः 'परिणामात्' इस सूत्रावयवका 'विवर्तनात्' यह अर्थ है। रज्जुसर्पवत् ब्रह्मका विवर्त ही जगत् इष्ट है। परिणामत्वेन लोकप्रसिद्ध घटादिकमें भी युक्त्यसहत्वेन अनिर्वचनीयत्वरूप विवर्तत्व ही है। क्योंकि मृत्तिकादिकसे भेदेन अभेदेन अथवा भेदाभेदेन घटादिका निर्वचन अशक्य है। अत एव 'मृत्तिका इत्येव सत्यम्' इत्यादिक श्रुति कारणमें ही सत्यत्वका अवधारण करके कार्यमें अर्थात् मिथ्यात्वको कहती है। अथवा ब्रह्मका परिणाम ही जगत् रहो तो भी लौकिक परिणामकी तरह निर्वचनको शक्य न होनेसे अनिर्वचनीयत्व ही सिद्ध होता है। इसीलिये संक्षेप शारीरककार कहते हैं—प्रतिष्ठितेऽस्मिन् परिणामवादे; स्वयं समायाति विवर्तवादः। अतः अद्वैतविषयक उपक्रम उपसंहारादि बलसे सर्व वेदान्त अत्यन्त अद्वैतके ही प्रतिपादक हैं। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्त साक्षात् अद्वैतको प्रतिपादन करते हैं। 'नेति नेति' इत्यादिक वेदान्त द्वैतके निषेधद्वारा अद्वैतको प्रतिपादन करते हैं। और 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'मयि सर्वं विलीयते' इत्यादिक वेदान्त ब्रह्ममें उपादानत्व बोधनद्वारा अद्वैतका प्रतिपादन करते हैं।

शंका। सृष्टिश्रुतिसे, और 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक भेदप्रतिपादक श्रुतिसे, अनेकरूप ब्रह्मको मानना उचित है।

समाधान। उपक्रमादि करके निर्णीत निष्प्रपञ्च प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक तात्पर्य्यवाले महावाक्योंके मध्यमें स्थित सृष्टिप्रतिपादक अवान्तर वाक्यका प्रधानके अनुरोधसे मायामय सृष्टिमें ही तात्पर्य्य है। वास्तव सृष्टिमें तात्पर्य नहीं है। 'द्वे वाव' इत्यादिक भेदप्रपञ्चअध्यारोपके अन्तमें 'नेति नेति' इत्यादि सर्वाध्यारोपित प्रपञ्चका निषेधक शास्त्रप्रामाण्यसे निर्विशेष भेदशून्य ही ब्रह्मका स्वरूप है। निषेधप्रतियोगिसमर्पकत्वेन 'द्वे वाव' इत्यादि शास्त्र चरितार्थ है। भेदप्रपञ्चको प्रत्यक्षादि करके ज्ञात होनेसे भेदप्रतिपादक शास्त्र प्रमाण नहीं बन सकता है। किन्तु अधिगतका ज्ञापक

,होनेसे अनुवादक है। लोकभ्रमसिद्धका अनुवाद है। 'प्रमाणसिद्धका ही अनुवाद होता है' ऐसा नियम नहीं है। भ्रान्तिसिद्ध स्वप्नादिका शब्दसे अनुवाद देखा गया है। अत उपादानोपादेयभावादि सर्व भेदप्रपञ्च भ्रममात्र है।

शंका। उपादानोपादेयभावको भ्रममात्र होनेसे ब्रह्ममें उपादानत्वकी सिद्धि नहीं बन सकती है। तथा च वेदान्तियोंका ब्रह्मनिष्ठ विवर्ततारूप जगदुपादानताविषयक व्यवहार भ्रममात्र हुवा। यही पूर्वपक्षीको इष्ट है। एवं च निर्विकारत्व श्रुति, सृष्टिसे प्रथम ही ब्रह्मको निर्विकार बोधन करती है। सृष्टि दशामें निर्विकारता बने नहीं। तथा च पूर्वपक्षका ही समर्थन सिद्ध हुवा।

समाधान। वाक्याभासजन्य भ्रममात्र ही ब्रह्मनिष्ठोपादानत्व है यह पूर्वपक्षका आशय है। स्वप्नकी तरह अर्थक्रियासमर्थ प्रपञ्चाधिष्ठानत्वरूप उपादानत्व वेदान्तसिद्धान्त सम्मत है। इतना भेद बन सकता है। और प्रलय श्रुतिसे ही उत्पत्तिसे प्रथम अविकारित्वकी सिद्धि होनेसे निर्विकारत्वश्रुतिका कालपरिच्छिन्नतातादृशनिर्विकारतामें तात्पर्य्य नहीं बन सकता है। किन्तु सर्वदा सर्वथा निर्विकारतामें ही तात्पर्य्य है। संसारदशामें भी विकार प्रत्यय भ्रान्त है यह वेदका सिद्धान्त है। निर्विकारता नाम विकारात्यन्ताभावका है। तथा च ब्रह्ममें विकारात्यन्ताभाव सिद्ध हुवा। विकारात्यन्ताभावसे भी अद्वैत व्याघातकी शंका नहीं बन सकती है। क्योंकि अनिर्वचनीयविकारात्यन्ताभावका अनिर्वचनीय विकारसे विरोध है। अनिर्वचनीय भावाभावसे सत्य अद्वैतका व्याघात बने नहीं। अनिर्वचनीय (मिथ्या) पदार्थ सत्य अधिष्ठानकी किञ्चिन्मात्र भी क्षति नहीं कर सकता है। अन्यथा वानरकल्पित वह्निसे गुञ्जापुञ्जका दाह होना चाहिये। मृगतृष्णाजलसे मरुभूमि गीली होनी चाहिये। अथवा विकारात्यन्ताभावको अधिष्ठान स्वरूप होनेसे अद्वैतका व्याघात नहीं बन सकता है। और व्यावहारिक विकारका और व्यावहारिक तदभावका विरोध होनेपर भी विकाराभावको अधिष्ठान स्वरूप होनेसे सत्यविकारात्यन्ताभावका और मिथ्या विकारका भी परस्पर विरोध बने नहीं। तथा च जिस रूपसे जिस सम्बन्धसे जो वस्तु जहां भासती है। तिस ही रूपसे तिस ही सम्बन्धसे तिस वस्तुका तहांपर वास्तव अत्यन्ताभाव है यह वेदका सिद्धान्त है। यह सूत्रका तात्पर्य्यार्थ है इति ॥ २७ ॥

शंका। प्रधान जगत्का उपादान मत होवे, तथापि ब्रह्म उपादान नहीं बन सकता है; क्योंकि परमाणुवाद अथवा स्वभाववादादिक विद्यमान हैं। परमाणुवादादिके समर्थक श्रुति स्मृति भी प्रसिद्ध हैं ?

समाधान। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रसे लेकर अभीतक प्रधान कारणवादका ही पुनः पुनः आशंका करके सूत्रोंसे खण्डन किया है। क्योंकि प्रधान कारणवादसमर्थक कोई २ लिङ्गाभास उपनिषदोंमें तहां २ आपातसे मन्दमतियोंको भासते हैं। कार्यकारणके अभेदस्वीकारसे, एवं पुरुषमें व्यापकता असंगतादि स्वीकारसे भी, वेदान्तवादके समीप यह वाद है। कितनेक देवल प्रभृति धर्मसूत्रकारोंने अपने २ ग्रन्थोंमें इस वादका स्वीकार भी किया है। अतः इसके

प्रतिषेधमें अत्यन्त प्रयत्न आचार्यने किया है। अणुवादादिके प्रतिषेधमें प्रयत्न नहीं किया है। परन्तु अणुवादादिका भी ब्रह्मकारणवादके प्रतिपक्षी होनेसे प्रतिषेध कर्तव्य है। तत्तत् श्रुतियोंमें तत्तत् वाद समर्थक लिङ्गाभास भी कहीं २ मन्द पुरुषोंकी बुद्धियोंमें आपातसे भास सकते हैं। अतः प्रधानमल्लनिबर्हण-न्यायसे सूत्रकार अतिदेश करते हैं:—

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

अर्थ—१ एतेन, २ सर्वे, ३ व्याख्याताः, ४ व्याख्याताः। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस प्रधानकारणवादके खण्डनसे समन्वय विरोधी यावत् अणुकारणवादादिका भी खण्डन व्याख्यात समझ लेना इति। अर्थात् इस प्रधानकारणवाद प्रतिषेधक न्यायकलापसे अन्य सर्व अणुकारणवादादिक भी प्रतिषिद्धत्वेन व्याख्यात जान लेना। क्योंकि 'अशब्दत्वात् वेदविरोधित्वाच्च' इति भाष्यम्। अर्थात् प्रधानकारणवादकी तरह अणुकारणवादादिकोंमें भी वेद प्रमाण नहीं बन सकता है। और ब्रह्मवादके सिवाय अन्य सर्व वाद वेदके विरुद्ध भी हैं।

'न्यग्रोधफलमत आहरेति'(छा० ६।१२)। इत्यादि वाक्य इस सूत्रके विषय हैं।

अर्थ—सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य दृश्यत्वशून्य सत्से जगत्की उत्पत्ति दिखलाकर पुनः सत्में ही जगत्का लय निरूपण करके मिथ्या प्रपञ्चकी उत्पत्तिलयका आधार सत्य आत्माका 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यसे उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतुके प्रति अनेक युक्तियोंसे ४ वार उपदेश किया। तदनन्तर अदृश्य सदात्मासे दृश्य जगत्की उत्पत्ति कैसे बन सकती है? इस श्वेतकेतुकी शंकाको दूर करनेके लिये उद्दालक पिताका "न्यग्रोधफलमत आहरेति" यह वाक्य है। उद्दालक ऋषि बोले-हे पुत्र हे श्वेतकेतो! वटका फल ले आवो इति। फल लाकर पिताको दिखलाकर श्वेतकेतु बोले-हे भगवन्! यह ले आया हूँ इति। उद्दालक-इसको भेदन कर (फोड़ो) इति। श्वेतकेतु-हे भगवन्! भेदन कर लिया है इति। उद्दालक-क्या देखते हो? इति। श्वेतकेतु-हे भगवन्! "अण्व्य इवेमे धानाः" सूक्ष्म इन बीजोंको देखता हूँ इति। उद्दालक-इनमेंसे किसी एक बीजको भेदन कर इति। श्वेतकेतु-हे भगवन्! भेदन कर लिया है इति। उद्दालक-अब क्या देखते हो? इति। श्वेतकेतु-हे भग-वन्! 'न किञ्चन भगव इति'। कुछ नहीं दीखता है इति। उद्दालक-हे सोम्य! जिस सूक्ष्म दुर्लक्ष्य बीजको तुम नहीं देख सकते हो इस ही सूक्ष्म दुर्लक्ष्य अदृश्य बीजसे यह महान् वट वृक्ष पैदा होता है। इसी प्रकार संसार वृक्षका बीज भी दुर्लक्ष्य है अदृश्य है। हे सोम्य! श्रद्धा कर इति। यह जगत्की प्रागवस्थाका दृष्टान्त श्रुत है। यहांपर दृष्टान्तमें 'न किञ्चन' इस शब्दसे दार्ष्टान्तिक शून्यवाद और स्वभाववाद प्रतीत होता है। और 'अणिम्नः' इस सूक्ष्मवाचक शब्दसे और 'अण्व्य इवेमे धानाः' इस वाक्यसे अणुवाद प्रतीत होता है। अत अनेक धर्मोपपत्तिसे अथवा विप्रतिपत्तिसे 'शून्यवाद वैदिक है वा नहीं' 'स्वभाववाद वैदिक है वा नहीं' 'अणुवाद वैदिक है वा नहीं' इत्यादिक संशय होता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'अण्व्य इवेमे धानाः' 'अणोरणीयान्' इत्यादि श्रुति-निर्देशसे परमाणुवाद वैदिक प्रतीत होता है। और 'पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः' अर्थ—जैसे कुलाल मृत्तिका करके घटको करता है तैसे ही पतनशील द्रव्यों करके 'देव' परमेश्वर स्वर्ग और पृथिवीको पैदा करता है इति। इत्यादि श्रुति भी परमाणुवादकी समर्थक है। तथाच—

जगतः प्रकृतिर्ब्रह्म यदि स्यान्मृन्निदर्शनात्। अण्वादयोऽपि किन्न स्युर्वटधानानिदर्शनात्॥ अर्थ—मृत्पिण्ड दृष्टान्तसे यदि ब्रह्म जगतका उपादान माना जाय तो वटधानादृष्टान्तसे परमाणु भी जगतकी प्रकृति क्यों न स्वीकार किये जाँय इति। अथवा—'असद्वा इदमग्र आसीत्' 'असदेवेदम्' 'न किञ्चन भगवः' इत्यादि श्रुतिप्रामाण्यसे शून्यवाद स्वीकार करना चाहिये। अथवा 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' इस कर्मकर्तामें लकारसे 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यादि श्रुतिप्रा-माण्यसे स्वभाववादका स्वीकार करना उचित है।

अथ सिद्धान्तपक्ष। मृदादयो हि दृष्टान्ताः प्रतिज्ञामनुरुन्धते। धाना-स्तामुपरुन्धाना भक्तिमार्गं प्रपेदिरे॥ अर्थ—उपक्रम उपसंहारादि लिङ्ग करके निर्णीत एकविज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाके अनुकूल होनेसे मृत्तिकादिक दृष्टान्त मुख्य हैं। और उक्त निर्णीत प्रतिज्ञाके प्रतिकूल होनेसे असद्वादादिका असम्भव है। अतः तत्तद्वाद-समर्थक लिङ्गाभासोंकी तरह उक्त श्रुतिवाक्य और वटधानादि दृष्टान्त गौण हैं इति। 'महतो महीयान्' इत्यादि वाक्यशेषके बलसे 'अणोरणीयान्' इत्यादि वाक्य जगत्-कारण ब्रह्मनिष्ठ दुर्लक्ष्यताके बोधक हैं। 'पतत्र' शब्दकी परमाणुमें रूढ़ि है नहीं, किन्तु पतनशील देहादिका बोधक है। एवं असद्वाद और शून्यवाद भी उपपत्तिहीन होनेसे अप्रामाणिक हैं।

प्रतिज्ञा लक्षणं लक्ष्यमाणे पदसमन्वयः। वैदिकः स च तत्रैव नान्य-त्रेत्यत्र साधितम्॥ अर्थ—इस ग्रन्थके प्रथम सूत्रमें विचारकी प्रतिज्ञा करी है। द्वितीय सूत्रमें जगत्कारणत्वरूप ब्रह्मका लक्षण कहा है। और तृतीय सूत्रमें ब्रह्ममें प्रमाणप्रदर्शन करके चतुर्थ सूत्रमें लक्ष्यमाण स्वतःसिद्ध प्रत्यगभिन्न ब्रह्ममें शास्त्रकासमन्वय कहा है। अवशिष्ट ग्रन्थसे उक्त ब्रह्ममें ही शास्त्रका समन्वय और अन्यत्र समन्वयाभावका प्रतिपादन किया है इति। व्याख्याताः पदका अभ्यास याने 'द्विरुच्चारण' दोवार उच्चारण अध्याय समाप्तिका द्योतक है॥ २८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीचिद्घनानन्दगिरिपूज्यपादशिष्यगोविन्दा-नन्दगिरिविरचितायां सूत्रभाष्यार्थप्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्याव्यक्तादि-संदिग्धपदमात्रसमन्वयाख्यश्चतुर्थः पादः॥ ४॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥

* ॐ तत्सत् *